GKV



आगत: १५

साहित्य-सन्देश आगरा

की

१९५३-५४ की पूरी फाइल की

विषय-सूची

साहित्य सन्देश

वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क १



[वार्षिक मूल्य ४)]   आगरा—जुलाई १९५३   [एक अङ्क का ...

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।
३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।
६. साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।
७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।



वर्ष १५] आगरा—जुलाई, १९५३ [अङ्क १

हमारी विचार-धारा

पन्द्रहवें वर्ष में प्रवेश—

इस अङ्क के साथ हम अपने पन्द्रहवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। १९३७ में जब हमने साहित्य-सन्देश का प्रकाशन आरम्भ किया था, तब हम कल्पना नहीं कर पाए थे कि हमें हिन्दी साहित्य की सेवा करने का इतना अवसर मिलेगा। प्रभाव और प्रचार की दृष्टि से भी और स्थायी सेवा की दृष्टि से भी जो कार्य साहित्य-सन्देश करता आ रहा है और कर रहा है—वह निश्चय ही हमारे लिए गौरव की बात है। और इसके लिए हम अपने सहायक-लेखकों तथा ग्राहक-अनुग्राहकों को हृदय से बधाई देते हैं।

इस अङ्क से हमने पत्र में कागज कुछ अच्छा लगाने की चेष्टा की है और हम यथा सम्भव अच्छा ही कागज लगाने का विचार करते हैं। कागज अच्छा लगाने पर भी आज जैसी गरीबी को देखते हुए हमने साहित्य-सन्देश का मूल्य बढ़ाने का विचार छोड़ दिया है। मूल्य चार रुपया ही रहेगा। इसी मूल्य में हम गत वर्षों से भी अच्छे लेख और अच्छे रूप में देने की चेष्टा करेंगे। आशा है हमारे सभी बन्धु हमें पूर्ण सहयोग देते रहेंगे।

एक निवेदन हम अपने लेखकों से और करेंगे। साहित्य सन्देश शुद्ध सेवा की भावना से निकाला जाता है। उसका प्रचार इतना है कि प्रयत्न करने पर उसके लिए बहुत विज्ञापन मिल सकते हैं—पर प्रारम्भ ही से हमने विज्ञापन प्रायः नहीं छापे। फलतः साहित्य-सन्देश गरीब पत्र रहा। वह अपने लेखकों को उचित पारिश्रमिक नहीं दे पाया। शायद आगे भी न दे सके। फिर भी हम आशा करेंगे कि सभी लेखक हमें सहयोग देने की कृपा करेंगे।

साहित्य और राजनीति—

कुछ साहित्यिक लोग समझते हैं कि तीन लोक से मथुरा न्यारी है किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक है। साहित्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध है। राजनीति भी जीवन का एक अङ्ग है; इस कारण वह किसी साहित्यिक के लिए उपेक्षणीय नहीं। हाँ साहित्यिक को यथासम्भव दलबन्दी से दूर रहना चाहिए और यदि दलबन्दी में पड़े तो शालीनता को न खोना चाहिए। वह अपनी कल्याणद सहानुभूति का लाभ जनता को दे और शासन पक्ष की कठिनाइयों को समझ कर वह जनता और शासन के बीच दुभाषिए का काम

करें। साहित्यिक के नेत्र साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक तीव्र होते हैं, उनकी वाणी में अधिक बल रहता है। इसलिए वह जनता का प्रतिनिधि बन कर उनके हित-साधन में सहायक हो सकता है। हमको जन-हित के साहित्य की बहुत जरूरत है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसादजी की साहित्य, शिक्षा और संस्कृति नाम की पुस्तक से एक उद्धरण दे रहे हैं :—

"आज हमें दूसरे प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है—ऐसे साहित्य की जो कि ऐसी प्रेरणा दे कि कृषि, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा के क्षेत्रों में वर्तमान विज्ञान का सहारा लेकर प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक उद्योग में जुट जाय।"

मैं समझता हूँ कि आज हमारे समाज में रचनात्मक या सृजनात्मक कार्यों के प्रति जो उदासीनता है उसका कारण बहुत-कुछ यही है। आज साहित्य में इस बात की गूँजती हुई प्रतिध्वनि नहीं है कि यदि हमारे देश को, मानव जाति को, सुखी होना है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि घर घर में ग्राम ग्राम में सब लोग आकुल होकर हर प्रकार के रचनात्मक काम में उसी तत्परता से लग जायँ जिस तत्परता के साथ वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए स्वतन्त्रता संघर्ष में कूद पड़े थे।

प्रयोगवाद के लिए प्रयोगवाद—

कविता में हमेशा से प्रयोग चलते आये और चलते रहेंगे। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण रखना सराहनीय है - निरंकुशाः कवयः यह ठीक है किन्तु निरंकुशता को एक ध्येय बना लेना ठीक नहीं है। इस प्रकार पिटी हुई लकीर से हट कर ही चलने को हमें अपना ध्येय न बना लेना चाहिए और न ऐसी पगडंडियों की खोज करना आवश्यक है जिन पर कोई न चला हो। यदि पुराने मार्ग कण्टकाकीर्ण हो गये हैं, यदि उनमें खाई-खन्दक होगये हैं तो उनके साफ करने की आवश्यकता है। नई उपमाएँ छायावाद ने भी दी थीं किन्तु उनमें सौन्दर्य और शालीनता थी किन्तु हड्डी और कफन आदि की उपमाएँ विकृत यथार्थवाद को चाहे पात्र हो किन्तु उनसे काव्य का सौन्दय घटता है। यद्यपि मानना पड़ता है कि जीवन में इससे अधिक विकृतियाँ हैं फिर भी काव्य में सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रयोगवाद में छायावाद और प्रगतिवाद की भाँति प्रयोग प्रयोग के लिए की प्रवृत्ति आ सकती है। इससे सावधान रहने की आवश्यकता है।

एवरेस्ट विजय—

इस विषय से साहित्य का केवल इतना ही सम्बन्ध है कि यह विजय मानव और भारत के गौरव बढ़ाने वाला विषय है। जितने साहस के कार्य हैं वे वीर रस के विषय बनने योग्य हैं। वीर रस के ऐसे साहस पूर्ण उदाहरण देश में उत्साही लोगों को उत्पन्न करते हैं, जो देश का मस्तक गर्व से ऊँचा कर देते हैं। हमारे कवियों में इतनी व्यापक सहानुभूति होनी चाहिए कि वे दूसरों के साहसपूर्ण कार्यों की सराहना करें और देश के गौरव में गौरव का अनुभव करें। वीर रस की आजकल उपेक्षा सी हो रही है। अब वीरता के नये विषयों के अपनाने की आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश सरकार के पुरस्कार—

सन् १९५२-५३ के पुरस्कार निम्नलिखित लेखकों और उनकी पुस्तकों को दिए गए हैं—

स्वतन्त्रता की ओर—कुमारी कंचनलता सब्बरवाल, प्रिंसिपल, महिला विद्यालय लखनऊ ५००)

काव्य चर्चा—श्री ललिताप्रसाद शुक्ल, कलकत्ता विश्वविद्यालय कलकत्ता ५००)

धर्म सम्भाव, ईमान, राजनीति समस्या, भावगीत, संस्कृति समस्या, मानव भाषा, नया संसार, सत्यामृत—श्री स्वामी सत्यभक्त एम० पी० सत्याश्रम, वर्धा। १२००)

संस्मरण, हमारे आराध्य—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी एम० पी०, टीकमगढ़, विन्ध्य-प्रदेश। १२००)

रजत रश्मि, ऋतुराज—डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद। ७००)

भिक्षुणी—श्री महेन्द्रसिंह 'प्रेमघन' बिलथरा रोड, बलिया। २५०)

माता—श्री माखनलाल चतुर्वेदी, कर्मवीर कार्यालय, खंडवा। १२००)

काश्मीर पर हमला—श्रीमती कृष्णा मेहता, दीवान स्टेट श्रीनगर, काश्मीर। २५०)

प्रतिध्वनि, महापुरुष, सुनो बच्चो—श्री रघुवीर-शरण 'मित्र' स्वराज्य पथ, मेरठ। ४००)

शतदल—श्री लक्ष्मीशङ्कर मिश्र 'निशङ्क' कान्यकुब्ज कालेज, लखनऊ। ५००)

मैं इनसे मिला था भाग १ और २—श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' आगरा कालेज, आगरा। ५००)

साधना—श्री रघुनाथप्रसाद 'साधक' साधना मन्दिर अमरी, मुरादाबाद। ५००)

बाल रङ्ग-मञ्च, साहस गाथा—श्री मन्मथनाथ गुप्त, ११ तीमारपुर रोड, दिल्ली। ५००)

संतति निरोध, यौन मनोविकार—कारण और निवारण—डॉ० सुरेन्द्रनाथ, पोस्ट ललितपुर, झाँसी। ५००)

आंध्र देश के कबीर वेमना—श्री नारणासि राममूर्ति 'रेणु' प्रवीन अध्यापक, हिन्दी विभाग, हिन्दू-कालेज, गुंटूर। ३००)

एलोपैथिक चिकित्सा, प्रिंस मेटेरिया मेडिका—डॉ० सुरेशप्रसाद शर्मा, प्रिंसिपल प्रिंस होमयोपैथिक कालेज, काशी। ८००)

हिन्दी ध्वन्यालोक—श्री विशेश्वर, आचार्य, गुरुकुल, वृन्दावन। ८००)

पाश्चात्य द्रव्यगुण विज्ञान—श्री रामसुशीलसिंह आयुर्वेद कालेज, का० वि० वि०, बनारस। ५००)

सुहागिन—श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' ज्योति प्रकाशन, प्रयाग। ५००)

काश्मीर विजय, कृष्ण काल की परम्परा—श्री सत्यनारायण पांडे 'सत्य' सनातन धर्म कालेज, कानपुर। ५००)

चन्दबरदाई—श्री विपिन बिहारी त्रिवेदी, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। २००)

तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित, हिन्दीविभाग, काशीविश्वविद्यालय, बनारस। ८००)

हिमालय परिचय, बौद्ध संस्कृति—श्री राहुल सांकृत्यायन, हेपी वेली, मंसूरी। १,२००)

वनस्पति की कहानी, जीने के लिये, ज्वालामुखी भूगर्भ विज्ञान, समुद्री जीव जन्तु, वैज्ञानिक आविष्कार भाग १-२, पेनिसलिन की कहानी—श्री जगपति चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद। ८००)

नये मोड़—श्री उदयशङ्कर भट्ट, मसिजीवी प्रकाशन, दिल्ली २। ५००)

प्रसाद की विचारधारा—डा० रामरतन भटनागर, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर। ५००)

महावीरप्रसाद और उनका युग—डा० उदयभानुसिंह, बा० आ० कालेज, आगरा। ५००)

हिन्दी किशोर साहित्य—श्री ज्योत्सना द्विवेदी, द्वारा नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस। ५००)

परिव्राजक की कथा—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, लोलार्क कुण्ड, काशी। ६००)

सुबह के भूले—श्री इलाचन्द्र जोशी, मिन्टो रोड, इलाहाबाद। ८००)

भारतीय चित्रकला—श्री ईश्वर बहादुर द्वारा नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस। ४००)

राजस्थान का पिङ्गल साहित्य—श्री मोतीलाल मनेरिया, उदयपुर, मेवाड़। ८००)

प्रौढ़ शिक्षा के प्रयोग और विधान—श्री वेणीमाधव शर्मा, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी। ५००)

रोग परिचय, रोग परीक्षा—श्री शिवनाथ खन्ना काशी विश्वविद्यालय, काशी। ८००)

सौश्रुति—श्री रामनाथ द्विवेदी, काशी विश्वविद्यालय काशी। ३००)

प्राकृत विमर्श—डा० सरजूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। ५००)

सुखदा—श्री जैनेन्द्रकुमार, ७।३६ दरियागंज दिल्ली। ८००)

मन्वन्तर, छायावाद युग—श्री शम्भूनाथसिंह काशी विद्यापीठ काशी। ६००)

ग्राम साहित्य—श्री रामनरेश त्रिपाठी, वसन्त-निवास, सुल्तानपुर। १०००)

अर्चना, आराधना—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' दारागञ्ज इलाहाबाद। १०००)

राजनीतिक विचारों का इतिहास—श्री कन्हैया लाल वर्मा, काशी विश्वविद्यालय, बनारस। ५००)

भारतीय अर्थशास्त्र का विवेचन—श्री ओ३म् प्रकाश केला, भारतीय ग्रंथमाला दारागञ्ज, इलाहाबाद। ३००)

हिमाँचल—श्री रामेश्वरलाल 'तरुण', मेरठ कालेज मेरठ। ३००)

एशिया का आधुनिक इतिहास—डाक्टर सत्यकेतु विद्यालङ्कार, लकस माउन्ट, मसूरी। ६००)

ग्रामिका, जगदालोक—डा० गोपालशरण सिंह निगाही, रीवाँ। १०००)

इन पुरस्कारों पर कुछ गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। जैसे—

एक—स्थान की दृष्टि से पुरस्कारों का वर्गीकरण करने से विदित होता है कि—

१—काशी को	११	पुरस्कार मिले हैं
२—इलाहाबाद को	६	,,
३—लखनऊ	,, ४	,,
४—दिल्ली	,, ३	,,
५—आगरा	,, २	,,
६—मेरठ	,, २	,,

और शेष १५ स्थानों को एक-एक पुरस्कार। इस प्रकार चौथाई के लगभग पुरस्कार अवढ दानी विश्वनाथ की नगरी काशी ने प्राप्त किये हैं। इन पुरस्कारों की धनराशि ७२०० रुपये होती है जो समस्त धनराशि के चौथाई से भी १३०० रुपये अधिक है, समस्त धनराशि २७५०० है। काशी के इस सौभाग्य को समस्त नगर सराहेंगे, और उसे हार्दिक बधाई देंगे।

दूसरा स्थान तीर्थराज इलाहाबाद का है। यह न विश्वनाथ की नगरी है, न महादेव की—महादेवी गङ्गा यमुना की नगरी है। इसे ३६०० के लगभग धनराशि प्राप्त हुई है।

इसी के साथ यह द्रष्टव्य है कि पुरस्कार प्राप्त कर्त्ता लेखकों की दृष्टि से ८ कोटियां हो जाती हैं:—

प्रथम कोटि को—	१२००
द्वितीय कोटि को—	१०००
तृतीय कोटि को—	८००
चतुर्थ कोटि को—	६००
पंचम कोटि को—	५००
छठी कोटि को—	४००
सातवीं कोटि को—	३००
आठवीं कोटि को—	२५०

काशी में न तो इस वर्ष कोई प्रथम कोटि का पुरस्कार प्राप्त कर्त्ता है, न द्वितीय कोटि का। प्रथम कोटि के पुरस्कार प्राप्त करने वाले सभी उच्चकोटि के साहित्यकार हैं। इन्हें यदि इससे भी बड़ा पुरस्कार मिले तो पुरस्कार धन्य होगा। निरालाजी को द्वितीय कोटि का पुरस्कार दिया गया है, यह कुछ खेदजनक प्रतीत होता है।

यथार्थ यह है कि इन पुरस्कारों के निर्णय करने में कोई विशेष मान दण्ड नहीं, और यह भी स्पष्ट नहीं कि पुरस्कार पुस्तक पर प्रदान किया गया है या लेखक को। हम पिछले अङ्कों में कई वर्ष से इस पुरस्कार पर अपने विचार लिखते रहे हैं।

हमारे विचार में लेखकों अथवा पुस्तकों पर इस विधि से पुरस्कार देना अनुचित है। लेखक से पुस्तकें मँगाना हमारी दृष्टि में अनुचित है। सरकार को एक ऐसी समिति का निर्माण करना चाहिए जिसके पास प्रत्येक प्रकाशक से प्रत्येक साहित्यिक प्रकाशित पुस्तक नियमतः पहुँचती रहे। यह समिति उन प्रकाशित पुस्तकों पर प्रकाशित होने वाली समस्त परिचयों और आलोचनाओं का संकलन करती रहे और उन पर विचार करती रहे। इस प्रकार समस्त प्रकाशित पुस्तकों की कोटियाँ बनाकर उनमें से पुरस्कार योग्य कृतियों का चुनाव करे। इस चुनाव में मान दण्ड क्या रखा गया है, इसे भी विज्ञप्ति के साथ प्रकाशित किया जाय। यही विधि समस्त राज्यों में अपनायी जानी चाहिए। इस विषय पर 'जून' की 'सरस्वती' में जो सम्पादकीय विचार रखे हैं, वे भी पठनीय हैं। हमारी किसी भी सरकार को कोई भी कार्य बिना उचित विधि और व्यवस्था के नहीं करना चाहिए।

काव्य की इतिवृत्तात्मक शैली

प्रो० कृष्णकान्त चौधरी, एम० ए०

रीतिकाल की समाप्ति और खड़ी बोली का प्रारम्भ ही आधुनिक काव्य का श्रीगणेश है। आधुनिक काव्य की शैलियाँ विविध भागों में बँटी हैं। इस काव्य के आरम्भिक काल में इतिवृत्तात्मक शैली में काव्य प्रणीत हुआ, मध्य काल में छायावादी शैली का जोर रहा और अभी वर्तमान प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी शैली का बोलबाला है। इन शैलियों की अपनी-अपनी प्रवृत्तियाँ हैं। इनकी भाषा खड़ी-बोली जनसाधारण की भाषा है। खड़ी बोली में इन शैलियों की अभिव्यक्ति होने से शैली का रूप सरल और सरस हो गया है। पर छाया वादी शैली कुछ लाक्षणिक प्रयोग के कारण दुरूह हो गई है। अभिव्यक्ति स्वाभाविक होते हुए भी शैली सरल और सुबोध नहीं है। जन-साधारण के समीप तक ये कवि नहीं पहुँच सके हैं। काव्य के क्षेत्र में इतिवृत्तात्मक युग की शैली वर्णनात्मक, भावात्मक और सङ्गीतात्मक रही है।

भाषा और भाव रीतिकालीन युग से छुटकारा पाकर उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने लगे। कृत्रिमता की जगह स्वाभाविकता का आविर्भाव हुआ। व्रजभाषा की जगह काव्य में खड़ी बोली ने ली। इतना होने पर भी पूर्ववर्ती युग की छाप इतिवृत्तात्मक शैली पर बनी ही रही। धीरे-धीरे चल कर उसका प्रभाव मिट सका। इस शैली के युगोन्मेष प्रतिष्ठाताओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी, 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त आदि प्रधान हैं।

इतिवृत्तात्मक शैली वर्णनात्मक। इसमें विषयों का वर्णन सरल ढङ्ग से व्यक्त होता है। भावों की भी सरल एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। छन्दों के रूप पर अधिक ध्यान दिया जाता है। शुरू में इस शैली की भाषा व्रजभाषा भी रही है। बाद में खड़ी बोली में ही रचनाएँ होने लगीं। जहाँ व्रज भाषा का प्रयोग है, वहाँ शैली मधुर हो सकी है। खड़ी बोली जहाँ प्रयुक्त हुई है वहाँ की शैली कर्णकटु हो गई है। सरसता और कोमलता का अभाव शुरू में देखने को मिलता है। इसका एकमात्र कारण पद्य-रचना का छन्दों और अलङ्कारों की सीमा में बद्ध होना है। पद्य रचना इस युग में साधारण कोटि की हुई है। खड़ीबोली पद्य की इस इतिवृत्तात्मक शैली के प्रवर्त्तक भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदीजी हैं। अगर भारतेन्दुजी इसके पिता हैं तो द्विवेदीजी इसके पालन कर्त्ता। द्विवेदीजी के कड़े अंकुश के कारण यह शैली ज्यादा विकासोन्मुख नहीं हो सकी है।

भारतेन्दुजी की शैली की निम्न प्रवृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं:—

(क) इनके काव्य में वर्णनात्मकता अधिक है और व्यञ्जकता कम है।

(ख) शब्द-वैचित्र्य अधिक है। उर्दू की जावाँदानी ही अधिक प्रयुक्त हुई है।

(ग) सङ्गीतज्ञ होने के कारण इनके काव्य में सङ्गीत का समिश्रण हो सका है। अतः गेयत्व प्रधान गुण है।

(घ) कविता की भाषा व्रजभाषा और खड़ी बोली है।

(ङ) स्वाभाविकता और सरलता काव्य में सर्वत्र है।

(च) छन्दों में गीत, कवित्त, सवैया, गजल और दोहे इस्तैमाल हुए हैं। कुछ लावनियाँ और ख्याल भी लिखे हैं। इनकी शैली खासकर मुक्तक रचना में ही प्रकट हुई है। मुक्तकों में देश प्रेम का रूप बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से प्रस्फुटित हुआ है। कहीं-कहीं अलङ्कार युक्त शैली भी देखने को मिलती है। 'गङ्गा-वर्णन' और 'यमुना-छवि' में उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कार के कारण शैली गम्भीर और सरस होगई है। एक पद इनका देखिए :—

"कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जागत नाहीं अनेक जतन करि भारतवासी रोए॥
एक दिन वह हो जब तुम छिन नहीं भारत-हित बिसराए।
इतके पशु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए॥"

करुण-पुकार के कारण शैली मधुर, हृदय स्पर्शी और प्रभावशाली होगई है। शैलियों की कोई नवीन प्रवृत्ति कहर

में नहीं मिलती है। हाँ, काव्य-विषय देश-प्रेम और समाज होने से शैली विषय प्रधान अवश्य हो गई है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की काव्य शैली में कोई विशेषता नहीं है और न नवीन प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन ही है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन्होंने इतना कड़ा अंकुश शैली पर रखा कि वह विकृत नहीं होने पाई है। भाषा को परिमार्जित किया, व्याकरण का शुद्ध प्रयोग करवाया, छंदों की गति बतलाई और सरलता का रूप स्थिर किया। अतः इनकी शैली वर्णनात्मक और सरल है। स्वाभाविकता तो इसका जैसे विशेष गुण हो गया है। संस्कृत के वृत्तों का प्रचार एवं प्रसार हिन्दी शैलियों के क्षेत्र में इन्हीं के द्वारा हुआ।

शैली के क्रमशः विकास की गति में श्रीधर पाठक की शैली दर्शनीय है। यद्यपि इन्होंने व्रजभाषा में ही अधिक लिखा है, तो भी खड़ी बोली में इनकी शैली बड़ी सरस और प्रभावशालिनी हुई है। नई-नई शैलियों के ये प्रवर्त्तक हैं। इनकी चाह इतना परिमार्जित थी कि नए छन्द, पद-विन्यास और वाक्य विन्यास ये अधिकतर करते थे। ये छंद इनके बड़े मधुर और चलते हैं। शैली में भद्दापन तो कहीं आया ही नहीं है। कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास भी इनकी शैली की विशेषता है। देखिए:—

"विजन बन प्रान्त था; प्रकृति मुख शांत था,
अटन का समय था रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल-अरविंद-निभ नील सुवि—
शाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥"

छन्द का रूप देखिए। संस्कृत के कोमल पद-विन्यास का अवलोकन कीजिए और शब्दों का चमत्कार निरूपण कीजिए। कितनी कोमल, सरस और चलती शैली है। इनकी वाणी में ऐसा प्रभाव मालूम पड़ता है कि शैली फड़कती हुई प्रतीत होती है। अतः शैली की विविधता उल्लेखनीय है।

ज्यों-ज्यों खड़ी बोली की भाषा परिमार्जित होती गई शैली का भी विकास होता गया और इसके रूप स्थिर होते गए। जो शैली और भाषा पहले कर्ण-कटु मालूम होती थी वह मीठी और सरस होने लगी। 'हरिऔध' जी और 'गुप्तजी' के सतत प्रयत्नों से खड़ी बोली की कर्कशता कुछ कम हुई। नए छन्दों का प्रयोग भी इन लोगों ने किया। प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रवृत्ति जागृत हुई। मोटे रूप से इतना कहा जा सकता है कि 'हरिऔध' जी और 'गुप्त' जी शैली के नए विकास में सहायक ही नहीं हुए; बल्कि नवीन प्रयोगों के द्वारा शैली को इतनी परिमार्जित और परिष्कृत कर दिया कि पाठकों के मन आकर्षण के नए प्रभाव को नहीं टाल सके। सुन्दर, सरल, सरस, और भावुक शैली का प्रादुर्भाव खड़ी बोली में हुआ। इसका श्रेय गुप्तजी और हरिऔधजी को है।

हरिऔधजी कठिन और सरल दोनों तरह की शैली के जन्मदाता हैं। दुरूह भाषा में क्लिष्ट शैली की योजना उतनी ही सुगमता के साथ करते हैं जितनी सरल भाषा में सुबोध शैली की। 'प्रिय प्रवास' और 'चोखे-चौपदे' इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रिय प्रवास की रचना संस्कृत के ललित वृत्तों पर द्विवेदी काल की निर्णीत शैली के आधार पर हुई है; वहाँ चोखे-चौपदे का प्रणयन सरल और मुहावरेदार शैली में हुआ है। प्रिय-प्रवास संस्कृत-गर्भित भाषा में है। ललित छन्दों में रचना होने से मधुरता और गेयता आ ही गई है। एक ही तरह के संस्कृत छन्द आदि से अन्त तक प्रयुक्त हुये हैं। प्रबन्ध-काव्य होने के कारण इसकी शैली ज्यादा वर्णनात्मक ही है। विरह का वर्णन जहाँ आया है शैली का रूप भावात्मक और करुण हो गया है। विरह की जो शैली सूर या नन्ददास के काव्य में आई है वह प्रिय-प्रवास में नहीं है। विरह की शैली युग की परिस्थितियों से प्रभावित है। विरह की इस शैली में कर्त्तव्याधिक्य और जीवन के आदर्श की भावना व्यक्त हुई है। कृष्ण यहाँ कर्मयोगी हैं। राधिका कर्त्तव्यनिष्ठ युवती। एक नमूना देखिए:—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अवराजति,
कमलिनी-कुल बल्लभ की प्रभा॥"

इनके पदों में उपसर्ग और सामासिक शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। इन प्रयोगों के चलते शैली में मधुरता और गेयता का समावेश हो सका है। साथ-साथ शैली की गम्भीरता भी बढ़ गई है। इनकी सरल और लाक्षणिक शैली का भी एक उदाहरण देखिए:—

"क्यों पले पीस कर किसी को तू,
है बहुत पालिसी बुरी तेरी।
हम रहे चाहते पटाना ही;
पेट तुझसे पटी नहीं मेरी।"

इससे सरल और स्वाभाविक शैली क्या हो सकती है? मुहावरे की चुलबुलाहट ने इसमें चार चाँद लगा दिये हैं।

इतिवृत्तात्मक शैली के युग में 'गुप्तजी' सरल और स्वाभाविक शैली के प्रणेता हुए हैं। इनकी शैली इतनी ठोस, परिष्कृत और सरल है कि जन-साधारण तक को इनकी कविता समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है। प्रमुख रूप से इनकी शैली प्रबन्धात्मक और वर्णनात्मक है। इनकी प्रवृत्ति ज्यादा प्रबन्ध-काव्य लिखने की ओर ही रही है। 'साकेत' और यशोधरा इनके प्रबन्ध-काव्य हैं। इन दोनों काव्यों में विविध छन्द प्रयुक्त हुये हैं। लेकिन इतना जोर के साथ कहा जा सकता है कि इनकी काव्यगत शैली ज्यादा गीतात्मक ही हुई है। यशोधरा में नाटकीय शैली का भी प्रयोग हुआ है जो बड़ी मार्मिक और प्रभावशालिनी है। भाषा इनकी शुद्ध खड़ी बोली है। शब्द इनके चुस्त, सरल और जन-साधारण के समझने लायक हैं। पौराणिक आख्यानों को ही वर्णनात्मक ढङ्ग से इन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है। छायावादी और प्रगतिवादी शैली के रूप भी इनके काव्य में मिलते हैं। 'झङ्कार' में गीतों के माध्यम से लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। रहस्यमयता का भी दर्शन इसमें होता है। किसी भी विषय को सीधे ढङ्ग से सरल रूप में कहने में ये अद्वितीय और सिद्ध-हस्त हैं। विरह शैली का जो रूप 'यशोधरा' में आया है वह 'सूर' के बाद इन्हीं का है। बड़ी मार्मिक और प्रभावोत्पादक शैली है। एकाध नमूना देखिए:—

"सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चञ्चल अञ्चल, झलमल-झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भरके, उछल-उछल कर छल छल करके,
थल थल तरके, कल-कल धर के बिखराता है पारा।"

देखिए स्वाभाविकता और सरलता का कैसा चमत्कार है। सरल शब्द अंगूर के गुच्छे की तरह पदों में गूँथ दिये गए हैं। गीतों में होने से इसकी गेयता और भी बढ़ गई है। विरह शैली का विकास जहाँ भी पाया है वह स्थल सरस और करुण हो गया है। 'यशोधरा' का स्थल-स्थल मार्मिक वेदना से भरा पड़ा है। महा प्रजावती कहती है—

'मैंने दूध पिला कर पाला।
सोती छोड़ गया पर मुझको वह मेरा मतवाला।
कहाँ न जाने वह भटकेगा,
किस झाड़ी में जा अटकेगा।
हाय! उसे काँटा खटकेगा,
वह है भोला-भाला।
मैंने दूध पिला कर पाला।"

जहाँ नाटकीय शैली का विकास हुआ है वह स्थल तो और भी हृदय स्पर्शी हो गया है। यशोधरा और राहुल में जो बातचीत होता है वह बड़ा ही सरस और सुन्दर है। कथोपकथन ने शैली को चलती बना दिया है। शैली में इतना प्रवाह आगया है कि मन और उसी के साथ बह जाता है। एक स्थल है जहाँ राहुल अपनी माँ से कहता है—

"माँ कह एक कहानी।
वह राजा था या रानी।"

यशोधरा कहती है—

"बेटा समझ लिया है तुमने मुझको अपनी नानी,
माँ कह एक कहानी।"

सरल और स्वाभाविक शैली कितना मधुर है और गेय हो सकी है। सूर के बाद ऐसी अनोखी शैली गुप्तजी का ही है। हास्य की मन्द मुस्कान ने शैली में गुलाब का फूल खिला दिया है। कवि की शैली पर युग और परिस्थिति की भी छाप पड़ी है। गांधीवाद का समन्वय इतना मधुर रूप में हुआ है कि देखते ही बनता है। राम वन जा रहे हैं। अयोध्या की जनता उन्हें जाने देना नहीं चाहती है। सत्याग्रह कर देती है—

"जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ।
यों कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ।
उठो, विघ्न मत बनो धर्म के मार्ग में;
चलो स्वयं कल्याण कर्म के मार्ग में।
विभु वाणी से वहो, पड़े थे जो अड़े,
मन्त्र-मुग्ध से हुए अलग उठकर खड़े।"

कैसी विमुग्धकारी शैली है। सरल और स्वाभाविक भी।

यहाँ श्री रामनरेश त्रिपाठी की शैली की समीक्षा कर इतिवृत्तात्मक शैली समीक्षा समाप्त की जायगी। इनकी काव्य शैली स्वाभाविक और स्वच्छन्द है। साथ-साथ राष्ट्रीय शैली का रूप भी इनके काव्य में मिलता है। प्रकृति-चित्रण भी इनका बड़ा स्निग्ध और कोमल है। शांत कोमल पदों में इनकी शैली भावना-प्रवाह में बहती चलती है। स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति इनकी शैली में प्रमुख रूप से काम कर रहा है। विषय के कारण इनकी शैली चुटकीली, चलती और सरल एवं सरस हो पाई है जो इस युग का विशेष गुण है। एक उदाहरण देखिए :—

"उमड़-घुमड़ जब घमण्ड से उठता है सावन में जलधर,
हम पुष्पित कदम्ब के नीचे झूला करते हैं प्रति वासर।
तड़ित-प्रभा या घन-गर्जन से भय या प्रमोद के प्राप्त कर,
वह भुजबन्धन कस लेती है, यह अनुभव है परम मनोहर।"

सरसता और उन्मुक्तता शैली का विशेष गुण है। माधुर्य गुण का ऐसा विकास अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत शब्दों के मधुर प्रयोग से शैली और भी प्रवाहयुक्त और मीठी हो गई है। वर्णनात्मक शैली ही इनके काव्य में आपको लक्षित होगी।

(पृष्ठ १९ का शेषांश)

भी किया जाता है कि युग और देश की कौन सी आवश्यकता वह पूरी कर रहा है। पर अवश्य ही सामयिक समस्यायें चिरन्तन अस्तित्व रखने वाले साहित्य का मूल्य नहीं हो सकतीं। नारी कवि ने यदि आज के प्रगतिशील स्वर से स्वर मिलाकर रोटी की पुकार नहीं लगाई, मार्क्स के 'कैपिटल' और रूस के हँसिया हथौड़ा को अपने काव्य का लक्ष्य नहीं बनाया तो उसे नितान्त अर्थ-हीन नहीं कहा जा सकता। साहित्य के कुछ चिरन्तन मान और मूल्य होते हैं। रोटी और रोजी साहित्य के नहीं, आर्थिक प्रश्न हैं। साहित्य में आकार ग्रहण करने वाली शाश्वत चेतना का प्रयोग जीवन के इस स्तर की सामान्यता तक उतार देना संभवतः एक दृष्टा साहित्यकार ठीक भी नहीं समझेगा।

क्रान्ति और ध्वंस की ये पदावलियाँ सुख और शान्ति का वातावरण आने पर स्वतः नष्ट हो जायँगी। व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश एक सुन्दर व्यवस्था बनने पर तिरोहित हो जायँगे। तृष्णा और अभाव के गीतों का भी कोई अस्तित्व नहीं रहेगा किन्तु नारी-काव्य मानव मन की अनुभूतियों के साथ सदैव जीवित रहेगा।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नारी काव्य सब दृष्टियों से पूर्ण है। उस पर एकांगिता का आरोप कुछ अंशों में ठीक भी है। स्व० श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने राष्ट्रीय भावना को अपने काव्य का लक्ष्य बनाया था, पर उनके बाद कोई हृदय इस दिशा में नहीं सुना गया। प्रकृति काव्य का एक चिरस्थायी उपादान है किन्तु इधर अपनी व्यक्तिगत संवेदनाओं को रंग कर आकर्षक और रहस्यमय बना देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है—

जैसे:—

क्यूँ सुधियाँ रोतीं बार बार,
क्यूँ जन कहते धिक्कार हार,
परवश हैं मेरे रोम रोम,
बुझता-सा श्रद्धा का प्रदीप" (दिनेशनंदिनी डालमिया)

इस वैयक्तिकता से ऊपर उठकर ही महान काव्य का सृष्टि हो सकती है। महादेवी ने कुछ लिखा अथवा श्रीमती चौहान ने जो कुछ लिखा, उसी पर निर्भर रहने से काम नहीं चल सकता। साहित्य व्यापी साधना चाहता है। उसे न पा सकने की स्थिति में वह अशक्त हो जाता और नष्ट हो जाता है। हिन्दी की वर्तमान सक्रिय कवयित्रियों को इधर ध्यान देना चाहिये।

रीतिकाल में आचार्यत्व और काव्यत्व का एकीकरण

श्री कृष्णनन्दनप्रसाद 'अभिलाषी' एम० ए०

आचार्यत्व और काव्यत्व दो भिन्न गुण हैं। उनके क्रिया-क्षेत्र अलग-अलग हैं। एक का सम्बन्ध प्रधानतः मस्तिष्क से है और दूसरे का सम्बन्ध विशेषकर हृदय से। आचार्यत्व के लिए तर्कशक्ति, खण्डन-मण्डन करने की रीति, विवेचन और किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन करने की तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता है। काव्यत्व के लिए भावुकता, कोमलता और सरसता की अधिक जरूरत है। अस्तु, दोनों भिन्न मार्ग हैं।

संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे हैं। संस्कृत रीति ग्रन्थों के प्रणेता कवि नहीं, आचार्य थे जो कविता न कर सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन और प्रतिपादन करते थे। भरत, वामन, रुद्रट, अभिनव, कुन्तक, मम्मट आदि सभी आचार्य थे जिन्होंने सूत्र-कारिका वृत्ति आदि के द्वारा सैद्धान्तिक विवेचन ही किया है। दण्डी, राजशेखर, आदि कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो आचार्य के अतिरिक्त कवि भी थे। किन्तु इन्होंने अपने दोनों रूपों को अलग ही रखा है। परन्तु आगे चल कर इस परम्परा का निर्वाह कठिन जान पड़ा। अतएव भानुदत्त और पण्डित जगन्नाथ के समय आते-आते दोनों का एकीकरण हो गया। पण्डित जगन्नाथ ने सिद्धान्तों का विवेचन गद्य में किया और उनके उदाहरण के रूप में स्वरचित पदों को रखा। इसके उपरान्त तीसरी धारा आती है जिसमें जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में देकर गद्य का भी बहिष्कार कर दिया। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों ने इसी नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। पर इस एकीकरण का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अच्छा न पड़ा।

आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचनात्मक और निर्णयात्मक शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका विकास नहीं हो पाया। कवि लोग दो पंक्तियों में अपर्याप्त लक्षण दे कर अपने कर्म में लग जाते थे। परिणामतः काव्य के विभिन्न अंगों का विस्तृत और गम्भीर विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, सिद्धान्तों का निरूपण, आदि कुछ भी नहीं हो पाया। इसका एक कारण विकसित गद्य का अभाव भी था।

काव्यांगों के स्वतन्त्र विवेचन के अभाव में किसी वाद की स्थापना नहीं हो सकी। संस्कृत साहित्य में जैसे अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, आदि अनेक वाद पाये जाते हैं, वैसे वादों के लिए हिन्दी के रीति क्षेत्र में रास्ता नहीं निकला। हाँ, अलङ्कार को प्रधान रूप में ग्रहण करने के कारण हम केशव को अलङ्कारवादी अवश्य कह सकते हैं। उनके उपरान्त रीतिकालीन किसी कवि ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया। वे सामान्यतः रस को ही काव्य की आत्मा मान कर चलते चले।

काव्य के प्रधानतः दो रूप माने गए हैं—श्रव्य और दृश्य। रीतिकाल में दृश्य काव्य का निरूपण बिलकुल नहीं हुआ। यह आचार्यत्व और काव्यत्व के एकीकरण का ही प्रभाव था। श्रव्य काव्य के विभिन्न अङ्गों का भी विषद और तर्क पूर्ण विवेचन नहीं हुआ। कहीं-कहीं पर लक्षण और उदाहरण में मेल नहीं दीख पड़ता। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में इन रीतिग्रन्थों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्यज्ञान कच्चा समझना चाहिए। पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्वयं इन कवियों को भी उनका पूर्ण ज्ञान नहीं था। ऐसा कहना उनके प्रति घोर अन्याय होगा। वे उन्हें जानते थे और अच्छी तरह जानते थे। उनकी इस गड़बड़ी के निम्नलिखित कारण हैं।

इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि उनके पास तर्कोपयोगी गद्य का साधन उपलब्ध नहीं था। जो कुछ लिखा जाता था, वह पद में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात को पूर्णरूपेण मीमांसा या उस पर तर्क वितर्क हो ही नहीं सकता। दूसरा उनके विषय की सूक्ष्मता और गम्भीरता था जिनके स्पष्टीकरण में संस्कृत के भी उनके आचार्य सफल नहीं उतरे हैं। तीसरा कारण यह है कि लक्षण के जो उदाहरण उपस्थित किए गए हैं वे कुछ

और असुन्दर हैं। 'काव्य-कल्पद्रुम' इसका प्रमाण है। इस स्पष्टता का चौथा और अन्तिम कारण यह है कि अनुवाद के स्थान पर जिन लोगों ने जो मौलिक पद्य उद्धृत किए हैं, वे सर्वथा अपरिचित हैं। अतएव रीति लक्षणों को समझने में अस्पष्टता और क्लिष्टता का अनुभव होना स्वाभाविक ही है।

इस आचार्यत्व और कवित्व के एकीकरण में काव्यत्व को ही प्रधानता रही। इन रीतिग्रन्थों के कुतोभावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों—विशेषकर शृङ्गार रस—और अलङ्कारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलङ्कारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इन्हीं के कारण रस पीछे से जुड़े क्षेपक से जान पड़ते हैं।

आचार्यत्व के मोह में रीतिकालीन कवियों की भाव-व्यंजना गौण पड़ गई। वस्तु व्यंजना की ओर उनका अधिक झुकाव दिखायी पड़ता है। इससे साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और सीमित सी हो गई। इसके साथ ही इन कवियों को अपनी व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का बहुत ही कम अवसर रह गया। अतएव उनके स्वतंत्र चिन्तन और स्वतंत्र व्यक्तित्व का उन्मत्त विकास नहीं हो पाया। उनके हिस्से में यह एक बहुत बड़ी कमी रह गई।

आचार्य केशव की अलङ्कार-प्रियता ने कवि केशव का हनन कर दिया। पांडित्य प्रदर्शन के मोह में पड़कर कवि हृदय कुण्ठित होगया। उनकी रामचन्द्रिका इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वह इसी के फेर में पड़ कर फुटकल छन्दों का संग्रह होगई, जिसमें कहीं रामचन्द्र अपनी माता कौशल्या को वैधव्य सम्बन्धी उपदेश देते हैं, कहीं पञ्चवटी की तुलना धूर्जटी से करते हैं और कहीं बेर-वृक्ष को प्रलय बेला के द्वादशादित्य बतलाते हैं। इसी झमेले में पड़कर बिहारी ने अनूठी अतिशयोक्तियों का निर्माण किया है। पांडित्य-प्रदर्शन के सम्बन्ध में अनुप्रासों की अधिकता और शब्दाडम्बर की अतिशयता के लिए पद्माकर का नाम लेना आवश्यक है।

इस एकीकरण का प्रभाव तत्कालीन भाषा पर भी पड़ा। रीतिकालीन भाषा में बड़ी गड़बड़ी थी। इस गड़बड़ी का एक कारण अवधी और ब्रजभाषा का कवियों द्वारा इच्छानुसार सम्मिश्रण था। भाषा की अधिक मीमांसा न होने के कारण कवियों ने अन्य बोलियों के शब्द लिए ही साथ ही उनके कारक चिह्नों और क्रिया के रूपों को भी मनमाने रूप में अपनाया। ऐसा वे केवल सौन्दर्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धान्त के अनुसार नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक है। अतएव इस काल की भाषा बड़ी मिली-जुली थी जिसके प्रमाण में दासजी कहते हैं:—

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

सारांश यह कि इस आचार्यत्व और काव्यत्व के एकीकरण का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अच्छा नहीं पड़ा, क्योंकि एक ही कवि के दो कर्म हो गये—लक्षण भी तैयार करना और उनके उदाहरण भी प्रस्तुत करना। परिणाम यह हुआ कि न तो आचार्यत्व का ही पूर्ण विकास हो पाया और न कविता कामिनी ही स्वतन्त्र रूप से भाव-लोक में विचरण कर सकी। जो कुछ हुआ—रीति-ग्रन्थों के आधार पर ही हुआ। कवियों में मौलिकता और स्वतन्त्र-चिन्तन का अभाव हो गया। वे अपने व्यक्तित्व का भी विकास नहीं कर पाए। उनकी भाषा भी एकरूपता और स्थिरता नहीं प्राप्त कर सकी। उसमें गड़बड़झाला ही बना रहा। अस्तु सूत्ररूप में यही कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों में भी संस्कृत-साहित्य की अनुकरण-प्रवृत्ति ही इन सभी खटकने वाली बातों का कारण है।

———

तुलसी की समन्वयात्मक भावना

प्रो० रामेश्वर मिश्र, एम० ए०

विश्व का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि इस भाग-श्रम पर शताब्दियों के बाद महात्माओं या महापुरुषों का आविर्भाव होता है। यह आविर्भाव बहुधा संक्रमण-काल में होता है। जब मानवता को सुनिर्दिष्ट पथ नहीं मिलता है, वह अज्ञान-अन्धकार में पड़कर व्यामोह में पड़ जाती है और अज्ञान-तिमिर से उसकी नयन-ज्योति क्षीण हो जाती है तथा अपने गन्तव्य की ओर प्रयाण करने में वह अक्षम हो जाती है। ऐसी स्थिति में मानव-समुदाय में कोई आदर्श रूप भी नहीं रह जाता है जिसका वह अनुकरण करे। इस प्रकार की विषम स्थिति तब पैदा होती है जब देश विदेशीय सभ्यता और संस्कृति से आक्रान्त हो जाता है। देश की निजी संस्कृति, जो मूलाधार के रूप में उस देश के लिए रहती है, वह सर्वथा लुप्त हो जाती है और उसके स्थानापन्न विजातीय संस्कृति घर बना लेती है। इस विजातीय संस्कृति से आक्रान्त होने पर देश के ज्ञान, बल, कला-कौशल, आशा-आकांक्षाएँ और भावनाएँ आदि विदेशीय रँग में रँग जाती हैं। उसकी आदिम विशेषता लुप्त हो जाती है।

महाकवि तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे ही काल में हुआ था। हिन्दू जाति मुसलमान शासकों की अधीनता स्वीकार कर चुकी थी। अकबर जैसे दूरदर्शी मुगल बादशाह की छत्रछाया में देश अपना अहोभाग्य समझता था किन्तु देश के भाग्य का 'शीतलच्छाय सांस्कृतिक' सूर्य डूब चुका था। यह सूर्य शीतलता को प्रदान करने वाला था जिसके अस्त होने पर हिन्दू जाति के प्राण-रूपी शतदल निश्चल हो गये थे। देश की संस्कृति नष्ट होने पर भारतवर्ष की जनता ज्ञान और विद्या से सुदूर अलग हो चुकी थी और वह इस्लाम धर्म एवं कला की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रही थी। इस इस्लामी धर्म एवं कला के प्रचारार्थ साधन भी अति सुलभ थे किन्तु हिन्दू संस्कृति और धर्म के प्रचारार्थ न तो साधन ही सुलभ थे और न मुगल बादशाहों की ओर से प्रश्रय ही मिलता था। दूसरी तरफ देश में क्योंकि कोई आदर्श जातीय भावना रह नहीं गई थी, इसलिए नाथपन्थी सम्प्रदाय के प्रचारक सम्पूर्ण देश में घूम घूम कर अलख-निरञ्जन की महिमा का गान गा रहे थे और निर्बोध एवं निरीह जनता अनहद नाद को सुन सुनकर अलखिया सम्प्रदाय में दीक्षित हो रही थी। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए निम्नलिखित एक पंक्ति ही पर्याप्त है—

'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।'

ऐसी विषम परिस्थिति में देश को एक ऐसे कलाकार की अपरिहार्य आवश्यकता थी जो भारतीय जनता के हृदय में भक्ति का बीज वपन कर उसे नाथ एवं सिद्ध-पन्थ की काव्यगत दुरुहता से बचाकर मुमूर्षु जन-समुदाय में सांस्कृतिक चेतना रूपी पौष्टिक अवलेह भर दे। महाकवि तुलसीदास ने मानस जैसे अद्वितीय ग्रन्थ की रचना कर ऐसा ही अद्भुत कार्य किया। इनका मानस 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' होते हुए भी 'क्वचिदन्यतोपि' है। तुलसी ने अपने पूर्व की कृतियों को छोड़ा नहीं, वरन्, उन्हें अपने साथ रख कर कुछ ऊपर से अपनी भावुकता, उदारता और मर्मज्ञता को जोड़ दिया। इस प्रकार की विशिष्टता तुलसी की समन्वयात्मक भावना की परिचायिका है। तुलसी की समन्वयवादी भावना का परिचय सर्वप्रथम हमें इस बात में मिलता है कि उन्होंने रामायण में चार घाटों की कल्पना की है। वे घाट—ज्ञान घाट, कर्म घाट, भक्ति घाट और उपासना घाट हैं। इन चार घाटों के संवादकर्ता भी भिन्न भिन्न हैं। वे क्रमशः शिव पार्वती, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज, तुलसी-सन्त एवं काकभुशुण्डि गरुड़जी हैं। तुलसी ने इन चार घाट या सिद्धान्तों की कल्पना क्यों की? इस सम्बन्ध में हम तुलसी के समकालीन परिस्थितियों को ही ले सकते हैं। तुलसी का जिस समय आविर्भाव हुआ था, उस समय ज्ञान, कर्म, उपासना और भक्ति विषयक सिद्धान्त प्रच्छन्न थे। इनका परम्परागत विकास रुक-सा गया था। उपर्युक्त चार सिद्धान्त

भारतीय वांगमय के आधार-स्तम्भ थे। ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा, कर्म के बिना लूला लँगड़ा, भक्ति के बिना हृदयहीन और उपासना के बिना वह अकर्मण्य एवं भावनाहीन बन जाता है। उस समय की परिस्थिति कुछ ऐसी ही थी जिसमें जनता पूर्णरूपेण ज्ञानहीन, कर्महीन, हृदयहीन और अकर्मण्य बन बैठी थी। तुलसी ने इसे जाना और तदनुकूल एक पौष्टिक रसायन की रचना कर उसे फिर से पुनरुज्जीवित किया। इसीलिए उक्त चार घाट या सम्वाद की सृष्टि की गई। ये चार सिद्धान्त मानस के किसी काण्ड-विशेष में वर्णित नहीं है, वरन् प्रायः सातों काण्ड में ये चारों सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। किन्तु उत्तर-काण्ड में ज्ञान और भक्ति का विशिष्ट वर्णन हमें मिलता है। इसका कारण यही है कि इस अन्तिमकाण्ड में तुलसी ने अपने उद्देश्य को प्रकट कर लोगों के सन्मुख रख दिया है। इस काण्ड में ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय बतलाई गई है।

तुलसी की समन्वयात्मक भावना का परिचय हमें इससे बढ़ कर और क्या मिल सकता है कि उन्होंने रामायण के अनेकों स्थल पर निर्गुण और सगुण-ब्रह्म के इन दोनों रूपों को स्वीकार किया है। इस बात की घोषणा उन्होंने कतिपय स्थानों में की है कि निर्गुण ब्रह्म ही भक्तों की प्रेम-परवशता के कारण सगुण रूप धारण करता है। यथा—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज निर्गुण-विगत विनोद,
सो अज भगति प्रेमवश कौशल्या की गोद।

अथवा

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप,
भगति हेतु नाना विधि करत चरित अनूप।

इससे यह विदित होता है कि तुलसीदास को भगवान के दोनों रूपों में अटूट विश्वास था। उनका हृदय बड़ा ही प्रशस्त और उदार था और इसीलिए उन्होंने कट्टर सगुण-मार्गी होते हुए भी भगवान के निर्गुण रूप में भी अपना विश्वास रक्खा। निर्गुण ही सगुण रूप धारण कर प्राणियों की विपत्ति का नाश करता है, इस उक्ति की वेद-वेदान्त, गीता और पुराणादि में बड़ी विशद चर्चा हुई है और तुलसीदास ने तो मानस के आरम्भ में ही उक्त सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है—यथा—

जब जब होहि धरम की हानी।
बाढ़हिं असुर महा अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीड़ा॥

इन उपर्युक्त पंक्तियों के साथ गीता की निम्नलिखित पंक्तियों का अक्षरशः साम्य है—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्,
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

युग विशेष में सच्चिदानन्द भगवान का आविर्भाव हुआ है; यह बात तो सर्वविदित है क्योंकि जहाँ तक अवतारवाद का प्रश्न है, हम देखते हैं कि भारतीय वाङ्मय में लगभग बावन अवतार की कल्पना की गई है। फिर भी सभी अवतारों में रामावतार जितना समादृत, ख्यातिलब्ध और साथ ही साथ सुलभ हुआ है, उतना और कोई दूसरा अवतार नहीं हो सका है। तुलसी ने अपने महाकाव्य का नायक अवतारी पुरुष राम को ही बनाया और किसी अवतार को नहीं, इसके अनेक कारण ढूँढ़े जा सकते हैं। जितने भी अवतार हुये हैं, उनमें रामावतार में ही लोक-रंजण का तत्व अपेक्षाकृत सभी अवतारों से अधिक है। महाकवि तुलसी एक लोकवादी कलाकार थे। जनरुचि और लोक मर्यादा की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी और इसीलिए उन्होंने राम में शील, शक्ति और सौन्दय का संचार किया। शील, शक्ति और सौन्दर्य मनुष्य-जीवन की तीन ऐसी विभूतियाँ हैं जिनसे जीवन समुदित रूप धारण करता हुआ उत्तरोत्तर विकास को ग्रहण कर लेता है। शील के बिना जीवन नीरस, घृणास्पद और कटु होजाता, शक्ति के बिना वह दुर्बल, अशक्त और पंगु बन जाता तथा सौन्दर्य के बिना वह अनाकर्षक हो जाता है। राम के जीवन में ये तीन विभूतियाँ अक्षुण्ण रूप से पायी जाती हैं। इन्हीं तीन विभूतियों के आधार पर राम एक मर्यादावादी लोक नायक बनते हैं। इन तीन विभूतियों का समन्वितरूप हम राम के जीवन में पाते हैं। राम-बन-गमन के समय भी अपनी माता को कोसते नहीं हैं वरन्, जगत के व्यापार

को ईश्वराधीन मानते हैं—

अम्ब ! ईश आधीन जग !

उनके अद्भुत शील का परिचय वन में मिलता है जब वे कोल-किरात और केवटादि से भी मधुर संभाषण करते हुए दिखाई देते हैं। वन के कोल-किरात भी उनके दर्शन से कृत्य-कृत्य हो जाते हैं। मार्ग में जो ग्राम मिलते हैं, उन ग्राम के नर-नारी राम से अनेकानेक प्रश्न पूछते हैं किन्तु राम की ऐसी शालीनता थी कि वे तनिक भी खंमते नहीं, वरन्, और भी उल्लसित होकर उनके प्रश्नों का उत्तर देते हैं और उनकी सेवा को स्वीकार कर लेते हैं! गुह निषाद के साथ उतराई देने में अपने अद्भुत शील का परिचय देते हैं। जगत-जननी जानकी तो राम के हृदयगत भाव को परख कर अपनी मुद्रिका ही केवट को उतराई के पारिश्रमिक रूप में देती हैं। इस प्रकार शील के उत्कृष्ट उदाहरण हमें मानस के अनेक स्थलों में मिलते हैं।

शक्ति के राम साकार-अवतार थे। तपस्वी-वेश में अस्त्र में स्त्री लिए हुए दारुण मार्ग में चलते हुए, सघन कान्तार में निशिचरों को संहार करना उनकी अप्रतिम शक्ति का परिचायक है। 'लव निमेष परमाणु युग, काल जासु कोदंड' वाले राम की अद्वितीय शक्ति वर्णनातीत है। राम नर और भूपाल होकर भी काल के काल थे। लंका में सीता-हरण के उपरान्त उन्होंने निशिचरों को निर्मूल करने में असीम शक्ति का परिचय दिया। फिर भी राम ने मानवीय स्तर को नहीं छोड़ा। दलों के हरे जाने जाने पर, लक्ष्मण के मूर्छित होने पर राम एक यत्किंचित साधारण मनुष्य के समान विलाप करते हैं। रावण, कुंभकर्ण और मेघनाद जैसे आकार-प्रकार में, वैसे ही माया रचने में थे किन्तु राम के धनुष-बाण के सामने, जो धनुष-बाण अमोघ थे, उनकी एक न चली। वानरी सेना की सहायता से सागर में सेतु बाँधना एक असम्भव कार्य कर दिखाना था। इस प्रकार उन्होंने अयोध्या छोड़ने के उपरान्त और लंका से सीता को अयोध्या लाने तक चौदह वर्ष की अवधि में अनेकानेक अद्भुत कार्य किये, जिनमें कुछ मानवीय और कुछ अति-मानवीय भी थे।

राम की अन्तिम विभूति थी उनकी अद्वितीय नैसर्गिक सुन्दरता। तुलसीदास ने राम और सीता के सौन्दर्य का वर्णन बड़े ही कौशल के साथ किया है। सौन्दर्य-वर्णन में उन्होंने अपने सफल कवित्व का परिचय दिया है। राम का सौन्दर्य करोड़ों कामदेव को लजाने वाला था। देखिये कुछ पंक्तियों को—

सुभग श्रवण सरसीरुह लोचन।
वदन मयंक तापत्रय मोचन॥
केहरि कंधर बाहु विशाला।
उर अति रुचिर नागमणि माला॥

या

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भव भय दारुणं।
नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणं॥

—इत्यादि

सीता के सौन्दर्य-वर्णन में तो तुलसी ने कलम तोड़दी है—

जौं छवि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूपमय कच्छपु सोई॥
शोभा रज्जु मंदरु सिंगारू।
मथै पानि पङ्कज निज मारू॥
यहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥

इन पंक्तियों में सीता के नैसर्गिक सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। राम एवं सीता के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में मनोज ही सशरीर बैठ गये थे। उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग की शोभा देख कर नेत्रेन्द्रिय बरबस आकृष्ट हो जाती थी। सौन्दर्य की सफलता इसी में है कि वह अकृत्रिम रह कर तिल तिल नूतनता धारण करे—राम का सौन्दर्य इसी प्रकार का अकृत्रिम एवं सहज था।

मानव-जीवन में उपर्युक्त तीन विभूतियों से लोकरञ्जन तथा लोक-रक्षण के भाव का उदय होता है। तुलसी को राम का शील, शक्ति और सौन्दर्यमय रूप अभिप्रेत था क्योंकि वे एक समन्वयवादी कवि थे। जीवन का सर्वाङ्गीण विकास वे चाहते थे, न कि एकाङ्गी विकास। जीवन के चार पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) उनके राम और राम की भक्ति में ही सन्निहित थे। इसका यह आशय नहीं कि तुलसी जीवन और जगत से ऊब कर राम की

भक्ति को अपनाना चाहते थे, वरन् राम की भक्ति में अव-गाहन करने के हेतु वे इसी लीला-धाम में आना चाहते थे। एक जगह उन्होंने कहा है:—

देवा ! तेरी भक्ति न छांडो।
मुक्ति न माँगो, हरियश सुनहुँ, सुनावहुँ।

इस आशा में तुलसी एक यथार्थवादी या प्रगतिवादी कवि के रूप में परिलक्षित होते हैं। आधुनिक कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी सांसारिक बन्धन को ही मुक्ति मानते हैं। यथार्थ-जगत् की ज्वाला में गलाकर जीवन को कला-हीन, अनाविल, और कोमल बना देना चाहते हैं। मुक्ति के लिए हठयोग की नानाविध प्रक्रियाओं को त्याज्य बतलाते हैं। जगत और जीवन में रमने वाला कवि गंधहीन मन को गंध युक्त बनाने के पक्ष में है। पंत के मतानुसार जीवन में मधुर मुक्ति की प्राप्ति निवृत्ति-जन्य योग के आधार पर नहीं होती, वरन्, प्रवृत्ति-जन्य भोग के आधार पर ही होती है—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गन्ध हीन तू गंध युक्त बन
निज अरूप में भर स्वरूप मन
मूर्तिमान बन निर्धन।

महाकवि तुलसीदासजी बन्धन को ही जीवन की यति-गति-रति मानते हैं, इसलिए राम के निर्गुण रूप के साथ उनके सगुण रूप की भी अपेक्षाकृत विशिष्ट महत्ता प्रति-पादित की है। उत्तरकाण्ड में उन्होंने ज्ञान अथवा मुक्ति के ऊपर भक्ति की विजय घोषित की है। मुक्ति के ऊपर भक्ति की विजय की घोषणा, मानस के अन्तिम काण्ड (उत्तर-काण्ड) में काकभुसुण्डि-गरुड़ संवाद के प्रसङ्ग में की गई है। उत्तरकाण्ड की रचना महाकवि तुलसीदास ने कदाचित् इसी भक्ति की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए की थी। मुक्ति, जिसका आधार ज्ञान है, दुरूह है, सुलभ साध्य नहीं; वह कष्ट साध्य है। तुलसी ने लिखा है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक।
होहिं घुनाक्षर न्याय तें पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ऐसी दुरूह मुक्ति को कौन अपनावे ? किन्तु राम की भक्ति तो चिन्तामणि है, जिसके हृदय में यह भक्ति रहती है, उसको ज्ञान-दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, वहाँ तो आपसे आप परम प्रकाश होता रहता है। ऐसे भक्ति-युक्त हृदय के लिए दीपक और बत्ती की आवश्यकता नहीं पड़ती है। तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में लिखा है—

राम भगति चिन्तामणि सुन्दर
बसहिं गरुड़ जाके हिय अन्तर
नहिं कछु चहिए दिया घृत बाती
परम प्रकाश होहिं दिन राती।

तुलसीदास लोक-कवि होने के नाते सहज, स्वाभाविक और सुलभ पथ को अपनाने के पक्षपाती थे। स्वभाव से दीन होने के कारण उनके सिद्धान्त भी बड़े ही सरल और सुलभ थे। तुलसी की भक्ति की सरलता और सुलभता का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने अपने सिद्धान्त के प्रति-पादन के साथ लोक-रुचि का ध्यान सदैव रक्खा। इस बात का ध्यान तुलसी ने सदैव रक्खा कि राम का मानवत्व उनके ईश्वरत्व में तो तिरोहित न होता है। इसीलिए उन्होंने राम के नर एवं नारायण—इन दोनों रूपों को साथ-साथ रक्खा, ताकि जन-समुदाय के लिए राम बोधगम्य हो सकें। इतना ही नहीं, राम-राज्य के वर्णन में उन्होंने एक आदर्श राज्य की कल्पना कर जन-रुचि को उसके साथ आबद्ध कर दिया। राम-राज्य का आदर्श इतना ऊँचा, इतना पवित्र और इतना चित्ताकर्षक है कि वर्तमान काल में महात्मा गांधी जैसे मनीषी ने भारतीय स्वराज्य का आदर्श राम-राज्य को ही रक्खा। इस राज्य में पारस्परिक द्वेष और कलह का तो नाम नहीं रह गया था। सभी वेद और श्रुतियों के द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलते थे, पशु-पक्षी एक साथ रह कर आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे; यहाँ तक कि हाथी और सिंह एक घाट में पानी पीते थे। संपूर्ण राज्य तपोवन बना हुआ था। प्रकृति देवी की ऐसी अनु-कम्पा थी कि अतिवृष्टि और अनावृष्टि का नाम नहीं था। जितनी वर्षा की आवश्यकता होती थी, लोग बादल से माँग लिया करते थे। ऐसा सन्तुलन मानव एवं मानवेतर प्रकृति तथा सृष्टि में कहीं देखने को नहीं मिलता है। राम-राज्य के वर्णन में तुलसी की कला चरम-सीमा पर पहुँची हुई प्रतीत होती है।

तुलसी की समन्वयवादिता वैष्णव, शैव, शाक्त तथा

निर्गुण-सगुण आदि मत मतान्तरों को उपशमित करने में परिलक्षित होती है। तुलसी के जीवन-काल में साम्प्रदायिकता की लहर उग्र रूप से उठ रही थी। धर्म का स्थिर स्वरूप रह नहीं गया था। एक ओर हठयोगियों के अष्ट-चक्र अलख-निरञ्जन और कुण्डलिनी की चर्चा चल रही थी, तो दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म के मानने वाले शैव से उलझे हुए थे और शैव शाक्त से झगड़ रहे थे।

ऐसी स्थिति में तुलसीदास ने सब की आलोचना कर एक ऐसे सुलभ और चिरन्तन धर्म की प्राण प्रतिष्ठा की जिसके ऊपर न तो काल का रङ्ग ही चढ़ सकता था और न बाजार की फैशन ही। यह धर्म 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसू' का था जिसके सेवन करने से नाना प्रकार के क्लेशों का शमन होना संभाव्य था।

महाकवि तुलसीदास को 'भावी' में या इसी को आधुनिक भाषा में यदि 'अदृश्य-शक्ति' भी कहें, इसमें अटूट विश्वास था। मनुष्य स्वयं तो कुछ नहीं कर सकता। वह परिस्थितियों का दास है। इन्हीं परिस्थितियों को तुलसीदास ने 'रघुपति कृपा' कह कर पुकारा है। शिव-पार्वती संवाद में शिव ने इस बात की पुष्टि की है कि संसार में न तो कोई ज्ञानी है और न कोई मूर्ख। वस्तुतः देखा ऐसा जाता है कि हम जो कार्य करते हैं, भले ही वह कार्य अशुभ ही क्यों न हो, उसे शुभ ही समझते हैं—अथवा यों कहें कि मनुष्य जो कुछ भी करता है अपने हित के लिए ही, किन्तु उसका फल 'राम रुचि' के अनुसार ही होता है। एक उदाहरण देखिए :—

बोले विहँसि महेश तब ज्ञानी मूढ़ न कोय
जब जैसी रघुपति कृपा तब तैसो छन होय।

उपर्युक्त पंक्तियों का साम्य 'Man proposes and God disposes' नामक कहावत के साथ कितना सटीक है। वस्तु-जगत के सारे क्रिया-कलाप ईश्वराधीन हैं। क्रिया-कलाप के फलाफल पर मानवीय शक्ति का कोई अधिकार नहीं। मानव तो एक निमित्त मात्र कारण है, जगत का नियामक ही उसके भाग्य का स्रष्टा है। कर्त्तव्य करना मनुष्यों का अधिकार है, किन्तु कर्त्तव्य का फल देने वाले तो राम ही हैं। तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से लिखा है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा
जो जस करै सो तस फल चाखा।
और भी
होइहै सोई जो राम रचि राखा
को करि तर्क बढ़ावहि शाखा।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन को निम्नलिखित उपदेश दिया है जो उपदेश तुलसी की उपर्युक्त भावना से मिलता-जुलता है—

'कर्मण्य वा अधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।'

इस प्रकार भाव-जगत एवं क्रिया-जगत में हम महाकवि की समन्वयात्मक भावना की महिमा देखते हैं। तुलसी वास्तव में महाकवि थे और उनकी दृष्टि व्यापक एवं उदार थी।

हिन्दी काव्य में नारी की अभिव्यक्ति

कुमारी शकुन्तला मिश्र साहित्य-रत्न

काव्य भावों का संवाहक है। कवि अपनी कविता के माध्यम से अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति की आकांक्षा को वाणी दे देता है—यही कविता का मूल स्रोत है। भावों की उच्छ्वसित कल्पना पर जब कथा का कोमल स्पर्श होता है, अभावों की रिक्ति पर जब उल्लास अपनी सुनहली छाया डालता है, वहीं काव्य का जन्म होता है। कवि पन्त ने पीड़ा को ही काव्य का मूल माना है—

विथोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।....

और यह मानी हुई बात है कि नारी भावुक होती है। भावनाओं में व्यथा की अनुभूति उसे अपेक्षाकृत गहरी होती है। उसके काव्य में भी यही अनुभूति स्वरित होती मिलती है। यही कारण मीरा की घायल वेदना का है, जब उनके नेत्रों को प्रिय वियोग में रोते रहने की बान पड़ गई थी और अवधि के दिन गिनते गिनते 'आँगुलियारी-रेख' घिस गई थीं।

हिन्दी-काव्य के सृजन में स्त्री कवियों का प्रमुख योग रहा है। मीराँ से लेकर आज तक के युग का सिंहावलोकन करने से हमें एक व्यापी माधुर्य मिलता है। नारीत्व की मृदुल व्यञ्जना, और इन सबके अतिरिक्त एक विशेषता है इस वस्तु परक युग में भी भावना और कल्पना का तारल्य। आज कवि की वाणी जहाँ प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की विपथगा धाराओं में टक्करें लेती, बाढ़ बनती चली जा रही है वहाँ नारी काव्य अपने मान से तनक भी नहीं गिरा। वही संयत, स्वच्छ भाव, शान्त निवेदन और समर्पण की भावना आज भी वैसे ही बोल रही है। दुखवाद या पीड़ावाद कहकर उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उसकी अभिव्यक्ति में जो संस्कारी स्वर ध्वनित होरहे हैं, वे बरबस मन को स्पर्श कर लेते हैं।

नारी हृदय की सबसे बड़ी विशेषता है उसका अनुराग से परिपूर्ण होना। जीवन पथ में वह स्नेह का पाथेय लेकर चलती है। अपने लिये नहीं, राह के कणकण को बाँटती हुई चली जाती है। यही उसकी शक्ति, संपत्ति और क्रियात्मकता है। स्वभावतः ही नारी-काव्य की भी सबसे बड़ी विशेषता है उसका अनुराग से परिपूर्ण होना। अपने इस क्षेत्र से अलग होकर वह संघर्ष के गीत नहीं गा सकती क्योंकि जीवन की कटुता बढ़ाना उसे अभीष्ट नहीं है। वह तो अपना जीवन दीप प्रियतम का पथ आलोकित करने के लिये जलाती है। मीराँ के 'हेली मैं तो दरद दिवानी' से लेकर आधुनिक स्त्री कवियों में प्रत्येक के काव्य में यही बात मिलती है। 'भावनामय अनुराग', अथवा इसके व्यक्तीकरण की अति सूक्ष्मता को देखते हुए उसे 'अनुरागमय भावना' कहना अधिक समीचीन होगा।

हिन्दी के नारी काव्य में अनुराग एक व्यापी रूप में मिलती है। उसमें एक विशेष गहराई है। मीरा का सहज प्रेम, महादेवी के अपार्थिव प्रणय तथा सुमित्रा कुमारी सिन्हा की रहस्यमय व्यथा—सब में यही बात मिलती है। अपनी निजी अनुभूतियों के अनुसार इस अभिव्यक्ति के भी कुछ प्रकार बन जाते हैं। मीराँ ने कृष्ण को अपना पति मान लिया था। उनके लिये 'कुल की कानि' छोड़ दी थी—'अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई' थी। उनकी भावना पत्नी रूप में स्पष्ट है।

किन्तु आज के युग में जब मनुष्य की बुद्धि का काफी विकास हो चुका है वह किसी असम्भव साकारता से अपना मन नहीं रमा सकता। यही कारण है कि महादेवी का प्रणय निवेदन अज्ञात अपार्थिव के प्रति है। लौकिकता की छाया में अलौकिक स्नेह व्यञ्जना गतिवान होती है। उनका अद्वैत-चिन्तन एक रहस्यमय भावलोक की सृष्टि है। कितना संयत और गंभीर—

आलोक यहाँ लुटते हैं, बुझ जाते हैं तारागण,
अविराम जला करता है, पर मेरा दीपक-सा मन।

पल भर की अनुभूति के बल पर सारे जीवन भर मन में स्नेह का स्पन्दन होता है। कवि की भावचेतना अपने प्रिय के अस्तित्व को मिथ्या नहीं मान पाती क्योंकि उसके अस्तित्व के प्रमाण भी कण-कण में मिल जाते हैं।

कैसे कहती हो सपना है,
अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में,
मेरे आँसू उनके हास।

अपनी अन्तहीन यात्रा पर भी यहाँ असन्तोष नहीं होता। दूरी रसमय हो जाती है। विरह मन का साथी बन कर उसे दुकेला किए रहता है। तब कवि की आकांक्षा होती है, 'पथ रहने दो, अपरिचित प्राण रहने दो अकेला' कुछ ऐसी ही अभिव्यक्ति सुमित्राकुमारी सिन्हा की निम्नलिखित पंक्तियों में है—

अनवरत कुहू का स्वर अधीर
मत पिकी सुना, कर दुख दूना
मत कूक, कूक से टीस उठा
रहने मन अन्तरतम सूना
मुझको एकाकी रहने दो.........

कविता भावनाओं का स्पन्दन है। इन नारी कवियों की भावनाएँ अज्ञात-अज्ञेय को लेकर ही क्यों व्यक्त होती हैं। इसका एक कारण है उसकी संस्कारी बुद्धि। मीरा की भक्ति और महादेवी तथा श्रीमती सिन्हा के भावनामय स्नेह में भी इस क्रमशः संस्कृत होती गई बुद्धि का अन्तर है। जीवन के लम्बे पथ में अहर्निश चलते रहने वाले दुख-सुख के संघर्षों से प्राणवान हो कर ही यह नारी काव्य बोलता है वह एक मानस चेतना है जो अपनी वैयक्तिकता में सुकुमार और संवेदनशील है।

अज्ञात के प्रति यह आकर्षण भी कोई नई वस्तु नहीं है। कबीर ने जल में ही उत्ताप्त और निवास करने वाली नलिनी को सरोवर में उदास देखा था—वैसे ही कुछ भावनामय मन जब व्यवहार जगत् में एकाकी रह जाते हैं तब, अपनी व्यथा-कथा जिसे सुना सकें—जिसके आगे यह निस्सङ्गता दूर हो जाय, ऐसे महान् व्यक्तित्व की कल्पना ही मीरां का कृष्ण है और महादेवी का प्रिय। सूक्ष्म संवेदनाओं से रञ्जित कर राग-विराग की क्षणिक अनुभूतियों पर शाश्वत भक्ति का आवरण आ जाता है, जब मन अपना आराधित पहिचान लेता है—

मिल गये तुम आज पथ पर
ओ बटोही मत बीती
चिर दिनों की प्यास रोती
मिल गये तुम दर्शनों का बह गया आलोक निर्झर....
हर्ष तरु के पत्र डोले
प्राण वंशी रन्ध्र बोले
मिल गये तुम, शून्य में गुञ्जित हुए कुछ प्रेम के स्वर।
(श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा)

और अज्ञात प्रिय को पहचान लेने की, पा लेने की यह आकांक्षा बढ़ती ही जाती है। कण-कण में मन का सूनापन बिखर जाता है, आराधिका काया और छाया के रहस्यमय का अनुभव कर लेती है। तब अपने ही आराध्य की छलना उसे सह्य नहीं होती। वह अपनी तन्मयता का प्रमाण देती है—

जबकि पंछी बोल कर रवि को जगाते
जबकि तारे सिमट शशि के पास जाते
ढूँढ लेता हूँ तुम्हें मैं हे मधुरतम !
नील नभ के मुस्कराते प्यार में भी
याद आती है तुम्हारी ही निरन्तर
क्यों न जाने जीत में भी हार में भी !
(श्रीमती शान्ति एम० ए०)

इस अज्ञात प्रिय के सान्निध्य से विरह की घड़ियाँ 'मधुर मधु की यामिनी' सी हो जाती हैं। कवि की आत्मा इस बन्दीगृह में भी स्वामित्व करती है। विराट् की प्रेयसी बन कर जीवन के साधारण—तुच्छ उपकरणों की फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। विराट् की चेतना विश्व के अणु अणु में बिखर गई है, उसे प्यार करने की उत्कंठा लिए चलती है इन नारी कवियों की भावना। और फिर इस निःसीमता को माप लेने के बाद नारी के मन की एक सहज प्रतिक्रिया होती है—आत्मार्पण के बाद अन्त विनय की सजल सुकुमार भावना। कवि भी सामाजिक प्राणी होता है और इन नारी कवियों ने अपने संस्कारी तथा अनुभूतियों

को ही वाणी दी है। यह दीप-शिखा सी मधुर मधुर जल कर आलोक वितरण करने की भावना भी मीरां से लेकर आज तक सब नारी कवियों में समान रूप से व्याप्त मिलती है। मीरां ने अपने हृदय में लगी 'विरह भाल' की व्यथा न सह सकने पर 'अगर चन्दन की चिता' बनाई थी, उसे अपने हाथ जला जाने की विनय साँवरे से की थी। और फिर जला जाने के बाद—

जल-जल भई भस्म की ढेरी अपने अङ्ग लगाजा
जोत से जोत जगा जा········

किन्तु आधुनिक नारी-काव्य में भावनायें सूक्ष्मतर हो गई हैं। उनमें ऐन्द्रियता का लेश भी नहीं। प्रत्येक आकांक्षा उस क्षेत्र में जाकर अतीन्द्रिय बन जाती है। महादेवी का कहना है—'फूंक से उसको बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता है'। यहाँ प्रिय को कोई संकेत देना अभीष्ट नहीं। प्रिय की ओर से सुख मिले या दुख, साधिका के लिए दोनों वरेण्य हैं। कुछ दीप-शिखा पर झूम-झूम कर गिरने वाले उन्मादी-शलभ की सी अविश्वास तपस्या—

पूजती आई युगों से, मोह कुछ पाषाण का है
जानता जो जय-पराजय गर्व उस भगवान का है
(श्रीमती चन्द्रमुखी ओझा)

कभी-कभी मन अपनी सहज दुर्बलता के कारण इस साधना में विचलित भी होने लगता है यह सूक्ष्मतर पाथेय ले कर चला भाव-पथिक कभी-कभी इतनी लम्बी मंजिल तय करता है जब वियोग की जलती ऊष्मा में बहुत दूर तक भी किसी स्नेह तरु की ठण्डी छाया नहीं मिलती। मन पाषाण नहीं है, इसलिए कभी-कभी अपने प्रिय के उपालम्भ के ही स्वर में कह उठता है—

स्वप्न-पथ में स्नेह संबल ले न अब मैं चल सकूँगी।
रिक्तजीवन दीप ले तूफान में क्या बल सकूँगी?
वेदना नद में तड़पते प्राण, कैसे धीर बाँधू?
उस प्रवास के लिए मैं कब तलक यह योग साधूँ।
(सुमित्रा कुमारी सिन्हा)

किन्तु यह स्थिति बस एक क्षण के लिए ही आती है। मन तत्क्षण सचेत होकर सँभल जाता है। विराट् की प्रेयसी के लिये यह लज्जास्पद भी है। क्या उसे भी साधारण मानवी की आवश्यकताओं में बँध कर रहना है! और वह विश्वस्त कण्ठ से अपनी भूल मान मान लेती है—

क्षण भर अपना पाये युगों के मिलने से हितकारी
मूर्तिमान होती न यहाँ पर मनकी भूलें भारी।
(शान्त एम० ए०)

और बस! जीवन की ज्वाला हल्के मधुर स्पन्दन के साथ जलती रहती है। नारी की, तिल-तिल क्षय होकर संसृति को बल देने की भावना मूक रह कर भी बोलती रहती है। कोई आशा आकांक्षा न रख कर जलना और प्रिय-पथ में मिले आघातों को सहन करते रहने के बाद पन्थी जब थक जाता है तो अपनी स्थिति स्पष्ट कर देता है—

कितने युग बीत गये इन निधियों का करते संचय
तुम थोड़े से आँसू दे कर लेना इन सबको क्रय
अब होव्यापार विसर्जन।
(महादेवी)

किन्तु इस 'रात सी नीरव व्यथा और तम सी अगम कहानी' के अर्थ यह नहीं कि नारी काव्य वास्तुतः पीड़ा, व्यथा अथवा अतृप्ति का काव्य है। दीप शिखा के आत्म-दहन में जो मादक उल्लास होता है उसे कितनी आँखें देखती हैं? यही कारण है कि आज का आलोचक नारी काव्य में पीड़ा के सिवा और कुछ देख ही नहीं पाता। किन्तु प्रो० विश्वम्भर मानव के शब्दों में "विरही प्राणों की इस अमर गायिका (महादेवी) के काव्य में जीवन का चिरन्तन आशा-वाद समाया हुआ है।" यदि नारी कवि ने 'कैसा सुख कैसी मधुवेला' कह कर अपने दुख का संकेत किया है तो भी वहाँ अभाव नहीं है। जहाँ नेत्रों से अश्रु हरसिंगार बन कर झरते हैं साँसों में मधुऋतु की पवन डालती है। इन सबके बाद भी यदि व्यथा है तो पागल पिक की—

केशर से रंजित कर दुकूल
हँसता हूँ खिलते मधु फूल
मेरी साँसों में बहती है मधुऋतु की मृदु सुरभित बयार
(तारा पाण्डे)

और महादेवी की नीर भरी दुख की बदली! वह तो स्वयं आशा की कहानी है जो रज-कण पर नवजीवन अङ्कुर ले उठने के लिए ही गिरती है। एक व्यापी सौन्दर्यानुभूत

सृष्टि की प्रत्येक कुरूपता में भी सौन्दर्य देखती है—

पुष्प में है अनन्त मुस्कान
त्याग का है मारुत में गान
सभी में है स्वर्गीय विकास
वही कोमल कमनीय प्रकाश —(महादेवी)

यहाँ न कोई तृष्णा है न कटुता। जीवन की इस साधना में सुख और दुख का भेद भी ज्ञात नहीं है। प्रिय पथ के शूलों में मोह है, जीवन का स्वर्ण तप-तप कर हीरक बनता जा रहा है। प्रिय की मधुर भावना ने समूची सृष्टि को मधुरतम बना दिया है तब कवि की अभिव्यञ्जना स्वतः इस प्रकार की है—

ताप जर्जर विश्व उर पर
तूल से घन छा गये घिर
दुःख से तप हो मृदुलतर, उमड़ता करुणा भरा उर
सजनि मैं उतनी सजल, जितनी सजल बरसात....

विश्व के प्रति एक गीली, करुण ममता तो प्रत्येक कवियित्री के काव्य में मिलती है। व्यथा का आवाहन, जल का समाप्त हो जाने को आकांक्षा ये सब इस आत्म-प्रसारी सूक्ष्म प्रेम की संवेदनायें हैं, और इन्हीं के बल पर चिर-वियोग मधुरतम बन सका है। यह प्रेम अपने को ऐकान्तिक बना कर नहीं रखना चाहता। इसमें प्रिय पक्ष का प्रबल राग अवश्य है पर निरा प्रेमोन्माद नहीं है इस रागात्मक आकर्षण में विराग की भावना चलती है। यह प्रेम जीवन के दुर्गम पथ पर अपनी सजल छाया डालता चलता है तब उसके विकास में, राग की इस सीमा में सम्पूर्ण विश्व सिमट आता है।

किन्तु मधुर निजत्व न देने वाली मानिनी की भावना भी एकदम खो नहीं जाती वह अपनी साधना का रहस्य बतलाती है—

प्यार की छिन भर बाँह गही
× × ×
सरस हो जायेंगी सब राह
मधुर हो जायेंगी सब चाह
युगों तक होगी रस वर्षा
प्यार की छिन भर दाह सही! (सुमित्राकुमारी)

जायसी की विश्वव्यापी नेह की पीर से नारी काव्य की व्यथा का जो पार्थक्य है वह बस इसी कारण से है कि अपना दृष्टिकोण लाख विस्तृत कर लेने पर भी नारी की केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियाँ एक अपनी सीमा रखेंगी ही। नारी काव्य में प्रकृति का एक विशेष स्थान है। प्रायः हिन्दी साहित्य के सभी युगों में प्रकृति का वर्णन भावनाओं के उद्दीपन के लिये किया गया है। किन्तु नारी काव्य में प्रकृति स्वयं आलम्बन है। वह एक कुशल सहचरी के रूप में आती है। मीराँ के काव्य में यह बात नहीं है उसमें 'उमड़ घुमड़ काल भए बादर' और 'घर आई बदरिया सावन की' उसके प्राणों को आकुल कर देता था; किन्तु महादेवी ने क्षितिज से धीरे-धीरे उतरने वाली बसन्त रजनी को प्रिय से सम्बन्धित होने के कारण आत्मिक तादात्म्य स्थापित करके प्यार किया है। नर घन आने पर मानव प्राणी की शाश्वत चेतना बोल उठती है—'आज नये बादल फिर उमड़ लगा कि तुमने मुझे पुकारा'—(श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा)। यहाँ संकेत भर नभ की मुस्कान या प्रिय के आगमन की संभावना होती है, पीड़ा नहीं। विद्युत के पाश में बँधा जलधर नूपुर के मोती बिखराती तारक परियाँ, हिमकण पर परिमल छिटकाता मलयानिल—इन सब के दर्शन स्पर्शन से व्यथा नहीं तृप्त होती है। निस्सीम प्रिय से सम्बन्धित होने के कारण ये सभी प्राणों में पड़े छालों को पुलकाकुल करके फूल सा बना देती हैं। यह विशेषता नारी काव्य में ही है। छायावाद की मधुर सजलता के अतिरिक्त आज प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में तो तृष्णा और अभावों का हाहाकार ही मुखरित होता मिलता है। कहीं क्रान्ति की भावना व्यक्त की जाती है कहीं ध्वंस की। नारी काव्य की शान्ति, स्निग्धता और संयम कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता।

और इन सबका सामञ्जस्य उत्सर्ग की एक व्यापी पृष्ठभूमि बना देता है। प्रेरणा ग्राही उसे अपेक्षित चेतना भी ले सकता है। नारी-काव्य कहीं भी नारीत्व की सीमा से बाहर नहीं गया। उस पर दुखवाद के साथ एक आक्षेप यह

(शेष पृष्ठ ८ पर देखिए)

श्री सदासुखलाल

प्रो० शिवनाथ एम० ए०

हिन्दी-साहित्य में निबन्धों के निर्माण की अटूट परम्परा यद्यपि भारतेन्दु-युग से चली तथापि इस (निबन्ध) की रचना का आरम्भ उपर्युक्त युग के लगभग सौ वर्ष पूर्व हो हो गया था, और निबन्ध-रचना के आरम्भ कर्त्ता थे श्री सदासुखलाल 'सुखसागर'[1] (सं० १८०३—१८८१), जिनका फारसी उपनाम 'नियाज़'[2] था। हिन्दी खड़ी बोली गद्य को शक्ति प्रदान करने वालों में भी इनका विशेष हाथ था, यह सभी पर विदित है।

हिन्दी में श्री सदासुखलाल के विषय में जो अनुसन्धान-कार्य हुआ वह पूर्णतः लोगों के सम्मुख नहीं आ सका। उनकी दो-चार रचनाएँ ही सबके सामने आईं यद्यपि अनुसन्धान-कर्त्ताओं का कथन है कि "इन्होंने......बहुत से लेख लिखे हैं।"* इन लोगों ने यह भी कहा कि "हो सकेगा तो इनके लेखों का संग्रह पुस्तकाकार निकाला जायगा।"* पर उन अनुसन्धान कर्त्ताओं द्वारा यह कार्य न हुआ, और पता नहीं अब श्री सदासुखलाल की उपर्युक्त सामग्री प्राप्त हो सकेगी अथवा नहीं।

श्री सदासुखलाल की दो-चार रचनाएँ हमारे सम्मुख हैं, उनमें 'सुरासुरनिर्णय' प्रधान है। यह एक निबन्ध है और सर्व प्रथम इसके दर्शन श्री लाला भगवानदीन तथा श्री रामदास गौड़ द्वारा संगृहीत 'हिन्दी-भाषा सार' में हुए। इस निबन्ध का रचना काल सं० १८३९-४० के बीच माना जा सकता है। "इस लेख में तिथि संवत् तो नहीं लिखा है परन्तु जिन लेखों के बीच में यह है उनमें सं० १८३९-४० का समय दिया हुआ है।"* ऐसी स्थिति में हम हिन्दी में निबन्ध-रचना का आरम्भ सं० १८३९-४० से मान सकते हैं।

इतनी थोड़ी-सी सामग्री की प्राप्ति के आधार पर इस प्रकार के निर्णय के विषय में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कारण यह है कि थोड़ी और छोटी वस्तु का भी महत्व देश-काल को दृष्टि-पथ में रख कर देखने से विशेष प्रतीत होता है। फिर श्री सदासुखलाल के विषय में इस प्रकार के निर्णय में तो कोई आपत्तिजनक प्रसङ्ग छेड़ा ही नहीं जा सकता, क्योंकि इसकी सूचना हमें मिल चुकी है कि उन्होंने बहुत से निबन्ध लिखे हैं, यह बात दूसरी है कि वे सब निबन्ध हमारे सामने नहीं हैं। खड़ी बोली हिन्दी का मूल ढूँढ़ने हम प्राकृत काल तक जाते हैं। इस विषय में कैसी और कितनी सामग्री मिलती है, यह किसी से छिपा नहीं है। फिर भी जो कुछ और जैसी भी सामग्री मिलती है उसे हम महत्त्व देते ही हैं। ऐसी स्थिति में श्री सदासुखलाल के निबन्ध के विषय में प्राप्त सामग्री पर इस प्रकार की चर्चा औचित्य की सीमा के बाहर की वस्तु नहीं है।

विक्रम की उन्नीसवीं शती के मध्य के कुछ पूर्व ही खड़ी बोली हिन्दी की शक्तिमती वाणी में निबन्ध का प्रस्तुत होना हम एक विशेष घटना स्वीकार करते हैं और इस घटना की विशेषता तब और बढ़ जाती है जब हमें विदित होता है कि यह निबन्ध, निबन्ध लिखने के लक्ष्य को ही लेकर लिखा गया था। अर्थात् सुरासुर निर्णय का प्रतिपादन करने के लिए ही यह रचना छोटी सीमा में प्रस्तुत की गई है। इसके आदि और अन्त के अंशों को देखने से यह बात स्पष्ट है।

१—श्री सदासुखलाल के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने 'सुखसागर' ग्रन्थ की रचना की है। पर बात ऐसी नहीं है। वस्तुतः उनका उपनाम 'सुखसागर' था। 'सुखसागर' नाम का कोई साहित्यिक ग्रन्थ हिन्दी में नहीं मिलता। उनके सम्बन्ध में इस गड़बड़ी का कारण हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों का नोटिस लेने और उसे समझने-बूझने में असावधानी जान पड़ती है।

२—कुछ लोगों का कथन है कि श्री सदासुखलाल का फारसी उपनाम 'निसार' था।

* देखिए श्री लाला भगवानदीन और श्री रामदास गौड़ द्वारा संगृहीत 'हिन्दी भाषा सार', पहला भाग, वक्तव्य पृष्ठ ५, प्रथम संस्करण।

आदि का अंश—

"प्रसिद्ध योनि है। सुर देवता, असुर दैत्य, संज्ञा है। जो कहिए असुर दैत्य है, इस बात में दूषण है। कंस दैत्य न था, मनुष्य था, श्रीकृष्ण का मामा, उग्रसेन का बेटा था। तो इससे सपष्ट है कि स्वभाव असुर है, मनुष्य होय कि अथवा देवता होय।"

अन्त का अंश—

"राजा क्षत्री होय कि अथवा म्लेच्छ, रूप नहीं किया होय और आप सन्त, ज्ञानी, सेवी होय, वह निःसन्देह मुक्त रूप है इसमें कोई सन्देह नहीं। सो इस खोटे काल में न कोई ब्राह्मण ही ऐसा है, न कोई क्षत्री ही वैसा है, केवल अमावस का रैन का अन्धकार। यह अभागा काल हमारी लूट में है। जो हरि ही की कृपा होय तो हम सब जो हैं तिनका उद्धार होय, नहीं तो न हम इस योग्य हैं कि उनकी टहल करें और न वे ऐसे हैं जो हमसे लूलों, लँगड़ों को बाँह पकड़ कर पार उतारें। देखिए हरि इच्छा क्या है। समय आन पहुँचा और यहाँ आपही हरि के। और कोई अवलम्बन आसरा नहीं। बहकावने वाले बहुत हैं। नमो सच्चिदानन्द।"

इन उद्धरणों से विदित होता है कि विषय का आरम्भ करके उसका अन्त निबन्ध की छोटी सीमा के अन्तर्गत ही कर दिया गया है।

श्री सदासुखलाल के 'सुरासुर निर्णय' में यद्यपि निबन्ध के सभी तत्त्व विद्यमान नहीं हैं तथा वह विवेचन-पद्धति आदि की शिष्टता के कारण निबन्ध की श्रेणी में ही प्रतिष्ठित होगा। इसमें एक स्थान पर निबन्धकार के निर्भीक व्यक्तित्व की भी झलक मिलती है—

"......यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं, जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने।"

निबन्ध के विषय द्वारा भी उनके व्यक्तित्व के बारे में कुछ निर्णय किया जा सकता है। निबन्ध का विषय धार्मिक वा पौराणिक है. इससे प्रतीत होता है कि श्री सदासुखलाल की प्रकृति धर्म वा भक्ति की ओर थी। उस समय गद्य के क्षेत्र में जितने व्यक्ति काम करने वाले थे सभी की दृष्टि इसी विषय की ओर थी। इसके अतिरिक्त इसका भी स्मरण रखना आवश्यक है कि उस समय हिन्दी-साहित्य में धर्म वा भक्ति का प्राधान्य था—देश-काल की परिस्थितिवश फिर भी अपने निबन्ध के लिए धार्मिक विषय को ही चुनना निबन्धकार की धर्म की ओर उन्मुख रुचि का आभास देता है।

एक स्थान पर हलका-सा व्यंग्य भी मिलता है। जैसे—"ब्रह्मा के यहाँ से किसी की चिट्ठी-पत्री नहीं लिखी आई है कि वह ब्राह्मण है और यह चाण्डाल है।"

'सुरासुर-निर्णय' का विषय धार्मिक है। निबन्धगत तथ्य वा प्रतिपाद्य की स्पष्टता के लिए जितने उदाहरण दिए गए हैं वे सब पुराण से सम्बन्ध रखते हैं। निबन्ध का प्रतिपाद्य है सुर और असुर का निर्णय। इस निर्णय के लिये निबन्धकार योनि व जन्म का अवलम्बन नहीं करना चाहता, प्रत्युत स्वभाव वा कर्म का आधार लेना चाहता है। उसकी धारणा यह है कि कोई व्यक्ति 'स्वभाव' (आदत) और कर्म के कारण 'सुर' और 'असुर' अथवा 'ब्राह्मण' और 'चांडाल' होता है, जन्म व 'योनि' से नहीं। इसकी सत्यता प्रमाणित करने के लिए उसने अनेक पौराणिक उदाहरण दिये हैं जहाँ तक श्री सदासुखलाल की इस मान्यता का सम्बन्ध है वह कोई नवीनता लिये हुये नहीं प्रतीत होती। प्राचीन काल से ही हमारे समाज के विधायक वर्ण की व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर देते आते थे।

'सुरासुर निर्णय' विवेचनात्मक निबन्ध है। इसमें निबन्धकार ने अपने पक्ष का प्रतिपादन अनेक उदाहरणों को सम्मुख रख कर करता है। इस कार्य में उसे सफलता भी मिली है। पाठक को यदि कुछ अस्पष्टता का आभास मिलता है तो केवल निबन्धकार की भाषा के कारण, क्योंकि वह आज की हिन्दी गद्य नहीं है, प्रत्युत उस समय का है जब हिन्दी गद्य शक्ति-संग्रह ही कर रहा था। निबन्ध की रचना शैली का एक उदाहरण देखें—

"प्रसिद्ध योनि है। सुर देवता, असुर दैत्य, संज्ञा है। जो कहिए असुर दैत्य है, इस बात में दूषण है। कंस दैत्य न था, मनुष्य था, श्रीकृष्ण का मामा, उग्रसेन का बेटा था।

तो इससे समझिए कि स्वभाव बड़ा है, मनुष्य होय कि अथवा देवता दैत्य होय।"

उपर्युक्त निबंध की भाषा और उसकी अभिव्यक्ति-शैली प्राचीन है। न उसमें पण्डिताऊपन है। वस्तु के कहने के ढङ्ग में यह बात मिलती है। वाक्य-योजना वैसी नहीं है जैसा आज होती है। यथा—

"जो यह कहो कि संकर करके ब्राह्मण और चण्डाल होता है, तो व्यासजी नारायण के अवतार हैं धीमरी के पेट से जन्मे हैं।"

इस निबंध में ऐसे वाक्य, जिनकी योजना में पण्डिताऊपन है, अनेक हैं। वाक्य-योजना में पुनरुक्ति भी अनेक स्थलों पर मिलती है—

"मनुष्य होय कि अथवा देवता दैत्य होय।"

'कि' और 'अथवा' का अर्थ एक ही है। इसी प्रकार—"राधा क्षत्री होय कि अथवा म्लेच्छ, तब नहीं किया होय और आप संत ज्ञानी भी होय, वह निःसंदेह मुक्त रूप है इसमें कोई संदेह नहीं।"

'निःसंदेह' कहने के पश्चात् 'इसमें कोई संदेह नहीं' की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

वाक्य-संयोजकों को लोप करने की प्रवृत्ति श्री सदासुखलाल में विशेष मिलती है। जैसे—

"दुर्वासा बड़ा ऋषि है, स्वभाव तमोगुणी है, उसे असुर जानना चाहिए।"

प्रथम और द्वितीय वाक्य के मध्य में 'परन्तु' वा 'पर' संयोजक का तथा द्वितीय और तृतीय वाक्य के मध्य में 'अतः' वा 'इसलिए' संयोजक का लोप है।

'जन न पावता', 'उसे कहा चाहिए', 'लयहू जिए' 'बन आवे है', 'बहकावनेवाले', 'ताई' आदि प्राचीन तथा पण्डिताऊ प्रयोग अनेक हैं। इस निबन्ध में 'निर्णय' का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में है—

"ब्राह्मण चाण्डाल की निर्णय भी न्याय के लिए होता है।" फारसी का भी एकाध प्रयोग मिलता है जैसे—'लज्जा खींचा है।' 'लज्जा खींचना' का भी प्रयोग है।

'प्रियप्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' की बृहत्रयी में महाकाव्यत्व

डा० सुधीन्द्र

हिन्दी में महाकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा संस्कृत काव्य-शास्त्र से गृहीत है। हिन्दी-साहित्य अनेक रूपों में, विशेषकर शास्त्रीय परम्पराओं और मान्यताओं में, संस्कृत साहित्य का ही उत्तराधिकारी है। हिन्दी के महाकाव्यों में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों युगों के महाकाव्यों को कई दृष्टियों से भिन्न मानना होगा। 'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'रामचरित मानस', 'रामचन्द्रिका' इत्यादि महाकाव्यों को हम पूर्णतया महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप पाते हैं। यदि किसी में दोष है (जैसे रामचन्द्रिका में) तो वह कवि के रचना-कौशल की कमी के कारण है परन्तु इससे महाकाव्य की मान्यता में कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु आधुनिक युग में हमारी सभी मान्यताएँ बदली हैं, और जीवन के मान और मूल्य भी बदले हैं—हमारी शास्त्रीय परम्पराएँ भी बदली हैं। अतः महाकाव्य की कसौटी भी बदली है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उस कसौटी में आमूल परिवर्तन हुआ है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि युग के अनुरूप वस्तु तत्व और शैली में आवश्यक और उचित अन्तर आगया है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार महाकाव्य में तीन गुण अपेक्षित हैं १—प्रबन्धात्मक या सर्ग-बद्ध आख्यान। २—विराट् और जगत्व्यापी चरित्र और विषय। ३—शैली का औदात्य और गाम्भीर्य।

महाकाव्य की भारतीय कल्पना में एक ऐसे 'नायक' का जीवन आख्यान होना चाहिए जिसका व्यक्तित्व विविध गुण सम्पन्न हो—जो ऐतिहासिक और जातीय महापुरुष हो और उसकी जीवन कथा भी ऐसी हो जिसमें समस्त जाति (या राष्ट्र) के विशाल जीवन अपनी भावनाओं, अनुभूतियों, परम्पराओं, रीति-नीतियों और आदर्शों के साथ प्रतिबिम्बित हों। इस प्रकार भारतीय महाकाव्य अनिवार्यतः जातीय महाकाव्य रहा है। 'रामायण' और 'महाभारत' सच्चे रूप में 'महाकाव्य' हैं। प्राचीन काल के और देशों के महाकाव्य भी इसी कोटि के हैं—जैसे यूनानी महाकाव्य—'ईलियड' और 'ओडेसी'। अस्तु।

उपर्युक्त विशाल आख्यान के अनुरोध से भारतीय महाकाव्य में वस्तु-चित्रण की दृष्टि से जीवन का कोई अंश या पक्ष उपेक्षित नहीं होता था। यही कारण है कि भारतीय महाकाव्यों में युद्ध और शान्ति दोनों का समावेश है। वैभव और ऐश्वर्यपूर्ण सुखी प्रजा, राजकाज, समाज इत्यादि के वर्णन से लेकर राजपथ, पर्वत, वन उपवन, नदी निर्झर, उषा संध्या, रात्रि, सूर्य चन्द्र इत्यादि इत्यादि सबका वर्णन महाकाव्यों में विशद रूप से मिलता है और इसीलिये महाकाव्य के वस्तुतत्व के अन्तर्गत इन सभी स्थूल विशेषताओं का समावेश कर दिया गया। इसीलिए महाकाव्य में आठ से अधिक सर्गों का विधान किया गया था। इनसे तो केवल महाकाव्य की वस्तु व्यापकता का ही संकेत मिलता है।

महाकाव्य की वर्णन शैली में औदात्य और गाम्भीर्य होना चाहिए, उसमें प्रभु(?) शिष्ट भाषा, पदलालित्य, गुणों का समावेश, दोषों का परिहार और रस की परिपक्वता अपेक्षित है। वास्तव में उसमें पूर्ण काव्यत्व होना चाहिए अन्यथा वह राधेश्याम रामायण की भाँति सब कुछ होकर भी महाकाव्य नहीं बन सकेगा। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस एक गुण के कारण ही आधुनिक युग के कुछ ही काव्य महाकाव्य हैं और महाकाव्य नाम से जाने जाने वाले कई काव्य इस कोटि तक नहीं पहुँच सकने के कारण 'महा-काव्य' नहीं कहे जा सकते।

इन तीनों विशेषताओं का विश्लेषण करें तो हमें पहली और तीसरी विशेषता को प्रधानता देनी होगी। दूसरी विशेषता, पहली विशेषता से सम्बन्धित है परन्तु वह केवल स्थूल लक्षणों में परिपूर्ण है अतः उसमें युग के अनुरूप अनेक हेरफेर होने की गुंजाइश है। केवल सूक्ष्म आत्मा और प्राणतत्व ही प्रधान होता है।

आधुनिक युग में हिन्दी में जिन्हें महाकाव्य कहा जा सकता है वे हैं :—

१—प्रियप्रवास (हरिऔधजी)

२—साकेत (मैथलीशरण गुप्तजी)

और ३—कामायनी (जयशङ्कर प्रसादजी)

इसके अतिरिक्त 'हल्दी घाटी' 'नूरजहाँ' 'विक्रमादित्य' 'सिद्धार्थ' 'वर्धमान महावीर' 'कुरुक्षेत्र' आदि को भी महाकाव्य माना गया है। परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी की वृहत्त्रयी असन्दिग्ध है। अतः यहाँ उन पर ही विचार करना हमारा उद्देश्य है।

इन तीनों महाकाव्यों में क्रमशः द्वापर युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति श्रीकृष्ण, त्रेतायुग के सर्वोत्तम मानव राम और प्रागैतिहासिक युग के सर्वश्रेष्ठ और आदि पुरुष मनु का जीवन आख्यान कवियों का प्रतिपाद्य है। तीनों व्यक्तियों की महानता और सर्वगुण-सम्पन्नता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। वे अपने-अपने युग के मानव की श्रेष्ठता के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। राम और कृष्ण तो इसी कारण ब्रह्म या ईश्वर के अवतार भी मान लिए गये थे। आधुनिक बुद्धिवादी युग में उनका अवतार होना तो सर्वमान्य नहीं है परन्तु अवतार की बौद्धिक व्याख्या के अनुसार उन्हें अवतार कहा जा सकता है। मनु भी राम और कृष्ण की भाँति एक शक्तिशाली समाज नियंता और व्यवस्थापक थे। अतः वे तीनों महाकाव्यों के नायक होने योग्य ही थे। राम, कृष्ण और मनु तीनों महानायकों के महान जीवन भी अपने-अपने युग और समस्त जाति के जीवन में समाविष्ट और आत्मसात कर सकते हैं। इनके जीवन विविध घटनाओं से परिपूर्ण है अतः दीर्घकालीन और विशाल है। किन्तु तीनों महाकाव्यों में उस जीवन का चित्र देने में कवियों ने विविध घटनाओं की विशदता वाली रूढ़ परिपाटी का पालन नहीं किया है।

'प्रियप्रवास' में कृष्ण का जीवन, घटना बहुल होते हुए भी, पूर्ण न होकर आंशिक रूप में ही प्रस्तुत हुआ है। कवि कथा को कृष्ण के जीवन की एक अवस्था से उठाता और उसे अपने केन्द्रित लक्ष्य के अनुसार सुनाता है। अनेक घटनाओं का वर्णन करने में उसकी रुचि नहीं है—वरन् इसके विपरीत उसकी रुचि व्यक्तियों के मानसिक अथवा भावात्मक घटना तत्व की ओर अधिक है। वस्तु जीवन की स्थूल घटनाओं से 'प्रियप्रवास' में भावात्मक सूक्ष्मता अधिक है। मानसिक अनुभूतियों के उतार-चढ़ाव को भी घटना कहा जा सकता है। साकेत और प्रियप्रवास में भी वस्तु जगत की स्थूल घटनाएँ न देकर भावात्मक घटनाओं का चित्रण करना कवि का उद्देश्य है। यह ठीक है कि वस्तुओं का समारोहपूर्ण विशद वर्णन होने पर काव्य में एक औदात्य आ जाता है किन्तु सूक्ष्म मानसिक वृत्तियों और वस्तुओं का स्वरूप आलेखन भी कल्पना की उच्चतर शक्ति से ही सम्भव है। 'कामायनी' में भी स्थूल वस्तुओं का वैविध्य और उससे उत्पन्न तथाकथित औदात्य भले ही न हो परन्तु उसमें मनु के मन का जो आभ्यंतर सङ्घर्ष अनेक क्रमिक वृत्तियों के विकास के माध्यम से आलेखित हुआ है वह एक महाकवि की कला के ही अनुरूप है।

प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी तीनों में प्रबन्ध की भावात्मकता या घटनाओं की सूक्ष्मता उत्तरोत्तर बढ़ी हुई दिखाई देती है। यह नवयुग के महाकाव्यों की नई विशेषता है और इसको मान्य करते हुए हमें महाकाव्य की प्रचलित और रूढ़ि परम्परा की कसौटी को भी बदलना होगा।

जातीय महत्व की दृष्टि से 'साकेत' और 'कामायनी' ही उस कोटि तक पहुँचते हैं। 'प्रियप्रवास' में जीवन की एकांगिता है, 'साकेत' और 'कामायनी' की भाँति विविधता और व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से 'साकेत' और कामायनी से 'प्रियप्रवास' में भावात्मकता अधिक है। परन्तु कामायनी में सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व की बहुलता के साथ-साथ प्रतीकात्मकता है। सर्गों की संख्या आदि के प्रश्न अपेक्षाकृत गौण ही हैं। वे तो केवल कथा के विस्तार के द्योतक स्थूल लक्षण मात्र हैं। इन तीनों महाकाव्यों में सर्गों की संख्या महाकाव्य के नियमानुसार ही है।

वस्तु-चित्रण में मानव चरित्र और प्रकृति चित्रण का महाकाव्य में विशेष स्थान होता है इन दोनों के बिना महाकाव्य में विषयगत (Objective) विशालता, उच्चता, गहराई और व्यापकता नहीं आ सकती। इन्हीं तत्वों से महाकाव्य की कथा निर्झर की भाँति द्रुतिगामिनी न होकर

नदी की धारा की भाँति मंथरगामिनी होती है। ऐसे ही प्रसङ्गों में पाठकों का मन खींचा जा सकता है। इन्हीं में रस के परिपाक के लिए अवसर और अवकाश मिलता है। इस कसौटी पर तीनों महाकाव्यों को कसा जाय तो हम कह सकते हैं कि तीनों अपने आप में सफल हैं। प्रकृति के विभिन्न रूपों का जैसा चित्रण इन तीनों काव्यों में मिलता है वह अत्यन्त सुन्दर है। 'प्रियप्रवास' में नवम सर्ग में अवश्य प्रकृति चित्रण के पीछे रूढ़ परम्परा का पालन है। परन्तु उसका परिहार उसके दूसरे प्रकृति चित्रणों से भलीभाँति हो जाता है। प्रकृति और मानव जीवन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध जितना प्रियप्रवास में है उतना पूर्ववर्ती हिन्दी महाकाव्यों में नहीं मिलता। यह सम्बन्ध साकेत और कामायनी में उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। कामायनी में तो प्रकृति और मानव मन परस्पर एकाकार से हो गये हैं। कवि की रहस्यभावना के कारण यह और भी अधिक सम्भव हो सका है।

मानव-चरित्र का अङ्कन तीनों महाकाव्यों में बड़े कौशल के साथ हुआ है। 'प्रियप्रवास' के नायक कृष्ण गीता के कर्मयोगी महापुरुष हैं—जाति और राष्ट्र के मङ्गल के विधायक और सङ्कट के त्राता। नायिका राधा मानवोचित गुणों से पूर्ण और आत्मवियोग में भी पारमार्थिक दृष्टि लिये हुए हैं। उसका लोक-कल्याणी स्वरूप अभिनन्दनीय है। इस प्रकार कृष्ण और राधा का लोकसंग्रही रूप 'प्रियप्रवास' में है।

साकेत में राम ईश्वरावतार के रूप में प्रस्तुत हैं (इस दृष्टि से वे तुलसी के राम से भिन्न नहीं) परन्तु उनमें वही मर्यादा पुरुषोत्तम के गुणों का समावेश है। उनमें आज्ञाकारी पुत्र और प्रजापालक राजा तथा जातिरक्षक महापुरुष के आदर्श समन्वित हुए हैं। साकेत के चरित्रों में दूसरा स्थान उर्मिला का है जिसके कारण 'साकेत' की रचना करने की आवश्यकता कवि को हुई। उर्मिला का चरित्राङ्कन कवि ने अत्यन्त कौशल से किया है और 'प्रियप्रवास' की राधा की परम्परा को बहुत सफलता के साथ ऊँचा उठाया है। उर्मिला का चित्रण करने में गुप्त जी ने—यह कहा जा सकता है—'साकेत' के प्रबन्धत्व की भी चिन्ता छोड़ दी है। पाठकों का ध्यान उस पर केन्द्रित कर दिया है और उसे नायिका की पद तक दे दिया है। इधर लक्ष्मण को नायकत्व नहीं मिल सका है क्योंकि उनका व्यक्तित्व राम में समाविष्ट है और कथा के अधिकांश सूत्र श्री राम के ही साथ सम्बद्ध हैं। उर्मिला अवश्य ही इन सूत्रों में सबसे अधिक रङ्गीन और आकर्षक है—इस लिए 'साकेत' में प्रबन्धात्मक ऐक्य या अनुपात सदोष हो गया है। यह कवि के राम और उर्मिला दोनों के प्रति अति मोह के कारण हुआ है।

'कामायनी' का प्रबन्धत्व केवल इतना ही है कि आदि पुरुष मनु ने किन मानसिक स्थितियों से अतिक्रमण करता हुआ एक से दो होकर समाज और जाति का और इस प्रकार मानव सभ्यता का श्री गणेश करता है। वर्ग विभाजन तथा नियमानुशासन की प्रवृत्तियों का प्रवर्तक होता है और इस प्रकार के वस्तु जगत के विकास की प्रतिक्रिया में पुनः उसके मनःप्रदेश में अन्तर्द्वन्द्व होने लगता है और उसका समाधान वह समरसता में पाता है। यह कहा जा सकता है कि इसमें भी घटनायें भावात्मक ही हैं। स्थूल घटनाओं का वर्णन संक्षिप्त और सांकेतिक रीति से ही हुआ है। 'कामायनी' की सबसे बड़ी विशेषता मनु के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करना है और उनका मनु-मानवमन भी है और आदि पुरुष भी। एक दोहरा व्यक्तित्व कवि ने उसे दिया है। उसके इस आन्तरिक चित्रण को ही हम चरित्राङ्कन कह सकते हैं। कामायनी श्रद्धा और इड़ा दोनों के चरित्र एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में हैं और यह मन के दो पक्षों हृदय (श्रद्धा) और बुद्धि (इड़ा) के प्रतीक हैं। इन्हीं दोनों का सङ्घर्ष और समन्वय 'कामायनी' का प्रतिपाद्य है। मनु केन्द्रीय व्यक्ति है और वही इसका नायक है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जाना चाहिए कि प्राचीन भारतीय महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी पर कसे जाने पर ये तीनों महाकाव्य किसी न किसी दृष्टि से अपर्याप्त भले ही सिद्ध हों परन्तु महाकाव्य की नवीन कसौटी, नवीन मान्यता, नवीन रूपरेखा को दृष्टि में रखते हुए हम तीनों को 'महाकाव्य' ही कहेंगे।

प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

प्रो० आनन्दनारायण शर्मा, एम० ए०

प्रेमचंद की आलोचना के क्रम में आदर्शवाद और यथार्थवाद इन दो शब्दों की चर्चा प्रायः हुआ करती है। प्रेमचन्द ने स्वयं भी जैसे आलोचकों से मिलकर अपनी कला के लिए 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' शब्द का प्रयोग किया है। निश्चय ही प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार थे, लेकिन उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में उनके आलोचक उन्हें स्वीकार करते हैं। साहित्य में सत् और असत् का द्वन्द्व चिरकाल से चित्रित किया जाता रहा है। एक उदात्त चेता मनुष्य स्वभावतः 'सत्' तत्त्व के प्रति एक उत्कट आकर्षण से अभिभूत होता है और उदात्त और मंगलकारी भावों और विचारों का प्राबल्य तथा प्राधान्य साहित्य में प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता है। किन्तु इस प्रतिष्ठा का ढङ्ग ऐसा होना चाहिऐ कि वह इस व्यक्त विश्व में दैनंदिन घटित होने वाले कार्य व्यापारों से सर्वथा प्रतिकूल और फलतः अविश्व-नीय न हो एवं हमारी आलोचक बुद्धि को संतोष देता चले। कलाकृति में जब 'सत्' के प्रति लेखक का पक्षपात अधिक मुखर होता है, तब वह रचना आदर्शपरक हो जाती है।

'गोदान' को छोड़कर प्रेमचन्द के सभी उपन्यास शत-प्रतिशत आदर्शवादी हैं। यह ठीक है कि उनकी कथावस्तु नैत्यिक और यथार्थ जीवन संगृहीत है और उनके पात्र हमारे अभिपरिचय की सीमा में हैं; पर जिस विशेष ढङ्ग से उनका नियोजन हुआ है, उसमें यथार्थवाद के लिए बहुत कम अवकाश रह जाता है। बल्कि कहीं-कहीं तो जान बूझकर प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में ऐसे अप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश कर दिया है (जैसे 'कायाकल्प' और 'रङ्गभूमि' में) कि वे आदर्शवादी ही नहीं, अविश्वसनीय भी हो गई हैं। उनके उपन्यास आरम्भ से ही एक सुनिश्चित आदर्श को लेकर चलते हैं और बीच में कई कृत्रिम अकृत्रिम मोड़ लेते हुए अंत में अपने उद्देश्य की सिद्धि में पर्यवसित हो जाते हैं। यथार्थवाद के लिए जिस वस्तुगत दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है, उसका प्रेमचन्द के पास एकान्त अभाव था। यथार्थवाद के विपरीत दो दृष्टि-कोण संभव हैं—रूमानी और आदर्शवादी। जब विषय वस्तु पर भावना के साथ कल्पना का रङ्ग गाढ़ा चढ़ जाता है तो कला में रूमानी झलक आ जाती है। दूसरी ओर जब भावना विवेक के अंकुश द्वारा अनुशासित रहती है तो आदर्शवाद प्रमुख होता है। रूमानीपन भी एक प्रकार की आदर्शवादिता ही है, क्योंकि उसका लगाव ठोस धरती से नहीं के बराबर रहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी अपने कल्पित मनोराज्य में विचरण करता हुआ भी बुद्धि के अंकुश को सर्वथा अस्वीकृत नहीं कर सकता। जैसा अनेक अवसरों पर प्रेमचन्द ने स्वयं स्वीकार किया है, उनकी कला का उद्देश्य कभी सस्ता मनोरञ्जन नहीं रहा। वह तो उनके हाथ में एक हथौड़े की भाँति थी, जिसकी हर चोट जीवन की प्रतिमा को एक विशिष्ट आकृति देने के लिए होती है। उन्होंने सामाजिक असङ्गतियों और विषमताओं को निकट से देखा और उनके परिष्कार के लिए साहित्य का सृजन किया। प्रेमचंद प्रथम भारतीय उपन्यासकार हैं, जिन्होंने किसानों और निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण बड़ी तत्परता और ईमानदारी के साथ किया है। "प्रेमचन्द शताब्दियों से पद दलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज को, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के ज़बरदस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे।" (हिन्दी साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी) साथ ही उनका अध्ययन एक तटस्थ दर्शक का मनो-विनोद नहीं, वरन् वे स्वयं उस समाज के अङ्ग से बन गए हैं। इसलिए उनकी कला आदर्शवादी के सिवा और कुछ हो भी नहीं सकती। उनका जीवन-दर्शन, नीतिवाद, उपयोगितावाद—ये सभी उनके आदर्शवाद के ही उपकरण हैं। उन्होंने अपनी कला द्वारा उपयोगिता पर आवरण डालने की चेष्टा की है, लेकिन इसलिए नहीं कि

पाठक इन्द्र धनुषी आवरण के व्यामोह में ही भटक कर रह जाय, बल्कि इसलिए कि वह आवरण द्वारा आवेष्ठित सत्य और भी उपयोगी बनकर ग्राह्य हो। कुनैन की गोलियाँ भी तो शक्कर लपेट कर दी जाती हैं।

प्रेमचन्द यथार्थ को बराबर असुन्दर का पर्याय समझते रहे। उन्होंने इस असुन्दर (यथार्थ) को कभी अपनी कृतियों में स्थान देने से इनकार नहीं किया पर इसका प्रयोग उन्होंने वहीं तक अपेक्षित माना है, जहाँ यह सुन्दर को प्रस्तुत कर सकने में सहायक सिद्ध होता है। किन्तु इससे आगे, जहाँ इसकी नग्नता कुरुचि उत्पन्न करने वाली या जुगुप्साजनक होती है, वहाँ तक बढ़ने को प्रेमचन्द ने कभी खतरे से खाली नहीं समझा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—''यथार्थवाद नग्नता तो भयंकर होती है, लेकिन उसकी ओर यदि संकेत भी कर दिया जाए तो एक नया ही सौंदर्य पैदा हो जाता है। कला संयम और संकेत में है। ऊषा की लाली में जो सौन्दर्य है, वह सूर्य के पूर्ण प्रकाश में हरगिज नहीं।'' (कुछ विचार) लेकिन जीवित रहने के लिए केवल ऊषा की लाली ही तो पर्याप्त नहीं। उसके लिए तो मध्याह्न का प्रखर प्रकाश और प्रदाह भी चाहिए और अवश्य चाहिए। कुरूप और नग्न यथार्थवाद किस प्रकार दिन के जीवन प्रद प्रकाश और प्रदाह में परिवर्तित हो सकता है, यह प्रेमचन्द ने अपने अन्तिम काल में अनुभव किया। कथा साहित्य की जो परम्परा प्रेमचन्द के अपने पूर्ववर्ती लेखकों से विरासत में मिली थी, उसमें भी यथार्थवाद के लिए कोई स्थान न था। फलतः प्रेमचन्द को अपना रास्ता आप गढ़ना पड़ा।

यथार्थवाद से दूर भागने का प्रेमचन्द के पास एक दूसरा कारण भी है वर्तमान जीवन का जो चित्र सामने प्रस्तुत है, उसमें सुख से कहीं ज्यादा रंज दुःख का है, उल्लास से कहीं अधिक स्थान उत्पीड़न ने ले लिया है। साथ ही आज समय कुछ इतना बदल गया है और परिस्थितियाँ इतनी विषम हो गई हैं कि अच्छे कार्यों का फल बराबर अच्छा ही देखने को नहीं मिलता। प्रेमचन्द ने देखा कि यदि कोरे यथार्थ का आग्रह करके चला गया तो सम्भव है 'सत्' के प्रति लोगों की आस्था डिगने लगे। अपने इसी भय को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—''यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है। हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती है।'' (कुछ विचार) इस तरह अच्छाइयों पर से विश्वास न उठने देने और निराशावाद से पाठकों को (और स्वयं अपने को भी) बचाने के लिए ही वे आदर्शवाद की ओर मुड़ गये। प्रेमचन्द का सारा युग (गांधी-युग) ही एक प्रकार की स्थूल नैतिकता से आक्रान्त था। गद्य के क्षेत्र में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी और पद्य में कविवर मैथिलीशरण गुप्त में भी यही स्थूल नैतिकता जनित आदर्शवाद काम कर रहा था। अतएव प्रेमचन्द जैसे सर्वथा नामज व्यक्तित्व वाले लेखक का आदर्शवादी न होना ही आश्चर्य की बात होती!

प्रेमचन्द के मन में यथार्थवाद के प्रति इसलिए मोह नहीं कि वह कुत्सित है और मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाला है। उनका दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य दुर्बलताओं का आगार है और उसकी दुर्बलताओं का यथातथ्य चित्रण उसके लिए उन्नतकारी न हो कर घातक भी हो सकता है। यदि हम किसी आदमी को ऊपर उठाना चाहते हैं तो हमें यह दिखलाना चाहिए कि मनुष्य कितना ऊपर उठ सकता है, न कि यह कि वह कितना नीचे गिर सकता है, या गिर चुका है। किन्तु यह दृष्टिकोण जीवन के विकास के लिए चाहे कितना भी स्वस्थ हो, साहित्य को आदर्शवाद से आक्रान्त कर उसे अत्यन्त साधारण स्तर पर ले आता है। कला हमारे लिए तभी सार्वजनीन और संवेद्य हो सकती है, जब वह यथार्थ से अपने जीवन का रस ग्रहण करती रहे। जो पात्र हमारी ही तरह अस्थि-मांस से निर्मित, दुःख-सुखों में प्रकम्पित होने वाले, तथा अश्रु-हास से युक्त होते हैं, उन्हीं के प्रति हमारी मानवीय सहानुभूति प्रवाहित होती है और जो केवल लेखक के हाथों की कठपुतली, पुस्तकीय सिद्धान्तों के निर्जीव प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं, वे हमारी संवेदना को उकसा-उभार नहीं पाते। देवमन्दिर के आगे मस्तक झुकाने वाले अनेक व्यक्ति होते हैं, लेकिन ऐसे

कितने हैं, जो सब समय देवता के द्रोही के प्रति अन्तर में अटूट आस्था रखते हों ? इसी एकान्त आदर्शवादी और काल्पनिक मनोराज्य के चित्रण के कारण प्रेमचन्द के अधिकांश प्रारम्भिक उपन्यास प्रभावहीन हो गये हैं और वे हमारी आलोचक बुद्धि को सन्तोष नहीं दे पाते।

जिस तरह प्रेमचन्द यथार्थवाद को पूर्णतया स्वीकार करने में हिचकते हैं, उसी तरह वे बुद्धिवाद से भी बचने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं—"सच पूछिए तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है। बुद्धिवाद की उतनी ही जरूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाए।" (कुछ विचार) यहाँ तक बुद्धिवाद से कोई खतरा नहीं। लेकिन आगे चलकर तो वह आदर्शवादी कल्पना की इमारत को ही ढहाने लगता है। इसलिए प्रेमचन्द उसे ज्यादा बढ़ने देना उचित नहीं समझते। यह भी उनकी आदर्शवादिता का ही परिणाम है।

लेकिन प्रेमचन्द की कला का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसके कारण इन्हें यथार्थवादी तो नहीं, पर उसके निकट अवश्य कहा जा सकता है। उन्होंने कल्पित राजा-रानी, परी-जिन्न, तिलस्म-इन्द्रजाल आदि के स्थान पर जन-जीवन को अपने चित्रण का लक्ष्य बनाया, यह तो यथार्थवाद की पहली सीढ़ी है। प्रेमचन्द इससे कुछ और ऊपर चढ़ने पर भी यथार्थवाद ही रहे हैं, जहाँ पहुँचने पर अधिकांश तथाकथित यथार्थवादी लेखक आदर्शवादी बन जाते हैं।

पहली बात यह कि प्रेमचन्द ने यदि निम्नवर्गीय पात्रों को आदर्श बनाने के फेर में पुस्तकीय बना दिया है तो आज का लेखक उच्चवर्गीय पात्रों को कठपुतलियों से अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं समझता। दूसरी बात, प्रेमचन्द की कथाएँ नित्यप्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं, अर्थात् उनकी समस्याएँ कुछेक फ्रायडियन या मार्क्सवादी लेखकों की तरह सैद्धान्तिक अथवा प्रन्थिजात्मक नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक और यथार्थ हैं। आज का लेखक पहले मन में एक यौन अथवा आर्थिक ग्रन्थि की कल्पना कर लेता है और फिर उसी के अनुरूप पात्र और घटनाओं को गढ़ना आरम्भ करता है। इसलिए बहुधा उसके पात्र यथार्थवाद की मातृभूमि पर जन्म लेकर भी हमारी मानवीय संवेदनाओं के आधार नहीं बन पाते। उदाहरण के लिए जैनेन्द्रकुमार और इलाचन्द्र जोशी की कुछ सर्वथा नवीन कृतियों को लिया जा सकता है। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने एक निश्चित परिणाम की सिद्धि के लिए कभी अपने आधार को तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। जैसे वे किसानों और जमींदारों में वर्ग संघर्ष नहीं चाहते थे, वरन वे सोचते थे कि उनमें एक-न-एक दिन समझौता हो जायगा। किन्तु इसलिए उन्होंने किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों को कम करके नहीं दिखाया। आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी सम्पूर्ण भयानकता के साथ उन्होंने किया। प्रेमचन्द के नियोजन में चाहे जितनी भी आदर्शवादिता हो, पर उनकी कथावस्तु, घटनाएँ और पात्रों में इतनी यथार्थता वर्तमान है कि वे हमारे अपने जीवन के ही अंश से प्रतीत होते हैं। उन्होंने युग की समस्याओं की पर्याप्त छानबीन की है, जीवन की कटुता का भरपूर सामना किया है और इसके बाद भी जब वे निराशावादी न होकर हमारे सामने एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित करते हैं तो हम उनकी निष्ठा के प्रति नतमस्तक हुए बिना नहीं रह सकते एवं तब वह आदर्श भी अपने उद्देश्य की गरिमा के कारण सर्वथा क्षम्य हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि लेखक का मनुष्य की अच्छाइयों में अटूट विश्वास था और वह इस बात को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता था कि आज की रात चाहे जितनी काली हो, हमेशा चाँद बदली से ही नहीं ढँका रहेगा।

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृतियों में आदर्शवादिता की केवल जड़ ही गहरी नहीं है, उसकी शाखें भी जमीन से काफी ऊपर आ गई हैं। लेकिन ज्यों ज्यों उनका जीवन से परिचय घना होता गया, संघर्षों की रगड़ से छाती छिलती गई, त्यों त्यों यथार्थ की उनकी पकड़ भी पहले से मजबूत होती गई। 'सेवासदन' में 'सेवासदन' की स्थापना द्वारा वेश्या वृत्ति का अन्त, 'प्रेमाश्रम' में 'प्रेमाश्रम' के निर्माण द्वारा किसान-जमींदार समस्या का समाधान, 'निर्मला' में निर्मला की मृत्यु के उपरान्त दहेज और अनमेल विवाह पर रोक तथा 'रङ्गभूमि' में सूरदास की मृत्यु के

कारण कठोर भौतिकतावाद पर मनुष्य के विवेक और सद्-वृत्तियों की विजय आदि ऐसे कल्पित निष्कर्ष थे, जिनकी अयथार्थता जीवन के अन्तिम कोल में प्रेमचन्द पर स्पष्ट हुए बिना न रह सकी। 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' की समस्याओं का समाधान तो उन्हें और भी अव्यावहारिक और खोखला जँचा। सुतरां उन्होंने अपना प्रौढ़ रचनाओं में इस प्रकार के कृत्रिम और आदर्शपरक समाधान प्रस्तुत नहीं किये। 'गोदान' में नगर और ग्राम की दो सर्वथा भिन्न कथाएँ हैं जिनके योग से भारतीय जीवन का सम्यक् चित्र उतरता है। ये दोनों कथाएँ अन्त तक समानान्तर चलती रहती हैं, एक बिन्दु पर बरबस मिलाई नहीं जातीं, जैसा पूर्ववर्ती उपन्यासों में हुआ है। वहाँ 'होरी' तो अपने प्राचीन संस्कारों और अन्धविश्वासों को न छोड़ सकने के कारण अपना अस्तित्व मिटा ही देता है, उसका लड़का 'गोबर' भी जो आरम्भ में एक विद्रोह की चिनगारी लेकर आया था, अन्त तक आते-न-आते उसी परम्परा-प्राप्त सर्वग्रासी व्यवस्था को स्वीकार कर लेता है, उसकी चक्की में स्वयं भी पिसने को सन्नद्ध हो जाता है। यह तीक्ष्ण यथार्थ ही तो है। 'कफन' में भी वास्तविकता ही उभर कर सामने आती है, समस्या का कोई सीधा सुलझाव नहीं। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समस्या के प्रत्येक पहलू का यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अनावरण हो गया तो वह भी एक प्रकार का सुलझाव ही है, बल्कि ज्यादा सही और विश्वसनीय सुलझाव है। सभी स्थितियों में यह स्रष्टा के लिए आवश्यक नहीं कि वह एक कृत्रिम मार्ग का निर्देशन भी करे, क्योंकि ऐसा करने में एक तो भटक जाने का भय बना रहता है, दूसरे लेखक पाठक का अधिक विश्वास भी नहीं अर्जित कर पाता।

तो हम देखें कि इस प्रकार प्रेमचन्द क्रमशः यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे थे। उनका अन्तिम अपूर्ण उपन्यास 'मङ्गल-सूत्र', जो एक प्रकार से उनकी आत्मकथा भी है, इस दिशा परिवर्त्तन की स्पष्ट सूचना देने वाला है। जहाँ अब तक वे वर्ग संघर्ष की भावनाओं को बचाते आए थे, वहाँ 'मङ्गल-सूत्र' में उन्होंने निर्भीक होकर उद्घोषित किया—"पशुओं के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पञ्जों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।" यह वही समय था जब उन्होंने डॉ० इन्द्रनाथ मदान को पत्र लिखा था—"आरम्भ में परम्परागत विश्वास के कारण मैं एक महान् दैवी शक्ति में विश्वास रखता था। वह विश्वास अब टूट रहा है।" तय है कि आदर्शवाद के तम्बू में यथार्थवाद का ऊँट गरदन ही नहीं, अपना पूरा शरीर भी ले जा चुका है। अब केवल इतना शेष है कि वह उसमें पहले से आसन जमाए स्वामी (आदर्शवाद) को अर्द्धचन्द्र देकर खदेड़ दे। यदि प्रेमचन्द कुछ दिन और जीवित रहते तो यह स्थिति भी आ ही पहुँचती, पर दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका। इसलिए हम उनकी कला को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कह कर ही सन्तोष कर लेते हैं। समाप्तः हम कह सकते हैं कि उनका आदर्शवाद प्राचीन संस्कारों का अवशेष, उनका यथार्थवाद नवीन बौद्धिक दृष्टिकोण की उपस्थिति का सूचक और उनकी असमञ्जस-ग्रस्त मध्यवर्गीय चेतना का प्रतीक और परिणाम है।

(पृष्ठ ३६ का शेषांश)

बढ़ाने की स्वतन्त्रता बरती गई। बङ्गला से प्रभावित छन्दों ने हिन्दी कविता में नई रवानगी उपस्थित की। तुकान्त छन्दों के विभिन्न नए भेदों के प्रयोग हुए। मुक्त छन्द को रबड़ छंद या केंचुआ छंद की संज्ञा देकर उपहासास्पद बनाने की आलोचकों ने जो योजना कार्यान्वित की थी उससे भी हम अवगत हैं। वस्तुतः 'गज गामिनि वह पथ तेरा संकीर्ण, कण्टकाकीर्ण' से प्रेरित हो छंद के जो बन्धन टूटे उससे हिन्दी भाषा का बड़ा कल्याण हुआ। निरालाजी ने लय एवं ताल के आधार पर मुक्त छंद की, सुश्री वर्मा ने रम्य गीत की एवं पन्तजी ने हिन्दी के मूल छंदों का चयन कर सङ्गीत एवं गीत को स्थानावस्थित कर भावानुकूल परिवर्तन करते हुए छंदों के क्षेत्र में एक नई क्रांति उपस्थित की थी।

शुक्लजी की विचार-समन्विति

(विशेषकर चिन्तामणि भाग १ के आधार पर)

बा० गुलाबराय एम० ए०

आचार्य शुक्लजी ने अपनी चिन्तामणि द्वारा हिन्दी निबन्ध-साहित्य को शैली की वैयक्तिकता और उसके पूर्ण सौष्ठव के साथ एक ठस और सुसङ्गत विचार सामग्री प्रदान की है। उनके निबन्ध विषयगत होते हुए भी केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों के उद्घाटन मात्र नहीं हैं वरन् उनमें शैली और विचार धारा का एक सुखद निजीपन है जिससे उनके हास्य-व्यङ्ग्य की प्रासङ्गिक चुटकियों ने और भी निखार दिया है। इस प्रकार वे पूर्णतया वैयक्तिक भी हैं। उनके निबन्धों को समझने के लिए उनकी प्रतिभा का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। उनकी प्रतिभा का मुख्य गुण है विषय-गतता (Objectivity) वे कोरे हवाई किले नहीं बनाना चाहते वरन् भावपक्ष को विभावपक्ष पर आश्रित रखना चाहते हैं। वे कलापक्ष को भी निरावलम्ब नहीं रखना चाहते इसीलिए वे रहस्यवाद के विरुद्ध हैं। (क्योंकि उसका विभावपक्ष जिज्ञासा का विषय है और उसमें मूर्तता, सगुणता और वैयक्तिकता नहीं है जो प्रेम के लिए आवश्यक है) और वे कोरे अभिव्यञ्जनावाद और कलावाद को साहित्य के लिए अहितकर समझते हैं।

शुक्लजी की विचारधारा में वैयक्तिता है किन्तु वह वैयक्तिता की पोषक नहीं है। वे कविता को लोक सामान्य की भाव-भूमि पर ला कर कवि के हृदय को वैयक्तिक क्षुद्रताओं से मुक्त कर देते हैं। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था (जिस में वह अपनी पृथक सत्ता को विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है) रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं......कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक-स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सञ्चार होता है। तुलसी, सूर और जायसी की व्यावहारिक आलोचनाएँ भी इसी मानदण्ड से प्रभावित हैं। तुलसी को उन्होंने इसी से शीर्ष-स्थान दिया है कि उसमें लोक-धर्म की प्रतिष्ठा है। जायसी में भी कुछ छाने के बहाने उन्होंने लोक-धर्म के कण खोज निकाले हैं यद्यपि मैं स्वयं उस उक्ति को लाक्षणिक ही समझता हूँ किन्तु उसमें लोक धर्म की स्थापना शुक्लजी की लोक-धर्म प्रधान मनोवृत्ति की परिचायक है। उनकी कला कला के लिए नहीं वरन् जीवन के लिए है जीवन की अनेक रूपता में उनका हृदय रमा है और उसी के अनुकूल भावों की अनेकरूपता चाही है। वे काव्य में जीवनगत मूल्यों को मान देते हैं। उनके लोक हित के आदर्श तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं उनके वन गमन के सौन्दर्य पर वे मुग्ध हैं क्योंकि उसमें लोक का आकर्षण है, उसमें कर्तव्य-पालन की ध्वनि है और वह शील समन्वित हैं 'सादर बारहिबार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं'। उनका शील उनके सौन्दर्य में वह गुण ले आता है जिसके आगे लोक हृदय को झुकना पड़ता है और वह अन्त में भक्तों के हृदय की कुटिलाई को हरता है—

'प्रभु सप्रेम पहिचानि सुहाई।
हरउ भगत मन के कुटिलाई॥

राम की शक्ति शील समन्वित होने के कारण रावण की सी साधुता परायण राक्षसता नहीं, जिसने देवताओं, ऋषियों और सात्विक वृत्ति के लोगों का नाक में दम कर रखा था उनकी शक्ति परेषां परिपीड़नाय न हो कर परेषां रक्षणाय थी। उनका क्रोध भी सात्विक क्रोध था जो दूसरों पर किये हुए अत्याचार को देखकर तिलमिला उठता है (चिन्तामणि में तुलसी का भक्ति-मार्ग और मानस की धर्म-

भूमि चाहिए)। उनकी प्रतिभा की विषयगतता के अनुकूल ही उनके मन में लोक-सामान्य की भाव-भूमि और लोक-धर्म की प्रतिष्ठा है उनके इस नैतिकतावाद में ही भारतीय साधारणीकरण की सङ्गति है। विचारों की अनुपम सङ्गति उनकी प्रतिभा की तार्किक विशेषता है।

चिन्तामणि भाग एक के भी दो भाग हैं—एक मनोवैज्ञानिक दूसरा साहित्यिक। मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी बहुत अंश में साहित्यिक ही हैं। उन निबन्धों में सात का सम्बन्ध तो सात रसों के स्थायी भावों से है। उत्साह का सम्बन्ध वीर रस से है इसको ही उन्होंने प्रथम स्थान दिया है क्योंकि उनका दृष्टिकोण कर्तव्य-परायण था। कविता में भी उन्होंने सिद्धावस्था की अपेक्षा साधनावस्था को जिसमें सुख-समाप्ति के उपभोग का नहीं वरन् उसकी प्राप्ति और उपलब्धि के अर्थ वीरतापूर्ण प्रयत्नों का जैसे रामचरित मानस में है वर्णन आता है, महत्व दिया है श्रद्धा-भक्ति में भी उनके काव्य के आदर्शों की झलक है। श्रद्धा और भक्ति दोनों में ही महान व्यक्तियों की महत्ता की आनन्दपूर्ण स्वीकृति रहती है। ईर्ष्या में दूसरे की महत्ता की दुखपूर्ण स्वीकृति होती है और उसकी महत्ता को नष्ट करने की प्रवृत्ति रहती है। श्रद्धा में उस महत्ता को स्वयं ही स्वीकार नहीं किया जाता वरन् दूसरों द्वारा भी उसके स्वीकार कराने में प्रसन्नता का अनुभव होता है। यही श्रद्धा और प्रेम में अन्तर है। प्रेम एकान्तिक होता है। वह प्रेमास्पद पर एकाधिकार चाहता है किन्तु श्रद्धा अपने भाव में दूसरे के सम्मिलित होने के लिए उत्सुक रहती है। भक्ति में श्रद्धा और प्रेम मिल जाते हैं और वह भक्त को कर्तव्योन्मुख बना कर उत्थान की ओर ले जाती है। "श्रद्धालु महत्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है; पर भक्त उसकी काट-छाँट में लग जाता है' जीवन का उत्थान ही शुक्लजी की सिद्धान्त-साधना का परम लक्ष्य है। करुणा तो रस के मूल में ही बैठी रहती है क्योंकि करुणा में ही परदुखानुभूति और सहानुभूति रहती है जो रस का मूल है—करुणा ही मनुष्य को लोकहिताय प्रवृत्त करती है और परपीड़न की अधमाई से बचाती है। करुणा को शुक्लजी ने व्यापक अर्थ में लिया है कौशिल्या की 'सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई, कौन बिरिछतर भीजत ह्वै हैं राम लखन दोऊ भाई' की वात्सल्यमयी चिन्ता और यशोदा की 'संदेसो देवकी सों कहियो' की सुख की निश्चयता में भी अनिश्चयता देखने वाली प्रेम की आशङ्काओं के चित्रण के साथ वियोगमयी नायिका की चिन्ता प्रेरित प्रियतम के अनिष्ट की आशङ्का भी आजाती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानू कछु होय।
जिसके कारण मैं जलों, वही न जलता होय॥

करुणा को ऐसा मनोवेग बतलाया है कि जो करुणा के पात्र से बदलने के व्यवहार की अपेक्षा नहीं करता। करुणा का बदला कृतज्ञता हो सकता है किन्तु करुणा नहीं (जैसा कि प्रेम में प्रतिस्पन्दन अपेक्षित होता है वैसा तद्रूप प्रतिस्पन्दन करुणा में नहीं)। लज्जा और ग्लानि का अन्तर भरत की ग्लानि की व्याख्या में सार्थक हुआ है। लोभ और प्रीति का अन्तर जायसी में रत्नसिंह के प्रारम्भिक प्रेम दशा की आलोचना में उपयोग में आता है। घृणा, भय, क्रोध, क्रमशः बीभत्स, भयानक और रौद्र के स्थायी भाव हैं। घृणा के वर्णन में वैयक्तिकता की अपेक्षा सार्वजनिकता को अधिक महत्व दिया गया है। 'वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक—पर घृणा का नाप उसका अधिकतर यही अनुमान होता है कि समाज के लक्ष्य का आदर्श का विरोध हुआ है' शुक्लजी का घृणा की भाव भौतिक की अपेक्षा सामाजिक और नैतिक अधिक है। घृणा और क्रोध को उन्होंने प्रेष्य मनोवेगों में रखा है अर्थात् जिनके द्वारा दूसरे के मन में भी समान भाव की उत्पत्ति होती है। इसलिए उन्होंने बतलाया है कि ये दोनों ही मनोविकार ऐसे हैं जिनको कि सावधानी से अपने मन में स्थान देना चाहिए। ये समाज की शान्ति को भङ्ग करते हैं। शुक्लजी ने उसी सात्विक क्रोध को महत्व दिया है जो अत्याचारी के अत्याचार देखने पर प्रकट होता है। वैयक्तिक क्रोध को वे उतना महत्वपूर्ण नहीं समझते। भय की स्थिति से बचने के लिए शुक्लजी ने दो ही उपाय बताये हैं:—एक यह हम किसी की हानि न करें और दूसरा यह कि हम में इतनी शक्ति हो कि दूसरे के आक्रमण को विफल कर सकें।

यहाँ पर शुक्लजी के द्वारा अनुमोदित भगवान राम के शील और शक्ति सम्बन्धी दैवी गुण आ जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी द्वारा जो मनोवेगों का विश्लेषण हुआ है उसमें लोक हित का प्राधान्य है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं साधारणीकरण लोक-सामान्य भाव-भूमि के नैतिक पक्ष का साहित्यिक पर्याय है। इन्होंने साधारणीकरण की समस्या का विवेचन साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य वाद के अध्याय में किया है। समस्या संक्षेप में इस प्रकार है कि अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तक क्रोचे (croce) ने दो तरह का ज्ञान माना है—एक कल्पना प्रसूत स्वयं प्रकाशमान (Intention) जो व्यक्ति का होता है। इसका सम्बन्ध कला और साहित्य से है और दूसरा बौद्धिक ज्ञान जिसका सम्बन्ध विज्ञान और दर्शन के सामान्य बोधों (Concepts) से है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं काव्य का विषय सदा विशेष होता है, 'सामान्य' नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है जाति नहीं। हमारे यहाँ साधारणीकरण पर महत्व दिया गया है। प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि क्रोचे का यह सिद्धान्त कि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तियों से है हमारे यहाँ के साधारणीकरण के सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं पड़ता है। इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया गया है 'विभादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त भावना के रूप में न आकर सामान्यतः व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ संकेत के रूप में आते हैं (कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के विषय व्यक्ति ही रहते हैं वे सामान्य या जाति नहीं बन जाते हैं) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है.......

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।'

शुक्लजी के उपर्युक्त विवेचन में भी कविता के सम्बन्ध में वर्णित लोक-सामान्य भाव-भूमि की झलक आ जाती है। कविता के आलम्बन में ऐसे गुण होते हैं जिनके कारण सभी लोग कविता के आश्रय के साथ तादात्मय कर लेते हैं। ऐसे आलम्बन के पीछे हमको तुलसी के राम झाँकते हुए दिखाई पड़ते हैं। शुक्लजी ने आश्रय के साथ तादात्मय के कुछ अपवाद भी बताए हैं जैसे पाठक लक्ष्मण के प्रति किए हुए क्रोध में परशुराम के साथ भाव तादात्म्य नहीं कर सकते हैं और न सीता के प्रति व्यक्त किए हुए रावण के भर्त्सना पूर्ण शृङ्गारिक भावों में योग दे सकते हैं। यहाँ पर शुक्लजी ने कवि या शील-द्रष्टा के साथ भाव-तादात्म्य की कल्पना की है। यद्यपि यह कल्पना नितान्त आवश्यक नहीं है। हम यदि रावण और परशुराम के साथ भाव-तादात्म्य नहीं कर सकते तो सीता और लक्ष्मण के साथ कर ही सकते हैं तथापि उनके शील-द्रष्टा में लोक-धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है।

शुक्लजी ने साहित्य का विषय व्यक्ति माना है किन्तु उसकी भी सीमा रखी है कि नितान्त विलक्षण न हो जाय। शुक्लजी ने शील वैचित्र्य को माना है। उन्होंने शील-वैचित्र्य तीन प्रकार का माना है। पहला जिसमें आश्चर्यपूर्ण प्रसाद न होता है, अर्थात् जहाँ शील का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है, जैसे भरत या सत्य हरिश्चन्द्र के चरित्र में, दूसरा आश्चर्यपूर्ण अवसादन जहाँ शील का चरम पतन दिखाई देता है, जैसे रावण या मिहिरकुल के चरित्र में। पहला चरित्र सात्विक की श्रेणी में आयेगा और दूसरा तामसिक की श्रेणी में। उनमें वैचित्र्य और असाधारणता होते हुए भी किसी विशेष वर्ग या प्रकृति के भीतर बांधे जाने की क्षमता रहती है। किन्तु एक तीसरा वर्ग भी माना गया है जो किसी वर्ग के भीतर न जाकर केवल कौतूहल वर्द्धक ही होता है। इसीलिए आचार्य शुक्ल जी ने डंटन (Theodre Watts Dunton) की निरपेक्ष या नाटकीय दृष्टिकोण को जिस संसार से विलक्षण को ही मान दिया जाता है अस्वाभाविक और असाहित्यिक

ठहराया है। शुक्लजी लिखते हैं :—'अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मन-बहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा।'

आचार्य शुक्लजी की विषयगतता ने प्रत्यक्ष में रसानुभूति के विधान की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है जिसको प्राचीन आचार्यों ने कभी स्वीकार किया है। 'हमें कहना यह है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलम्बनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है, वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलम्बन रहते हैं' ऐसी रसानुभूति दुखद अनुभवों के सम्बन्ध में भी हो सकती है, यदि उसमें वैयक्तिक सम्बन्ध से मुक्ति प्राप्त रहे। यदि कोई अपनी हानि के सम्बन्ध में न हो और शोक भी अपने सम्बन्ध में न हो तब वह इस दशा को प्राप्त होता है। इसीलिए शुक्लजी ने शोक और करुणा का भेद बतलाया है। शोक अपनी हानि के सम्बन्ध में होता है और करुणा दूसरे की हानि के सम्बन्ध में। शुक्लजी के इस वर्णन विवेचन की महत्ता स्वीकार करते हुए भी हमें कहना पड़ेगा कि रसानुभूति के लिए, हमको प्रत्यक्ष से कुछ ऊँचा उठना पड़ता है प्रत्यक्ष की रति में भी थोड़ा कल्पना मिला रहता है, चाहे वह कल्पना का व्यापार अप्रत्यक्ष ही क्यों न हो। इस प्रकार की रसानुभूति में शुक्लजी प्राचीन मत के अधिक निकट आजाते हैं, जिन्होंने मूल अनुकार्यों में रस माना था। कल्पना शील और संस्कारी पुरुषों के मन में ही करुणा जाग्रत होता है। प्रत्यक्षानुभाववाला बनकर ही रसानुभूति का विषय नहीं बनता वरन् उसमें थोड़ा कल्पना का पुट आवश्यक हो जाता है। Wordsworth के Recollected in tranquility' के सत्य को भी हमें न भूलना चाहिए। शुक्लजी ने स्मृति और कल्पना को प्रत्यक्ष पर आधारित किया है, इसमें किसी को मत भेद न होगा। रसानुभूति में प्रत्यक्ष को महत्ता देना शुक्लजी की विषयगत मनोवृत्ति का परिचायक है।

हिन्दी साहित्य में छायावाद का योगदान

श्री रामरेखा प्रसादसिंह, एम० ए०, बी० एल०

छायावादी कविता का विश्लेषण करते हुये उसके आलोचकों ने उस पर दोषारोपण किया है। उन्होंने बतलाया है कि उसमें अन्विति का अभाव है। उसके श्रेष्ठ कवियों की प्रौढ़तम कृतियों में भी असामञ्जस्य विद्यमान है। उसमें भावनात्मक सचाई (Sincerity) की कमी है। उसमें 'कल्पना का कलापूर्ण और मनोरञ्जक नृत्य है। भावों की नकली नक्काशी है तथा 'कल्पना की कलाबाजी' है। यह सम्पूर्ण काव्य प्रधानतः एक सङ्कीर्ण परिधि में ही चक्कर काटता रहा, नाना अर्थभूमियों में उसका प्रसार न हुआ। छायावादियों में शब्द-मोह, चित्र-मोह एवं कल्पना-मोह है जो जीवनानुभूति की क्षीणता के द्योतक हैं। इसके उच्चतम कवियों की कृतियों में भी विचारगत एवं रागात्मक असामञ्जस्य पाया जाता है। इनकी कविता में वास्तविकता पर बलात्कार है। यह सारा काव्य 'मूड' का काव्य है। वास्तविकता पर इन कवियों का अधिकार नहीं। फलतः छायावादी कवि अर्द्धसुप्त मनोदशाओं को व्यक्त करने के अभ्यस्त हैं। इनके काव्य में केन्द्रापगामिता दोष भी प्रायः पाया जाता है। इसके प्रवर्त्तकों में भी सुचिन्तित साधना का अभाव है। इनके काव्य में लोक-संवेदना भी तिरस्कृत है। इसी प्रकार की उक्तियों द्वारा उन्होंने छायावाद को लांछित किया है। पर, क्या समग्र छायावादी कविता दूषणों से भरी पड़ी है? वस्तुस्थिति तो यह है कि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में श्वेत एवं कृष्ण का सुघट समन्वय पाया जाता है। फलतः छायावादी कविता के भी दो पहलू दृष्टिगत होते हैं। छायावाद के दूषणों का ढिंढोरा पीटते हुए उसके कटु आलोचकों ने उस पर जो कीचड़ उछाला है उसकी संक्षिप्त रूपरेखा (Synopsis) उपयुक्त है। अब हिन्दी साहित्य में छायावाद के योगदान पर विचार करें।

छायावाद की शैलीगत विशेषताओं को यदि सूत्ररूप में कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि काव्य के क्षेत्र में द्विवेदीयुगीन रूखी इतिवृत्तात्मकता (Matter of fact) के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। उसके अभिधा प्रयोग के विरुद्ध लक्षणा एवं व्यञ्जना प्रयुक्त हुये। प्रतीकात्मक शैली को प्रश्रय मिला। विशेषण विशेष्य के हेतु प्रयुक्त हुए। भाववाचक शब्द अधिकाधिक प्रयुक्त हुए। विशेषण विपर्यय एवं मानवीकरण प्रभृति अलङ्कारों के बहुलता से प्रयोग हुए। भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा शब्द-सौन्दर्य पर कवियों की दृष्टि विशेषतः जम गई। अन्योक्ति पद्धति का आश्रय लेकर लक्षणा का चमत्कार कवियों ने दिखाया। वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी इन कवियों में पराकाष्ठा पर थी। छायावाद की वस्तुगत विशेषताओं में सौन्दर्य-भावना, प्रेम-भावना, मानव गौरव, व्यक्तिवाद अथवा आत्माभिव्यञ्जन, प्रकृति-भावना, दुखवाद, हालावाद, पुरातन के प्रति प्रेम, पलायनवाद, देश प्रेम, नीति-विद्रोह एवं रहस्यवाद सर्वप्रमुख हैं।

प्रतिपाद्य विषय के सम्यक् प्रतिपादनार्थ छायावाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालने के पूर्व दो शब्द छायावाद पर कहना अनावश्यक एवं असङ्गत न होगा। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में छायावाद के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने कहा है—'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमय अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।' उपर्युक्त कथन में स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति छायावाद की मौलिक विशेषता बतलाई गई है। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन स्थूल वर्णन के प्रतिक्रिया-स्वरूप जब स्वानुभूतियुक्त कविता को लक्ष्य बनाया गया तभी हिन्दी साहित्य के रङ्ग-मञ्च पर छायावाद उपस्थित हुआ। छायावादियों ने यह निश्चित विश्वास प्रकट किया था कि समग्र बाह्य जगत अन्तर्लोक की प्रतिच्छाया मात्र है। स्वभावतः अपने अन्तर्लोक के व्यञ्जनार्थ उन कवियों को नूतन शैली की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः नए ढङ्ग से उन्होंने भावाभिव्यञ्जन किया जिससे 'भङ्गीभणिति' से इस काव्य में हमें साक्षात्कार होता

है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इसी 'मनोभिराते' से अनुचित लाभ उठाकर कतिपय अयोग्य कवियों ने छायावाद की ओट में गीत-काव्य के अन्तर्गत अर्थहीन, निःसार साहित्य की रचना की जिससे सम्पूर्ण छायावादी कविता आलोचकों का कोप भाजन बनी।

द्विवेदीयुगीन साहित्य नैतिकता के भार से बेतरह दबा हुआ है। उस युग की पृष्ठभूमि पर हम स्वामी दयानन्दजी के आन्दोलन को पाते हैं जिसके फलस्वरूप शृङ्गारी प्रबन्ध से इस युग के कवि चौंके रहते थे। मानवी का वर्णन नैतिकता से सहमकर ये नहीं कर सके थे। Sex की भावना के मस्तिष्क में उठते ही ये डरने लगते थे। नैतिक आतङ्क से सहम कर अपनी हृद्गत भावनाओं का प्रकाशन ये नहीं कर सके। इस काल के सामूहिक पवित्रतावादी नवोत्साहपूर्ण वातावरण में स्थूलता एवं कृत्रिमता की छाप देखी जाती है। फलतः कविता की बारीकियाँ, रङ्गीनियाँ तथा सरसता नष्ट हो गईं। किन्तु इसके विपरीत छायावादी कविता की नूतन शैली में वस्तुन्मुखी शुष्कता एवं इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भाव विदग्धता तथा अर्थ-वैचित्र्य का समावेश हुआ। हिन्दी कविता का यह उत्तरोत्तर विकास था, कोई अप्रत्याशित घटना न थी। द्विवेदी युग तो खड़ी-बोली की कविता का शैशव-काल था। छायावाद उसका युवा-काल हुआ। अतः द्विवेदीयुगीन काव्य-शिशु के अवयव इस काल में पुष्ट हुए। छायावादी कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल पर काव्य की शैली एवं विषय दोनों में आमूल परिवर्तन किये। और सच तो यह है कि छायावाद का जन्म ही विद्रोह में है। भावनाओं एवं विचारों के साथ शैली तथा कला के क्षेत्र में भी इस विद्रोह के पुष्ट परमाणु द्रष्टव्य हैं। विचार के क्षेत्र में सर्वप्रथम नैतिक बन्धनों के विरुद्ध मानसिक स्वातंत्र्य का बोलबाला हुआ। इस युग के कतिपय स्वच्छन्द कवियों ने नीति एवं धर्म की बेड़ियाँ तोड़ने में भी सफलता प्राप्त की।

छायावादी कविता का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इसमें बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक विश्व को, शरीर की अपेक्षा आत्मा को, इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा व्यञ्जना वृत्ति को, चित्र-काव्य एवं गुणीभूत व्यंग्य की अपेक्षा व्यंग्यात्मक काव्य को तथा अभिधा की अपेक्षा लक्षणा को कवियों ने विशेष चाव से अपनाया। अतः छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता के प्रवाह की स्वाभाविक गति का ही परिणाम है बँगला तथा अँगरेजी की जूठन मात्र नहीं। यह सर्वविदित है कि हिन्दी में एक प्रकार के स्वच्छन्दवाद की स्वाभाविक धारा का विकास ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीधर पाठक, पं० बदरीनाथ भट्ट, श्री मुकुटधर पांडेय एवं श्री रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति की रचनाओं में शनैः शनैः स्वतः होता आ रहा था।

छायावादी कविता को पाकर भाषा का बड़ा विकास हुआ। इस कविता में शब्द-शक्तियों के जैसे सुघर प्रयोग हुए, वैसा अन्यत्र किसी भी काल के साहित्य में न हुआ। भाषा के अवयवों को पुष्ट करने के कारण हिन्दी साहित्य छायावाद का चिर-ऋणी रहेगा। छायावादी कविता में नवीन विषय एवं नूतन शैली के सूत्रपात की चर्चा हो चुकी है। किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि शैली एवं विषय की नवीनता से बाह्य संसार की बातें सर्वथा उपेक्षित एवं अनादृत न हुईं। निःसन्देह बाह्य जगत की अपेक्षा आन्तरिक प्रभाव को इन कवियों ने प्राधान्य दिया। फिर भी आन्तरिक आह्लाद को उत्पन्न करने में जहाँ तक वे प्रेरणा देते हैं उनका भी वर्णन हुआ है। छायावादियों के इस प्रयत्न में विषय गौण हो गया तथा कवि के व्यक्तित्व को प्राधान्य मिला। फलतः आभ्यान्तरिक गीति काव्य की सृष्टि छायावाद में प्रधानतः हुई। मुक्तकों में आत्माभिव्यञ्जन सहज ही हो जाता है। अतः कवियों ने गीति-काव्य को साधन बनाया तथा आत्माभिव्यञ्जन को साध्य। वस्तुतः 'कामायनी' 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' प्रभृति कतिपय कथा-काव्यों के अतिरिक्त समग्र छायावादी कविता कथा-तत्व की दृष्टि से सूना है।

छायावादी कविता में प्रकृति को अत्यधिक प्रधानता दी गई। प्रकृति की सुषमामयी गोद में भाव-विह्वल होकर उसका बड़ा कलात्मक चित्रण छायावादी कवियों ने प्रस्तुत किया। निरालाजी ने 'जूही की कली', 'शेफालिका' प्रभृति में जिस सूक्ष्म प्राकृतिक पर्यवेक्षण का परिचय दिया है वह हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व वस्तु है। छायावादी कवियों की प्रकृति विषय-

गहरी आसक्ति के फलस्वरूप लोगों की धारणा हो गई कि छायावादी-काव्य प्रकृति-काव्य है। किन्तु वस्तु-स्थिति उससे कोसों दूर है। छायावादियों में प्रकृति प्राङ्गण से एक अलौकिक चेतना का स्फुरण हुआ। फलतः उच्चकोटि का प्राकृतिक चित्रण इन्होंने प्रस्तुत किया जो छायावाद का अन्यतम योगदान हिन्दी साहित्य को हुआ। प्रकृति-सुन्दरी में छायावादियों ने चेतना का आरोप कर उसका मानवीकरण भी यत्र-तत्र किया जिससे चर-अचर में साम्य की भावना का दिग्दर्शन हुआ। छायावादी कविता में आलम्बन रूप में ही प्रकृति चित्रित होकर स्वतन्त्र रूप में भी व्यवहृत हुई। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि प्रकृति के राग समन्वित कोमलरूप पर ही इन कवियों की दृष्टि गई, प्रचण्ड एवं परुष पर नहीं। हालांकि निरालाजी एवं प्रसादजी ने यत्र तत्र कतिपय प्राकृतिक उपादानों का गर्जन भी सुना है।

समग्र छायावादी काव्य कोमलता एवं भावुकता का चरम निदर्शन है। श्रुति-प्रिय शब्दों को चुनचुन कर इस काव्य में गुम्फित किया गया है। सुन्दर शब्द-कोष और कोमल-मधुर अनुभूतियाँ छायावादी काव्य की ऐतिहासिक देन है। छायावाद मूलतः उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह था। फलतः इस काव्य में वैयक्तिकता का विस्फोट पाते हैं और तदनुसार उन्मुक्त आत्माभिव्यंजन की प्रधानता दीख पड़ती है। कवियों ने प्रतिभा एवं रुचि के संयोग से जिस सौन्दर्य से परिपूर्ण काव्य की सृष्टि की वह समग्र हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व वस्तु थी। छायावादी सौन्दर्य-सृष्टि रीतिकालीन स्थूल ऐन्द्रियता और द्विवेदीयुगीन बौद्धिक शुष्कता के बीच का स्वर्णिम मध्य (Golden mean) का मार्ग था। इस काव्य में शृङ्गार की धारा प्रच्छन्न रूप में प्रवाहित हुई थी। एक अशरीरी सौन्दर्यप्रियता के पुनरुत्थान (Renaissance) का यह युग था। इसमें प्रेम भी बड़े सूक्ष्म रूप से वर्णित हुआ। उसका सौन्दर्य एकदेशीय नहीं, प्रत्युत सार्वदेशिक है। इसकी नारी-सृष्टि भव्य है रीतिकालीन नारी के सदृश विलास की क्रीत दासी नहीं। श्रद्धा (कामायनी) के दर्शन समग्र हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं होते। 'जूही की कली' 'बीती विभावरी जाग री' 'तुमुल कोलाहल कलह में' प्रभृति गीत छायावादी कविता की उत्कृष्टता के परिचायक हैं। छायावादी कवियों के द्वारा हिन्दी साहित्य की जो श्री-वृद्धि हुई तथा वह सफलता के जिस सोपान पर अग्रसर हुआ उसका विवेचन पिष्टपेषण मात्र होगा। पन्तजी ने छायावाद की वयः संधि की धूप-छाँह को, प्रसादजी ने उसके यौवन-विलास को, निरालाजी ने उसकी रतिक्रीड़ा और शक्ति को तथा महादेवीजी ने उसकी अतृप्त वेदना को वाणी प्रदान की है। निरालाजी में छायावाद के पौरुष की झाँकी मिलती है तथा पन्तजी में छायावादी कोमलता एवं अरुणिमा के दर्शन होते हैं। छायावाद की कुहेलिका महादेवीजी में द्रष्टव्य है। और प्रसादजी तो उसके प्रतिनिधि ही ठहरे। इसके अतिरिक्त सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, मोहनलाल महतो वियोगी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, नरेन्द्र शर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन', शुभद्रकुमारीसिंह, रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल', गोपालसिंह नेपाली, रामधारीसिंह 'दिनकर', हरिकृष्ण प्रेमी, आरसीप्रसाद सिंह, उदयशङ्कर भट्ट, इलाचन्द्र जोशी प्रभृति ने भी इस काव्य धारा में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उपर्युक्त कवियों की कुशल लेखनी से निःसृत छायावादी कविताओं ने हिन्दी साहित्य के भण्डार भरने में यथेष्ट सहायता की। निःसन्देह हिन्दी साहित्य को समुन्नत बनाने में छायावाद का सर्वप्रमुख हाथ रहा है। 'पल्लव', 'तुलसीदास' 'कामायनी', एवं 'दीपशिखा' हिन्दी साहित्य के प्रकाश स्तम्भ हैं।

छायावादी कविता में सृष्टि की यावत् उपेक्षित वस्तुओं को महत्व दिया गया। (इन) कवियों की दृष्टि अपरिमित न रही। उनके हृदय का प्रसार हुआ और सृष्टि का चप्पा-चप्पा काव्य विषय में समाविष्ट हुआ। मानवता का मूल्य इस युग में आँका गया। छायावाद का उदर पेट बड़ा विस्तृत है। और तो और रहस्यवाद भी इससे सम्बद्ध है।

छायावादी कविता ने छन्दों के क्षेत्र में भी आमूल परिवर्तन हुए। नवीन संस्कृत छन्द प्रयुक्त हुए। मात्रिक छन्दों में कवियों ने कुछ ऐसा निखार लाया कि उनके प्रत्येक चरण में विभिन्न छन्दों के चरण प्रयुक्त हुए। भावाभिव्यंजन की सफलता के हेतु किसी भी चरण की मात्राओं को घटाने

(शेष पृष्ठ २८ पर देखिये)

'कला पूर्णोदय' की कथा

श्री बी० सी० रामास्वामी, एम० ए०, साहित्यरत्न

आन्ध्र-साहित्य के इतिहास में प्रबन्ध-युग का स्थान सब से ऊँचा एवं श्रेष्ठ माना जाता है। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के रीति-काल में लगभग एक ही रीति या प्रणाली के आधार पर तरह तरह के सैकड़ों प्रबन्ध-काव्य या उदाहरण ग्रन्थ लिखे गये, ठीक उसी प्रकार आन्ध्र साहित्य के इस प्रबन्ध-युग में एक ही प्रणाली पर सैकड़ों काव्यों की रचना हुई। दोनों साहित्यों के अर्थात् आन्ध्र साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य के तुलनात्मक-अध्ययन करते समय यह देखकर हम चकित हो जाते हैं कि अलग-अलग प्रान्तों के इन भिन्न-भिन्न साहित्यों में यह साहित्यिक-एकता या समता कैसे सम्भव हो सकी। अस्तु, इसका समुचित समाधान आगे चलकर दिया जाय।

उपर्युक्त 'कलापूर्णोदय' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना ईसा की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई। महाकवि पिंगल सूरनार्य ने इस पद्य-प्रबंध की रचना की। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है—घटना चमत्कृति अर्थात् विचित्र तथा रोचक घटनाओं की कल्पना। पूर्वोक्त घटनाओं को पढ़ने से पाठकों की उत्सुकता एवं जिज्ञासा-वृत्ति उत्तरोत्तर घटनाओं की ओर आप ही आप बढ़ जाती है और सम्पूर्ण काव्य को खतम किये बिना पाठकों से न रहा जाता। इसकी दूसरी विशेषता है—पात्रपोषण भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्तियों में जो अलग-अलग प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, वे सब इस काव्य के पात्रों में लक्षित होता हैं। इसके अतिरिक्त दुनियाँ में एक ही आकार स्वरूप के दो व्यक्तियों के अस्तित्व से जो-जो भ्रमात्मक घटनायें हो सकती हैं उनकी भी सूचना प्रस्तुत काव्य में पाई जाती है।

यहाँ पर पाठकों का ध्यान एक बात की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। इस काव्य की घटनाओं का अध्ययन करते समय हमें अंग्रेजी महाकवि शेक्सपियर महोदय के घटना-वैचित्र्य (Comedy of errors) स्मरण आ जाता है। दोनों काव्यों का कथानक एक ही है। यद्यपि शेक्सपियर महोदय का ग्रन्थ नाटक है और सूरनार्य का काव्य प्रबन्ध है, फिर भी इसमें कोई संकोच नहीं कि दोनों काव्यों की कथा, उनका घटना-क्रम और उनका पात्र पोषण बिलकुल एक ही तरह चित्रित होते हैं। सबसे अचरज की बात यह है कि इंगलिस्तान में रहने वाले शेक्सपियर की कृति और दक्षिण भारत में रहने वाले सूरनार्य की कृति इन दोनों में एकता या समता कैसे सम्भव हो सकी?

संसार के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शेक्सपियर और सूरनार्य दोनों समकालीन कवि थे। उन दिनों में अंग्रेजी लोग हमारे भारत-वर्ष से तिजारत करते थे। उस समय दक्षिण-भारत में विजय-नगर साम्राज्य बड़ी उच्च दशा में थी और अंग्रेजी-व्यापारी लोग या तो आश्रय के लिये या अपने व्यापार के प्रचार के लिये राज-दरबार में आया-जाया करते थे। उन अंग्रेजी व्यापारियों में कुछ लोग व्यापार की सुविधा के लिये भारतवर्ष की भाषाएँ भी सीखा करते थे। उसी समय इधर "कलापूर्णोदय" की रचना हुई और उसकी प्रशंसा चारों ओर बड़ी धूम धाम से होने लगी।

शायद किसी अंग्रेजी व्यापारी ने यह कहानी सुनी होगी और इन व्यापारियों के जरिये यह विचित्र-कथावस्तु शेक्सपियर तक पहुँची होगी; लेकिन यह विषय उतना युक्ति संगत नहीं जंचता; क्योंकि शेक्सपियर जैसे महाकवि किसी दूसरे का अनुकरण करने में उन्मुख न हुआ होगा।

दूसरी बात जो इसके बारे में सूझती है वह यह है कि पहले शेक्सपियर ने अपना नाटक लिखा होगा और अंग्रेजी व्यापारियों के द्वारा उसकी कथावस्तु हमारे दक्षिण भारत के विजयनगर साम्राज्य में पहुँची होगी, जिसके अनुकरण पर "कलापूर्णोदय" लिखा गया होगा। लेकिन यह बात भी शंकास्पद है; क्योंकि एक तो सूरनार्य दरबारी कवि नहीं कि अंग्रेजों का प्रभाव सीधे उस पर पड़े और दूसरी बात तो यह है कि कलापूर्णोदय की कथावस्तु पौराणिक-

ग्रन्थों के आधार पर लिखी गयी। अगर शेक्सपियर के नाटक की सुनी-सुनाई बातों पर लिखी जाती तो उस काव्य में शायद इतनी जातीयता एवं भारतीय-संस्कृति की छाप दिखाई नहीं पड़ती।

इसके बारे में मेरा विनीत निवेदन यह है कि शायद विश्व-साहित्य में इस प्रकार के साहित्यिक-सादृश्य पाये जा सकते हैं; क्योंकि कवि हृदय एक ही है, यद्यपि वे कवि अलग अलग देशों में रहते हैं। आदर्श प्राय कवि के लिये देश और काल का कोई अन्तर नहीं होता। कालिदास और शेक्सपियर के काव्यों में ऐसे सादृश्य पाये जाते हैं; लेकिन उनके आधार पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उन दोनों महाकवियों में से किसी एक ने दूसरे का अनुकरण किया। कहने का सारांश यह है कि संसार के भिन्न-भिन्न साहित्यों में कुछ सादृश्य या सामान्य लक्षण पाये जाते हैं। इसके सम्बन्ध में मेरा और एक निवेदन यह है कि हिन्दी तथा आन्ध्र इन दोनों साहित्यों में कुछ ऐसे ही सादृश्य या सामान्य लक्षण दिखाई पड़ते हैं, जिनका उल्लेख मैंने अपने 'साहित्यिक-सादृश्य-संदर्शन' में विशेष रूप से किया। अस्तु। 'कला पूर्णोदय' की कथा इस प्रकार है।

कथा—भारतवर्ष में 'द्वारका' नामक एक नगर था जिसमें भगवान श्रीकृष्ण रहते थे। उस जमाने में द्वारका सब तरह की संपत्तियों का निलय था और उस नगर के निवासी नृत्य, संगीत, साहित्य वगैरह तरह-तरह की कलाओं में निपुण तथा कुशल माने जाते थे।

उस नगर में 'कलभाषिणी' नामकी एक कन्या थी, जिसका बाप एक मशहूर नट-वर था। कलभाषिणी बड़ी ही खूबसूरत, होशियार और समझदार लड़की थी। उसने अपने बाप के द्वारा नृत्य, सङ्गीत, चित्र-लेखन आदि कलाएँ सीख लीं और गान-कला में अनुपम निपुणता प्राप्त की। लोग उसके गीत सुनने के लिए अक्सर जाया करते थे और उसकी गान-कला पर मुग्ध हो जाते थे। धीरे-धीरे उसका नाम चारों ओर फैल गया और सब लोग उसकी गान-विद्या की तारीफ करने लगे।

कलभाषिणी कभी-कभी आराम लेने तथा खुली हवा खाने के लिये नगर के उप-वन में जाया करती थी। एक दिन जब कलभाषिणी अपनी सहेलियों के साथ उस उपवन में टहल रही थी, तब महर्षि नारद गगन-मार्ग से आते हुए दिखाई पड़े। नारदमुनि श्रीकृष्ण-भगवान की उपासना करने के लिए उस समय स्वर्ग-लोक से द्वारका आ रहे थे। उसके साथ 'मणिकन्धर' नामक एक गन्धर्व-कुमार भी था, जो गान कला सीखने के लिए नारद मुनि का शिष्य बन गया। जाते-जाते नारद मुनि ने जब उस उपवन की ओर देखा, तब कलभाषिणी दिखाई पड़ी। कलभाषिणी को देख कर नारद ने मणिकन्धर से कहा—"मणिकन्धर! देखो उस कन्या का अलौकिक-सौन्दर्य। उसे देखने से मालूम होता है कि नाग-लोक की सबसे सुन्दर रमणियाँ भी इसकी सानी नहीं रखती हैं। ऐसी सुन्दर कन्या कमने अब तक कहीं नहीं देखा।"

नारद मुनि तथा मणिकन्धर कलभाषिणी के बारे में बात कर रहे थे। इतने में नलकूबर अपनी प्रियतमा रम्भा के साथ वायुयान पर चढ़ कर उसी तरफ से कहीं जा रहा था और उनका भी वायुयान वहाँ आ पहुँचा। नारद ने कलभाषिणी की जो प्रशंसा की वह रम्भा के कान में पड़ी। असल में रम्भा अनुपम रूपवती थी और रम्भा अपने रूप-लावण्य के प्रति बड़ी घमण्डी भी थी। जब कलभाषिणी की तारीफ रूप-गर्विता रम्भा को सुनाई पड़ी, तब उसका मुख-कमल मुकुलित हो गया और वह चिन्तित हो गई। कुछ देर के बाद उसने नलकूबर से कहा—"हमारा नभयान सीधे नारदमुनि के पास जाने दीजिये।" रम्भा की इच्छा के मुताबिक वायुयान नारद के पास पहुँचा। रम्भा एवं नलकूबर दोनों ने महामुनि नारद को प्रणाम किया और नारद ने आशीर्वाद दिया "तुम दोनों का अन्योन्य प्रेम दिन दुगुना रात चौगुना हो कर बढ़े।" यह सुनकर रम्भा ने कहा—"हे मुनिवरजी, इसमें कोई शङ्का नहीं कि अब तक मुझे नलकूबर का प्रेम प्राप्त हुआ; लेकिन अब मेरे मन में यह शङ्का उत्पन्न हो गई है कि शायद आगे चलकर नलकूबर का उतना प्रेम मुझे अप्राप्य होगा जितना अब तक है; क्योंकि अभी मैंने समझ लिया कि भूलोक में मेरी जैसी सुन्दर रमणियाँ पैदा हुई हैं।

विदग्ध समालोचक चतुर्वेदीजी की सन्तुलित शैली

श्री देवव्रत शास्त्री

साहित्यकार और समालोचक—साहित्यकार अपने जीवन की अनुभूतियों का भावन कर उन्हें संवेद्य बनाने के लिए कला द्वारा अभिव्यञ्जन करता है और समालोचक उस अभिव्यञ्जन का विवेचन कर उसका मूल्याङ्कन करता है। कवि या साहित्यकार भावुक इसलिये कहा जाता है कि उसमें अपनी भावना को अभिव्यञ्जित करने की कला निहित रहती है। वह संवेदनाशील और सहृदय होता है, लेकिन समालोचक में एक खास तरह की ऐसी कला रहती है, जिसके द्वारा वह भावन का विवेचन करता है; इसलिए वह भावुक नहीं बल्कि भावक कहलाता है।

समालोचना शैली का स्वरूप—समालोचना के पूर्व समालोचक समालोच्य वस्तु का मुख्य भाव समझता है। भावग्रह के साथ वह समस्त वाङ्मय विषयक परिचय-चारुता के आधार पर उस वस्तु की अन्तरङ्ग बहिरंग समीक्षा करता है। जैसी समीक्षा के लिये समालोचक को एक दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है वस्तुतः उस दृष्टिकोण का नाम ही शैली है।

शैली का कार्य—शैली समालोचना की बुनियाद बन कर एक ऐसी इमारत का निर्माण करती है जिसके निम्नाङ्कित चार प्रवेश द्वार हैं—

१—अन्तः प्रकृति का विश्लेषण।

२—विशेषता का अन्वेषण।

३—अभिव्यञ्जना का विवेचन।

४—सिद्धान्त के अनुसार मूल्य निर्धारण।

यही चार शैली के मुख्य कार्य हैं। इनको आधार या माध्यम बना कर समालोचना कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है। लेकिन सफलता और सिद्धि तभी मिलती है, जब समालोचक में हृदय और मस्तिष्क का सन्तुलन रहता है। सन्तुलन का तात्पर्य केवल 'वजन दुरुस्ती' ही नहीं है, बल्कि समालोचनशास्त्र के अनुसार 'सन्तुलन' वह शक्ति है, जिसमें विषय विवेचन करने के लिए 'नीर-क्षीर-विवेक' निहित रहता है। कृति और कर्त्ता के सम्बन्ध में सुनी-सुनायी या भ्रान्ति वश एक धारणा बना कर यदि उसकी आलोचना की जाती है तो वह सन्तुलित आलोचना नहीं कही जा सकती। उसमें हृदय और मस्तिष्क का पार्थक्य और असन्तुलन तिल-तण्डुल की भाँति स्पष्ट जान पड़ता है।

आलोच्य वस्तु की अन्तः प्रकृति का विश्लेषण भावग्रह द्वारा किया जाता है। भावग्रह द्वारा की गई व्याख्या ही विशेषताओं के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। अभिव्यञ्जनों का विशद और तात्त्विक विवेचन करने में वही समालोचक सफल होता है, जो वस्तु का अभिव्यञ्जन करने से पूर्व अपना भावन या विवेचन करता है।

सिद्धान्त के अनुसार आलोच्य वस्तु का मूल्याङ्कन करना समालोचना का महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसे तत्त्वनिरूपण या मीमांसा भी कह सकते हैं। इसके लिए समालोचक को भावक के साथ ही भावुक भी बनना पड़ता है और साथ ही समालोचना के दोनों पक्षों—व्याख्या और निर्णय को अपनाना पड़ता है। आलोच्य वस्तु की व्याख्या या विवेचन के लिए समालोचक को अपने व्यक्तिगत सिद्धान्तों की अपेक्षा नहीं हुआ करती बल्कि उसे नये शास्त्रीय सिद्धान्त निश्चित करने पड़ते हैं। इन्हीं निश्चित सिद्धान्तों को समीक्षा में प्रवर्तित कर समालोचक आलोच्य वस्तु की सन्तुलित समीक्षा करने के समर्थ हुआ करता है। ऐसा दृष्टिकोण (शैली) अपनाने से समालोचक और समालोच्य वस्तु की स्वतः अभिव्यञ्जना हुआ करती है। ऐसे अवसर पर समालोचक साहित्य की सम्यक् समालोचना करने के लिए—

(१) भावग्रह

(२) निर्णय

(३) तत्त्वनिरूपण

(४) आत्माभिव्यञ्जन

इन चार समालोचना के पक्षों को आधार बनाता है। ये चार पक्ष ही समालोचक की शैली की अभिव्यक्ति बन-

जाते हैं। तदनुसार कोई समालोचक चारों पक्षों में किसी एक पक्ष को अङ्गीकार कर समालोचना किया करते हैं और कोई चारों को एकत्र कर। लेकिन हर शैली में समालोचक का आत्माभिव्यञ्जन रहता है। इस प्रकार की समालोचना साहित्य समालोचना कही जाती है।

हिन्दी-साहित्य-समालोचकों के रूप—हिन्दी में मुख्यतया समालोचना के तीन स्टेज हैं ये तीन स्टेज वही हैं जो हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के हैं। तीसरे स्टेज को सँवारने सुधारने और व्यापक बनाने का श्रेय बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल को है। जो कमी रह गई थी उसे वर्तमान विदग्ध समालोचक पं० परशुराम चतुर्वेद पूर्ण करने में निरत हैं।

चतुर्वेदीजी का समालोचक रूप—सन्त साहित्य को अपनी समीक्षा का केन्द्र-बिन्दु बना कर चतुर्वेदीजी ईमानदारी, साहस और साधना के साथ समालोचना क्षेत्र में अवतीर्ण हुये हैं। इनमें भावकता, भावुकता, मार्मिकता और विदग्धता के साथ ही विश्लेषण, संश्लेषण, तुलना और विवेचन करने की शक्ति है। समालोचना के जिस ढङ्ग को लेकर यह आगे बढ़े हैं वह सन्तुलित और संवेदनशील है। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अन्तः प्रकृति का विश्लेषण और विशेषता का अन्वेषण, आलोचना के ये दोनों ढङ्ग पाश्चात्य हैं, लेकिन यदि प्राचीन भारतीय साहित्य का आलोचन किया जाय तो ये दोनों पद्धतियाँ परम्परागत भारतीय ही जान पड़ती हैं। सत्रहवीं शती के सुप्रसिद्ध आलोचक हरिभद्र सूरि ने इस आलोचना पद्धति को अधिक बल प्रदान किया है। हाँ, इस सत्य से इनकार भी नहीं किया जा सकता कि हिन्दी की वर्तमान आलोचना पद्धति को सँवारने, सजाने और व्यापक बनाने में यूरोपीय आलोचना पद्धति का बहुत बड़ा हाथ है। इस प्रकार की आलोचना पद्धति को प्राचीन भारतीय साहित्य में 'मीमांसा पद्धति' कहा जाता था। मीमांसा पद्धति में समालोचक के कला और हृदय दोनों पक्ष विद्यमान रहते हैं। इसी मीमांसा पद्धति को परशुरामजी अङ्गीकार कर मीमांसक या समालोचक बने हुये हैं। ऐसे समालोचक विदग्ध कहे जाते हैं और इनकी शैली में समन्वय एवं सन्तुलन रहा करता है। वे किसी वाद या मत पर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना से पूर्व उसके पूर्व पक्ष का अध्ययन अन्तः साक्ष्य के आधार पर किया करते हैं। ऐसा निर्णय अहमियत रखता है उसमें निष्पक्षता और नीर क्षीर विवेक रहता है।

श्री परशुरामजी की शैली—शैली में लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब रहता है व्यक्ति की समस्त व्यक्तिगत विशेषतायें शैली की विशेषतायें बन जाती हैं। मानस-शास्त्र का सिद्धान्त है कि 'शैली किसी व्यक्ति का लेखक रूप है" इस सिद्धान्त के अनुसार चतुर्वेदीजी की तनी मूँछें आलोचना में उनकी निर्णय दृढ़ता व्यक्त करती हैं। अपलक, सवेष्ट, तेजस्वी आँखें आलोच्य वस्तु की विशेषता का गवेषण करती हैं, उनका प्रशस्त ललाट, गम्भीर मुख-मुद्रा अन्तः प्रकृति का विश्लेषण करती हुई सी जान पड़ती है। आलोचना में चरित्र बल और मानवता को ही मान-दण्ड मानना, उनके समुज्ज्वल चरित्र और आत्माभिव्यञ्जन का परिचायक है। विषय और कलाकरण के अनुसार उनकी आलोचना शैली में उत्तरोत्तर वैविध्य भी है।

चतुर्वेदीजी की समालोचना कृतियों में उनकी रचना-शैली निम्नाङ्कित रूपों में व्यक्त हुई है:—

(१) शिष्टवादिता,

(२) वाक्यार्थ सम्पृक्तता,

(३) प्रबुद्ध भाषा।

(१) शिष्टवादिता में आपकी विवेचना प्रवृत्ति मुखरित हुई है। कहीं से भी आक्रोश या कटुता और व्यंग की छाया नहीं आने पायी। इसका कारण है, कि आप विशाल जन समुदाय को 'मानव महासमुद्र' मानते हैं। इस अनन्त और यथार्थ की उपासना में आपकी भावना और चेतना व्यक्त बनती है। किन्तु संस्कारगत वैष्णवता और प्रतीकोपासना की स्मृति छाया की भाँति उसके साथ रहती है। आस्तिक भावना विवेचना की लम्बी काया में साकार रूप धारण कर समाविष्ट हो जाती है।

"वास्तव में ये अवतार भगवान अथवा विष्णु के न्यूनाधिक ईश्वरीय गुणों का आदर्श स्थापित करने के लिए ही हुआ करते हैं। यह उसके जागतिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसके उच्चतम आदर्शों को व्यक्तित्व के

अनुसार प्रकट करते हैं। फिर भी इन्हें उसमें नित्यवतार की कोटि में रखा गया है और उसके 'गुणावतार' की कोणी में दूसरों की गणना की जाती है।"

(वैष्णव धर्म पृष्ठ ५८)

× × ×

"परन्तु इस प्रकार की अवतार सम्बन्धी कल्पनाओं का बाहुल्य अधिकतर गुप्त थल से ही दीख पड़ता है। यों तो अवतारवाद, अपने बीज रूप में वैदिक काल से ही लक्षित होने लगा था और इसका क्रमिक विकास धीरे होता गया था।" (वैष्णव धर्म पृ० ५६)

(२) वाक्यार्थ सम्पर्कता इनकी शैली की दूसरी विशेषता है। चतुर्वेदीजी की शैली में वाक् और अर्थ दोनों इस प्रकार परस्पर सम्पृक्त रहते हैं कि लेखक के भावों और विचारों को बड़ी ईमानदारी और संवेदना से अपनी भाषा में व्यक्त करते हैं।

"गोस्वामी तुलसीदास ने अनन्यता वाले इस गुण को चातक-पक्षी के स्वभाव द्वारा भी स्पष्ट किया है। उन्होंने उसके विषय में चातक चौंतीसी के रूप में कुछ दोहे लिखे हैं, जिनमें उसके दृढ़ प्रण की प्रशंसा इन्होंने मुक्त कण्ठ से की है। इस सम्बन्ध में इन्होंने प्रत्येक बात को व्यक्तिगत-रुचि द्वारा सरस बना कर कहा है और उस पक्षी के वर्णन में एक सजीवता ला दी है। उस पक्षी के स्वभाव को अपने ऊपर भी घटाते हुये वे कहते हैं—

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥"

(तुलसी महोत्सव भाषा पृ० ४)

उपर्युक्त इस उद्धरण में तुलसीदासजी की भावनाओं और उनके विचारों को ईमानदारी और संवेदना पूर्वक व्यक्त करने में चतुर्वेदीजी के वाक् और अर्थ एक दूसरे से नितप सम्पृक्त हैं।

(३) प्रबुद्ध भाषा चतुर्वेदीजी की सहज बौद्धिक सम्पत्ति सी जान पड़ती है। समस्त पदों का अभाव इसलिए रहता है कि वे जैसा सोचते हैं, वैसा कहते हैं, और जैसा कहते हैं, वैसा ही लिखते भी हैं। विचार प्रधान शैली होते हुये भी छोटे छोटे वाक्य गम्भीर तथा विषय को सुगम-सुबोध बनाने में सक्षम हैं। वाक्य रचना में भावना बँधी रहती है और कहीं कहीं वाक्यों में अर्थ परम्परा भी बँधी हुई पायी जाती है। प्रायः ऐसे वाक्य अधिकतर उपसंहारात्मक ही होते हैं—

"मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि आज तक के आलोचकों ने उनकी रचनाओं का अध्ययन व्यापक रूप में नहीं किया है। कुछ विद्वानों ने ऐसा अवश्य किया है, किन्तु उस दिशा में भी उन्होंने जिस मानदण्ड का उपयोग किया है वह अधिकतर भारतीय ही रहता आया है। जैसे, गो० तुलसीदास के काव्य की परीक्षा उन्होंने बहुधा उसे भारतीय साहित्य शास्त्र द्वारा अनुमोदित नियमों के अनुसार जाँच करती है और उनकी भक्ति की उन्होंने साधारण साम्प्रदायिक भक्ति-मार्ग के अनुकूल ठहरा कर उसकी उत्कृष्टता सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं। (भाषण-तुलसी महोत्सव पृ० ३) सुनते हैं, कि चतुर्वेदी एक सफल एडवोकेट भी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी शैलीगत विशेषताओं में जगह-जगह वैज्ञानिकता की छाप रहती है। भाषा संयत, सुभाषित और परिमार्जित होने के साथ ही उसका स्वरूप तर्क और प्रमाणों से आबद्ध रहता है।

चतुर्वेदीजी की समस्त आलोचना-कृतियों का अन्तः प्रकृति विश्लेषण करने पर मोटे तौर से उनमें निम्नांकित आलोचक के गुण बीज रूप से विद्यमान हैं:—

१—आदर्श प्रियता
२—सगुणोपासना में श्रद्धा
३—मर्यादा प्रियता
४—व्यक्तिगत चारित्रिक-योग्यता
५—समन्वय
६—लोकधर्म और मानवता
७—शिष्टवादिता

किसी लेखक की कृतिकी आलोचना करने से पूर्व चतुर्वेदीजी उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण अपने अन्तः शासन में आधार पर करते हैं। यद्यपि वे सर्वोपरि 'मानव' की प्रतिष्ठा और उपासना करने के समर्थक हैं, फिर भी परम्पराओं, सदाचारिता और आदर्श से आबद्ध भी रहते हैं।



आलोचना

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति—लेखक डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, प्रकाशक—सर्व श्री आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ संख्या १८८, मूल्य ५)।

नामानुकूल ही पुस्तक के तीन भाग हैं। यद्यपि ये तीनों विषय थोड़े-बहुत अंश में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं तथापि इनकी अलग-अलग सीमा-रेखाएँ हैं और इनके अनुकूल ही विभिन्न लेख, जो अपने मूल रूप में विभिन्न अवसरों पर दिये हुए लिखित व्याख्यान हैं, वर्गबद्ध किये गये हैं। लेखक महोदय का दृष्टिकोण राष्ट्रीय होने के कारण व्यापक है। उनकी राष्ट्रीयता भी संकुचित नहीं है, वरन् भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। लेखक ने भारतीय संस्कृति का मूल अङ्ग अहिंसा माना है। वह अहिंसा जो दूसरे के अस्तित्व को भी अपनी बराबर मान देती है। यह समन्वयात्मक अहिंसावाद का स्वर सारी पुस्तक में प्रतिध्वनित हो रहा है। साहित्य की राजनीतिक पृष्ठ-भूमि में विश्व साहित्य का पर्यवेक्षण उपस्थित कर साहित्य के उत्थान का सम्बन्ध राजनीतिक परिस्थितियों के साथ दिखाया गया है। लेखक को हिन्दी और उर्दू के साहित्य पर समान अधिकार है और वे हिन्दी और उर्दू की एक रूपता में विश्वास करते हुए लिपि भेद को इसमें बाधक मानते हैं। दोनों को ही वे जटिलताओं से बचाना चाहते हैं। राष्ट्र भाषा के स्वरूप को वे प्रायः व्यापक देखना चाहते हैं जो उदारता पूर्वक अन्य भाषाओं के उपयोगी शब्दों और मुहावरों को आत्मसात कर सके। राजेन्द्रबाबू हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के उत्तरदायित्व का पूर्णतया अनुभव करते हैं और वे चाहते हैं कि हम अहिन्दी भाषा भाषियों की कठिनाइयों को समझें और यथा सम्भव उनकी पूर्ति का प्रयत्न करें। हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने से लेखकों का भी उत्तरदायित्व बढ़ गया है। हिन्दी को मन-मानी घरजानी कूप मंडूकता छोड़कर अन्य भाषाओं के साथ तुला में बैठना पड़ेगा और सारे भारत के लिए पोषण सामग्री देनी होगी। राजेन्द्र बाबू राष्ट्र भाषा द्वारा केन्द्रीय कार्य व्यापार शीघ्रातिशीघ्र आरम्भ होजाने के पक्ष में हैं किन्तु वे इस बात का मौलिक उत्तरदायित्व विश्वविद्यालयों पर रखना चाहते हैं। उनका कथन है कि जब विश्व-विद्यालय हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बना सकते तो बेचारे क्लर्कों से क्या आशा की जा सकती है। यह बात ठीक है किन्तु यूनीवर्सिटियों के कार्य में एक सूत्रता लाना भी केन्द्र का ही कार्य है और क्लर्कों के पीछे केन्द्र की पूर्ण शक्ति है।

शिक्षा के सम्बन्ध में भी राजेन्द्रबाबू समन्वयवादी हैं। वे नवीन-ज्ञान-विज्ञान के साथ प्राचीन परम्परा की विनय और गुरुभक्ति भी चाहते हैं। वे शिक्षा में चारित्रिक और धार्मिक शिक्षा को भी महत्वपूर्ण स्थान देते हैं और शिक्षा को शहरों में ही केन्द्रित न रखकर गाँवों तक पहुँचाना चाहते हैं। वे ग्रामीण विश्व विद्यालयों के पक्ष में हैं। इतिहास के अध्ययन में भी उन्होंने समन्वयात्मक बुद्धि से काम लिया है। वे मार्क्स के भौतिकवाद और हेगिल के आध्या-

त्मिक वाद का योग चाहते हैं। इतिहास के निर्माण में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही परिस्थितियाँ काम करती हैं।

पुस्तक देशहित और समन्वयवाद से ओत-प्रोत है और उस पर राजेन्द्रबाबू के पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व की छाप है। शैली साहित्यिक, प्रवाहमयी और प्रसादपूर्ण है।

—गुलाबराय

कविता

साधना—लेखक—श्री रघुनाथप्रसाद 'साधक' प्रकाशक—कुमार प्रकाशन, मुरादाबाद, पृ० सं० २५२, (बड़ा आकार) मूल्य ४॥)

'साधना'—एक संस्कृतज्ञ पण्डित द्वारा विरचित एक बृहदाकार प्रबन्ध काव्य है जिसमें लेखक ने एक आत्मक कथावस्तु को पल्लवित किया है। कर्मलोक की विषमताओं से सन्तप्त मुमुक्षु साधक धर्मलोक (गोलोक) में आकर तप करने लगता है। वह अपनी जीवन-ध्येय स्वरूपा साधना का आह्वान करता है तथा अपने पास तक आने वाले मार्गों की बाधाओं से उसे सावधान करते हुए, बीच में ही न विरम जाने की चेतावनी देता है। साधक योगी साधना को पाने के लिए जितना उत्सुक है, 'साधना' भी उसको पाने के लिए उतनी ही समुत्सुक है। अन्तर केवल इतना ही है कि वह (साधक) तो कर्मलोक के प्रति खिन्न है, सन्तप्त है, विरक्त और साधना कर्मलोक की सार्थकता पर बल देती है। साधना आह्वान करने पर साधक को उसके आगमन की प्रतीक्षा होती है। योगी साधक अब प्रतीक्षक बन जाता है।

प्रतीक्षक साधक की स्वप्नावस्था में साधना का साक्षात्कार में साधना उसके कर्मलोक की निन्दा करती है। वह इसे कायरता बतलाती है। उसका तर्क है कि विश्व कर्म-प्रधान है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो कर्म रहित हो। अतः वह साधक को कर्मलोक में लौट जाने तथा वहाँ की विषमताओं को दूर करने का आदेश देती है। प्रश्नोत्तरी में बड़ा शास्त्रार्थ होता है। इस शास्त्रार्थ में सिद्धान्त पक्ष साधना का ही है। इस शास्त्रार्थ में आशा-निराशा, सुख दुख, हानि लाभ, ईश्वर-जीव सृष्टि और शांकर वेदान्त आदि के तर्क उपस्थित किये जाते हैं। साधक की सम्मति में ये समस्त तर्क कर्म के सैद्धान्तिक रूप हैं। वास्तव में कर्म जगत विषमताओं एवं दुखों से पूर्ण होने के कारण हेय है।

साधना का प्रश्न है कि 'क्या किसी कर्म तपस्वी को तुम मुझे दुःखी दिखा सकते हो?' साधक को अपने अनुभव पर पूर्ण विश्वास है अतः वह साधना के साथ कर्मलोक में दुःखों का साक्षात्कार कराने स्वयं ही आजाता है। कर्मलोक में आकर साधक जिन दुःखों का साक्षात्कार साधना को कराता है, उन्हें वह दृष्टिकोण का भेद बताती है वह सुख दुःख के वास्तविक लक्षणों को समझाती है।

साधना के तर्क से परास्त होकर 'साधक' कर्म मीमांसा विषयक सिद्धान्तों को स्वीकार करके सच्चा कर्मनिष्ठ बन जाता है। योगी साधक प्रतीक्षक एवं तार्किक साधक न रहकर कर्मनिष्ठ पुरुष हो जाता है। वह संसार की विषमताओं को दूर करना ही अपना ध्येय बना लेता है। सर्वप्रथम तो वह विषमता केन्द्रों पर विचार करता है। तदनन्तर वह संसार में एक सुधारवादी आन्दोलन करने के अभिप्राय से चल पड़ता है। मार्ग में उसे अष्ट वर्ग संघर्ष मिलता है। वह संघर्ष को दूर करने के लिए प्रत्येक वर्ग में जाकर उसके दोषों को दूर करके उसे राष्ट्रोपयोगी बनाने का प्रयत्न करता है। वह व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र की क्रमिक व्यवस्था पर अधिक बल देता है। कर्म साधना प्रत्येक स्थल पर साथ रहती है—अन्ततः साधना और साधक एक दूसरे में लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार गीता में प्रतिपादित और वर्तमान युग में लोक-मान्य तिलक जैसे मनीषियों द्वारा निरूपित और कर्मयोगी गांधी द्वारा प्रतिष्ठित तथा कविगुरु रवीन्द्रनाथ द्वारा काव्य में अवतरित कर्मवाद को यहाँ प्रबन्ध-काव्य के द्वारा प्रचारित करने का प्रयास है।

महाकाव्य की परम्परा बताती है कि वह प्रख्यात कथा को लेकर चलने से ही अधिक प्रभविष्णु होती है। उपन्यास और महाकाव्य की सफलता की कुञ्जी इसमें छिपी हुई है। हिन्दी में चरित गायन की दृष्टि से तो अनेक महाकाव्य रचे गये हैं, परन्तु दार्शनिक सिद्धान्त-निरूपण के लक्ष्य को लेकर लिखी गई कृतियों की परम्परा 'पद्मावत' से

चलते हैं। 'पद्मावत' में दार्शनिकता केवल व्यंग्य है—अतः वह कथा पर भार नहीं हुई। एक ज्वलन्त उदाहरण 'कामायनी' भी है जिसमें कवि ने एक जीवन दर्शन प्रतिष्ठित किया है, परन्तु वह भी दार्शनिकता से बोझिल नहीं है। अस्तु।

'साधना' एक अध्यात्मदर्शन पूर्ण काव्य है। कर्मलोक की विषमताओं से खिन्न होकर धर्मलोक (अध्यात्मलोक) में समाधिस्थ साधक योगी का कर्मलोक में लाकर वहाँ की विषमताओं को दूर करने के लिए प्रेरित करना ही प्रस्तुत काव्य का आख्यान है।

जहाँ तक प्रतिपाद्य का सम्बन्ध है वह महान है, भव्य है, परन्तु प्रतिपाद्य ही सब-कुछ नहीं होता—प्रतिपादन प्रतिभा भी होनी चाहिये। भाव-प्रकाशन कौशल, वर्णना-शक्ति, रसोत्पादन, भाव-सौरस्य, भाषा-सौष्ठव आदि छोटे बड़े उपकरणों से ही काव्य में काव्यत्व आ सकता है और इस काव्य के लेखक में विचार तत्त्व के अतिरिक्त दूसरी बातें नगण्य हैं। वह अपने अपरिपक्व छन्द रचना-कौशल से पाठक के मन-चित्त को जीतना चाहता है परन्तु खींचने में भी सफल नहीं होता। गीता प्रेस वाले कल्याण-पन्थी मुमुक्षु पाठक के लिए पारायण, मनन, चिन्तन और—की यह वस्तु हो सकती है किन्तु साहित्यिक सौरस्य की खोज करने वाले इस काव्य से बुरी तरह विरक्त हो जायेंगे। काव्य की पदावली अति 'संस्कृत-विशिष्ट' है और कहीं-कहीं तो संस्कृत भाषा ही, जैसे—

नियमसमव्यापक तत्वलोके, प्रत्येक व्यापार क्रिया दशा में,
विचार देखो स्वयमेव दर्शी, नियामिकाहीनमसत्यंगता भूः।

साधारणतया भाषा में शब्दाडम्बर है—रसधारा का कहीं लेश नहीं। जहाँ लेखक सरल होना चाहता है वहाँ नितान्त पद्यकार हो जाता है—वास्तव में लेखक हिन्दी छन्द-रचना से अनभिज्ञ हैं—अतः उन्होंने यह अनधिकार चेष्टा ही की है, यह कहना पड़ेगा। यदि लेखक अपनी आगामी कृतियों में काव्य सौरस्य का ध्यान रक्खेंगे तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

'टूटती शृङ्खलाएँ'—लेखक-श्री महेन्द्र भटनागर एम. ए. प्रकाशक—कारवाँ प्रकाशन, बड़ा सराफा, इन्दौर। पृष्ठ १०४, मूल्य १॥)

'टूटती शृङ्खलाएँ' कवि (महेन्द्र भटनागर) की सन् १९४४ से १९४८ तक की ६१ रचनाओं का एक संग्रह है। कविताओं में भारतीय राष्ट्रजीवन की क्रियायें और अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। कविताओं का विषय सामाजिक है, जिनमें राष्ट्र और जाति की टूटती शृङ्खलाओं की झनझनाहट है—त्रस्त पददलित जनता का क्रन्दन और चीत्कार है। राष्ट्रीय जीवन पर उठने वाली प्रचण्ड आँधी में बुझने वाले दीपों का हाहाकार है—और उसमें हार न मानने वाले पौरुष की ओजस्विनी ललकार भी। कवि की अनुभूति व्यक्तिगत न होकर एकदम समष्टिगत है।—पुस्तक के सम्मति लेखक शिवमङ्गलसिंह 'सुमन' के शब्दों में 'युग की वाणी उसके कण्ठ में ढल कर जन-जीवन के अश्रु-हास की सजीव गाथा बन गई है।'

कविताओं का मूल-स्वर जनवादी समाजवादी है जो कि आज के युग की विशेषता है। कवि के पास ओजस्वी शैली है—ओज और उत्साह, रोष और आक्रोश के साथ वह गाता है—भावप्रकाशन में, साधारणतया वह सफल हुआ है। जड़-जर्जर जीर्ण समाज के विध्वंस और नवीन के उदय का विश्वास इसमें मुखरित हुआ है। परन्तु कहीं कहीं कवि की भाषा दुर्बल रह जाती है जैसे—

तारतम्य रोशनी सदृश अटूट चल रहा,
दास—दासता से मिट रहा विरुद्ध बल महा।
'रुक नहीं सकते चरण दृढ़ द्रोहियों के आज'।

प्रस्तुत संग्रह में दो प्रकार की रचनायें हैं छन्दबद्ध और छन्द मुक्त। निस्सन्देह, छन्द मुक्त रचनाओं में कला की दृष्टि से अधिक सजगता है—उनमें एक गति है, एक ओज है और एक शक्ति है:

जगे हैं चिर निद्रा से
मिटा पापी अँधेरा अब,
ठहर जा ओ अरे पागल
कुचलता हूँ अभी मैं शीश यह तेरा।
कि बस अब डाल दो घेरा।
(मेरे हिन्द की सन्तान)

इनमें प्रयोगवादी ढङ्ग की कुछ चित्ररेखायें भी हैं। जैसे रात का आलम, प्रभात, शिशिर प्रभञ्जन आदि।

क्षितिज— लेखक-श्री चन्द्रप्रकाश वर्मा, प्रकाशक—सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद। पृष्ठ १०३, मू. २॥)

'रैन-बसेरा' के कवि श्री चन्द्रप्रकाश वर्मा की यह दूसरी कृति है। 'रैन-बसेरा' से 'क्षितिज' तक आते-आते कवि के भाव क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार हो गया है। कवितायें इसमें ५९ हैं और वे कई वर्गों में रक्खी जा सकती हैं। इसमें 'युग-युगवादी' और 'युगवादी' (ये दोनों मेरे अपने शब्द हैं) दोनों प्रकार की कवितायें हैं।

युग-युगवादी गीतों में कवि ने जीवन के चिरन्तनस्वरूप से कुछ काव्य-विषय चुने हैं—इनमें कई प्रणय-गीत हैं, कई प्रकृति गीत, कुछ में जीवन-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन भी है। नारी पर भी कुछ कवितायें हैं।

कवि के मानस में एक चिरन्तन प्रणयवादी भावना और अनुभूति भी है, जिसका एक अवतरण लीजिए—

दीप देवल में गये कितने चढ़ाये
आज तक 'पर देवता' सम्मुख न आये;
प्राण का दीपक चढ़ेगा मूर्ति पर ही
किन्तु मेरी मूर्ति चेतन मुस्करायें;
देवलों में दृष्टि भूखी रह गई पर—
प्राण-प्रिय के मिल रहे सौ बार दर्शन !

युगवादी कविताओं के विषय हैं 'पन्द्रह अगस्त' और 'सूत के तार' आदि, अर्थात् वे राष्ट्रवादी भावना से आपूर्ण हैं। इन्हीं में गांधी, 'सरोजनी नायडू' सुभद्राकुमारी के सम्बन्ध में शोक गीत (Elegy) भी हैं, और जवाहरलाल, पञ्जाब और बिड़ला भवन के प्रति—सम्बन्ध गीत (Odes) भी। 'ओ कृशला ओ ज्वाला' एक सशक्त कविता है। अन्त में एक उद्धृत अंश 'सीता' खण्ड काव्य से भी है।

वस्तुतः कवि विशाल जीवन के अनन्त पार्श्वों में से किसी को भी कविता की प्रेरणा बनाने का अभिलाषी है—क्योंकि 'प्रगति' के सीमित शिकंजे में भावना को नहीं दमित किया जा सकता। सामाजिक सामूहिक जीवन की उथल-पुथल के बाद भी जो गीत जीवित रह सकेंगे, ऐसे इस संग्रह में कई हैं यह सन्तोष की बात है। —डा० सुधीन्द्र

कहानी

जीवन के मोड़—लेखक श्री महावीर अधिकारी; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० सं० २२८, मूल्य ३)

नवयुग साप्ताहिक के भू० पू० सम्पादक श्री महावीर अधिकारी की १७ कहानियों का संग्रह 'जीवन के मोड़' है। हिन्दी में इस समय कथा-साहित्य वेग से बढ़ रहा है—कहानियों और उपन्यासों की धूम मची है। विचार-प्रधान मुण्ड में भी लेखक और पाठक दोनों को कल्पना के इस कुञ्ज में ही आकर शान्ति मिलती है। कई कहानियाँ बड़े हलके ढङ्ग की होती हैं—परन्तु अधिकारीजी की इन कहानियों में जीवन की आधुनिक नैतिक सामाजिक समस्याओं ने ताना-बाना बुना है। स्त्री-पुरुष के काम सम्बन्ध से लेकर जीवन की सामान्य स्थिति-परिस्थिति तक को लेखक ने कहानियों का विषय बनाया है।

कहानियों में रञ्जनकारी वर्णन-शैली के अतिरिक्त जीवन के कुछ गहन तत्त्वों का निदर्शन भी होता है। इनमें दूसरी वस्तु का आग्रह अधिक है। आगे आने वाले युग के नीति-नियमों का जो स्वरूप होगा—उसकी हलचल इन कहानियों में दिखाई-सुनाई देती है। व्यक्ति व्यक्ति ही नहीं है, वह समाज का एक अङ्ग है, इसलिए उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति को समाज चेतना की दृष्टि मिलनी चाहिए। आज जो यथार्थ प्रतीत होता है, कौन जाने कल का आदर्श उसी में खिले। अथवा आज जो स्वैराचार प्रतीत होता है वही कल की क्रान्तिवादिता सिद्ध हो जाए। इस दृष्टि को लेकर इन कहानियों को देखने से हमें एक सन्तोष मिलता है।

शैली की दृष्टि से कहानियाँ मध्यम कोटि की हैं—किसी किसी को तो वर्णन की रूक्षता ने बेड़ियाँ पहना दी हैं। लेखक या प्रकाशक ने पुस्तक के सम्बन्ध में जो 'कतिपय अभिमत' सङ्कलित किये हैं, उनसे पाठक को और आलोचक को बहुत कुछ अभिभूत होना पड़ता है।

—डा० सुधीन्द्र

जीवनी तथा आत्मकथा

परिव्राजक की प्रजा—लेखक-श्री शान्तिप्रिय

द्विवेदी; प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ २७८, मूल्य ३॥)

'परिव्राजक की प्रजा' एक आत्मजीवनी है—उस साहित्यिक की जिसने 'नीरव' और 'हिमानी' कविता-कृतियों रच कर तथा साहित्य-निर्माता, साहित्यिकी, सञ्चारिणी, युग और साहित्य, सामयिकी, धरातल और ज्योति-विहग समीक्षाएँ लिखकर साहित्य को समृद्ध किया है। यों तो साहित्यिक की आत्मकथा की दृष्टि से यह नई नहीं है परन्तु अपने व्यक्तित्व में वह निराली है। वह आत्मकथात्मक संस्मरण या संस्मरणात्मक आत्मकथा है।

प्रस्तुत आत्मकथा में सहज ही दो विभाग हैं—एक मानव 'मुन्नन' (शान्तिप्रिय द्विवेदी) की आत्मकथा; दूसरा—साहित्यिक शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा। लेखक ने उन्हें 'बाल्यकाल' और 'उत्तरकाल' की संज्ञा दी है। परन्तु दोनों में मानव जीवन को निर्मायक शक्तियों के अध्येता को प्राणदायी तत्त्व बिखरे मिल जायेंगे। एक साहित्य-साधक किस प्रकार के एक अकिंचन शैशव से चल कर—जीवन के आरोह—अवरोह देखता हुआ—आर्थिक संघर्ष में फँसकर भगवती भारती के मन्दिर का एक पुजारी बनता है, यह स्वयं एक रोचक कथा है। यद्यपि लेखक ने इसमें संस्मरण ही लिखे हैं—परन्तु इन चित्ररेखाओं में उपन्यास का सा रंग है और रस है जिनका नायक मुन्नन और शान्तिप्रिय द्विवेदी हैं। आप किसी भी अध्याय को ले लीजिए वह आपको अपने आप में पूर्ण ही मिलेगा, भले ही पूर्वापर शृङ्खला की एक कड़ी ही हो। इस कृति की पंक्तियों में—न, रेखाओं में—कलाकार शान्तिप्रिय द्विवेदी की तूलिका के रङ्ग दिखाई देते हैं; सचमुच तो इसीलिए वे इतने स्पृहणीय हो उठे हैं।

युग जीवन और समाज का परिपार्श्व सच्चे रूप में इसमें चित्रित हुआ है।

'परिव्राजक की प्रजा' को 'साहित्यिक आत्मकथा' की संज्ञा लेखक ने दी है—वह साहित्यिक की आत्मकथा तो है ही, साहित्यिक आत्मकथा भी है। आत्मकथात्मक संस्मरणों की जो मेरी समझ से, पहिली विशेषता है वह है सचाई (Sincerity)। यह मानना पड़ेगा कि लेखक ने भद्र भाषा में, बिना, किसी गोपन के, अपनी दुर्बलता, दीनता, हीनमन्यता (Inferiority Complex), सम्पर्कित व्यक्तियों की अहम्मन्यता और सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक स्थिति-परिस्थितियों का अङ्कन किया है। लेखक की दृष्टि बड़ी पैनी है।

और वह साहित्यिक आत्मकथा भी अनेक प्रकार से है। उसमें एक साहित्यिक कृति के सभी गुण विद्यमान हैं। उसमें एक लम्बे साहित्यिक जीवन की प्रवृत्तियों का अङ्कन है, साहित्यिक मूर्तियों जैसे रवीन्द्र और शरद, प्रसाद, राय कृष्णदास, सम्पूर्णानन्द, प्रेमचन्द, शिवपूजनसहाय, निराला, पन्त, उग्र, मुन्शी अजमेरी, गणेशशङ्कर विद्यार्थी, दुलारेलाल भार्गव आदि के छाया-चित्र हैं, और अन्ततः उसकी शैली काव्यमय है—मूलतः शान्तिप्रिय द्विवेदी एक कवि हैं, आलोचक के कवच में आकर कोमल कवि छिप नहीं सकता।

साहित्यिक चिन्तन के अनेक प्रसङ्ग लेखक ने इसमें पाये हैं और मैं कह ही चुका हूँ कि प्रत्येक अध्याय आत्मकथा का एक पृष्ठ होकर भी अपने आप में एक साहित्यिक निबन्ध है। मैं इस प्रकार की आत्मकथा को एक अभिनन्दनीय काव्य रूप कहूँगा।

छत्रपति शिवाजी—लेखक—श्री देववंश सहाय 'राकेश', प्रकाशक—आदर्श ग्राम पुस्तकालय कैथी, पो० किरहिन्डी, शाहाबाद, बिहार। पृष्ठ १०६, मूल्य २)

भारतीय इतिहास के पृष्ठों में छत्रपति शिवाजी का वीरोदात्त चरित और चरित्र वास्तव में एक अच्छे प्रबन्ध-काव्य का अधिकारी है—इसमें कोई सन्देह नहीं। द्विवेदी-युग में यद्यपि 'दीनजी' ने 'वीरपञ्चरत्न' आदि में 'वीरों का सुयश गान' किया—और गुप्तजी ने भी वीर चरितात्मक कवितायें लिखीं—परन्तु शिवाजी पर वृहद् प्रबन्ध कोई प्रस्तुत नहीं कर सका। उस अभाव की पूर्ति 'छत्रपति-शिवाजी' काव्य के द्वारा हो रही है। परन्तु शिवाजी के उच्च व्यक्तित्व के अनुरूप यह प्रबन्ध काव्य नहीं हो सका है।

खण्ड-काव्य महाकाव्य की शास्त्रीय चर्चा यहाँ व्यर्थ है। पञ्चदश सर्गों का यह काव्य अधिकांशतः इतिवृत्तात्मक शैली में लिखा गया है। ऐसे स्थल बहुत कम हैं जिनमें सच्चे कवित्व या कम-से-कम लाक्षणिक भाषा के दर्शन हों। यह खेद की बात है कि अन्त्यानुप्रास भी कहीं-कहीं अप्रा

है। अधिकांशतः केवल तुकबन्दी ही होने के कारण कविता निम्न कोटि की है। यदि द्विवेदी-युग में ऐसी कविता लिखी गई होती, कदाचित् जनता को कुछ आकृष्ट कर सकती। छत्रपति शिवाजी एक वीर थे और अपने युग के राष्ट्रीय वीर भी। उस समय की राष्ट्रीयता गांधी की राष्ट्रीयता नहीं थी, अतः हिंसा-अहिंसा का प्रश्न न था। युद्ध को धर्म, रक्तपात को कर्म और मुसलमानों के नाश को राष्ट्रीयता का मर्म मान कर इसे 'वीर रसात्मक' काव्य कहा जा सकता है। श्यामनारायण पाण्डेय की वीर-रसात्मक शैली की इसमें कहीं-कहीं सच्ची अनुभूति है। रचना पर 'हल्दीघाटी' से अधिक 'नूरजहाँ' की भाषा ही की छाप है। वह साधारणतया साफ सुथरी है, प्रयत्न से अधिक उसमें सहज सरलता है। कम-से-कम प्रस्तुत आलोचक यह नहीं समझ पाया कि यह 'वीर-रस प्रधान आदि प्रबन्ध काव्य' कैसे हुआ?

—डा० सुधीन्द्र

विचारवान इमर्सन—लेखक-मार्कवैनडोरेन। पृष्ठ २३६, मूल्य १॥)

उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् दार्शनिक और कलाकारों में इमर्सन का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इमर्सन की कविताएँ, उनके दार्शनिक विचार और साहित्य तथा सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में उनकी सेवाएँ और देन आज भी विचारशील व्यक्तियों के लिए प्रेरणा देता है। इस पुस्तक में इमर्सन के जीवन परिचय के साथ उनके निबन्ध और विचारों का सङ्कलन है जो पाठकों के लिए बहुत ही उपयोगी है।

—रमेश वर्मा

स्फुट

प्राचीन से आधुनिक भारतीय शिक्षा का इतिहास—लेखक-श्री प्यारेलाल रावत एम० ए०, एल० टी०, प्रकाशक-नाथ पब्लिशिंग हाउस, राजामन्डी-आगरा। पृष्ठ ३५०, मूल्य ८)

राष्ट्रभाषा हिन्दी को समृद्ध बनाने के लिए आवश्यक है कि सभी विषयों पर परिचयात्मक और विवेचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित की जायं। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण और सफल प्रयोग है। शिक्षा के क्षेत्र में भारत में क्या हुआ—इसका क्रमबद्ध इतिहास लिखने में श्री रावत ने निश्चय ही अथक परिश्रम किया है। प्राचीन भारत में शिक्षा कैसी थी, इसे दो भागों में आपने बाँटा है—ब्राह्मण काल और बौद्ध काल। मध्यकाल में मुस्लिम शिक्षा की प्रगति का इतिहास है। सबसे बड़ा अध्याय आधुनिक काल का है जिसमें अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ से सन् ५२ तक के शिक्षा के सम्बन्ध में किए गए प्रयत्न विचार और सुझावों का सार प्रामाणिकता पूर्वक दिया गया है। शिक्षा के सम्बन्ध में देश में जितने भी कानून बने, जो भी कमेटियाँ बैठीं और जितनी भी महत्वपूर्ण प्रगतियाँ हुई हैं सबका सविस्तार वर्णन लेखक ने अपनी टीका-टिप्पणियों के साथ इस पुस्तक में दिया है। इस एक पुस्तक के पढ़ने से शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी शिक्षा के विद्यार्थी कर सकते हैं। जन साधारण के लिए भी पुस्तक बहुत मूल्यवान और महत्वपूर्ण तथा उपयोगी। ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखने के लिए हम लेखक को सहर्ष साधुवाद देते हैं और आशा करते हैं कि दूसरे प्राध्यापक भी इस प्रकार की खोज पूर्ण पुस्तकें लिखकर अपने समय का सदुपयोग और देश का हित करेंगे।

म०

सामयिक लेख संग्रह—लेखक-मुनिराज श्री विद्या विजयजी, प्रकाशक-विजय धर्म सूरि ग्रन्थ माला, शिवपुरी। पृष्ठ १०५, मूल्य १॥=)

इस पुस्तक के लेखक मुनिराज श्री विद्याविजयजी प्रसिद्ध विचारक, विद्वान और शिक्षा सेवी हैं। उनके जैसे धर्मनिष्ठ व्यक्ति कमही मिलेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में आपने वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के ऊपर एक धार्मिक दृष्टि से प्रकाश डाला है। दृष्टिकोण सर्वथा स्वस्थ और देश के लिए हितकर है। इस निबन्ध संग्रह का हम आदर पूर्वक स्वागत करते हैं।

कला और संस्कृति—लेखक-श्री वासुदेवशरण अग्रवाल। प्रकाशक-साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग। पृष्ठ ३०६, मूल्य ३)

श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल भारतीय इतिहास, कला और संस्कृति के अधिकारी विद्वान हैं। प्रस्तुत पुस्तक यद्यपि उनके कला-सम्बन्धी लेखों का संग्रह है तथापि उनमें

एक विशेष तारतम्य है। संस्कृति की परिभाषा देते हुये वे लिखते हैं :—संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढङ्ग हमारी संस्कृति है। स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्त रूप से है। संस्कृति को यदि मन और प्राण कहा जाय तो कला उसका शरीर है, संस्कृति इसलिए आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि यन्त्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके। अग्रवालजी बड़े उदार विचार के हैं, वे किसी प्रकार की दासता नहीं चाहते हैं।

वासुदेवशरणजी ने वाल्मीकि, व्यास, श्रीकृष्ण, मनु, पाणिनि आदि भारतीय संस्कृति के स्तम्भों पर छोटे छोटे लेख देकर प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्वरूप खड़ा कर दिया है। उसमें तत्कालीन भारतीय विचारधारा और रहन-सहन का एक संक्षिप्त विवरण आगया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से जो सामाजिक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाणिनि में जिन सिक्कों तथा भौगोलिक स्थितियों का उल्लेख आया है इतिहास, पुरातत्व और भूगोल से पुष्ट होती हैं। रूप रुपये को कहते थे। उसी से रौप्य शब्द बना है। पुस्तक से और भी बहुत सी बातों की जानकारी बढ़ती है। हिन्दू अब ईरानी शिलालेखों में विक्रम से ६ शताब्दी पूर्व व्यवहृत हुआ है यह सिन्धु का ही ईरानी रूपान्तर है। कल्पवृक्ष शीर्षक लेख में वैदिक मनोविज्ञान की बड़ी सुन्दर व्याख्या की गई है। मेरुदण्ड और मस्तिष्क ही मन का अधिष्ठान होने के कारण कल्पवृक्ष है। इसमें चाहे कुछ खींचतान हो (सोमरस चाहे Cerebro spinal fluid का प्रतीक हो या न हो) किन्तु उससे यह निश्चित है कि आर्य लोग प्राण-शक्ति का केन्द्र शिर में मानते थे। वे अरस्तू की भाँति चेतना का केन्द्र हृदय नहीं मानते थे।

कला का भी एक सुसम्बद्ध इतिहास दिया गया है और पद्मावत और रामायण के दो उदाहरणों से उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक दिखाया है कि कला और साहित्य का किस प्रकार का चोली दामन का साथ रहा है। —गुलाबराय

शङ्का-समाधान

'संस्कृति के वे सुन्दरतम क्षण'.....के विषय में—

चँदौसी से एक विद्यार्थी श्री कृष्णलाल सचदेव ने एक शङ्का प्रस्तुत की है कि प्रसादजी के स्कन्दगुप्त नाटक का उक्त गीत किसको लक्ष्य करके लिखा गया है? प्रेयसी को या काश्मीर को? वस्तुतः यह गीत प्रेयसी के ही लिए है। यदि विद्यार्थी महोदय ने गम्भीरता पूर्वक मातृगुप्त के सम्पूर्ण कथन को पढ़ा होता, और नाटक का भी ध्यान से अध्ययन किया होता, कम से कम पृष्ठ ११८ तक तो उन्हें जो भ्रम हुआ है वह न होता। मातृगुप्त के इस गीत से पूर्व ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं :

"और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह! वही जो मेरे इस जीवन-पथ का पाथेय रहा। प्रिय!—यह 'और' यह संकेत करता है कि काश्मीर के छूटने से एक ऐसा स्वप्न भी बिखर गया जो जीवन पथ के लिए पाथेय रहा था। यह पाथेय किसी प्रेयसी का प्रेम है। उस प्रेयसी के रूप सौन्दर्य की कल्पना कवि मातृगुप्त के गीत के उपरान्त के शब्दों में है "अमृत के सरोवर में....वहीं स्वप्न टूट गया!" —वह उस सौन्दर्य को, अपनी प्रेयसी को, प्राप्त ही करने वाला था कि काश्मीर छोड़ना पड़ा और वह प्रेम व्यापार भी स्थगित होगया। यह मातृगुप्त की प्रेयसी मालिनी थी, जो, मातृगुप्त के काश्मीर से चले जाने के उपरान्त वेश्या हो गयी थी। मातृगुप्त अविवाहित था इसका अर्थ यह नहीं कि वह किसी को प्रेम नहीं करता था। वेश्या रूप में मालिनी से अन्तिम साक्षात्कार के उपरान्त तो मातृगुप्त अविवाहित भी इसीलिये रहा कि वह प्रेम करता था। कुमारगुप्त और मातृगुप्त के पारस्परिक वार्त्तालाप में दो व्यक्तियों की पृथक-पृथक विचारों की धाराओं की टकराहट है। मातृगुप्त अपनी प्रेयसी मालिनी के रूप-सौन्दर्य को काव्य-कल्पना की अनुभूति से अपने भावों में उतार रहा है, और उसे हिमालय की प्राकृतिक श्री की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करके अपने व्यक्तिगत प्रेम को, प्राकृतिक प्रेम और देश-प्रेम को एक सूत्र में निबद्ध कर रहा है, उधर कुमारगुप्त सिंहल और काश्मीर के भेद को, दूसरे शब्दों में अपने और मातृगुप्त के भेद को अभेद की दृष्टि से देखने में संलग्न है। आदि।

पौने मूल्य का कार्ड अन्दर मिलेगा

हिन्दी की पुस्तकें अपने ग्राहकों को पौने मूल्य में देने की योजना को चालू किये हुए एक वर्ष से अधिक हो गया। पिछली बार डाकखाने वालों ने इस अङ्क में कार्ड रखने की मनाही की थी तब हमने सोचा था कि अब हम पौने मूल्य की योजना को स्थगित कर दें, पर हमारे पाठकों ने हम पर यह दबाव डाला कि उनके लाभ के लिये हम इसे बराबर चालू रखें—तभी से हम अपने इस टाइटिल पृष्ठ पर पौने मूल्य का कार्ड छापते रहे, पर ग्राहक महानुभाव टाइटिल फाड़ना उचित नहीं समझते थे।

❀ प्रसन्नता की बात ❀

हमारी लगातार लिखापढ़ी के बाद अब जनरल पोस्ट मास्टर ने हमारी प्रार्थना स्वीकार करली और अब इस अङ्क से ही हम इसमें पौने मूल्य का कार्ड रख रहे हैं।

❀ हमारा आवश्यक निवेदन ❀

मई मास से जब से डाक की दरों में वृद्धि हुई है तब से यदि कोई वी. पी. वापिस आ जाती है तो हमें उससे काफी नुकसान रहता है। अतः हमारा निवेदन है कि जो सज्जन कार्ड भर कर भेजें वे ५) तक की पुस्तकों के लिये कम से कम २) मनीआर्डर से पेशगी हमारे पास अवश्य भेज दें, बिना पेशगी हम पुस्तकें नहीं भेजेंगे।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

REG D. No. 263 JULY 1953 LICENSE NO. 16
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment

वर्ष १५

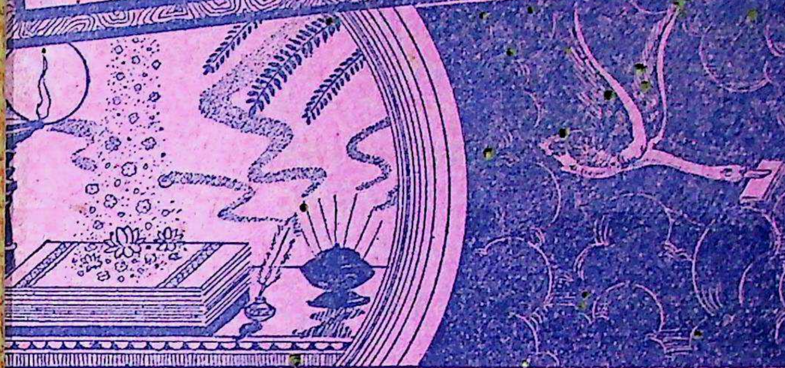
सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क २

साहित्य सन्देश



[वार्षिक मूल्य ४)] आगरा—अगस्त १९५३ [एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।
३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।
६. साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।
७ साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।



वर्ष १५] आगरा—अगस्त, १९५३ [अङ्क २

हमारी विचार-धारा

गोस्वामीजी और धम्मपद—

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में लिखा है—'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि । स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-भाषा निबन्ध मति-मञ्जुल मातनोति' ।

नाना पुराण और निगमागम की बात तो बहुत सों को ज्ञात है किन्तु क्वचिदन्यतोऽपि का क्षेत्र बहुत विस्तृत है । हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, रघुवंश आदि से उनके भावों का उल्लेख हुआ है । किन्तु तुलसीदास के विस्तृत अध्ययन पर तब आश्चर्य होता है जब उनकी एक चौपाई में धम्मपद के एक श्लोक की छाया मिलती है । यह सम्भव हो सकता है कि धम्मपद का श्लोक किसी संस्कृत छन्द के आधार पर हो किन्तु जब तक मूल स्रोत का पता न लगे तब तक आश्चर्य ही होता है कि श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति पथ पर चलने वाले बौद्ध ग्रन्थों से भी परिचित थे ।

मूल धम्मपद—

मा पियेहि समागच्छि अपियेहि कुदाचनं ।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अपियानं च दस्सनं ॥

अर्थ—प्रेमी और अप्रेमी दोनों के साथ न रहना चाहिए क्योंकि प्रेमियों के वियोग से दुख होता है और अप्रेमियों (दुष्टों) के मिलाप से भी दुख होता है । तुलसीदासजी की चौपाई मिलाइये :—

बन्दउ सन्त असज्जन चरना ।
दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ।
मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म स्थान—

श्रावण शुक्ला सप्तमी कवि कुल चूड़ामणि तुलसीदासजी की पुण्य तिथि है किन्तु अभी तक उनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों का कोई निश्चय नहीं हो सका है । राजापुर में गोस्वामीजी रहे हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूरदासजी गोवर्द्धन में रहते थे किन्तु गोवर्द्धन उनका जन्म स्थान नहीं है । गोस्वामीजी राजापुर में रहते थे इस सम्बन्ध में किसी का मत भेद नहीं किन्तु वह जन्मस्थान भी है इसमें मतभेद है । यह हर्ष की बात है कि उत्तरप्रदेश-सरकार गोस्वामीजी का स्मारक वहाँ बनवा रही है किन्तु

उससे यह भ्रम न होना चाहिए कि वह उनका जन्म स्थान भी है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का मत-भेद है। हम इस सम्बन्ध में कोई पूर्वाग्रह न रखकर सोरों और राजापुर की सामग्रियों की पूरी-पूरी और निष्पक्ष छान-बीन चाहते हैं यह कार्य श्रम साध्य है क्योंकि इसमें हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रामाणिकता की वैज्ञानिक जाँच पड़ताल होना है। यह कार्य ब्रज साहित्य मण्डल ने अपने हाथ में लिया है किन्तु वह धनाभाव के कारण इस सम्बन्ध में कुछ करने में असमर्थ है। सरकार ने जहाँ उनके स्मारक बनाने के लिए इतना धन व्यय किया है वहाँ इस महत्वपूर्ण प्रश्न के निर्णय में भी कुछ धन व्यय करना चाहिए। यह हिन्दी के लिए लज्जा का विषय है कि उसके साहित्य-गगन के सूर और शशि के जन्म-स्थान का धनाभाव के कारण निर्णय न हो सके।

तुलसी स्मारक समिति—

हाल ही में उत्तर प्रदेशीय सरकार ने राजापुर में गोस्वामी तुलसीदासजी के स्थान पर उनका एक स्मारक बनाने के लिए एक समिति की स्थापना की है। सरकार के इस कार्य की हम प्रशंसा करते हैं। परन्तु उसने यह कार्य कुछ जल्दी में किया। उसके सामने यह प्रस्ताव अनेक स्थानों से आया है कि वह विद्वानों की एक समिति बना कर इस बात की खोज कराये कि गोस्वामीजी का जन्म-स्थान कहाँ था—राजापुर या सोरों। यदि खोज का परिणाम यह निकलता जैसा कि अनेक विद्वानों का मत है कि गोस्वामी का जन्म स्थान सोरों और कर्म स्थान राजापुर है तो उसे दोनों स्थानों पर उनका स्मारक बनाना चाहिए था और यदि परिणाम इसके विपरीत कुछ बैठता तो तदनुसार निर्णय किया जा सकता था। यह उचित मार्ग ग्रहण न कर उसने विवाद का कोई निर्णय कराये बिना ही राजापुर में स्मारक बनाने का जो निर्णय किया है हम उसका समर्थन नहीं कर सकते। जो कमेटी उसने बनाई है उसमें इस ओर का एक भी व्यक्ति न रखना भी खटकने वाली बात है, सरकार को निष्पक्ष भाव से काम करना चाहिए तभी उसकी साख बढ़ सकती है।

स्वस्थ एवं सराहनीय—

बिहार सरकार ने आचार्य शिवपूजनसहाय की रुग्णावस्था का ध्यान कर उनके स्वास्थ्य सुधार के लिए पाँच हजार रुपए का अनुदान स्वीकार कर एक स्वस्थ और सराहनीय कार्य किया है और हम इसके लिए उसको बधाई देते हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने उनकी समस्त रचनाओं को प्रकाशित करने का भार स्वीकार किया है—यह भी प्रशंसा की बात है। अधिकतर मसिजीवी साहित्यिक विद्वान आज अपने भरण-पोषण के योग्य भी नहीं कमा पाते, उन्हें आश्रय देना राजा और प्रजा दोनों का कर्त्तव्य है। राज्य का ध्यान इस ओर गया है, यह हर्ष की बात है, पर आवश्यकता इस बात की है कि प्रजा का ध्यान भी इस ओर जाय और वह पुस्तकें स्वयं खरीद कर ऐसे लोगों की सहायता करे। साहित्यिक का स्वाभिमान दान या अनुदान ग्रहण करना अपने स्वाभिमान के अनुकूल नहीं समझता। उसे सहायता करने का ठीक रास्ता उसकी पुस्तकें खरीदना है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी हैसियत के अनुसार एक रुपए से सौ रुपए मासिक तक पुस्तकों पर व्यय करने की प्रतिज्ञा करे तभी ऐसे लोगों की सहायता हो सकती है।

हिन्दी की तथाकथित कठिनता—

आजकल हिन्दी पर प्रहार हो रहे हैं कुछ तो द्वेषवश और कुछ आलस्यवश। द्वेषवश जो हिन्दी पर प्रहार किये जाते हैं वे अराष्ट्रीय हैं। वे अंग्रेजों के चले जाने पर अँग्रेजी का प्रभाव कायम रखना चाहते हैं। वे प्रान्तों को राष्ट्र से अधिक महत्व देते हैं। राष्ट्रीय एकता के प्रतीक राष्ट्रभाषा के प्रचार से उनको प्रसन्न होना चाहिये था। यह देश का दुर्भाग्य है कि एक स्वदेशी भाषा की अपेक्षा कुछ लोग एक विदेशी भाषा को महत्ता देते हैं।

जो लोग आलस्यवश हिन्दी से द्वेष रखते हैं उनमें से ही वे लोग हैं जो हिन्दी के कठिन होने अथवा अत्यधिक संस्कृतमय होने की शिकायत करते हैं। यदि वे लोग ईमानदारी से किसी विचारपूर्ण अंग्रेजी पुस्तक को देखें, चाहे वह मनोविज्ञान की हो, चाहे समाजशास्त्र की अथवा राजनीति की, उसके बहुत से शब्द और वाक्य इधर तक

की शिक्षा प्राप्त और कहीं-कहीं तो ग्रेजुएट भी भली प्रकार नहीं समझ सकते हैं फिर वे लोग जो हाई-स्कूल तक भी हिन्दी नहीं पढ़े हैं उसे कठिन कह कर अपनी बात का समर्थन चाहें तो आश्चर्य होता है। जिस प्रकार सभी इङ्गलैंडवासी अंग्रेजों की सभी पुस्तकें नहीं समझ सकते हैं उसी प्रकार सभी हिन्दी बोलने वालों का हिन्दी की पुस्तकें न समझना कोई आश्चर्य नहीं। हिन्दी को उच्च विचार विषयक पुस्तकों के समझने के लिए हिन्दी में उच्च कोटि की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षा-प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि समझ में न आवे तो उनका शिकायत करना सार्थक होगा।

उर्दू की स्वीकृति में एक भय—

यह जानकर थोड़ा आश्चर्य हुआ कि श्रद्धेय टण्डनजी ने भी उर्दू में अर्जियाँ ली जाने के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति दे दी है। बड़े आदमियों के चरित्र 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' होते हैं। यह कहाँ तक सत्य है इसका स्पष्टीकरण राजर्षि ही करेंगे। वैसे हर एक अल्प संख्यक सम्प्रदाय को जितनी सुविधा दी जाय उतना अच्छा है किन्तु भाषा और लिपि के भेद जहाँ तक कम हों वहाँ तक जातीय एकता के लिए अच्छा है। ऐसी बातें पार्थक्य की मनोवृत्ति को कुछ दृढ़ करती हैं फिर भी यदि सदाशयता से काम लिया जाय तो यह मनोवृत्ति कम हो सकती है। मुसलमान भाइयों को भी कबीर, जायसी, रहीम, रसखान, आदि की भाँति हिन्दी को अपनाना चाहिए था (जैसा देश वैसा वेष की बात में बहुत कुछ सत्य है) किन्तु यदि वे इतने उदार नहीं बनते तो जबरदस्ती नहीं की जा सकती। हमारी उदारता हमारे साथ है और उनकी उदारता उनके साथ। किन्तु इस उदारता में एक भय है—वह यह है कि आज कल की शिक्षित जनता तो हिन्दी ही जानती है उर्दू से बिलकुल अनभिज्ञ है और पुराने मुंशी लोग इस छूट को पाकर अपने आलस्यवश उन गरीब लोगों की भी अर्जियाँ उर्दू में न लिखने लग जायँ जो उर्दू से परिचित न हों। जिन घरों में हिन्दी बोली जाती है उन घरों में उर्दू के सरकारी कागजों का होना उनके बाल बच्चों के साथ अन्याय होगा। मुंशी और अहलमद लोगों की इस आलस्य की प्रवृत्ति को रोकने के लिए जनता और सरकार को भी सचेत रहना पड़ेगा। मैं स्वयं पढ़ा लिखा कहा जाता हूँ किन्तु उर्दू के सरकारी कागजात मेरे लिए काले अक्षर भैंस बराबर रहते हैं। सरकार शीघ्र स्पष्टीकरण कर दे कि उर्दू की अर्जियाँ यदि स्वीकार की जायँ तो आपत्ति धर्म के रूप में ही।

संसद के साहित्य साधक—

अगस्त के 'ज्ञानयोग' में उक्त शीर्षक से एक टिप्पणी छपी है जिसका कुछ अंश यह है:—

'श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक लेखा-जोखा प्रकाशित किया है कि पार्लमेण्ट के हिन्दी साधकों ने इस वर्ष यहाँ क्या काम किया है और हिन्दी को अगले १४ १५ वर्षों में जो स्थान मिलना है उससे उनके द्वारा क्या कार्य हुआ ?

"प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है पर आदरणीय चतुर्वेदीजी का स्वभाव है कि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को छू कर हिन्दी संसार के सामने रख दें पर स्वयं उनमें कभी गहराई से न उतरें। सचाई यह है कि जुटना उनके बस का नहीं, इसीलिए उनके द्वारा काम कुछ नहीं होता सिर्फ वर्ष भर में कुछ चर्चाएँ ही हो पाती हैं। खेद है कि यह लेखा जोखा भी एक अधूरी चर्चा ही है।

"राज्य परिषद और संसद में हिन्दी साधकों का अद्भुत जमघट है। चतुर्वेदीजी के साथ दिनकरजी, श्रद्धेय श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, सेठ गोविन्ददास, नवीनजी, श्री कृष्णकान्त व्यास, श्री इन्द्रजी, श्री वृंदावननारायण तिवारी, श्री गोपीकृष्ण विजय वर्गीय, काका कालेलकर, श्रीमती सावित्री निगम आदि अनेक प्रतिभा और प्रभावशाली हिन्दी साधक वहाँ हैं और नेतृत्व के लिए पूज्य टण्डनजी तो हैं ही। इस दशा में यह सूचना ही काफी नहीं है कि ये लोग राज भाषा के रूप में हिन्दी को आगे बढ़ाने में असफल रहे, प्रश्न तो यह है कि क्यों असफल रहे ?"

ज्ञानयोग की इस टिप्पणी की ओर हम संसद के सदस्यों—विशेष रूप से चतुर्वेदीजी का ध्यान आकर्षित करते हुए यह निवेदन करना चाहते हैं कि वे कोई ऐसा सक्रिय कदम उठावें जिससे हिन्दी का सचमुच हित हो। हम ज्ञानयोग की इस बात से सहमत नहीं कि हिन्दी के

हिमायती उपर्युक्त महानुभाव यदि कुछ न कर सकें तो त्याग-पत्र देकर अलग हो जायँ। हमारा विश्वास है कि यदि पीछे पड़ जायगा तो अवश्य हिन्दी की गति में परिवर्तन होगा।

'आलोचना' में परिवर्तन—

दिल्ली से 'आलोचना' नामक जिस त्रैमासिक पत्रिका के प्रकाशन का हमने स्वागत किया था और जिसके केवल छः अङ्क ही निकल पाए थे, उसमें इधर भारी परिवर्तन हो गया। पत्रिका के आदि सम्पादक हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान थे। छः अङ्क के बाद ही उनका पत्रिका के प्रकाशक राजकमल प्रकाशन वालों से मतभेद होगया। जिसके कारण चौहानजी को 'आलोचना' से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा। यह परिस्थिति क्यों हुई और इसमें दोष किस का है इस झगड़े में हम नहीं पड़ेंगे पर हम यह अवश्य कहेंगे कि इस विवाद ने साहित्यिक वातावरण को क्षुब्ध बना दिया है। श्री चौहान के आलोचना से हटने की कल्पना भी कोई नहीं करता था और अच्छा यही होता कि मतभेद के बाद भी दोनों का समझौता हो जाता और चौहानजी आलोचना से अलग न होते। पर अब तो यह सम्भव नहीं दिखाई देता, क्योंकि नये सम्पादकों ने काम संभाल लिया है और आलोचना नए रूप में प्रकट होगई है।

हिमालय-अभियान—

एवरेस्ट विजय शीर्षक से गतांक में हमने एक टिप्पणी लिखी थी जिसमें इस बात की आवश्यकता प्रकट की थी कि हमारे कवि व लेखक अपने दृष्टिकोण को बदलें और वीर रस पर नये विषय लेकर कविता, लेख, तथा पुस्तकें तैयार करें। हमने पिछले दिनों बड़े ध्यान से हिन्दी के पत्रों को देखा, पर एक-दो कविताओं को छोड़कर अभी तक किसी पत्र में कोई ऐसी रचना देखने को नहीं मिली। हिमालय-अभियान या एवरेस्ट विजय ऐसा विषय है और तेनसिंह उसका नायक ऐसा व्यक्ति है जिस पर ऐसी कोई चीज निकले तो वह सामयिक तो होगी ही, हमारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उच्च विचार लाने में भी सहायता देगी। हमारे देश को आज साहसिक वीरों की आवश्यकता है—प्रत्येक क्षेत्र में, और उनको पैदा करने और बनाने में हमारे लेखक और कवि बड़ी सहायता कर सकते हैं।

डा० सत्येन्द्र कलकत्ता को—

साहित्य-सन्देश के सम्पादक त्रय में से एक और हिन्दी के माने हुए विद्वान् डॉ० सत्येन्द्र को कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने अपने यहाँ हिन्दी विभाग में बुलाकर रीडर पद पर नियुक्त किया है। यह समाचार जानकर हिन्दी के सभी हितैषियों को हर्ष होगा। हम इस नियुक्ति पर सत्येन्द्रजी और विश्वविद्यालय के अधिकारियों को बधाई देते हैं, साथ ही यह आशा करते हैं कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग को स्वतंत्र करने के विषय को लेकर जो कटुता पैदा हो गई है वह सत्येन्द्रजी के वहाँ जाने से धीरे-धीरे कम हो जायगी। सत्येन्द्रजी जैसे शान्त और एकान्त-सेवी तथा मंजे हुए साहित्यिक को पाकर हिन्दी प्रेमी अपने को सबल और सशक्त पावेंगे और अधिकारी भी उनमें पूर्ण विश्वास कर सकेंगे। सत्येन्द्रजी स्वयं इतने योग्य हैं जो दोनों के बीच की खाई को पाट देंगे। आशा है कि वे अपनी योग्यता और अध्यवसाय से विश्वविद्यालय में हिन्दी का मान बढ़ायेंगे।

देवनागर का जन्म—

भारत की राजधानी दिल्ली से हमारे राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र-प्रसाद की संरक्षकता में 'देवनागर' नाम से एक महत्वपूर्ण पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है। इसके सम्पादक साहित्य सन्देश के पुराने और यशस्वी लेखक डा० नगेन्द्रजी हैं। पत्रिका का अभी एक ही अङ्क निकला है पर वह उसके उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है। यह पत्र भारत की विभिन्न भाषाओं को एक सूत्र में बाँधने के पुनीत उद्देश्य से निकला है और उसमें बहुत कुछ सफल हुआ है। इसके 'आदान' शीर्षक में विभिन्न भाषाओं से लेने योग्य बातों का समावेश है और 'प्रदान' शीर्षक में महाकवि सूरदास और प्रसाद के एक-एक पद का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया है। इसमें सभी भाषाओं के लेख देवनागरी में छपने से हिन्दी वालों को भी दूसरी भाषाओं का कुछ ज्ञान बढ़ेगा। इस प्रकार यह पत्र बहुत ऊँचे स्तर पर हिन्दी का हित साधन करेगा। हम इसका सहर्ष स्वागत करते हैं।

आचार्य उद्भट और रसवाद : एक विचिकित्सा

श्री लाल रमा यदुपालसिंह एम० ए०, आचार्य, साहित्यरत्न

काश्मीर की मनोरम उपत्यकाओं में नयनोन्मीलन करने वाले इस महान् मनीषी को महाराज जयापीड (७७९-८१३ ई०) के यहाँ 'सभापति' होने का गौरव प्राप्त था। इस विद्वान् को कल्हण के अनुश्रवानुसार एक लाख दीनार रोज वेतन स्वरूप मिलते थे। इस वस्तु का महत्त्व इस बात पर विचार करने से और भी बढ़ जाता है कि जयापीड के राजसदन में प्रवेश होते ही तत्कालीन आचार्य वामन जैसे शास्त्रकार मन्त्री थे। और राजकवियों में मनोरथ, शङ्खदत्त, चटक और सन्धिमान् के सदृश महान् साहित्यकार थे[1]। इस प्रतिष्ठा से उद्भट के पाण्डित्य, कार्यकौशल, एवं कार्यभारोद्वहनसामर्थ्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ गया होगा ऐसा समझ कर हम आगे बढ़ना पसन्द करेंगे।

प्रकाशित ग्रन्थों में उद्भटप्रणीत केवल एक कृति है और वह है 'काव्यालङ्कार संग्रह'। प्रतीहारेन्दुराज ने एक दूसरे ग्रन्थ की ओर संकेत इन शब्दों में किया है :—

"विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेनैकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः ।"

इस 'भामहविवरण' की किसी हस्तलिखित-प्रति का पता डा० जे० नोबेल को था[2]। पर ग्रन्थ अब उपलभ्य नहीं है। पर जैसा कि नाम और विवरण से अवगत होता है यह कृति भामह के 'काव्यालङ्कार' की एक विवृति थी। यही नहीं एक तीसरे ग्रन्थ का भी पता चला है। अभिनवभारती,[3] वक्रोक्तिजीवित[4] और सङ्गीतरत्नाकर उद्भटविरचित किसी नाट्यशास्त्रव्याख्या का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। सङ्गीतरत्नाकर का यह कथन तो एकदम निश्चयगर्भित है :—

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः ।"

१—राजतरङ्गिणी ४–४९५–७।

२—Foundations of Indian Poetry.

३—द्वि० खं० (पृ० ७०, ४४१ और ४५१)।

४—तृ० परि०।

अतएव आचार्य उद्भट भामह के 'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते' के विचारों से ही नहीं समनुप्राणित थे अपितु आचार्य भरत के 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' के राद्धान्त से भी अनुप्राणित थे। भामह की दृष्टि में रस एक अनुजीवक तत्त्व था और भरत की नजरों में वही सब कुछ था। और इन दोनों आचार्यों का अनुगामी व्याख्याता होने के नाते उद्भट को भी आपातरसवादी होना ही चाहिए।

इसी से जब हमें निम्नलिखित वाक्य 'काव्यालङ्कार संग्रह' में प्राप्त होता है तो कोई आश्चर्य नहीं होता वरन् अपनी अटकल को सम्बल ही प्राप्त होता है :—

"रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः ।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम् ॥"[5]

परन्तु महामहोपाध्याय डा० पी० वी० काणे को इसे उद्भटकृत मानने पर बड़ी आपत्ति है। उनका कहना है:—

"The verse in question is introduced by Pratiharenduraja with the words 'तदाहुः' and therefore it is merely a quotation from some other writer that preceded Pratiharenduraja. Besides that verse would break the usual order followed by Udbhata. That verse occurs in the comment on काव्यलिङ्ग, After defining काव्यलिङ्ग we naturally expect an illustration of it which is the verse: 'छायेयं तव शेषाङ्गकान्तेः किञ्चिदनुज्ज्वला। विभूषा घटनादेशाँ दर्शयन्ती दुनोति माम् ॥' While if Col. Jacob be followed the verse रसाद्यधिष्ठितं काव्यं would be abruptly thrust between the definition of काव्य-

५—पृ० ६०।

लिङ्ग and its example. Moreover the view that Udbhata approved of Rasa as the soul of poetry would be opposed to his own definition of रसवद् and the opinion of अलङ्कार सर्वस्वः 'उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणाम् प्रायशः साम्यमेव सूचितम्''''तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानाम्मतम् ।'....The printed edition puts the verse 'तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा' in bold type, as if it were a karika of Udbhata; but it is really a verse of Rudrata."[६]

लेकिन शोक के साथ कहना पड़ता है कि महामहोपाध्यायजी की उक्त 'अन्ते साध्वी' नहीं है। गम्भीर विचार करने पर हम उनसे सहमत नहीं हो पाते। कर्नल जैकब ने 'अलङ्कार सार संग्रह' का पाठमात्र प्रकाशित किया था जिस की हस्तलिखित प्रति उन्हें ब्यूलरमहाशय के संग्रह में उपलब्ध हुई थी। इस ग्रन्थ में प्रतीहारेन्दुराज की व्याख्या नहीं है। उद्भटकृत ग्रन्थ ही है।[७] अतः 'तदाहुः' के आधार पर उठाई गई शङ्का निर्मूल ही है। व्याख्या के शब्दों का मूलग्रन्थ के प्रामाण्याप्रामाण्य से बहुत सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

भवतु, हम अभ्युपगम का आश्रयण करके तनिक उस निर्णयसागरीय संस्करण का ही अवलम्ब क्यों न लें जिसमें प्रतीहारेन्दुराज की व्याख्या है और जिसका अध्ययन काणेजी ने किया है।

'आहुः' क्रिया का कर्त्ता कोई भी सम्भ्रान्त व्यक्ति हो सकता है जिसे प्रतीहारेन्दुराज के समय तक पर्याप्त समादर प्राप्त हो चुका रहा हो। 'उद्भटभट्टाः' को इस क्रिया का कर्त्ता मानने में कोई अड़चन नहीं पड़ती दिखाई देती। बल्कि आदरार्थक बहुवचन की सङ्गति और भी लग जाती है, क्योंकि किसी भी टीकाकार की दृष्टि में ग्रन्थकार ही सबसे अधिक आदरभाजन होता है। ऐसे बहुतेरे स्थल उक्त ग्रन्थ में हैं जहाँ प्रतीहारेन्दुराजने 'तदाह', 'तदाहुः', या 'तदुक्तं' लिखकर उद्भटका मत उद्धृत किया है:—

१—तदाह—'दर्शितेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च।'....
२—तदाहुः—'इवादिरप्रतीतोऽपि शब्दसंस्काराः क्वचित्।'....
३—तदुक्त—'तथोपमानादाचारे क्यच्प्रत्ययबलोकितः।'
४—तदुक्तं—'कल्पान्तमूर्तिभिरन्यैश्च तद्वतैः सा
निबध्यते कविभिः।'

इत्यादि। इनमें प्रथम एवं द्वितीय कारिकाएँ स्वयं ग्रन्थकारद्वारा उदाहरणोपस्कृत की गई हैं जिससे उनके उद्भटकृत होने पर कोई शङ्का की ही नहीं जा सकती। अन्य उपमादिविवेचन में लिखी गई कारिकाओं के अंश हैं। अतः वे उद्भट के लेख हैं अन्य के नहीं। इस प्रकार अवतरणार्थक 'तदाहुः' से न तो कोई कारिकाकर्तृत्व सिद्ध कर सकता है और न असिद्ध ही।

इसके अतिरिक्त इस कारिका के कारण उद्भट के द्वारा अपनाए गये किसी क्रम का उल्लङ्घन भी नहीं होता। वस्तुतः कोई वैसा विशेष क्रम भी नहीं है। आचार्य ने अक्सर अलङ्कारविशेष का एक ही कारिका में न तो लक्षण ही दिया है और न ठीक लक्षण के अनन्तर उदाहरण ही। कुल चालीस विवेचित अलङ्कारों में से बारह अलङ्कारों का लक्षणव्याख्यान एक से अधिक कारिकाओं में किया गया है। वे हैं—अनुप्रास, रूपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, रसवद्, श्लेष, विशेषोक्ति, भाविक और काव्यहेतु। इनमें आचार्य ने अलङ्कार का स्वरूप बताने के बाद व्याख्यान एवं भेद किये हैं और फिर उदाहरण। ग्रन्थकार का उद्देश्य अलङ्कारविशेष का शास्त्रीय स्वरूप पाठकों के समक्ष स्पष्ट करने का था। यदि उसने देखा कि लक्षणमात्र से काम चल जायगा तो उसने एक कारिका में लक्षण देकर उदाहरण दे दिया। यदि इतने से ही काम चलता नहीं देखा तो उसने उसकी व्याख्या कर दी, भेदादि भी दे दिए।

काव्यलिङ्ग के सम्बन्ध में पहली कारिका पर्याप्त नहीं दिखाई देती क्योंकि उतने से उक्त अलङ्कार का स्वरूप स्प

६—History of Sanskrit Poetics (p. 128—129)।
७—JRAS (1897) पृ० ८२१।

नहीं हो पाता। इसलिए ठीक उसके अनन्तर उदाहरण की आशा करना अनुपयुक्त है। प्रथम कारिका है :—

"श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते॥"

(यदि कोई सुनी बात कहीं और किसी याद या एहसास का बाइस बने)—स्पष्ट है कि इतने से काव्यलिङ्ग का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। क्योंकि इतने ही को पर्याप्त मान लेने पर लक्षण में अतिव्याप्ति आ जायगी। सारे स्वार्यानुमान काव्यलिङ्ग बन जायँगे। यदि किसी के धूमश्रवण के अनन्तर धूमाग्निव्याप्तिस्मरण का वर्णन कहीं किया गया तो वह उद्भट का काव्यलिङ्ग हो चलेगा। इसीसे उक्त कारिका में दिए गये लिङ्ग के सामान्य लक्षण के अनन्तर काव्य का लक्षण देना उद्भट का एक अनिवार्य कर्तव्य हो उठा। इतरथा सम्भावना ऐसी थी कि शुष्क तर्क और रससमन्वित काव्यलिङ्ग में कोई भेद ही नहीं रह जाय।

ऊपर की पहली कारिका में अधिक से अधिक जो उद्भट कर सके वह लिङ्गनिरूपण है इसीसे एक और कारिका उपनिबद्ध करके उन्होंने काव्यनिरूपण भी कर दिया। क्योंकि इसके अभाव में लक्षण अपूर्ण, अतिव्याप्त और बेकार साबित होता। वस्तुस्थिति यह है कि इस कारिका को किसी भी तरह "काव्यलिङ्ग के लक्षण और उदाहरण के बीच अनीहित रूप से सन्निवेशित" नहीं माना जा सकता। दूसरी कारिका पहली कारिका की पूरक है, उसके सद्भाव में काव्यलिङ्ग का लक्षण पूर्ण, तर्कसङ्गत और आभासहीन लगता है। अतः यह कारिका उक्त अलङ्कार के निरूपण के लिए आन्तरीयक है और निश्चित रूप से उद्भट की है।

जहाँ तक रसवद् अलङ्कार और काव्य की रसात्मकता के बीच विरोध होने की बात है, प्रतीहारेन्दुराज की विवृति पर्याप्त प्रकाश डालती प्रतीत होती है—

"यत्तु रसादीनामपूर्वमलङ्कारत्वमुक्तं तदेवंविधभेदाविवक्षया। तदेवं गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात् सरसमेव काव्यम्।"

अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद—काव्य के सौन्दर्यहेतु और काव्य की आत्मा के बीच का भेद-व्यर्थ का है। रस काव्य का आत्मभूत सौन्दर्य भी है और साथ ही सौन्दर्यहेतु भी। हेतुमद् और हेतु, शक्तिमद् और शक्ति, के बीच अभेद का प्रतिपादन भारतीय शास्त्रों एवं पुराणों की अपनी विशेषता है। 'रस' की व्युत्पत्ति इस पर काफी रोशनी डालती है। 'रसन रसः' और 'रस्यतेऽस्वादित रसः' की व्युत्पत्तियाँ अलङ्कार्यरस और रसालङ्कार को सामने प्रस्तुत करती हैं; काव्यसौन्दर्य और तत्सहायक दोनों ही 'रस' हैं। दोनों ही ध्वनि हैं। यह रस ही काव्य की रमणीयता भी है और उसके रमणीयक को समृद्ध कर देने वाला भी।

आचार्य रुय्यक भी जिन्हें कि महामहोपाध्यायजी 'ध्वनिवाद का कट्टर समर्थक'[८] मानते हैं रसवद् का लक्षण वही देते हैं जो आचार्य उद्भट के ग्रन्थ में है। तुलनार्थः—

रुय्यक : "रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि। × × × रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद्रसवत्।"[९]

उद्भट : "रसवद् दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।"[१०]

वैसे काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में रुय्यक ने भी लिखा है:—'रसादयस्तु जीवितभूताः।' कहने का आशय यह कि यदि अगुणीभूत रस या रसवदलङ्कार रुय्यक के रसात्मवाद के लिए असङ्गत नहीं तो वह आचार्य उद्भट के लिए ही वैसा क्यों माना जाय जब कि उन दोनों के लक्षणों में कोई भी तात्त्विक भेद नहीं है। इससे किसी वास्तविक असम्भावना की सम्भावना नहीं परिलक्षित होती कम से कम कारिका के प्रामाण्य में।

जहाँ तक 'अलङ्कारसर्वस्व' के 'अलङ्कारा एव प्रधानम्' की बात है इसकी अयुक्तता पर भामह पर लिखे गए निबंध में ही काफी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त रुय्यक के 'प्राच्य' केवल उद्भट ही नहीं अपितु भामह, दण्डिन्, रुद्रट और वामन भी हैं। दण्डिन् और रुद्रट का विवेचन

८—"a staunch advocate of Dhvani School."—H. S. P. (पृ० २६४)।

९—अलङ्कारसर्वस्व (पृ० २३२-३)।

१०—अलङ्कारसारसंग्रह (पृ० ५७)।

क्रम फिर प्रकाशित होगा, लिखा जा चुका है। वामन के सम्बन्ध में तो हमारे महामहोपाध्यायजी भी 'अलङ्कारसर्वस्व' की बात नहीं मानते। वामन को अलङ्कारवादी न मान कर ये स्वयं कहते हैं:—

"Vamana boldly asserts that रीति is the soul of poetry."११

कालिदास के शब्दों में 'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।' 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं। इसके अतिरिक्त मैं वयोवृद्ध व पितृकल्प आचार्य काणे के सम्बन्ध में कुछ भी कहना अनुचित और धृष्टतामात्र समझता हूँ।

अन्तिम तर्क जो बड़े अक्षरों में प्रकाशित होने पर आधारित है उसके सम्बन्ध में भी विशेष कहना ठीक नहीं समझता; इतना ही पर्याप्त होगा कि किसी सम्पादक, मुद्रक या प्रकाशक की ऐसी गलतियाँ कभी इतने बड़े मसले नहीं तय करतीं। गिनती डालना-न डालना या बड़े-छोटे अक्षरों में छापना ग्रन्थ के अंशविशेष की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का निर्णय नहीं कर सकते। और ऐसी छोटी-मोटी चीजों को इतना अहम बना देना इतने बड़े विद्वान को शोभा भी नहीं देता। और फिर जिस कर्नल जैकब के संस्करण पर यह आलोचना लक्ष्य करती है उसमें तो 'तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा' का पता भी कहीं नहीं चलता।

अतः हम पर्याप्त निश्चय के साथ कह सकते हैं कि महामहोपाध्यायजी के तर्क हमें रुचिकर तथा सङ्गत नहीं प्रतीत होते। उल्टे, वह कारिका स्पष्ट रूप से उद्भटकृत सिद्ध हो जाती है। और हमें कोई सन्देह इसमें नहीं रह जाता कि वह आचार्य उद्भट की ही है। और इसकी असन्दिग्धता के अन्य प्रमाण भी अनेक प्राप्त होते हैं।

आचार्य उद्भट के पूर्ण रसवादी होने का प्रमाण ये कारिकाएँ भी प्रस्तुत करती हैं:—

'रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे।
माधुर्यौजोयुतप्रौढे प्रतिबिम्ब्य प्रकाशते॥
सम्प्रीतस्वच्छशब्दार्थद्राविताभ्यन्तरस्ततः।
श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिचतुवर्गं परां व्रजेत्॥"

इस 'रसोल्लासी कवेरात्मा' का भाव तभी स्पष्ट होता है जब उसे हम भट्टनौत के निम्न कथन से मिला कर देखें—

"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः॥"

इसके अतिरिक्त आचार्य उद्भट ने रसवाद को अपने अमूल्य विवेकमणियों से समृद्ध भी किया है। वे पहले आचार्य थे जिन्होंने नाट्यशास्त्र व काव्यशास्त्र दोनों में शान्त को नवम रस के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की। वे कहते हैं:—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥

यही नहीं भावकत्व व रसकत्व पर भी एक नवीन दृष्टि डाली है:—

१—यदुक्तम्भट्टोद्भटेन—'चतुर्धा भावाः' इति।
२—यदुक्तम्भट्टोद्भटेन—'पञ्चरूपा रसाः' इति।

साथ ही जहाँ तक प्रेयस्वत्, ऊर्ज्जस्विन्, और समाहित अलङ्कारों का प्रश्न है उद्भट ने अपने किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य का अनुगमन नहीं किया है। यहाँ तक कि भामह का भी नहीं। आचार्य ने एक नए आलङ्कारिकनय की प्रतिष्ठा की है जिसका अनुसरण सारे रसवादियों ने किया है। हाँ, कुछ ने उन्हें एक नया रङ्ग प्रदान अवश्य किया है। आचार्य भामह ने इन अलङ्कारों का उदाहरण मात्र देकर चलता कर दिया है उनका निरूपण नहीं किया। दण्डिन् ने लक्षण किए हैं परन्तु उद्भट में और उनमें कोई एकता नहीं। दोनों के मार्ग भिन्न हैं। दण्डिन् की दृष्टि में प्रेयस् 'प्रियतराख्यान' है; ऊर्ज्जस्विन 'रूढाहङ्कार' है, और समाहितः

"किञ्चिदारभमाणस्य कार्यन्दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥"

और यदि हम भामह के उदाहरणों पर दण्डिन् के लक्षणों के आलोक में विचार करें तो वे बिल्कुल सच्चे और वफादार सिपाही साबित होंगे। भामह की दृष्टि में ये अलङ्कार इतने स्पष्ट प्रतीत थे कि किसी लक्षण की आवश्यकता ही नहीं मालूम होती थी। दण्डिन् ने काव्यशास्त्र के इन बहते परिभाषों को सूत्र की सुस्थिर रसना प्रदान की जिससे

११—History of Sanskrit poetics (p. 363).

कि अस्पष्टता को कोई गुंजाइश शेष न रहे। वामन ने रसवत् प्रेयस् और ऊर्ज्जस्विन् को विविध गुणों के अन्दर अन्तर्भूत कर दिया है। समाहित का लक्षणः—

"यत्साहदृश्यन्तरसमापत्तिस्समाहितम्।"

आचार्य उद्भट के लक्षण निम्न हैं:—

"रत्यादिकानाम्भावानामनुभावादिसूचनैः।
रत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥
अनौचित्यप्रवृत्तानाङ्कामक्रोधादिकारणात्।
भावानाञ्च रसानाञ्च बन्ध ऊर्ज्जस्वि कथ्यते॥
रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत् समाहितम्॥"

'अलङ्कारसर्वस्व' और 'कुवलयानन्द', जो रस सिद्धान्त के प्रौढ़ ग्रन्थ हैं, इन लक्षणों का अनुचरानुसरण करने में तनिक भी नहीं चूकते। प्रथम ग्रन्थ का उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है। अप्पय दीक्षित ने लिखा है:—

"रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्ज्जस्वि च समाहितम्॥"

बिलकुल शब्दशः रुय्यक की अनूक्ति है। रसवादियों के महान् सिद्धान्ती आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट ने इन सबको इतराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्दर अन्तर्भूत कर दिया है। यदि लक्षण करना अभीष्ट ही हो तब इन लक्षणों का आश्रयण किया जा सकता है:—

"रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा॥
रसवत्प्रेय ऊर्ज्जस्वि समाहितमिति क्रमात्॥"

इन सबका अपना योग केवल 'गुणीभूत' विशेषण तक सीमित है। वस्तुतः गम्भीर विवेचन करने पर यही बात समझ में आती है कि आचार्य उद्भट ने रसवादी दृष्टि को एक नवोन्मेष प्रदान किया। और उस उन्मेष से ही सारा आलङ्कारिक सम्प्रदाय समुद्भासित हो उठा। यही नहीं, काव्यशास्त्र के क्षितिज पर वह, वह वैभवी कला है जिसने शास्त्रीय चेतना की निशा का प्रथम-प्रथम 'प्रभा की धारा से अभिषेक किया' और जिसके अनन्तर ही निखिल नक्षत्रों ने ज्योतिष्करण किया; भले ही मिहिरमण्डल अभी दूर ही क्यों न रहा हो। इस राकेश और आनन्दवर्धन के दिनेश में यदि कोई तात्त्विक अन्तर है तो यही कि वह व्यञ्जना का तेजोधाम है जबकि उद्भट के यहाँ केवल तामसी ही तामसी है। वैसे रसवाद का आलोक दोनों ही का जीवन-संवोति है।

———

रामकाव्य की साहित्यिक-शैलियाँ

प्रो० कृष्णकान्त चौधरी, एम० ए०

रामकाव्य की शैलियों की व्याख्या के पूर्व पृष्ठभूमि के रूप में इस युग की भाषा और साहित्य साधना के विषय में कुछ जान लेना श्रेयस्कर होगा। रामकाव्य के कवियों ने हृदय के कोमल भावों के द्वारा राम की उपासना की है। इन कवियों के ऐसे आदर्श थे कि इनके चरित्र के संगठन में कवियों ने आदर्श का ही सहारा लिया है। वर्ण विषय के अनुरूप ही वर्णन की शैली भी आदर्श होगई है। इस काव्य के कवि तो अनेकों हुए हैं परन्तु तुलसीदास ही सर्वश्रेष्ठ और प्रधान कवि हैं। तुलसी के बाद थोड़ा बहुत केशवदास का नाम आता है। अतः राम काव्य कवियों में तुलसी और केशवदास की शैलियों का विवेचन करना ही पर्याप्त होगा। इन दो कवियों ने प्रायः इस युग की सभी शैलियों में अपनी काव्य रचना की है। शैली का कोई ऐसा रूप नहीं होगा जो तुलसीदास के काव्य में नहीं पाया जाता है।

राम काव्य की शैली प्रधान रूप में तो प्रबन्धात्मक है। तुलसी और केशवदास दोनों ने प्रबन्ध काव्य लिखा है। तो भी गीत काव्य का अभाव भी इस युग में नहीं मिलेगा। जहाँ तुलसीदास जी ने दोहा और चौपाई की शैली में प्रबन्ध काव्य लिखा है, वहाँ कवित्त और सवैया की शैली में गीत काव्य का भी प्रणयन किया है। तुलसीदास के पूर्व प्रेम-काव्य युग में जायसी ने अवधी भाषा में चौपाई और दोहों की शैलियों में प्रबन्ध लिखा था। गीत-काव्य का भी श्रीगणेश कबीर और इनके पूर्व हो गया था। अतः तुलसी के समय में काव्य की जितनी शैलियाँ प्रचलित थीं। इन शैलियों में प्रमुख थीं—चारण काल की छप्पय पद्धति, विद्यापति की गीत पद्धति, गंग आदि कवियों की सवैया और कवित्त पद्धति, कबीर की दोहा पद्धति और जायसी की चौपाई-दोहों की प्रबन्ध-पद्धति। इन सारी प्रचलित शैलियों में इन्होंने लिखा है।

इनके युग में भाषा के भी दो रूप थे। अवधी भाषा जायसी ने अपने काव्य में अपनाई थी और ब्रजभाषा सूर आदि के काव्य में प्रयुक्त हुई थी। तुलसीदास ने अपनी शैलियों का सौन्दर्य दोनों भाषाओं में प्रकाशित किया। केशवदास के काव्य में यह बात नहीं पाई जाती है। इनकी शैली सरल न होकर पांडित्य पूर्ण और अलङ्कारिक होगई है। इसका एकमात्र कारण था कि तुलसी का हृदय भक्त हृदय था और केशव का शास्त्रीय। भक्ति के आवेश में तुलसी की शैली मधुर और भावुक हो सकी है, परन्तु भक्ति-शून्य हृदय होने के कारण केशवदास की शैली अलङ्कारिक और दुरूह हो गई है।

अभी आप तुलसी की शैलियों का रसास्वादन कीजिए। तुलसी राम काव्य के ही सर्वश्रेष्ठ कवि नहीं हैं, बल्कि हिन्दी साहित्य जगत में वे अद्वितीय और महान् हैं। तुलसी ने कहीं भी अपनी शैलियों का प्रयोग शैली के लिए नहीं किया है, बल्कि ये शैलियाँ स्वभाविक और सरल हैं। इन्हें सरस और सुन्दर बनाने का बनावटी प्रयास नहीं किया है। भावों के स्वाभाविक प्रकाशन के साथ शैलियों का भी स्वाभाविक रूप निखर आया है। काव्य-कला के तुलसी बड़े विशेषज्ञ थे। अपने काव्य कला के विषय में उनका मत बड़ा स्पष्ट है। इनकी काव्य कला की शोभा न अलङ्कार है, न अर्थ, न छंद और न प्रबन्ध ही। भक्त के हृदयों के स्वच्छ भावों का अर्पण राम के चरणों में है। बस, इसी का स्वाभाविक प्रकाशन इनके काव्य का गुण है। स्वाभाविक और सरल भावों के व्यक्त करने के जो ढङ्ग हैं वे ही इनके काव्य का सौन्दर्य है। सुनिये :—

"आखर अरथ अलंकृति नाना।
छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा।
कवित्त-दोष गुन विविध प्रकारा॥
कवित्त विवेक एक नहीं मोरे।
सत्य कहऊँ लिखि कागद कोरे॥"

काव्य शैलियों के उपर्युक्त गुण तुलसी के अलंकार करने पर, न प्रयास के पश्चात भी इनके काव्य में पाये जाते हैं। भाषा को वे वाह्याडम्बरों से दबाना नहीं चाहते थे। सरल और जन साधारण के बोधगम्य ही बनाना इनकी शैली का गुण है। इनके ही शब्दों में:—

"सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥"

शैली की भाषा तो जन-साधारण के लिये सरल तो है ही। इनके आदर्श चरित्र नायक भी महान और दिव्य गुण सम्पन्न व्यक्ति हैं। यही कारण है कि इनकी शैली पर विषय और ऐसे महान व्यक्तित्व वाले नायक के चरित्र का प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का फल यह हुआ है कि शैली खासकर 'रामचरित मानस' और 'विनय-पत्रिका' की बहुत सराबोर और आदर्श हो सकी है। इनकी शैलियों का बाँकपन प्रकृति एवं सौन्दर्य के वर्णन में अधिक निखर सका है। सीता के सौन्दर्य में जितनी कोमलता और मधुरता का समावेश हुआ है उसके वर्णन की शैली भी इससे रिक्त नहीं है। उपमा और उत्प्रेक्षा के सहारे अपूर्व शोभा का सृजन किया गया है। इतने पर भी अगर कवि को कोई उपमा नहीं मिलती है तो कवि का शब्द-कोष ही खाली पड़ जाता है। यह सौन्दर्य की रमणीयता है या शैली की कहा नहीं जाता। पाठक किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जायँगे इसे पढ़ कर। लगे हाथ देख ही लीजिए—

"गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूप मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मन्दरू सिंगारू।
मथै पानि पङ्कज निज मारू॥
यहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कवि, कहैं सिय सम तूल॥"

कल्पना और भाषा दोनों की पराकाष्ठा पहुँच गई है। उपमा और उत्प्रेक्षा तो जैसे स्वाभाविक रूप में ही आगई है। कोमल आनुप्रासिक शब्दों का चयन तो इतना अपूर्व हुआ है कि शैली की गति और तंत्र एवं सुरुचि सम्पन्न हो गई है। जितना भी शैली के बारे में कहा जाय थोड़ा ही है। रस से इतना सराबोर होने पर भी छिछलापन के बदले गम्भीरता ही शैली में प्रकट हुई है। यह तो सीता के सौन्दर्य का चित्र हुआ। राम के रूप का जो वर्णन कवि ने उपस्थित किया है वह भी अवर्णनीय है। अलङ्कारों, शब्दों एवं वाक्य-विन्यास के रूप इतने स्पष्ट और मधुर हैं कि शैली तो रस से बिल्कुल आप्लावित हो गई है। एक झाँकी लीजिए:—

'काम कोटि छबि स्याम सरीरा।
नील कञ्ज बारिद गम्भीरा॥
अरुण चरण पंकज नख जोती।
कमल दलन्ह बैठे जनु मोती॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे।
नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।
नाभि गम्भीर जान जेहिं देखा॥
मंजु विसाल भूषण भुज भरी।
हिय हरि नख अति सोभा खरी॥
उर मनिहार पदिक की शोभा।
विप्र चरण देखत मन लोभा॥
कम्बु कंठ अति चिबुक सुहाई।
आनन अमित मदन छबि छाई॥'

कितनी मधुर शैली बन सकी है। कोमल शब्दों का प्रयोग, अलंकारों का व्यञ्जना बड़ी सुन्दर हो सकी है। मालूम पड़ता है राम की कोई प्रतिमा ही सौम्य और गम्भीर रूप में सामने खड़ी है। तो इनके सौन्दर्य वर्णन की शैली के बारे में यह कहा जा सकता है कि सर्वत्र सरलता, सरसता, सात्विकता और हार्दिकता के दर्शन होते हैं।

कवि की चौपाई और दोहे की शैली प्रेम-काव्य की शैली से आकार और प्रकार में भिन्न है। प्रेम काव्य में कहीं पाँच और कहीं सात चौपाई के बाद एक दोहे का प्रयोग हुआ है, किन्तु तुलसी ने हर आठ चौपाई के पश्चात् एक दोहा का प्रयोग किया है।

रसों का परिपाक रामचरित मानस में हुआ है। जहाँ रस का परिपाक हुआ है वहाँ की वर्णन शैली भी सरस और गतिमयी हो गई है। प्रधान रूप में शृङ्गार, करुण और वीर-रस का प्रवाह जहाँ जहाँ प्रवाहित हुआ है वहाँ शैली का रूप भी निखरा सा मिलता है। रसों के साथ शैली भी रसों में डूबती उतरती चलती है। कितनी वेदनामय शैली बन गई है। लक्ष्मण को शस्त्र लगा है। जीवन की अवधि सुबह तक ही है। सूर्योदय से पूर्व हनुमान नहीं आये तो लक्ष्मण का अन्त ही है। सुबह हो रही है। हनुमान नहीं आये हैं। राम अपने भाई के प्रेम में व्याकुल हो करुण विलाप कर रहे हैं। कितनी करुण शैली होगई है करुण भावना के संयोग से। इस विलाप को सुन कर कौन नहीं रो देगा। निश्मयः—

"जो जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस विचार जिय जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥"

फिर :—

जैहउँ अवध कौन मुँह लाई।
नारि हेतु प्रिय भाई गँवाई॥
निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी।
सब विधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥
बहु बिधि सोचत सोच विमोचन।
स्रवत सलिल राजिव दल लोचन।"

पढ़ते ही मन पर इसकी इतनी करुण छाया पड़ती है कि मन उद्विग्न हो जाता है। कोई भी इन पंक्तियों को पढ़ कर या सुन कर शैली के करुण प्रवाह में बह जायगा। इसके अलावा जहाँ हास्य रस का विकास हुआ है, वहाँ की शैली विमुग्धकारी और हास्यपूर्ण होगई है। शैली के प्रथम स्पर्श से ही मन गुद-गुदा जाता है और मधुर हास्य की स्वर्णिम रेखायें ओठों पर खिल जाती हैं। शैली की गति और प्रवाह में दूना वेग हो जाता है। देखिए नारद मोह का वर्णन है। नारद की कपि मुखाकृति देख कर हास्य की मुस्कान मुख-प्रदेश पर फूट पड़ती है। शैली की फुलझड़ियाँ भी हास्य के साथ ही झड़ती चलती हैं। चित्र निरूपण कीजिए।

"करहिं कूटि नारदहि सुनाई।
नीक दीन्हि हरि सुन्दरताई॥
रीझिहि राजकुअँरि छवि देखी।
इन्हहि बरिहि हरि जानि बिशेषी॥
काहुँ न लखा सो चरित बिशेषा।
सो सरूप नृप कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही।
देखत हृदय क्रोध भा तेही॥"

और जब राजकुमारी ने राजकुमार का वर्णन कर लिया तो नारद के साथ गण कहते हैं।

"मुनि अति बिकल मोहँ मति नाठी।
मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी॥
तब हर गन बोले मुसुकाई।
निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई॥
अस कहि दोउ भागे भयँ भारी।
बदन दीख मुनि बारि निहारी॥"

यह तो चौपाई और दोहे के छन्दों में रामचरित मानस की शैली समीक्षा हुई। अब गीतों की शैलियों का निरूपण आप कीजिए। मानस की जो वर्णन शैली तुलसी की है वह अनूठी है। संस्कृत के सर्ग बद्ध पद्धति पर इसकी रचना कर प्रबन्ध-काव्य की वर्णनात्मकता को और रोचक बना दिया है। रूपकों का कहीं भी चित्र नहीं आँका गया है साधारण रूप में सरल ढङ्ग से कवि की उक्ति बड़ी हृदय स्पर्शी और मधुर बन पड़ी है।

गीतों की शैली में कृष्ण काव्य की अपेक्षा राम काव्य में कम माधुर्य है। तुलसी के जो गीत हैं वे उतने सरस और संगीतात्मक नहीं हो सके हैं जितने सूर के पद हैं। इसका एक मात्र कारण विषय और आदर्श का चुनाव और

प्रतिपादन है। राम जो तुलसी के चरितनायक हैं, आदर्श पुरुष हैं, भगवान हैं और तुलसी उनके दास। किन्तु कृष्ण का जीवन एक भाव-प्रधान (Romantic) जीवन है जिसमें माधुर्य और प्रेम है। राम के जीवन में प्रसाद और शील है। अतः दोनों कवियों की काव्य-शैली में यह अन्तर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। तुलसी के पद में भी प्रसाद और शील का समावेश है। 'विनय-पत्रिका' में राम के शील और गुण का जो वर्णन है वह बड़ा ही गम्भीर और संयत भाषा में है। उक्त मुक्तक ग्रन्थ की रचना पदों में होने की वजह से ब्रजभाषा ही उपयुक्त भाषा गीतों के लिये प्रतीत हुई। ब्रजभाषा में तो एक अपनी मिठास है ही, दूसरे प्रेम और श्रृंगार के संयोग ने इसे और मधुर बना दिया है। श्री रामकुमार वर्मा के शब्दों में गीतकाव्य की परिभाषा यों कर सकते हैं।'

'गीत काव्य अन्तर्जगत काव्य है। उसमें विचारों की एक रूपता संक्षिप्त होकर व्यक्तित्व को साथ ले संगीत के सहारे प्रकट होती है।'

व्यक्तित्व की यह छाप तुलसी की शैलियों पर अमिट रूप से है। जैसा सौम्य और गम्भीर इनका व्यक्तित्व है, उतनी ही गम्भीर और शान्त इनकी शैली है। इनकी शैली में इनकी स्वयं की आत्मा साक्षात रूप में प्रकट हुई है। क्या मजाल कि इनके गीतों को पढ़कर आप खिल्ली उड़ावें और ये आपको गंभीर एवं सौम्य नहीं बनावें। संगीत की राग-रागिनियों का सुन्दर समावेश इनके गीतों में मिलता है। भावना के अनुरूप ही रागिनी का प्रादुर्भाव हुआ है। जैसी भावना वैसी रागिनी। अतः इन्हें पढ़ कर आप अनुभूति के सागर में उठेंगे गिरेंगे। आत्मग्लानि का एक पद है। भक्त अपने को आराध्य देव के चरणों में समर्पित कर देता है। पद है :—

"अबलौं नसानी अब न नसैहौं।
राम कृपा भव निसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं॥
पायो नाम चारु चिन्तामनि, उर करते न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी, रघुपति पद-कमल बसैहौं॥"

इस पद की अनुभूतिपूर्ण संगीतात्मक शैली बड़ी मार्मिक बन पड़ी है। अतीत की स्मृति कवि के मस्तिष्क पटल पर अंकित होते ही ग्लानि का प्रादुर्भाव होता है। शैली प्रसाद गुण सम्पन्न हो कर व्यक्त होती है। हृदय के भावों के स्वाभाविक एवं सरल प्रकाशन में अलङ्कार अपने आप चले आये हैं। अलङ्कारों का संयोग यहाँ भावों का भार नहीं है, बल्कि भावों को सरसपूर्ण ढङ्ग से व्यक्त करने का साधन है। अनुप्रास, उपमा अलङ्कार यहाँ आपको सर्वत्र मिलेगा।

कहीं-कहीं गीतों की यह शैली दुरूह हो गई है। वहाँ सिर्फ शब्दों की चमत्कारिता मिलती। गीतात्मक शैली भावुकता पूर्ण नहीं होकर वर्णन प्रधान हो गई है। ऐसा आपको वन्दना के पदों में मिलेगा। 'गीतावली' में कवि की शैली भावुकता पूर्ण गीतों में व्यक्त हुई है।

शैली की दृष्टि से 'कवितावली' की रचना बहुत महत्व पूर्ण है। तुलसीदास की विभिन्न शैलियों का दर्शन एक साथ ही इस ग्रन्थ में होता है। बालकाण्ड में भाषा और शब्दों का चमत्कार है तो उत्तरकाण्ड में अर्थ की गम्भीरता है। सबसे बड़ी बात यह है कि कवितावली कवित्त और सवैया की शैली में लिखी गई है। इस शैली का इतना सुन्दर और परिमार्जित विकास हुआ है कि देखते ही बनता है। तुलसी के आराध्य राम की मर्यादा स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई है। देखिए दशरथ की गोद में बालक राम को।

"अवधेस के द्वारे सकारे गई
सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकिहौं सोच विमोचन को
ठगिसी रही जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मन रंजन रंजित अञ्जन
नयन सुखञ्जन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै
नव नील सरोरुह से विकसे॥"

इन पंक्तियों में शब्द की चमत्कारिता जितनी देखने को मिलती है उतनी भावों की नहीं। हाँ, वर्णन का ढङ्ग ऐसा है कि शैली की आकर्षण शक्ति बढ़ गई है। सबेरे—सब से दो सखियों ने राज दरबार में बालक राम को राजा

दशरथ की गोद में देखकर अलङ्कारों के बीच उनके रूप का वर्णन प्रस्तुत किया है।

देखिए हास्य के बीच शैली की मार्मिकता कितनी बढ़ गई है। केवट की बातों पर राम मुँह खोल कर हँस देते हैं। उक्ति कितनी सरस और माधुर्य से ओत-प्रोत है। कहने का ढङ्ग इतना अनोखा है कि चुम्बक के समान लोग इधर खिंच जाते हैं।

> 'रावरे दोष न पाँयन को,
>   पग धूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
> पाहन ते बन-बाहन काठ को,
>   कोमल है जल खाइ रहा है॥
> पावन पाँय पखारि कै नाव,
>   चढ़ाइहौं आयसु होत कहा है।
> तुलसी सुनि केवट के बर बैन,
>   हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥६॥"

हास्य के एक छींटे से शैली कितनी चलती और मनोमोहक हो गई है। तो तुलसीदासजी की शैली के विषय में कहा जा सकता है कि यह सरल है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग होने पर भी कहीं दुरूहता का भान नहीं होता है। यह स्वाभाविक और विदग्धतापूर्ण है। अतः आद्योपान्त आप किसी भी ग्रन्थ को पढ़ जायँ, पर आप उकतायेंगे नहीं। कहीं आप अरुचि भी अनुभव नहीं करेंगे। जितनी बार पढ़िये नए-नए आनन्द का अनुभव होगा। रसों का परिपाक ऐसा हुआ है कि रुचि का परिमार्जन होता रहता है। सङ्गीतमयता की भी कमी नहीं है। सङ्गीत के लय और सुरों का मिश्रण बारीक ढङ्ग से हुआ है। यही कारण है कि देहातों में शाम के समय किसी चौपाल में बैठकर गाँव के किसान झाल और ढोलक पर रामायण की चौपाइयों को सुन्दर ढङ्ग से गाते हैं। गाने के मधुर स्वर को सुनकर ही आप कह पड़ेंगे कि रामायण हो रहा है। अजब शैली है! अनोखी और अपूर्व। आज से लेकर बड़े बड़े मनीषि तक इसे गाते और अध्ययन करते हैं। रामायण की शैली में कहीं-कहीं उपदेशात्मक शैली भी प्रत्यक्ष रूप में सामने आती है। ये उपदेश बड़े सरस और समयोपयोगी हैं। शृङ्गार रस की निष्पत्ति जहाँ हुई है वहीं यह शैली व्यवहृत है। शिक्षा और नीति की शैलियाँ भी कहीं कहीं लक्षित होती हैं। 'दोहावली' में नीति की शैलियों का प्रयोग अच्छा हुआ है। सम्पूर्ण रूप से तुलसी के काव्य में शैलियों की विविधता आपको मिलेगी।

प्रयोगिक काव्य की भूमिका

श्री रामपाल बजाज

बड़ी ही गम्भीरता से यह बात कही गई कि प्रयोगवाद का कोई सैद्धांतिक आधार नहीं है।[1] एक दूसरे आलोचक ने मत व्यक्त करते हुये कहा "काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्व की संवेदनीय व्यञ्जना काव्य का काम नहीं है।....प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की खोज में काव्य के इसी मर्म पर चोट की है और परिणाम यह हुआ कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है।" इसके साथ उपर्युक्त निबन्ध में ही आपने लिखा "दूसरे वर्ग (प्रयोगवादी) ने सामाजिक राजनैतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुये भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा"[2] एक अन्य समीक्षक का मत है कि 'छायावाद के पतन से लेकर प्रयोगवाद के आरम्भ तक, यानी १९४३ तक के बीच के समय में इस युग की विचार धारा ने कई रङ्ग पलटे......परन्तु उठती हुई जनचेतना ने उसे विफल कर दिया। अस्तु अन्त में आकर उन्होंने पश्चिम के पतनोन्मुख पूंजीवाद में उदित प्रयोगवाद का नारा दिया।[3] एक अन्य आलोचक ने प्रस्तुत काव्य के अस्तित्व से ही इन्कार किया[4] तो एक समीक्षक इसे प्रतीकवाद का अभिनव रूपान्तर कहने से नहीं हिचके। गोया जेम्स जॉयस ने ही सारा ठेका ले लिया हो।[5] यह दूसरी चीज है कि कोई विरासत (प्रतीकवाद) से आपकी व्यक्तिगत नाराजी हो।

जहाँ तक वाद का प्रश्न है तो स्वयं अज्ञेय इसे वाद नहीं मानते हैं, बल्कि उसके वादत्व का विरोध भी उन्होंने किया है।[6] और न ही अन्य अन्य प्रयोगवादी कहे जाने वाले कवि इसे एक वाद के रूप में स्वीकार करते हैं।

अस्तु, प्रयोगिक काव्य की चेतना को समझते हुये पहले यह आवश्यक है कि प्राप्त निष्कर्षों पर विचार कर लिया जाये।

यह बात पूर्णतः सङ्गति-विहीन है कि प्रयोगिक काव्य का कोई सिद्धान्त नहीं। इस काव्य सरणि का निषेध ही अपना एक सिद्धान्त है। हाँ सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसका क्षेत्र जीवनव्यापी हो, तथा काव्य की विषय वस्तु और शिल्प पर समान रूप से लागू हो। ऐसा भी तो सिद्धान्त हो सकता है जिसका सम्बन्ध सिर्फ साहित्य के रूपात्मक पक्ष से ही हो। केवल मात्र शिल्प से सम्बन्ध रखने वाले काव्य-सिद्धान्त होते आये हैं। मध्ययुग की यह दरबारी विरासत आज नये रूप में भी तो आगे आ सकती है। प्रयोगवाद का सारा ढाँचा इलियट के निर्वैयक्तिकरण के सिद्धान्त पर खड़ा है। और यह सिद्धान्त क्या है? मध्ययुग (सामन्त युग) के पतनकालीन दरबारी साहित्य का आधुनिक संस्करण। यहाँ इस सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय ही अभीष्ट है।

इस सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल काव्य के बहिर्गत पक्ष से है। कन्टेंट में वह दखलन्दाजी नहीं करता। हाँ यह बात दूसरी है कि आपको वह फार्म लाने के लिए अपने काव्य के कन्टेन्ट में स्वयं ही रद्दोबदल करना पड़े। क्योंकि कन्टेन्ट के सम्बन्ध में अधिकतर मौन रहते हुये भी इतिहास की चेतना के सम्मुख व्यक्तित्व के उत्सर्ग की बात पर इलियट ने काफी जोर दिया है। दूसरी बात यानी डा० नगेन्द्र का मत अपने आप में उलझन है। यह कैसे सम्भव है कि अपना साहित्यिक स्वरूप बनाये रखने पर भी प्रयोग-

१—शचीरानी गुर्टू, 'साहित्यिकी'।

२—डॉ० नगेन्द्र 'विचार और विवेचन'।

३—रामेश्वर शर्मा, "राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य"

४—नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य'।

५—शिवदानसिंह चौहान, आलोचना, अङ्क २।

६—अज्ञेय, 'दूसरा सप्तक' की भूमिका।

७—शमशेर बहादुरसिंह, आलोचना अङ्क २।

वादी काव्य, काव्य नहीं रह गया ? इस समीक्षा को निश्चय ही अन्तर्चेतन और निरीक्षक-चेतन के द्वन्द्व से ही निसृत मानना चाहिए। तीसरी बात कि प्रयोगवाद भारतीय साहित्य में पूँजीपति वर्ग की अभिव्यञ्जना है, सुनकर ऐसा लगता है जैसे पश्चिम की परिस्थितियों को यान्त्रिक रूप से भारत की स्थिति पर लागू किया जा रहा है। और देश में मौजूद वर्ग-सम्बन्धों, विशेषकर सामन्ती रिश्तों को नजरअन्दाज किया जा रहा है। वाजपेयीजी के तर्क तो जैसा कि अज्ञेय ने कहा प्रतिवाद की आवश्यकता ही नहीं रखते।

सर्वप्रथम टी० ऐस० इलियट के काव्य सम्बन्धी उस सिद्धान्त को लिया जाये जिसके आधार पर बीसवीं सदी के कवियों ने एक विशिष्ट प्रकार की काव्य-सरणि को जन्म दिया है। यह पद्धति अपनी दुरूहता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी है। इसका सैद्धांतिक आधार अंग्रेजी के कवि तथा आलोचक टी० ऐस० इलियट ने अपने विविध निबन्धों में प्रस्तुत किया है।

इलियट के मतानुसार कविता कवि के व्यक्तित्व से कोई सरोकार नहीं रखता। कविता व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना न होकर व्यक्तित्व से पलायन है। कलासृजन के समय कलाकार का मन केवल एक माध्यम का काम करता है, जो विविध अनुभूतियों को एक सूत्र में ग्रंथित कर काव्य के रूप में परिणित कर देता है। इस सृजन प्रक्रिया की तुलना इलियट ने एक रासायनिक क्रिया से की है। और कलाकार के मन को एक प्लेटीनम का तन्तु माना है। इसी आधार पर इलियट ने कलाकार के भोक्ता और सृष्टा मन की कल्पना की और उनके पृथकत्व को—और अधिक पृथक्त्व को—श्रेष्ठ कला का जनक माना। इससे जो तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आते हैं उनसे यह प्रकट होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि काव्य के सम्बन्ध में यह सिद्धांत काव्य का एक कल्पित ढांचा प्रस्तुत करता है। क्योंकि इस प्रकार का साहित्य आज तक किसी देश, जाति और भाषा में मिलना दुर्लभ है। अस्तु प्रस्तुत लक्षण (सिद्धान्त) लक्ष्य ग्रन्थों के अभाव में ही बने प्रतीत होते हैं। दर्शन की शब्दावली में कहें तो कहना होगा कि बिना प्रयोग और अमल के यह सिद्धान्त निकाला गया है। आजतक की साहित्यसृष्टि में उसके सृष्टा मनीषियों का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित हुआ है। चाहे वह गीतिसाहित्य (व्यक्तिपरक) रहा हो चाहे प्रबन्धात्मक (वस्तु परक)। और गीतिकाव्य में जो सृष्टा (कलाकार) का व्यक्तिगत दुःख सुख ही प्रधान तथा आत्माभिव्यञ्जना का तत्व प्रमुख है। इस प्रकार यदि इलियट के मत को काव्य की कसौटी मान लिया जाये तो आजतक के सारे काव्य को काव्य मानने में इन्कार करना पड़ेगा क्योंकि इलियट के मतानुसार काव्य वह है जिसमें व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना न होकर उससे पलायन हो। और आज तक का साहित्य यह प्रकट करता है कि उसमें उसके सृष्टा व मनीषियों का व्यक्तित्व अभिव्यञ्जित हुआ है। और फलतः इलियट की कसौटी के अनुसार वह सब काव्य नहीं है। इस प्रकार इलियट अप्रकट रूप से आज तक की उदात्त कला सृष्टि का निषेध करते हुए नजर आते हैं। इस परिभाषा के सम्बन्ध में एक नये भ्रम की सृष्टि करते हुए श्री शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है। "इलियट के दृष्टिकोण में एक और असंगति स्पष्ट है कि यद्यपि वह व्यक्तिवाद और व्यक्तित्व से जान छुड़ाता है तो भी 'टाइरेसिअस' नामक व्यक्ति जो देखता है वही उसकी कविता का सार है, अर्थात् वह व्यक्तिवाद को उगल कर उसे पुनः चाटता है।"[१] वस्तुतः यह प्रश्न व्यक्तिवाद का नहीं है। वरन् यह सिद्धान्त तो है ही उन कवियों के लिये जिनका कि व्यक्तित्व क्रान्तिकारी हो। यदि उन्हें यह कहा जाये कि आप क्रान्ति का साहित्य न लिखिये तो काम नहीं चलेगा, यह संभव भी नहीं है। किन्तु यदि उन्हें यह कहा जाय कि आप क्रान्ति का साहित्य लिखिये किन्तु ऐसा लिखिये कि उसमें आपका व्यक्तित्व न उतरे तो सम्भव है धोखा दिया जा सकता है, बात मनवाई जा सकती है, नई चिड़ियायें फंस सकती हैं। इसीलिये इस सिद्धान्त का प्रयोग हिन्दी के उन्हीं कवियों पर किया गया, जो भविष्य के क्रांतिकारी काव्य के सृष्टा बन सकते थे। और इस प्रकार कवि को बड़े आराम से प्रयोगशाला में बिठाया जा सकता है। चौहान इस भूमिका को साफ नहीं करते

१—देखिए—प्रगतिवाद पृष्ठ ६२।

कवि का मन एक सामाजिक महत्व रखता है वह एक स्पष्ट सी चीज है। परन्तु इलियट ने उसके जो दो भेद किये उनका क्या वैज्ञानिक आधार है। वस्तुतः यह एक कल्पित चीज है, छलना है। इसका कारण यही है कि इलियट कवि के सृष्टा मन को दो भागों में बाँट कर इस दिशा में प्रयास करते हैं कि किसी प्रकार कवि को सामाजिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाये। इसलिए भोक्ता मन जिसका क्षेत्र समाज है को सामाजिक चेतना से संयुक्त तथा सृष्टा को उससे रहित मानने का अवैज्ञानिक एक काव्य सिद्धान्त तैयार किया गया और दोनों के पृथक्त्व की कल्पना की गई। 'टायरेसिया' को हम इसी सृष्टा मन का प्रतीक मान सकते हैं। इलियट के इस सृष्टा मन का चमत्कार देखना है तो 'वेस्टलेण्ड' में देखिए :—

Oh keep the dog far hence,
that's friend to men,
or with his nails he will
dig it up again.
—The Waste Land.

इन पंक्तियों पर लिखते हुए कतेन्थ ब्रुक्स ने लिखा है—

"I am inclined to take the Dog.... as Humanitarianism and the related philosophies which in their concern for man extirpate the Supernatural & dig up the corpse of the buried god and thus prevent the rebirth of life."

इलियट ने अपने सिद्धान्त को अमल में लाने का जो रास्ता अपनाया है वह हास्यास्पद है। यह रास्ता इस प्रकार है कि कवि इतिहास की चेतना के सम्मुख अपने व्यक्तित्व का उत्सर्ग करदे। इलियट के इस इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण को आर० डि०न० थामस ने इलियट के मानव समाज के व्यापक तत्वों के विचारों सम्बन्धी कुञ्जी कहा है।*

यहाँ इलियट प्रतिपादित इतिहास की समीचीन चेतना हमारा विवेच्य विषय नहीं। अन्त में यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि इलियट के इस काव्य सम्बन्धी विचित्र और ऊटपटांग सिद्धान्त का विवेचन यहाँ इसलिए अपेक्षित था, क्योंकि प्रयोगिक कहे जाने वाले काव्य का एक बड़ा भाग प्रणाली के रूप में इस पद्धति का सचेतन रूप से उपयोग करता है। देखें तो हिन्दुस्तानी कविता की यह प्रयोगशाला अपने नाजो गुरु की परम्परा को कहाँ तक आगे बढ़ाती है। यह फासिज्म (हिन्दुस्तानी) भी तो नये तरह का है। यानी पूँजीवाद के विकास के बाद नहीं वरन् उसका गर्भगत है जो सामन्तवाद की गोद में खेल रहा है।

* "Eliot's attitude to time and history is in many ways a key to his views on wider aspect of human society."—'T. S. Eliot and Culture', Modern Quarterly, Vol. 6. 2, Spring 1951.

———

आचार्य शुक्ल की परम्परा*

श्री कृष्णवल्लभ जोशी

यन्त्र युग ने न केवल हमारे कर्मक्षेत्र में ही एक अपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया, अपितु हमारे मानसिक और बौद्धिक जगत में भी एक ऐसी क्रान्ति की जिसमें युगों के—शताब्दियों के परिवर्तन, आँधियाँ और उथल पुथल ये सब फीके और निर्जीव प्रतीत होने लगे। वस्तुतः यह परिवर्तन व्यवहारिक क्षेत्र में जितना परिमाणात्मक लगता है; मानसिक जगत में उतना ही गुणात्मक—बल्कि दोनों ही प्रकार का।

भारतेन्दु युग से आज तक जो हमारे हिन्दी साहित्य ने करवटें बदलीं हैं वह भारत के तेज़ी से बदलते हुए युगीन सत्यों और वस्तुस्थितियों (Objective realities) का ही कारण है इसके लिए किसी अपर विश्लेषण की गुञ्जाइश नहीं। हिन्दी के समीक्षकों में पहली बार इस वस्तुसत्य को अगर किसी ने हृदयङ्गम किया था तो वे थे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। यद्यपि यह सही है कि अपने विशिष्ट संस्कारों और तद्युगीन चिन्तनाओं के कारण उनके ये युग सत्य और वस्तुस्थितियाँ गत्यात्मक Dynemic न बन सके और एक युग विशेष को ही अपना आदर्श बना कर सभी काल के साहित्य को एक ही दृष्टिकोण से उन्होंने आँका किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके समीक्षा साहित्य में इस बात का अभाव है, उन्होंने इस सत्य की अवहेलना की है।

एक ऊपरी सतह पर सोचने से आज का साहित्यिक विचारक निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि हिन्दी का समीक्षा साहित्य एक अराजकता की ओर अग्रसर हो रहा है। इधर अज्ञेयजी टी० ऐस० इलियट और डी० एच० लारेन्स की उतरन द्वारा हिन्दी के पाठकों पर अपनी धौंस जमाने का यत्न करते हैं और उधर डा० नगेन्द्र अब भी (जबकि मनोविश्लेषण शास्त्र फ्रायड से कितना ही आगे बढ़ गया है) फ्रायड के स्वर में ही अलापते हुए नज़र आते हैं। नवीनता के उपासकों को इन दोनों महानुभावों के कृतित्व काफी लुभावने प्रतीत होंगे। किन्तु अगर हम गहराई में आधुनिक समीक्षा साहित्य का मनन करें तो स्पष्ट रूप से यह दृष्टिगत होगा कि आचार्य शुक्ल की परम्परा अपने सही रूप में विकास पा रही है, उन्हीं के दृढ़ आधारों पर हमारा आज का आलोचना साहित्य का महल खड़ा होने जा रहा है।

किसी भी परम्परा के विकास का मतलब यह नहीं कि तद्युगीन विचार अपने सरणिगत विकास में ठीक उसी रूप में उतरते चले जायें जैसा कि वे मूलतः थे बल्कि परम्परा के सही विकास का अर्थ तो यह है कि वह परम्परा अपने आप ऐसी ढलती चले, उसमें अपने आप ऐसे परिवर्तन उपस्थित हों जो युग सत्यों और वस्तुस्थितियों की समग्र चेतना के साथ समझौता करने में समर्थ हो। परम्परा तो अपने मूल रूप में ही गति लिए हुए है जिसका जड़ से कोई वास्ता नहीं।

शुक्ल जी की परम्परा के अनुसरण में, उसके समुचित विकास में हिन्दी समीक्षकों का एक बहुत बड़ा खेमा कार्यरत है। इन समीक्षकों में सवश्री डा० रामविलास शर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवदानसिंह चौहान, रामेश्वर शर्मा, डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभृति साहित्यकारों का सहयोग अविस्मरणीय है। गत दस वर्षों में शुक्लजी की उपयुक्त कथित परम्परा के जो प्रतिनिधि आलोचना ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उसमें श्री रामेश्वर शर्मा का 'राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य' अग्रणी है। परम्परा के विश्लेषण के लिए तथा आज की आलोचना पद्धति को समुचित रूप से समझने के लिए यही ग्रन्थ हमारा विश्लेष्य होगा।

'राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य' में विभिन्न प्रकार के निबन्ध है, जो पुस्तक के नाम से तो कम बल्कि विचारों की दृष्टि से ही नाम सार्थक करते हैं। इन निबन्धों

* राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील सा० लेखक रामेश्वर शर्मा मानव भारती प्रकाशन दिल्ली।

के विश्लेषण के लिए निम्नानुसार एक मोटी विभाजन रेखा खींची जा सकती है।

(१) सैद्धान्तिक निबन्ध—जिसमें साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर स्वतन्त्र रूप से अथवा किसी विशेष लेखक के कृतित्व को माध्यम बना कर अपने विचार व्यक्त किए हैं। ऐसे लेखों में मनोविश्लेषण शास्त्र और हिन्दी आलोचना, आई० ए० रिचार्ड्स और भाव प्रेषण की समस्या, साहित्य में मजदूर वर्ग की भूमिका, हास्य एक विश्लेषण आदि प्रमुख हैं।

(२) कुछ लेख इस प्रकार हैं जिनमें एक साथ मूल्यांकन करते हुये यथेष्ट रूप से सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। ऐसे लेखों में 'आलोचक अज्ञेय', 'प्रगतिवाद आक्षेप और निराकरण' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

और (३) शेष सभी लेखों को हम मूल्यांकन के अन्तर्गत ले सकते हैं।

सैद्धान्तिक लेखों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन सब लेखों में मिला कर साहित्य की वे सारी सामयिक समस्यायें और आलोचना के वे विभिन्न सैद्धान्तिक प्रकार आ गये हैं जो कि आज प्रचलित हैं। निबन्धों में उन समस्याओं के तथा सिद्धान्तों के समुचित विवेचन के बाद लेखक ने अपना सुलझा हुआ दृष्टिकोण भी निष्कर्ष के रूप में प्रतिपादित किया है।

अपने पहले निबन्ध 'मनोविश्लेषण शास्त्र और हिन्दी आलोचना' में हमारे उन आलोचकों की कलई खोल दी है जो प्रत्यक्षतः फ्रायड का स्वर लेकर रसशास्त्र के बाँटों को उलटते पलटते रहते हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र की शर्मा जी ने एक नृशास्त्रीय पद्धति बाँधी है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जहाँ मार्क्स सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए पूँजीवाद के ऊपरी तहों के नीचे दबे हुये शोषण की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित करते हैं वहाँ दूसरी ओर फ्रायड व्यक्ति के भीतरी तहों का—सर्वथा व्यक्ति का भीतरी सही और बाहरी सारा मिथ्या आदि का प्रतिनिधित्व। कांट जिस तरह दर्शन के क्षेत्र में वस्तुजगत को प्रतीयमान जग की सत्ता मानता है वहाँ फ्रायड भी ठीक कांट की तरह सारी की सारी बाहरी प्रक्रियाओं का कारण अवचेतन ही बतलाते हैं।

इस तरह फ्रायड का मूल चिन्तन ही गलत बुनियाद लिए हुए है। जहाँ मार्क्स वस्तुस्थितियों को ही मानसिक सृष्टि का मूल मानते हैं वहाँ फ्रायड वातावरण और वस्तुस्थितियों को अवचेतन की सृष्टि। इस तरह फ्रायड अंग्रेजी की To put the cart before the horse की कहावत चरितार्थ करते हुए प्रतीत होते हैं। लेख के अन्त में फ्रायड की तथा उनसे प्रभावित हिन्दी समीक्षकों की मान्यताओं की असंगतियों पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं—"वस्तुतः इस प्रकार का निष्कर्ष (साहित्य विक्षिप्त अथवा अर्धपागल मन की सृष्टि है) पूर्णतः भ्रामक है। क्योंकि साहित्य एक सामूहिक चेतना है और उसका आधार कोई अन्तर्चेतन नहीं बल्कि जन मानस ही है।" (पृ० १४)

इस तरह लेखक ने फ्रायडवादी हिन्दी आलोचना साहित्य को एक अवैज्ञानिक बतलाया है जिसके द्वारा हम समस्त हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करने में अक्षम ही ठहरते हैं। रचयिता की सामाजिकता छोड़ कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

अन्य सैद्धान्तिक निबन्धों में भी लेखक का स्वस्थ दृष्टिकोण स्पष्ट है आई० ए० रिचार्ड्स की भावप्रेषण की समस्या पर लिखते हुए वे कहते हैं—"अपने व्यक्ति सापेक्ष दृष्टिकोण के कारण रिचार्ड्स पाठकों को भुलाकर चलते हैं, पाठकों को भुलाकर तो प्रश्न उलझाया ही जा सकता है।"

(पृ० २०)।

इन निबन्धों के पश्चात् विशेषतः हमारी दृष्टि दो-तीन निबन्धों की ओर अधिक आकृष्ट होती है—'मुक्त छन्द और हिन्दी कविता', 'आलोचक अज्ञेय' और 'साहित्य में मजदूर वर्ग की भूमिका।'

मुक्त छन्द वाले लेख में लेखक ने छन्दों के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण करते हुए 'मुक्त छन्द' की प्रवृत्ति को एक अराजकतावादी प्रवृत्ति कहा है और उपयोगिता (Social utility) की दृष्टि से उसे हेय बतलाया है। निराला जी और डाक्टर राम विलास शर्मा के छन्द सम्बन्धी विचारों में विरोधाभास बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि मुक्त छन्द में ध्वनि, लय और शब्द के तत्व प्रधान है

के बन्धनों में से, किसी न किसी प्रकार का बन्धन उसमें आवश्यक होगा। और वास्तव में अगर हम लय का—प्रवाह का और ध्वनि का बन्धन सब पर से उठा लेंगे तो मुक्त छन्द केवल एक मांसल, शक्तिवान गद्य के अलावा और कुछ नहीं होगा।

पुस्तक का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिवान निबन्ध 'साहित्य के मजदूर वर्ग की भूमिका' है जो अपने आप में एक ठोस बौद्धिक चिन्तन का सर्वथा मौलिक है लिए हुए है। निबन्ध की सब से बड़ी विशेषता उसकी मौलिकता है। इस तरीके की चिन्तना हिन्दी साहित्य में पहली बार हुई है।

हिन्दी साहित्य की वृहत् सरणि कालिदास, कबीर, तुलसी से लेकर अधुनातन नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन आदि तक वृहत् सर्वहारा वर्ग किस तरह प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप से साहित्य के माध्यम द्वारा अपने शौर्य और संगठन से एक निर्णयकारी और अनिवारणीय तत्व बन कर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन ला रहा है, एक कान्ति उपस्थित कर रहा है? लेखक ने इस सत्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है—

"सर्वहारा वर्ग ने मानव के न केवल पुराने कला सम्बन्धी दृष्टिकोणों को बदला है वरन् उसकी कला संबन्धी चेतना की गति में भी परिवर्तन कर दिया।......... अस्तु आज के साहित्य में मात्र सूक्ष्मता ही आराध्य नहीं—उसके स्थान पर व्यापक मानवता की प्रतिष्ठा हो रही है। नवयुग का साहित्यकार विराट जन जीवन का आराधक है।"

(पृ० ५१)

सर्वहारा वर्ग के विकास का उत्पादन पद्धति के विकास से भी अन्यतम सम्बन्ध है। इस तरह ज्यों-ज्यों सर्वहारा वर्ग का विकास हुआ उसी रूप में वहीं की उत्पादन पद्धति का और उसी रूप में कला और संस्कृति का उत्पादन पद्धति का वैयक्तिक क्रिया के विकास की गति सूक्ष्मता की ओर ही उन्मुख होगी—यह स्पष्ट है। उत्पादन के क्षेत्र में इसका उदाहरण ढाका की मलमल है। आधुनिक युग में उत्पादन की क्रिया वैयक्तिक न हो कर सामूहिक है। अतः उसकी गति सूक्ष्मता की ओर न होकर विराटोन्मुख है.... सामूहिक उत्पादन की क्रिया ने मनुष्य में विराट और भीमकाय निर्माण की चेतना को जाग्रत किया—ताजमहल, कुतुबमीनार और.... सम्पूर्तियुग में वोल्गा दोन मिलन सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। (पृ० ५१-५२)

इसी निबन्ध में लेखक ने सर्वहारा वर्ग के प्रेम-सम्बन्धी मानों का भी विश्लेषण किया है जिसमें अन्य जनेतर वर्ग के और सर्वहारा वर्ग के प्रेम में एक मौलिक भेद प्रतिपादित किया है।

"प्रेम का यह अभिनव स्वरूप जहाँ एक ओर वासना, शारीरिक भूख और निरी रूप लिप्सा पर आधारित न हो कर इन्द्रिय परायणता से दूर है वहीं एक गहरे साहचर्य से उदित सम्बन्ध भावना से परिपोषित तथा पारस्परिक सहयोगात्मक रूप से दिप्त होता है।" (पृ० ५४)

इस तरह हम देखते हैं कि शर्माजी ने प्रेम के उस वैयक्तिक रूप की भर्त्सना करके एक स्वस्थ उदात्त सामाजिक प्रेम का दिग्दर्शन कराया जो कि आज सर्वहारा वर्ग की ताकत के साथ फूल रहा है, पल्लवित हो रहा है। यह वर्ग और उसकी समस्त मान्यतायें अपनी अकृत्रिम समस्त विराटता को समेटे जन जीवन के हृदय में आना घर कर रही है।

'हास्य एक विश्लेषण' लेखक के पौर्वात्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रगाढ़ अध्ययन की उपज है। वैयक्तिक हीनता और मनुष्य की कुण्ठामय मनोवृत्तियों को हास्य का कारण न बतलाते हुए लेखक ने हमारा ध्यान मनोवैज्ञानिक और प्राणी शास्त्रीय व्याख्याओं की ओर आकृष्ट किया है। इसके साथ-साथ हास्य के भेदों का भी विस्तृत विवेचन है।

पुस्तक का सबसे अधिक सारगर्भित और विद्वत्तापूर्ण निबन्ध 'आलोचक अज्ञेय' है। प्रस्तुत निबन्ध में 'अज्ञेय' के आलोचना सम्बन्धी लेखों (त्रिशंकु और अन्य) का मार्मिक विवेचन है। निबन्ध में अज्ञेय के लेखों द्वारा यह बतलाया गया है कि किस तरह अज्ञेय जी एक ओर फ्रायड की पकड़ कर नितान्त मौलिक प्रतिभा खोजते रहते हैं और दूसरी ओर इलियट को थाम कर रूढ़ि और इतिहास की शाश्वतता की भी दुहाई देते हैं। लेखक ने अज्ञेयजी को लेकर इस बात की ओर भी संकेत किया है कि आज के

समीक्षक किस तरह विदेशी समर्थकों के सूत्र बिना देश-काल का समुचित अध्ययन किये वैसे के वैसे ही भारतीय साहित्य पर थोप देते हैं। ऐसे समीक्षकों में अज्ञेयजी का स्थान पहला है।

लेखक मनोविज्ञान और इतिहास की अतुल गहराई में बैठकर इस बात को सिद्ध करता है कि स्वस्थ कला और स्वस्थ साहित्य सामाजिक जीवन की ही उपज है, वह विक्षिप्त अथवा अर्ध पागल का कुण्ठ मय प्रलाप नहीं।

मूल्याङ्कन सम्बन्धी लेखों में जैसा कि ऊपर कहा गया है कविवर नागार्जुन 'त्रिलोचन' 'कवि केदारनाथ' अग्रवाल तथा 'तुलनात्मक समीक्षा का ऐतिहासिक मार्ग चिह्न' आदि लेख विशेष विचारणीय हैं।

नई कविता पर अर्थात् केदार, त्रिलोचन और नागार्जुन पर लिखकर लेखक ने ठीक आचार्य शुक्ल जैसा कार्य किया है। इन तीनों कवियों पर उनकी विश्लेषणात्मक दृष्टि से नई कविता के शिल्प और कला से उसके भाव पक्ष और उसके नवीन दर्शन से हम परिचित हो गये।

केदारनाथ पर लिखते हुए लेखक ने बराबर उनके साहित्य में एक विभाजन रेखा खींची है। उनका समुचित विकास बतलाने के लिये केदार की प्रेम सम्बन्धी कविताओं को भी लिया है और उनको भी कवि के जीवन में एक विशेष स्थान बतलाया है किन्तु इसी के साथ शर्माजी ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि केदार के हृदय में 'युग की गंगा', 'नींद के बादलों' से ही अपना मैदान बना रही थी।

हिन्दी की नई कविता आज जनता के पास है, उस कला की—उस कविता की शक्ति—उसका सौन्दर्य किन्हीं सामाजिक वर्जनाओं का पुञ्ज न होते हुए, समाज द्वारा, जनता द्वारा स्वीकृत सौन्दर्य और बल ही है। प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा करते हुए आप लिखते हैं—"प्रगतिशील साहित्य जनता की उस महान आशा, आकांक्षा और कल्पना की अभिव्यञ्जना है जो देश, समाज और मनुष्य को आर्थिक, राजनैतिक एवं बौद्धिक दासता से मुक्त होने की प्रेरणा देता है" (पृष्ठ ८६)

नागार्जुन और त्रिलोचन की कविताओं में जो एक नई समाजवादी कला अपने पूरे वेग और शक्ति से प्रस्फुटित हो रही है, उनकी विशेषताओं का भी लेखक ने बड़े ही मार्मिक ढंग से उद्घाटन किया है। लेखक प्रगतिशील काव्य के मूल्याङ्कन करते समय सम्पूर्ण रूप से पक्षपात से मुक्त-सा प्रतीत होता है। जहाँ एक ओर नागार्जुन की विशेषताओं का—उनकी शहजोरियों का विस्तृत विवेचन है वहाँ दूसरी ओर लेखक के पर्यवेक्षण से उनकी कमजोरियाँ भी ओझल नहीं हुई हैं नागार्जुन की कमजोरियों का भी लेखक ने बड़ी शक्ति के साथ उद्घाटन किया है।

'साहित्यदर्शन' नामक लेख में न केवल लेखक ने सम्बन्धित निबन्धों पर ही अपने विचार व्यक्त किये हैं अपितु तुलनात्मक आलोचना के ऐतिहासिक पहलू पर भी बड़ी सफलता से लिखा है।

'प्रयोगवाद और दूसरी शृङ्खला', 'प्रयोगवाद पृष्ठभूमि और परिणति' 'काव्यगत सत्य और अज्ञेय' आदि लेख कुछ विक्षिप्त हैं वे पुस्तकों के अन्य लेखों की तरह शक्ति लिये हुए नहीं हैं। पुस्तक के नामानुकूल, कृति में कितने ही ऐसे प्रथम कोटि के साहित्यकार छूट गए हैं जिन्होंने 'राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य' के विकास में अपने अमूल्य सृजन के द्वारा एक बहुत बड़ा योग दिया है। इस तरह पुस्तक में एक एक अध्याय सर्वश्री यशपाल, कृष्णचन्द्र, डा० रामविलास आदि पर भी होना चाहिये था जो कि आज प्रगतिशील साहित्य के विकास और समृद्धि में अपना एक बहुत बड़ा पार्ट अदाकर रहे हैं। तभी पुस्तक सर्वाङ्गीण होती। 'प्रगतिवाद: आक्षेप और निराकरण' की शैली कुछ अधिक कटु बन पड़ी है। यद्यपि उसके तर्क काफी ठोस हैं किन्तु फिर भी शैली में एक हलका सा परिवर्तन कर देने पर यह लेख भी अन्य लेखों के समकक्ष में खड़ा हो सकता था। लेख में Tit for tat का सिद्धान्त अपनाया सा प्रतीत होता है।

कुछ शैली और भाषा की दृष्टि से भी विचार कर लेना असमीचीन न होगा। जैसा कि उपर्युक्त विश्लेषण से प्रतीत होता है, शर्माजी की आलोचना-पद्धति मार्क्सवादी आलोचना पद्धति है। पद्धति गत्यात्मक होने के कारण भारतीय परम्परा की समस्त प्रगतिशील मान्यताओं को अपने में

समेटे है। वास्तव में शैली विचारों का ही प्रतिबिम्ब है। अगर किसी के विचारों में ही उलझन होगी तो उससे किस तरह एक स्वस्थ और सरल भावव्यञ्जना की अपेक्षा कर सकते हैं। इसके अज्ञेयजी अच्छे उदाहरण हैं।

शर्माजी की शैली ऋजु और सरल है। उन्हें टेढ़ी-मेढ़ी वाक्य रचना और शब्दों के इन्द्रजाल कतई पसन्द नहीं हैं। सीधी-साधी अकृत्रिम शैली ही उनका इष्ट है। सभी लेखों में लेखक की व्यंग्य-शक्ति के दर्शन होंगे। उनका प्रगाढ़ अध्ययन, सूक्ष्म दृष्टि और तर्क तथा व्यंग्य-बल एक आलोचक के भाविष्य की ओर इंगित कर रहे हैं।

लेखक की भाषा में विचार वहन करने की अपरिमेय ताकत है। 'साहित्य दर्शन', मजदूर वर्ग की भूमिका, आलोचक अज्ञेय आदि निबन्धों में उनकी भाषा शक्ति के अप्रतिम उदाहरण दृष्टिगत होंगे।

हमारा आलोचना साहित्य आज प्रगति की ओर अग्रसर है। आज किसी भी तरह Abstract thoughts द्वारा साहित्य का मूल्याङ्कन सम्भव नहीं। आज के समाज की वृहत् जन-चेतना का अध्ययन करके और उसकी जनता पर की सम्भावित प्रक्रियाओं का अवलोकन कर ही नए साहित्य का मूल्याङ्कन करना चाहिए। वर्षों के पुराने बने हुए माप में, चौखटे में नई कृतियों को फँसा कर अपना फतवा नहीं दे सकता है और यह उसकी प्रतिष्ठा के विपरीत भी होगा।

(पृष्ठ ८० का शेषांश)

आलोचना करनी चाहिए। सम्भव है कि किसी व्यक्तिगत द्वेष या राग से प्रभावित होकर समालोचक कवि की अवहेलना या प्रशंसा करता हो। पर समालोचक को उस पक्ष के जैसे निष्पक्षपात होकर न्याय करना चाहिए जो न वादी का पक्ष करता है, न प्रतिवादी का। उसकी दृष्टि में कवि के गुण और अवगुण दोनों समान होने चाहिए और दोनों की चर्चा अपनी समालोचना में होनी चाहिए। न गुण की अतिशय प्रशंसा कर अवगुण को छिपाना ही चाहिए न अवगुण को गुण बना कर गुण को दबाना ही चाहिए। ऐसा करने से समालोचक न केवल कवि के साथ ही अन्याय करता है अपितु जनता के साथ भी। अतः समालोचक का सबसे मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह निष्पक्षपात होकर, कवि के गुणों तथा अवगुणों की, अमर्यादित न होकर, बिना किसी राग-द्वेष भाव से प्रभावित हुए चर्चा करे और उसकी टीका रचनात्मक हो। तभी चल कर आलोचना-साहित्य का स्तर बढ़ेगा और कवि एवं समालोचक के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचेगी।

(पृष्ठ ७७ का शेषांश)

परन्तु वास्तव में उनका सम्बन्ध अपने समकालीन कथाकारों की भाँति क्रान्ति के बाद के साहित्य से ही है।

और १९१७–१८ में लाल-क्रान्ति के होने के कारण जिस भाँति रूस के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में एक नया मोड़ आया, ठीक उसी भाँति साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन में भी एक नये युग का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप साहित्य का जनजागरण तथा समाजवादी समाज के निर्माण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में उपयोग हुआ, जो विश्व साहित्य के इतिहास में एक अभूतपूर्व अनुभव है।

'कामायनी' में वर्तमान और अतीत का समन्वय

श्री रामकृष्णप्रसाद मिश्र, एम० ए०

आज के विषमतापूर्ण सामाजिक जीवन में जबकि 'हर साँस एक नयी वेदना' और 'हर ओर एक नया सवाल' अपना विकराल रूप धारण किये मानव जीवन के सम्मुख आता है, तो मानव का भावुक मन कराह उठता है और वह सोचने लगता है कि आखिर इस सामाजिक दर्द का कोई इलाज नहीं? प्रसादजी के हृदय-सागर में भी वेदना की लहरियाँ मचलकर कराह उठीं और उसकी प्रतिक्रिया विभिन्न रूपों में हुई; एक ओर तो वे अपने नाविक से भुलावा देकर उस निर्जन में ले चलने का अनुरोध करते हैं जहाँ न धरती का कोलाहल है और न उसकी पीड़ाओं की चीत्कार। जहाँ प्रेम की मधुरिमा है, स्निग्धता है और स्निग्धता की उस तन्मयता में सागर की लहरियाँ अम्बर के कानों में प्रेम की गहरी कथा सुना रही हैं। इस प्रेम की गहरी कथा का अंश उन्हें शंकर के अद्वैत तथा बुद्ध की करुणा से मिला। सुदूर अतीत का यही स्वर्णिम चिन्तन 'कामायनी' के पृष्ठों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रसाद के हृदय-वीणा के यही जाने पहचाने झंकार हैं। एक ओर उनकी उर-मुरली इस असीम के चिन्तन और बुद्ध की करुणा भावना से निनादित हो उठी है तो दूसरी ओर अपने उपन्यासों और कहानियों में अनुभव के श्वेत श्याम रेखाओं के मिस यथार्थ की निर्ममता और जीवन के मर्मस्पर्शी चित्रों में अपनी तूलिका से रंग भरने में पूर्णतया सफल हुए हैं। पर स्वर सभी का एक ही है; करुणा और प्रेम।

'कामायनी' की कथावस्तु प्रागैतिहासिक है पर उसकी समस्या शाश्वत और चिरन्तन। उसकी समस्या केवल एक युग की नहीं—वह तो युग युग की समस्या है—काल और स्थान की दृष्टि से अपरिमेय। आज भी मनु की वह समस्या पुरानी नहीं पड़ी है। अन्तर केवल इतना ही है कि आज उस समस्या पर सभ्यता का लेप चढ़ गया है। इसीलिये हमें केवल बाहरी अन्तर दीख पड़ता है। सच पूछिये तो आज की समस्या है "स्त्री और रुपया। इसे सरल भाषा में चाहे कामिनी और कांचन कहिये चाहे सात्विक भाषा में आहार-विहार, आज की भाषा में तो इसका यथार्थ पर्याय है—रोटी और सेक्स।" (प्रा० प्रि० वि०) मनु के सामने भी यह समस्या कुछ कम विकराल रूप में नहीं रही होगी।

देवताओं का सुख विलासमय स्वप्न टूट गया। उनकी वासना की सरिता अपनी ही अतिशयता से इतनी उमड़ चली कि एक जल-प्लावन का दृश्य उपस्थित हो गया। और फिर प्रलय के उन भयङ्कर क्षणों में वे अमर सदा के लिये निमज्जन करने को विवश हो गये। यहाँ देव सृष्टि का एक मात्र अवशेष—मनु के लिये चिन्ता का प्रश्न बन गया है। यह काल मन्वन्तर का था। मन्वन्तर का अर्थ ही होता है युग-परिवर्तन। परिवर्तन में जहाँ एक ओर विनाश का भयङ्कर सूत्रपात होता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें सृजन की नवीन आस्था और जागरण की दिव्य प्रेरणा भी निहित रहती है। इसीलिए मनु जहाँ एक ओर देव-सृष्टि के विध्वंस पर चिन्तित हैं, वहाँ दूसरी ओर एक नवीन आस्था और जागरण का भाव उनके निराशा-चिन्ता-क्लान्त हृदय-तल में पनप रहा है। आवश्यकता थी आस्था के आलोक की, जिसे श्रद्धा ने अपनी मधुरिमा, समर्पण, विश्वास और करुणा के दीप, तेल, बाती से वर्तित कर करुण प्रकाश के रूप में उनके सूने हृदय-प्रदेश में उड़ेल दिया। आस्था के इस आलोक से मनु का हृदय जगमगा उठा। फलतः मनु का जीवन कर्ममय बन गया।

किन्तु आदि नारी का वह प्रथम समर्पण नारी समाज के युग युग का बन्धन बन गया। यह सच है कि नारी को इस समर्पण भावना के बदले उसे पुरुष समाज से बराबर से घृणा और उपेक्षा ही मिलती आ रही है—फिर भी इस समर्पण की एक अपनी सार्थकता है, एक अपनी महत्ता। प्रसादजी ने नारी को जो श्रद्धा और विश्वास का अन्यतम

प्रतीक है पुरुष की प्रेरक शक्ति कहा है। श्रद्धा के अभाव में मानव जीवन विडम्बनाओं का घर बन जाता है जिसे श्रद्धा के अभाव में मनु के जीवन परिस्थितियों का विश्लेषण कर कवि ने दिखलाया है। और फिर अन्त में श्रद्धा के संयोग से मानव जीवन में आनन्द का वह श्रोत फूट पड़ता है जिसे प्रसाद ने समरसता की संज्ञा दी है। गोदान में प्रेमचन्द ने भी महता के भाषण में इसी आदर्श को प्रस्तुत किया है—"स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है जितना प्रकाश अँधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा और दया, अहिंसा और त्याग जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है। पुरुष धर्म और अध्यात्म और ऋषियों का आश्रय लेकर उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिये सदियों से जोर मार रहा है, पर सफल नहीं हो सका। मैं कहता हूँ उसका सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ।" पर सब कुछ होते हुए भी राम ने सीता का निष्कासन किया ही और सीता को जैसे बरबस यह कहना पड़ा कि—

"वाच्यस्त्वयामद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवाद श्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य।"

एक सीता ही नहीं नारी-जीवन का इतिहास उपेक्षिताओं का इतिहास है। गौतम ने गोपा को भोग-विलास की वस्तु कह कर उपेक्षित किया। एक गोपा ही नहीं न जाने कितनी उपेक्षिताओं का करुण क्रन्दन काल की गहराई खाई में दबी कराह रही है। फिर यदि श्रद्धा तिरस्कृत होकर सम्मानित हुई तो उसे अपने अभिशापों का पुरस्कार भी मिला। कामायनी में यदि कोई वर्तमान युग के प्रत्येक स्पन्दन और धड़कन से, उसकी प्रत्येक अँगड़ाइयों और करवटों से परिचित होना चाहेगा तो उसे निराशा ही मिलेगी। क्योंकि कामायनी किसी एक युग का काव्य नहीं। वह तो कालातीत है। फिर भी युगाभिव्यक्ति की छाप 'कामायनी' में मिल ही जाती है।

गांधी इस युग के एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व वाले पुरुष हैं—"जो चिन्तन की घड़ियों से जब क्रिया को तोलते थे तब वाणी से बोलते थे। उसकी कलम जब उठती तो भाषा का सुहाग और देश का भाग्य लिखती थी। देश की दलित पीढ़ियाँ उसके अन्तःकरण में पुकार उठती थीं। जिसके नेत्रों में दुखियों का चीत्कार भर आता, जिसकी साँसों में जरूरतमन्दों की झङ्कार सुनाई पड़ती, जिसकी मुद्रा में विश्व परिवर्तन की मनुहार होती"—उस बापू के दर्शन का स्पष्ट प्रभाव 'कामायनी' में परिलक्षित है। उसमें गांधीवाद के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों रूपों का प्रतिपादन हुआ है। गांधीवाद का व्यावहारिक प्रयोग वहाँ हुआ है जब श्रद्धा अपनी भावी सन्तान के लिए तकली चलाती है, उसके खेलने के लिए पालने और गृह का निर्माण करती है। मनु के यान्त्रिक सभ्यता के विरोध में भी गांधीवादी दर्शन ही निहित है। गांधीजी यान्त्रिक सभ्यता के विरोधी और गृह उद्योग-धन्धों के पक्षपाती थे। गांधीवाद के सैद्धान्तिक मत का प्रतिपादन इड़ा और श्रद्धा के कथन में है। श्रद्धा मनु के अहिंसावादी आचरणों और याज्ञिक कर्मों में पशुबलि का विरोध करती है। वह 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त की समर्थिका है। इड़ा भी मनु के निर्बाधित अधिकारों की निन्दा करती है।

गांधीजी ने नारी को 'Better half of the humanity' कहा है। प्रसादजी गांधी के स्वर में स्वर मिला कर कहते हैं—

"तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की॥"

यह तो हुई गांधीवाद की विवेचना। अब प्रसाद के ही शब्दों में आधुनिक युग की विडम्बना पर विचार करें—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सकें,
यह विडम्बना है जीवन की।"

इन पंक्तियों में प्रसादजी ने आज के युग की अतिशय बौद्धिकता पर एक तीव्र व्यंग किया है। मन्वन्तर के मनु की यह समस्या चिर नवीन है। मानव की जो चिरन्तन समस्यायें हैं, जो चिरन्तन राग हैं उन पर सभ्यता और कृत्रिमता का एक आवरण भले ही चढ़ जाय पर उन रागों और समस्याओं को कोई दूसरा रूप नहीं दे सकता। इच्छा ज्ञान और क्रिया मानव मन की ऐसी भावनाएँ और व्यापार

हैं जो अनादि काल से चलती आ रही हैं और अनन्तकाल तक चलती चली जायँगी। इनके समन्वय के अभाव में मानव मन दुःख और वेदना की साँस लेता रहा है और इनके समन्वय में वह सुख का सुरभित उल्लास पाता रहा है। उस युग में यह समस्या केवल एक मनु की थी आज के युग में यह समस्या हर मनुष्य की है। मनु उस युग के संस्था के प्रतीक हैं। मनु के जीवन के वेदना और आह्लाद उस युग और संस्कृति के जीवन के वेदना और आह्लाद के प्रतीक हैं।

वस्तुतः प्रसादजी ने आज के युग की वेदना और विषमता का निदान स्वर्णिम और अतीत की कथा में पा लिया था। आज का जीवन इतना विशृङ्खल क्यों है,—इसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक कारण प्रसाद ने ढूँढ़ निकाला है। आज के युग की विषमता का कारण है अतिशय बुद्धिवादिता। आज बुद्धि तो आगे बढ़ चुकी है पर हृदय पीछे पड़ गया है। इसीलिये इतना क्रन्दन है और इतना हाहाकार, दिनकर ने भी आज की विषमता का यही कारण सिद्ध किया है—

"किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।"

आज मनुष्य ज्ञान और बुद्धि के जिस पथ पर चल रहा है उस पर उसे आस्था नहीं। आज उसके हृदय में जितनी इच्छाएँ पनप रही हैं। दृढ़ आशा और आस्था के अभाव में कर्म में चरितार्थ नहीं हो रहा है। हम इच्छाएँ तो करते हैं—पर उसकी पूर्ति के लिये प्रयत्न नहीं करते और यदि करते भी हैं तो आस्था के अभाव में वह असफलता और निराशा का छलना ही प्रस्तुत करता है। किन्तु श्रद्धा के आते ही इच्छा ज्ञान और कर्म में समन्वय होने लगता है। वह ज्ञान के पथ पर आस्था के चरण रखता है, और विश्वासमयी इच्छाओं को कर्म में चरितार्थ करता है। फलतः जीवन में समरसता आ जाती है और मानव अखण्ड आनन्द सुधा से अपने हृदय के सूने घट को आप्लावित कर लेता है।

इसे प्रसादजी ने श्रद्धा की एक मुस्कान का प्रभाव कहा है। ऊपरी दृष्टि से यह जरा अलौकिक प्रतीत होता है कि केवल श्रद्धा के हँसने मात्र से इच्छा, ज्ञान और कर्म के तीन लोक मिलकर एक कैसे हो गये? किन्तु श्रद्धा एक शरीरी रमणी के अतिरिक्त अपना साँकेतिक अर्थ भी रखती है। और सांकेतिक अर्थ है—श्रद्धा और विश्वास। और जब मानव आस्थावान और श्रद्धावान बन जाता है तो इच्छा ज्ञान और कर्म में संतुलन स्वयं हो जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अखण्ड आनन्द सुधा की प्राप्ति में बुद्धि का कोई महत्व नहीं। उसका महत्व है और श्रद्धा से कम नहीं क्योंकि बुद्धि विहीन श्रद्धा अंध और पंगु है। अस्तु मन के आनन्द के लिये इड़ा और श्रद्धा का वही महत्वपूर्ण सम्बन्ध है जो आत्मा और शरीर का। इड़ा यदि आनन्द की काया है तो श्रद्धा स्नेह करुणा और आस्था की मात्रा। यही कामायनी का पुरातन समस्या है जो चिर नवीन और चिर नूतन है। इसके अतिरिक्त मानव मन के मनोविकारों के विकास का इतिहास भी कभी पुरातन नहीं पड़ सकता।

यों तो मनुष्य का प्रत्येक क्षण अतीत बनता जा रहा है। यदि मैं कहूँ कि मनुष्य अतीत में ही रहता है तो यह अतिशयोक्ति नहीं समझी जायगी क्योंकि वर्तमान हमारी साँसों से कुछ इस प्रकार फिसल रहा है कि वह अभी अभी है और अभी हो नहीं। काल क्रम से हमारी नवीन समस्यायें पुरातन पड़ती जाती हैं किन्तु हमारे हृदय के राग सर्वथा नवीन बने रहते हैं। हमारी प्रणय की आकुलता और हृदय की भावुकता अभी पुरातन नहीं पड़ती।

———

रूसी साहित्य का काल विभाजन

श्री जगनन्दनजी

रूस देश और रूसी जाति के अनुरूप ही रूसी साहित्य भी महान है, आज संसार के श्रेष्ठतम साहित्यों में उसकी गणना होती है और कथा साहित्य में तो उसकी कोटि का किसी भी देश का साहित्य नहीं है। वैसे तो रूसी साहित्य का अध्ययन करते समय समाजवादी-क्रांति से पूर्व और पश्चात् का कोई 'भेद-भाव' नहीं होना चाहिये, क्योंकि दोनों स्थितियों में वह एक ही देश और एक ही जाति का साहित्य है, किन्तु तब भी दोनों की कुछ अपनी-अपनी मौलिक विशेषतायें हैं, और कुछ सुविधा के कारण भी, इस लेख में क्रांति से पूर्व के साहित्य का ही विवेचन किया गया है, जिसको हम निम्न कालों में विभाजित कर सकते हैं:—

१—प्राचीन युग—८०० ई० सन् से १८०० ई० सन् तक।

२—पुश्किन युग—१८०० ई० सन् से १८५० ई० सन् तक।

३—गद्ययुग—१८५० ई० सन् से १९०५ ई० सन् तक और

४—गोर्की युग—१९०५ ई० सन् से १९१७ ई० सन् तक।

प्राचीन काव्य—वैसे तो रूसी साहित्य के बीज बहुत पूर्व ७ वीं ८ वीं शताब्दी में बोये गये थे किन्तु साहित्य-वृक्ष पर फल १० वीं शताब्दी में ही लगने आरम्भ हुये जब बल्गेरिया से मेसोदोनियन-लिपि का रूस में आयात हुआ और जिसके फलस्वरूप ईसाईयत के धार्मिक तथा प्रचारात्मक साहित्य की खूब रचना हुई, किन्तु साहित्यिक-महत्व की प्रथम-कृति की रचना ११ वी शताब्दी में हुई। यह कृति वस्तुतः नेस्तर (१०५६—११२४) नामक एक व्यक्ति द्वारा लिखा गया रूस का प्रथम इतिहास था जिसका विषय-काल ८६२ से ११९० ई० सन् तक का है और जो 'नेस्तर का इतिहास' अथवा 'कीव का इतिहास' के नाम से विख्यात है—कीव प्राचीन रूस की राजधानी थी जिसको पश्चिम-दक्षिण के असभ्य आक्रमण कारियों ने १२ वीं शताब्दी में भूमिसात कर दिया। यद्यपि इस पुस्तक में दन्तकथाओं पर आधारित सामग्री भी यथेष्ठ मात्रा में सङ्कलित है, तथापि इस पुस्तक का साहित्यिक महत्व इस कारण है कि यह जन भाषा में लिखी जन-विचारों तथा जन भावों से ओत प्रोत वास्तविक घटनाओं की यथार्थ शिला पर आधारित है और रूस के अतीत काल-विषयक एक मात्र प्रामाणिक पुस्तक है; इसकी किसी भी प्राचीन-इतिहास-पुस्तक से तुलना की जा सकती है।

१२ वीं शताब्दी में 'इगोर के अभियान का गीत' नामक एक महाकाव्य की रचना हुई जिसकी तुलना होमर की इलियड और ओदेसी तथा व्यास की महाभारत से की जा सकती है। उसके रचयिता के विषय में हमें तनिक भी ज्ञात नहीं किन्तु इतना निश्चय ही कहा जा सकता है कि कवि के राजपुत्र इगोर द्वारा पोलोव्त्सियों पर किये गये इस आक्रमण से उसका निकट का सम्बन्ध रहा होगा क्योंकि इस ऐतिहासिक घटना की नेस्तर के इतिहास से अक्षरशः समानता और सत्यता सिद्ध होती है।

इस साहित्यिक चरमोत्कर्ष के उपरान्त रूस की सृजना-शक्ति पाँच-शताब्दियों के लिए सुप्त हो गई; हाँ, जहाँ-तहाँ छुट-पुट दो-चार प्रयास अवश्य होते ही रहे, जिन में से मुख्य हैं: एक व्यापारी यात्री अथानासी निकितिन ने १४ वीं शताब्दी में भारत की यात्रा की, जिसका उसने बड़ा ही कौतूहल पूर्ण वर्णन अपनी डायरी में किया है, १६६५ ई० सन् के लगभग शिमियन पोलोत्स्की ने सर्व प्रथम रूसी भाषा में कविता की, जो वस्तुतः एक तुकबन्दी मात्र थी और १७ वीं शताब्दी में जारविच (जार की प्लो) की वर्षगाँठ पर अभिनीत होने के लिए ग्रिगोरी नामक एक व्यक्ति द्वारा एक नाटक लिखाया गया जो धर्म-सिद्धान्तों पर आधारित था और धार्मिकता से प्रभावित।

अब तक रूस पाश्चात्य जगत से विलग, आत्मतुष्ट-सा,

अपने चारों ओर एक दीवार खींचे बैठा था, पीटर महान् की चेष्टाओं के कारण दीवार टूटी और पश्चिम के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का प्रभाव दो धाराओं में बँट कर रूस की ऊसर जमीन को अपनी सृजन शक्ति से उपजाऊ करने लगा; इन धाराओं में से एक का उद्गम-स्थल जर्मनी था और दूसरी का फ्रान्स। जर्मन-प्रभाव के प्रतिनिधि थे : तातिश्चेव जो रूस' इतिहास शास्त्र का पिता है, और मिखेल लोमोनोसोव (१७१४-६५) जिसने मास्को-विश्व विद्यालय के स्थापन के लिए अथक परिश्रम किया और एक क्रान्ति-किसान का बेटा होते हुये भी जो अपने प्रयासों और प्रयत्नों से रूसी भाषा का पीटर महान् बना; फ्रेंच प्रभाव का प्रतिनिधित्व प्रिंस कॉंटेमिर (१७०८-४४) ने किया, जिसने रूसी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम व्यंग्यात्मक कविता की रचना प्रारम्भ की, उस पर वाल्टेयर, माँटेस्को तथा दियेद्रोत का प्रभाव था।

इस युग की सबसे अधिक क्रान्तिकारी रचना एक अधिकारी रेदिश्चेव द्वारा लिखी गई 'पीटर्सबर्ग से मास्को की यात्रा' नामक एक पुस्तक है जिसमें लेखक ने अपनी यात्रा के दौरान में जो कुछ जैसा देखा था उसको वैसा ही लिखा है और इस भाँति उसने तब के समाज के कोढ़ दास-प्रथा तथा सेंसर-पद्धति की कटु आलोचना की है यद्यपि पुस्तक पुलिस की आज्ञा से प्रकाशित कराई गई थी, तथापि उसी काल में फ्रान्स के राजनैतिक जगत में क्रान्तिकारी तत्वों के विकास के कारण जारशाही अत्यधिक प्रतिक्रियावादी हो गई; उसने रेदिश्चेव के लिए मृत्युदण्ड घोषित कर दिया, हालांकि बाद को वह छोड़ दिया गया, किन्तु उसके मानसिक सन्तुलन पर इसका इतना भयङ्कर प्रभाव पड़ा कि उसने अपने से दुखी हो कर आत्महत्या कर ली और इस रूप में वह रूस का साहित्य और संस्कृति के लिये प्रथम शहीद हुआ।

इसी प्राचीन युग के परम्परात्मक साहित्य का प्रतिनिधित्व पुश्किन युग में दो कवि करते रहे, और इसलिये ही उनको इस युग में गिना जाता है क्योंकि उनकी रचनायें 'कपट क्लासिकल' (pseudo-classical) हैं, वैसे उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं कवित्व का चरमविकास हुआ है। दर्जाविन (१७४३-१८१६) के 'ईश्वर' और 'आरोप' दो मुख्यगान हैं और जोकोव्स्की की 'वाटरलू में मध्य रात्रि सभा', 'स्मृति' तथा 'एक गीत' प्रख्यात कवितायें हैं।

पुश्किन युग—पुश्किन युग की मुख्य विशेषतायें हैं कि कविता के क्षेत्र में इस युग में 'कपट क्लासिकता' के जङ्गल से निकल रोमांटिक तथा प्रगतिशील कविताओं की रचना आरम्भ हुई और गद्य के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण तथा राजनैतिक कोढ़ों पर सर्वप्रथम एक व्यवस्थित ढङ्ग से कुठाराघात होना आरम्भ हुआ।

इस युग की आत्मा का नीतिकथाओं के क्षेत्र में सफल-प्रतिनिधित्व दो कवियों दिमित्रिव (१७६०-१८३७) तथा क्राईलोव (१७६८-१८४४) ने किया जिनके चुटीले व्यंग्य ईसप तथा ला फांटेन से किसी भी दशा में कम नहीं उतरते हैं। दिमित्रीव की नीतिकथाओं का संग्रह 'विदेशी अंगीकार में'' के नाम से तथा क्राईलोव की नीतिकथाओं का संग्रह 'क्राईलोव की मौलिक नीति-कथाओं' के नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुका है।

पुश्किन के नाम पर ही इस युग का नाम पुश्किन युग पड़ा है, वस्तुतः पुश्किन (१७९९-१८३७) रूस का ही नहीं विश्व के महान कवियों में से है, और उसका महाकाव्य 'यूजिन-वनजिन' संसार की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से एक है; उसके लघुगीत, लोकगीत तथा वर्णनात्मक कवितायें भी अति विख्यात हैं, उसके नाटक भी यथेष्ट ख्याति प्राप्त हैं, जिनमें 'बोरिस गुदोनोव' का विशेष महत्व है; उसकी लेखनी उपन्यासों तथा कहानियों पर भी उसी सुगमता से चली है और परिणाम स्वरूप वह इस क्षेत्र में भी अति सफल रहा; 'कप्तान की लड़की,' 'दुब्रोवस्की,' 'रानी' 'पोस्टमास्टर' आदि उसकी अति विख्यात कृतियाँ हैं।

कविता के क्षेत्र में पुश्किन का उत्तराधिकारी लरमन्तोव (१८१४-४१) है जिसकी कवित्व शक्ति इस छोटी सी ही अवस्था में यथेष्ठ विकसित हो चुकी थी, अनुमान किया जाता है कि यदि वह जीवित रहता तो पुश्किन की ऊँचाई तक अवश्य पहुँच जाता। उसकी कहानियाँ भी यद्यपि अनुपम हैं किन्तु अपने एक मात्र उपन्यास 'हमारे युग का

नायक" के द्वारा उसने रूसी कथा-साहित्य में एक नये युग, मनोवैज्ञानिक युग का सूत्रपात किया।

इस युग के दूसरे 'छुटभइया' कवियों में शीर्षस्थान पोलाइ जेवा, कोल्तसोव, देलविग, याज़ीकोव, वेरियान्स्की, वेनिविटिनोव तथा राईलीव का है। इनमें से अन्तिम का महत्व इस कारण सबसे अधिक है कि वह मात्र एक शायक कवि ही नहीं, वरन् एक सशक्त क्रान्तिकारी भी था, जिसके फलस्वरूप उसको दिसम्बरी-क्रान्ति के सिलसिले में फाँसी दे दी गई।

नाटक तथा कथा-साहित्य में पुश्किन और लरमन्तोव की परम्पराओं को गोगल (१८०९-५२) ने निभाया और इसमें अपनी क्षमताओं का उसने यथेष्ट योगदान भी दिया। गोगल की रचनाओं में रोमांस तथा यथार्थवाद का अद्भुत सम्मिश्रण है। 'मृतात्मायें', 'ओवरकोट' तथा 'इन्सपेक्टर जनरल' उसकी प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। इसी युग से रूस के महानालोचक बेलिंस्की (१८११-४८) का सम्बन्ध है, जिसने सर्वप्रथम रूसी आलोचना शास्त्र को संगठित रूप दिया तथा उद्देश्यात्मक आलोचना-पद्धति के आधार पर ईमानदारी तथा स्पष्टवादिता के साथ आलोचना कार्य के सम्पादन की नींव डाली, उसके 'गोगल को पत्र' का रूसी आलोचना साहित्य में विशेष महत्व है।

सर्वप्रथम इसी युग में कारामाज़िन ने उच्चकोटि की पत्रकारिता की नींव डाली। उसके दोनों पत्र 'योरुप का सन्देशक' तथा 'मास्को पत्रिका' रूसी पत्रकारिता के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं। पहले कारामाज़िन ने अपनी कलम यात्रा-साहित्य पर चलाई, किन्तु जैसे ही उसकी भाषा तथा भावों में प्रौढ़ता आई, अपनी समस्त शक्तियों को उसने इतिहास के शोधन-कार्य में लगादी और परिणामस्वरूप वह 'रूसी राज्य का इतिहास' जैसी युग-पुस्तक लिख सका।

गद्ययुग—जिस भाँति पुश्किन युग पद्य का स्वर्णकाल है, उसी भाँति इस युग में कथा-साहित्य का विशेष-रूप से अप्रत्याशित-विकास हुआ। तुर्गनेव (१८१८-८३) इस युग का प्रथम उच्चकोटि का कथाकार है, उसकी रचनाओं में जागरण की ज्योति है और क्रान्ति की गूँज। 'पिता और पुत्र', 'मिट्टी' तथा 'कुलीन' उसके सर्वोत्तम उपन्यास हैं। उसके विषय में जार्ज मूर ने लिखा है, "रूसी सर्वश्रेष्ठ कथा कहने वाले हैं और तुर्गनेव उनमें भी सर्वश्रेष्ठ है।

तुर्गनेव ने जिस भाँति गाँव की जनता का अपने उपन्यासों तथा कहानियों में चित्रण किया है, उसी भाँति गोनचारोव (१८१२-९१) ने पीटर्सबर्ग के कुलीनों को अपनी कहानियों तथा उपन्यासों के लिये चुना, जो वस्तुतः उसकी कृतियों में सजीव हो उठे हैं। उसकी रचनाओं में से 'हर दिन की कहानी' 'ओबलोमोव' तथा 'ढलवान' विशेष ख्याति प्राप्त हैं। दोस्तोवेस्की (१८२१-१८८१) तथा तालस्ताय (१८२८-१८१०) भी इसी युग की विभूतियाँ हैं, जिनकी प्रसिद्धि आज विश्वभर में है। दोस्तोवेस्की की 'मूर्ख' 'भूमिगत के नोट्स,' 'कारामाज़ोव' आदि विश्व-ख्याति की रचनायें हैं। यद्यपि तालस्ताय ने धर्म, ईश्वर, सदाचरण आदि पर भी यथेष्ट मात्रा में लिखा है, किन्तु संसार में वह एक उपन्यासकार के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त है, उसकी 'अन्ना कोरीना' तथा 'युद्ध और शाँति' संसार की श्रेष्ठतम कृतियों में से हैं।

आलोचनाचार्य बाकुनिन भी इसी युग में हुआ था, वह अपनी ध्वंसात्मक आलोचना-पद्धति के कारण विख्यात है, वस्तुतः वह रूसी शून्यवाद का, जिसका तुर्गनेव ने अपनी रचना 'पिता और पुत्र' में चित्रण किया है, प्रतिनिधि है। इसी युग में प्रितोरीव हुआ जो समाज और साहित्य के अटूट सम्बन्धों में विश्वास करता था तथा विदेशी प्रभाव से साहित्य को मुक्त करना चाहता था. उस की इस साहित्यिक राष्ट्रवादिता के प्रचारक देटकोव देनिलेवस्की तथा स्ट्राखोव हुये। विपरीत इस विचारधारा के कुछ साहित्यकार ऐसे भी थे जो पाश्चात्य जगत के प्रभाव को रूसी साहित्य के प्रवाह की अविरलता के लिये आवश्यक समझते थे, वस्तुतः साहित्य में यह स्वतंत्र विचार-धारा थी जिसका प्रतिनिधित्व चर्नीयस्वेस्की, पिसारोव तथा दुबरोलिबोव ने किया, किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो उपरोक्त दोनों विचार-धाराओं से सहमत न थे और मध्यम मार्ग में विश्वास करते थे, इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व गोलोवीन

ने किया, उसकी 'तीन वार्तालाप' एक प्रख्यात कृति है।

मिखेल साल्तीकोव "शेद्रिन" (१८२६–८९) इस युग का सर्वोच्च कटु व्यंग्यकार है जिसका एक-एक शब्द बिच्छू की भाँति डङ्क मारता है। उसकी 'प्रान्तीय तस्वीरें' 'गालोवलीव परिवार' तथा 'परियों की कहानियाँ' सुन्दर कृतियाँ हैं। दूसरा व्यंग्य-साहित्यकार लेस्कोव (१८३१–९५) है जिसने केवल तब के समाज शासन तथा साहित्य में प्रचलित कुप्रथाओं पर ही कुठाराघात नहीं किया, वरन् तथाकथित उदारदलियों तथा सुधारवादियों की गल्तियों तथा कमियों की भी आलोचना की। वास्तव में 'शेद्रिन' की भाँति उसका उद्देश्य ध्वंसात्मक नहीं वरन् निर्माणात्मक था।

रूसी रङ्गमञ्च का भी इस युग में यथेष्ट विकास हुआ। ओस्त्रोवस्की ने इस वास्तविक जगत के सजीव पात्रों का यथार्थ चित्रण अपने नाटकों में किया, जिसके फलस्वरूप अभिनय की समस्या काफी हल होगई तथा षड्यन्त्रों, भेदभरी चालाकियों और पर्दों को क्षण-क्षण उठने-गिरने आदि की त्रुटियों को दूर कर उसने रूसी रङ्गमञ्च को सरल तथा सुगम कर दिया।

यद्यपि यह युग गद्य-युग के नाम से विख्यात है, तथापि इस युग में कविता पूरी तरह से नहीं मरी थी, हाँ कोई क्रान्तिकारी विकास अवश्य ही नहीं हुआ था। इस युग के कवियों में कवियित्री नेकरासोव (१८२१–७७) का शीर्ष स्थान है, जिसके गीतों में जीवन के दुख और सुख, रुदन और हास की विचित्र अनुभूति है, किन्तु जिसमें जीवन की यथार्थता भी पर्याप्त है। इस युग के दूसरे कवि मायाकोव (१८२१-९७) फेट (१८२०–९८) तथा पोलोन्स्की (१८२०-९८) हैं। अलेक्सिस तालस्ताय (१८१७ ७५) को भी पर्याप्त ख्याति है और वह नेकरासोव की तुलना का कवि है, किन्तु नेकरासोव की भाँति उपदेशात्मक नहीं। इस युग का एक और कवि निकिटिन है जिसकी रचनायें राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत-प्रोत हैं और क्रिमयन युद्ध जिसका मूल विषय है। नेदसन जो एक प्रथम कोटि का कवि था, क्षय और सुरा के कारण अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुआ, वरना वह उच्चकोटि का कवि सिद्ध होता, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरे 'श्वेत सम' कवियों में बालमोंट तथा इवानोव का स्थान है।

म्रिगोशेविच इस युग का अन्तिम उपन्यासकार है जो वस्तुतः तुर्गनेव का साहित्यिक उत्तराधिकारी है; उसने ग्राम्य जीवन का चित्रण कर तुर्गनेव की साहित्यिक परम्परा को आगे बढ़ाया है।

गोर्की युग—वास्तव में गोर्की (१८६८-१९३६) ने रूसी कथा साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात किया है। उसने अपने उपन्यासों तथा कहानियों के लिये पात्रों को चुनने के बदले पात्रों को उठाना आरम्भ किया अर्थात् उसने कल्पनात्मक कथा-विकास की पद्धति को छोड़ सड़क के साधारण व्यक्ति का ही, जैसा उसने उसे देखा, उसका ठीक वैसा ही, चित्रण कर एक नई पद्धति की कथा-विकास में नींव डाली और इस भाँति उसने सर्वप्रथम रूसी कथा-साहित्य में कथा-वस्तु तथा पात्रों का साधारणीकरण करा; उसकी 'माँ' विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है।

चेखव (१८६०-१९०४) लघुकथाओं के क्षेत्र में संसार का अनुपम साहित्यकार है; वह अपनी लघुकथाओं के द्वारा ही रूसी जीवन का विशद चित्रण करने में सफल हुआ, वस्तुतः वह भी गोर्की की परम्परा में की एक कड़ी चेखव के अतिरिक्त दूसरे कथा-साहित्यकार मर्कोव्स्की (१८६५–१९४१), बुनिन (१८७०–), कुप्रिन (१८७०–१९३८) ऐवर्चेन्को (१८८१–१९२५) त्रिसोव (१८७३–१९२४), ब्लाक (१८८०–१९२१) जोश्चेन्को (१८९५–) आदि हैं, जिन्होंने वास्तव में लिखना तो क्रांति से पूर्व ही आरम्भ कर दिया था, किन्तु तब तक वे जनता की नजरों में चढ़ न सके थे, परन्तु क्रान्ति के उपरान्त उनकी प्रौढ़ता तथा समाजवादी जनजागृति के कारण बाद को उनको ख्याति, यथेष्ट ख्याति मिली और आज वे सोवियत के श्रेष्ठ साहित्यकार बन चुके हैं।

कविता का वास्तव में इस युग में ह्रास ही हुआ, किसी मौलिक विकास की तो बात कौन कहे। तब भी ब्लाक (१८८०–१९२१), मालोग्व (१८६३–१९२७) अन्ना अहमातोवा (१८८९–), ब्रियोव (१८७३–१९२४) आदि को इस युग के कवियों में गिना जा सकता है,

(शेष पृष्ठ ७० पर देखिये)

कवि और समालोचक

श्री मि० कृ० राजगोपाल, एम० ए०

यद्यपि कवि और समालोचक का घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि कवि की नकेल समालोचक के हाथ में ही है। यदि किसी अज्ञात-स्थान पर बैठकर कवि प्रकृति एवं भावों तथा भावनाओं से प्रेरित होकर उक्त भावों तथा भावनाओं को कविता का रूप प्रदान कर अपनी कविता से, स्वार्थी राजनीतिज्ञ की भाँति, आप अकेला आनन्द प्राप्त करता है तो उस आनन्द को साधारण जनता में वितरण कर, सबको सुखी बनाने का तथा कवि को अज्ञात स्थान से बाहर खींच प्रकाश में लाने का कार्य समालोचक करता है। कविता लिखना ही अपना कर्तव्य समझ यदि कवि मौन धारण कर लेगा तो समालोचक जनता को वह कविता पढ़ने के लिए प्रेरित करता है और उसका प्रचार करता है। अर्थात् समालोचक कवि का प्रचारक है।

कवि के उच्च अथवा नीच बनने के लिए समालोचक ही कारण है। समालोचक कवि को जैसे चाहे बना अथवा बिगाड़ सकता है। चाहे उसे ले जाकर उच्च सिंहासन पर आसीन कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी कर सकता है और चाहे उसे किसी गहरे कूप में ढकेल कर उसकी मनमानी अवहेलना भी कर सकता है। इस दृष्टि से कवि की नकेल समालोचक के हाथ में ही रहती है।

महाकवि कालिदास के महत्व का, उसके कविता-चातुर्य एवं अद्भुत रचना-शक्ति का ज्ञान जनता को, विशेषकर भारतीय जनता को तब तक नहीं हुआ था जब तक कुछ जर्मन विद्वानों ने कालिदास की रचनाओं का आमूलाग्र अध्ययन कर उनकी व्याख्या उपस्थित नहीं की और उसकी अद्भुत रचनाशक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा नहीं की। तब तक कालिदास, उसकी रचनाएँ और उसका महत्व सब धूल-धूसरित होकर अज्ञात पड़ा था। विख्यात अंग्रेज कवि एवं नाटककार शेक्सपियर के सम्बन्ध में भी यही बात है। जब तक ब्राडले आदि विद्वान समालोचकों ने उनके नाटकों एवं कविताओं की समालोचना प्रस्तुत नहीं की तब तक उस ख्यात नाटककार के महत्व को क्या अँग्रेजों ने भी आँक पाया था? इसी प्रकार हमारे हिन्दी के सुविख्यात कवि महात्मा तुलसीदास का काव्य-महत्व आज से पचास वर्ष पूर्व कितने समझा था? यद्यपि पवित्र-धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उत्तर-भारत के घर-घर रामायण बाँची जाती थी तथापि जब तक पण्डित रामचन्द्रजी शुक्ल जैसे सुविद्वान समालोचकों ने तुलसीदास के काव्य-सौन्दर्य को हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं किया तब तक हिन्दी-जनता अज्ञानान्धकार में डूबी पड़ी थी। कहने का तात्पर्य यह कि समालोचक के बिना कवि प्रकाश में नहीं आ सकता है और नहीं आता भी।

इसके साथ साथ हमारे सम्मुख और एक विचित्र परन्तु अति मुख्य प्रश्न उपस्थित होता है जिस पर हमें सावधान होकर ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। प्रश्न यह कि तब कवि बड़ा है या समालोचक? साधारणतया कवि प्रकृति अथवा अपने अनुभव ज्ञान से प्रेरित होकर अपनी कल्पना-शक्ति की सहायता से कविता करता है। परन्तु समालोचक उस कविता की व्याख्या तथा समालोचना करते समय उस कवि एवं कविता के सम्बन्ध में न जाने कितनी बातें ला ठूँसता है। यदि कोई चार या पाँच पृष्ठों की कविता हो तो उसकी कोई पचास पृष्ठों की समालोचना और व्याख्या लिखी जाती है। तब हमारे मन में सन्देह ऐसा उत्पन्न होता है कि क्या कवि के मन में, कविता करते समय वे भाव और विचार उपस्थित थे जिनकी समालोचक ने अपनी समालोचना में चर्चा की है? यदि नहीं तो क्या आप कवि को बड़ा मानते हैं या समालोचक को? निस्सन्देह समालोचक को ही। क्योंकि उसके विचार, उसके भाव और उसकी कल्पना-शक्ति कवि से उन्नत और उच्च रहती है। परन्तु सर्वत्र यह बात सत्य नहीं सिद्ध होती भी है।

हिन्दी साहित्य में कविवर बिहारी का तो विशिष्ट स्थान है ही। वैसे ही तो उनके प्रत्येक दोहे में नाना प्रकार के गूढ़ार्थ छिपे पड़े हैं। परन्तु उनके—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परे, स्यामु हरित दुति होइ॥

वाले एक दोहे की व्याख्या पण्डित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने तेन अर्थों में की है। प्रत्येक शब्द के इन्होंने न जाने कितने अर्थ किये हैं। सम्भव है कि बिहारी के मन में ये सभी भाव तथा विचार उस समय नहीं उत्पन्न हुए हों परन्तु 'रत्नाकरजी' की कल्पना शक्ति असीम है।

इसी प्रकार रामायण की, भारत की विभिन्न भाषाओं में न जाने कितने प्रकार की टीकाएँ निकल चुकी हैं। परन्तु सबके भाव एवं विचार एक-से तो नहीं हैं और यह भी सम्भव नहीं कि उन सभी टीकाओं के सभी भाव एवं विचार रामायणकार के हों। पर इसका अर्थ यह नहीं कि रामायणकार की अपेक्षा रामायण के टीकाकार अथवा समालोचक के विचार एवं कल्पनाशक्ति उच्च कोटि की है और वाल्मीकि तथा तुलसीदास किसी समालोचक या टीकाकार से छोटे हैं। क्योंकि रामायण में ही कल्पना शक्ति की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होता है।

बाबू जयशङ्करप्रसाद का अमर महाकाव्य 'कामायनी' के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है। वहाँ समालोचकों ने मनु, श्रद्धा और इड़ा के भिन्न भिन्न सांकेतिक अर्थ बतलाये हैं। मनु 'मन' के प्रतीक के रूप में, श्रद्धा 'हृदय' के प्रतीक के रूप में और इड़ा 'बुद्धि' के प्रतीक के रूप में उपस्थित किये गये हैं। इस प्रकार कल्पना-शक्ति के द्वारा उस काव्य की आलोचना में काम लिया गया है और समालोचकों ने कामायनी को एक नया रङ्ग ही प्रदान कर दिया है। समालोचना-युग के ही होने के कारण प्रसादजी स्वयं जानते थे कि समालोचकों के हाथ में पड़ जाने पर अपनी कृति की क्या-क्या दशायें हो जाती हैं। इसीलिये उन्होंने आमुख में स्पष्ट कह ही दिया है कि "इसलिये मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" न जाने हिन्दी साहित्य के कितने कवियों की समालोचनाएँ आज तक निकल चुकी हैं और कितने के भाव तथा विचार कभी-कभी कवि के भावों तथा विचारों से भी उन्नत जान पड़ते हैं।

ऊपर कहा गया है कि समालोचक चाहे कवि को बना भी सकता है, चाहे बिगाड़ भी सकता है। तात्पर्य यह कि समालोचक अपनी रुचि के अनुसार कवि की प्रशंसा या अवहेलना कर उसे उठा या गिरा सकता है। कवि का भाग्य समालोचक के हाथ में रहता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये हमें कबीरदास पर दो विद्वान् समालोचकों के विपरीत मतों पर दृष्टिपात करना चाहिए। वहाँ हमें इसका एक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है।

स्व० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल कबीर को कवि मानने के लिए भी तैयार नहीं थे। आप कबीर की बानी को 'अटपटी बानी', और उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी भाषा' अथवा 'खिचड़ी भाषा' कह कर उनके चलाये हुए पंथ के संबंध में कहते हैं—"......इस शाखा की रचनायें साहित्यिक नहीं हैं—फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है।.... बात यह कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिये न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।" इतना ही नहीं और भी। उनके चलाये पंथ को भी 'खिचड़ी पंथ' ही सिद्ध करते हुए आप फिर कहते हैं—"इस प्रकार उन्होंने (कबीर ने) भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं।" कबीरदास के सम्बन्ध में शुक्लजी का यह मत पढ़कर किस पाठक के हृदय में कबीर के प्रति, उसकी काव्य-शक्ति के प्रति और उसके चलाये पंथ के प्रति श्रद्धा, गौरव और प्रेम जाग्रत होते हैं?

अब उसी कबीरदास के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी का भी मत देख लीजिए। आपने उन को कितना ऊँचा उठाया है। आप कहते हैं—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा

है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है,—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरार देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह-कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर,—पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्व को मूर्तिमान कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।" फिर उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आगे चलकर आप कहते हैं—"हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है,—तुलसीदास।" और फिर "कबीर धर्मगुरु थे। इसलिये उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए; परन्तु विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूप में उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है, समाज सुधारक के रूप में, सर्वधर्म-समन्वयकारी के रूप में, हिन्दू-मुसलिम ऐक्य-विधायक के रूप में, विशेष-संप्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में और वेदान्त-विख्याता दार्शनिक के रूप में उनकी चर्चा कम नहीं हुई है।" कबीर के प्रति जनता के मन में महान् श्रद्धा, गौरव एवं प्रेम उत्पन्न कराने वाली इन बातों से ही तृप्ति न पाकर आचार्य जी उन व्यक्तियों को आड़े हाथों लेकर यह समाधान पाते हैं जिन्होंने कबीर के प्रति अनादरपूर्ण बातें कही हैं। आप कहते हैं—"प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें घमण्डी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेदों को न जानने वाला, अहङ्कारी, अगुण सगुण विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर, अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं।"

उपरोक्त दोनों विद्वान् समालोचकों के विपरीत मत से यह सुस्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि एक ही कवि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न समालोचकों के "भिन्न रुचिर्हि लोकः" वाले सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं। एक समालोचक के लिए जो कवि अच्छा लगता है वही कवि दूसरे समालोचक के लिए बुरा भी लग सकता है।

इन सब बातों का सारांश यह कि कवि अपने ही एक पृथक संसार में, अपने ही भावों तथा विचारों में निश्चिन्त होकर निमग्न रहता है। वह इस संसार में रहते हुये भी नहीं रहता है; बस्तुतः इस दुनिया से कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं। वह मधुमती भूमिका में विचरण करते हुए परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति के रूप में 'ब्रह्मानन्द सहोदर' 'काव्यानन्द' लूटने में चूर रहता है। परंतु एक पृथक संसार में रहने वाले कवि को इस संसार में लाकर साधारण जनता को भी काव्यानन्द का रसपान करने को प्रेरित करने का स्तुत्य कार्य विद्वान् समालोचक के अतिरिक्त और कौन कर सकता है? वही कवि के प्रति जनता के हृदय में श्रद्धा, गौरव और प्रेम जागृत करा सकता है।

इसके साथ हमें यह भी स्पष्ट जान लेना चाहिए कि कवि के प्रति समालोचक के दो महत्वपूर्ण एवं गुरुतर कर्तव्य भी रहते हैं। प्रथम मुख्य कर्तव्य यह कि समालोचक को किसी जीवित कवि की समालोचना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि एक तो कवि के भाव एवं विचार परिपक्व तथा स्थिर नहीं रहते हैं और दूसरा, कवि के ही अपनी कविता के भावों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने की सम्भावना हो। अतः किसी कवि के जीवित काल में ही उसकी समालोचना करना एक अच्छे और सच्चे समालोचक का कार्य न होगा।

दूसरा और भी मुख्य कर्त्तव्य यह कि कवि के साथ निष्पक्ष होकर, किसी भी प्रकार के राग द्वेष से प्रभावित न होकर समालोचक को वस्तु के वास्तविक रूप की

(शेष पृष्ठ ७० पर देखिए)



आलोचना

साहित्य-जिज्ञासा—लेखक श्री ललिताप्रसाद सुकुल, प्रकाशक-सर्वश्री आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १६७, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक सुकुलजी के आलोचनात्मक निबन्धों के रूप में प्रकाशित हुई है। इनमें से कुछ सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ विशेष काव्य ग्रन्थों (जैसे भारत-भारती और कवियों से जैसे लोक-लाज कुल शृङ्खला तजि मीरा गिरधर भजी) से सम्बन्ध रखते हैं। सभी लेखों में एक संतुलित साहित्यिक दृष्टिकोण का—जो भावुकता और बौद्धिकता के बीच का है—परिचय मिलता है। पुस्तक का नाम साहित्य जिज्ञासा है। वैसे तो सत् जिज्ञासा में आधा उत्तर आजाता है किन्तु सुकुलजी ने हमको अपनी जिज्ञासा द्वारा ऐसे स्थल तक पहुँचा दिया है जहाँ से इसके दर्शन की सम्भावना हो सके। सुकुलजी साहित्य की आत्मा उस आन्तरिक समन्वय में मानते हैं जो निर्माण और सृजन की प्रेरणा का फल हो। जिन कलाकारों की दृष्टि विश्व व्यापिनी हो, जिनका आत्म-संयम ध्रुव सा अचल हो उन्हीं को लेखक महोदय ने प्रथम श्रेणी का साहित्यकार माना है। दूसरी कोटि का साहित्य सुकुलजी उसे मानते हैं जो प्रतिक्रिया चित्रणशील होता है। ऐसा साहित्य प्रायः सामयिक होता है तीसरी कोटि का वह साहित्य है जो अनुकरणशील होता है। आजकल पहले और दूसरे प्रकार के साहित्यिकों की कमी ही के कारण हिन्दी में गत्यावरोध है। सुकुलजी ने साहित्य की गति विधि का अध्ययन इतिहास और राजनीति की पृष्ठभूमि में किया है। आपने दिखलाया है कि हिन्दी और बङ्गला साहित्य देश की व्यापक और प्रान्त की विशेष परिस्थितियों के कारण हुआ है। आदान-प्रदान का शीर्षक कुछ भ्रामक अवश्य है। साहित्य के अगले चरण में यह अवश्य दिखाया है कि देश की बदली हुई परिस्थितियों में कैसे साहित्य का सृजन नहीं हो सकता है किन्तु इसके बतलाने का कम प्रयत्न है कि वह कैसा होगा। साहित्य के निर्माण होजाने पर ही उसकी व्याख्या की जाती है। भविष्यवाणी करना कठिन होता है। सुकुलजी ने काव्य के प्रयोजनों में रसानुभूति और सौन्दर्यान्वेषण को अधिक महत्व दिया है। जीवन के नैतिक मूल्यों पर उतना आग्रह नहीं है जितना कि होना चाहिए किन्तु वे अच्छी राष्ट्रीय कविता के प्रशंसक और पक्ष समर्थक हैं। पुस्तक में सुकुलजी के व्यापक अध्ययन (जैसे हिन्दी और अंग्रेजी की समानान्तर धाराएं शीर्षक लेख में) और गम्भीर विवेचन की झलक मिलती है।

हरिऔध और उनका प्रिय-प्रवास—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा, प्रकाशक-राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया। पृष्ठ ३७५, मूल्य ३॥=)

प्रिय-प्रवास हरिऔधजी का कीर्ति-स्तम्भ है। वह पुस्तक कुछ मौलिक उद्भावनाएँ लेकर आई थी। प्रस्तुत पुस्तक द्वारा प्रिय प्रवास के महाकाव्यत्व आदि विवादपूर्ण प्रश्नों के विवेचन के साथ उसकी मौलिकता, उसके रस,

अलङ्कार-विधान, भाषा-शैली' आदि सभी आवश्यक और ज्ञातव्य बातों का उद्घाटन हुआ है। लेखक का हृदय कवि के प्रति श्रद्धा से पूर्ण है। उनके प्रति किये हुये आक्षेपों का निराकरण कुछ है किन्तु उसमें वह पैनी दृष्टि और तार्किक सूझ नहीं है जो अन्यत्र दिखाई देती है फिर भी सिन्हा महोदय की भाषा संयम के बाँध में बँधी रही है। वे स्वयं अलङ्कार सम्बन्धी दोषों के दिखाने में सचेत रहे हैं। विविध कवियों द्वारा किये हुये राधा रानी के चरित्रों का बड़ा मार्मिक तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है और राधा की परम्परा में बतलाया गया है कि राधा का उल्लेख संस्कृत साहित्य की अपेक्षा प्राकृत साहित्य में पहले आया है। यह उनकी लोक-प्रतिष्ठा का परिचायक है। प्रिय-प्रवास को लेखक ने विप्रलम्भ शृङ्गार-प्रधान काव्य ही माना है। उसका विप्रलम्भ करुणात्मक होकर शान्त में परिणत हो जाता है। लेखक ने यह भी बतलाया है कि वात्सल्य में भी संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ का ही प्राधान्य है। लेखक ने कवि द्वारा वर्णित राधा के प्रेम की महत्ता को मोह और प्रणय में अन्तर कर और भी निखार दिया है। मोह रूपाश्रित है, प्रणय गुणाश्रित है। भाषा-शैली के उद्घाटन में प्रिय-प्रवास की खड़ी बोली में व्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव दिखाया गया है। अन्त में पिछले पाँच सर्गों की टीका भी दी गई है। यदि पूरी की ही टीका होती और पवनदूत की परम्परा आदि विषय उपेक्षित न रहते तो इसकी उपादेयता और भी बढ़ जाती।

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—सम्पादक सर्वश्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवरसिंह, प्रकाशक—प्रकाशिका समिति, हिन्दी विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस के लिए साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ २१५, मूल्य ३॥)

हिन्दी साहित्य में पृथ्वीराज रासो का एक विशेष स्थान है। विश्वविद्यालय में एकाध समय पाठ्यक्रम में रहता था उस से न कला का तारतम्य मिलता था और न भाषा का ही ज्ञान होता था, न शैली का और परीक्षार्थी को छोट फेर कर वे ही स्थल परीक्षा में रखने पड़ते थे। इन कठिनाइयों को देखते हुए पृथ्वीराज रासो का संक्षिप्त संस्करण स्वागत करने योग्य है। विद्वान सम्पादकों ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में जिसके प्रारम्भिक भाग पर द्विवेदी जी के हस्ताक्षर हैं और परिशिष्ट भाग पर (रासो की परम्परा) श्री नामवरसिंहजी के हस्ताक्षर हैं पृथ्वीराज रासो का प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पृथ्वीराज रासो के संस्करणों पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया है कि इसका कोई लघु संस्करण अवश्य रहा होगा (जैसा कि मुनि जिन विजय सूरी की अपभ्रंश के प्रबन्धों की खोज से प्रमाणित होता है) सम्पादकों का यह दावा नहीं कि उन्होंने उस लघु संस्करण की खोज निकाला है वरन् और संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन से उनका यह अनुमान है कि वह ऐसा ही कुछ रहा होगा। जो कुछ भी हो इस संस्करण से पृथ्वीराज रासो की कथा, काव्य-सौष्ठव और भाषा शैली आदि का अच्छा आभास हो जाता है। अन्त में सम्पादकों ने विशिष्ट शब्दों का अर्थ बोध करा कर इस पुस्तक की उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है।

रासो शब्द की व्युत्पत्ति सम्पादकगण रास (नृत्यगीत और रासक) नाम के गेय नाटक से मानने के पक्ष में होते हैं। रासो के काव्य-सौष्ठव पर आलोचनात्मक प्रकाश डाल कर हमको रासो का थोड़ा बहुत रसास्वाद भी कराया है जिससे कि रासो हमारे लिए अपरिचित ग्रन्थ नहीं रहता है।

कर्मभूमि समीक्षा—लेखक-श्री हरस्वरूप माथुर एम० ए०, प्रकाशक—साहित्य-निकेतन, कानपुर। पृष्ठ १०, मूल्य १॥)

कर्मभूमि प्रेमचन्दजी की कृतियों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि प्रेमचन्दजी ने आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के चित्रण में विशेषता प्राप्त की है—वह इसमें पूरी तौर से उतर आई है। लेखक महोदय ने उपन्यास के तत्वों को बता कर कर्मभूमि के सम्बन्ध में उनका विवेचन बड़ा कुशलता से किया है। शरत, रवीन्द्र और डिकिन्स से प्रेमचन्द की तुलना करने में लेखक ने किसी हीनता भाव का परिचय नहीं दिया है। हर एक देश और प्रान्त और हर एक लेखक की अपनी विशेषता होती है। इसलिए विशेषताएँ दिखाकर किसी को बड़ा या छोटा नहीं कहा गया है। अपने देश की युग चेतना के चित्रण में प्रेमचन्द

अद्वितीय है। लेखक की राय में उनकी तुलना रूसी कलाकारों से की जा सकती है क्योंकि वहाँ की परिस्थितियाँ कुछ-कुछ भारत की ही सी थीं। प्रेमचन्दजी के प्रति लेखक में श्रद्धा अवश्य है किन्तु उसने प्रेमचन्द की दो एक उल्लेखनीय त्रुटियों के उद्घाटन से नहीं रोका है। उपन्यास के एक-एक तत्व को लेकर कर्मभूमि का जो विवेचन हुआ है वह विद्यार्थियों के विशेष उपयोग की वस्तु है। प्रेमचन्दजी की उपन्यास कला का यथार्थ मूल्यांकन करने के लिए प्रेमचन्द पूर्व और प्रेमचन्द पश्चात् का उपन्यास साहित्य का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है।

सन्त दर्शन—लेखक-डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित एम० ए०, पी-एच० डी०। प्रकाशक-साहित्य निकेतन, कानपुर। पृष्ठ ३०३, मूल्य ४)

सन्त साहित्य के कई क्षेत्र हैं। हठयोग, जीव ईश्वर सम्बन्ध जिसमें रहस्यवाद भी शामिल है। जगत की असारता, कर्तव्य-दर्शन, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य, इन सभी विषयों पर सन्तों ने अपनी अटपटी वाणी में, जो साहित्य के नियम और बन्धनों को स्वीकार करती है, हृदय की सचाई के साथ प्रकाश डाला है। सन्तों की वाणी में दार्शनिक तत्व तो काफी है। किन्तु उनकी पहुँच का मार्ग बुद्धि की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान अधिक है। इसलिए इस पुस्तक में सन्तों की वाणी और सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप देने की अपेक्षा उनके विचारों का दिग्दर्शन कराना अधिक है। जहाँ सम्भव हुआ है वहाँ दार्शनिक-आधार भी दिया गया है। सन्तों की परम्परा को लेखक महोदय बौद्ध सिद्धों तक ले गये हैं और उन्होंने अपेक्षाकृत उस अन्धकार-युग में मार्ग-दर्शन का प्रयत्न किया है और हिन्दी सन्त साहित्य के मूल तन्तुओं पर भी प्रकाश डाला है। सन्तों के सोऽहम् आदि सिद्धान्तों की जड़ों को उन्होंने वैदिक-साहित्य में देखा है। वास्तव में भारतीय दर्शन शास्त्र का मूल वेद भी है। संसार की असारता, दुःखवाद, वासनाक्षय का मूल स्रोत बौद्ध सिद्धान्तों में अधिक देखा गया, किन्तु बौद्ध और हिन्दू विचारों का एक ही सांस्कृतिक आधार है। अन्य प्रान्तीय सन्त साहित्य में बङ्गाल के बाउलों का उल्लेख है जो सर्वथा स्वागत योग्य है। राष्ट्रभाषा की व्यापकता और हिन्दुस्तान की एकता की दृष्टि से जहाँ प्रवृत्तियों और विचारों का विवेचन हो वहाँ महाराष्ट्र, गुजरात, तामिल आदि सभी प्रान्तों के सन्तों का उल्लेख वाञ्छनीय था। यह पुस्तक का दोष नहीं है, हर एक मनुष्य की सीमायें होती हैं। यह तो भावी लेखकों के लिए एक दिशा निर्देश मात्र है। फिर भी लेखक ने सन्त-साहित्य को एक संगठित रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। अन्त में पारिभाषिक शब्दों की तालिका देदी गई है जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

—गुलाबराय

कविता

चाँदनी रात और अजगर—ले०-श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, प्र०-नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद। पृष्ठ १११, मू० ३)

अश्कजी हिन्दी के प्रसिद्ध और क्रान्तिकारी लेखक हैं। इस पुस्तक में चाँदनी रात और अजगर की कहानी "कवि के गत जीवन के संस्मरणों, अभावों और भावी जीवन के सपनों द्वारा गुथी गई है। इस कविता की कहानी का आन्तरिक तीर-तम्य घटनाओं की क्रम सूचना के कारण नहीं, बल्कि भाव प्रतिक्रियाओं के सहज सम्बन्धों के कारण है इससे यह एक पद्य कथा बनती है········दरअसल बहुत दिनों के बाद ऐसी कविता पढ़ने को मिली है जिसमें विचारों की सफाई के साथ साथ जीवन का इतना गहरा स्पन्दन हो।"—ये शब्द हमने श्री शिवदानसिंह चौहान लिखित पुस्तक की भूमिका से लिये हैं और हम उनकी पुष्टि करते हैं।

कहानी

लड़खड़ाते कदम—ले०-श्री महेन्द्र भटनागर, प्रकाशक—स्वरूप ब्रदर्स, इन्दौर। पृष्ठ १६०, मूल्य १)

श्री महेन्द्र भटनागर उदीयमान नवयुवक हैं। थोड़े समय में ही उनकी कई पुस्तकें हमारे सामने आई हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनकी कहानियों का एक संग्रह है। इसमें लेखक ने वर्तमान यथार्थ का चित्रण सुन्दर ढङ्ग से किया है। कहानी में रवानी है और विचारों में तेजी। पुस्तक पढ़ने योग्य है।

उपन्यास

होटल मॉडन (होटल के मालिक की आत्म-कथा)—ले०-श्री सत्यकेतु विद्यालङ्कार, डी० लिट्०। प्रकाशक-सरस्वती सदन, मंसूरी। मूल्य ३॥)

विद्यालङ्कारजी अभी तक हिन्दी संसार में इतिहास लेखक के रूप में आये हैं। इस पुस्तक द्वारा वे उपन्यास लेखक के रूप में आते हैं। होटल के मैनेजर का यह सौभाग्य होता है कि वह भिन्न-भिन्न टाइप के लोगों के सम्पर्क में आये। होटल मॉडर्न के मैनेजर महोदय संसार और जीवन के मर्मज्ञ द्रष्टा हैं। उनकी आत्मकथा के साथ इस पुस्तक में विभिन्न स्तर के लोगों के जैसे—सम्पादक, राजे महाराजे, सेठ-साहूकार, सरकारी कार्य-व्यस्त और अवकाश प्राप्त कर्मचारी तथा उनसे काम निकालने वाले तथा बेमुलक के नकली नवाब, और उनको प्रलोभन देने वाली बेगम के सजीव और मनोवैज्ञानिक चित्र दिये हैं। पुस्तक बड़ी मनोरञ्जक और जीवन का अनुभव प्राप्त कराने वाली है। —गुलाबराय

नाटक

पैसा परमेश्वर—लेखक-श्री रामनरेश त्रिपाठी, प्रका०-हिन्दी मन्दिर प्रकाशन नई दिल्ली। पृष्ठ २००, मूल्य ३)

बहुत दिनों बाद त्रिपाठीजी साहित्यिक क्षेत्र में इस बार एक नाटककार के रूप में अवतरित हुये हैं। कवि आलोचक और सम्पादक के रूप में ये काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं; इस पुस्तक द्वारा उन्होंने अपने को एक सफल नाटककार भी प्रमाणित किया है। पुस्तक अपने ढङ्ग की बिल्कुल नई है। और इसमें देश की वर्तमान अवस्था का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। आज का सेठ, डाक्टर, वकील, महन्त, कथा-वाचक, सिनेमा वाला, मजदूर नेता, सम्पादक, चित्रकार, डाकू, जज, पुलिस, आदि लोग पैसे ही को सब कुछ मानकर जघन्य काम करने को तैयार रहते हैं। इसका बहुत ही बढ़िया खाका इस पुस्तक में खींचा गया है। कुछ लोगों को शायद इसमें कहीं कहीं अतिरञ्जकता की गन्ध आवे पर हमारी राय में इसमें स्थिति का सही वर्णन किया गया है। हम इस पुस्तक का हृदय से स्वागत करते हैं और अपने पाठकों से इसे पढ़ने की सिफारिश करते हैं।

आजादी के बाद (एक दृश्य नाटक)—लेखक-श्री विनोद रस्तोगी, प्रकाशक-कमला प्रकाशन, ७।१४०, स्वरूप नगर, कानपुर। पृष्ठ ११०, मूल्य १॥)

'आजादी के बाद' तीन अङ्कों का एक दृश्य नाटक है। आजादी के बाद क्रमशः पतनोन्मुख समाज ही नाटक का विषय है। नाटक का उद्देश्य है पूँजीवादी शासन के स्थान पर श्रमिकों की साम्यवादी सरकार की स्थापना। लेखक ने कई सूत्रों को एक साथ पकड़ा है यथा—शरणार्थी समस्या, व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार, भ्रष्ट नेतागीरी, काला-बाजार, भ्रष्टाचार आदि। साथ ही शीला, सुरेश, नीला, अजीत, कान्ता, रमेश के प्रेम प्रसङ्गों को लेकर लेखक ने सामाजिक सम्बन्धों तथा प्रेम के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला है। कथानक के सङ्गठन में अनेकानेक समस्याओं को एक साथ उठाने का परिणाम यह हुआ है कि लेखक को सेठ मानिकलाल और मजदूर नेता अजीत के बीच पूँजीपति व शोषित-नेता के स्थान पर श्वसुर व दामाद का नाता स्थापित करना पड़ा है। नाटक कई जगह खेला जा चुका है। —वि० ना० उपाध्याय

राजनीति

आधुनिक योरुप का राजनीतिक दर्शन—ले०-श्री श्यामसुन्दर एम० ए०, प्रकाशक-चेतना प्रकाशन, बम्बई। पृष्ठ १०६, मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने योरुप के विभिन्न देशों की वर्तमान स्थिति का निकट भूत से सम्बन्ध बताते हुए निरूपण किया है। आज योरुप की क्या दशा है, इसका सुन्दर चित्र इस पुस्तक से आँखों के सामने आ जाता है। राजनीति के विद्यार्थियों और संसार की गति को समझने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के लिए ऐसी पुस्तक पढ़ना बहुत उपयोगी होगा।

आँखों देखा रूस—लेखक-श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, अनु० श्री विष्णुदत्त विकल, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ १०८, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक मजूमदारजी की लिखी हुई 'आमार देखा रशिया' नामक बङ्गाली पुस्तक का अनुवाद है। वर्तमान रूस एक प्रकार की पहेली है जिसे अमरीकन दृष्टिकोण से देखते हैं तो सिवाय बुराई के कोई भलाई नहीं दिखती और इसके विपरीत कम्यूनिष्ट मनोवृत्ति से देखने वाले रूस को सर्व-गुण

सम्पन्न पाते हैं इस पुस्तक में लेखक ने रूस का भ्रमण कर वहाँ का पूरा हाल लिखा है जिससे वस्तु स्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और बहुत सी गलतफहमियाँ दूर होती हैं।

यूरोपा—लेखक-श्री देवेशचन्द्रदास, प्रकाशक-श्री रामाराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १६७, मूल्य ३)

'यूरोपा' में यूरोप के देशों का सांस्कृतिक एवं बौद्धिक परिचय दिया गया है। शैली सरस और भावात्मक स्पर्श लेकर चलती है। यात्रा के विवरण के साथ-साथ विभिन्न देशों के हृदय पर पड़े प्रभावों को उल्लसित शैली में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक में एक विवेचक की गम्भीर विवेचना, एक साहित्यिक की सरस गद्य-काव्य और एक दार्शनिक की विभिन्न मार्मिक जीवनानुभव मिलेंगे। पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि आशीर्वाद दाताओं और भूमिका लेखकों में रवीन्द्रनाथ टैगोर, रायकृष्णदास, सेठ गोविन्ददास, डा० राजेन्द्रप्रसाद जैसे व्यक्ति हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुसार लेखक ने इस पुस्तक में "आनन्दित मन से यूरोप को देखा है और वही आनन्द पाठकों को वितरित किया गया है"। हृदय की मुग्धता के साथ-साथ बुद्धि की सजगता भी बराबर इस कृति में मिलती है। मूल पुस्तक बँगला में है परन्तु हिन्दी में अनुवाद सफल हुआ है। —वि० ना० उपाध्याय

धर्म

हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूप-रेखा—लेखक-श्री नारायणसिंह, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ २४६, मूल्य ३)

हमारे धर्म में निहित ईश्वर भावना के भिन्न भिन्न रूपों की दार्शनिक विवेचना करते हुए सब का युक्ति-युक्त समन्वय ही लेखक का अभीष्ट लक्ष्य है। आधुनिक युग में समन्वय का सबसे पहिला प्रयास महाकवि तुलसी ने किया था। लेखक अधिकतर दार्शनिक दृष्टिकोण में उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चला है। उसके मत से हमारे सभी धार्मिक ग्रन्थों में सर्वत्र एक ही सत्य का प्रतिपादन हुआ है परन्तु उनमें बाहर से दिखाई देने वाला अन्तर द्वैत कोटि भेद से ही है—एक दूसरे की बात का खण्डन करने के लिये नहीं। यह पूर्णतः सत्य ही प्रतीत दिखाई देता है। लेखक ने इसकी और पुष्टि के लिये बौद्ध और जैन धर्मों के सिद्धान्तों की भी विवेचना की है। परन्तु उसे उसमें भी कहीं निरीश्वरवाद की छाया नहीं दिखाई दी।

ब्रह्म और उसकी भावना को अच्छे प्रकार समझाने के लिये ब्रह्म और ईश्वर, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, श्रुति और अवतार आदि विषयों को अच्छे परिश्रम से लिखा गया है। साथ ही साथ मनुष्य और ब्रह्म के समन्वय को स्पष्ट करने के लिए मनुष्य की सुखेच्छा, उसका समाज से सम्बन्ध और ईश्वर पूजा तथा उसके लिये पूजा का महत्व आदि विषयों को विस्तार से लेखक ने पहले ही दे दिया है। विषय गम्भीर है और पुस्तक छोटी है फिर भी उसके अध्ययन से साहित्य के विद्यार्थियों को हिन्दी साहित्य में फैली हुई भावनाओं को समझने में पर्याप्त सुगमता होगी।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य—लेखक विद्याभास्कर रामावतार शास्त्री, प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग। पृष्ठ १८२, मूल्य १॥)

मानव शरीर पाकर मनुष्य का लक्ष्य क्या है, यह एक बहुत ही बड़ा प्रश्न है। लेखक ने इसी प्रश्न को लेकर वैदिक विचार प्रणाली और परम्परा के अनुसार जो इसका समाधान दिया है वह सर्वथा वही है कि जिसके लिये 'जहाँ सन्त सब जाहिं' वाली कहावत चरितार्थ होती है। उसका निर्धारित लक्ष्य है मानव शरीर से ही ईश्वर की प्राप्ति। जिसे लेखक ने अपने धार्मिक ग्रन्थों के उच्चतम तर्कों के द्वारा सिद्ध किया है। "सियाराम मय सब जग जानी" और "केहि सन करहि विरोध"—इस लक्ष्य को पाने का परम मन्त्र है। इसी को लेखक ने स्थान स्थान पर अपने शब्दों में बड़े ही प्रभावपूर्ण शब्दों में दिया है।

परन्तु इतनी सुन्दर पुस्तक में एक बात खटकती है कि शास्त्री जी ने इसे केवल एक निबन्ध का रूप दे दिया है। साधारण प्राणी वर्तमान समय में धार्मिक वातावरण से बहुत दूर है और उसका ऐसी मूल पुस्तकों का अध्ययन तो नहीं के समान है। इस दशा में यदि शास्त्री जी पुस्तक को विषयानुसार अध्यायों में बाँट कर अपने प्रतिपाद्य विषय को वही दे देते तो अत्यन्त सुन्दर रहता। —दयाप्रकाश

मानव (उत्पत्ति, स्थिति और विकास)—लेखक—श्री बलभद्र ठाकुर साहित्याचार्य, प्रकाशक—स्वामी केशवानन्द एम० पी०, संगरिया (राजस्थान)। पृष्ठ २४८, मूल्य ४)

इस पुस्तक में मानव का ही नहीं वरन् मानव से पूर्व पृथ्वी के सूर्य से अलग होने की बात और उस पर जीवों की उत्पत्ति से प्रारम्भ करके आधुनिक युग के सामाजिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक इतिहास का संक्षिप्त पर सरल भाषा में वर्णन है। यद्यपि सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक मतों के साथ भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त भी दिये गये हैं तथापि लेखक ने वैज्ञानिक विकासवाद को अधिक मान्यता दी है। विकासवाद की सबसे कठिन समस्या है अजीव से जीवन की उत्पत्ति का प्रश्न। जीवन को लेखक ने (Ultra violet rays) कासिनी पार किरणों द्वारा उत्पन्न की हुई छिछले खारी पानी में रासायनिक क्रिया से माना है। फिर भी यह प्रश्न होता है कि जीवन की उत्पत्ति हुई या विकास? किसी वस्तु का बिना किसी आधार के उत्पन्न होना असम्भव है और यदि आधार माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें किसी न किसी रूप में जीवन मौजूद था। मनुष्य के शारीरिक विकास की कड़ियाँ दिखाकर उसके सामाजिक विकास और आविष्कारों के विकास की कथा संक्षेप में दी गई है। आर्यों का आगमन आचार्य जी बाहर से मानते हैं। रामायण के रचना काल को शास्त्री जी महाभारत के बाद का मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। ऐसे विवादास्पद विषयों को केवल कुछ विद्वानों की गवाही के आधार पर बिना दोनों पक्षों की उक्तियों का विवेचन किये मान लेना ठीक नहीं है।

राजनीति और अर्थशास्त्र में आचार्यजी ने यद्यपि सन्तुलित विचार रखने का प्रयत्न किया है किन्तु समाजवाद की ओर झुकाव कुछ अधिक है। संक्षेप में लेखक का दृष्टिकोण भौतिक अधिक है। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने अन्य देशों की राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास-क्रम दिखा कर हमारी कूप-मण्डूकता को दूर करने का प्रयत्न किया है और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सरल से सरल भाषा में रखा है।

स्फुट

पानी बोला—लेखक—श्री रामचन्द्र तिवारी तथा श्री सिद्धि तिवारी, प्रकाशक—आत्माराम एण्डसन्स, दिल्ली। पृष्ठ १०८, मूल्य २)

इस पुस्तक में पानी के सम्बन्ध की अनेक वैज्ञानिक बातें बड़े मनोरंजक ढङ्ग से वार्तालाप में समझाई गई हैं। बादल ओस, कोहरा, बिजली, अमोनिया, ओला, व बर्फ की चट्टान आदि पानी के विभिन्न रूप हैं। उन सबका ज्ञान इस पुस्तक के पढ़ने से होता है ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

पञ्चतन्त्र—सम्पादक—डा० मोतीचन्द्र; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २६७, मूल्य ४॥)

राजकमल प्रकाशन ने संस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तकों को हिन्दी में सुसम्पादित और सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का अच्छा प्रबन्ध किया है। दश कुमार चरित जिसकी आलोचना जून के अङ्क में छप चुकी है—इसी माला का एक पुष्प था। प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत की बड़ी प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें कथाओं द्वारा नीति की बड़ी बड़ी बातें बड़े सुन्दर ढङ्ग से समझाई गई हैं। पञ्चतन्त्र के पचासों अनुवाद हिन्दी में अबतक निकल चुके हैं। हिन्दी में ही नहीं—शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसमें पञ्चतन्त्र का अनुवाद न हुआ हो। ऐसी पुस्तक का इतना सुन्दर प्रकाशन कर राजकमल वालों ने सचमुच हिन्दी वालों का उपकार किया है। हम इस माला का सहर्ष स्वागत करते हैं।

हिन्दी शीघ्र-लिपि (वर्धा प्रणाली)—लेखक—श्री मुरलीधर 'नवनीत', प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। पृष्ठ ८०, मूल्य २)

सन् १९४० में राष्ट्रपति द्वारा भारतीय शीघ्र लिपि तथा मुद्रा लेखन के लिये प्रामाणिक पद्धति की खोज के लिये एक समिति नियुक्त की गई थी। समिति ने जिन चार शीघ्र लिपि प्रणालियों पर राय दी, वर्धा-प्रणाली भी उनमें से एक है। काका साहब कालेलकर की देख-रेख में 'नवनीत'

महोदय ने इस पुस्तक को अत्यन्त सरल और वैज्ञानिक ढङ्ग पर बनाने की चेष्टा की है। यह पुस्तक तीन खण्डों में प्रकाशित होगी, इस प्रथम खण्ड का नाम 'सिद्धान्त खण्ड' दिया गया है, दूसरे खण्ड में पत्र व्यवहार और तीसरे खण्ड में 'रिपोर्टिङ्ग-लेखन' होगा। पुस्तक पठनीय और विचारणीय है।

बापू का सपना—लेखक-श्री नर्वदेश्वर चतुर्वेदी, प्रकाशक-साहित्य भवन लि० प्रयाग। पृष्ठ ६४, मूल्य ॥)

इस पुस्तक में ११ निबन्धों का संग्रह है जिनमें बापू के मौलिक सिद्धान्तों की चर्चा है। नैतिकता व युद्ध का समाधान, ट्रस्टीशिप, मशीन की उपयोगिता, हरिजन समस्या, अहिंसा, सत्य, जैसे विषयों को समझाने की सफल चेष्टा लेखक ने की है।

भारतवर्ष में जाति भेद—लेखक-आचार्य क्षिति-मोहन सेन, प्रकाशक-साहित्य भवन लि० प्रयाग। पृष्ठ १५० मूल्य २)

शान्ति निकेतन के पूर्व प्रधान आचार्य विद्वत् शिरोमणि आचार्य क्षिति मोहन सेन की यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक है। भारतवर्ष में जाति भेद क्यों और कब से पैदा हुआ इसका बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। पुस्तक संग्रह करने योग्य है।

प्राप्ति-स्वीकार

स्वर्णाहम्—लेखक-श्री मोहनलाल गुप्त 'करुणेश', प्रकाशक-प्रतिमा प्रकाशन हिन्दी साहित्य समिति, बड़नगर। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥≈)

करुणेश जी हिन्दी के नये लेखक हैं लेकिन उनकी इस पुस्तक में उनकी कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है कविताओं में ओज और प्रसाद दोनों हैं आशा है भविष्य में उनसे और अच्छी कृति उपलब्ध होगी।

दशमी—प्रकाशक-दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। पृष्ठ १०८, मूल्य ॥।)

द० भारत हिन्दी प्रचार सभा, हिन्दी प्रचार के जो अनेक काम कर रही है उसमें पुस्तक प्रकाशन भी एक मुख्य काम है। दशमी १० कहानियों का एक संग्रह है जिसे एक ऊँचा आदर्श लेकर लिया गया है।

भगवान भला करे—ले०-श्री रमेश चौधरी, प्रकाशक-द० भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। पृष्ठ २३१, मूल्य २)

इस पुस्तक में भी कुछ कहानियों का संग्रह है जो कई दृष्टियों से अच्छी हैं। लेखक को कहानी लिखने में यथेष्ठ सफलता मिली है।

कला-मन्दिर राणकपुर—लेखक-श्री जयराज जैन, प्रकाशक-भागरमल हस्तीमल, १८६ सैंडहर्स्ट रोड, बम्बई। पृष्ठ ७४, मूल्य १)

आडावली (अरावली) की घाटियों में स्थित राणकपुर के मन्दिर पर यह एक परिचयात्मक प्रबन्ध है। इसमें १५ वीं शताब्दी की जैन कला और धार्मिक भावना स्पष्ट होती है। शिलालेखों के उद्धरणों एवं चित्रों से पुस्तक का मूल्य बढ़ गया है।

लोकमान्य—लेखक-श्री भालचन्द्र आपटे, शास्त्री, प्रकाशक-हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। पृष्ठ १३१, मूल्य १)

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा द्वारा जो जीवनी-साहित्य प्रकाशित हो रहा है उसकी यह तीसरी कड़ी है, नवयुवकों में देशभक्ति भरने के लिए अच्छी पुस्तक है।

वीराङ्गना लक्ष्मीबाई, रासो और कहानी—संग्रहकर्त्ता-पं० शिवचरन दीक्षित, सम्पादक-श्री हरि-मोहनलाल श्रीवास्तव। पृष्ठ ६०, मूल्य ॥)

इस पुस्तक में महारानी लक्ष्मीबाई के सम्बन्ध में लिखे गये विभिन्न छन्दों का संग्रह किया गया है साथ ही महारानी की जीवनी भी दी गई है।

काव्य सुधा—संग्रहकर्त्ता-दोनेपूडि राजाराव सा०-रत्न, प्रकाशक-शिक्षक पब्लि० विजयवाड़ा (तेनाली)। पृष्ठ ८०, मूल्य ॥।)

द० भारत के विद्यार्थियों को लक्ष्य कर इस पुस्तक में हिन्दी के प्रसिद्ध आधुनिक कवियों की कविता का संग्रह किया गया है। कवियों का परिचय और कठिन शब्दों का अर्थ भी पुस्तक में दिया गया है। मूल्य अधिक है।

हिन्दी प्रबोध (भाग १)—ले० श्री श्रीनिवासाचार्य, प्रकाशक-दुर्गा प्रकाशनालय बंगलौर। पृष्ठ ५२, मूल्य ॥)

हिन्दी सिखाने वाली रीडर है।

'शङ्का-समाधान'

स्थायी-सञ्चारी भावों के विषय में—

बदायूँ से एक विद्यार्थी ने लिखा है—"हमें बताया गया है कि सञ्चारी-भाव स्थायी-भाव के सहायक होते हैं स्थिर नहीं रहते और स्थायी-भाव भी कभी-कभी अन्य स्थायी-भावों के सञ्चारी हो जाते हैं। यह कैसे हो जाता है, समझ में नहीं आया ......"

——उनके प्रश्न दो हैं। उन्हें 'सञ्चारी' शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात होना चाहिए—'जो सञ्चरण करें'। ये रस-निष्पत्ति में सहायक होते हैं—इतना ही कर्म इनका होता है। जैसे माना किसी स्त्री के पति का देहान्त हो गया। वह रोने लगी। उसके हृदय में इस समय जिस भाव की प्रधानता है, वह है 'शोक', उसके मन में अनेक भाव उठते हैं, अन्य कार्यों में भी वह व्यस्त रहती है, लेकिन यह 'शोक' भाव मुख्य रहता है। वही भाव सबसे तीव्र है। वह स्थिर है। इसीलिए उस भाव को कहेंगे स्थायी-भाव।

साथ-साथ पूर्व-स्मृतियाँ उसे और भी व्याकुल कर देती हैं। उसके पति अत्यन्त सात्विकी वृत्ति के थे, सज्जन थे। वह भी ऐसा पति पाकर अपने को धन्य समझती थी, आदि। अब वे उसे निराधार छोड़ कर चले गये। ये सब भाव उठ तो रहे हैं किन्तु क्षण भर रह कर नष्ट हो जाते हैं—'स्मृति', 'गर्व', 'विषाद' आदि ये भाव हुये सञ्चारी। इनसे उसका 'शोक' और घनीभूत हो जाता है। बस यही उनका कार्य है। तरङ्गों की भाँति ये सञ्चारी-भाव उठे और स्थायी-भाव (यहाँ 'शोक') को और घनीभूत—पुष्ट किया, फिर लुप्त हो गये। इस प्रकार सञ्चारी भाव के उपकारक या सहायक होते हैं।

एक स्थायी-भाव कभी दूसरे स्थायी-भाव का सञ्चारी हो जाता है। 'रत्नाकर' के 'गङ्गावतरण' में इन पंक्तियों को देखिए—

"भयौ हुतौ भ्रू भङ्ग भाव जो भर निदरन कौ
तामैं पलटि प्रवाह परयौ हिय हेरे हरन कौ....
है थाई उत्साह भयौ रति कौ सञ्चारी।"

गङ्गा पूरे वेग से दौड़ी आ रही है, उसे अपनी शक्ति का गौरव है, उसे कौन रोक सकता है। ओज की प्रधानता है। वह मार्ग में प्रत्येक बाधा को हटा देगी। अर्थात् उसमें 'उत्साह' स्थायी भाव है।

शीघ्र ही उसने शिव भगवान की विचित्र वेषभूषा देखी, कमर में बाघम्बर, पुष्ट मांसल शरीर, दीर्घ भुजाएँ, नेत्रों की ज्योति ......बस इस पुरुष सौन्दर्य के सामने नत मस्तक हो गई। उसके मन में शिवजी के प्रति कोमल-भाव उमड़ने लगे, कुछ रोमाञ्च हो आया। उसका ओज नष्ट हो गया, प्रेम-भावना प्रधान होने लगी। अर्थात् स्थायी भाव 'उत्साह' के स्थान पर 'रति' हो गया। 'उत्साह' ने 'रति' के पोषण-वृद्धि में सहायता दी। दूसरे शब्दों में एक स्थायी-भाव (उत्साह) दूसरे स्थायी-भाव (रति) का सञ्चारी हो गया। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहा। वह दूसरे स्थायी का सञ्चारी हो गया।

कामायनी के सम्बन्ध में—

नैनीताल से एक पाठक का प्रश्न हुआ है कि 'कामायनी' के 'चिन्ता' सर्ग में प्रसाद ने क्यों लिखा है—

"वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही
हँसती सी, पहचानी सी"

प्रकृति हँसती क्यों है और 'पहचानी सी' का क्या तात्पर्य है?

——मनु एकान्त में एक शिला की छाया में बैठे हैं। उनके सम्मुख सृष्टि का कोई भी चिह्न शेष नहीं—'नीचे जल था, ऊपर हिम था'—बस और किसी का अस्तित्व शेष नहीं है। केवल प्रकृति ही है। मनु देव सृष्टि का ध्वंस अपनी आँखों से देख चुके हैं। उन्हें बहुत गहरी पीड़ा हुई है। किन्तु प्रकृति मनुष्य से सहानुभूति प्रदर्शित नहीं करती। मानव और प्रकृति के इसी भाव वैषम्य को प्रसाद स्पष्ट करना चाहते हैं। इसीलिए एक ओर तो मनु व्यथित हैं, दूसरी ओर प्रकृति हँस रही है। उनकी उपेक्षा कर रही है। इससे शोक अधिक बढ़ गया। हँस इसलिए रही है मानो मनुष्य की व्यथा का उसके लिए कोई मूल्य नहीं! 'पहचानी सी' का अर्थ है कि प्रकृति के लिए ऐसे दृश्य नवीन नहीं हैं। निरन्तर प्रलय और परिवर्तन वह देखती रहती है। ऐसी कथा सुनने की वह अभ्यस्त है। मनु के लिये परिवर्तन का ऐसा दृश्य चाहे अपरिचित हो, किन्तु प्रकृति के लिए वह पहचाना हुआ है। अतः उसके कारण व्यथित होना ठीक नहीं है। इसी कारण वह उपेक्षा से हँसती है।

REGD. No. 263. AUGUST, 1953.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

साहित्य सन्देश

वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क ३



र्षिक मूल्य ४)] आगरा—सितम्बर १९५३ [एक अङ्क का

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।
३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।
६ साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।
७. साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : अगस्त १९५२

आलोचना
उद्धव शतक समीक्षा—कृष्णचन्द्र वर्मा एम. ए. २॥)
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-डा० कमल कुलश्रेष्ठ ७॥)
व्यक्ति और वाङ्मय—प्रभाकर माचवे ७)
समीक्षा की समीक्षा— ,, ,, ५)
सूरदास और उनका साहित्य—शान्तिस्वरूप गौड़ ३)

कविता
तुलसीदास— २॥)
रामराज्य—हरिशङ्कर शर्मा १॥।)

कहानी
मेरा बेटा मेरा दुश्मन—
ख्वाजा अहमद अब्बास १॥।)
झील और चट्टान—करतारसिंह दुग्गल ४)

उपन्यास
गदर—ऋषभचरण जैन २॥)
रहस्यमयी—,, ,, २)
निशागीत—अनन्तगोपाल सेवड़े ३)
अमर अभिलाषा—चतुरसेन शास्त्री ४)
पराया—डा० रांगेय राघव ३)
दो दुनियाँ—मन्मथनाथ गुप्त ५॥)

नाटक
एकाङ्की कला—प्रो० रामचरन सिंह भ्रमर २॥)
पुरुष का पाप—विनोद रस्तोगी १॥)
आचार्य चाणक्य—जनार्दनराय नागर २॥)
क्रान्तिकारी—उदयशङ्कर भट्ट १॥)
अन्धकार और प्रकाश— ,, २॥।)

ऐतिहासिक
खण्डहरों का वैभव—मुनिकान्त सागर ६)

प्रश्न उत्तर
हिन्दी साहित्य का इतिहास— २)

काम शास्त्र
विवाह और काम विज्ञान—
डा० एम० जे० एक्सनर एम० डी० २॥)

कोश
ब्रजभाषा सूर कोश (भाग ४)—
डा० दीनदयालु गुप्त ३)

भ्रमण
शिवालक की घाटियों में—
विद्यानिधि सिद्धान्तालङ्कार ५)

स्फुट
हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव—मन्मथराय २॥)
सौन्दर्य शास्त्र—डा० हरद्वारीलाल वर्मा ३)

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मंगाने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।



वर्ष १५] आगरा—सितम्बर, १९५३ [अङ्क ३

हमारी विचार-धारा

केन्द्रीय सरकार और हिन्दी—

भारतीय विधान परिषद् ने भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी मानी है और हिन्दी का पूर्ण विकास करने के लिए पन्द्रह वर्ष की अवधि दी है। उस निश्चय के अनुसार पन्द्रह वर्ष बाद केन्द्र में हिन्दी का एकछत्र राज्य हो जाना चाहिए और उसके लिए इन पन्द्रह वर्षों में भागीरथ परिश्रम होना चाहिये—हिन्दी को उस योग्य बनाने के लिए। परन्तु हो क्या रहा है—इसी विषय पर कुछ विस्तार से आज हम यहाँ विचार करना चाहते हैं।

हिन्दी प्रचार का काम शिक्षा मन्त्रालय से सम्बन्ध रखता है और उसी के सुपुर्द है। शिक्षा मन्त्रालय के अध्यक्ष हैं हमारे देश के प्रमुख नेता मौलाना आजाद साहब। मौलाना साहब फारसी, अरबी आदि कई भाषाओं के बड़े पण्डित हैं। उनकी विद्वत्ता और योग्यता में किसी को सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं है। पर जहाँ तक हम जानते हैं वे संस्कृत हिन्दी के पण्डित तो क्या शायद अच्छे ज्ञाता भी नहीं हैं। हिन्दी के विद्वानों से उनका सम्पर्क भी नहीं रहा मालूम होता। ऐसी दशा में हिन्दी के कार्य में कोई विशेष गति का न आना स्वाभाविक-सा ही है। हिन्दी के प्रचार में गति आने के स्थान में हमारा तो यह खयाल है कि पन्द्रह वर्ष की अवधि को देखते हुए केंद्र का वर्तमान कार्य कुछ वैसा ही है जैसा एक बच्चे के पालन-पोषण में सौतेली मा का हुआ करता है। हमने ही यह धारणा बनाई हो—ऐसी बात नहीं है। अधिकांश हिन्दी हितैषियों की ऐसी ही धारणा है। और उसके कारण हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

हिन्दी एकाडेमी की स्थापना—

हिन्दी के प्रचार के लिए केन्द्रीय सरकार ने एक हिन्दी शिक्षा कमेटी की स्थापना सम्भवतः १९५० में की थी और तभी यह निश्चय हुआ था कि एक प्रतिनिधि संस्था हिन्दी एकाडेमी के नाम से खोली जाय जो हिन्दी का सब काम करे। आज लगभग तीन वर्ष बीत जाने पर भी इस एकाडेमी की स्थापना नहीं हो पाई। पन्द्रह में से तीन वर्ष बीत जाने पर भी अभी उस संस्था की स्थापना न कर

सकना केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की मनोवृत्ति या उसके निकम्मेपन का ही परिचय देती है और हमारी उक्त धारणा को पुष्ट करती है।

वैज्ञानिक शब्दों की सृष्टि—

केन्द्रीय सरकार ने एक कोश बनाने के लिए कुछ विशेषज्ञों की नियुक्ति की है। अभी केवल कुछ वैज्ञानिक विषयों पर ही काम प्रारम्भ किया गया है और उन विषयों के केवल पाँच हजार हाईस्कूल की परीक्षा तक के शब्द तैयार हो पाए हैं और वे भी अभी विचाराधीन हैं। जब कुछ विषयों के भी सब नहीं केवल ५००० शब्द बने हैं तो सब विषयों के सब शब्द बनने में कितने वर्ष लगेंगे, यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। यदि ढङ्ग से इस काम की प्रगति की जाती तो तीन वर्ष में हम कहीं से कहीं पहुँच सकते थे।

शिक्षा मन्त्रालय का पुस्तकालय—

शिक्षा मन्त्रालय ने अपना जो पुस्तकालय बना रक्खा है उसमें अब हिन्दी पुस्तकों का भी संग्रह होने लगा है। गत एक वर्ष में इस पुस्तकालय में २२६० हिन्दी पुस्तकों की वृद्धि हुई। इस वृद्धि से भी मन्त्रालय के हिन्दी-प्रेम का नमूना मिलता है। यदि मन्त्रालय हिन्दी पुस्तकालय बनाना आवश्यक समझता है तो एक वर्ष में केवल २२६० पुस्तकों का संग्रह करना क्या अर्थ रखता है। प्रारम्भ के वर्षों में यह संख्या दसगुनी तो होनी ही चाहिए थी।

हिन्दी प्रचार—

केन्द्रीय मन्त्रालय के हिन्दी प्रचार के कार्य का एक उदाहरण और लीजिए। मन्त्रालय की ओर से पूछा गया कि केन्द्रीय कार्यालय के कितने आदमी हिन्दी सीखना चाहते हैं। इस पर १८०० व्यक्तियों ने हिन्दी सीखने की इच्छा प्रकट की। मन्त्रालय ने शिक्षा का जो प्रबन्ध किया उसमें केवल ३०० व्यक्ति भरती किये गये और इन ३०० में से भी अधिकांश व्यक्ति कक्षाएँ छोड़ गए इसलिए कि शिक्षा का प्रबन्ध काफी नहीं था। यह रिपोर्ट यदि सही है तो इससे ज्यादा शर्म की बात मन्त्रालय के लिए और क्या हो सकती है। उसे ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये था कि सम्पूर्ण मन्त्रालयों के सभी कर्मचारी हिन्दी सीख जावें और तीन वर्ष में ऐसा होना सर्वथा सम्भव भी था। पर सबको शिक्षित बनाना तो एक ओर रहा, जो ३०० व्यक्ति भरती हुये थे, उनको भी यह मन्त्रालय शिक्षा नहीं दे सका।

प्रचार के लिए सहायता—

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय हिन्दी प्रचार को प्रोत्साहन देने वाली संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी देता है। पर ५२-५३ के वर्ष में यह सहायता कितनी दी गई है यह सुन कर पाठक हँसेंगे। समूचे देश में हिन्दी प्रचार के लिए केवल पैंतीस हजार रुपए!! इस बूते पर शिक्षा मन्त्रालय पन्द्रह वर्ष में देश को हिन्दी अपनाने के लिए तैयार करेगा!

एक और प्रमाण—

केन्द्रीय मन्त्रालय की हिन्दी सम्बन्धी नीति का एक और प्रमाण लीजिए। अदालतों में हिन्दी का प्रचार सर्वथा वांछनीय है और उसके लिए प्रयत्न की भी जरूरत है। उस प्रयत्न के सम्बन्ध में ३१ जुलाई को प्रकाशित एक सरकारी विज्ञप्ति से ज्ञात होता है कि सभी केन्द्रीय कानूनों का अनुवाद केन्द्रीय सरकार करेगी और वही उन्हें प्रकाशित करेगी। उन्हें अनुवाद करके छापने का जन-साधारण को जो अधिकार पहले से दिया हुआ था उसे अब इस विज्ञप्ति द्वारा वापस ले लिया गया। इस निश्चय से मन्त्रालय की नीयत यह हो सकती है कि एक से और परिनिष्ठित शब्दों का व्यवहार सभी कानूनी पुस्तकों में किया जाय—और इस दृष्टि से वह ठीक भी हो सकता है। पर हमें तो सन्देह यह हो रहा है कि एक ओर जनता को तो ऐसा करने से रोक दिया गया और सरकार इस काम को इतनी मन्द गति से करे कि यह पन्द्रह वर्ष में भी न हो पाये, तो उसका परिणाम क्या होगा और अदालतों में हिन्दी अपनाने की आशा हम कैसे कर सकेंगे। हमें विलम्ब की आशङ्का इसलिए हुई कि मन्त्रालय इन कानूनों का अनुवाद केवल हिन्दी में ही नहीं सभी भारतीय भाषाओं में करायगा। सब भाषाओं को एक साथ लेने का मतलब हमारी समझ में नहीं आया। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, उसमें

अनुवादों का छपना अधिक आवश्यक है और वह पहले होना चाहिए। साथ साथ सभी अनुवाद कराना और उनको छपाना असम्भव और व्ययसाध्य काम है। उसे एक साथ उठाना हिन्दी के प्रति अच्छी मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है।

पारितोषिक और पुरस्कार—

केन्द्रीय मन्त्रालय ने बड़ी उदारता पूर्वक यह घोषणा की है वह हिन्दी की महत्वपूर्ण पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान करेगा। यह पुरस्कार ग्यारह होंगे और इनकी निधि एक हजार से तीन हजार तक होगी। यानी केन्द्र द्वारा इस मद में कोई बीस-पचीस हजार रुपया व्यय किया जायगा। यह रकम ऐसी ही है जैसे तत्ते तवे पर पानी की बूंद। इससे तो हमारे प्रदेश की सरकार ही अच्छी है जो प्रति वर्ष पचीस पचास हजार रुपया इस काम में व्यय कर देती है। केन्द्र की ओर से तो इस काम में लाखों रुपया खर्च होना चाहिए और वह भी पूर्ण व्यवस्था के साथ।

पुस्तक-प्रकाशन—

शिक्षा-मन्त्रालय हिन्दी के लिए क्या कर रहा है—इसकी सूचना बहुत कम मिलती है। शायद छुपाव जानबूझ कर रक्खा जाता हो। अभी ३ सितम्बर के 'अमरीकन रिपोर्टर' ने इस सम्बन्ध में एक लेख छपा है जिसमें अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। हमने सुना था कि केन्द्र से जामिया मिल्लिया दिल्ली को हिन्दी की पुस्तकें छापने के लिये हजारों रुपया दिया गया है। एक-एक पुस्तक पर लेखक को देने के लिए शायद एक-एक हजार रुपया तक। और इस तरह की अनेकों पुस्तकें जामिया मिल्लिया से प्रकाशित हुई हैं। यह पुस्तकें छोटी-छोटी हैं और जहाँ तक उनके देखने से मालूम होता है उनके लिखने वालों को—जिनका नाम तक पुस्तकों पर नहीं दिया गया है—पचीस पचास रुपया प्रति पुस्तक दिया गया होगा। तो क्या सरकार से एक पुस्तक के लिए एक हजार लेकर पचीस पचास रुपए में पुस्तक लिखवाई गई हैं। अगर ऐसा है तो इसकी जाँच होनी चाहिए। और देश का रुपया इस प्रकार साम्प्रदायिक भावना से अन्धे की रेवड़ी की तरह बाँटने देने से रोका जाना चाहिए और यदि यह बात असत्य हो तो इसका निराकरण करना चाहिए। हिन्दी की पुस्तकों के प्रकाशन का काम जामिया-मिल्लिया को देना ही एक आश्चर्य की बात है। जामिया मिल्लिया से और हिन्दी से ताल्लुक क्या? और ऐसी बातों के आधार पर यदि कोई यह धारणा बनाएँ कि हिन्दी के सुत को सौतेली माँ के सुपुर्द कर दिया गया है—तो उसका क्या अपराध है।

कलाकारों को सहायता—

संसद में दिए एक प्रश्न के उत्तर से शिक्षा-मन्त्रालय की एक और योजना का पता चला। साहित्य तथा कला में विशेष योगदान देने वाले कलाकारों को संकटापन्न अवस्था में सहायता देने के लिए इस योजना में एक लाख रुपये प्रतिवर्ष की व्यवस्था की गई है। पिछले वर्ष इस के अनुसार निम्न चार कलाकारों को सहायता दी गई—काजी नजरुल इस्लाम (कलकत्ता), सैयद वहीउद्दीन बुखुर (दिल्ली), शमीम करहानी (दिल्ली) और श्री शिवपूजन सहाय (पटना)। इनमें तीन उर्दू वाले और एक हिन्दी वाला है। शेष भाषाओं का एक भी व्यक्ति नहीं है। इस काम से भी शिक्षा मन्त्रालय की मनोवृत्ति का पता चलता है।

हमारा निवेदन—

इतनी आलोचना करने का हमारा तात्पर्य केवल यह है कि संसद के सदस्य और हमारे देश के महान नेता पं० जवाहरलाल नेहरू मौलाना पर विश्वास करके हिन्दी की हत्या न होने दें। वे हिन्दी के काम को किसी दूसरे योग्यतम व्यक्ति के सुपुर्द करें। श्रद्धेय टण्डनजी पर उनका विश्वास न हो तो दूसरे किसी व्यक्ति को तलाश करें, पर हिन्दी का हित इसी में है कि उसे किसी हिन्दी हितैषी के सुपुर्द किया जाय। अन्यथा पन्द्रह वर्ष बीतने के बाद हिन्दी जहाँ थी वहाँ से पीछे नहीं तो आगे बढ़ी हुई भी नहीं मिलेगी। और फिर सरकार अपना दोष हिन्दी वालों पर मढ़ेगी।

भूल या भयङ्करता—

हमारे एक पाठक श्री वेदप्रकाश शर्मा ने मुजफ्फरनगर से हमारा ध्यान हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित 'आग-

संग्रह' प्रथम भाग नामक एक पुस्तक की ओर आकृष्ट किया है। यह पुस्तक सं० २००६ में द्वितीय बार छपी है। इसके सम्पादक और सङ्कलन कर्त्ता काशी विश्व विद्यालय के प्राध्यापक श्री करुणापति त्रिपाठी एम० ए०, साहित्याचार्य हैं हिन्दी की ऐसी प्रतिष्ठित और प्रतिनिधि संस्था से प्रकाशित और एक विश्व विद्यालय के प्राध्यापक द्वारा सम्पादित पुस्तक में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि गिरिधर को, जिसकी कुण्डलियाँ दुनिया में प्रसिद्ध हैं, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पिता बता दिया गया है और गिरधर कवि का परिचय न देकर बाबू गिरधरदास (भारतेन्दु जी के पिता) का परिचय दे दिया गया है। प्राध्यापक महोदय ऐसी भूल करेंगे इसकी हमें आशा नहीं है। मालूम होता है उन्होंने अपने किसी शिष्य को इस पुस्तक के सम्पादन का काम सौंप दिया है और उस अनाड़ी शिष्य ने यह भारी भूल पुस्तक में एक स्थान पर नहीं दो स्थानों पर पृष्ठ २६ और १३१ पर की है। सम्मेलन के अधिकारी परीक्षा में पुस्तकें बेचने का लोभ छोड़ कर शुद्ध साहित्य सेवा की ओर अग्रसर हों—यही हमारी प्रार्थना है।

२१००) का पुरस्कार—

इस वर्ष का हरजीवन डालमिया का २१००) का पुरस्कार 'कबीर की विचार-धारा' पुस्तक पर डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत एम० ए०, पी-एच० डी० को मिला है। आलोचना पुस्तक पर यह पुरस्कार मिला—इसके लिए हम श्री त्रिगुणायत को हार्दिक बधाई देते हैं। इससे पूर्व यह पुरस्कार काव्य पर कविवर पन्तजी को और नाटक पर श्री वृन्दावनलाल वर्मा को मिल चुका है।

हमारा विशेषाङ्क—

'साहित्य-सन्देश' का इस वर्ष का विशेषाङ्क जनवरी के प्रारम्भ में निकलेगा और वह साहित्य के सिद्धान्त सम्बन्धी होगा। इस अङ्क की विषय सूची को हमने संक्षेप में अन्यत्र छापा है। विस्तार से छाप कर हम लेखक महानुभावों के पास सीधे भेजेंगे। साहित्य के विद्यार्थी के लिए तो यह अङ्क पठनीय और संग्रहणीय होगा ही, साहित्य के विद्वानों को भी इसमें विचार-विनिमय की बड़ी सामग्री मिलेगी। अपने ढङ्ग का यह अङ्क अनूठा होगा।

आलोचना और पूर्वाग्रह:—

हमारा बहुत सा प्रत्यक्ष अनुभव और पूर्वाग्रहों पर अवलम्बित होता है। हमारी चर्मचक्षुएँ मानसिक चक्षुओं की अनुगामिनी होती हैं। हम प्रायः वही देखते हैं जिसके देखने के लिए हम पहले से प्रभावित होते हैं। यद्यपि हमारी रुचि पर कोई कवि तभी अधिकार जमाते हैं जब कि उसमें कुछ गुण होते हैं तथापि एकबार रुचि पर अधिकार हो जाने के बाद हम अपने रुचि के कवि में प्रेमान्ध की भाँति गुण ही गुण देखने हैं। यद्यपि यह प्रेमान्धता सहृदयता की ही अतरञ्जित रूप है तथापि कवि या लेखक के प्रति बिना असहृदय हुए हमको इस प्रेमान्धता से बचना चाहिए। आलोचक को अपने विपक्ष की बातों के प्रति भी उसी स्वागतकारी दृष्टिकोण रखना चाहिए जो कि पक्ष की बातों के प्रति रहता है। कभी-कभी बड़े-बड़े आलोचकों से भी ऐसी ही पूर्वाग्रहों की भूलें हो जाती हैं। आचार्य शुक्लजी ने जिन अत्युक्तियों का बिहारी में मजाक उड़ाया है वैसी जायसी और तुलसी में भी हैं। हमारे पूर्वाग्रह कई प्रकार के होते हैं कुछ तो जातीय पूर्वाग्रह होते हैं कुछ वैयक्तिक। कुछ पूर्वाग्रह धर्म और पार्टी के होते हैं। प्रगतिवादी यह समझने लगते हैं कि सामन्तशाही साहित्य में कोई उपादेय भाव नहीं मिल सकते हैं। इसके विपरीत प्राचीनता के उपासक यह सोच लेते हैं कि नयों में सिवाय खुराफात के और कुछ नहीं मिल सकता है। न उनको छन्द का ज्ञान है और न अलङ्कार का, रस के सम्बन्ध में तो वे शून्य हैं। कुछ नवीन लेखक ऐसे हो सकते हैं, किन्तु सबको एक लकड़ी से हाँकना उनके प्रति अन्याय होगा। उनका अपना छन्द विधान है, अपना टेकनीक है, नये अलङ्कार हैं, और नये प्रतीक हैं। उनको समझे बिना उनके काव्य को निकृष्ट कहना पूर्वाग्रहों का शिकार बनना होगा। इसी प्रकार बिना प्राचीन वातावरण का अध्ययन किये और बिना कवि के हृदय में प्रवेश किये उस पर अपना निर्णय देना अपनी अज्ञता का ही परिचय देना होता है। कविवर कालिदास ने ठीक ही कहा है—कोई काव्य पुराना है इसलिए उसमें सब अच्छा ही अच्छा है और कोई काव्य नया है इसलिए सर्वथा निन्दनीय नहीं है।

'स्वान्तः सुखाय' की समाज सापेक्षता

श्री सतीश मिश्र, एम० ए०

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन बतलाते हुए लिखा था:—

'काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहार विदे शिवेतर क्षतये।
सद्यः पर निर्वृतये कांता सम्मित तयोपदेश युजे॥'

(काव्य प्रकाश)

और श्री गुलाबरायजी के मतानुसार इन विभिन्न प्रयोजनों में से—

"कुछ प्रेरणा रूप आन्तरिक हैं, और कुछ प्रयोजन-बाह्य, भूत के प्रयोजन प्रेरणायें बनते हैं और भविष्य की प्रेरणायें प्रयोजन। प्रारम्भ में भिन्न होते हुए भी अन्त में स्रष्टा और भोक्ता के दृष्टिकोण मिल जाते हैं।"

—सिद्धान्त और अध्ययन

इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने कविकर्म और काव्यानुशीलन के अनेक भौतिक प्रयोजन मानते हुए भी स्रष्टा और उपभोक्ता की आत्मिक तृप्ति—समस्त सांसारिक व्यथाओं और विषमताओं से निवृत्ति प्राप्त करके तुरन्त ही ब्रह्मानन्द सहोदर अलौकिक 'रस' सागर में निमग्न हो जाना—ही को काव्य का प्रधान प्रयोजन माना है। अतः कवि 'स्वान्तः सुखाय' लिखते हैं, और पाठक 'स्वान्तः सुखाय' उसका रसास्वादन करते हैं। महाकवि तुलसीदास ने रामचरितमानस जैसा अद्भुत महाकाव्य 'स्वान्तः सुखाय' लिखा, कबीर ने अपनी अटपटी वाणी का विकास केवल अपनी आत्मा की परितुष्टि के लिए ही किया, और सूरदास जैसे अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न अपने आत्मिक सुख के लिए 'रस' का एक विशाल सागर ही उद्वेलित कर गये, यही नहीं बिहारी के समान दरबारी कवि, जिनकी काव्य साधना निस्संदेह 'अर्थकृते' भी हुई, 'स्वान्तःसुखाय' को ही प्रमुख मानते थे, यहाँ तक कि आधुनिक युग के महाकवियों ने भी 'कला कला के लिए' अथवा 'कला जीवन के लिए' के विवादास्पद पथ को छोड़-कर 'कला अपने लिए' का ही अधिकांशतः अनुसरण किया।

किन्तु समस्त हिन्दी साहित्य में प्रयोजनगत इस एकता के होते हुए भी काव्य की रूप और वस्तुगत अनेकता किस सत्य का उद्घाटन करती है? किसी 'देश' अथवा 'काल' विशेष में जिस 'रस' में निमग्न होने पर कवियों और पाठकों के बहुमत की आत्मिक परितुष्टि होती है, भिन्न स्थितियों में ऐसा नहीं होता। किसी युग में समाज का अधिकांश प्रधानतः शृङ्गार रस से परितुष्ट होता है। किसी में वीर अथवा शान्त से। अन्ततोगत्वा प्रश्न में यह अनेकत्व क्यों है?

चेतना का श्रेणीगत आधार—जन्मतः सब मनुष्यों की आत्मायें समान हैं, और उनके 'स्वान्तः' भी एक रूप होते हैं। किन्तु मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही इसकी सांस्कृतिक तथा बौद्धिक चेतना निरूपित होती है। अतः कवि का स्वान्तः उसके सामाजिक जीवन की अनेकता में ही विकसित, परिष्कृत और संस्कृत होता है, और निरन्तर परिवर्तनशील गतिमान समाज के साथ अनेक रूप ग्रहण करता रहता है।

समाज अनेक मनुष्यों का एकत्र योग है, और प्रत्येक मनुष्य का सामाजिक उत्पादन से एक विशेष सम्बन्ध होता है, सामाजिक उत्पादन के सम्बन्धों के आधार पर ही समाज का श्रेणी-विन्यास सङ्गठित होता है। जिन मनुष्यों के उत्पादन के सम्बन्ध समान होते हैं, उनकी एक श्रेणी बन जाती है, इस प्रकार समाज की रचना विभिन्न श्रेणियों से मिलकर हुई है, और कवि का जन्म किसी श्रेणी विशेष में होता है। अतः उसके 'स्वान्तः' का विकास उसके श्रेणी सम्बन्ध और श्रेणीगत भावनाओं तथा आदर्शों के अनुरूप ही होगा। इसकी जीवनानुभूतियाँ, जीवनबोध, कल्पनायें और मान्यतायें इसके श्रेणीगत संस्कारों की शृङ्खला में आबद्ध रहेंगी। लेकिन ये बन्धन आजीवन अक्षुण्ण नहीं रहते।

उत्पादन के साधनों के विकास के साथ उत्पादन के

सम्बन्ध बदलते हैं और समाज के श्रेणी विन्यास तथा वर्गीय आधिपत्य में परिवर्तन होता है। समाज के निर्माण-काल से आजतक परिवर्तन की यह क्रिया श्रेणीविभेद को निरन्तर तीव्र करती रही है, और अन्त में समस्त मानव समाज को प्रधानतः दो तीव्र विरोधी श्रेणियों में विभक्त कर दिया है, कवि की चेतना, उसका 'स्वान्तः' उसकी सामाजिक सत्ता द्वारा ही निरूपण होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक जीवन में सामाजिक भावना, मतवाद, राजनीतिक मतामत और सङ्गठन की कोई भूमिका नहीं होती और कवि के 'स्वान्तः' का विकास इनसे अप्रभावित रहता है, अपितु जैसा कि मार्क्स ने कहा है—

'मतवाद जैसे ही जनता के मन पर अधिकार कर लेता है, वह भौतिक शक्ति में परिणित हो जाता है'।

किन्तु समाज में ऐसे अनेक मतवाद और सामाजिक-भाव प्रचलित होते हैं, जिनका समय अतिक्रान्त हो जाता है, जिनकी सामाजिक भूमिका समाप्त हो गई है, और जो केवल समाज की मुमूर्षु शक्तियों के स्वार्थ साधन के लिए जीवित रहते हैं। अतः समाज की स्वाभाविक परिणति और प्रगति बाधा प्राप्त हो जाता है, और समाज के सम्मुख नये कर्त्तव्य एवं नई समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं।

इन नये कर्त्तव्यों और समस्याओं के निराकरण के लिए नवीन सामाजिक-भाव और मतवादों की उद्भावना होती है। एक बार उद्भूत होकर वे अत्यन्त प्रबल शक्ति में परिणत हो जाते हैं, और समाज के अधिकांश की चेतना को प्रभावित करते हैं; अग्रगामी शक्तियों के स्वार्थों का नियोजन करते हैं, और सामाजिक जीवन के विकास एवं प्रगति के नूतन कर्त्तव्यों के सम्पादन में सक्रिय सहायता देते हैं। अतः अनेक कवि अपने श्रेणीगत संस्कारों की शृङ्खला को तोड़ कर इतिहास की प्रगति को समझ लेते हैं, और पतनोन्मुख श्रेणी को त्याग कर विकासोन्मुख श्रेणी से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। फ्रांस की क्रान्ति के समय अनेक सामन्ती कवियों ने क्लासिकल परम्परा को त्याग कर पूँजीवादी रोमांटिक साहित्य का पल्ला पकड़ लिया था, स्पेन के गृह-युद्ध के समय ऑडेन, स्पिण्डर, मैकनिस आदि रोमांटिक कवि प्रगतिवाद की ओर झुक गये थे। रीतिकाल की मध्य-युगीन शृङ्गारिकता के बीच भूषण ने अपनी वीर वाणी का विकास किया था और १९३६ ई० के बाद अनेक छायावादी कवियों ने भी श्रमजीवी वर्ग के जीवन के गीत गाये थे। साथ ही इसके विपरीत आचरण भी सर्वथा सम्भव होता है। साहित्य के इतिहास में ऐसे अनेक कवि मिल सकते हैं, जो स्वार्थवश अथवा भ्रमवश पतनोन्मुख प्रभुओं के साथ सम्बद्ध हो गये, और अपने सम्पूर्ण दायित्वों के प्रति विश्वासघाती सिद्ध हुए।

काव्य व्यक्ति विशेष के रागात्मक जीवन का, उसकी कल्पना जगत का स्वच्छन्द उद्घाटन है। लेकिन कवि का रागात्मक जीवन उसकी सामाजिक दशा का ही प्रतिफल होता है, व्यक्तिगत चेतना में प्रतिफलित बाह्य प्रकृति और समष्टिगत जीवन के विभिन्न चित्रों को ही कवि अपनी कविता में चित्रित करता है, कवि जिस सामाजिक परिवेश में परि-पुष्ट एवं परिवर्धित होता है, उसके जीवनानुभवों को यथार्थ बल और वास्तविकता के साथ समन्वित करके अपने स्वान्तः को परितुष्ट कर सकता है। फ्रांसीसी आमेरियन के शब्दों में—

"कवि को मानवीय सत्य पर पहुँचना होता है, जिस सत्य को प्राप्त करना है, वह एक अन्तः सलिला नदी की तरह है, उसे एक फैशन परस्त अभिजात महिला के जीवन की ऊपरी सतह पर लाया जा सकता है, और ठीक ऐसे ही दरिद्रता से पीड़ित एक नारी के जीवन की ऊपरी सतह पर भी। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति वहीं खोदता है, जहाँ पर वह है, जहाँ उसने अपना जीवन बिताया है"।

इस प्रकार युग-युग से कवियों का 'स्वान्तः सुखाय' श्रेणी सम्बन्ध सापेक्ष होने के कारण अनेक रूपेण है, यदि हिन्दी साहित्य के विभिन्न विकास क्रमों पर एक सरसरी दृष्टि डालें तो यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी के आदिकाल को लीजिये। चन्द बरदाई के समय के तथा वर्तमान मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तियाँ मूलतः प्रायः समान हैं। लेकिन उनके विकास को प्रभावित तथा नियन्त्रित करने वाली श्रेणीगत परिस्थितियों तथा समाज-गत श्रेणी आधिपत्य में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। फलतः वीर-गाथाकाल का काव्य तत्कालीन सामाजिक परि-

स्थितियों के अनुकूल युद्ध और विलास प्रेमी सामन्तों के जीवनादर्शों और जीवनानुभूतियों को साकार बनाता है; और कवि का 'स्वान्तः' वीर और शृङ्गार रस से ही प्रधानतः परितुष्ट होता है।

भक्ति-युग में वर्ग वातावरण बदलता है, भारतीय सामन्त-शक्ति तिरोहित होती है, और युगों से शोषित, दलित, धर्मभीरु जनता—प्रधानतः किसान वर्ग—का संघर्ष तीव्र हो उठता है। कवि के 'स्वान्तःसुख' में परिवर्तन होता है, और उसका आत्मिक सुख अभाव और त्रास से आक्रांत जन समूह की भावनाओं के रूपायन में केन्द्रित हो जाता है, वे शान्त और करुण रस का सागर उद्वेलित करते हैं। शृङ्गार का अन्तः सलिला भी प्रवाहित होती है, लेकिन वीर गाथाकाल की अपेक्षाकृत संयत और संस्कृत रूप में।

रीतिकालीन काव्य विलासि प्रेमी किन्तु समर विमुख सामन्तों के पुनरोदय का प्रतीक है, और इस युग के कवियों का 'स्वान्त-सुखाय' निष्प्राण, पौरुषहीन विकृत विलास क्रीड़ाओं की अभिव्यक्ति में ही परिलक्षित होता है, इसी प्रकार आधुनिक काव्य की विभिन्न धाराओं, भूतवाद, रूप और वस्तु की अनेकता में वर्तमान समाज के श्रेणी संघर्ष और वर्गगत मान्यताओं तथा विरोधताओं के सुस्पष्ट प्रतिबिम्ब देखे जा सकते हैं।

व्यक्ति वैचित्र्य और साधारणीकरण—आत्माभिव्यक्ति प्राणीमात्र की प्रकृति है, अतः व्यक्तिगत अभिव्यंजना पर व्यक्तित्व की छाप रहना स्वाभाविक है, अमेरिकन कवि वाल्ट व्हिटमैन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'घास की पत्तियाँ' की भूमिका में लिखा था—

"साथियों यह कोई किताब नहीं है, जो भी इसको छूता है, एक आदमी के हृदय का स्पर्श करता है"।

यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की सीमा है, लेकिन कोई भी कवि केवल व्यक्तिगत वैचित्र्य तथा विलक्षणताओं के चित्रण मात्र से महाकवि नहीं बन सकता। अंग्रेजी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक साहित्य का उद्दाम वैयक्तिकता से असंतुष्ट होकर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य विरोधी सामन्ती कैथोलिक विचारधारा के समर्थक टी० एस० इलियट ने लिखा था—

'कविता अनुभूतियों की मुक्त अभिव्यक्ति नहीं है, वह तो अनुभूतियों से एक प्रकार का पलायन है, कविता कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है, वह तो व्यक्तित्व से पलायन है। (सिलेक्ट ऐसेज—पृष्ठ २१)

किन्तु यह व्यक्तिवाद विरोध की सीमा है, इसी प्रकार हिन्दी में छायावादी कवियों की अतिशय व्यक्तिवादिता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से असन्तुष्ट होकर जो कुछ लिखा गया था, वह भी सर्वथा ठीक नहीं था।

कवि की मुख्य समस्या होती है, अपने स्वान्तः को सार्वजनीन बना देना। अपनी कविता के आवेदन को विस्तार देने की क्षमता ही कवि की सफलता है, भारतीय आचार्यों ने इस प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहा है, और अंग्रेज काव्यशास्त्री क्रिस्टाकर कॉडवेल ने इसे 'समाजीकरण' नाम दिया है। इलियट के मतानुसार—

'कवि का एक ही संघर्ष है—जो उसके जीवन को सबसे बड़ा वास्तविकता है, वह है—अपनी व्यक्तिगत और निजी वेदनाओं को (काव्य-कला की अद्भुत रूपान्तर प्रक्रिया द्वारा लेखक) सार्वजनीन निर्वैयक्तिक और विस्मय विमुग्धकारी रूप देना।'

कवि में इस शक्ति का विभेद महाकवि और क्षुद्र कवि का भेद उत्पन्न करता है, क्षुद्र कवियों की कविता का आवेदन संकुचित, आत्मकेन्द्रित और व्यक्तिपरक होता है। महाकवि का 'स्वान्तः' अत्यन्त उदार, सुविकसित और समष्टिपरक होता है, उसकी संवेदनाओं की परिधि अत्यन्त व्यापक होती है, और वह अपने साथ अपने युग की अभिव्यक्ति भी कर देता है। इलियट के ही शब्दों में—

'जिस प्रकार महान राजनीतिज्ञ अपने युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक धारा को साकार और तंत्र करता है, महान दार्शनिक अपने युग की महानतम चिन्तन धारा को मुखरित करता है, उसी प्रकार महाकवि अपने युग की गम्भीरतम भावनाओं को वाणी देता है, महाकवि की स्वानुभूति में युगानुभूति प्रतिबिम्बित होती है'।

(सिलेक्ट ऐसेज)

अतः कालिदास का काव्य गुप्तकालीन भारत का प्रतिबिम्ब है, तुलसीदास की रामायण में मध्य युगीन सामा-

जिक दशा स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इसी प्रकार दाँते का काव्य यूरोप की तेरहवीं शताब्दी और शेक्सपियर की रचनायें सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की अभिव्यक्ति करतीं हैं।

लेकिन क्या 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया में कवि का व्यक्तित्व, उसका मतामत अंशतः तिरोहित हो जाता है? इस सम्बन्ध में ऐंगिल्स का मत दर्शनीय है। प्रसिद्ध उपन्यासकार मारग्रेट हार्किनेस को उन्होंने एक पत्र में लिखा था—

'काव्य की उद्देश्य मूलकता अवांछनीय नहीं है, किन्तु किसी मत अथवा आदर्श के कोरे प्रचार को भी साहित्य नहीं कहा जा सकता, हम जर्मन जिसे 'टेन्डेन्ज़रोमा' कहते, हैं, ग्रंथकार के सामाजिक और राजनीतिक मतों को गौरव प्रदान करने के उद्देश्य से इस प्रकार का विशुद्ध समाजवादी उपन्यास आपने नहीं लिखा, लेखक का मतामत जितना प्रच्छन्न रहे उतना ही अच्छा है, जिस वास्तविकता की ओर मैं इशारा कर रहा हूँ, वह लेखक के मतामत के बावजूद भी स्पष्ट हो जाती है। (लिटरेचर एन्ड आर्ट, पृष्ठ ४२)

इसी की ओर लक्ष्य करके विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ने गाया था:—

'जीवन में जीवन का संयोजन
न होने से कृत्रिम पण्य से संगीत का सौदा व्यर्थ हो जाता है।
किसान के जीवन में शरीक है जो
वाक्य-और कर्म से जिसने आत्मीयता का अर्जन किया है,
जो जमीन के नजदीक है
उस कवि की वाणी के लिए मैं कान लगाये बैठा हूँ।
साहित्य के आनन्द भोज में
मैं जो नहीं दे सकता, नित्य मैं उसी की तलाश में रहता हूँ,
वह सत्य हो
केवल भंगिमा के द्वारा आँखों को प्रताड़ित न करे,
यथार्थ मूल्य दिये न देकर साहित्य की ख्याति को चुराना,
अच्छा नहीं, अच्छा नहीं! यह शौकीनी मजदूरी नकली है।
(जन्मदिने दशम कविता)

'स्वान्तः' का विस्तार—प्रश्न उठता है—क्या कवि का 'स्वान्तः' इतना व्यापक हो सकता है, कि वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति कर दे? क्या 'साधारणीकरण' अथवा 'समाजीकरण' की प्रक्रिया सीमाहीन है! यहाँ 'समाज' शब्द के ऊपर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिट्रेचर' के अनुसार—

"समाज एक अत्यन्त ही अस्पष्ट और व्यापक शब्द है। प्रत्येक समाज में विभिन्न वर्ग समूह इत्यादि होते हैं, और इन वर्गों की सामाजिक स्थिति एवं कार्य प्रणाली में और उनके जीवनादर्शों में स्पष्ट सम्बन्ध होता है। इन विभिन्न वर्गों के विभिन्न जीवनादर्शों पर ही विचार करना अधिक लाभदायक होगा, संस्कृति के इतिहासकार प्रायः 'युगधर्म' की चर्चा करते हैं। लेकिन समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण सम्पन्न इस शब्द से अधिक लाभान्वित नहीं होते, यह शब्द एक ही युग में अव्यवस्थित विभिन्न वर्गों, मतवादों और शैलियों की अनेकरूपता को अस्पष्ट बना देता है।"

(डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर—पृष्ठ ३६०)

अतः श्रेणी विभक्त समाज में कवि का 'स्वान्तः' सम्पूर्ण समाज का स्पर्श नहीं कर सकता। वह केवल अपने समान धर्मियों, समानानुभवयुक्त व्यक्तियों की श्रेणी अथवा समूह की जीवनानुभूतियों की अभिव्यक्ति करके आत्मिक सुख प्राप्त करता है। किसी भी श्रेणी की चेतना और रागात्मक जीवन को पूर्ण कलात्मकता के साथ रूपान्वित करने वाले कवि को 'सुकवि' कह सकते हैं, किन्तु जो 'सुकवि' इतिहास की अग्रगति को पहचान कर उदीयमान वर्ग में अपने 'स्वान्तः' को व्याप्त कर देते हैं उन्हें ही 'महाकवि' का गौरव प्राप्त होता है।

अधिकांश महाकवियों ने उदीयमान वर्ग की जीवनानुभूतियों और जीवनादर्शों को अभिव्यक्त किया है। साहित्य सृजन का स्वर्णकाल वही होता है, जिसमें उदीयमान वर्ग ही प्रमुखवर्ग होता है। उदीयमान संघर्षरत सामन्ती व्यवस्था को होमर, कालिदास और फिरदौसी जैसे महाकवियों ने रूप और वाणी प्रदान की। उदीयमान पूँजीवादी वर्ग के गीत गाकर गेटे, शेक्सपीयर, मिल्टन, शैली आदि अमर हो गये। संघर्षरत जन-साधारण के जीवन बोध की अभिव्यक्ति करके सूर और तुलसी हिन्दी साहित्य के गौरव-स्वरूप सुशोभित हैं।

आज यह निर्विवाद है कि वर्तमान समाज की आर्थिक

सम्पन्नता और सांस्कृतिक अभ्युदय की ओर केवल श्रमजीवी वर्ग ही ले जा सकता है। श्रमजीवी वर्ग ही आज का उदीयमान वर्ग है, और प्रत्येक जागरूक कवि का 'स्वान्तः सुख' निस्सन्देह इसी वर्ग की जीवन व्याख्या, जीवनोल्लास, संघर्ष, आशा और आकांक्षा को बल और वाणी देने में है, आज पतनोन्मुख पूँजीवादी प्रभुवर्ग के जीवनादर्शों और सामाजिक व्यवस्था की भूमिका समाप्त हो चुकी है। उसकी जीवन विमुखता, अवसाद, मरणेच्छा, निराशा और पलायन-वृत्ति के गीत गाकर किसी भी जागृत कवि की आत्मा रसमग्न नहीं हो सकती, और न ध्वंसोन्मुख संस्कृति की मान्यताओं तथा परम्परागत निरर्थक विश्वासों के मोह में जकड़े रह कर वे अपने दायित्वों का पूर्ण निर्वाह कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रमजीवी वर्ग का कवि अपनी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विरासत के प्रति उदासीन हो जायें। अपितु उन्हें सूर, तुलसी, कबीर, प्रेमचन्द, रवीन्द्र, टालस्टॉय, गोर्की आदि का आदर्श सामने रखना है, न कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों का अथवा इलियट, बादलेयर और अस्तित्ववादी ज्याँसार्त्र आदि का, जिनका 'स्वान्तः सुख' आत्महत्या, व्यभिचार, पाप, नरक, नैराश्य आदि के विमोहक चित्र प्रस्तुत करने तक सीमित है।

लेकिन आज का कवि भी 'स्वान्तः सुखाय' ही लिखेगा, और यदि वह अपने सुख के लिए ही लिखता है, तो श्रमजीवी वर्ग से भिन्न वर्गान्तरस्थ होने पर वह श्रमजीवी वर्ग के जीवन बोध को किस प्रकार प्रतिध्वनित कर सकेगा? समाज में श्रेणी विन्यास, कवि के श्रेणी-सम्बन्धों, और काव्य के श्रेणीगत आधार का पर्याप्त विवेचन हो चुका है। अन्त में उपसंहाररूपेण कॉडवेल का मत उद्धृत करना असङ्गत न होगा—

'उसकी कविता किसी व्यक्ति विशेष का स्वप्न न होगी, बल्कि व्यक्ति विशेष की चेतनता के माध्यम से एक सम्पूर्ण वर्ग की रचनात्मक भूमिका को प्रतिफलित करेगी; और इस वर्ग की प्रगति स्वयं समाज का भौतिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है'।

(इल्यूजन एण्ड रियलिटी—पृष्ठ २२५)

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का 'स्वान्तः' वर्गगत सीमाओं में आबद्ध होने पर भी व्यापकता प्राप्त कर लेता है, और इसके लिए अपने वर्गेतर मनुष्यों के जीवन से उसे बौद्धिक ही नहीं रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित कर लेना अनिवार्य है। जो कवि इस रूपान्तर को जितनी सफलता और कलात्मकता से साथ क्रियान्वित करता है, उसका काव्य उतना ही महान्, व्यापक और दीर्घजीवी होता है।

(पृष्ठ १०१ का शेषांश)

'चुमाओन' एक प्रकार की मांगलिक क्रिया है उसके अर्थ में लिखा गया है—"चुमाओन करो चूमो" भला चुमाओन में कहीं चुम्बन भी होता है।

"चञ्चल चरन चित चञ्चल भान,
...जागल मनसिज मुदित नयान।"

वाले पद का अर्थ किया गया है मुदित=प्रसन्न; जबकि होना चाहिए अर्द्धस्फुटित क्योंकि यह वयःसंधि की मुग्धा का वर्णन है। "सुन्दर कनक केआ मति गोरी" में 'कनक केआ' का अर्थ किया गया है, कनक निर्मिता। वस्तुतः होना चाहिए—कनक केतकी जैसा रङ्गवाली—दीप्ति वाली नायिका। स्वर्ण निर्मिता में कोई तुक नहीं है। अभी भी बङ्गला, उड़िया में केतकी को 'केआ' और मैथिली में 'केअरा' कहते हैं। केतक, केअअ, केटअ, केअर, केओड़ा।

"जहँ मुगुधत्तिमागिनि करयमान।
परि पंथह पेखए पञ्च बान॥"

के "परिपंथहि" का अर्थ किया गया है पथिकों को जबकि होना चाहिए 'शत्रु'। अर्थात् मुग्धाये अपनी मुग्धता के कारण—नासमझी के कारण कामदेव को अपना शत्रु समझती हैं।

"एके तनु गोरा कनक कटोरा
अतनु कांचला उपाम।"

में कांचला का अर्थ कंचुक होना चाहिए था; पर किया गया है 'कोंच कोंच घर' और 'अतनु' का अर्थ यहाँ पर होना चाहिए 'बारीक चोली' सो किया गया है कामदेव।

विद्यापति की पदावली का परिचय

श्री शीलभद्र साहित्य-रत्न

मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति की पदावली ने सदा से विद्वानों को अपनी ओर आकर्षित किया है, अपनी चिरनवीनता, उक्ति के बाँकपन, आलङ्कारिक छटा, नारी हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का चित्रण, भाषा शैली का अनुपम माधुर्य और भक्ति एवं शृंगार के धूपछाँही वातावरण के कारण जन साधारण और विद्वानों दोनों का स्नेह-सम्मान इसे प्राप्त होता आया है, किन्तु इसके सम्बन्ध में जितना अनुसंधान बङ्गीय विद्वानों ने किया है हिन्दी वालों का कार्य उसके सम्मुख स्वर्गीय शिवनन्दन ठाकुर को छोड़ कर नगण्य सा ही कहा जायगा। यहाँ तक कि आज तक इसके सभी पदों का संग्रह तक हिन्दी में नहीं निकल सका है। नीचे की पंक्तियों में संक्षेप में पदावली की प्रति या प्रतियों का परिचय दिया जा रहा है।

दरभङ्गा जिलान्तर्गत तरौनी ग्राम में महाकवि विद्यापति द्वारा लिखित पदावली की खण्डित प्रति पायी गई थी। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल पुस्तकालय में पदावली की एक खण्डित प्रति मिली थी। इन दोनों पुस्तकों के आधार पर विद्यापति का पाठ शुद्ध कर डा० नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ बङ्गला में सम्पादन किया। आपने दरभङ्गा महाराज के व्यय से इण्डियन प्रेस के द्वारा वही पदावली नागरी लिपि में प्रकाशित की। परन्तु इसमें बङ्गीय पदावली की गौरव-पूर्ण भूमिका और टीका नहीं है।

इसके पश्चात् आरा नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में व्रजनन्दन सहाय ने "मैथिल-कोकिल" का सम्पादन किया। इसके पदों की संख्या कम है। इसमें बहुत से ऐसे पद हैं जो बङ्गीय पदावली में नहीं हैं। इसके बाद श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने पौष १९८२ संवत् में विद्यापति की पदावली का सङ्कलन किया। इसके संशोधक का नाम कुमार गङ्गानन्दसिंह एम० ए० हैं। खेद है कि दो-दो पंडितों की देख-रेख में प्रकाशित होने पर भी इसमें भयङ्कर भूलें हैं। यथास्थान इस पर विचार किया जायगा। डाक्टर जनार्दनप्रसाद ने भी विद्यापति पर एक पुस्तक प्रकाशित की है। इसमें समालोचना के अतिरिक्त कुछ पद भी सङ्कलित हैं। आपने हिन्दी साहित्य में दूसरा स्थान विद्यापति को दिया है। इसके अतिरिक्त श्री नरेन्द्रनाथदास ने 'विद्यापति काव्यालोक' शीर्षक एक विद्वत्तापूर्ण तुलनात्मक समालोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में संस्कृत, हिन्दी तथा अँग्रेजी के कवियों के साथ विद्यापति की तुलना की गई है। स्थान स्थान पर यह तुलना पक्षपात पूर्ण भी हो गई है।

डा० ग्रियर्सन ने १८८२ में बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित होने वाले पत्र में 'Christianity' नामक ग्रंथ के रूप में विद्यापति के ८२ पद प्रकाशित किये हैं।

पदावली की मूल पोथी तरौनी में पण्डित लोकनाथ झा के घर में पाई गई थी। उसमें प्रथम द्वितीय पृष्ठ नहीं था। ८१ से लेकर ९३ पृष्ठ भी नहीं थे, १०३ गायब था, १३२ के बाद का भी कुछ अंश नहीं मिला, लगभग साढ़े तीन सौ पद बचे।

दूसरी पोथी जो नेपाल में डा० हरप्रसाद शास्त्री को मिली थी, उस पर नेपाली का प्रभाव है; इसमें लगभग ३०० पद हैं। कवि लोचन ने अपनी 'रागतरङ्गिणी' में विद्यापति के बहुत से पद रखे हैं। प्रत्येक पद में राग का भी निर्णय किया गया है। लोचन ने विद्यापति को ही अपभ्रंश का प्रथम कवि माना है।

लगभग छः वर्षों तक कठिन तपस्या करने के उपरान्त डा० नगेन्द्रनाथ गुप्त ने ८४० पृष्ठों की पदावली प्रकाशित की। आज तक विद्यापति पर जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, पदावली उनमें सर्व श्रेष्ठ है।

स्वर्गीय महाराजाधिराज सर रामेश्वरसिंहजी ने तीन सौ वर्ष से अधिक पुराने ताल पत्र पर लिखी गई वह पोथी

खगेन्द्रनाथ गुप्त को दी थी उसमें ३५० पद थे। ९ वाँ नहीं था ८१ से ९९ तक और फिर १०३ नहीं थे। अन्तिम पृष्ठ था १३२। पुस्तक छप जाने के एक वर्ष बाद आपने उक्त हस्त लिखित प्रति पर आशुतोष मुखोपाध्याय को दी। वहाँ से खगेन्द्र मित्र यह ग्रन्थ ले गये, दुर्भाग्यवश वह खो गई। अप्राप्य है।

स्वर्गीय पं० शिवनन्दन ठाकुर को भी ताल पत्र पर ८५ पद मिले थे। जिनके ५ पद गुप्तजी वाली पदावली में भी हैं। शेष ८० पद नये हैं। किन्तु ये ८० पद ही वस्तुतः विद्यापति की भाषा शैली का प्रतिबिम्बित्व करते हैं। उन्होंने अपने महान ग्रन्थ—'महाकवि विद्यापति' की रचना उसी के आधार पर की है। वे लिख ही रहे थे कि असमय ही "तुम्हीं सो गये दास्तां कहते-कहते"।

बङ्गीय पदावली का संशोधन संस्करण नगेन्द्रनाथ के आधार पर किया गया है। यह बङ्गीय साहित्य परिषद कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी। अब अप्राप्य है। इसके पश्चात् वसुमती प्रेस वालों ने एक नया संस्करण जिसमें 'स' के स्थान पर 'श' 'न' के बदले 'ण' ह्रस्व के बदले दीर्घ, 'ज' के बदले 'य' और 'ख' के स्थान में 'क्ष' हो गया है। चकेवा का चक्रवाक, धनि का धन्य, पसाहन का प्रसाधन, बिदि का विधि, रेह का रेखा, गीम का ग्रीवा भी उसमें बनाया गया है।

गुप्तजी के उक्त दोनों संस्करणों के सम्बन्ध में स्वर्गीय पं० शिवनन्दन ठाकुर का कहना है, कि—"उनके प्रथम संस्करण में अनेकों गलतियाँ हैं। द्वितीय संस्करण में तो इतनी भयङ्कर भूलें हैं कि उसके आधार पर तो किसी प्रकार की आलोचना हो ही नहीं सकती।"

बाबू ब्रजनन्दन सहाय का "मैथिल कोकिल विद्यापति" प्राचीन प्रतियों के आधार पर नहीं, अपितु इधर-उधर से लिए गये पदों के आधार पर ही है। इस पर भोजपुरी की अत्यधिक छाप है। उसमें 'रङ्ग' प्रेम के बदले 'रम्य' भी किया गया है और उसका अर्थ किया गया है—रम्य।

डा० सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी सुने सुनाये पदों के आधार पर ही अपने संग्रह को रखा है। इसलिये उनकी रचना भी प्रामाणिक नहीं ही कही जा सकती है।

अब तक श्रीरामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी द्वारा सङ्कलित और पुस्तक भंडार से प्रकाशित 'विद्यापति की पदावली' ही हिन्दी में सर्वाधिक प्रिय और प्रचलित पुस्तक है। हिन्दी संसार उपकृत है कि बेनीपुरीजी के चलते ही उसे विद्यापति के सुमधुर पदों का परिचय मिला। पर "दोषाः वाच्या गुरोरपि" के अनुसार उनकी पुस्तक में हुई भयङ्कर भूलों की ओर "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे" के अनुसार हम संकेत करना चाहेंगे।

इस पदावली में चार प्रकार की भूलें हैं (१) पदनिर्वाचन की भूल (२) पदविन्यास की भूल (३) पाठ में भूल (४) अर्थ में भूल।

डा० नगेन्द्रनाथ गुप्त और खगेन्द्रनाथ मित्र द्वारा सम्पादित पदावली में लगभग ७ वां पद दूसरे कवि का प्रतीत होता है। गुप्त महोदय, और उन्हीं की आधार मान कर चलने वाले बेनीपुरीजी ने, रामशेखर, वल्लभ आदि अन्य कवियों की रचनाएँ भी विद्यापति के नाम से चलादी हैं। कवि वल्लरामदास का पद भी गुप्तजी वाले संस्करण में आ गया है।

गुप्तजी का एक पद यों है:—

"नंदक नन्दन कदम्बेरि तरुतरे-
धीरे धीरे मुरलि बोलाव।"

प्राचीन और अर्वाचीन मैथिली की प्रवृत्ति यह है कि सम्बन्ध कारक के चिह्न में सर्वनामों के पश्चात् ही 'र' होता है जैसे:—हमर, तोहर, जकर, तकर,। संज्ञा के पश्चात् सम्बन्ध सूचक चिह्न 'क' लगाया जाता है। सम्पादक ने 'कदमक' बनाया था, पुस्तक भण्डार वाली प्रति में 'कदम्बक' है जो मेरी तुच्छ सम्मति में गलत है—मैथिली की दृष्टि से भी 'कदमक' ही होना चाहिए।

हिम का पाठ इसमें 'हेम' किया गया है जिससे छन्दोभङ्ग होता है। "कुच जुग उपर चिकुर फुजि परसल" के स्थान पर "....फुजि पसारल" किया गया है; यहाँ परसि का अर्थ सर्वथा विपरीत किया गया है। असल में परसि का अर्थ होना चाहिए स्पर्श करके; यह मैथिली की पूर्वकालिक क्रिया है किन्तु पुस्तक भण्डारवाली प्रति में किया गया है "स्पर्श करते हुए" 'चाद बिहिन सब तारा' का पाठ 'चाँद

बिहुन सबतारा' किया गया है। मैथिली के विशेषणों में प्रायः उस समय स्त्रीलिङ्ग का चिह्न ही प्रचलित था। आइ, आइ, लजाइ का हिन्दीकरण करते हुए उसमें ह्रस्व के बदले सर्वत्र दीर्घ किया गया है—आई, जाई, लजाई। 'राग तरङ्गिनी' में है 'रंगिनि' उसमें 'रंगिनी' करके छंदोभङ्ग दोष लाया गया है। मुख ससि डरे के बदले 'मुख ससि डर' हो गया है। परन्तु मैथिली में अकारान्त शब्दों के पश्चात् तृतीया विभक्ति का चिह्न 'ए' है। 'ते संकाजे भुज पासे' का हो गया है 'ते संका भुज पास'

"जौवन रूप अछल दिन चारि,
से देखि आदर कमल मुरारि।
अब भेल झाङ्ग कुसुम रस छूछ,
बारि बिहुन सर के ओन पूछ।"

झाल का अर्थ होना चाहिए सूखकर 'झार' हो जाना झुरा जाना—जिससे मैथिली में, 'झूर' 'झूरी' आदि शब्द बनता है।

पर गुप्तजी ने जो इसका अर्थ झाङ्ग = उत्कट, गन्धहीन किया। तब प्रश्न उठता है नायिका की जवानी चली गई तब वह उत्कट कैसे हो जायगी, हाँ, वात्स्यायन की दृष्टि से युवावस्था में उससे पद्मगन्ध निःसृत हो सकती थी; फिर भी उसे उत्कट तो नहीं ही कहा जा सकता है। फिर यह क्यों हो सका। असल में बंगला में दो प्रकार से मछली बनाई जाती है एक झोल और दूसरा है 'झाल' 'झाल' में मिर्च-मसाला अधिक पड़ता है इसलिए वह उत्कट होती है, उसी की यह नकल है और भला उत्कट वस्तु गन्धहीन कैसे होगी? जो उत्कट होगी उसकी तो गन्ध भी उत्कट ही रहेगी न? और 'छूछ' का अर्थ किया गया स्पृश्य—जबकि रसहीन होना चाहिए।

'पीअरि पांडरि महुअरे गावए' का अर्थ इसमें 'गीत विशेष' किया गया है। असल में जन्मोत्सव के समय मिथिला में स्त्रियों को पीली साड़ियाँ दी जाती हैं। अतः इसका अर्थ यों होना चाहिए कि पीले पाडर (पाटल) के फूल पर बैठी भ्रमरी गा रही है।

विद्यापति ने लिखा है :—

"रयनि काजर बम भीम भुजङ्गम,
कुलिस परए दुरवार।
गरज तरज मन रोस बरिसघन,
संसय पड़ अभिसार।
सजनी बचन छड़इत मोहि लाज
होयत से होओ बरु सब हम अङ्गीकार।
साहस मन देल आज,
अपन अहित लेख कहइत परतेख।
हृदय न पलिय ओर,
चाँद हरिन वह राहु कवल रह
प्रेम पराभव थोर॥"

किन्तु इसके स्थान पर कुछ विद्वानों ने किया है :—

काजर रङ्ग बमए जल रात,
ऐसन बादर होइतहुँ साति,
तलितहुँ तेज मिलय अन्धकार,
आसा संसय पलु अभिसार,
मलन कमलमोद देल विसवास
निकट जौन नसत डाहक बास,
जलद भुअंगम दुहु भेल संग,
निकर निसाचर कर रस रङ्ग,
मन अवगाइए मर मरु रोस,
जीवओ देलेन होए भरोस।

इसके अतिरिक्त—

"पोखरि रजोखरि और सब पोखरा।
राजा सिवसिंह और सब छोकरा।"

के बदले वस्तुतः 'आओर' होना चाहिए 'और' नहीं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित अपनी एक छोटी सी पुस्तिका में श्री सतीशचन्द्र राय ने कमी की ओर संकेत भी किया था, किन्तु यही उपरोक्त भूल चल रही है।

बङ्गीय साहित्य पदावली के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व यह कहना आवश्यक है कि बङ्गला में विद्यापति की पदावली के लगभग छः सात संस्करण हैं। और अभी अभी डा० विमानबिहारी मजूमदार का हिन्दी में भी विद्यापति पर एक वृहत ग्रन्थ निकलने वाला है। बङ्गला संस्करण

में सबसे प्रमुख कृति है डा० नगेन्द्रनाथ और खगेन्द्र मित्र की 'विद्यापति पदावली'; इस सटीक व सम्पूर्ण पदावली को स्वर्गीय जस्टिस शारदाचरण मित्र ने अपने सम्पूर्ण व्यय से छपवाया था। इसे प्रकाशित करने का श्रेय बङ्गीय साहित्य परिषद को है। पुस्तक भण्डार वाली प्रति उसी को उपजीव्य मान कर लिखी गई है। बङ्गाल में अभी भी विद्यापति पर अनुसन्धान आलोचना का बाजार गर्म है। १८८१ ई० में ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ को नआरालागों में छपवाया। १८६५ वि० सं० में बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने चार सौ पदों की संख्या वाला "मैथिल कोकिल विद्यापति" टिप्पणियों के साथ प्रकाशित करवाया। यह प्रयत्न भी अँग्रेजों तथा बङ्गाल को आधार मान कर ही किया जा सका था। इसमें मौलिकता नहीं है। इसके लगभग ३ वर्ष पश्चात् बङ्गीय साहित्य परिषद वाला संस्करण कलकत्ते से निकला। उसी समय महाराज बहादुर दरभङ्गा के व्यय से वह इण्डियन प्रेस से हिन्दी में छपा। इसके सम्पादक भी नगेन्द्रनाथ गुप्त ही हैं, किन्तु यह 'नागरी संस्करण' उनकी विद्वतापूर्ण भूमिका और टीका से वंचित है। और अभी बाजार में यह सब दुष्प्राप्य है।

ग्रियर्सन के पदों की संख्या ८२, सहायजी की ४००, बेनीपुरीजी की (पुस्तक भण्डार वाली) २६५ और गुप्तजी के हिन्दी संस्करण की ६७५ हैं। पुस्तक भण्डार वाला प्रति में हरिवल्लभ, चम्पति आदि कवि का पद भी आगया है और लिखा गया है उसमें कि वल्लभ तथा चम्पति विद्यापति का उपनाम है। गुप्तजी ने चंपति के बदले ठम्पति भी किया है। किन्तु—

'रथु।नाम सुनि के मन परान करे
बड़मन साथ लागे कान्ह देखि बारे।'

शीर्षक पद चम्पति कवि के "पूद वल्ल तरु" में भी मिलता है।

पद विन्यास सम्बन्धी भूल—पुस्तक भण्डार वाली प्रति में पदों का सङ्कलन भी ढङ्ग से नहीं किया गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार काव्य के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण होना चाहिए, उसके पश्चात् यदि काव्य शृङ्गार रस का हो तो पहले नायिका का नायक के प्रति अनुराग प्रदर्शन होना चाहिए।

"आदौ वाच्यः स्त्रियारागः पश्चात् पुरुषस्येङ्गितैः।"

परन्तु पदावली के प्रथम पद में ही श्रीकृष्ण को राधा के प्रति आसक्त दिखलाया गया है। यह सङ्कलन सम्बन्धी भूल ही है। यह मङ्गलाचरण भी नहीं है।

फिर वयः सन्धि, नख शिख, सद्यःस्नाता, प्रेम-प्रसङ्ग, दूती, नोंक-झोंक, सखी शिक्षा, मिलन, सखी-सम्भाषण, कौतुक, अभिसार, छलना, मान, मानभङ्ग, विदग्ध विलास, वसन्त, विरह, भावोल्लास, प्रार्थना और नचारी और 'विविध' आदि शीर्षकों में ग्रन्थ विभाजित किया गया है। इससे रसाभास उत्पन्न होता है—क्योंकि 'नचारी' के बाद 'परकीया' का वर्णन अनुचित ही कहा जायगा।

वयः सन्धि के वर्णन में विद्यापति लिखते हैं—"....सैसव के तनु छोड़ नहिं पारि" पुस्तक भण्डार वाली प्रति में उसका अर्थ किया गया है—"शैशव को उसका शरीर छोड़ना ही पड़ेगा।" नगेन्द्रनाथ गुप्त लिखते हैं—"शैशव से देह के छाँड़िते पारेना"। सहायजी ने लिखा है—"लड़कपन को वह छोड़ नहीं सकती" बिहारीलाल ने भी तो लिखा है :—

"छुटो न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अङ्ग।
दीपति देह दुहून मिलि, दीपति तफता रङ्ग॥"

"के ओ के ओ जपए वेद दिठि जान,
के ओ नवग्रह पुज ओ तिन आन।"

इसको भण्डार वाली प्रति में यों किया गया है—'केओ नवग्रह पुज' मङ्गल नवग्रहों की दशा भी कहीं किसी के ऊपर एक साथ वक्र हो सकती है? और यदि हाँ, तो क्या वह जी भी सकेगा?

"केसु कुसुम सिंदुर सम भास,
केतकि धुलि बिथु हु पट वास।"

में 'पटवास' का अर्थ रेशमी वस्त्र किया गया है, जब कि होना चाहिए श्वेत सुगन्धित चूर्ण (Scented powder) जयदेव ने भी—"प्रगटित पट वासैः वासियन कानानि" इसी अर्थ में लिखा है और भला वसन्त वर्णन में जङ्गल में रेशमी वस्त्र की क्या आवश्यकता होगी।

(शेष पृष्ठ १७ पर देखिए)

कृष्णाश्रयी काव्य परम्परा और विद्यापति

श्री रघुवीर मिश्र, एम० ए०, शास्त्री

हिन्दी साहित्य में कृष्ण परक साहित्य की प्रचुरता है। प्रायः श्रीकृष्ण को आलम्बन बनाकर जितनी काव्य रचना हुई है उतनी अन्य विषयों पर नहीं। किन्तु इस विशाल वाङ्मय की दो धारायें हैं जिनमें से एक में भक्ति रसामृत की उत्ताल तरंगें हैं तो दूसरी में श्रृङ्गार की। भक्ति काल की कृष्णायन शाखा की पुनीत धारा एक है तो रीति-कालीन तथा इस युग के अन्य स्वतन्त्र कृष्णाश्रित रचनाकारों की श्रृङ्गार-पीयूष पूर्ण धारा दूसरी है। इस प्रकार मूल प्रकृति की भिन्नता को लिए हुए ये दोनों धारायें अविच्छिन्न रूप से बहती रही हैं। राधाकृष्ण की मधुर लीलायें दोनों धाराओं का साधारण वर्ण्य विषय है। किन्तु इन दोनों विभिन्न धाराओं में पड़ कर इनका स्वरूप भी भिन्न भिन्न रूप से उद्भासित हुआ है। यदि एक धारा की प्रेरक शक्ति है—"है हरि भजन को परमान" तो दूसरी धारा की प्रेरक शक्ति है—"रीझि हैं सुकवि तौपै जानौ कविताई ना तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।" ऐसी स्थिति में विचारणीय है कि महाकवि विद्यापति को किस धारा के कवियों में स्थान दिया जाय।

यद्यपि राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन दोनों प्रकार के कवियों के द्वारा हुआ है और जहाँ तक श्रृङ्गार रस वर्णन का सम्बन्ध है वहाँ वर्णन की बड़ी समता दिखाई पड़ती है। सूर ऐसे भक्त की लेखनी से भी ऐसी पंक्तियाँ प्रसूत हुई हैं—

"आजु नन्दनन्दन रँग भरे।
बिबिलोचन सुबिसाल दोउनके चितवत चित्त हरे।
भामिन मिले परम सुख पायो, मङ्गल प्रथम करे।
कर सों कंज करयो कञ्चन ज्यों, अम्बुज उरज धरे।
आलिङ्गन दे अधर पान करि, खञ्जन खञ्ज हरे।
× × ×
श्याम कर भामिनि मुख संवारेउ।
बसन तन दूरि कर सबल भुज अङ्क भरि,
काम रिस बाम पर निदरि मारेउ।
अधर दसननि भरे, कठिन कुच उर लरे,
परे सुख सेज मन एक दोऊ।
मनो कुम्हिलाय रहे मैन से मल्ल दोउ,
कोक परवीन धरि नाहिं कोऊ।

तथापि उद्देश की भिन्नता और पवित्रता इन भक्त कवियों की काव्य धारा में स्पष्ट लक्षित होती है। इस ओर मिश्रबन्धुओं ने संकेत किया है—"I may be excused for mentioning that Sur Das has, for instance, gone to the length of describing the Rati of Radha and Krishna, but even then the whole tone and spirit of his descriptions are so thoroughly untainted with sensuality, so free from any tinge of worldly pleasure, so stoically austere in nature, indeed so refreshingly divine, that it is impossible for any sympathetic and discriminating reader to suspect anything improper in them".

2nd Triennial Report on the search for Hindi Manuscripts. pp 8-9.

पर ऐसी बात रीतिकालीन कवियों के वर्णन के विषय में नहीं कही जा सकती है। यदि सूर, नन्ददास, हित हरिवंशजी आदि भक्त कवियों का हृदय स्वतः भगवान् के गुणगान में रमा हुआ था और भक्ति रस से परिपूर्ण वाणी काव्य-धारा के रूप में निकल पड़ी है तो इन श्रृङ्गारिक कवियों की वाणी में कृत्रिमता है। कला का चमत्कार है केवल भक्त की तन्मयता नहीं। रस राज के वर्णन के प्रसङ्ग में चिरकाल से चले आते आलम्बन राधाकृष्ण की

भुला नहीं सके। ऐसा करने से लाचार थे। भक्त कवियों की वाणी में भक्ति का प्राधान्य है और शृङ्गारिक वर्णन गौण तथा प्रासङ्गिक है किन्तु शृङ्गारी कवियों के बीच शृङ्गार वर्णन ही प्रधान विषय है। और उसको भव्य और ग्राह्य रूप देने के लिए राधा-कृष्ण लीलाओं से अन्वित किया गया है।

अभिनव जयदेव विद्यापति के राधा कृष्ण विषयक पदों को देख कर महाकवि जयदेव की उस उक्ति की—'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो। यदि विलासकलासु कुतूहलम्' याद हो आती है। यद्यपि कतिपय मनीषियों ने इन्हें भक्त सूक्त ही मानने का आग्रह दिखाया है तथापि कवि विद्यापति के जीवन तथा धार्मिक विश्वास की आलोचना करने पर ऐसा मानने को जी नहीं चाहता। विद्यापति कवि थे। उनकी दृष्टि एक कवि की दृष्टि थी। वे धर्म प्रचारक या मत पुष्टि कर्ता न होकर एक युग धर्मानुसारी कवि थे। लोक-रंजन उनका लक्ष्य था। उनकी काव्य प्रतिभा स्वाभाविक थी, कविता में लगन थी और काव्य कलेवर की कमनीयता के लिए उनके पास पाण्डित्य रूपी बहुमूल्य भूषण का भण्डार भी था। तभी उस कवि कोकिल की काकली सरस हो मिथिला के घर-वन को प्लावित कर बङ्गाल के राधाकृष्ण-भक्तों के हृदय लोक को बेसुध करने में समर्थ हुई। तब राधाकृष्ण प्रेम के प्रचार युग में चैतन्य देव विद्यापति के पदों को गाते-गाते प्रेमावेश में मूर्छित हो जाया करते थे। आज मिथिला की भुराई के भुण्ड कोकिल कण्ठ महिलाएँ और तीर्थ यात्री पुरुष प्रेम से विद्यापति के पद और नाचारियों को गा-गा कर अलौकिक आनन्द उठाया करते हैं। इस कोटि का कोई भी दूसरा कवि बङ्गला और हिन्दी का नहीं हुआ जिसे बङ्ग प्रान्तियों में बङ्गाली का और हिन्दी प्रेमियों में हिन्दी भाषी का समादर प्रदान किया गया हो। यह भी निर्विवाद है कि धर्म और साहित्य ने विद्यापति को अमर ही नहीं ऐसा सर्वप्रिय बनाने में समर्थ हुआ कि उनके पद अट्टालिका से कुटिया तक में गूँजते रहते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि विद्यापति कृष्ण भक्त वैष्णव नहीं थे।

अभिनव जयदेव की समस्त रचनाओं के अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मैथिल कोकिल शिव-भक्त शैव थे। उन्होंने आत्म निवेदन ईश्वर के सामने यदि किया है तो शिव-शक्ति के सामने ही। यद्यपि ये हरि हर की एकता की स्थापना करते पाये जाते हैं किन्तु इसका एक मात्र कारण इनका पुराणज्ञ होना है। इसी कारण शैव विद्यापति ने शिव से अभिन्न हरि में भी अपनी आस्था दिखाई है—

"भल हरि भल हर भल तुअ कला,
कबन पीतवसन खनहि बघछला।"

तथा "माधव हम परिणाम निराशा" आदि एक दो प्रासङ्गिक पदों के आधार पर इन्हें कृष्ण भक्त नहीं कह सकते हैं। इन्होंने शैव सर्वस्वसार, दुर्गा भक्ति तरङ्गिणी—इन ग्रन्थों को शिवोपासना तथा दुर्गोपासना पर लिखा है। विष्णु की उपासना पर इनकी कोई रचना नहीं है। अपनी पुरुष-परीक्षा में भी उपासना ग्रहण के प्रसङ्गों में शिवोपासना का ही ग्रहण कराया है। इसके अतिरिक्त उगना की किम्वदन्ती तथा 'लोढब कुसुम तोरब बेलपात, पूजब सदा शिव गौरीक साथ।' 'जो जनितहुँ होइता हर मोर उगना होइतहुँ राम गुलाम।' आदि इनकी स्पष्टोक्तियाँ इन्हें स्पष्ट रूप से शैव सिद्ध करती हैं जिसमें शक्ति के प्रति परम विश्वास और श्रद्धा परम आवश्यक है। पुराण वेत्ता होने से पुराणों में प्रतिपादित शिव विष्णु की एकता में इनका विश्वास था। लेकिन इससे हम उन्हें वैष्णव नहीं मान सकते। गो० तुलसी ने भी इसका प्रतिपादन किया है। तो क्या गोस्वामीजी भी शैव कहला सकते हैं? अतः विद्यापति को वैष्णव मतावलम्बी मानना समुचित नहीं। भले ही इनकी राधाकृष्ण विषयक रचनाओं से अन्य सहृदय जन राधाकृष्ण की भक्ति की प्रेरणा पाई हो।

मैथिल-कोकिल की सुमधुर पदावली भक्त की उक्ति नहीं। वे सूरदास, नन्ददास, हितहरिवंश आदि कृष्ण भक्तों के समान कृष्ण भक्त नहीं थे। इनकी वयः सन्धि में ईश्वर कृष्ण से अभिन्न नहीं। इनके अभिसार में भक्ति का सार नहीं; यद्यपि स्थान-स्थान पर नोंक झोंक करने वाली गोपिकाओं को भगवान् कृष्ण के उस परम पावन रूप की झाँकी देते हुए तथा विरह विधुरा राधिका को कृष्ण के मनोहारक रूप की स्मृति दिलाकर सान्त्वना देते हुए इनको पाते हैं

"हरिक संग किछु डर नहिं रे,
बोहैं परम गँवारा।"

× × ×

"न बूझिअ अबूझ गोआरीं,
भजि रहु देव मुरारी, नहिं गारीलो

× × ×

"भन विद्यापति सुनु वरजोवति,
हरिक चरण करु सेवा।"

किन्तु कृष्ण को भगवान जानते हुए भी इनका हृदय कृष्ण प्रेम में तल्लीन नहीं दिखाई पड़ता है। उनका हृदय तो यही कहता है कि—"तथेन भेदः प्रतिपत्तिरस्तु मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दु शेखरे।" अतः जहाँ तक भक्ति भावना का विचार है उस दृष्टि से मैं विद्यापति को सूरदास नन्ददास आदि कृष्ण भक्तों की श्रेणी में आसन नहीं दे सकता हूँ। यद्यपि कवित्व शक्ति और काव्य प्रतिभा की दृष्टि से इस शाखा के अग्रगण्य भक्त कवि सूर से इनकी प्रतिभा किसी प्रकार न्यून नहीं है। इस दृष्टि से विद्यापति संस्कृत साहित्य के कालिदास, माघ, भारवि, अमरुक आदि महाकवियों से भी किसी प्रकार न्यून नहीं दिखाई पड़ते।

तो क्या इस अभिनव जयदेव को रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों की पंक्ति में बैठाया जाय। लेकिन ऐसा करना न्याय संगत नहीं मालूम पड़ता। ऐसा करना विद्यापति की प्रतिभा के साथ अन्याय होगा। यद्यपि रसराज शृङ्गार की प्रतिष्ठा में उसके सभी अङ्गों पर इनका ध्यान गया है तथा रीतिकालीन अन्य शृङ्गारी कवियों के समान इन्होंने भी अपनी रचनायें "राजा शिवसिंह रूपनारायन लखिमादेइ परमाने" के लिए लिखी हैं तथापि कवि ने जिस कला पक्ष और भाव पक्ष का सफल निरूपण कर अपनी सहृदयता तथा प्रतिभा का परिचय दिया है, उसका रीतिबद्ध कविता लिखने वाले कवियों में अभाव है। विद्यापति की कवि प्रतिभा कहीं भी कुण्ठित नहीं। उस धारा में कहीं भी शिथिलता नहीं। कहीं भी खाना-पूरी मात्र नहीं। विद्यापति की यही मार्मिकता एवं वर्णन की उमंग उन्हें देव, बिहारी, मतिराम आदि से अलग कर देती है। विद्यापति का उल्लास, और ललक सूर से तनिक भी कम नहीं है। यद्यपि भक्ति की भावना का अभाव है, किन्तु इसका भी सर्वथा अभाव नहीं है। भक्तों का हृदय इनके पास अवश्य था जिसका परिचय इनकी नाचारियाँ दे रही हैं। अतः रीति कालीन कवियों की श्रेणी में ये कदापि बैठाये नहीं जा सकते।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति की वाणी में न्यूनाधिक मात्रा में भक्ति भावना तथा शृङ्गारिकता दोनों का बीज है और बाद में इन दोनों का विकास दो धाराओं में आगे चलकर हुआ। एक धारा भक्ति की बही जिसका विस्तार अष्ट छाप के कवियों के द्वारा हुआ और दूसरी धारा रीति और शृङ्गार की बही जिसका विस्तार देव, मतिराम, बिहारी, घनानन्द आदि के द्वारा हुआ। आगे चलकर ये दोनों धारायें भारतेन्दुजी में एकाकार होगईं।

जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी हम देखते हैं कि आदि कवि से निसृत काव्य धारा अक्षुण्ण रूप से कालिदास तक उसी रूप में बहती रही और बाद में महाकवि भारवि के समय से एक दूसरी धारा—अलङ्कार धारा फूट पड़ी और भर्तृमेण्ठ माघादि के द्वारा विस्तृत हो फिर ये दोनों धारायें—जो अलग अलग बहती रहीं अपनी अपनी विशेषताओं के साथ नैषधकार श्री हर्ष की कला में एकाकार हो गईं।

इस प्रकार कृष्णाश्रयी काव्य की परम्परा में विद्यापति का वह मूल सन्धि स्थान प्राप्त है जहाँ से बाद में भक्ति और रीति की ये दोनों धारायें आगे पीछे निकल पड़ती हैं और विभिन्न मार्ग से बहकर अन्त में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कला में एकाकार हो चीण हो जाती हैं।

घनानन्द की काव्य-साधना

श्री त्रिलोचन पाण्डेय

सर्वोत्तम कविता तब बनती है जब कवि की तीव्रतम अनुभूति अपेक्षित कलात्मक पटुता के साथ व्यक्त हो जाय। उसकी श्रेष्ठता विषय मात्र के ही महत्वपूर्ण होने में नहीं है वरन् भावों तथा उनके प्रकाशन वाले माध्यम का सशक्त होना अधिक आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में प्रायः प्रत्येक कवि ने रसराज श्रृङ्गार में एकाध बार डुबकी अवश्य लगाई है—वे सफल रहे या असफल, यह दूसरी बात है। प्रेम और नायिका को तो ऐसा घसीटा है कि ये उनके काव्य की पंक्ति-पंक्ति में छा गये हैं। ऐसा करने के लिए वे कदाचित् बाध्य हो गए थे। लेखनी पर भी सबका पूर्ण अधिकार नहीं था। जिस प्रकार जीवित रहने के लिए शराबी को शराब चाहिए ही, तत्कालीन दरबारी वातावरण में कवि का पट्टा प्राप्त करने के लिए वैसा वर्णन आवश्यक हो गया था—चाहे फिर वह रानी का हो, चाहे दासी का। और जब आलोचक उनका मूल्याङ्कन करने बैठता है तो कई बार ऐसी खीझ हो उठती है कि उन्हें कवि का पद कैसे प्राप्त हो गया! क्योंकि यदि कहीं सच्ची अनुभूति के दर्शन होते भी हैं तो उनकी भाषा लड़खड़ा गई है; कहीं चुन-चुन कर कर्ण-सुखद कोमलतम शब्दों का व्यवहार किया है तो ऐसा प्रतीत होता है कि बलपूर्वक कविता रानी में प्राण फूँकने की चेष्टा की है।

काव्य मानव अनुभूतियों का चित्रपट होता है। चूँकि प्रेम मनुष्य की मूल और मुख्य मनोवृत्ति है अन्य वृत्तियों की अपेक्षा काव्य में उसका अधिक प्रकाशन स्वाभाविक भी है। उसकी लौकिक पारलौकिक अनुभूति का प्रश्न गौण है। सफलता की कसौटी तो यह है कि उसने वर्णन किया कैसा है? रचना-विस्तार कवित्व की कसौटी नहीं, मापदण्ड तो गहराई है। तब भी रीतिकालीन कविता मुझे तो अधिकांश में कविता लगती ही नहीं क्योंकि प्रेम का तत्व प्रमुख होने पर भी काव्य में सभी कुछ नहीं है। परिभाषा केवल उसीसे नहीं बनती। लेकिन एक कवि ऐसा है जो सिर से पैर तक प्रेम की मूर्ति था, प्रेम ही जिसका एक मात्र अवलम्बन था और सारे जीवन भर जो प्रेम की पीर ही व्यक्त करता रहा। उसने तो सिद्धान्त बना लिया था—"कछु नेह निबाह न जानत है तो सनेह की धार में काहे धँसै?" एकांत प्रेम का वह गायक कवि था घनानन्द, जिसकी वाणी सुनते ही मन स्वतः बोल उठता है—हाँ सच कहा है! अँग्रेजी साहित्य में कीट्स, शेली आदि प्रेमी कवियों की मर्मान्तक पीड़ा तथा घनानन्द की मार्म-व्यथा का स्वरूप एकसा ही है। साथ-साथ इस कवि का माध्यम भी इतना सबल और शुद्ध है कि दाद देने में अत्यन्त सतर्क आलोचक आचार्य शुक्ल तक को लिखना पड़ा—"ये वियोग श्रृङ्गार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण व धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा करने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"

श्रृङ्गार के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। आचार्यों की दृष्टि में किसी एक का ही वर्णन पूर्ण नहीं। किन्तु आजीवन वियोग गान ही एकमात्र क्षेत्र रहते हुए भी घनानन्द की कविता अपूर्ण नहीं लगती है। जितनी बार उसे पढ़ते हैं उतना ही प्रभाव बढ़ता जाता है। गहरे से गहरे पैठ कर कवि ने उससे अमूल्य रत्न निकाले और काव्य में जड़ दिये। घनानन्द संयोग तथा शान्ति को अपनी साधना का लक्ष्य मानकर ही नहीं चले। जब प्रिय के नेत्र-रूपी तीक्ष्ण बाण वर्णन करते समय उनकी सूक्ष्म अनुभूतियों पर शान चढ़ा देते थे तो संयोग उन्हें काम्य ही कैसे होता? वे तो वियोग में ही तन्मय थे—

"चाह के रंग में भीज्यौ हियौ,
बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।"

प्रेममार्ग में बहुत कुछ करना और सहना पड़ता है। घनानन्द ने भी कहीं अनुनय की है तो कहीं वे प्रिय की बराबरी करने को उद्यत हैं। कवि तो प्रिय का पपीहा है। निरन्तर उसे ही देखता रहता है, उसीका दिन-रात नाम रट

करता है। यह तो उसका कर्त्तव्य है। प्रेम में मान उचित नहीं और मन तो कठोरता जानता ही नहीं—

"राधे सुजान इतै चित दै,
हित में कित कीजत मान मरोर है।
माखन तैं मन कोंवरो है यह
बानि न जानत कैसे कठोर है।"

अनुभूति की तीव्रता में कहीं पवन को दूत बनाकर भेजा गया है तो कहीं बादल से सन्देश भेजा गया है। इनसे अधिक सहानुभूति वाला और है भी कौन? यदि एक भाई है तो दूसरा "परजन्य" है। एक से वह प्रिय के पाँवों की धूल चाहता है जो "विरह बिथा की मूरि" है, उसे लगाकर ही वह नेत्रों को शीतल करले, तो दूसरे से उसकी प्रार्थना है—

"कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन,
मो अँसुवान को लै बरसौ।"

कवि प्रेमभाव में विभोर हो उठा है, अपनी सुधबुध भूल गया है। उसे कष्ट की प्रतीति नहीं होती। ऐसा सहते रहने की तो आदत पड़ गई है। प्रेम दुःखद न हो—ऐसी बात तो नहीं है। घायल की दशा को घायल ही समझता है। तभी तो कवि की अन्तर्वेदना एक बार ही छलक पड़ता है—

"या मन की जु दशा घनआनँद
जीव की जीवनि जान ही जानै।"

वेदना की एक सीमा वह भी होती है जहाँ कवि के लिए उसकी अनुभूति सुखद हो जाती है या वह बना लेता है। इस स्थिति में कवि केवल भावों में ही सञ्चरण करता है—राग विराग के धरातल से वह उठ जाता है। जड़ जगत् से अपने को ऊपर समझ कर उसकी भाव-धारा शाश्वत तथ्यों को छूने लगता है, उसका वैयक्तिक तत्व अन्तर्निहित हो जाता है। या ऐसा कहें वह धीरे-धीरे फैलता हुआ सर्वव्यापक हो जाता है। उसकी सीमा-रेखायें क्रमशः धुँधली पड़ कर स्वतः मिट जाती हैं। कवि के भावों का साधारणीकरण हो जाता है। ये भाव लोकबद्ध न रह कर सार्वजनीन हो जाते हैं। अनुभूति के इसी स्तर पर कीट्स ने कहा था—

"Thou wast not born for death
Immortal bird
No hungry generations tread thee
down."

धरातल पर कवि मृत्यु से आलिङ्गन करता है किन्तु यहाँ अपने को अमर घोषित कर देता है। घनानन्द भी उसी स्वर में कहते हैं कि कविता द्वारा तो मेरा ही प्रकृत रूप उत्तरोत्तर स्पष्ट होता है।

"मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत"

प्रेम की सभी दशाओं का घनानन्द ने वर्णन किया है। कभी प्रिय की प्रतीक्षा में नेत्र बाट जोह रहे हैं, नाना प्रकार की अभिलाषायें उमड़ रही हैं, तो कभी पृथ्वी को चीर डालने की, आकाश को फाड़ देने की चर्चा होने लगती है। कहीं उसे अपनी विरहाग्नि किंशुक पुष्पों के रूप में फूली हुई दिखाई पड़ती है तो कहीं हृदय की वेदना ही उच्छ्वास बनी डालों से निकल पड़ता है—

"किंसुक पुंज से फूलि रहे
सुलगी उर हौं जु वियोग तिहारे····
कैढ़ै हिय-सूल उसासनि डारे।"

एक क्षण के लिए कभी कवि व्याकुल भी हो उठता है। प्रिय आए नहीं, झूठा विश्वास करा गये। अब तो प्राण हृदय उनका संदेश लेकर ओठों पर आ पहुँचे हैं और चल ही देना चाहते हैं। कितनी तीव्र अनुभूति है! किन्तु दूसरे ही क्षण उसे धैर्य हो जाता है। प्रेम की व्यथा व करना कैसा? वह तो सहने और तपने का मार्ग ही है! मन फिर भी इस तर्क को स्वीकार नहीं करता तो दूसरी बार वह उपालम्भ देने लगता है। कवि अब तटस्थ हो चला है। प्रेम में यह भी एक स्थिति है जब प्रेमी सीधे ढङ्ग से बात कहना छोड़ देता है—दूर रह कर ही घुमा-फिरा कर सुनाना आरम्भ करता है। उसका प्रेम तो पक्का है तब चिन्ता किस बात की? प्रिय तो 'मन मोहन' है ही, 'बहुताइत' में पड़ जाने से एक अकुल अन्तर की चीत्कार सुने भी कैसे?—

"कान्ह परे बहुतायत में
इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम

हो मनमोहन, मोहे कहूँ न
बिथा बिमनैन की मानो कहा तुम ?"

यही प्रसाद भी कहते हैं—

"रो-रो कर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते, सुनते
करते जानी अनजानी।"

विरह की चरम सीमा के पश्चात् उसका उतार होता है। वेदना घनीभूत हो जाती है। उसकी तीव्रता बाहर से तो कम होने लगती है, किन्तु भीतर उष्णता की मात्रा बढ़ जाती है। पहले तो स्नेह से अपनाया, अब छोड़ दिया! निराधार को मझधार में डालकर डुबा देना ठीक नहीं है और—

"रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस,
बिसास में यों बिष घोरिए जू!" क्या ऐसा करना उचित है?

अब विरही कवि थक गया है। अपने भाग्य से सामञ्जस्य कर लेता है। शेली ने इसी स्थिति में लिखा था—

"Alas! I have neither hope nor health
Nor peace within, nor calm around...
To me that cup has been dealt
in another measure!" और भला बुरा सब घनानन्द को भी स्वीकार है—

"इन बाट परी सुधि रावरे भूलनि
कैसो उराहनो दीजयै जू
अब तो सब सीस चढ़ाय लई
जु कछू मन भाई सु कीजिए जू"

किन्तु अधीर ये नहीं, हताश भी नहीं। निराशा को तो भारतीय कवि मानता ही नहीं। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में अभिलाषा पूर्ण अवश्य होगी। वह तो केवल साधना का मूल्य मानता है—असफलता का तो उसके लिए स्थान ही नहीं है। घनानन्द की मौन पुकार में भी आशा का सबल स्वर गूँज उठता है। प्रिय कब तक आनाकानी करेगा?

"कूक भरी मूकता बुलाय आप बोलि है...
कबहूँ तो मेरिए पुकार कान खोलि है।"

ठीक यही बात प्रसाद ने भी लिखी है—

"इस शिथिल आह से खिंच कर तुम आओगे, आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी, रो रो कर अपनाओगे!"

वह समय अवश्य आएगा जब कवि प्रिय की प्यार-मूर्ति को नेत्रों में बसा लेगा, उसके अङ्गों के सौन्दर्य में अपने को लीन कर दुःख दूर कर लेगा और उनकी ढरने वाली टेव देखकर अमृत के लिए विदीर्ण हृदय को जुड़ा लेगा! घनानन्द भारती का वरद पुत्र है, उसमें शाश्वत विरह में भी अखण्ड आशावाद झलक रहा है।

प्रेम की यह व्यञ्जना इतनी मार्मिक इसलिए हो गई है कि कवि में उत्कृष्ट वाक्-चातुर्य भी था—कहने का कौशल था। घनानन्द की पद्धति वक्रोक्ति मूलक है। एक तो ध्वनि प्रधान रचना, दूसरे मुहावरों-लोकोक्तियों के प्रयोग ने उनकी उक्तियाँ और भी सगर्भ कर दी हैं। इसी कारण उनकी भाषा स्वयं बोलती है—

१—"चट दै कटि पै बट प्रान गये"
२—"तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला"
३—"रुई दिए रहौगे कहाँ लौं बहराइबे की"
३—"पैंड परे पापी ये कलापी"

खोज खोज कर उनका प्रयोग किया है, न मिलने पर प्रयोगों को बना लिया है। 'आनाकानी-आरसी', 'कूकभरी मूकता' आदि प्रयोग ऐसे ही हैं। विन्यास तथा विरोध ने चमत्कार और भी बढ़ा दिया है—

"है पतझार बसन्त दुहूँ
घनआनंद एकहि बार हमार"

दोनों एक ही साथ तथा एक ही स्थान पर हैं! और शब्द तो उनके संकेत पर नाचते हैं। निर्माण भी कर लिया है। 'नृतागति', 'बजमारे', 'बतहारे', 'निगोड़े', 'बौंड', 'जानराय' आदि शब्दों ने व्यञ्जना को तीखा कर दिया है। प्रतीकों का उपयोग भी किया है। कहीं चातक को पकड़ा है तो कहीं मछली को, किन्तु वेदना कहीं भी वाच्य नहीं है—सर्वत्र ध्वनित है। इसीलिए उनकी भाषा सर्वोत्तम रचना का सफल माध्यम बन सकी है। उन

पास भाव थे पर उपयुक्त भाषा नहीं—अतः जैसा भी ठीक शब्द उन्हें मिला, पकड़ लिया। अपनी बात कह दी—तीखी है तो तीखा, मीठी है तो मीठी। इधर घनानन्द भावों के धनी होने के साथ-साथ अभिव्यक्ति-कौशल में भी पारङ्गत थे। इसीसे उनकी प्रेम-व्यञ्जना अधिक निखर उठी है।

कुछ आलोचकों ने प्रेम की पीर की इस प्रधानता को प्रेमाख्यानक कवियों की परम्परा में मानने का संकेत किया है। वैसे अन्तर भी स्पष्ट किया है कि इनकी वृत्ति लौकिक थी, सूफी कवियों की पारलौकिक। किन्तु ऐसा युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। वैसे तो हो सकता है इसी धारा को आधुनिक काल में महादेवी वर्मा आदि तक खींच लाया जाय। प्रेम वस्तुतः मूल रूप में मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूति है और कवि मनुष्य ही होता है चाहे किसी युग में हो, उसका वर्गीकरण नहीं हो सकता। ये भाव तो आदि काल से आज तक हैं और आगे भी रहेंगे। तब उसकी परम्परा बनाना ठीक नहीं है। फिर लौकिक-अलौकिक के बीच विभाजक रेखा खींचना कठिन है। कौन निश्चय कर सकता है घनानन्द का सम्बोधन कब ईश्वर राधा से है, कब हाड़-मांस की पुतली सुजान वेश्या से ? वस्तुतः ये दो परस्पर विभिन्न प्रेम नहीं हैं, एक ही अनुभूति की दो कोटियाँ हैं। लौकिक का ही दूसरा प्रवर्धित रूप उदात्त व स्निग्ध होकर पारलौकिक हो जाता है। तात्पर्य यह कि घनानन्द की यह प्रेमव्यञ्जना व्यक्तिगत है, किसी पूर्व-परम्परा की एक कड़ी नहीं।

घनानन्द की कविता अत्यन्त मर्मभेदी और प्रभावपूर्ण बन गई है। क्योंकि उसमें भाव तथा भाषा—दोनों का ही मणिकाञ्चन योग हो गया है। प्रेम की टीस होती भी गहरी है। कवि की हृद्-तन्त्री का तार तार झनझना उठा है। यह हिन्दी साहित्य का वह समय था जबकि सर्वाधिक ग्रंथों का प्रणयन हुआ, असंख्य कवि हुए—किन्तु सीमाओं ने तथा अज्ञानता ने भी उनकी वाणी को जकड़ दिया। वे एक बँधी लीक से हट न सके। केशव "भूषण बिन न बिराजई" के पोषक थे, बिहारी ने ताप की मात्रा नापने को ही यथेष्ट समझा और देव उद्गारों में ही खो गए। लाक्षणिक प्रयोग भी तत्कालीन अन्य कवियों में नहीं के बराबर हैं। इतना अर्थ गाम्भीर्य भी किसी की उक्तियों में नहीं। भाषा का ऐसा विधायक भी रीतिकाल में कोई नहीं। लगभग दो सौ वर्षों की कवियों की इस दीर्घ परम्परा में घनानन्द के जोड़ का दूसरा कवि नहीं दिखाई देता।

साहित्य-सन्देश मेरी आत्मा में इतना रम गया है कि इससे सम्बन्ध विच्छेद करना आत्महत्या के समान है। यह पत्र हिन्दी की जो सेवा कर रहा है उसका वर्णन करना कठिन है।

—रामप्रकाश वर्मा दयालपुर (गुड़गाँव)।

* * *

कहानी अङ्क में कहानी सम्बन्धी कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं छूटा। केवल कहानी साहित्य को ही अपना कर इस अङ्क ने अन्य साहित्यांगों के मानस में सौतिया डाह उत्पन्न कर दिया है। —जगदीशचन्द्र शर्मा अध्यापक, हतीशावन, (एटा)।

* * *

मुझे साहित्य-सन्देश से अत्यधिक लाभ हुआ है। इसमें प्रकाशित विद्वानों के आलोचनात्मक लेख बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। आपकी साहित्य सेवा वास्तव में स्तुत्य है।

—जानकीजीवनशरण अग्रवाल बाँस की मण्डी, मुरादाबाद

* * *

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में आलोचना-प्रधान मासिक 'साहित्य सन्देश' का प्रमुख और गौरवपूर्ण स्थान है। इस पत्र के द्वारा साहित्य की जो सेवा की गई है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। इसका 'कहानी-अङ्क' जिस ठोस सामग्री को प्रस्तुत करता है वह स्तुत्य है। —रघुवीरप्रसाद पाण्डे १, पञ्जाबलाइन, हवड़ा।

* * *

कहानी अङ्क मिला। धन्यवाद ! आपने विषय की तात्विक और अध्ययन-पूर्ण सामग्री का ऐसा चयन इधर बहुत दिनों से देखने में नहीं आया था।.....आपके प्रयास की महत्ता को स्वीकार करना ही पड़ेगा।.....कोई ऐसी योजना क्यों नहीं बनाते, जिससे 'साहित्य-सन्देश' के गेट अप में एकदम से परिवर्तन हो जाय ? —भगवतीप्रसाद वाजपेयी ८६ / ३३५ चटियादेवी रोड, देवनगर कानपुर।

खण्ड काव्य की विशेषता

पं० जमनालाल दशोरा एम० ए०

साहित्य की द्विविध धारा मानव की मूक भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ ही चल पड़ी; वह अपने पुष्ट परिवहरण से सदैव मंद मंथर गतिमय होकर सुसंस्कृत काव्य की सृष्टि हुई; जिसमें मानव जीवन की विविध घटनाओं का संकलन विशेष ही आदर्श की कसौटी पर कस कर साहित्य में महाकाव्य, उपन्यास और नाटक के रूप में विद्यमान हुई और लघु लघु घटनाएं जो एक समय के लिये अपना विशेष महत्त्व रखती हैं यद्यपि वे इतनी विस्तृत नहीं होती हैं किन्तु विस्तृत भावना का सूक्ष्म चित्र ही सूत्र रूप में खण्ड काव्य; कहानी और एकांकी नाटक हैं।

काव्य की गद्य पद्यात्मक धाराओं में से पहले कौनसी धारा चल पड़ी यह बतला देना हमारी समझ से परे की वस्तु है, किन्तु यह निश्चित है कि मानव सामयिक दुःख से दुखी और सुख से सुखी होने पर अवसन्न और प्रसन्न अवश्य होता है। प्रसन्न होने पर हर्ष के साथ उछल कूद कर एकाएक अपनी हँसी की गड़गड़ाहट से समीपवर्ती प्रदेश को शब्दायमान कर देता है किन्तु वह प्रसन्नता अधिक समय तक उस स्थान पर जमी नहीं रहती है, धीरे धीरे अन्धकार की धूमिल छाया अपने विस्तृत प्रकोप से संपूर्ण सूर्य रश्मियों की भासमानता को समाप्त कर देती है। उसी प्रकार मानव हृदयोद्गत पीड़ा उसकी पुलक को शान्त कर देती है और उस दुःख से ही जो शब्द निकल पड़े वे गद्यमय थे अथवा पद्यमय अभी तक विवादास्पद है। लेकिन जहाँ तक पता चलता है पन्त के शब्दों से—

> वियोगी होगा पहला कवि,
> विरह से निकला होगा गान।
> दरदी होगा पहला कवि,
> आह से निकला होगा गान॥

आदि कवि आध्यात्म वाणी भी इसी दर्द से बह चली जिसका श्रोता आज जन जीवन में—

> "मा निषाद प्रतिष्ठात्वमगमः शाश्वतिः समाः।
> यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधिः काममोहिता॥"

से स्पष्ट है कि मानव की अवसन्न भावनाओं से ही निकले वे शब्द रागपूर्ण थे। उसी समय से 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' महाकवि पण्डित विश्वनाथ के अनुसार काव्य की परिभाषा होगई।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी कौनसी घटनायें हैं जो मानव के समक्ष रही, उनका अपना महत्व कितना बढ़ा-चढ़ा था यह घटना विशेष के पश्चात् ही ज्ञात हो सकता है। किन्तु यह तो सिद्धान्ततः सत्य है कि घटनायें अपने परिणाम के अनुसार लघु और महान अवश्य होती हैं। महान घटनायें अनेकों लघु लघु घटनाओं के संकलन से निर्मित होती हैं। यह संकलन नायक के सम्पूर्ण जीवन की विस्तृत व्याख्या है वह महाकाव्य के नाम से सुशोभित है जिसमें नायक का चरित्र-चित्रण ही नहीं प्रकट होता वरन् उसके चहारदिवारी के समान बाह्य वातावरण का परिस्थितियों का पूरा-पूरा खाका खींच देता है। इसी को महापण्डितों ने महाकाव्य कहा है। जब सूक्ष्म झाँकी से जीवन की सम्पूर्ण कहानी प्रदर्शित हो जाती है वहीं से उस विस्तृत की संक्षिप्त सूक्ष्म लघु स्रोतस्विनी चल पड़ती है। उसे ही खण्ड-काव्य के नाम से विभूषित किया जाता है। पंडित परमेश्वरानन्द 'खंडकाव्यं भवेद् काव्यस्य एक देशानुसारि च।" (पृष्ठ ११ श्लोक ५० काव्य दर्पण) महाकाव्य के देश का (कुछ लक्षणों का) अनुसरण करने वाला काव्य खण्ड काव्य कहलाता है।" जैसे मेघदूत, सुदामा चरित, पञ्चवटी, रंग में भंग, जयद्रथ वध, संदेश, उद्धवशतक आदि।

महाकाव्य में विशाल सागर की महानता, गम्भीरता और विशालता का यत्न होता है किन्तु जीवन के लघुतम से लघुतम चातुर्य और सौन्दर्य की सजीव मूर्ति का अमूल्य प्रमाण प्रदर्शित करने वाला काव्य खंडकाव्य कहलाता है।

यदि हम खंडकाव्य और महाकाव्य की तुलना करना चाहें तो एक विशाल सागर और अन्य क्षुद्र गहन गर्त के समान है। इस प्रकार हमें महाकाव्य की महानता और खंडकाव्य की लघुता का परिचय प्राप्त होता है।

"सर्गबद्धो महाकाव्यः" किन्तु खंड काव्य में एक ही सर्ग रहता है जिसमें एकाङ्की नाटकवत् दो दृश्यों में भी संक्षिप्त झाँकी हो जाती है। जैसे मेघदूत में पूर्व मेघ और उत्तर मेघ दोनों ही में पूरे मेघदूत की घटना चित्रित है। वस्तुतः साकेत घटना तो एक ही होती है किन्तु प्रथम दृश्य में घटना के पूर्व रूप पर प्रकाश डाल कर द्वितीय दृश्य में कवि परिणाम की ओर चल कर समाप्ति कर देता है।

छन्द की दृष्टि से देखें तो प्रबन्ध योजना तो वही होती है जो महाकाव्य की है वही वस्तु तारतम्य रहता है, एक भी छन्द इधर से उधर कर देने पर पूरे के पूरे काव्य के रसास्वादन में अन्तर पड़ जाता है और सारा रहस्य छिन्न-भिन्न हो जाता है अतएव प्रबन्ध पटुता तो वही होती है जो खण्ड काव्य में है। सम्बन्ध निर्वाह में भी महाकाव्य की घटनाएँ शृङ्खलावत् संश्लिष्ट होती हैं और समाप्ति का प्रयास रहता है जैसे साकेत। खण्ड काव्य में एक प्रवाह होता है वह अव्याहत होकर अपने (Base level) तक पहुँचने का प्रयास नहीं करता है वरन् क्रम-क्रम हो जाता है।

खंडकाव्य और छोटी कहानी में कोई विशेष अन्तर नहीं है कहानी गद्यात्मक और खण्डकाव्य पद्यात्मक होता है। कहानी में कहानीकार अपने पात्रों का चरित्र चित्रण अपनी इच्छानुसार रङ्ग चढ़ाकर भले-बुरे पात्रों को अपनी व्याख्यात्मक शैली से घटा-बढ़ा देता है। खण्ड काव्य में कवि अपनी प्रतिभा से सूक्ष्म झाँकी में सम्पूर्ण जीवन का पूरा चित्र एक ही चमक में चमका देता है। सामान्यतः पात्रों की न्यूनता रहती है अधिक पात्रों का आगम हो जाता है तो वस्तुगुम्फन और वस्तु योजना में शैथिल्य आजाता है। यह शैथिल्य का साहित्य के लिए क्षय रोग है। अतएव इसका निवारण कवियों की प्रतिभा विशेष पर ही अवलम्बित है। इन सब समानताओं के अतिरिक्त यदि कोई अन्तर दोनों में है तो वह मात्र यही है कि कहानी में साधारण मानव ही नायक बन जाता है किंतु खण्ड काव्य में राजर्षि, धीरोदात्त प्रतापवान विशाल कुल सम्भव प्रत्यक्ष दृष्ट नेतृ चरित नायक होता है।

कहानी के समान खण्ड काव्य और एकाङ्की नाटक में भी विशेष साम्य दृष्टिगत होता है क्योंकि यह साम्य कोई असाधारण नहीं है वरन् हमें यह देखना चाहिये कि एकाङ्की नाटक में नाटककार स्वयं इतना स्वतन्त्र नहीं होता है, उसे अपनी ओर से एक भी शब्द कहने का अधिकार नहीं होता है। वह जो कुछ व्यक्त करना चाहता है वह सब ही पात्रों के कथोपकथन द्वारा अथवा विविध हावभावादिक क्रियाओं द्वारा स्वयं मुख्य घटना तक पहुँच जाता है। उसमें नाटककार हाथ काट कर रख देता है। वह एक भी शब्द इधर का उधर नहीं कर सकता है न वह विस्तृत व्याख्या और विस्तार से अपने विचारों को अभिव्यक्त कर पात्रों का चरित्राङ्कन कर सकता है किन्तु पात्रों द्वारा ही घटना को और आगे बढ़ा कर सामाजिकों को रस मग्न कर नाटक की अच्छाई अथवा बुराई निर्णय दिखा देता है। लेकिन काव्य में कवि खण्ड काव्य में अपने पात्रों को अपनी प्रतिभा के बल पर बढ़ा घटाकर दिखा सकता है। पात्र अपने कथोपकथन द्वारा चरित्र उद्घाटन नहीं करता है वरन् स्वतः कवि वाणी ही उसका उद्घाटन करती है। हाँ! कवि कभी-कभी नाटकीय कथोपकथन की योजना करके खण्ड काव्य को सुन्दर अवश्य बना लेते हैं और घटनाओं का विस्तार न कर "To the point" और सरस शैली से समाप्त कर देता है। कथोपकथन की सुन्दरता विस्तृत व्याख्या का दर्शन करा देती है। अतएव नाटकीय योजना से काव्य अपने ढङ्ग का अनूठा बन जाता है जैसे—सुदामा चरित, पञ्चवटी, जयद्रथ वध आदि।

खण्ड काव्य में रस की व्याख्या करें तो हमारे भावानुभाव सञ्चारी सहित परिपक्व अवस्था में प्राप्त स्थायीभाव का नाम ही रस है; वह खण्ड काव्य के प्रारम्भ में प्रारम्भ होकर सञ्चारी भावों सहित अन्त तक चला जाता है और अन्त में परिपक्वावस्था की चरमसीमा में कवि अपना लेखनी रोक लेता है। निदान, पाठक अपनी बुद्धि और कल्पना से रसास्वादन करले—यही खण्ड काव्य की विशेषता है।

कहानीकार यशपाल

श्री ठा० विश्वनारायणसिंह एम० ए०, रिसर्च स्कालर

हाल ही में कहानीकार यशपाल की पुस्तक "फूलों का कुर्ता" पढ़ रहा था। इसके कुछ दिन ही पहले मैं उनका "उत्तराधिकारी" पढ़ चुका था जिसमें उन्होंने अपने आलोचकों को खासी डाँट सुनाई थी। इसमें संदेह नहीं कि "उत्तराधिकारी" की भूमिका—"ऐं ऐं का उत्तर" में यशपाल ने अपने आलोचकों को खूब खरी-खरी सुनाई है। लेकिन 'फूलों का कुर्ता' पढ़कर मैं अपने को न रोक सका और यशपाल पर अगाध श्रद्धा होते हुए भी उनके आलोचकों की कोटि में जा बैठा।

यह सही है कि यशपाल ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य में एक नए जीवन का सञ्चार किया है और उनकी कहानियों में यथार्थवादी तथा मनोवैज्ञानिक तत्व बहुत ही सजीव रूप में पाए जाते हैं। लेकिन फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उनकी रचनाएँ मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं। उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं Sex-appeal अपनी चरम-सीमा पार कर जाती है। फिर भी मनुष्य की इस निकृष्ट कोटि की भावना को बढ़ाने वाले यशपाल "फूलों का कुर्ता" में नैतिकता और संस्कृति की दुहाई देते हैं, जिसे पढ़कर एक खीझ भी होती है। वे लिखते हैं:—

"एक निर्धन कुलीन युवक का विवाह एक शिक्षित युवती से हो गया। नगर के जीवन में युवक की आमदनी से गुजारा चलता न देख युवती ने भी नौकरी कर कुछ कमाना चाहा। परन्तु यह बात युवक के आत्म-सम्मान को स्वीकार न थी। उनके संतान पैदा हो गई, होनी ही थी। एक, दो और फिर तीन बच्चे। महँगाई के ज़माने में भूखों मरने की नौबत। उनका बीमार हो जाना। अपनी स्त्री की राय से भले आदमी का एक सेठजी के यहाँ नौकरी करना और उनका खुशहाल हो जाना।

एक दिन राज़ खुला कि भले आदमी की खुशहाली की मोल उनकी अपनी नौकरी नहीं, उनकी पत्नी की इज्जत थी। क्रोध के आवेश में पति, पत्नी का गला घोंटने का यत्न करता है और पत्नी गिड़गिड़ाकर क्षमा माँगती है—"जो कुछ किया इन बच्चों के लिए किया।" वह कोमल बच्चों को पाल सकने के लिए प्राण-भिक्षा माँगती है और पति सोचने लगता है,—मेरी इज्जत का मोल अधिक है या तीन बच्चों के प्राणों का?

ग्लानि से पुस्तक पटक दी……यह है हमारी गिरावट की सीमा। आज यह साहित्य बन रहा है जिसमें व्यभिचार के लिए सफाई दी जाती है। यह हमारी संस्कृति का आधार बनेगा। हमारा जीवन कितना छिछला और संकीर्ण होता चला जा रहा है? स्वार्थ के बावलेपन की छीना-झपटी और और मारामार हमें बदहवास किए दे रही है। मनुष्य की उस मानवता, नैतिकता और स्थिरता को हम खो चुके हैं जिसका विकास हमारे आत्म द्रष्टा ऋषियों ने संकीर्ण सांसारिकता से मुक्त होकर किया था। स्वार्थ की पट्टी आँखों पर बाँध हम भारत की आत्मज्ञान की संस्कृति परम शांति के मार्ग को खो बैठे हैं। क्या पेट और रोटी ही सब कुछ है? इससे परे मनुष्य की मनुष्यता, संस्कृति और नैतिकता कुछ नहीं? ऐसे ही विचार मन में उठ रहे थे।"

यह सर्वविदित ही है कि यशपाल के साहित्य की मनोवैज्ञानिक भूमिका पेट और रोटी के प्रश्न पर ही कायम है। इसके परे आज के संसार में वे कुछ और नहीं देखते। पेट और रोटी के लिए उनके पात्र सब कुछ कर गुजरते हैं। वे स्वयं अपनी रचनाओं में व्यभिचार के लिए आज की आर्थिक अवस्था की सफाई देते हैं—और उसे अकाट्य मनोवैज्ञानिक धरातल पर रख सिद्ध भी कर देते हैं।

'फूलों का कुर्ता' की कहानियों तक ही अपने को सीमित रख, मैं कुछ उसके उद्धरण पेश करूँगा—जहाँ यशपाल के उच्च उपदेशों में स्वयं उनके स्वर का ही विरोधाभास पाया जाता है।

कहानी आतिथ्य में वे लिखते हैं:—"........और स्त्री कभी मुस्कराकर अपने पति की ओर देखकर कहती—, "जाओ ऊपर जाकर लेटो न !" कभी रामशरण की ओर देखकर मुस्करा देती और बहुत मनोयोग से उसके पाँव, पिंडलियाँ, जाँघें, कमर और पीठ दबा रही थी।"...उसे अनुभव हुआ कि बड़बड़ाने की आवाज नहीं सुनाई दे रही। जरा पलक उठा उसने देखा मर्द चला गया था परन्तु स्त्री उसके चेहरे की ओर देख रही थी—"कब चंगे हो पाहुनेजी ?" उसने पूछा और जमीन से खाट पर आगई।"

"प्रतिष्ठा का बोझ" में यशपाल लिखते हैं:—"पुकारने के लिए खुले सास के मुँह से शब्द निकल पाने के पहले ही केवल ने सास के भरपूर शरीर को बाहों में ले, समीप पड़े पलङ्ग पर गिराकर ऊपर से दबा दिया।...दस मिनट बाद जब सास ने केवल के बाहों से मुक्ति पाई तो केवल के गाल पर हुल्का दे मुस्कराकर शिकायत की—"बड़े वैसे हो तुम !"

"धर्म रक्षा" में प्रो० ब्रह्मदत्त एक आदर्श व्यक्ति और पिता होकर भी अपनी पुत्री से व्यभिचार करना चाहता है।

यशपाल के कहानी-संग्रह 'फूलों का कुर्ता' में संग्रहीत आठ कहानियों में "भवानी माता की जय", "खुदा की मदद" और "डरपोक कश्मीरी" को छोड़ बाकी सब कहानियाँ कामुकता से ओत-प्रोत हैं। पता नहीं अपनी कहानियों में कामुकता को प्रधानता दे, वे किस संस्कृति का सृजन कर रहे हैं ? क्या "धर्म-रक्षा" में उन्होंने मानव-स्वभाव की कमजोरी की सफाई देकर सामाजिक-व्यभिचार को आगे नहीं बढ़ाया है ? "प्रतिष्ठा के बोझ" में जब केवल सास कहलाने वाली, मातृतुल्य स्त्री से व्यभिचार करता है तो क्या यशपाल स्वयं उस मानवता, नैतिकता और स्थिरता का दावा कर सकते हैं जिसका विकास हमारे आत्मद्रष्टा ऋषियों ने संकीर्ण साम्प्रदायिकता से मुक्त होकर किया था। "डरपोक कश्मीरी" में एक गरीब किसान द्वारा राजा के हित के लिए लड़ने से इन्कार करना क्या यशपाल के विचार से पेट और रोटी के प्रश्न को प्रधानता देना नहीं है ? फिर समझ में नहीं आता यशपाल के विचारों में इतना विरोधाभास क्यों है !

यदि यशपाल सच्चे अर्थों में ऋषि-मुनियों द्वारा प्रदत्त हमारी भारतीय-संस्कृति का ही सृजन करना चाहते हैं और मनुष्यता, संस्कृति और नैतिकता को ही आगे बढ़ाकर देश की उन्नति देखना चाहते हैं तो फिर क्यों भारतीय-संस्कृति का गौरव—अतिथि-सत्कार—की आड़ में कामवासना को छिपाए रखते हैं। क्या वे 'शबरी' और 'कृष्णा' को अपनी कहानियों का नायक नहीं बना सकते थे ? यशपाल तो अपनी प्रचण्ड लेखनी द्वारा हमारी संस्कृति की पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। वे स्वयमेव "मुँह में राम बगल में छुरी" वाले सिद्धान्त का जीवित जाग्रत स्वरूप बने हुए हैं।

यशपाल लेखक होने के अतिरिक्त एक जाँनिसार सैनिक भी हैं। वे भारत में शस्त्र क्रान्ति के प्राण-पोषक थे तथा ब्रिटिशकाल में भारतमाता की जञ्जीरें तोड़ने के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। लेकिन दुःख का विषय है कि आज का उनका साहित्य केवल कामवासनाओं के आधार पर समस्याओं का ही सृजन करता है—उनका हल प्रस्तुत नहीं कर पाता। वे इस सङ्कुचित दायरे में इतने फँसे हैं कि संस्कृति और नैतिकता तक को तिलाञ्जलि दे देने में नहीं हिचकिचाते।

यशपाल इस समस्या का उत्तर देने की कृपा करेंगे—क्या मार्क्सवाद और फ्रायडवाद का समन्वय ही भारतीय-संस्कृति है !

(पृष्ठ १२१ का शेषांश)

क्रान्ति को नहीं रखता, यह कहना पर्याप्त नहीं है कि सामन्त-वादी परिस्थितियों में शिशु चेष्टाओं का वर्णन करके सूर ने हमें बच्चों से प्रेम करना सिखलाया, अतः यह भी एक क्रान्तिकारी कदम था।

हम संदेश के अगले अङ्कों में उक्त प्रश्नों का उत्तर चाहते हैं। हमें आशा है हिन्दी के विद्वान इन मौलिक प्रश्नों की ओर ध्यान देंगे और व्यक्तिगत रूप से या मिलकर इन समस्याओं के समाधान का प्रयत्न करेंगे। *

* नोट—"लेखक ने जिन मौलिक प्रश्नों को उठाया है उनके सम्बन्ध में हम चाहेंगे कि विद्वान् आलोचक उक्त विषयों पर अपने विचार प्रकट करने की कृपा करें, हम ऐसे लेखों का स्वागत करेंगे।"

—सम्पादक

बिहार की वृहत्त्रयी

श्री विष्णुकिशोर 'बेचन' बी० ए० (आनर्स)

हिन्दी के मनीषी आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'वियोगी' की रचना आर्यावर्त्त, 'प्रभात' जी की कैकेयी और 'दिनकर' की रचना कुरुक्षेत्र को बिहार की वृहत्त्रयी मात्र कह दिया है।

उपर्युक्त विचारों को जानने के बाद स्वभावतः एक प्रश्न बार-बार उठने लग जाता है—क्या ये काव्य ग्रन्थ महाकाव्य की कोटि में आने योग्य नहीं ? पुरातन लक्षणों को अगर छोड़ दिया जाय तो क्या नवीन लक्षणों के अनुसार भी नहीं ? इन्हीं प्रश्नों के आधार पर देखना होगा कि काव्य की किस सीमा और आधार को किस काव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

'कुरुक्षेत्र' को रचयिता ने प्रबन्ध काव्य कह कर पुकारा, जिसकी पुष्टि कुरुक्षेत्र के प्रथम पृष्ठ से भी हो जाती है। किन्तु कुरुक्षेत्र के इस नामकरण में एवं उसकी भावभूमि में एक विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र के 'निवेदन' की अन्तिम पंक्ति में लिखा है—"यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है।"

पुनः प्रश्न उठता है—क्या प्रबंध-काव्य का जीवन शंकाकुल ही रहा करता ? क्या उसका कवि साधारण प्रतिभा का तुकबन्दीकार होता है अथवा उसमें कुछ असाधारणता भी रहती है ?

प्रबन्ध-काव्य में कवि को स्पष्ट होना पड़ता है। उसे अपने निश्चित दर्शन की Searchlight काव्य के सभी सर्ग में फेंकनी आवश्यक है। अथवा यह कहें कि उसका दर्शन कथा प्रवाह के रूप में बोला करता है—और जीवन के सभी अवयव कलात्मक सौन्दर्य में लिपट कर वहाँ प्रकाशित हो जाते हैं। स्यात् इसीलिए आचार्य शुक्ल ने लिखा था—"प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक सजा-सजाया गुलदस्ता।"

कवि ने आगे लिखा—"दरअसल इस पुस्तक में मैं प्रायः सोचता ही रहा हूँ।" मात्र सोचना क्या अपने आप में प्रबन्ध काव्य भी होता है ? अगर कुछ क्षण के लिए इसे सत्य मान लूँ तो क्या इतने सारे विश्व के विचारों को प्रबन्ध काव्य नहीं कहना पड़ेगा ? किन्तु उनका नामकरण भिन्न-भिन्न है। तब क्यों कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध-काव्य कहा जाय। इसे तो भाव-लहरियाँ कहना चाहिये जो कि सोचते-सोचते उठती हैं और सोचते-सोचते गिर जाती हैं। स्वयं कवि की प्रस्तावना से कुरुक्षेत्र की प्रबन्धात्मकता नष्ट हो गई और जो भी विचार प्रस्तावना में व्यक्त किये गये हैं वे सरल भी हैं। कुरुक्षेत्र में दिनकर अवश्य सोच ही सके हैं—स्पष्ट भी नहीं हो पाये हैं। डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"दिनकर ने स्वयं कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध-तत्व की सफाई में कहा है कि इसके प्रबन्ध की एकता वर्णित विचारों को लेकर है, परन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त है। इसमें एकता विचार की बिल्कुल नहीं है—वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शङ्का की है जिसने उनके मनों को अस्थिर कर दिया था।" कथा का तो इसीलिए कुरुक्षेत्र में एकान्त अभाव सा हो गया है।

कुरुक्षेत्र की व्यापकता भी इसलिए ही छिप गई है। मात्र युद्ध, विज्ञान, नैतिकता, अनैतिकता पर लिखी गई कविता व्यापक और महान् तो हो ही नहीं सकती। और न कुरुक्षेत्र में नूतनता का पूर्ण समावेश हो हो सका है क्योंकि युद्ध की समस्याओं एवं विभीषिकाओं का कुछ दर्शन हमें अन्य काव्य-ग्रन्थों में भी कुरुक्षेत्र से अधिक उत्कृष्ट एवं सूक्ष्म रूप में हो ही जाता है।

कुरुक्षेत्र में प्रबन्धात्मक शैली का गाम्भीर्य भी नहीं। यों तो कुरुक्षेत्र में "दिनकर की कला में स्तुत्य प्रौढ़ता आ गई है।" उसी ओजपूर्ण प्रौढ़ता का प्रभाव है कि कुरुक्षेत्र हिन्दी पाठकों द्वारा सम्मानित हुआ। स्यात् इसी लिए

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत सोच-समझ कर कुरुक्षेत्र को हिन्दी भाषा का गौरव ग्रन्थ कहा है। किन्तु मात्र किसी कवि की व्यक्तिगत शैली-विशेषता ही प्रबन्ध काव्य की शैली नहीं मानी जा सकती। उसका निर्णय तो स्वतः भाषा और भाव करेगा। इसीलिए पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने कुरुक्षेत्र को महान् काव्य नहीं माना। हाँ, इसे खण्ड काव्य से भिन्न निबन्ध काव्य की संज्ञा मिल सकती है। निबन्धों की व्यक्तिगत Spirit कुरुक्षेत्र के विचारों को पद्य बद्ध करने से बहुत फिट बैठती है!

द्वितीय काव्य ग्रन्थ 'प्रभात' की कैकेयी को महाकाव्य कहा जाता है। इतना ही नहीं आज हिन्दी साहित्य में प्रकाशित होने वाले अधिकांश कथात्मक काव्य-ग्रन्थ का नाम लोग महाकाव्य ही देना अधिक पसन्द करते हैं।

जैसा मैंने ऊपर लिखा-अगर पुरातन लक्षणों को छोड़ दें तो नवीन लक्षणों के अनुसार भी कैकेयी को महाकाव्य मान लेने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। और अगर कैकेयी को, कैकेयी के विद्वान आलोचक एवं रचयिता, महाकाव्य की संज्ञा दें भी तो कम से कम श्री रामदयाल पाण्डेय रचित खण्ड काव्य 'अशोक' को तो उस आधार पर महाकाव्य की संज्ञा देनी ही होगी।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने महाकाव्य के तीन प्रमुख लक्षण माने हैं। "प्रथम, रचना का प्रबन्धात्मक या सर्गबद्ध होना। द्वितीय, उसकी शैली का गाम्भीर्य और तृतीय, उसमें वर्णित विषयों की व्यापकता और महत्व।"

कैकेयी में कुरुक्षेत्र से अधिक प्रबन्धात्मकता है और सर्गबद्धता भी। किन्तु इसका कथानक अपने आप में अत्यन्त लचर है। कैकेयी रामायण की एक छोटी सी पुरानी कथा है जिसमें आधुनिकता एवं नूतनता उतनी नहीं जो कि एक प्राचीन कथा पर आधारित नवीन प्रबन्धकाव्य के लिए अपेक्षित है। कैकेयी के कुछ स्थल तो रामायण से अक्षरशः भावापहरित से प्रतीत होते हैं। महाकाव्य के कवि की प्रतिभा इतनी लचर नहीं होती कि वह जगह-जगह दूसरों के भावों को अपने शब्दों में बदल कर महाकाव्य की पूर्ति करता रहे। उसे तो एक ऐसे अन्धकार में प्रवेश कर संस्कृति का प्रकाश करना होगा जहाँ मशाल तो जलती है किन्तु उसका प्रकाश रूढ़ियों द्वारा धूमिल कर दिया गया है।

महाकाव्य में शैली का प्रथम स्थान है। शायद इसीलिए T. S. Eliot ने लिखा है—"Organisation is as necessary as inspiration" बिना शैलीगत विशेषता के कोई महाकवि नहीं हो सकता। अधिकतर शैलीगत विशेषता के कारण ही आलोचकों ने लेनिन पर लिखी गई माया वोस्की की कविता में महाकाव्यत्व (epic spirit) पाया। किन्तु मात्र शैलीगत प्रयोग और विशेषता ही (जैसा कि टी० एस० इलियट कहते हैं) काव्य का सब कुछ नहीं।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है कैकेयी का कवि महाकाव्य की शैली से बहुत दूर किसी निर्जन वन में आदिम मानव की तरह चीत्कार कर रहा है। आदिम मानव इसलिए कि उसकी जिज्ञासाएँ, प्रारम्भिक उपदेश, नीति ज्ञान सभी प्रश्न के रूप में कैकेयी में आये हैं। इसलिए ही उसकी शैली में वह गाम्भीर्य नहीं जोकि एक मनीषी साहित्य स्रष्टा की शैली में हो पाता है। प्रसाद की कामायनी में महाकाव्यकार की शैली है। प्रभातजी महाकाव्य की शैली का निर्वाह नहीं कर पाये हैं और न उपदेशात्मकता के दोष से अपने को बचा पाये हैं।

इसकी व्यापकता भी गौण है जैसा कि काव्य के विषय से ही प्रतीत होता है। हाँ, काव्य की उपेक्षिता कैकेयी का उद्धार, असुरों के नाश के लिए राम वनगमन की सार्थकता प्रमाणित कर, अवश्य किया है। किन्तु इसमें मात्र एक भावना है, महाकाव्य में एक भावना (idea) के लिए स्थान नहीं। इसीलिए उसकी व्यापकता भी समाप्त हो गई है। आधुनिक युद्ध क्लान्त विश्व को देखकर इसका महत्व कुछ है अवश्य स्यात इसीलिए इसे कृतियों की कोटि में वाजपेईजी ने परिगणित किया। अगर महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों को कैकेयी में खोजा जाय तो यह और अधिक खोटा प्रतीत होगा। कैकेयी को इसलिए खण्ड काव्य से कुछ अधिक किसी काव्य की संज्ञा दे सकते हैं। किन्तु खण्ड काव्य के योग्य यह अधिक है।

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' का आर्यावर्त तेरह सर्गों में रचित एक महाकाव्य है। इसका कथानक भारत

के उस सांस्कृतिक घात-प्रतिघात का प्रतीक है जिसने भारतीय संस्कृति को पूर्णरूपेण झकझोर डाला। युग की समष्टिगत पुकार उस समय एकता का स्वर धारण कर सकी, और वियोगी ने उसमें एक स्वर अपना डाल कर उसकी महिमा को अधिक बढ़ा दिया। इतना ही नहीं पूर्वाचार्यों ने महाकाव्य के जितने लक्षण बतलाये हैं उनका समावेश अधिकांशतः इस महाकाव्य में हो जाता है। श्री दिनकर ने लिखा है—"महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करने वाली अनेक भावधाराओं के बीच सामञ्जस्य लाने का प्रयास है, समय के परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है।" महाकाव्य दो युग की वह जलती मशाल है जो बुझते बुझते एक बार युग को प्रकाशित कर डालती है। वियोगी ने भी एक मशाल जलायी—

"उदय हुआ है रवि दिव्य राष्ट्र धर्म का
आज राष्ट्रीयता ही श्रेष्ठ आर्य धर्म है।"

और उससे प्रकाशित होकर भारत की राष्ट्रीयता सर्वदा के लिए अन्धकाराच्छन्न या दूसरे अर्थ में प्रकाशित हो उठी।

ओजपूर्ण शैली में वियोगी ने छायावादी कुहेलि को त्यागकर राष्ट्रीयता का अलख जगाया। उनके एक एक शब्द से जोश जाग उठता है, पाठक मूछों पर ताव लगाते हैं और हृदय आने को राष्ट्रीयता की वेदी पर बलिदान कर देने को गा उठता है। जिस प्रकार का महाकाव्य का कथानक आर्यावर्त में है, वैसी भाषा भी प्रयुक्त हुई है। भाषा भावों की अनुगामिनी है।

"आर्यावर्त एक सजीव महाकाव्य है, क्योंकि इसमें यह जीवन की गरिमा का नया परिचय देता है।" और यही इसकी व्यापकता भी है। समयानुकूल वस्तु की रचना तो वस्तु की महत्ता को बढ़ा ही देती है।

आर्यावर्त का कवि इतिहास की प्रत्येक पंक्ति का पिछलगुआ नहीं बना है वरन् पृथ्वीराज की कहानी को माध्यम बना कर राष्ट्रीयता का स्वस्थ दृष्टिकोण विश्व के सामने रखने का प्रयत्न किया है। इसका कार्य—एक, महान, एवं उपादेय तीनों है।

प्रभातजी की कैकेयी और दिनकर का कुरुक्षेत्र अवश्य अपने युग का एक नवीन काव्य है पर महान काव्य नहीं—भले ही कविवर उसे महाकाव्य की संज्ञा क्यों न दें। बिहार का प्रथम महाकाव्य आर्यावर्त है। आर्यावर्त की एक-एक पंक्ति में महाकाव्यत्व उमड़ा पड़ता है।

(पृष्ठ ११७ का शेषांश)

परन्तु अप्रस्तुत भी थीं। संस्कृत के बाद तो बीसवीं शताब्दी तक शायद प्राकृतिक वर्णन से हिन्दी काव्य अपरिचित ही रहा। पर वर्तमान काल के कवियों का दृष्टिकोण बदल गया है। साहित्य केवल मनोरञ्जन की ही वस्तु न होकर मनुष्य की उन्नति के पथ में सहायता देने में भी समर्थ है। आज कवि वियोगिनी का ही विलाप लिख कर सन्तुष्ट नहीं हो जाता पर विधवा विलाप, अछूत विलाप आदि समाज सुधार के विषय कविता के अन्तर्गत समझता है। आँसू, निशा, एकान्त आदि पर कितनी ही कवितायें लिखी गई हैं। एक शब्द में विषय की अनेकरूपता वर्तमान हिन्दी कविता का प्रधान गुण है।

परन्तु प्रश्न यह होता है कि वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति किस ओर है? अधिकांश रचनायें क्षणिक हैं और स्थायी साहित्य की विभूति से परे हैं। वर्तमान हिन्दी कवि केवल प्रान्तीय कवि हैं। तुलसी, सूर, भूषण सी उनमें व्यापकता नहीं प्रदर्शित होती। प्रेस के अभाव में भी तुलसी काव्य जितना प्रसारित हो सका था आज पुस्तकों की इतनी प्रतियाँ होने से भी किसी कवि की रचना उतनी प्रसिद्ध नहीं हो सकी। स्थिति का प्रभाव साहित्य पर अवश्यम्भावी है। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा हो चुकी है और हिन्दी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल ज्ञात होता है।

संसार के विश्व कवि देश के उन्नति काल में ही हुए हैं। यद्यपि यह बात सिद्धान्त रूप से नहीं कही जा सकती तथापि इतिहास इसका साक्षी है। होमर का जन्म ग्रीस के अभ्युदय में हुआ था, शेक्सपियर ने इङ्गलैण्ड की उन्नतिशील अवस्था में रचनाएँ की थीं। कालिदास भारतवर्ष के स्वर्णयुग गुप्त काल के प्रधान कवि थे। तुलसी, सूर, अकबर की शान्तिप्रियता के परिणाम स्वरूप हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य की रूपरेखा : दृष्टिकोण विस्तार की अपेक्षा

श्री हरेकृष्ण मालवीय, एम० ए०, रिसर्च स्कालर

भाषा विज्ञान के विद्वानों का कथन है कि प्रायः हजार वर्ष के कालान्तर में भाषा में स्पष्ट परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। भाषा के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य का परिवर्तन स्वाभाविक ही है। साहित्य समाज की संचित चित्त वृत्ति का प्रतिबिम्ब है। समाज, देश, काल एवं भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क से सदैव परिवर्तित होता रहता है। कविता साहित्य का विशेष अङ्ग है। भाव प्रधान होने के कारण जन समाज के रहन-सहन, विचार एवं अध्ययन में अन्तर होने से कविता पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल हिन्दू-संस्कृति का पतन काल था और बहुत कुछ यही कारण है कि उस समय की रचना बीसलदेव रासो और पृथ्वीराज रासो में केवल अपनी वासनाओं की पूर्ति के हेतु किये गये व्यक्तिगत वीरोचित कार्यों के वर्णनों को छोड़कर और कुछ नहीं है। तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों का प्रादुर्भाव भी समाज की ईश्वराधीन होने की प्रवृत्ति का सूचक है। रीतिकाल के कवियों का उत्थान किसी मनुष्य की उस अवस्था का स्मरण दिलाता है जब वह संसार से निराश हो जाता है और उसमें पाप पुण्य में भेद करने की शक्ति भी नहीं रह जाती।

अंग्रेजों के सम्पर्क से हिन्दी साहित्य का नवीन युग आरम्भ होता है। अँग्रेजी साहित्य का प्रभाव हमारी कविता पर सर्वतोमुखी है। आज हमारा काव्य, भाव, भाषा, शैली सभी पूर्णरूप से परिवर्तित हैं। हिन्दी साहित्य में कविता का विशेष परिवर्तन हम सर्वप्रथम भारतेन्दु युग से देखते हैं, पर अतीत और वर्तमान में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। भारतेन्दु की रचना में हम इस कथन की सत्यता का पूर्ण अनुभव करते हैं। प्रेममाधुरी उनकी ब्रजभाषा की शृङ्गाररस पूर्ण सवैयों का संग्रह है। पर, इसमें नवीनता यह है कि इनकी ब्रजभाषा बोल-चाल की ब्रजभाषा है। इनके समकालीन ब्रजभाषा के कवियों की भाषा का प्रधान दोष यह है कि उनकी भाषा जन साधारण की भाषा से बहुत भिन्न है, और उसमें कितने ही रूपान्तरित शब्दों का प्रयोग हुआ है। हरिश्चन्द्रजी ने अपनी भाषा को इन दोषों से मुक्त कर कविता की भाषा परिमार्जित की है। साथ ही उनकी रचना का एक अच्छा भाग खड़ी बोली में है। भारतेन्दु की रचना में भाषा के शुद्ध प्रयोग के साथ भाव में बड़ा परिवर्तन हुआ है। हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता का प्रथम प्रवेश भारतेन्दु काल से ही हुआ है। इसे हम अँग्रेजी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव समझ सकते हैं। नीलदेवी, भारत दुर्दशा आदि में हम भारतेन्दु की देश प्रेम की प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक पाते हैं। कविता की प्राचीन प्रथा में इतिवृत्त प्रायः पौराणिक अथवा ऐतिहासिक ही हुआ करते थे। पर, स्वतन्त्र विषय को लेकर भावमय छोटे छोटे प्रबन्धों की चाल नहीं थी। किन्तु वर्त्तमान हिन्दी कविता के आदिकाल में ही हम इस उक्ति वैचित्र्य का आभास पाते हैं। प्रतापनारायण मिश्र की बुढ़ापा, विधि विडम्बना, ममता स्नेह आदि शीर्षक कवितायें इस विषय के उदाहरण स्वरूप हैं। नवीन धारा के प्रथम उत्थान के कवियों की रचना में भूत और वर्तमान का संयोग है। सदियों की निद्रा के पश्चात् सूर्योदय होने के पहले का काल है। इस उत्थान के भीतर हम हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास आदि का नाम ले सकते हैं। इसके बाद खड़ी बोली विशेष रूप से कविता की भाषा होती है। स्वर्गीय श्रीधर पाठकजी की कितनी ही मौलिक तथा अनूदित रचनायें खड़ी बोली की माधुरी को स्पष्ट व्यक्त करने लगीं। हरिऔधजी ने अपने महाकाव्य प्रियप्रवास की रचना खड़ी बोली ही में की। इन कवियों के प्रयास से खड़ी बोली भी कविता के लिए उपयुक्त समझी जाने लगी और आज तो हिन्दी संसार में साहित्यिक रचना के लिए यही भाषा सर्वश्रेष्ठ निश्चित हो गई है। तथापि विरोध और नाश कालान्तर में होता है।

वर्तमान कविता की आदिकाल की रचना में विषय की अनेकरूपता, एवं भाषा का परिवर्तन ही मुख्यरूप से उल्लेख

-नीय है। उपरोक्त कवियों की रचना में शैली का कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। हरिश्चन्द्र की कविता नवीन भावपूर्ण होते हुए भी प्राचीन छंदों से ही लिप्त थी। भारतेन्दु के समकालीन कवियों में भाषा, भाव का परिवर्तन होते हुए भी रचना प्रणाली का ढङ्ग प्राचीन ही था। वर्त्तमान काल की कविता का दूसरा रूप पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के काल से प्रारम्भ होता है। भाषा और भाव के रूपान्तर तो इनके पहिले ही से लक्षित हो गये थे, शैली को नवीन रूप देने का श्रेय इन्हीं को है। इनकी पद्य रचना एवं गद्य की भाषा में कुछ भी अन्तर नहीं है। दोनों का पद विन्यास भी साधारणतः एक ही सा है। संस्कृत वृत्त का प्रयोग भी अधिकता से हुआ है और मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय की कविता में हम इस परिवर्तन को विशेष रूप से देख सकते हैं। ऐसी रचनाओं में, भाषा की शुद्धता प्रधान गुण है पर उसमें लक्षणात्मक वर्णन बहुत कम है और रस पूर्ण मार्मिक उक्ति का तो प्रायः अभाव है। 'भारत भारती' काव्य की दृष्टि से उच्चकोटि की रचना नहीं कही जा सकती है पर विषय और भाषा के परिवर्तन की दृष्टि से शायद यह पुस्तक आधुनिक हिन्दी कविता की सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है।

नवीन कविता प्रणाली में एक समूह उन नवयुवकों का है जो कविता को छन्द लय, आदि किसी प्रकार के बन्धनों से रक्षित नहीं रखना चाहते। उनका कथन है कविता भावुक के उद्गार हैं और इस दृष्टि से उन्हें छन्दोबद्ध करना उनकी रसपूर्णता का विनाश करना है। रोना, हँसना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है और उसके लिए किसी नियम की रचना नहीं होती। इस समुदाय के कवियों में दो विभाग हैं। एक प्रकार के कवि वे हैं जिनकी रचना भावपूर्ण होती हैं और उसमें रस की विशेष प्रधानता ही नहीं है वरन् उसके सिवा और कुछ नहीं है। दूसरे वे नवयुवक कवि हैं जिनकी कविता केवल स्वान्तः सुखाय ही नहीं होती वरन् स्वान्तः बोधाय भी होती है। प्रसाद गुण का होना कविता का आवश्यक अङ्ग है। अबोधगम्य कविता कभी श्लाघनीय नहीं हो सकती। ऐसी ही कवितायें प्रायः रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, हृदयवाद, प्रयोगवाद आदि अनेक नामों से कही जाती हैं। पर, वास्तव में ये समस्त रचनायें क्षणिक हैं। आत्मानुभूति एवं आस्तिकता के बिना छायावादात्मक वर्णन हो ही नहीं सकते। लक्षणात्मक वर्णन कविता का एक विशेष अङ्ग है, उसके लिए विशेष प्रतिभा, अध्ययन एवं अनुभूति की आवश्यकता होती है।

संक्षेप में हिन्दी कविता का वर्तमान रूप अपनी प्राचीन अवस्था से पूर्ण परिवर्तित है। खड़ी बोली ही अब एक प्रकार से कविता के लिए सर्वमान्य भाषा हो गई है। इसके मूल में इस भाषा की कोई विशेषता अथवा ब्रजभाषा का कोई दोष नहीं है वरन् समय की गति के साथ भाषा का परिवर्तन होना एक साधारण सा नियम है।

आज कविता की शैली में भी बड़ा रूपान्तर हो गया है। वीरगाथा काल की रचनायें छप्पय और दोहों में हैं। मध्यकाल का वर्णनात्मक काव्य दोहा, चौपाई तथा मीरा, सूर की प्रेम कल्पना पदों में है। रीतिकाल की अधिकांश रचना सवैया कवित्त आदि में है। पर, अब रुचि में अन्तर हो गया है। गुप्त तथा त्रिपाठीजी की रचना अधिकांश गीतिका छन्द में हुई है। प्रसाद, पन्त, निराला आदि की कविता का कोई छन्द विभाग नहीं हो सकता। हिन्दी पिङ्गल की प्राचीन प्रथा के अनुसार आजकल की अधिकांश कविता मात्रिक विषम छन्द के अन्तर्गत होती है। लय, स्वर का निर्वाह करना ही ध्येय होता है। कुछ कवि ऐसे हैं जिनकी कविता में लय का भी कोई ध्यान नहीं होता। उनका कहना है कि कोकिल कुहू-कुहू करती है जिसकी इच्छा हो सुने अथवा न सुने। शैली की दृष्टि से भी वर्तमान कविता की प्रगति बहुमार्गात्मक है। उसका कोई पथ नियमित नहीं है।

सबसे बड़ा अन्तर वर्तमान कविता के विषय वर्णन में है। पश्चिमीय सभ्यता के सम्पर्क से हिन्दी साहित्य का जगत बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। नरपति नल्ह की रचना एक व्यक्ति विशेष के वर्णन तक ही सीमित है। तुलसी, सूर एवं इनके अनुयायी कवि राम कृष्ण तक ही परिमित हैं। उनकी भी रचना एक प्रकार से वर्णनात्मक है। रीतिकाल के कवियों की सांच तो परिमित ही नहीं थी,

(शेष पृष्ठ-१२५ पर देखिए)

भारत का प्राचीन नाटक साहित्य और उसकी सांस्कृतिक परम्परा

श्री शिवसिंह 'सुमन'

यद्यपि भारतीय नाटकों का जन्म वेदों और उपनिषदों से ही हुआ, क्योंकि नाटक के तत्व और संवादों के रूप आज भी उनमें विद्यमान हैं फिर भी पाश्चात्य विद्वानों के मत को प्रामाणिक मान कर यह कहा जा सकता है कि भारत में नाटकों का जन्म ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व हुआ, परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि अङ्कों और दृश्यों से युक्त सर्वाङ्गपूर्ण नाटक का आरम्भ बहुत बाद में हुआ और यह सत्य भी है।

भारतीय नाटकों के पूर्व साहित्य के रङ्गमञ्च पर यूनानी और लातिन नाटक आ चुके थे, यूनानी नाटकों में दो विशेषतायें प्रमुख थीं पहिली सुखान्त तथा दुखान्त नाटकों में स्पष्ट प्रभेद, दूसरी नाटकों का एथेन्स में जन्म और वहीं वृद्धि, यद्यपि एथेन्स के बाहर भी कुछ सुखान्त नाटक लिखे गये परन्तु प्रधानता वहीं रही।

यूनान के पुराने सुखान्त नाटकों में प्रारम्भ में सामूहिक गान और अधिकांश संगीतमय होते थे। व्यक्तियों एवं राजनैतिक परिस्थितियों पर भी व्यंग रहता था। पौराणिक गाथाओं के आश्रय लेकर ये आये; इनमें विदूषक का विशेष स्थान रहता था, परन्तु धीरे-धीरे वह युग बदला वह विचार और वह शैली; नये नाटकों में काल्पनिक व्यक्तियों का अवतरण हुआ, नाटकों में मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों पर व्यंग किये गये, पौराणिक गाथाओं में राजनीति के व्यंग का सर्वथा त्याग कर दिया गया; यूनानी नाटकों के पश्चात् ही लातिन नाटकों का जन्म हुआ, परन्तु इन में अपनी कोई विशेषता नहीं दृष्टिगोचर होती। लातिन नाटकों में प्रायः यूनानी गाथाओं का पौराणिक आधार लिया गया। आगस्टस के समय में थियस्टीज और मीडिया नाम के दो व्यक्तियों ने लातिन नाटकों के कलेवर की भली भाँति पूर्ति की। परन्तु फिर भी लातिन नाटक यूनानी नाटकों के अनुकरण मात्र ही रहे।

भारत में नाटकों का आरम्भ ईसा की पहली शताब्दी से मानें तो अनुचित न होगा, परन्तु उस समय के लगभग सभी नाटक बौद्ध हैं, तुर्फान, (चीनी तुरकिस्तान) के १९११ ई० में हुये अनुसन्धान के अनुसार अश्वघोष (घोष) भारत का प्रथम नाटककार ठहरता है जिसने कि ईसा की दूसरी शताब्दी में लगभग तीन नाटक लिखे थे। अश्वघोष के पश्चात् दूसरा नाटककार भास आता है (३०० से ३५० ई० सन्) ट्रावनकोर में १९१० ई० में हुई खोज के अनुसार भास ने १२ पूरे और एक अधूरा नाटक लिखा था, इनमें से लगभग नौ नाटक रामायण और महाभारत की कथाओं के आधार पर हैं, भास के नाटकों में स्वप्न वासवदत्ता विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भास के पश्चात् शूद्रक आता है जिसने मृच्छकटिक या बसन्त सेना नाम का नाटक लिखा था। अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह नाटक भी भास ही का है जिसे शूद्रक ने पीछे से फिर लिखा था।

शूद्रक के पश्चात् संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटककार जिसका आदर समस्त संसार ने किया कालिदास आता है (३६० से ४६०)। कालिदास ने जहाँ मेघदूत, रघुवंश और कुमारसम्भव जैसे सुन्दर काव्यों की रचना की वहीं अभिज्ञान शाकुन्तला, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशी जैसे सुन्दर नाटक भी लिखे; इनमें 'अभिज्ञान शाकुन्तल' तो विश्व की अनेक श्रेष्ठ भाषाओं में अनुवादित भी हुआ। आज भी संसार के साहित्यिक मेघदूत और अभिज्ञान शाकुन्तल की कला में मुग्ध हैं।

कालिदास के समकालीन ही मुद्राराक्षस का जन्मदाता विशाखदत्त भी हुआ।

कालिदास के नाटकों के साथ ही साथ संस्कृत नाटकों की एक पीढ़ी समाप्त होती है। इसके पश्चात् (६०० से ८०० तक) हर्ष, भवभूति, राजशेखर, मुरारी, भास्कर, और जयदेव साहित्य मञ्च पर आते हैं। परन्तु इन सब में हर्ष ही के नाटकों में नाटकीयता के तत्व विद्यमान हैं। प्रियदर्शिका

और नागानन्द उसकी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इसके पश्चात् यद्यपि भवभूति के नाटकों में काव्य मार्मिकता तो बहुत है परन्तु नाटकीयता के तत्वों से वंचित ही रह गये हैं फिर भी उत्तर रामचरित और मालती-माधव भवभूति की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं जो करुण रस से ओत-प्रोत हैं। भवभूति के पश्चात् उल्लेखनीय नाटक वेणी संहार, अनर्घ राघव, उन्मत्त राघव आदि हैं।

संस्कृत नाटकों के पश्चात् चीन में शुङ्ग वंश और मङ्गोल काल में जो नाटक लिखे गये उनमें वांगशीफू का शिपि-यांग (साधु विहार की गाथा) अति ही प्रसिद्ध हुआ और मंगोल काल में तो ८५ लेखकों ने लगभग ५६४ नाटक लिखे परन्तु चीनी नाटक प्रायः बोल-चाल की ही भाषा में लिखे गये थे इसलिए चीन के साहित्यिक उन्हें क्लासिकों के अन्तर्गत नहीं मानते।

भारत के संस्कृत नाटकों में संस्कृत और परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया गया, स्त्री पात्र और नौकर आदि तो प्राकृत ही बोलते थे और मुख्य नायक संस्कृत। इस प्रकार का भाषा विभाजन तत्कालीन सामाजिक प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डालता है। नारी अपना वैदिक युग का समानता का पद खो चुकी थी; आर्यों का वेदकालीन समनार्य समाज भी न था, जहाँ सभी बराबर थे। समाज विभिन्न प्रकार के वर्गों में विभाजित हो चुका था इसलिए नाटकों की भाषा में संस्कृत और प्राकृत भाषायें अभिजात और जन साधारण के रूप में आती है, साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है और शासक श्रेणी अपने काल के साहित्य दर्शन, नीति को प्रभावित करती है इसका भी प्रमाण संस्कृत नाटकों में मिलता है।

यद्यपि संस्कृत नाटकों के नायक और नायिका राजवंश के ही होते थे, राजवंश की गौरव-गाथायें ही गेय और अभिगेय समझी जाती थी। साधारण जन उनके चरित्रों को और गरिमामय बनाने के लिए पूरक की भाँति आ जाते थे, यही कारण है कि नाटकों के द्वारा तत्कालीन समाज का सर्वांगपूर्ण चित्र नहीं मिलता, इन सीमाओं के होते हुए भी संस्कृत नाटकों की काव्य रस-गत संवेदनशीलता और नाटकीय मार्मिकता हृदयग्राही है।

साहित्य-सन्देश का आगामी विशेषाङ्क 'साहित्य सिद्धान्त अङ्क'

आगामी जनवरी १९५४ में प्रकाशित होगा

सिद्धान्त अङ्क की विषय सूची

१—मानव जीवन में कला और साहित्य का उदय,
२—कला और सौन्दर्य बोध,
३—कला और संस्कृति,
४—काव्य के प्रयोजन और स्रोत,
५—काव्य की परिभाषा और विभाग,
६—भारतीय दृश्य काव्य की विशेषताएँ,
७—काव्य की आत्मा—(क) रस (साधारणीकरण की समस्या शान्त रस और भक्ति रस), (ख) अलङ्कार, (ग) वक्रोक्ति, (घ) गुण और रीतियाँ (ङ) ध्वनि और रस, (च) औचित्य।
८—महाकाव्यों के पाश्चात्य और भारतीय मान
९—हिन्दी के महाकाव्य कसौटी पर,
१०—विभिन्न वाद—छायावाद और रहस्यवाद, प्रगतिवाद (छायावादी कवि और प्रगतिशीलता, प्रगतिवाद और प्रोपेगेण्डा), प्रयोगवाद, अभिव्यञ्जनावाद और शुक्लजी, आदर्शवाद और यथार्थवाद, दुःखवाद।
११—अँग्रेजी आलोचना के कुछ वाद—Romanticism, Classicism, Realism Naturalism, Swrealism. Expressionism, Impressionism.

लेखकों से निवेदन—साहित्य-सन्देश के प्रेमी लेखकों से निवेदन है कि वे उपर्युक्त किसी भी विषय पर शीघ्र ही लेख भेजने की कृपा करें। लेख भेजते समय यह ध्यान रक्खा जाय कि लेखों में इन विषयों का केवल परिचयात्मक वर्णन न रह कर आलोचनात्मक विश्लेषण या उनके सम्बन्ध में उठे आधुनिकतम विचारों की ऊहा होनी चाहिए।

कुछ समस्याएँ

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०, साहित्य-रत्न

'आवृत्ति' करते चलना सहज है किन्तु विचारों के आरोह अवरोहों को समझकर, उनकी अनुकूलता, प्रतिकूलता का विचार कर उनका त्याग, संशोधन, संवर्द्धन एक कठिन कार्य है इसके लिए विश्लेषणात्मक बुद्धि और दृढ़ निर्णयात्मिका शक्ति की आवश्यकता है. आज के युग की सबसे बड़ी विशेषता है 'आवृत्ति' और 'अधैर्य'। समझते हम यह हैं कि हम क्रान्ति के पथ-प्रदर्शक और अवांछनीय तत्वों से आच्छादित अंधकार मार्गों के सफल अन्वेषक हैं, साहित्य के क्षेत्र में आज जो गतिरोध उत्पन्न हो रहा है उसे हमने समग्र दृष्टि से आजतक समझने का प्रयत्न नहीं किया, हम 'दल' में सोचते हैं. किसी की कही हुई बात वैज्ञानिक है या अवैज्ञानिक, यह न सोच हम सोचते हैं कि अमुक व्यक्ति किस दल का है, परिणाम यह हो रहा है हिन्दी साहित्य में चिन्तन का क्षेत्र धूमिल और अनिश्चित होता चला जा रहा है। आलोचना में शुक्लजी के पश्चात् मात्रा में अधिक कार्य हुआ है परन्तु साहित्य के मूलतत्व क्या हैं? कौन सी वस्तु साहित्य को साहित्य बनाती है, वे तत्व काव्य के अंतरङ्ग पक्ष से सम्बन्धित हैं या बाह्य पक्ष से? क्यों! जाति, समाज व इतिहास का साहित्य के साथ जो सम्बन्ध है उसका स्वरूप क्या है, हम 'नवीन' साहित्य—नई-कविता, उपन्यास आदि लिखते चले जारहे हैं, पर 'प्राचीन' से क्यों प्रेम करते हैं, विशेषकर जब इतिहास की दृष्टि से प्राचीन कवियों का दृष्टिकोण सामन्तवादी या प्रतिक्रियावादी है, वे तत्व कौन से हैं जो प्रतिक्रियावादी व प्रगतिवादी दोनों साहित्यकारों में साहित्यिकता के प्रतीक हैं? आदि-आदि।

डा० देवराज ने 'आलोचना' के अङ्कों में कुछ प्रश्न उठाये हैं उन्होंने उन पर अपने दृष्टिकोण को भी व्यक्त किया है, उदाहरण के लिये वे मानते हैं—

१—कामायिनी महान काव्य कृति नहीं है।

२—संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों की रचना उनके "वीर नायकत्व" पर आधारित नहीं है।

३—प्राचीन साहित्य के प्रति प्रगतिवादियों का दृष्टिकोण अस्वस्थ और एकाङ्गी है।

आज वह समय आगया है जबकि हम एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें, आज आलोचना का सारा संग्रहीत ज्ञान, उच्छृङ्खल या एकाङ्गी दृष्टिकोणों की समष्टि मात्र है, कुछ समझदार आलोचक संतुलित विचारधारा के वाहक अवश्य हैं परन्तु उनके द्वारा भी कोई ऐसा प्रयत्न होता हुआ नहीं दिखाई पड़ता जिनसे साहित्य के 'मूलतत्वों' पर वैज्ञानिक विचार हो सका हो। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य में प्रायः प्रत्येक आलोचक मानता है कि साहित्य का सामाजिक पक्ष अवश्य होता है, प्रत्येक आलोचक चाहे वह प्रगतिवादी हो या परम्परावादी अपनी आलोचनाओं में साहित्य के सामाजिक पक्ष को दिखाता है अपने ढङ्ग से। तुलसी, सूर के सम्बन्ध न जाने इस प्रकार के कितने दृष्टिकोण हैं जो जिस प्रकार चाहता है उन्हें प्रगतिवादी या प्रतिक्रियावादी सिद्ध कर देता है जो 'सूरसागर' को एक बार भी नहीं पढ़ते वे केवल "ऊधो जोग, जोग हम नहीं" पंक्ति को दुहरा कर कह देते हैं कि सूर ने भी निर्गुण का विरोध किया है और मानवीय प्रेम की प्रशंसा की है अतः वे प्रगतिवादी हैं, बस, सूर के ऊपर इतना ही विश्लेषण पर्याप्त है, आगे जैसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। तुलसी में दरिद्रता के चित्रों को लेकर तो हम बहुत चिल्लाते हैं परन्तु उनके वर्णाश्रम-वाद, पुराणवाद, ब्राह्मणवाद आदि पर मौन रह जाते हैं तथा यह नहीं बताते कि बाजूद अपनी विचार-धारा के तुलसी व सूर क्यों प्रिय हैं? राम व कृष्ण अपने धार्मिक स्वरूप के कारण मान्य समझे जाते हैं या अपने मानवीय गुणों के कारण, भले ही उनका व्यक्तित्व सामन्त जैसा हो। कल्पना कीजिये एक व्यक्ति तुलसी व सूर के सामाजिक पक्ष से पूर्ण रूप से अपरिचित है उसके हृदय पर क्यों प्रभाव पड़ता है, उसके 'तादात्म्य' का कारण शुक्लजी के अनुसार 'सत्व' का उद्रेक है, हृदय की मुक्ता-

वस्था है, या अन्य कोई सामाजिक कारण है ? सूर के साहित्य में मनोवैज्ञानिक आधार अधिक पुष्ट है यह सामाजिक ? यथा—गोपी की विरह वेदना, नारी-विद्रोह की प्रतीक होने के कारण आकर्षक है या वहाँ प्रेम की एकनिष्ठता का आकर्षण है ? रास-विहार कल्पना है या यथार्थ ? 'सूर सागर' से उसका आध्यात्मिक पक्ष खींच लेने पर कृष्ण की लीलाओं का न्याय Justification क्या है ?

मार्क्स ने भी सोचा था, उस महान् प्रतिभाशाली का अन्तर्मन इतना सङ्कीर्ण न था, उसने सोचा था कि अन्ततः ग्रीक साहित्य बावजूद अपनी अवान्छनीय विचार धारा के इतना मोहक क्यों लगता है—

"ग्रीक कला और महाकाव्य सामाजिक विकास के एक विशेष युग की पैदवार हैं और उसीसे बंधे हैं,.... वह आज भी हमारे अन्दर सौन्दर्य बोध करा के आनन्द देने में क्यों समर्थ हैं और कई अर्थों में उन्होंने कला के ऐसे प्रतिमान और नमूने पेश किये हैं जिनकी श्रेष्ठता को पा लेना प्रायः असम्भव है।"

प्रश्न "सांस्कृतिक विरासत" का नहीं है वह तो तै हो चुका है, जो 'है' वह 'त्याज्य' नहीं है। उससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं, अपनी भूलें सुधार सकते हैं, अपने ऐतिहासिक विकास का क्रम देख सकते हैं, युग विशेष में हमारे पूर्वजों ने किस विशेष प्रकार की चितना को प्रस्तुत किया, यह अनुमान कर सकते हैं, यह ठीक है, प्रश्न यह है कि क्या इतना कह देना पर्याप्त है ? यह तो 'मार्क्स' ने तभी कह दिया था, उसकी आवृत्ति करना व्यर्थ है, हम मानते हैं सूर, तुलसी, बाल्मीकि, गेटे, मिल्टरटन, शेक्सपियर हमारे काम के हैं, पहले कहा गया कि कला तो वर्ग के खूँटे से बँधी हुई है, वर्ग स्वार्थ के अतिरिक्त व्यक्ति कुछ भी सोचने के लिए विवश है, पुनः कहा गया कि यह सङ्कीर्णता है, कला में वर्ग स्वार्थ रहता अवश्य है परन्तु कवि व्यक्ति होता है जहाँ वह प्रभावित होता है वहाँ वह प्रभावित भी करता है, अपनी सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए भी कवि या कलाकार सामाजिक चेतना को पहचानता है वह दूसरे वर्ग की भावनाओं को समझने का प्रयत्न करता है, अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार कभी-कभी वह उन सामाजिक समस्याओं का हल भी निकालता है, मेरा कहना यह है कि इतना ही पर्याप्त नहीं है, हमें काव्य के मूलतत्वों पर सोचना होगा।

हमें बताना होगा कि सौन्दर्य शास्त्र के उपादान कौन कौन से हैं केवल सामाजिक 'उत्तरदायित्व' या कोई अन्य तत्व भी ? वे कौन कौन से हैं। वे यदि परिवर्तित होते हैं तो उनका आधार क्या है ? 'कडवेल' की बताई हुई यांत्रिक प्रक्रिया (illusion and reality) में कौन कौन से सुधार अपेक्षित है, क्यों ? काव्य यदि 'इल्यूजन' है तो हिन्दी में उस illusion का निजी रूप क्या है ? उसकी भरत, भामह, दण्डी, मम्मट आदि ने जो व्याख्या की है उसका आधार दार्शनिक है या मनोवैज्ञानिक ?

इन सब प्रश्नों का उत्तर हमें देना ही होगा, 'कालिदास' पर आगरा कालेज के गङ्गाधर शास्त्री भवन में बोलते हुये श्री 'यशपाल' ने कहा था कि हम कालिदास का अनुकरण नहीं कर सकते, प्राचीन युग में राजा प्रजा को अपने पैर के अँगूठे का दर्शन कराते थे, यदि आज उसका वर्णन हम करने लगें तो यह उपहासास्पद होगा। यह ठीक है, परन्तु 'मेघदूत' में यक्ष का 'विरह' हमें अब तक क्यों प्रिय लगता है क्या उसका भी कोई सामाजिक आधार है ? क्या शुक्लजी ने मेघदूत में की महत्ता भारत की झाँकी उपस्थित कर देने के कारण आँकी है, मैं यह नहीं कहता कि रामगिरि से लेकर अलका तक के वर्णन द्वारा जो भारत का भव्य रूप उपस्थित होता है वह मोहक नहीं है परन्तु मेघदूत वही नहीं है फिर 'उत्तर मेघ' में तो भावना व कल्पना मात्र ही है, प्रकृति वर्णन भी समाप्त हो गया है, उत्तर रामचरित में 'राम' आँसू बहाते हैं प्रश्न है कि राम के प्रति हमारी करुणा मनोवैज्ञानिक आधार पर जाती है या यह समाजशास्त्र के विश्लेषण को समझने के कारण, या दोनों कारण हैं, यदि दोनों कारण हैं तो हमें प्राचीन साहित्य की व्याख्या में स्पष्ट बताना होगा कि 'सूर' में राधा व कृष्ण की रति-लीला में कोई सामाजिकता नहीं है, केवल उसकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक भित्ति पर ही हो सकती है, एक शिशु की स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन अपने पीछे किसी सामाजिक

(शेष पृष्ठ १२२ पर देखिए)



आलोचना

आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त—लेखक-श्री एस० पी० खत्री, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ संख्या ५८०, मूल्य ११)

प्रस्तुत पुस्तक का जैसा कि उसके नाम से विदित होता है विषय-विस्तार बहुत अधिक है। लेखक ने आलोचना का इतिहास देकर ही उसके सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इतिहास द्वारा हमारा दृष्टिकोण व्यापक बनता है और उससे ही सिद्धान्तों की रूप रेखा निर्धारित होती है। आजकल की आलोचना बहुशाखा मयी है क्योंकि उसका इतिहास प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व तक जाता है। काल के इस विस्तार में उसका बहुशाखामय होजाना स्वाभाविक ही है। लेखक महोदय ने इन शाखाओं पर सरल और सुबोध भाषा में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है लेखक ने अधिकांश में समालोचना की योरोपीय अङ्ग पर विशेष प्रकाश डाला है। प्राचीन भारत के इतिहास का स्पर्श मात्र किया है और उनमें अवगाहन तो दूर रहा तट पर बैठकर ही उस निर्मल धारा के जल से मार्जन मात्र कर लेना ही उन्होंने अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ ली है। भट्ट लोलट (भट्ट लोल्लट), संकुक (श्री शंकुक रोमन लिपि में तालव्य श भी बड़े S से लिखा जाता है Sh से नहीं), भट्ट नायक, अभिनव गुप्त आदि आलोचकों का नामोल्लेख मात्र हुआ है उनके सिद्धान्तों का दिग्दर्शन भी नहीं हो सका है। ध्वनि के आधार पर काव्य का जो वर्गीकरण हुआ है वह इतना अस्पष्ट है कि उससे यह प्रकट नहीं होता कि लक्ष्यार्थ को प्रधानता दी गई है या व्यंग्यार्थ को, देखिए:—

'इसी व्यंजना शक्ति के आधार पर काव्य के तीन वर्ग बनाए गए। प्रथम अथवा श्रेष्ठ श्रेणी के काव्य में लक्ष्यार्थ की प्रधानता रहेगी; दूसरी श्रेणी में लक्ष्यार्थ गौण रूप में प्रस्तुत रहेगा और तीसरी श्रेणी के काव्य में उसका लोप हो जाएगा।' पृष्ठ १५४; एक जगह और पृष्ठ १५७ की अन्तिम पंक्तियों में लक्ष्यार्थ को ही मुख्यता दी है। उत्तम काव्य की संकेतात्मक शक्ति अथवा लक्ष्यार्थ उत्कृष्ट होगा, जिस काव्य में शैली को महत्व मिलेगा और लक्ष्यार्थ गौण होगा वह मध्यम वर्ग का काव्य कहलायेगा। ऊपर अथवा का अर्थ अर्थात् है। अंग्रेजी में व्यञ्जना को Suggested sense कहते हैं। उसका ही अशुद्ध अनुवाद लक्ष्यार्थ हुआ मालूम होता है।

ऊपर उद्धृत किये हुए ये वाक्य स्वयं ही अपनी आलोचना कर देते हैं। एक और उद्धरण लीजिए—'और ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार, काव्य का सहज-सौन्दर्य व्यंजना पर निर्भर नहीं, वास्तव में यह काव्यानुभूति पर निर्भर है। साहित्य अथवा काव्य की आत्मा ध्वनि तथा विचारों की पारस्परिक स्पर्धा में निहित है। और काव्यानुभूति केवल ऐसे ही व्यक्ति कर सकेंगे जो उसके वास्तविक तत्वों से परिचित हों। शब्दों की व्यञ्जना शक्ति काव्य का शरीर है तथा वक्रोक्ति उसका सहज आभूषण है।" पृष्ठ १५५

इन वाक्यों में यह स्पष्ट नहीं है कि इनमें से कितना अंश वक्रोक्तिकार का है और कितना लेखक का, किन्तु यह निश्चय है कि वक्रोक्ति को काव्य का सहज आभूषण मात्र कहना कुन्तक को अभीष्ट न था। वह तो उसको काव्य का जीवन मानता था। लेखक ने यह नायक, धनिक और धनञ्जय को रस और ध्वनि सिद्धान्त का विरोधी माना है। देखिए:—

'ध्वनि तथा रस सिद्धान्त की मान्यता यद्यपि आनन्दवर्धन ने पूर्ण रूप से स्थापित कर दी थी फिर भी कुछ आलोचकों ने इसका विरोध किया।' आलोचकों में भट्ट नायक, धनिक और धनञ्जय के नामों का फुटनोट में उल्लेख किया है। इनमें से कोई भी रस सिद्धान्त का विरोधी न था। भट्ट नायक तो उसके व्याख्याताओं में से ही थे और उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त को जन्म दिया था। भारत के 'साधारणीकरण' का तो इस इतिहास में शायद नामोल्लेख भी नहीं है। फिर इस सूची में यह नहीं समझ में आता कि धनिक को धनञ्जय से पहले क्यों स्थान दिया गया। धनिक तो धनञ्जय के टीकाकार हैं।

पृष्ठ १४५ पर लेखक महोदय दण्डी के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं 'उन्होंने गुणों को काव्य का मूलाधार माना, और सुन्दर शब्दावली-प्रयोग तथा चमत्कार को काव्य रचना के लिए आवश्यक समझा। श्रेष्ठ काव्य शैली के लिए उन्होंने दश गुणों को महत्वपूर्ण किया और भामह द्वारा अलङ्कार सम्बन्धी सिद्धान्तों को महत्वहीन घोषित किया' आचार्य दण्डी ने गुणों की व्याख्या अवश्य की है किन्तु अलङ्कारों को महत्वहीन कभी नहीं कहा वरन् उन्होंने अलङ्कारों को शोभा के कारण माना है— 'काव्य शोभाकरानलङ्कारान् प्रचक्षते' वामन ने आगे चलकर उनका दर्जा कम किया है। यूरोपीय सिद्धान्तों का विवरण जिस विस्तारता से किया गया उसका अष्टमांश भी संस्कृत सिद्धान्त का विवरण नहीं हुआ है। इस पुस्तक का नाम पाश्चात्य आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त अधिक उपयुक्त होता। हिन्दी में जो आलोचना का विकास हुआ है उसका तो इसमें अत्यन्ताभाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी नाम नहीं लिया गया है। वैसे जहाँ तक आलोचना का स्वतन्त्र विवेचन है अच्छा है उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ सामञ्जस्य पूर्ण है। विशुद्ध आलोचना वे उसी को मानते जो किसी साहित्य की आत्मा पर प्रकाश डाले। इस पुस्तक द्वारा हमारा दृष्टिकोण कुछ अधिक व्यापक बन सकेगा।

महाकवि माघ कृत शिशुपाल वध—अनु०— श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ ५७५, मूल्य ८)

साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने बहुत से स्तुत्य और स्थायी महत्व के कार्य किये हैं उनमें से एक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद है। संस्कृत साहित्य से ही हमारे साहित्य की परम्परा बनी है। इसलिए हिन्दी के अच्छे विद्वान के लिए संस्कृत साहित्य से अवगत होना परम आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से यह कार्य बड़े महत्व का है। संस्कृत के महाकाव्यों में शिशुपाल वध को बृहत्त्रयी में स्थान मिला है। माघ में कालिदास की सी उपमा, दण्डी का सा पद लालित्य और भारवि का सा अर्थ गौरव है। 'माघे सन्ति त्रयोगुणाः'।

प्रस्तुत पुस्तक में मूल के सरल और स्पष्ट अनुवाद के साथ एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी है जिसमें कवि और उसकी कृति का आलोचनात्मक परिचय कराया गया है। उसकी विस्तृत जानकारी के साथ, जिसमें सङ्गीतशास्त्र, नाट्यशास्त्र, साहित्य-शास्त्र आदि का ज्ञान आता है, काव्य सौष्ठव का भी परिचय कराया गया है। अनुवाद के साथ कहीं-कहीं छोटी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। अलङ्कारों और छन्दों का भी निर्देश किया गया है। यदि श्लोकों का अन्वय भी दे दिया जाता तो विद्यार्थियों को स्वयं अर्थ लगाने में सुविधा पड़ता। वैसे जहाँ श्लेष या विरोधाभास के चमत्कार हैं वहाँ वे चमत्कार स्पष्ट कर दिए गये हैं किन्तु विद्यार्थियों की आवश्यकताएँ इतने से पूर्ण नहीं हो जातीं फिर भी यह पुस्तक उनके लिए बड़ा उपयोगी होगी। हमें हिन्दी में ऐसे संस्करणों की आवश्यकता है जो अंग्रेजी में लिखे हुए क्लास आदि के टिप्पणी सहित अनुवादों को अनावश्यक कर दें। आशा है काव्य प्रकाश का नया संस्करण ऐसा ही होगा जो कालेज की टीकाओं के साथ टक्कर ले सके। हमको इस पुस्तक के द्वारा संस्कृत साहित्य के एक अमूल्य रत्न की अच्छी झाँकी मिल जाती है।

प्रेमचन्द—लेखक-डाक्टर त्रिलोकी नारायण दीक्षित प्रकाशक-साहित्य निकेतन, कानपुर। पृष्ठ १६६ मूल्य २॥)

प्रेमचन्द पर पर्याप्त साहित्य निकलता है जाता किन्तु हर एक पुस्तक का एकसा दृष्टिकोण नहीं होता। प्रस्तुत पुस्तक भी अपना दृष्टिकोण विशेष रखती है। इसमें प्रेमचन्द का अध्ययन प्रत्येक कृति के सम्बन्ध में नहीं किया गया है वरन् भिन्न-भिन्न विषयों को (जैसे छूत अछूत, स्त्री, धर्म, राष्ट्रीयता आदि) लेकर हुआ है। यह पुस्तक कला की अपेक्षा नैतिक और सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्व देती है। लेखक ने प्रेमचन्दजी को गान्धीवाद की अपेक्षा जनवाद की ओर अधिक झुके हुए प्रमाणित करने का प्रयास किया है प्रेमचंदजी के पात्रों में शोषण के प्रति विद्रोह की भावना अवश्य है, हिंसात्मक साधनों को अपनाने का भी बौद्धिक रूप से कुछ समर्थन हुआ है किन्तु वे व्यवहार में कम चरितार्थ किये गये हैं। लेखक ने वैसे तो ईमानदारी से प्रेमचन्दजी के गांधीवादी अंश का उद्घाटन किया है किन्तु उनको हिंसात्मक साधनों का समर्थक सिद्ध करने में लेखक द्वारा घटनाओं का संयोजन कुछ सप्रयत्न सा दिखलाई देता है। —गुलाबराय

प्रगतिवाद की रूपरेखा—लेखक-श्री मन्मथनाथ गुप्त, प्रकाशक-'आत्माराम एण्ड सन्स' दिल्ली। पृष्ठ ३८६, मूल्य ७)

पुस्तक में ३७ लेखों का संग्रह है। चार लेख प्रत्यक्षतः प्रगतिशीलता से संबद्ध हैं जिनके शीर्षक से ही विषय का आभास होता है—'साहित्य में प्रगतिशीलता,' 'पत्रकार-कला में प्रगतिशील दृष्टिकोण,' 'प्रगतिवाद और यौन आचार' तथा 'प्रगतिवाद की चतुःसीमा' साहित्य के रूप, लेखक की स्वतन्त्रता, राजनीति से साहित्य का सम्बन्ध आदि विषयों के साथ-साथ अनेक सामयिक प्रश्नों पर तर्कपूर्ण विचार किया है। स्वतन्त्र भारत में भाषा की समस्या, राष्ट्र निर्माण और रेडियो आदि। बंगला लेखकों के उपन्यासों पर भी विचार किया है। हिन्दी से केवल प्रेमचन्द पर ही दो लेख हैं। चार लेखों में यूरोपीय लेखकों व रचनाओं पर विचार हैं। कुछ लेख प्रस्तुत विषय के बाहर भी माने जा सकते हैं। सृष्टि क्रम में मनुष्य का स्थान, भारतीय फिल्मों में धींगा-धींगी आदि।

विशेषता यह है कि प्रत्येक विषय पर प्रगतिवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। विषय चाहे भारतीय संस्कृति हो, चाहे विकासवाद और धर्म। अन्तिम लेख में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' द्वारा उठाए गए कुछ प्रश्नों का उत्तर दिया है। विचार मौलिक रूप में रखने की चेष्टा है। यदि लेखक को गाँधीवाद पर आपत्ति है तो उसके स्पष्ट कारण दिए हैं। यदि वे लिखते हैं—"भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में जो सबसे गलत धारणा है, वह यह कि यह आर्यों की संस्कृति है।" अनेक स्थलों पर उनके विचारों से भेद हो सकता है लेकिन उनकी शैली आकर्षक है। लेखक स्वयं उपन्यासकार हैं और अनेक भाषाओं का ज्ञान रखते हैं—इसका उल्लेख भी वे यथास्थान करते गए हैं।

लेखक के ही शब्दों में पुस्तक में "मैंने प्रगतिवादी साहित्य के विभिन्न पहलुओं के साथ ही उसके मूल स्रोतों तक जाने की चेष्टा की है।" —त्रिलोचन पांडे

उपन्यास

रंगरूट—ले०-बरेन बसु, प्रकाशक-पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस बम्बई ४।

यह बँगला उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। इसका कथानक सिपाही जीवन से संबद्ध है। किस प्रकार परिस्थितियों से विवश एक बी० ए० पास युवक अनिच्छा से सेना में भर्ती होता है, उससे कितनी मीठी बातें की जाती हैं, सिपाहियों का पारस्परिक व्यवहार, अफसरों की नीति आदि पर प्रकाश डाला है। सिपाही परिस्थितियों के कारण नैतिक रूप से पतित हो जाते हैं। अफसरों के प्रति सिपाही विद्रोह से भरे रहते हैं क्योंकि उनके जीवन में बहुत भिन्नता है। अन्त में जब अफसर एक सिपाही को बहुत सताना चाहते हैं तो उन्मत्त सैनिक अपने को नहीं रोक पाते। विद्रोह कर बैठते हैं 'अँग्रेज भारत छोड़ो' सूबेदार भागता है, मेजर नेलसन चिल्ला पड़ते हैं।

भाषा रोचक और सरल है। व्यवहार के शब्दों का स्वतन्त्र और यथेष्ट उपयोग है। जिस कारण सजीवता आ गई है। फलतः बिना 'प्रेमकथा' से बोझिल बनाए हुए भी उपन्यास मार्मिक बन गया है।

चोर की प्रेमिका—ले०—रा० कृष्णमूर्ति 'कल्कि' अनु०—सोमसुन्दरम्, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली। पृष्ठ २११, मूल्य ४)

उपन्यास तमिल भाषा से अनूदित है। लेखक 'कल्कि' सर्वश्रेष्ठ गद्य लेखक हैं। यह उनका पहला सामाजिक उपन्यास है जो प्रसिद्धि के कारण नाटक रूपों में भी खेला गया है। सारे कथानक को ५४ शीर्षकों में नाम देकर बाँटा है जिससे कहानी संग्रह का सा भ्रम होता है। पहले अनुच्छेद में लेखक ने कथा नायक का प्रवेश, लोगों के उसके प्रति विचार स्पष्ट कर दिए हैं और लम्बा प्रकृति-चित्रण किया है।

उठाई गई समस्या यह है कि "खुले तौर पर चोरी-डकैती करने वाले ही चोर होते हैं या और लोग भी?" मुत्तय्यन को तो उसकी परिस्थितियाँ ही चोर बनने को बाध्य करती हैं। समाज, नैतिकता व कानून की आड़ में शम्भुलिंगम् चट्टनाथ ऐय्यर जैसे लोग तो सम्मानित हैं पर उनके षड्यन्त्र का शिकार मुत्तय्यन पुलिस की गोली से मारा जाता है! इसका दोष किस पर है?

साथ ही कल्याणी मुत्तय्यन का दैवी प्रेम बहुत करुण है। कल्याणी ही धोखा खाकर उसकी पकड़ का कारण बन जाती है। बाद में पछताती है। नारी हृदय का सुन्दर उद्घाटन हुआ है। शैली सुबोध और मार्मिक है। सजीव शब्द-चित्र तथा स्थान-स्थान पर व्यंग उसमें जान डाल देते हैं। घटनाओं के साथ चित्र भी होने से उपन्यास की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। हिन्दी में ऐसे आकर्षक उपन्यास अभी कम हैं।

—त्रिलोचन पांडेय

बया का घोंसला और साँप—लेखक-श्री लक्ष्मीनारायणलाल, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरो रोड, इलाहाबाद। पृष्ठ १९६, मूल्य ३॥)

'बया का घोंसला और साँप' उपन्यास यथार्थ की पृष्ठ भूमि पर खड़ा हुआ पाठकों के समक्ष एक आदर्श का संकेत उपस्थित करता है। 'सुभागी' जिसका जन्म का नाम 'विपती' था इस उपन्यास का केन्द्र बिन्दु है। सुभागी अपने जीवन पर्यन्त सुभागी नहीं रही अपितु सदैव विपत्तियों के मध्य अपने सत् पक्ष पर डटी हुई दुख समाज से संघर्ष करती रही और उसकी दशा समाज में ठीक वैसी ही रही जैसी कि जहरीले साँप के समक्ष घोंसले में बैठे हुए बया की। आखिर बया घोंसले में चुप रह कर कहाँ तक खैर मनाएगा। लेकिन सुभागी फिर भी निराश नहीं होती।

वास्तव में उपन्यास करुणा एवं आँसुओं से पूर्ण है। समाज में विधवा निस्सहाय तथा निरावलम्ब स्त्रियों के प्रति कितने अत्याचार एवं कुठाराघात किए जाते हैं, उनकी मजबूरियों से समाज कितना नाजायज फायदा उठाना चाहता है (यद्यपि उसके अपवाद भी इस उपन्यास में हैं) —यह सब लेखक ने बड़े कौशल के साथ उपन्यस्त किया है।

—बाँकेलाल [illegible]

विविध

आपका मुन्ना (प्रथम भाग)—लेखिका—श्रीमती सावित्रीदेवी वर्मा, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ २७८, मूल्य ५) सजिल्द।

प्रस्तुत पुस्तक में बाल मनोविज्ञान सम्बन्धी ३८ विषयों पर निबन्ध दिए गए हैं। इनमें बच्चों की देख-रेख और विकास पर सरल भाषा में विचार किया गया है और उन बातों पर प्रकाश डाला गया है जिन्हें स्त्रियाँ जान जायँ तो वे अपने बच्चों का लालन-पालन अधिक सुगमता और सफलता के साथ कर सकें।

बसवेश्वर के चुने हुये वचन—सम्पादक-श्री मै० राजेश्वरय्या। प्रकाशक—वचन मंदिर बेलगाम। पृष्ठ ३६ + १०८ मूल्य १)

श्री बसवेश्वर कर्नाटक प्रान्त के एक बड़े सन्त तथा समाज-सुधारक थे। वे एक बड़े सुभाषितकार भी थे। उन्हीं के प्रतिभापूर्ण वचनों का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। माननीय श्री रङ्गनाथ दिवाकर की भूमिका तथा बसवेश्वरजी की जीवनी सहित यह पुस्तक छापी गई है। मूल वचनों को २७ विभिन्न विषयों में चुन कर संग्रह किया गया है। अनुवाद सुन्दर हुआ है। अन्त में अर्थकोश दे देने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। कन्नड़ भाषा में ऐसे सन्तों और विद्वानों के लिखे हजारों ग्रन्थ हैं। वे हिन्दी में प्रकाशित होते जायें तो बड़ा अच्छा हो। हिन्दी पाठकों को ऐसी पुस्तकें अवश्य अपनानी चाहियें।

१—सर्वोदय का घोषणा-पत्र, २—सर्वोदय के सेवकों से—लेखक-श्री विनोबा भावे, प्रकाशक-सस्ता-साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ६२, मूल्य चार-चार आने।

पहली पुस्तक में चांडिल सम्मेलन में दिए गए विनोबाजी के तीन भाषण हैं जिनमें सर्वोदय का अर्थ विस्तार से समझाया गया है। दूसरी पुस्तक में कार्य-कर्त्ताओं को दिशा-दर्शन कराया गया है। 'सर्वोदय' वर्त्तमान काल में चर्चा और कर्त्तव्य का प्रमुख विषय है। उसे समझने के लिये यह पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

१—अन्तहीन कहानी पहला भाग, २—अन्तहीन कहानी दूसरा भाग, ३—इस दुनिया का चिड़िया खाना—लेखक-श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, प्रकाशक-गोपुलस पब्लिशिंग हाउस लि० बम्बई ४। पृष्ठ ६४, ११२, ५७, मूल्य ॥), १), ॥)

प्रकाशक ने यह सीरीज बच्चों को वैज्ञानिक विषयों का ज्ञान कराने के लिए निकाली है। पहली पुस्तक में प्राणियों के विकास का प्रारम्भिक वर्णन, दूसरी में मनुष्य के विकास के बाद समाज की व्यवस्था और तीसरी में जीव जन्तुओं का इतिहास है।

नव दुर्गा—लेखक-श्री राधेश्याम द्विवेदी, प्रका०-केशव साहित्य कुटीर, केरण (राजस्थान)। पृष्ठ ५८, मूल्य ॥)

इस पुस्तक में भारत की प्रसिद्ध ६ तेजस्वी महिलाओं की परिचयात्मक जीवनी है। पन्नाधाय, रानी दुर्गावती, चाँदबीबी, मेवाड़ की हाड़ी, अहिल्याबाई, ग्वालियर की तारा, पंजाब की चाँद कुँवर, महारानी लक्ष्मीबाई, और सरोजनी नायडू—ये ६ जीवनियाँ इस पुस्तक में संग्रहीत हैं।

महात्मा गाँधी—लेखक-प्रो० नारायण सीताराम फड़के, प्रकाशक-अञ्जलि प्रकाशन लि० बम्बई। पृष्ठ १४१ मूल्य १॥)

महात्मा गान्धी की जीवन-घटना वर्णन करने वाली यह एक प्रसिद्ध पुस्तक है जिसे श्री फड़के ने मराठी में लिख कर हिन्दी में अनुवाद कराया है। नेहरूजी की भूमिका ने पुस्तक की विशेषता दे दी है।

भूदान—लेखक-कैलाश, प्रकाशक-राष्ट्रभाषा प्रकाशन मन्दिर लश्कर। पृष्ठ १४, मूल्य ≡)

मैथली भाषा और साहित्य—लेखक-महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र, प्रकाशक-बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना। पृष्ठ १२

राजस्थानी भाषा-साहित्य—ले०-प्रो० बद्रीदत्त शास्त्री प्रकाशक-बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना। पृष्ठ १२

परशुराम चतुर्वेदी एक परिचय—प्रस्तुत कर्त्ता-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ २४

गोपाल चौरासीजी—रचयिता-श्री मुन्शी गोपाल सहाय श्री वास्तव, प्रकाशक-श्री जगमोहनलाल श्रीवास्तव, भिण्ड। पृष्ठ १४

साहित्य और साहित्यकार—लेखक-त्रिलोकीनाथ वैष्णवी, प्रकाशक-बसन्त आर्ट प्रेस श्रीनगर। पृष्ठ १६

विश्व एकता और शान्ति—लेखक-अनन्तप्रसाद जैन, संयोजक-पटना केन्ट। पृष्ठ १८

भगवान महावीर और उनका साधना मार्ग—लेखक-ऋषभदास रांका, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल वर्धा। पृष्ठ ४७, मूल्य ।)

हमारे बापू—लेखक-श्री कुन्द, प्रकाशक-ग्रन्थागार, पो० बोक्स ६६, जमशेदपुर। पृष्ठ ३१, मूल्य ॥)

झङ्कार—लेखक और प्रकाशक-श्री जगदम्बाप्रसाद सक्सेना, भिण्ड (गवालियर)। पृष्ठ ४१, मूल्य ॥)

लेखक की कविताओं का संग्रह।

मास्टर गाइड-रक्षाबन्धन—लेखक-श्री विनय कुमार गुप्त एम० ए०, प्रकाशक-मास्टर बुक डिपो, इलाहाबाद। पृष्ठ ६६, मूल्य ॥)

स्वर्णाहन (कविता संग्रह)—लेखक-श्री मोहन लाल गुप्त 'करुणेश' प्रकाशक-प्रतिभा प्रकाशन, बड़नगर (मालवा)। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥=)

अवकाश-विचार—लेखक-श्री रामचरण गुप्त, प्रकाशक-विद्यार्थीवृन्द, महात्मा गान्धी हाई स्कूल दुर्ग। पृष्ठ ८, मूल्य -)॥

अध्ययन—ले०-सुन्दरदास बलानी आचार्य, प्रका०-हरिभाऊ सस्ता पुस्तक भण्डार, अजमेर। पृष्ठ ४३, मूल्य ।)

शङ्का-समाधान

कामायनी के सम्बन्ध में—पिछले अङ्क में "वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही……" के समाधान पर श्री गङ्गानगर (राजस्थान) के श्री कुमार प्रियदर्शी लिखते हैं—"जब प्रकृति मनु को हँसती हुई सी लग रही है तो पहचानी हुई भी 'प्रकृति' ही लगनी चाहिए क्योंकि वे उसमें रमण करते रहे हैं।"

— यह आवश्यक नहीं। प्रकृति का हँसना मनु को व्यंग्य लगा है। लगा इसलिए है कि वे विषम वस्था में हैं, प्रकृति प्रसन्न। इसमें वैषम्य है अवस्था-मूलक। चूँकि प्रकृति के लिए ऐसे दृश्य साधारण हैं, वह कितने ही ऐसे प्रलय दृश्य देख चुकी है, इसलिए उल्लास-सा करती है। मनु के लिए एक ही दृश्य भयङ्कर है, क्योंकि वे प्रथम बार देख रहे हैं। प्रसाद का लक्ष्य इन पंक्तियों में व्यक्ति तथा प्रकृति के बीच स्थिति-वैषम्य दिखाना ही रहा है और कुछ नहीं। मनु के हृदय की व्यथा, पर प्रकृति और भी शान चढ़ा देती है—उनका शोक अधिक बढ़ जाता है।

अन्तर—

एक सज्जन ने निम्नलिखित में अन्तर पूछा है—शब्दचित्र, रेखाचित्र, संस्मरण, स्मृतिचित्र, लघुकथा कहानी तथा गद्यगीत।

रेखाचित्र—में एक ही वस्तु या पात्र का चित्र उतारा जाता है, इसमें स्थिरता रहती है, लेखक जमकर एक ही व्यक्ति की चेष्टाओं, आदतों और मनोवृत्तियों का अङ्कन करता रहता है। कहानी में गतिशीलता रहती है, तथा कुछ प्रबन्धात्मक कथन भी रहता है। रेखाचित्र को शब्दचित्र कह सकते हैं किन्तु स्केच के लिए रेखाचित्र शब्द बहु-प्रयुक्त होने से अधिक ग्राह्य है।

संस्मरण और स्मृतिचित्र—इसमें किसी व्यक्ति विशेष के साथ जो लेखक को अनुभव होते हैं उनका वर्णन किया जाता है. इसमें व्यक्ति विशेष की 'स्मृति' दुहराई जाती है. इसीलिए यह स्मृतिचित्र या संस्मरण है, दोनों एक ही वस्तु को निर्देशित करते हैं। संस्मरण सर्वथा भूतकाल की स्मृति में आये चित्रों को सम्मुख लाता है, कहानी किसी भी परिस्थिति की हो सकती है, उसमें विगत, वर्तमान व सम्भावना सब आ जाते हैं। संस्मरण किसी व्यक्ति की निजी विशेषताओं को दुहराकर उसे याद रखने का सफल माध्यम है, कहानी अपने दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने का सफल साधन।

कहानी, लघुकथा—कहानी माडर्न शॉर्ट स्टोरी का अनुवाद है, जो गद्य साहित्य का आधुनिक आविष्कार है। इसे 'लघुकथा' भी कह सकते हैं, पर 'लघुकथाएँ' संस्कृत साहित्य में मिलती हैं। वहाँ आख्यायिका व 'लघुकथा' को अलग-अलग माना गया है। कथा कल्पित और आख्यायिका ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित होती है। आख्यायिका आत्म-कथा के रूप में होती है, 'लघुकथा' किसी के भी द्वारा कही जा सकती है। 'कथा' में वर्णन नहीं रहता, आख्यायिका में रहता है। कथाओं के उदाहरण हैं—गुणाढ्य की बृहत्कथा, पञ्चतन्त्र व हितोपदेश की कथायें, कहानी में ये बन्धन नहीं हैं। उसमें लेखक की वैयक्तिकता विशेष रहती है, प्रवृत्ति घटनात्मक होने पर भी बिना घटना के भी कहानी, कहानी हो सकती है।

गद्यगीत—गद्यगीत काव्य की वस्तु है। उसमें भावोद्वेग रहता है, केवल छन्द 'मुक्त' रहता है, यथा निराला के 'मुक्त गीत', फिर भी इन पद्य-गीतों में एक प्रवाह रहता है, जिसके बिना ये 'गीत' न कहलायेंगे, विषम चरण एवम् गीतकार की इच्छानुसार विराम इसकी दो शर्तें हैं। भावना व कल्पना के साथ प्रवाह का संयोग इसे गीत बनाता है और छन्द की अनुशासन-हीनता इसे गद्य का रूप देती है।

सन्त-साहित्य—

अमृतसर से कुमारी चञ्चला कपूर ने एक प्रश्न पूछा है—'सन्त-साहित्य से क्या अभिप्राय है तथा उसके कौन कौन से माननीय लेखक हैं? क्या तुलसी सन्त साहित्य के अन्तर्गत हो सकते हैं? अगर नहीं तो क्यों? अगर हो सकते हैं तो क्यों?"

—उलझन इसलिए हुई है कि हिन्दी आलोचना में उल्लेख विषय अभीतक विवादग्रस्त है। फिर भी तत्सम्बन्धी अध्ययन करने पर उन्हें स्थूल रूप से यह ध्यान रखना चाहिए कि 'सन्त साहित्य' शब्द को अब एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। सिद्ध नाथों की भाषा व विचार पद्धति की परम्परा में हिन्दी साहित्य के कुछ कवि हुए, जो समाज के प्रायः प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और कुछ विश्वासों में परस्पर सहमत थे। उन्हें 'सन्त' शब्द से सम्बोधित करते हैं। उनकी वाणी का लक्ष्य था—सामाजिक शान्ति तथा एकता। मूलतः इन्हीं को ध्यान में रख कर उनकी ओजस्वी वाणी कहीं खण्डन मण्डन में प्रवृत्त है, कहीं विभिन्न मत मतान्तरों की निस्सारता प्रकट कर एकमूल शक्ति का संकेत करती है जिससे मानवता का कल्याण हो सकता है। इसी प्रकार के विचारों का पोषण करने वाले अनेक सन्त हुए जिनकी रचनाओं को 'सन्त साहित्य' के अन्तर्गत लेते हैं। काव्य के शरीर-सौन्दर्य पर उनका ध्यान बहुत कम रहा है। 'सन्त-साहित्य' से यही अभिप्राय है।

इस साहित्य का हिन्दी में प्रवर्तक और सर्वप्रमुख सन्त कवि है—कबीर। तब दादूदयाल, नानक, रैदास, सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, धरमदास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यह परम्परा १७वीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रहती है। और यारीसाहब, पलटूसाहब, तुलसीसाहब, सहजोबाई आदि की वाणियाँ हैं। इस सम्बन्ध में श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र की 'सन्त साहित्य' पुस्तक द्रष्टव्य है।

तुलसीदास अग्रणी नहीं, हमारे इस अर्थ में 'सन्त' भी नहीं हैं। वे भक्त कवि हैं। भक्त ईश्वर का साकार, सगुण, लीलामय रूप लेकर चला है जबकि सन्त का मार्ग बिल्कुल उलटा है। फिर उनकी रचना सिद्ध नाथों की वाणी से प्रभावित नहीं है। उनकी भाषा, शैली, क्षेत्र और काव्य के उपादान सभी सन्त कवियों से भिन्न हैं। इसी कारण गोस्वामी तुलसीदास को सन्त कवि नहीं माना जाता।

संयोग समय—

श्री रामाधर उसोंडे तापिया (छिंदवाड़ा) से लिखते हैं:—महादेवीजी एक स्थान पर लिखती हैं:—

तुम हो प्रभात की चितवन
मैं विधुर निशा बन जाऊँ।
काटूँ वियोग पल रोते,
संयोग समय छिप जाऊँ॥

समझ में नहीं आता संयोग-समय महादेवीजी क्यों छिपना चाहती हैं?

—यह कवयित्री की व्यक्तिगत मानसिक स्थिति एवम् निजी दृष्टिकोण के कारण है। महादेवी के अनुसार वियोग में पीड़ा रहती है जिसकी कसक मधुर एवं चेतना को जागरूक रखने वाली होती है। मिलन का अर्थ है—१—गति का अन्त हो जाना, २—व्यक्तित्व की परिसमाप्ति हो जाना। महादेवी उक्त दो कारणों से मिलन नहीं चाहती तथा प्रिय के वा[रण]···प्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न वियोग की पीड़ा को हृदय में सहेज रखना चाहती हैं। उन्होंने लिखा है कि मुझे बचपन में हृदयविक प्यार व स्नेह मिला है, अभाव नामक वस्तु कभी अनुभव ही नहीं की। अतः उसकी प्रतिक्रिया में स्यात् वे करुणा व पीड़ा से अधिक प्रेम करने लगी हैं। संयोग हो जाने पर उनकी चिर प्रिय पीड़ा के समाप्त हो जाने का भय है, अतः वे संयोग समय छिप जाना चाहती हैं।

कुछ विचारकों ने इस प्रश्न का उत्तर कवयित्री के व्यक्तिगत जीवन में खोजा है। महादेवी को लौकिक जीवन में भी वियोग का विषम भार उठाना पड़ा है। उन्होंने अपने स्वाभिमान को पीड़ा के पालने में पाला है। समर्पण उनके व्यक्तित्व के विरुद्ध है। अतः 'चिर-सुन्दर' की स्मृति में घुलते रहना उन्हें प्रिय है, उन्हें वियोग-साधना में निमग्न रहना इष्ट है। समर्पण द्वारा प्राप्त संयोग का आनंद उन्हें प्रिय नहीं, तभी लिखा है:—

तुम अमर प्रतीक्षा हो, मैं
पग विरह पथिक का धीमा।
बढ़ते चलते मिट जाऊँ,
पाऊँ न प्रेय की सीमा॥

REGD. No. 263. SEPTEMBER 1953. LICENSE NO. 16
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

साहित्य सन्देश

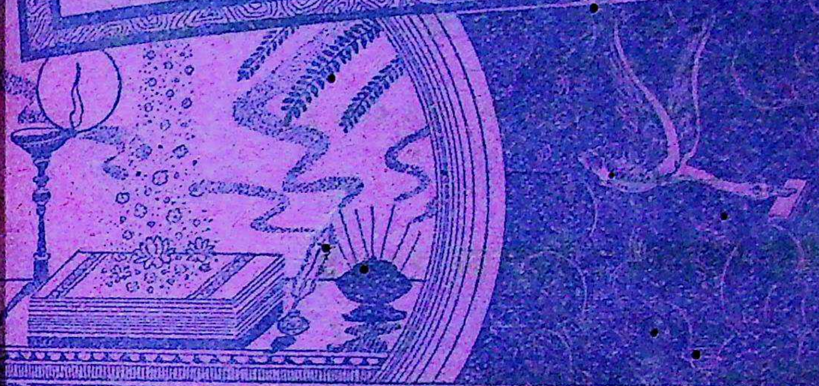
वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क ४



[वा]र्षिक मूल्य ४)] आगरा—अक्टूबर १९५२ [एक अङ्क का ।=

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३०-तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी-कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।



वर्ष १५] आगरा—अक्टूबर, १९५३ [अङ्क ४

हमारी विचार-धारा

ग्राम पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें—

यह बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है कि उत्तर प्रदेशीय सरकार प्रतिवर्ष लगभग ४०—५० हजार रुपया व्यय करके हिन्दी की नयी पुस्तकें अपने ग्राम पुस्तकालयों के लिए खरीदती है। इस वर्ष भी यह पुस्तकें खरीदी जायंगी। उत्तर प्रदेश के ही नहीं सारे देश के प्रकाशक इस निमित्त विचारार्थ अपनी पुस्तकें "शिक्षा प्रसार आफीसर, उत्तर-प्रदेश, इलाहाबाद" के पते पर भेज सकते हैं। पुस्तकें वहाँ १५ नवंबर १९५३ तक पहुँच जानी चाहिए।

इस सम्बन्ध की जो विज्ञप्ति यू० पी० गजट में छपी है उसमें पुस्तकों के मूल्य की सीमा बाँध दी है। आठ आने से कम और दो रुपये से अधिक मूल्य की पुस्तकें नहीं खरीदी जायेंगी। हमारी राय में यह कैद बाँधना उचित नहीं। ऐसी पुस्तकें हो सकती हैं जो इस से कम या अधिक मूल्य की हों और जिनका इन पुस्तकालयों में रखना आवश्यक और उपयोगी समझा जाय। हम यह मानते हैं कि कम मूल्य की अधिक पुस्तकें खरीदी जा सकती हैं पर उसके लिए नियम बनाना उचित नहीं। अच्छा हो यदि सरकार इस विषय पर पुनः विचार करके इस विषय में परिवर्तन कर दे और हिन्दी की सभी पुस्तकों पर विचार करे।

नई दिल्ली में हिन्दी भवन—

जिसके लिए संसद-सदस्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी गत एक वर्ष से प्रयत्न कर रहे थे—उस हिन्दी भवन की ८ अक्टूबर को प्रेमचन्द दिवस पर स्थापना हो गई। अभी इसके लिए सरकारी भवन के दो कमरे दिये गए हैं जिनमें एक में पुस्तकालय की स्थापना की जायगी और दूसरे में हिन्दी सेवियों को मिलने बैठने की सुविधा दी जायगी। इस अवसर पर राष्ट्रपति ने अपना एक सन्देश दिया था। चतुर्वेदीजी की इस सफलता पर उन्हें बधाई है। साथ ही यह आशा भी है कि निकट भविष्य में ही हिन्दी भवन की अपनी इमारत होगी और वह राष्ट्रभाषा के अनुरूप होगी।

अँग्रेज़ी बनाम हिन्दी—

भारतीय हिन्दी परिषद के पटना अधिवेशन में उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने सभापति के आसन से भाषण देते हुए कहा कि यदि आप अंग्रेजी की शीघ्र समाप्ति के लिए जोर देते जायँगे तो हिन्दी को उससे कोई लाभ नहीं वरन् हानि ही होगी। उससे राष्ट्रीयता को धक्का लगेगा और प्रादेशिकता फैलेगी।

मुन्शीजी ने अंग्रेजी की समाप्ति पर जोर देने का खतरा तो बतला दिया किन्तु उसकी समाप्ति पर जोर न देने में भी खतरा है—उसकी ओर भी ध्यान आकर्षित करना आवश्यक था। वह खतरा यह है कि बड़े स्थानों से ऐसे कहे हुए वाक्य अंग्रेजी प्रेमियों के हिन्दी न सीखने के आलस्य को प्रोत्साहन देंगे और जब राष्ट्रभाषा घोषित होने के तीन वर्ष बाद भी 'धीरे चलो' की चेतावनी दी जाय तो प्रगति में बाधा अवश्य पड़ेगी। यह बात नहीं कि राज्यपालजी हिन्दी का हित नहीं चाहते वरन् उनको यह आशङ्का होती है कि शायद अंग्रेजी के बिना काम न चले और अन्य प्रान्त हिन्दी को न स्वीकार करें। अंग्रेजी के बिलकुल बहिष्कार की बात कोई नहीं कहता किन्तु जब तक यह भावात्मक रूप से न कहा जाय कि हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान दिया जाय, सरकारी पत्र-व्यवहार हिन्दी में हो और उच्च शिक्षा भी उसके द्वारा दी जाय तब तक हिन्दी अपना उचित स्थान पन्द्रह वर्ष के भीतर नहीं प्राप्त कर सकेगी। हिन्दी साम्राज्यवाद की विभीषिका वृथा ही खड़ी करदी गई है। हिन्दी वाले कभी यह नहीं चाहते कि अन्य प्रान्तीय भाषा फलें-फूलें नहीं। वे बढ़ें और उनमें साहित्य सृजन हो किन्तु देश में एकसूत्रता बढ़ाने और वैज्ञानिक और साहित्यिक प्रयत्नों में एकसूत्रता उत्पन्न करने के लिए देश में एक राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता है। अंग्रेजी की समाप्ति में शीघ्रता न करने की चेतावनी उसे पुनर्जीवन प्रदान करना है। अंग्रेजी का यदि कुछ अस्तित्व रहेगा तो गौण ही रहेगा।

मुन्शीजी ने जो दूसरी बात कही कि संस्कृत और प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन पर जोर दिया जाय—इसका हम स्वागत करते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि जहाँ तक हो भाषा को लचीली बनाया जाय जो दूसरी भाषा के शब्दों को आत्मसात् कर सके किन्तु यह कार्य सप्रयत्न न होना चाहिए और न ऐसा होना चाहिए कि हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध पड़े।

मुन्शीजी के भाषण में यह भी महत्व की बात है कि केवल शब्द कोष बनाने से ज्ञान कोष नहीं बनता। इसीलिए तो हिन्दी में उच्च साहित्य के रचे जाने की आवश्यकता है किन्तु जब अंग्रेजी को प्रोत्साहन दिया जायगा तब यह कैसे सम्भव होगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जब तक अंग्रेजी नहीं हटेगी, तब तक हिन्दी की माँग न बढ़ेगी।

बारह सूत्री योजना—

उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने काशी में एक सभा करके हिन्दी प्रचार की एक बारह सूत्री योजना बनाई है। योजना इस प्रकार है—

१—हिन्दी साहित्य की अध्ययन गोष्ठियाँ सङ्घटित की जायँ।
२—विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में हो।
३—हिन्दी की रङ्गशाला चेतन की जाय।
४—नए लेखकों के ग्रन्थ पाठ्यक्रम में रखे जायँ।
५—वादों के फेर में न पड़ें।
६—पाठ्य पुस्तकों में प्रधान कवियों की रचनायें अवश्य रखी जायँ।
७—एक ऐसा विद्वन्मण्डल सङ्घटित किया जाय जो सब नव निर्मित ग्रन्थों का परीक्षण करके श्रेष्ठतर ग्रन्थों के प्रकाशन की स्वीकृति दे और नए ग्रन्थों के लिये लेखकों को विषय दे।
८—हिन्दी सप्ताह मनाया जाय।
९—हिन्दी शिक्षण के निःशुल्क विद्यालय (मिशनरी ढङ्ग पर) खोले जायँ।
१०—गन्दे लेखकों की गन्दी कृतियों का सामूहिक तथा सार्वजनिक विरोध हो।
११—संस्कृत के अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ाई जाय।
१२—हिन्दी लिखने पढ़ने और बोलने की अभिरुचि, छात्रों, अध्यापकों तथा जनता और अधिकारियों में उत्पन्न की जाय।

तुलसी-स्मारक—

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का स्मारक बनाने का निश्चय उत्तर प्रदेशीय सरकार कर चुकी है—यह समाचार हम दे चुके हैं। अभी तक ऐसा मालूम होता है कि यह स्मारक राजापुर में बनाने की चर्चा है। कमेटी क्या निर्णय करती है—यह तो आगे ज्ञात होगा पर यह विषय है विवाद ग्रस्त ही। यह प्रस्ताव भी आया है कि गोस्वामीजी का स्मारक काशी में बनाया जाय जहाँ गोस्वामी बहुत दिन रहे और जहाँ उन्होंने शरीर छोड़ा। जन्म के नाते से सोरों, रहने के कारण राजापुर और शरीरपात के सम्बन्ध से काशी, तीनों का हक बराबर है। अब सोचने की बात यह है कि यह सौभाग्य किस स्थान को दिया जाय। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि स्मारक यदि काशी में बनाया जाय तो उसका महत्व बढ़ेगा। परन्तु हमारी सम्मति में इस विचारास्पद विषय पर अभी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। इस बीच धन संग्रह होता जाय तो लाभ ही है। स्मारक गोस्वामीजी के अनुरूप होना चाहिए। ऐसी दशा में धन बहुत अपेक्षित होगा और उसका मिलना कठिन नहीं होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में हमें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि बनारस के एक हिन्दी प्रेमी और गोस्वामीजी के भक्त ने संगमरमर के १००० शिला खण्डों पर खुदवाकर पूप रामचरित मानस तैयार किया है और उन्होंने यह १००० शिला खण्ड तुलसी स्मारक में लगाने के लिए प्रदेशीय सरकार को देना निश्चित कर लिया है। उपर्युक्त महानुभाव की परम उदारता और उनकी सूझ की हम हृदय से प्रशंसा करते हैं और उन्हें अनेक बधाई देते हैं। यह निश्चित है कि इन शिला खण्डों से स्मारक का रूप बहुत भव्य और अनुपम हो जायगा।

हमारा निबन्ध साहित्य—

निबन्ध को गद्य की कसौटी कहा गया है। हमारे निबन्ध साहित्य से हमारे गद्य की सम्पन्नता आंकी जा सकती है। हमारा निबन्ध साहित्य बहुत अंश में साहित्यिक विषयों की ओर अधिक झुक रहा है। हमारे साहित्यिक अवश्य उच्च कोटि के होते हैं किन्तु साहित्यिक विषयों में ही रुचि का सीमित होजाना हमारी जीवन सम्बन्धी रुचि की दरिद्रता का द्योतक है। हमारे निबन्धों में अभी जीवन की अने[क]रूपता नहीं उतर पाई है। हमारे आजकल के मनीषी न तो जीवन के गम्भीर पक्षों से इतने प्रभावित हो रहे जितना कि एक सजीव जगत के विचारकों को होना चाहि[ए] और न वे जीवन के हास्यमय पक्ष की ओर आकर्षित हु[ए] हैं। हमारे साहित्यिकों को चाहिए कि वे जाति के शिक्ष[क] बनें। जो लोग उच्च शिक्षा के लाभ से वञ्चित रहे हैं, जिन्हों[ने] वनस्पति शास्त्र, प्राणिशास्त्र, भूगर्भ विद्या, अर्थशास्त्र, पुरा[]तत्व का अध्ययन नहीं किया है उनको वे ज्ञान विस्तार और विचार उत्तेजक सामग्री निबन्ध की सहज और स्वच्छ[न्द] हृदय के द्वार खोलने वाली आकर्षक भाषा में दे तावि[क] जन साधारण का मानसिक धरातल ऊँचा उठे। ज्ञान का कभी कभी दुरुपयोग अवश्य होता है किन्तु ज्ञान से कर्तव्य-बुद्धि भी जाग्रत होती है। वैज्ञानिक विषयों को रोचक और साहित्यिक भाषा में लिखा जा सकता है किन्[तु] तभी जब साहित्यिक वैज्ञानिक बने और वैज्ञानिक साहित्[य] का भी अनुशीलन करें। अभी तो जिन के पास ज्ञान है उनके पास वाणी का प्रसाद नहीं और जिनके पास वाय[ी] की सम्पत्ति है उनका ज्ञान का भण्डार संकुचित है।

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।'

रिसीवर से मुक्ति—

इधर कई वर्ष से अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पार्टीबन्दी के झगड़े और मुकद्दमेबाजी के कारण उसके प्रधान कार्यालय और सारे कार्य पर हाईकोर्ट द्वारा रिसीवर बैठा दिया गया था। कई वर्ष से यह रिसीवर [] सम्मेलन का कार्य कर रहा था। हर्ष और सन्तोष की बा[त] है कि इलाहाबाद की, शायद दोनों पार्टियों ने मिलक[र] प्रार्थना की और श्रद्धेय टण्डनजी ने उसकी वकालत [की] जिसके फलस्वरूप अदालत ने रिसीवर को हटा दिया और सम्मेलन का प्रबन्ध फिर जनता के हाथ में आ गया। इ[स] अवसर पर हम इलाहाबाद के साहित्यिक नेताओं से प्रार्थना करेंगे कि वे सम्मेलन का काम थोड़ा स्वार्थ छोड़ कर क[रें] और पुनः उसको पार्टी के दलदल में फँसने से बचावें

यह समय है जब हिन्दी को ऊँचा उठाना है, और दस-बारह वर्ष की थोड़ी-सी निश्चित अवधि में बहुत बड़ा काम करना है। सम्मेलन हिन्दी की सबसे बड़ी संस्था है, उसकी बड़ी जिम्मेवारी है। काम इलाहाबाद वालों को ही करना है, ऐसी दशा में उन्हें अपनी जिम्मेदारी का ध्यान करके ऐसे ढङ्ग से कार्य करना चाहिए जिससे सम्मेलन का गौरव भी न घटे और हिन्दी की समुचित सेवा भी हो सके। आशा है कि सम्मेलन के जो कार्य अभी तक पूर्ण स्वतन्त्र न होने के कारण स्थगित रहे वे अब चालू कर दिये जायँगे।

पाठ्य-पुस्तकों के लिए पुरस्कार—

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने घोषणा की है कि वह २५ हजार के २५ पुरस्कार उन पुस्तकों पर पुरस्कार-स्वरूप प्रदान करेगी जो विभिन्न विषयों पर बी० ए० की परीक्षा के स्तर की पाठ्य-पुस्तकों को हिन्दी में लिखेंगे। पुरस्कार प्रतियोगिता के रूप में होंगे और उनका निर्णय उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा निर्मित कमेटियाँ करेंगी। सरकार की इस घोषणा की हम प्रशंसा करेंगे और यह आशा करेंगे कि इस निमित्त अच्छी से अच्छी पुस्तकें हिन्दी निकल सकेंगी। सरकार की घोषणा के अनुसार यह पुरस्कार केवल उत्तर प्रदेशीय लेखकों को ही मिलेगा। सुझाव यह आए हैं कि प्रदेश से बाहर के उन स्थानों के लेखक क्यों इस सुविधा से वंचित किए जायँ जहाँ उत्तर-प्रदेश के विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेज हैं। हम समझते हैं यह माँग सर्वथा उचित है और इसे मान लेना चाहिए।

आन्ध्र : नया प्रान्त—

१ अक्टूबर से हमारे देश में आंध्र का एक नया प्रदेश बन गया। भाषावार प्रान्त बनाने की जो चर्चा वर्षों से चल रही है, तेलुगु भाषी आन्ध्र प्रांत को भाषा के अनुसार प्रांत बनाने का सौभाग्य सबसे पहले प्राप्त कर सके, इसके लिए हम आंध्र वासियों को बधाई देते हैं। भाषावार प्रांत बनाना हितकर होगा या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर तो समय देगा। परंतु इस समय इस प्रांत के उद्घाटन का स्वागत सबने किया है और सभी ने अपनी मंगल कामनाएँ भेजी हैं। हम भी इसका स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि तेलुगु के साथ ही हिंदी का भी वहाँ पूरा विकास होगा।

हिन्दी में तार—

हिंदी के प्रचार के लिए जो काम सरकार कर रही है, उनमें हिंदी में तार भेजने की सुविधा का भी एक महत्व-पूर्ण कार्य है। अभी यह सुविधा बहुत ही कम स्थानों को मिल पाई है—फिर भी हिंदी में तारों का प्रचार तेजी से बढ़ रहा है। हाल ही में जो आँकड़े सरकार की ओर से प्रकाशित हुए हैं वे पूर्ण संतोषजनक तो नहीं पर उत्साह-वर्द्धक अवश्य हैं। हमें दुःख इस बात का है कि जिन स्थानों से जिन स्थानों को हम हिंदी में तार भेज सकते हैं वहाँ भी हम हिंदी में न भेज कर अँग्रेजी में भेजते हैं। यद्यपि हिंदी के तार पहले भेजे जाते हैं और जल्दी पहुँचते हैं।

अपने विषय में—

कई महीने से बड़ी शिकायत थी कि साहित्य-सन्देश की छपाई ठीक नहीं है। वास्तव में उसका टायप बहुत घिस गया था। टायप जुलाई में नए वर्ष के प्रारम्भ में बदल जाना चाहिए था। परन्तु कई असुविधाओं के कारण ऐसा नहीं हो पाया। अब इस अङ्क से पाठकों की इस शिकायत को हमने दूर कर दिया है। छपाई भी सुधारने चेष्टा की जा रही है। अगले अङ्क में पाठक और भी परिवर्तन पावेंगे। कागज में कुछ सुधार हो गया है। और भी सुधार करना हम चाहते हैं, पर वह अभी सम्भव नहीं दिखाई देता।

इस अवसर पर हम अपने उन अनेक मित्रों, हितैषियों, और ग्राहक-अनुग्राहकों के प्रति अपना हार्दिक आभार भी प्रकट कर देना चाहते हैं जो समय-समय पर साहित्य-सन्देश के प्रचार में हमारा हाथ बँटाते रहते हैं अथवा अपने सुझावों द्वारा साहित्य-सन्देश को उन्नत बनाने में सहायक बनते हैं। 'शङ्का-समाधान' के नवीन स्तम्भ का सभी ओर से भारी स्वागत हुआ है। हम पाठकों की निरन्तर और अधिकाधिक सेवा की भावना रखते हैं और उनसे पूर्ण सहयोग की आशा करते हैं।

ध्वनि और ध्वनि-काव्य

प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम०.ए०, साहित्य-रत्न

'शब्द' की विवेचना करते हुए कुछ वैयाकरणों ने 'ध्वनि' को सार्थक और निरर्थक शब्दों से पृथक् माना है। घण्टे की आवाज, पत्ती के पङ्खों की फड़फड़ाहट तथा वीणा का नाद ध्वन्यात्मक शब्दों के अन्तर्गत ही माने गये हैं। कुछ के विचार से वर्ण भी एक ध्वनि ही है। 'अ' या 'क्' के उच्चारण करने में जो नाद-श्वासात्मक ध्वनि निकलती है, वही वैयाकरणों का 'स्फोट' है।

संस्कृत वाङ्मय में 'ध्वनि' की विवेचना काव्य शास्त्रियों और वैयाकरणों ने अपने-अपने ढङ्ग से की है। वैयाकरणों में भर्तृहरि और और काव्य शास्त्रियों में आनन्द-वर्धन का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। सारांश यह है कि वैयाकरण जिसे 'स्फोट' कहते हैं, काव्य शास्त्री उसे 'ध्वनि' संज्ञा से अभिव्यक्त करते हैं।

वैयाकरणों का 'स्फोट वाद' बताता है कि 'कमल' शब्द का उच्चारण क्रमशः क, म और ल वर्णों के बोलने पर निर्भर है। 'कमल' शब्द के उच्चारण में क् , अ, म् , अ, ल् , अ मूल वर्णों का क्रमशः उच्चारण होता है। जब मुख से उक्त ६ वर्ण निःसृत होते हैं तब वे क्रमशः उच्चारण श्रोता के मानस-पटल पर अपना प्रभावमय संस्कार स्थापित करके लुप्त हो जाते हैं। फिर उन छओं वर्णों का संस्कार शब्द बनकर उसका अर्थ-बोध कराता है। यही 'स्फोट' नाम से पुकारा जाता है। वैयाकरणों के अनुसार हम कह सकते हैं कि 'ध्वनि' वर्णों द्वारा अभिव्यञ्जित स्फोट ही है। वैयाकरणों की ध्वनि यदि वर्णोद्भूत है तो काव्यशास्त्रियों की शब्दार्थोत्पन्न। ध्वनि वादी काव्यशास्त्रियों में 'मम्मट' 'आनन्दवर्धन' 'अभिनवगुप्त' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने 'ध्वनि-सिद्धान्त' के स्वरूप को स्पष्ट करने में वैयाकरणों के 'स्फोट-सिद्धान्त' से पर्याप्त सहायता ली है। यदि हम यह कहदें कि मूलतः 'ध्वनि-सिद्धान्त' वैयाकरणों के 'स्फोट-सिद्धान्त' का ऋणी है तो अत्युक्ति नहीं मानी जा सकती।

स्फोट या ध्वनि दोनों में ही 'अनुरणन' या 'ध्वनन' का भाव निहित है। वैयाकरणों ने यदि वर्ण के अनुरणन को वहीं देर तक सुना है तो ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों ने शब्द के अर्थ के ध्वनन को बहुत आगे तक विचारा है। परन्तु ध्वनिवादियों के विचारने में सौन्दर्यानुभूति अर्थात् रमणीयता का भाव निहित है। वैसे तो वामन की गुण-रीतियाँ, मम्मट की वृत्तियाँ, दण्डी के अलङ्कार आदि सब काव्यात्मा रस के उपकारक हैं परन्तु ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन की ध्वनि लावण्यरूप (विभाति लावण्य-मिवाङ्गनासु) में रसानुभूति के लिए पाठक के मन को जो प्राणदायिनी शक्ति देती है वह वस्तुतः नितान्त अभिनव एवं लोकोत्तरानन्दपूर्ण है। इसकी लोकोत्तरानन्दपूर्णता रमणीयता का पर्याय ही है। इसीलिए ध्वनिवादियों ने रमणीयता के विचार से काव्य के तीन भेद किए हैं। और इनमें ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य माना है—(१) ध्वनि काव्य (उत्तम)। (२) गुणीभूत व्यंग्य काव्य (मध्यम)। (३) चित्रकाव्य या अलङ्कार काव्य या अवरकाव्य (अधम)। इस विभाजन में ध्वनि की प्रधानता, गौणता और अनस्तित्व ही मूलाधार है। यदि व्यंग्यार्थ का काव्य में अस्तित्व ही नहीं है तो वह अधम काव्य कहलाने का अधिकारी है। यदि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का अस्तित्व अधिक चमत्कारी है तो वह काव्य उत्तम है और यदि व्यंग्यार्थ गौण है तो वह गुणीभूतव्यंग्यकाव्य मध्यम श्रेणी का माना जायगा। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि (व्यंग्यार्थ) ध्वनिवादियों में काव्यात्मा के रूप में स्वीकृत हुई है और उत्तम काव्य की कसौटी मानी गई है।

शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं। इन्हें व्यापार नाम से भी अभिहित किया गया है। किसी-किसी आचार्य ने इन तीन शक्तियों (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) को वृत्तियाँ भी कहा है। वास्तव में इनका विख्यात और लोकप्रिय नाम शक्तियाँ ही है। अभिधा शक्ति का दूसरा

नाम 'मुख्या' भी है क्योंकि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ बोध कराने में मूलरूप से अभिधा ही मुख्य है। यद्यपि लक्षणा से लक्ष्यार्थ और व्यञ्जना से व्यंग्यर्थ का बोध होता है किन्तु इन दोनों अर्थों में अभिधा मुख्यार्थ का आधार-बोध अवश्य रहता है। कोई भी लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ नितान्त रूप से अभिधा को त्याग कर नहीं चल सकता।

'ध्वनि' का सम्पूर्ण भवन व्यञ्जना अथवा व्यंग्यार्थ की आधारशिला पर ही बना हुआ है। व्यञ्जना-शक्ति एक ऐसा अञ्जन है कि इसकी सहायता से सुविज्ञ पाठक को काव्य का व्यंग्यार्थ दृष्टिगोचर होने लगता है और तब वह काव्य की रमणीयता में आत्मविभो जाता है। प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार भी 'व्यञ्जना' शब्द का अर्थ विशेष अञ्जन (काजल) ही है—वि + अञ्ज् + ल्युट् + टाप् = व्यञ्जना। इस व्यञ्जना से शब्दार्थ इतना रमणीय, मधुर, आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण दिखाई देने लगता है कि उसके आगे वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ निष्प्रभ तथा नगण्य हो जाते हैं। अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ शब्द के अर्थ को चमत्कार के मार्ग पर इतना आगे नहीं ले जातीं जितनी कि व्यञ्जना। इसीलिए व्यञ्जना-शक्ति शब्द और अर्थ दोनों का ही व्यापार मानी गई है। मम्मट ने लिखा भी है—"योऽर्थस्यान्यार्थ धीहेतुर्व्यापारो व्यक्तरेव सा"।

—काव्यप्रकाश

ध्वनि-सिद्धान्त के विख्यात आचार्य आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ, सूच्यार्थ, ध्वन्यार्थ, आक्षेपार्थ आदि) को ही काव्य में विशिष्ट माना है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनि रिति सूरिभिः कथितः॥

—ध्वन्यालोक उद्योत १, श्लोक १३

महाकवियों की वाणी में यह प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार चमकता है जिस प्रकार अँगना (स्त्री) के प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त लावण्य। यह लावण्य अवयवों के साथ होते हुए भी उनमें सबसे अधिक आकर्षक और प्रभाव-शाली होता है। ठीक उसी प्रकार काव्य में रीति, गुण, अलङ्कार आदि के साथ ध्वनि रहती हुई भी सबसे अधिक कान्तिमयी और मनोहर होती है। वह सबके साथ रहती तो भी उसकी छटा पृथक ही होती है। वह तुलसीदासजी के शब्दों में भिन्न और अभिन्न दोनों ही है। ध्वनिकार के मत से वाच्यातिशायी व्यंग्य ही ध्वनि है। ध्वनिकाव्य वह है जिसमें व्यंग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक होता है।

नायिका ने दूती से कहा कि 'तू वापी में स्नान करने नहीं गई थी वरन् उस अधम के पास गई थी'—

"वापी स्नातुमितोऽगतासिन पुनस्तस्याधम स्यान्तिकम्।"

—काव्यप्रकाश

मम्मट के उक्त उदाहरण में आये हुए 'अधम' शब्द का व्यंग्यार्थ ही प्रधान है। नायिका 'अधम' शब्द का प्रयोग करते हुए यह व्यंग्यार्थ प्रकट करती है कि "मेरा पति अपत्नीव्रत और चरित्रहीन है। आज तूने उसी के साथ सम्भोग किया।" यह व्यंग्याथ चमत्कारक है। अतः यहाँ ध्वनि का अस्तित्व एवं प्राधान्य होने के कारण ध्वनि-काव्य है।

कैकेयी की आज्ञा के अनुसार राम, सीता और लक्ष्मण अयोध्यापुरी से चार का राज्य त्याग कर बटाऊ की नाईं वन को चल दिये। कोमलाङ्गिनी रघुवीर-वधू सीता पुर से थोड़ी ही दूर चली होंगी कि थक गईं और प्रियतम रामचन्द्र से पर्णकुटी बनाने का स्थान पूछने लगीं। इस भाव को महात्मा तुलसीदास ने कवितावली के इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"पुर तें निकसी रघुवीर वधू,
धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की,
पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है चलनो अब केतिक,
पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥*

* तुलसी का सवैया राजशेखर कृत बालरामायण के निम्नाङ्कित श्लोक का छायानुवाद है—

"सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी,
सीताजवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।

उपर्युक्त दुर्मिल सवैया में सीता और राम का पारस्परिक प्रेम व्यंग्यार्थ के रूप में अभिव्यञ्जित है। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से कई गुना चमत्कारक है। अतः उक्त सवैया ध्वनिकाव्य का एक सुन्दर उदाहरण माना जायगा।

यदि किसी काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से कम या समान चमत्कारक हो, वहाँ ध्वनिकाव्य न होकर गुणीभूत व्यंग्य काव्य होगा। निम्नाङ्कित दोहे में वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक है—

"उड़े विहग वन-कुंज में, यह धुनि सुनि ततकाल।
सिथलित तन विकलित भई, गृहकारज-रत बाल॥"

वाच्यार्थ—वन-कुञ्ज में पक्षियों के उड़ने की ध्वनि सुन कर गृहकार्यरत बाला व्याकुल हो गई। पक्षियों की फड़फड़ाहट ने ही बाला को बेहोश कर दिया। कोमलता की हद हो गई।

व्यंग्यार्थ—संकेत-स्थल पर प्रियतम पहुँच गया क्योंकि कुञ्ज से पक्षी उड़े हैं। गृहकार्य में संलग्न बाला अभी नहीं पहुँच पायी। अतः वह व्याकुल है।

उक्त दोनों अर्थों में वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी है। इसलिए गुणीभूतव्यंग्य नाम का मध्यम काव्य है। यदि व्यंग्यार्थ का अस्तित्व न हो और केवल शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार ही प्रधान हो तो वहाँ चित्रकाव्य होता है। निम्नाङ्कित उदाहरण चित्रकाव्य का है—"चचा के चौड़े चबूतरे पर चूहा चूँ चूँ कर रहा था"। इसमें न व्यंग्यार्थ प्रधान है और न वाच्यार्थ। केवल शब्दालङ्कार है। 'च' वर्ण की अनेक बार आवृति के कारण वृत्यनुप्रास है।

व्यञ्जना-शक्ति का निवास कभी रस-धारा में होता है तो कभी भाव-धारा में। वह अपना आसन कभी अलङ्कार में जमाती है तो कभी वस्तु (विचार, घटना आदि) में। अतः व्यंग्य की प्रकृति के दृष्टिकोण से ध्वनिकाव्य के चार भेद हैं—

(१) भावध्वनि (२) रसध्वनि (३) अलङ्कार ध्वनि (४) वस्तु धर्म।

यदि किसी काव्य में स्थायीभाव परिपक्व न हो, वह रस पद को न पहुँचे, केवल भाव उद्बुद्ध मात्र ही रह जाय तो वहाँ भाव ध्वनि होती है। ध्वनिवादियों के अनुसार देवादि विषयक रति, गुरुओं के प्रति क्रोध, दुष्ट एवं अत्याचारी की मृत्यु पर शोक आदि का वर्णन रस की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। यदि दो विरोधी भाव एक साथ वर्णित होंगे तो वे अपरिपक्व स्थायीभाव के रूप में ही रहेंगे। उस दशा में वहाँ भावध्वनि ही मानी जायगी। परशुरामजी को लक्ष्मण पर क्रोध तो आता है परन्तु विश्वामित्र के शील के प्रभाव से दब कर रह जाता है, परिपक्व होकर रौद्र-रस नहीं बन पाता। अतः निम्नाङ्कित अर्द्धाली भाव-ध्वनि का उदाहरण है—

"उत्तर देत छाँड़ौं बिनु मारे।
केवल कौशिक शील तुम्हारे॥"
(रा० च० मा० बाल काण्ड)

रस-ध्वनि में विभावानुभाव सञ्चारी के संयोग से स्थायीभाव परिपक्व होकर पूर्णतः रस संज्ञा का अधिकारी बन जाता है। भाव (स्थायी या सञ्चारी) सदैव व्यंग्य होते हैं वाच्य नहीं। इसी प्रकार रस भी व्यंग्य ही होता है, कथित नहीं। आश्रय, आलम्बन एवं अनुभावों के द्वारा पाठक का हृदयस्थ स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर रस बन जाता है। निम्नाङ्कित दोहे में सीता आश्रय और राम आलम्बन हैं। सीता का राम को देख कर तुरन्त पृथ्वी की ओर दृष्टिपात करना अनुभाव है। इसी दृष्टि-निक्षेप में सञ्चारी भाव 'लज्जा' भी व्यंग्य है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार-रस ध्वनि की धारा में पाठक अवगाहन करता है। तुलसी की शब्दावली में उसी ब्रह्मानन्द सहोदर की अनुभूति कीजिए—

"प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मण्डल डोल॥"
(रा० च० मा० बाल काण्ड)

केवल उद्दीपन और केवल अनुभाव द्वारा भी रस-ध्वनि की काव्य में स्थापना हो जाती है।

यदि व्यंग्यार्थ के रूप में कोई अलङ्कार ध्वनित हो तो वहाँ अलङ्कार ध्वनि होती है। यह वाक्य-गत भी होती है और पद-गत भी। सूरदासजी के निम्नाङ्कित पद में

* गन्तव्य मद्य कियद्दित्य सकृद् ब्रुवाणा,
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥"

अलङ्कार-ध्वनि है—

"तब ते इन सबहिन सचु पायौ।
जब ते हरि सन्देस तिहारो सुनत ताँवरो आयौ॥
फूले व्याल दुरे ते प्रकटे पवन पेट भरि खायौ।
फूले मिरगा चौंकि चखन तैं हुते जो वन बिसरायौ॥
ऊँचे बैठि विहङ्ग-सभा बिच कोकिल मङ्गल गायौ।
निकसि कन्दरा ते केहरी हू माथे पूँछ हिलायौ॥
गहवर तैं गजराज निकसि कैं अँग अँग गर्व जनायौ।
'सूर' बहुरि हौ कह राधा के करिहौ बैरिन-भायौ॥"

—सूरसागर

उक्त पद में शुक, सर्प, केहरी, गज, कोकिल आदि अप्रस्तुतों (उपमानों) का इस प्रकार वर्णन है कि प्रस्तुतों (उपमेयों)—राधा के केश, नेत्र, वाणी, नाक, कमर, चाल आदि—का भान स्वतः हो जाता है। अप्रस्तुतों की प्रशंसा के कारण यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसालङ्कार स्पष्ट है। परन्तु यहाँ यह ध्वनित है कि ये उपमान राधा के अङ्गों के आगे हीन हैं। अतः उक्त पद में वस्तुतः प्रतीपालङ्कार (तृतीय प्रतीप) की ध्वनि है।

जहाँ किसी बात, घटना, परिस्थिति आदि की व्यञ्जना हो वहाँ वस्तुध्वनि होती है। यह भी पदगत और वाक्यगत होती है—

"कैसे बँधायौ जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो।"

—रामचन्द्रिका

हनुमान के कथन में यहाँ ध्वनि यह है कि 'तू मारा जायगा'। हनुमानजी कहते है कि 'हे रावण! मैंने तेरी स्त्री को देखने का पाप किया। अतः उसके फलस्वरूप मैं बाँधा गया। इसका व्यंग्यार्थ यह है कि जब पराई स्त्री के देखने से प्राणी बाँधा जाता है तब तू तो घोर पाप के कारण मारा जायगा क्योंकि तू ने तो पराई स्त्री हरी है और जबरदस्ती अशोक वन में बन्दिनी भी बना रक्खी है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है अथवा नहीं। आनन्दवर्द्धन ने तो ध्वनि को काव्यात्मा ही माना है। यदि हम आनन्दवर्द्धन का न्यायसंगत समर्थन करें तो यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि 'रसध्वनि' काव्य की आत्मा है। अलङ्कार-ध्वनि और वस्तुध्वनि लावण्य की भाँति मानी जायगी।

ध्वनि वादियों ने अपने उदाहरणों से ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयत्न तो किया परन्तु वे 'लावण्यमिव अङ्गनासु' लिखकर वास्तविक तथ्य को स्वीकार कर ही बैठे। वस्तुतः रस काव्य की आत्मा है और ध्वनि लावण्य, जो शरीरगत होता है। लावण्य आत्मा के सहारे ही कान्तिमान् रहता है। शरीर से आत्मा निकल जाय तो लावण्य का नाम निशान भी नहीं रहेगा। मृत शरीर के सब अवयव रहते हैं परन्तु एक आत्मा के न रहने पर सारे अवयव आकर्षण हीन हो जाते हैं। इसके साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि दिव्यात्मा दिव्य शरीर में ही प्रतिष्ठापित होती है। सीता के रूप-सौन्दर्य का महत्त्व, उसका शील और चरित्र, उसकी उदात्त भावनाओं आदि का स्थायी प्रभाव उसके लावण्य और अवयवों पर बहुत कुछ निर्भर है। अतः रस यदि साध्य है तो गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि साधक हैं। गुण, रीति, अलङ्कार और ध्वनि में ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए काव्य में रस के उपरान्त 'ध्वनि' का ही नम्बर है। यह लावण्य ही नहीं वरन् एक ऐसी अद्भुत प्राणशक्ति है जो काव्य में रस को भी बल और ओज प्रदान करती रहती है। यद्यपि मुकुल भट्ट, कुन्तक और भट्टनायक ने ध्वनि का विरोध किया था परन्तु तो भी 'ध्वनि-सिद्धान्त' सम्प्रदाय के रूप में आगे भी चलता रहा। यह उसकी लोकप्रियता और सारगर्भिता का ही कारण था। आज भी 'ध्वनि' काव्य में अपना अलग अधिकार जमाये हुए है।

क्या महाकवि सूरदास साम्प्रदायिक थे ?

श्री सहदेवप्रसाद सिंह 'देव' एम० ए०, बी० ए० 'आनर्स'

इधर कुछ दिनों से महाकवि सूरदास की आलोचना साम्प्रदायिक कवि के रूप में की जा रही है। कहा जाता है सूरदास की रचनाएँ वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही की गयी हैं तथा सूर का एक मात्र उद्देश्य वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रचार था। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। महाकवि के विषय में ऐसी भ्रान्त धारणाएं सूर-साहित्य के छिछले ज्ञान का ही परिचायक है। यह बात अवश्य है कि वल्लभ के सिद्धान्त ने सूर की प्रतिभा को एक विद्दिप्त दीक्षा दी। दीक्षा भर दी। सूर ने अपने को वल्लभ-सम्प्रदाय की चहारदीवारी में कैद नहीं किया। हम आगे देखेंगे कि वल्लभ के सिद्धान्त की लीक पीटने की बात ही क्या स्वयं महाकवि ने अपनी ओर से उसमें बहुत कुछ जोड़ा है एवं उसे पूर्ण बनाया है। वस्तुतः वल्लभ ही धन्य थे कि उन्हें सूर ऐसा दिव्य कवि मिला जिसने उसके सिद्धान्त को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी एवं उसे उत्तरी भारत की जनता के गले का कण्ठहार बना दिया। सूर का व्यक्तित्व और विषय ही ऐसा था कि उसमें साम्प्रदायिकता के लिए स्थान ही नहीं था। गऊघाट के प्रथम भेंट में ही वल्लभ की तत्वदर्शी आँखों ने सूर की इस प्रतिभा का साक्षात्कार कर लिया था और उन्हें घिघियाना छोड़ कर सरस लीला-गान का आदेश दिया था।

साहित्य और दर्शन का सम्बन्ध चोली-दामन का-सा होता है। दर्शन की नींव पर ही काव्य की अट्टालिका खड़ी की जाती है। दर्शन से रिक्त साहित्य चिरस्थायी नहीं हो पाता। यही कारण है कि प्रत्येक कवि सत्य की अभिव्यक्ति के लिए एक दर्शन को अपनाता है। अतः किसी दर्शन के मात्र पृष्ठ-पोषण से किसी कवि को हम साम्प्रदायिक नहीं कह सकते। साम्प्रदायिक हम उसे ही कहेंगे जो किसी एक दर्शन को ही पूर्ण मान ले शेष को अपूर्ण। वस्तुतः कोई भी दर्शन पूर्ण नहीं होता; क्योंकि दर्शन की प्रतिष्ठा करने वाला मानव ही अपूर्ण है। सभी दर्शन सत्य के किसी एक अंश का विवेचन मात्र होता है। सूरदास में ऐसी कट्टरता का सर्वथा अभाव है। इन्होंने वल्लभ को अपना आचार्य माना है—'श्री वल्लभ गुरुतत्व सुनायो लीला भेंट बतायो"। सूर ने परब्रह्म जगत जीव, माया आदि का विवेचन वल्लभ के शुद्धाद्वैत के अनुसार ही किया है। यह बात प्रसिद्ध है—पंक्तियाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ मुझे कहना यह है कि जब महाकवि भावावेश में आते हैं तो सब प्रकार के बन्धनों से ऊपर उठ जाते हैं। वे साम्प्रदायिक न रह कर सार्वभौम बन जाते हैं। अतः सूरसागर में कवि ने अपने को अपने गुरु के सिद्धान्तों में ही नहीं बाँध रक्खा है। वे प्रायः सभी वैष्णव सिद्धान्तों के उत्तम तथ्यों को ग्रहण करते दीख पड़ते हैं। निम्बार्क ने भक्तों के लिए प्रपत्ति के छः अङ्गों का विवेचन किया है। सूरसागर में प्रपत्ति के अङ्गों के अनुसार भी पद लिखे गये हैं। स्थानाभाव के कारण सम्पूर्ण पद न उद्धृत कर, केवल प्रथम पंक्ति उद्धृत की जाती है—

निम्बार्क के अनुसार प्रपत्ति के अङ्ग—सूरसागर में

१—अनुकूल्य सम्बन्ध—"जैसे राखहु तैसे रहिहौं।"
२—प्रतिकूल वर्णन—"सोई कछु कीजै दीन दयाल"
३—ईश्वर रक्षा में विश्वास—"तुम हरि संकट को साथी"
४—गोपतत्व वर्णन—"दीनानाथ अब बारि हमारी"
५—आत्म निक्षेप—"कृपा अब कीजै बलि जाऊँ"
६—कार्पण्य—'नाथ सकौ तो मोहि उबारो"

सूरदास ने माया का जो वर्णन किया है उसे वल्लभ की अविद्या एवं शंकर की माया दोनों कहा जा सकता है।

महाकवि ने आँख मूँद कर वल्लभ के सिद्धान्त को नहीं अपनाया। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में सूर ने अपनी ओर से भी कई मौलिक उद्भावनाएँ कीं। वल्लभाचार्य कृष्णभक्ति में केवल वात्सल्यरति को ही प्रधानता देते थे। गोपियों के संयोग सुख एवं वियोग दुख को आदर्श मानते हुए भी

[illegible] का उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पाया। वल्लभ-सूर के गोपियों के प्रेम को शृङ्गार-रति से भिन्न मानते थे। सूर ने शृङ्गार-रति को भी भक्ति-रस के अन्तर्गत माना है। इन्होंने वल्लभ-के वाल-रति के अलावा शृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग रति को भावना की उच्च भाव भूमि पर चित्रित कर रस कोटि तक पहुँचाया है। वल्लभ-सम्प्रदाय में सूर की यह एक महान देन है। भागवत में गोपियों को कृष्ण से सम्बोधित करने वाले चीरहरण और रास के सदृश दानलीला, पनघट लीला आदि नये रूपकों की उद्भावना कर सूर ने कृष्ण-कथा को उच्च आध्यात्मिक भाव-भूमि पर रखने का प्रयत्न किया। नये मौलिक तथ्यों को प्रकटाने में साम्प्रदायिक सिद्धान्त सूर के मार्ग में रोड़े नहीं बनते। कृष्ण और गोपियों के विवेचन में वल्लभ एवं भागवत दोनों से सूर की स्वतन्त्रता स्पष्ट देखी जा सकती है। सूर सागर की राधा एवं गोपियों के भाव भागवत और वल्लभ के विवेचन से आगे की चीज है। वल्लभाचार्य ने गोपियों को श्रुति कहा है। भागवत में देवताओं के अवतार के रूप में गोपियों का चित्रण हुआ है। इन दोनों से प्रभावित होते हुए भी सूर ने गोपियों को अभिन्न रूप में उपस्थित किया है। सूर की गोपियाँ सामान्य जीव हैं। वे सहज ही कृष्ण के रूप पर आसक्त हो तन्मयावस्था को प्राप्त हो जाती हैं। महाकवि ने अपने रूपकों में भगवान और जीव के इसी सम्बन्ध को चित्रित किया है। कवि के इसी तथ्य को न समझने के कारण इनकी आलोचना में शुक्ल जी ऐसे आलोचक भी भटक गये और अप्रासंगिक रूप में तुलसी से इनकी तुलना कर इनके वियोग-वर्णन को अस्वाभाविक विषय-संकुचित और एकांगी आदि क्या क्या नहीं कहा। यहाँ इस प्रसंग की विस्तृत आलोचना के लिए अवकाश नहीं है। यहाँ तो साम्प्रदायिकता की दृष्टि से ही सूर की आलोचना अभीष्ट है।

तो हमने देखा कि सिद्धान्त के क्षेत्र में सूर कट्टर नहीं हैं। वल्लभ को गुरू मानते हुए भी इन्होंने अपने को उन्हीं तक सीमित नहीं रख कर अन्य वैष्णव आचार्यों से भी बहुत कुछ लिया है। आराध्यदेव के विषय में भी सूर कट्टर नहीं थे। सूर कृष्ण भक्त थे। कृष्ण के भी बाल रूप पर ही सूर फिदा थे। इतना होते हुए भी सूर राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं मानते थे। सूर सागर को उल-टने पर ऐसे अनेकों पद मिलेंगे जिसमें कृष्ण-राम एकाका[र] हो गये हैं। कृष्ण का वर्णन करते-करते वे राम का वर्णन करने लगते हैं। सूर सागर के—'राम भक्त वत्सल नि[ज] बानौं' 'कलि में राम कहे जो कोई' आदि टेक से प्रारम्भ होने वाले कृष्ण सम्बन्धी पदों में राम का नाम अनायास ही आ गया है। आराध्य देव की कट्टरता सूर से अधिक तुलसी में थी जिनका माथा धनुषवाण लेने पर ही नवता था। तुलसी ने राम की स्तुति में कृष्णावतार का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। तुलसी के अनुकूल आलोचकों का कहना है कि उन्होंने काल-दोष से बचने के लिए ही ऐसा किया है। लेकिन ये केवल कहने की बातें हैं। काल-दोष बचाते हुये वे ऐसा कर सकते थे। और जैसा मुन्शीराम शर्मा 'सोम' ने निर्देश किया है—"ब्रह्म की स्तुति में काल-दोष कैसा ?" लेकिन सूर ने कृष्ण की स्तुति में राम से कृष्ण को अभिन्न कर दिया है। उदा-हरण के लिये—"जय माधव गोविन्द मुकुन्द हरि" टेक वाले पद में आगे—"श्री रामचन्द्र राजीव नैन वर" का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

यहीं तक नहीं। बाल कृष्ण के सञ्चारियों के चित्रण द्वारा भी सूर ने दोनों में तादात्म्य स्थापित किया है। यशोदा कृष्ण को पालने में सुला रही है। नटखट कृष्ण लोरी सुनते-सुनते अर्द्धचेतन्न अवस्था को प्राप्त हो रहा था। वह निद्रादेवी की गोद में जाने ही वाला था। यशोदा उसे राम की कथा सुना रही थी। सीताहरण के प्रसङ्ग आते ही कृष्ण की निद्रा भङ्ग होगयी। वे चौंक कर उठ बैठे। लक्ष्मण को पुकार कर धनुष वाण माँगने लगे—

"रावण हरण करयौ सीता को,
सुनि करुणामय नींद बिसारी।"

सूरदास ने राम का उल्लेख केवल कृष्ण के प्रसङ्ग में नहीं किया है। सूरसागर के नवम् स्कन्ध का विषय राम-गाथा ही है। अतः सिद्धान्त और आराध्यदेव दोनों ही दृष्टि से सूर साम्प्रदायिक नहीं थे।

जिस तरह तुलसी ने राम के लिए शिव, गणेश

हनुमान आदि का कथन किया। इसी प्रकार सूर ने भी कृष्ण के अतिरिक्त गोपियों द्वारा शिव, सूर्य, गौरी आदि की प्रार्थना करवायी है। सूर सागर को उलटिये उसमें राम, कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों को भी सूर ने नहीं छोड़ा है। फिर तुलसी पर साम्प्रदायिकता का आरोप नहीं तो सूर पर क्यों ?

जिस प्रकार तुलसी ने महाभारत की उक्ति के आधार पर शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया है—

"शिव द्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपने मोहि न पावा॥"

उस प्रकार सूर ने भी—

"सूरदास के हृदय बसि रह्यो
श्याम शिव को ध्यान"

विद्यापति, चन्द, तुलसी आदि ने विष्णु और शिव की एक ही छन्द या पद में एक साथ श्लेष अथवा रूपक अलंकार के द्वारा स्तुति की है—उदाहरण के लिए विद्यापति के इस पद को ले सकते हैं—

भल हर भल हरि भल तुव कला,
खनहिं पित बसन खनहिं मृगछला।
एक रूप दुई वास,
खनहिं बैकुण्ठ खनहिं कैलाश॥

सूर ने भी उत्प्रेक्षा अलङ्कार के द्वारा कृष्ण को महेश के वेश में चित्रित किया है। उदाहरण के लिए निम्न टेक वाले पद देखे जा सकते हैं—

'बरनौं बाल वेष मुरारी'

या—

'सखी री नन्द नन्दन देखु'

अतः सूर पर साम्प्रदायिकता का आरोप व्यर्थ है। वे महाकवि थे, भावक कवि भक्त थे और अपने प्रिय विषय पर उनकी लेखनी रुकना ही नहीं जानती थी।

(पृष्ठ १५० का शेषांश)

"विहरत रस भरि लाल बिहारी,
ज्यों ज्यों घन गरजत हैं,
त्यों त्यों लिपट रहत पिय प्यारी।
होड़ा होड़ी घन दामिनि सों,
केलि करत सुखकारी।
बोलत मोर दामिनी चमकत,
लखि उमगत रस भारी।"

ऐसे संयोग-सुख के समय नायिका का चमकती दामिनी के प्रति उपालम्भ कितना स्वाभाविक है—

"दामिन बैर करै बिनु बात,
घिघन बनत बिनु बात।
कुञ्ज में ज कब चमकात,
निधरक जुगल रहन नहि पावत,
प्रगटावत रस बात
हरीचन्द आखिर तो चपला,
सहि नहिं सकत सिहात।"

संयोग में जो घन सुखदायी थे वे ही वियोग में दुखदायी होगए—

"सखि ये बदरा बरसन लागे री।
मोहि मोहन पिय बिनु जानि,
झुकि झुकि कै सरसन लागे री।"

ऋतु वर्णन भी भारतेन्दु ने परम्परित रूप से ही संयोग-वियोग दोनों ही पक्षों में उद्दीपनकारी के रूप में किया है।

सेनापति पर एक समीक्षात्मक दृष्टि

प्रो० रमाशङ्कर तिवारी एम० ए०, डिप०-एड०

'कवित्त-रत्नाकर' पर दृष्टि-निक्षेप करने से सेनापति-काव्य के दो स्वरूप स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं—प्रथम भक्ति और द्वितीय शृङ्गार। दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी-साहित्य ने अपने कीर्तिमान स्थापित किए हैं। एक ओर सूर और तुलसी ने परात्पर ब्रह्म का मानवीकरण कर, उनके लोक-संवेद्य सौन्दर्य, माधुर्य एवं सामर्थ्य का मंजुल प्रत्यक्षीकरण किया है तो दूसरी ओर बिहारी, मतिराम प्रभृति रससिद्ध कवीश्वरों ने "सरस राग, रति रङ्ग" में आप्राण डुबकी लगा कर ऐसे अंगूरी आसव का उत्पादन किया है जिसका आस्वादन कर लेने पर अन्य कवियों की सूक्तियाँ निबौरी जैसी कड़वी प्रतीत होती हैं। यह स्पष्ट ही है कि सेनापति की कविता सम्बद्ध क्षेत्रों में हमारे सुपरिचित धरातल तक नहीं पहुँच पाती। 'कवित्त-रत्नाकर' की चौथी और पाँचवी तरङ्गों में सेनापति की आर्त्त-भावना मुखर हो उठी है। विभिन्न देवों के प्रति उन्होंने जो प्रणति निवेदन किया है उसमें सचाई का यथेष्ट परिमाण विद्यमान है। "कीनौ बालापन बाल केलि मैं मगन मन" शीर्षक छन्द में कवि ने जीवन की क्षणभंगुरता की तुलना लोहे के ताव से की है तथा "सुरसरि-नीर" की जीभ के लिए अवलेह बनाने का उपदेश दिया है। संसार की अनित्यता से क्षुब्ध हो कर जब भक्त भगवान के लोकोपकारी स्वरूप की ओर देखता है तो उसके हृदय में अपूर्व आशा का सञ्चार होने लगता है और वह सर्वत्र उस करुणा-वरुणालय अखिलेश की निस्सीम करुणा का दर्शन करता है। सेनापति भी अपने लौकिक दुःखों और कल्मषों के शमनार्थ भगवान की भक्त-वत्सलता का स्मरण करते हैं—

"मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख हैं।"

'राम-रसायन' में दैन्य एवं पश्चात्ताप के व्यञ्जक अनेक कवित्त हैं। तुलसी के ही जैसे स्वर में सेनापति अपने को रामचन्द्र जी के दरबार का सेवक कहते हुए क्रूर कलि-काल को प्रखर चुनौती देते प्रतीत होते हैं—

"एरे कलिकाल ! मोहिं कालौ न निदरि सकै,
तू तौ मतिमूढ़ अति कायर गँवार को।
सेनापति निराधार, पाइपोस—बरदार,
हौं तौ राजा रामचन्द्र जू के दरबार को।"

इन उद्धरणों के प्रकाश में, प्रो० उमाशङ्कर शुक्ल की यह धारणा निस्सार नहीं प्रतीत होती कि "सेनापति की भक्ति-भावना में हृदय की तल्लीनता है और अनुभूतियों में सचाई है।"

किन्तु, जैसा अनुमान किया गया है, सम्भव है, ये भक्तिमूलक उद्गार कवि के जरा-जर्जर मानस की उपज हों, जब कि "मदन दरद की अमर मूरि नागरी" के प्रशस्ति-गान के अनन्तर स्वाभाविक रूप से उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई हो। यह भी सम्भव है कि कबीर, सूर, तुलसी प्रभृति अमर गायकों की महनीय साधनाओं की साध सेनापति जैसे रीतियुगीन कवियों के मानस को यदा-कदा प्रक्षुब्ध वा प्रलुब्ध करती होगी और इसीलिए परिस्थितियों की लपेट में पूर्णतया अधिग्रस्त होने पर भी, इन कतिपय रसिक कवियों को भक्तिभाव-समन्वित कुछ पद वा छन्द रचने की प्रेरणा प्राप्त हो जाती रही होगी। अतएव, सेना-पति के 'कवि' का प्रकृति स्वरूप भक्तिमूलक रचनाओं में उपलब्ध नहीं है। वास्तव में, 'कोरे कागद' लिख कर शपथ खाने की भक्त-प्रवृत्ति उनकी काव्य-रचना के मूल में कार्यशील नहीं थी। प्रसिद्ध ऋतु-वर्णन में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें उनकी शृङ्गार-निष्ठता निस्सन्दिग्ध रूप से व्यञ्जित हो उठी है। शरद के जलविहीन, कान्तिहीन मेघों में कवि उन "कलशाकार कुचों" का दर्शन करता है जो यौवन-काल में समस्त दुग्ध-राशि की वर्षा कर वार्धक्य में ढल गए हों; हेमन्त में शीत के आधिक्य के कारण उष्णता ने क्रमशः सूर्य, अग्नि और रुई का परित्याग कर अन्ततः "त्रिया के ऊँचे कुच-कनकाचल" रूपी दुर्ग में अखण्ड राज्य स्थापित कर लिया है। किं बहुना,

सों, उरोज लागि होत है दुसाल तेरे" में कवि की घोर शृङ्गारिकता प्रस्फुटित हुई है। ऐसी हालत में सेनापति के 'कवि' को भक्ति का जामा पहनाना युक्तिसङ्गत नहीं होगा। अतएव, सेनापति को शृङ्गार की भूमिका में रख कर ही परखना समीचीन है।

किन्तु, कवि की शृङ्गार-निष्ठा के ऊपर भी एक अन्य केन्द्रीय मनोवृत्ति का शासन स्पष्टतः अभिलक्षित हो रहा है वह है उसकी गर्वीली चमत्कार-प्रियता जिसमें अधिकांशतः वाग्वैदग्ध्य का मनोरम प्रस्फुटन हुआ है। तत्कालीन वातावरण और काव्य-रुचि भी चमत्कार को प्रश्रय देती थी। दण्डी और भामह के आदर्शों में दीक्षित कवि के लिए अलङ्कार वर्णन-शैलियाँ नहीं अपितु वर्ण्य-वस्तु थे।† काव्य की मर्यादा उसके निकट चमत्कार-प्रदर्शन में ही सन्निहित है—

"सेनापति बैन मरजाद कविताई की जु
हरि रवि अरुन तमी कौं बरनत हैं।"

सुतरां, शृङ्गार के ललित क्षेत्र में भी सेनापति प्रेम-प्रवण हृदय की मञ्जुल अभिलाषाओं एवं स्वप्निल स्थितियों का उन्मीलन नहीं कर सके। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपनी काव्य-रचना में सदैव 'सेल्फ-कॉन्शस' रहा है, वह नवल नागरी की आंगिक एवं मानसिक मधुरिमा का दर्शन करते समय अपने को विस्मृत नहीं कर सका है जो प्रकृष्ट कला के प्रसव के लिए नितान्त वांछनीय है—"अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अङ्ग।" कवि के सौन्दर्य-चित्रण पर विचार करते समय आलोचक की दृष्टि उसकी अक्खड़, चमत्कार-प्रवण प्रवृत्ति की ओर बरबस आकृष्ट हो जाती है। विभिन्न अङ्गों के लिए पृथक-पृथक उपमान जुटाने के बदले, उसे नायिका के सम्पूर्ण शरीर की ही समता के लिए चित्र-विचित्र उपमानों के संयोजन में विशेष आनन्द आता है। कहीं उसकी नवनारी मदन की वाटिका बन जाती है, और कहीं नवग्रहों की माला कहीं अमीरों का शमादान, कहीं इन्द्र की अमरावती, कहीं चौपड़, कहीं महाभारत की सेना बन जाती है। ऐसे अप्रस्तुतों की कल्पना केवल मस्तिष्कीय चमत्कार की उपज है, इनसे हृदय की अनुभूति का वास्तविक सम्बन्ध भी नहीं जोड़ा जा सकता। इन प्रसंगों में उपमेय-उपमान में सादृश्य का साधर्म्य का सर्वथा अभाव रसोद्रेक में नितान्त असमर्थ बन जाता है। ऐसी वैचित्र्य-पूर्ण योजनाओं से हम क्षण भर के लिए चमत्कृत अवश्य हो जाते हैं, किन्तु इनसे हमारे हृदय का कोई कोना स्पर्श नहीं होता। श्लेष का प्रबल सम्मोह कवि की गर्वि[ली] प्रकृति के साथ संयुक्त होकर इन भद्दे प्रदर्शनों की प्रेरणा देता है। इसी कारण प्रो॰ उमाशंकर शुक्ल का अनुमान है कि "यदि सेनापति ने बीसवीं शताब्दी में कविता की होती तो उन्हें संभवतः उनकी नायिका या तो बम्ब बरसाते हुए किसी हवाई जहाज के समान जान पड़ती अथवा सायंकाल के समय बिजली की रोशनी में जगमगाते हुए किसी बाजार के रूप में दिखलाई पड़ती।" यही नहीं, एक अन्य आलोचक के अनुसार नारी उन्हें "टारपीडो, मृत्यु-किरण और आटम बम्ब" के रूप में दिखाई पड़ती। शृङ्गार के कोमल कमनीय क्षेत्र में मस्तिष्कीय करामात दिखलाने [से] रसिकता की प्राणात्मा पर ही आघात पहुँचता है। चमत्का[र] की यह प्रवृत्ति सेनापति में इतनी जागरूक है कि षोडशी में भी उन्हें नब्बेवर्षीया बुढ़िया का दर्शन होता है। सहृदय की सहृदयता पर इससे बढ़कर और क्या अत्याचार हो सकता है?

किन्तु, उपर्युक्त विवेचन से हमारा यह मन्तव्य नहीं है कि सेनापति के चमत्कार-प्रवण मानस में भाव-प्रवणता का उद्रेक सर्वथा कुण्ठित हो गया था। विपरीत इसके उनकी रचनाओं में "भावुकता एवं चमत्कार-निपुणता का उत्कृष्ट योजना" मिलती है। उनके अलङ्कारों के सरस साज* में न केशव का सा वाग्जाल है, न बिहारी की सी ऊँची उड़ान। निम्नस्थ अनुच्छेदों में सेनापति की भावुकता का अनावरण किया गया है।

नवल प्रेयसी के स्वरूप-सङ्घटन में सेनापति [ने] परम्परामुक्त कल्पनाओं का आश्रय ग्रहण किया है। उनकी कुन्दन-वर्ण वाली नायिका के "दीरघ, ढरारे, अनियारे, नैक रतनारे" नयन प्रिय की छाती में तिरछे गड़ जा[ते]

† प्रो॰ उमाशङ्कर शुक्ल—'कवित्त रत्नाकर' की भूमिका।

* "संख्या करि लीजै अलङ्कार हैं अधिक यामैं,
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज कौं।" 'क॰ र[त्नाकर]'

हैं तथा घूँघट की ओट में से अगणित कामियों का निष्प्रयोजन वध करते हैं; उसके चिकने, अँधियारे, सटकारे केश अन्तरिक्ष में लटकने वाली कालिन्दी की श्यामल धार के समान शोभायमान हैं; कुच-द्वय मानों "मदन मतङ्ग" के दो कुम्भ हैं; हास का प्रकाश मानों सुधाधर-चन्द्रमा का सरस विलास है।

सेनापति को इस प्रेमिका की मादक छवि का प्रचुर अनुभव प्राप्त है। वयःसन्धि-प्राप्त नवयौवना के "दिपति ताफ़तारङ्ग" ने बिहारी की रसिकता को उद्बुद्ध किया; शृङ्गार-पयस्विनी के प्रथम प्रवर्त्तक मैथिल-कोकिल की आन्तर सुकुमारता में शैशव एवं यौवन की प्रतिद्वन्द्विता ने मधुर अनुरणन उत्पन्न किया। सेनापति ने भी शैशव-निशा के अवसान और यौवन-दिन के उदय की मध्यवर्ती "प्रभात की भाईं" के रूप में सुषुप्त महाराज अनंगदेव के नव-जागरण का दर्शन किया है—

"काम भूप सोवत सो जागत है।"

"प्रभात की भाँईं" में सहृदयों के लिए प्रभूत आकर्षण है। पुनः कवि का निरीक्षण देखिये—'काम-भूप जग रहा है', अभी पूर्णतया जग नहीं चुका है। अनङ्ग-जागरण के इसी अनवरत विकास-क्रम के कारण बिहारी के 'चतुर चितेरों' को हतबुद्धि हो जाना पड़ा।

शृङ्गार के गार्हस्थिक स्वरूप की रक्षा अन्य रीति-कालीन कवियों की भाँति सेनापति ने भी की है। किञ्चित् मुड़कर, अञ्चल के आवरण में मन्द मुसकान करने वाली नवयौवना की उत्फुल्लता का एक मंजुल चित्र देखिए—

"सेनापति कमल से फूलि रहैं अञ्चल मैं,
रहैं दृग चञ्चल दुराए हू न दुरि कै।"

इसमें न केवल बाह्य, चक्षुग्राह्य उत्फुल्लता का चित्रण है, अपितु नव-बाला की आन्तर प्रोत्फुल्लता की ओर भी कलात्मक संकेत है। इसी प्रकार कटाक्षों के तीक्ष्ण 'तीरत्व' के अतिरिक्त कवि ने उनके एक परम सुकुमार धर्म, "प्रेम रस बरसौहीं", की भी व्यञ्जना की है। 'सैन' करते हुए प्यारी के नयन "मेरे मन के खिलौना" हैं—'मन के खिलौना' में कितनी मधुर व्यञ्जना है! अबोध बच्चे खिलौनों से खेलते हैं, यहाँ युवक प्रणयी का मन नवल प्रेमिका के नेत्रों से खेलता है, उरझता है, फँसता है। ये खिलौने निर्जीव नहीं, प्रत्युत निरन्तर प्राण-शीलता से युक्त हो कर नायक के मन को अधीर करने वाले हैं।

स्वाभाविक सौन्दर्य के वर्णन संख्या में अत्यन्त अल्प होते हुए भी, नितान्त सजीव एवं मौलिक बन पड़े हैं। शृङ्गार-सज्जा से विहीन एक सौन्दर्य-चित्र का यों अङ्कन हुआ है—नायिका, स्नानोपरान्त, "लाल मनरञ्जन" से मिलने की प्रतीक्षा में, चौकी पर बैठे अपनी सघन, श्यामल चिकुर-राशि सुखा रही है। उसकी तात्कालिक निर्मल, नैसर्गिक सुषमा ताल, गीत आदि बन्धनों से रहित गायक की कमनीय अलाप जैसी हृदयाकर्षक लग रही है—

"ताल गीत बिन, एक रूप कै हरति मन,
पर बीन गायन की ज्यौं अलापचारी है।"

यद्यपि मूर्त्त के लिए अमूर्त्त की योजना से, सामान्य पाठक सहज भाव से इस सहज सौन्दर्य को हृदयङ्गम नहीं कर सकते, तथापि सङ्गीत-मर्मज्ञ, सुधी सहृदयों से उस नवं-रूपसी का वह चित्र कथमपि 'मिस' नहीं हो सकता। बिहारी इत्यादि कवियों ने नायिका की समस्त छवियों का मंजुल उन्मीलन किया है; कोई ऐसी स्थिति नहीं, कोई ऐसा 'पोज़' नहीं जिस पर उनकी रसिक दृष्टि न रमी हो। जैसा ऊपर कहा गया है, सेनापति की गर्विष्ट, चमत्कार-प्रिय चेतना सौन्दर्य—चक्षुग्राह्य सौन्दर्य ही क्यों न हो—की पूर्ण विवृति की दिशा में बाधक सिद्ध हुई। बिहारी-सतसई के समान ललित चित्रों की 'गैलरी', कवित्त-रत्ना-कर में उपलब्ध नहीं है। किन्तु, कुछ-कुछ अपनी प्रकृति के ही कारण, सेनापति उन दोषों से मुक्त-प्राय रह सके हैं जो बिहारी की रचना को दूषित करते हैं। गर्भिणी के क्लान्त शरीर में रति-सम्भोग-जन्य शैथिल्य का दर्शन करना, और नायिका का, प्रिय के अधरामृत के आस्वाद के लालच से उसके द्वारा चूमे गये शिशु-मुख को चूमना जैसी रस-विरोधी योजनाओं का सेनापति में अभाव ही है। नव-जात शिशु को स्तन-पान कराने वाली नवल नारी

के सौन्दर्य ने सेनापति को भी आकर्षित किया है। † किन्तु उनकी इस परम स्वाभाविक कलापूर्ण चित्र में 'मातृत्व' की, श्रृङ्गारिकता की लपेट में, हत्या नहीं की गई है। कवि ने नारी के गोपनीय लोक में, सौन्दर्य-चयन की प्रेरणा से, अवश्य प्रवेश किया है, किन्तु, उसने उस "मयंक मुखी", नवमातृत्व-प्राप्त नारी की निजी नैसर्गिक भावनाओं की विकृति नहीं की जैसा विहारी ने किया है।

कतिपय स्थलों पर सेनापति ने प्रणयानुरक्त हृदय में झाँकने का भी सफल उपक्रम किया है। ऐसे प्रसङ्गों में कवि की भावुकता का मंजुल प्रकाशन हुआ है। नेत्रों के कृतित्व का एक सुन्दर चित्र देखिए—प्रेमिका के हठीले, चपल, नयन प्रिय के कमल-मुख की शोभा के "सुधा-कीच" में जा फँसे। उसने तब मन रूपी मतङ्ग को नेत्रों के उद्धारार्थ भेजा, किन्तु वह स्वयं "नेह-आँदू उरझान्यौ है"—उस 'पकज-पङ्कों में मन रूपी गज को चलाने के बाद उसका लौटना असम्भव हो गया, अब तो नेत्रों के समेत मन भी उस कीच में धँस गया—

"पंकज की पंक मैं चलाए गज की सी भाँति,
मन तौं समेत नैन तहाँ मस सान्यौ है।"

मन का इस सुधा-कीच में फँस जाना ही प्रणय-मार्ग का चरम उत्कर्ष है। नेत्रों से ही प्रेम का अनुष्ठान प्रारम्भ होता है और मन की अनुरक्ति ही उसकी पावन पूर्णाहुति है। मन की विवशता की कितनी मार्मिक व्यञ्जना इस चित्र में हुई है।

जब इस आसक्ति का रङ्ग गाढ़ा हो जाता है, उसमें घनत्व का उदय हो जाता है तब प्रिय से सम्बन्धित गली-कूँचे, नर-नारी सभी प्रिय लगने लगते हैं। 'मन-भावन' की मुसकान के चित्त में चुभ जाने पर—

"तेरे नेह नाते, तेरे लागत परौसी प्यारे,
तेरी गली गए सुख सबै सरसत है।"

† "बाएँ कर होरिल कौं सीस राखि दाहिने सौं,
गहे कुच प्यारी पयपान करावति है।"
क० र०

—निरीक्षण की सूक्ष्मता एवं सचाई देखिए।

'उत्पाती' लोगों की 'कानाबाती' का विघ्न उपस्थित होकर उस आसक्ति की तीव्रता को और अधिक बढ़ा देता है—वह प्रेमिका—

"आँखि भरि देखिबे की साध भरियत है"

प्रेम का पाश अत्यन्त दुःखदायी होता है। प्रिय की प्राप्ति के लिए आठों याम तरस-तरस कर मरना पड़ता है। प्रिय से भेंट होगी नहीं, और बिना उसके मिले मन की व्याकुलता बढ़ती जायगी; ऐसे किस प्रकार प्रणय-परिपाक की प्रतीक्षा में दिन व्यतीत होंगे।

"कहा कहौं तोसौं मन, बात सुनि मोसौं,
जाकौं देखिबौ कठिन तासौं नेह करियत है।"

प्रेमिका की इस मर्म-स्पर्शी उक्ति में प्रेम की विह्वलता-पूर्ण विवशता की मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है। विद्यापति ने पहले ही कहा था—"प्रेम क गति दुरवार।"

यों तो सेनापति ने रीतियुगीन अन्य कवियों की भाँति 'निर्धन की छाती तरसानेवाली' और मार्गस्थ कण्टकों की अवहेलना कर, धनपतियों के निकट 'सुवर्ण की मुहरों' के समान पहुँचने वाली परकीया प्रेमिकाओं का ही विशेष चित्रण किया है, तो भी स्वकीया की महत्ता को हृदयङ्गम करते हुए उन्होंने दाम्पत्य-रति के प्रति सहानुभूति एवं सहृदयता की दृष्टि प्रक्षिप्त की है। 'प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका' की सुकुमार भावना का एक नितान्त मर्मस्पर्शी चित्र देखिए—

नायक ने नायिका की सौन्दर्य-सज्जा अपने हाथों सजाई है। वेणी को कमनीय कुसुमों से विभूषित किया, भाल पर मृगमद की बिन्दी लगाई, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आभूषण पहनाए, अपने हाथ से पान का बीड़ा खिलाया, और अन्ततः महावर लगाते समय 'रस-बस' होकर, श्याम ने प्रेमिका के ललित चरणों को पकड़ लिया। तब उस रमणी ने—

"चूमि हाथ नाथ क लगाइ रही आँखिन सौं,
कही प्रानपति यह अति अनुचित है।"

प्रो० उमाशङ्कर शुक्ल के शब्दों में "भारतीय महिलाओं के ऐसे ही आदर्शों पर हिन्दू-समाज को आज भी गर्व है।" वस्तुतः सम्पूर्ण श्रृङ्गार-प्रक्रिया की समाप्ति पर

प्रिय का प्रिया के चरणों को पकड़ लेना तथा प्रिया का उसके कोमल करों को चूमते हुए ऐसा करने से उसे निवारण करना—दोनों ही प्रतिक्रियाएँ नितान्त स्वाभाविक, तथा मधुर व्यञ्जना से पूर्ण हैं। शृङ्गार एवं लोकादर्श का यह मणि-काञ्चन संयोग सम्पूर्ण रीति-काव्य में अन्यत्र दुर्लभ और स्पृहणीय है।

उपर्युल्लिखित उद्धरणों के आलोक में, सेनापति की अपनी रचनाओं के विषय में निज की सम्मति से सहमति प्रकट की जा सकती है—"अच्छर हैं बिसद करति उपै आप सन" 'ईख के रस' की-सी मधुर काव्य-सुधा से भरी कनक-कटोरियाँ उनमें अवश्य उपलब्ध हैं; यह दूसरी बात है कि उनका बाहुल्य नहीं हो।

वियोग-शृङ्गार के चित्रण में भी सेनापति ने यत्र-तत्र यथेष्ट सहृदयता की विज्ञप्ति की है। उनका विरह-वर्णन मुख्यतया प्रवास-हेतुक तथा विरह-हेतुक है। प्रवासी प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा वियोग-विधुरा प्रेमिका के लिए कितनी कष्टदायक होती है, इसका एक अत्यन्त मर्म-द्रावक चित्र देखिए—

नायिका पत्र में प्रिय को मधुर उपालम्भ दे रही है। प्रिय ने प्रथमतः ऐसा प्रेम किया जैसे वे शरीरतः ही दो हों, प्राणतः एक ही। किन्तु अब वह इतना निष्ठुर हो गया है कि प्रत्येक पत्र में, पत्र पहुँचने के शीघ्र बाद ही घर आने का आश्वासन देता है, किन्तु आता कभी नहीं। फलतः उस कोमल प्राणा कामिनी का विश्वास भङ्ग हो गया है। उसके मन की नैराश्य-गर्भित उद्वेजना की व्यञ्जना कितनी मर्म-ग्राहिणी है—

"मोहिं परतीति न तिहारी कछु, कहा जानौं,
कौन वह पाती जाके पीछे आप आइयौ।"

पत्रों में दिए गए प्रेम-रस-सिक्त आश्वासनों के भङ्ग हो जाने पर कैसी गहरी खिन्नता प्रेमियों के मानस को अधिग्रस्त कर लेती है, इसका सहृदय-जन सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

प्रिय-आगमन की इस दारुण प्रतीक्षा में प्रेमिका की उद्विग्नता जब बढ़ जाती है तब वह वेदना की तीव्रता को कम करने के लिए अथवा पुनः पुनः नवीन आश्वासन ग्रहण करने के लिए, कौन-कौन-सा उपक्रम करती है—इसका एक नितान्त हृदयस्पर्शी चित्र सेनापति ने अङ्कित किया है। वियोग-विधुरा कमलनयनी हाथ पर कपोलों को स्थित कर, अनमनी-सी प्रिय-चिन्तन में मग्न बैठी रहती है और—

"कागहि उड़ावै, कौहू-कौहू करै सगुनौती,
कौहू बैठि अवधि के बासर गनति है।
पढ़ि-पढ़ि पाती, कौहू फेरि कै पढ़ति कौहू,
प्रीतम कौं चित्र मैं सरूप, निरखति है॥"

—काग को उड़ाना और उससे सगुन लेना, प्रिय की पाती को बारम्बार पढ़ना तथा उसके चित्र का रह-रह कर अवलोकन करना—ये स्वभाव-सिद्ध करुण प्रक्रियायें हैं जिनसे प्रणयी अपनी प्रणय-व्यथा को भुलवाने का मधुर मार्मिक प्रयत्न किया करते हैं। कठोर वास्तविकताओं से आँख मूँद कर, निराशा और पराजय से निरन्तर जूझते रहने की अद्भुत क्षमता प्रकृति ने मानव को प्रदान की है। चिट्ठी पढ़-पढ़ कर पुनः पढ़ना और कौवों को उड़ाना—इस आत्म-प्रवञ्चना में कितनी मिठास, कितनी मार्मिकता भरी हुई है? इसे हृदयालु व्यक्ति ही हृदयङ्गम कर सकते हैं। "मदन दरद की अमर मूरि नारी" को स्वयं इतनी व्यथा सहनी पड़े, यह सचमुच ही निष्करुण विधि की निर्ममता एवं अविवेक का ज्वलन्त उदाहरण है! सेनापति की वियोगिनी के हाथ में प्रिय की पाती जल नहीं गई—यह उनकी तात्विक सहृदयता का द्योतक है।

सेनापति के विरह वर्णन में विरही की विकलता का अत्युक्तिपूर्ण चित्रण अधिक नहीं मिलता। रीतियुगीन प्रवृत्तियों से अनुप्राणित होने के कारण उन्होंने विभिन्न ऋतुओं में विरहिणियों के वियोगानल को उद्दीप्त होते चित्रित किया है। ऐसे चित्र विशुद्ध परम्परा की श्रेणी में ही परिगणित किए जा सकते हैं। विरह की अवस्था में प्रेम का इन्द्रिय-ग्राह्य मांसल पक्ष अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और मानसिक पक्ष प्रबल बन जाता है। प्रिय के सांनिध्य से वंचित हो जाने पर, वियोगिनी का हृदय अगणित मार्मिक अनुभूतियों की रङ्गस्थली बन जाता है। प्रेमिका की सम्पूर्ण रागात्मक सत्ता, संयोगावस्था में प्रिय के साह-

चर्य सुख के आस्वादन में केन्द्रित होने के कारण सङ्कीर्ण एवं सीमित हो जाती है। किन्तु विरह में प्रेमिका की चित्तवृत्तियों का बाल-रवि की किरणों के समान, केन्द्र-विच्छायक विस्तार होता है। रागात्मिका वृत्ति के इस प्रसरण-काल में, वियोग विधुरा रमणी 'लौकिकता' या 'भौतिकता' की भूमि से ऊपर उठ कर विशुद्ध अनाविल 'हृदय' बन जाती है। सेनापति को विरह की इस उत्कृष्ट भूमिका से परिचय प्राप्त नहीं हुआ था। अतएव उनका विरह-वर्णन स्वाभाविक होने पर भी अपूर्ण ही कहा जायगा। कवि की चमत्कार-प्रियता उसे अलङ्कारों के मोह में बुरी तरह जकड़ देती है और वह भावों की आन्तर गहराई तक डूब नहीं सकता। सञ्चारियों के विशद चित्रण का अभाव उसके वियोग-वर्णन को नितान्त हलका बना देता है।

सेनापति के श्लेषों में उनकी वाग्विदग्धता और चमत्कार-निपुणता का मनोरम परिस्फुटन हुआ है। किन्तु अधिकांश कवित्तों में शुद्ध मस्तिष्कीय व्यायाम दिखलाया गया है। इन श्लेषों में कुछ अधिक सरसता पाई जाती है जिनमें साम्य-मूलक अलङ्कारों, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का मिश्रण हुआ है। सभङ्ग-पद श्लेषों को समझना सामान्य पाठकों के लिए निश्चयमेव कठिन है। किन्तु, ऐसे स्थलों पर जहाँ कवि ने सहृदयता से काम लिया है, उसकी प्रसिद्ध प्रांजलता का दर्शन होता है। नायिका की प्रिय-मिलन-लालसा का मोतियों के द्वारा अत्यन्त सुन्दर-चित्रण कवि ने किया है। प्रेमिका सखी से मोतियों की सराहना करती है किन्तु अन्तिम पंक्ति में उसकी प्रिय-प्राप्ति की सुकुमार साध स्फटिकवत् झलक जाती है—

"और है न रस ऐसौ सुनि सखी साँची कहौं,
मोतिन के देखिबे कौं जैसौ कछू रस है।"

यहां 'मोतिन के' को "मो तिनके" में परिणत कर देने से कामिनी की स्निग्ध लालसा की सूचना मिल जाती है। कृष्ण का नाम न लेकर "तिनके" द्वारा संकेत-मात्र से ही कवि ने स्त्री-सुलभ गम्भीरता एवं लज्जाशीलता की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है।

अभङ्ग-पद श्लेषों को समझना अपेक्षाकृत आसान है। सेनापति की भाषा पर अगाध अधिकार है। इसी कारण कतिपय छन्दों में विरोधी तत्त्वों व वस्तुओं का एक साथ चमत्कार-पूर्ण वर्णन हुआ है। शूर और कायर, युवती और बुढ़िया, दानी और सूम का युगवत् चित्रण निराला बन पड़ा है। "नाहीं नाहीं करैं" "कन कन जोरैं, "दान पाठ परिवा रहैं" प्रभृति उक्तियों में थोड़ा परिवर्तन कर देने से अर्थबोध झटिति हो जाता है।

भक्ति-विषयक कवित्तों में भी सेनापति के लिए अपनी चमत्कार प्रवण प्रवृत्ति का अपह्नव करना कठिन होगया है। द्रौपदी के चीर-हरण प्रसंग से सम्बन्धित, सं० ४० से ४३ तक, चार कवित्त उन्होंने लिखे हैं। इन सभी में चमत्कार की मनोरम प्रतिष्ठा हुई है तथा भक्ति-भावना सर्वथा दब गई है। त्रिपथ गामिनी गङ्गा पर एक अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण उत्प्रेक्षा दर्शनीय है—"छापेदार पाग मानों पुरुष विराट की।" मानव-हृदय की सुकोमल वृत्तियों का कवि की गर्विष्ठ काव्य-चेतना के लिए कोई शक्तिशाली आकर्षण नहीं था। उसे अपनी रचनाओं के रक्षण की विशेष उत्सुकता थी क्योंकि वह उन्हें महत्त्वपूर्ण समझता था। अतएव इस मानसिक पूर्व-चिंता के कारण वह कविता-कामिनी के प्रति, स्वच्छन्द भाव से पूर्ण आत्म-समर्पण नहीं कर सका।

प्रगतिवादी कविता में अलङ्कार-योजना

श्री देवेशचन्द्र एम० ए० (रिसर्च स्कॉलर)

प्रगतिवादी कविता के कवि ने अलङ्कारों को 'मोह का बन्धन' कहा है—

अपना न कभी कवि की लघु सीमाओं को तू
दे छोड़ इन्हें
ये अलङ्कार बहु भार मोह के बन्धन हैं
दे तोड़ इन्हें। †

इन कवियों का कहना है कि अलङ्कार रीतिकालीन परिपाटी के अङ्ग हैं जो समाज हितैषी साहित्य को जन्म नहीं दे सकी।* आज की कविता में अलङ्कारों की अपेक्षा नहीं।× और वाणी को केवल विचार ही वहन करने चाहिए उसे अलङ्कारों की क्या आवश्यकता।+ इसके आलोचकों ने भी इस कविता में सहज सहज प्राप्त अलङ्कारों को विवेच्य नहीं समझा क्योंकि इनका कहना था कि इस प्रकार की कविता का उद्देश्य चमत्कार प्रदर्शन या कलात्मकता का समावेश नहीं था।÷ इस प्रकार इस कविता में अलङ्कार उपेक्षा की वस्तु बने रहे। यों तो इस प्रकार के अनेक वक्तव्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं किन्तु संक्षेप में इन कवियों और आलोचकों ने निम्नलिखित कारण अलङ्कारों को कविता में अनावश्यक सिद्ध करने के लिए गिनाए—

अलङ्कारों से काव्य 'अलंकृत सङ्गीत' बन जाता है जैसे छायावाद की कविता, और चूँकि छायावाद का विनाश इसीलिए हुआ अतः अलङ्कार ध्यान देने की वस्तु नहीं।

अलङ्कारों का सम्बन्ध आदर्श कविता से है अतः इनका प्रयोग कवि की इच्छा पर निर्भर है। कविता की स्वाभाविकता और इनका सम्बन्ध निश्चित नहीं है, इनके प्रयोग से भावाभिव्यक्ति दुरूह हो जाती है, और अप्रस्तुत की योजना एवं कथन की वक्रता से 'मानसरोवर के फूलों की तस्वीर' नहीं खिंच पाती।

† हंसमाला—नरेन्द्र शर्मा
* प्रगति और परम्परा—डॉ० रामविलास शर्मा
× युग की गङ्गा—केदारनाथ अग्रवाल
+ ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पन्त
÷ हिन्दी कविता में प्रगतिवाद—विजयशङ्कर मलन

इस प्रकार हमारी समस्या के समाधान के दो अङ्ग हो जाते हैं पहला काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है और दूसरा इन कवियों की कविता में अलङ्कार योजना का स्वरूप क्या है?

हमारे पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों में इतनी बात सर्वसम्मति में स्वीकृत रही कि अलङ्कार शोभा के उपादान हैं जिनका उपहास सहज में नहीं किया जा सकता और इसीलिए उन्होंने इनकी विवेचना खण्डन-मण्डन सहित की। कुछ आचार्यों ने इनके मूल रहस्य को भी पहचाना और उनके विभिन्न वर्ग निश्चित करते समय प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में इनकी मनोवैज्ञानिक भावभूमि के रहस्य को निरावृत्त भी किया। काव्य-शास्त्र के इतिहास में अलङ्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इन्हीं के गम्भीर विवेचन से ही वक्रोक्ति और ध्वनि आदि सम्प्रदायों का उद्गम हुआ। अलङ्कार भाषा के विकास में अत्यन्त सहायक होते हैं यह शब्द-शक्ति और इनके सम्बन्ध से निश्चित हो सकता है। मम्मट की 'सगुणावनलंकृती' का श्रेय भामह को उस कल्पना को दिया जा सकता है जिसमें कविता वनिता बनी। अन्यथा गुण और अलङ्कार की स्थिति में भेद न होता। वस्तुतः अलङ्कार अभिधान प्रकार विशेष के विशेष माध्यम हैं। इसीलिए आचार्य इनके मर्म को 'मूकास्वादनवत्' स्वीकार कर 'अनतन्त्वात्' कह कर मौन हो गए। काव्यालङ्कार में लिखा है—ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकाराः तावन्तः अलङ्काराः। अतः यह निश्चित हो जाता है कि अलङ्कारों का सम्बन्ध न तो भाषा के अभिजात्य गुण से ही है और न इनका युग ही समाप्त हो गया है। कादम्बरी में बाण की कल्पना कितनी सुन्दर है।[1]

१—स्फुरत्कलालाप विलास कोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।

आधुनिक काव्यधारा में प्रगतिवादी कविता का युग नहीं समाप्त हुआ है पहले जहाँ वह भाव क्षेत्र में प्रगतिशील थी वहाँ दूसरे चरण में उसकी अभिव्यञ्जना परिष्कृत हो रही है। अनेक आलोचक इस विकास को प्रयोगवाद की संज्ञा देते हैं, वस्तुतः यह प्रगतिवाद का ही एक रूप है। क्योंकि इन कवियों की चेतना की प्रेरणा एक ही है। इस प्रकार इन कवियों में जहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा आदि सामान्य अलङ्कार पाये जाते हैं वहाँ दूसरी ओर रूपकातिशयोक्ति, श्लेष, विशेषोक्ति, असङ्गति आदि अतिशय चमत्कारमूलक अलङ्कार भी मिलते हैं। शब्दालङ्कार का मर्म ध्वनि सौन्दर्य उत्पन्न करना है और इसके लिए अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति प्रकाश आदि सफल अलङ्कार हैं। ध्वन्यार्थ व्यञ्जना नामक अलङ्कार इसी के अन्तर्गत आता है। इन कवियों में रूढ़िगत संगीत का विरोध मिलता है जो छायावाद की एक विशेषता ही बन गई थी।[२] इनका कहना है कि छायावादी काव्य में "न केवल शब्द, चित्र, भाव, विषय और अनुभूति की एक रीतिकालीन रूढ़ि स्थापित हुई, अपितु शब्द सङ्गीत भी रीतिकालीन कवियों की भाँति व्यञ्जन-ध्वनियों से निर्मित अनुप्रासात्मक रहा।" अनुप्रास के प्रयोग देखिए—

(१) मनुष्यत्व के मान वृथा विज्ञान रे दर्शन। —पन्त

(२) सिकता सलिल समीर सदा से,
स्नेह पाश में बँधे समुज्ज्वल। —पन्त

(३) फिरि लहर लहर लहरी लइ लइ,
खुधरी ले खेतवा लहरि परैं। —चन्द्रभूषण

(४) और जिसके स्वप्न से सुन्दर,
सुमन खिल कर निकटतर। —हरिव्यास

रसेन शय्या स्वयमुभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥
हरन्ति कं नोज्ज्वल दीपकोपमै
र्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तर श्लेषघनाः सुजातयो,
महास्रजश्चम्पक कुड्मलैरिव ॥
—कादम्बरी पूर्वभागः

२—प्रतीक : गिरिजाकुमार माथुर।

यमक और श्लेष के प्रयोग उनक स्थिति की स्वाभाविकता का निर्देश करते हैं—

वह समाज की नहीं इकाई शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान मान पर नर के हैं अवलंबित। —पन्त

अन्तिम पंक्ति में 'मान' का दो बार प्रयोग देखिए।

सौ सलाम उस कार्ल मार्क्स को
जिसने वे हथियार दिए हैं,
जिनसे दुश्मन पर हमने
सौ वार सफल सौवार किए हैं। —शङ्कर शैलेन्द्र

पहले 'वार' का अर्थ गुना और दूसरे का आक्रमण है।

दूसरे पथ पर पड़ी हैं हड्डियाँ सर्वत्र
फैला हुआ भोले जनों का रक्त
द्रौपदी सी चीखती हैं नारियाँ निर्वस्त्र
जिनके चीर दुःशासन कहीं पर
आया खींच कर। —हरि व्यास

यहाँ 'दुःशासन' शब्द में श्लेष है (१) ऐतिहासिक प्रसिद्ध व्यक्ति (२) बुरा शासन।

बोल मेरी चेतना के भास
खड़ी है यह कौन
नूतन एक
वासवदत्ता, दत्ता कहो या
कौन सा वह रूप
इससे श्रेष्ठ? —रांगेय राघव

यहाँ 'भास' शब्द में श्लेष है (१) आभास (२) विशेष कवि। यहाँ मुद्रा अलङ्कार भी है। 'साकेत' निम्नलिखित अंश से तुलना कीजिए—

स्वप्न किसका देख कर सविलास
कर रही कवि कल्पना कल हास?
और प्रतिमा भेंट किसकी भास,
भर रही है यह करुण निःश्वास?

अर्थालङ्कारों का आधार अनेक अंशों में उपमा है जिसमें उपमान की चर्चा महत्वपूर्ण है। इन कवियों की अप्रस्तुतयोजना पर सामयिक परिस्थिति का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। छायावाद के अरूप उपमानों के साथ

इनकी कविताओं में प्राकृतिक, धार्मिक और यान्त्रिक (वैज्ञानिक) उपमानों के चित्र मिलते हैं। उपमानों की इस व्यापक प्रयोगशीलता पर कुछ आलोचक चिढ़ते हैं। इन सहृदयों को इनके प्रभाव पर अपनी सम्मति देनी चाहिए। वैज्ञानिक उपमानों के प्रयोग से हमें वही प्रेरणा मिलनी चाहिए जो अन्य प्रकार के उपमानों से मिलती है इसका कारण उसकी जीवन में व्यापक उपयोगिता है। प्रश्न हमारे संस्कार का है। और सम्भवतः इसीलिए 'सुन्दर' की दुहाई देने वाले इसीलिए ढेले सी आंख या—

खेतिहर लड़की की भोली सी आँखों में—
निबुओं की फाँकों में,
मुस्कान अजान हँसता है सब जहान। (माचवे)

सुन कर अपनी आंख शीशे में देख कर गहरी नाप जोख करने लगते हैं। कुछ उपमान देखिए—

(१) वध सी दीखती जो वह उमड़ती आह मेरी
खड़ी है विश्व का पथ रोक है वह चाह मेरी (दिनकर)

(२) भोर वेला नदी तट की घंटियों का नाद
चोट खाकर जग उठा है सोया हुआ अवसाद (अज्ञेय)

(३) ज्योति फेन सी स्वर्गङ्गा नभ बीच तरङ्गित
परियों की माया सरसी सी आलोकित
ज्वलित पुञ्ज ताराओं के वाष्पों से सस्मित
नीलम के नभ में रत्नप्रभ पुलं सी निर्मित (पन्त)

(४) सिन्धु की भी बाढ़
हम तू एक
खुल न पाएं अब निराशा के पाल (रांगेयराघव)

रूपक के प्रयोग में इन कवियों ने सांग रूपक का सहारा कम लिया है और वह प्रवृत्ति प्रतीकों के साथ-साथ अन्योक्ति शैली में भी प्रकट है। प्रतीक रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार का नवीन रूप है। इन प्रतीकों से कवि का अन्तर उसी प्रकार प्रभावपूर्ण रूप में प्रकाशित होता है जैसे बान्छन्न आकाश में सूर्य की पतली किरणें। इन कवियों के प्रतीकों में दुरुहता नहीं वरन् स्पष्टता है। प्रतीकों का विभाजन विषयानुसार किया जा सकता है। जैसे कुछ प्रेम के और कुछ अन्य प्रकार के। इनके कुछ प्रयोग प्रस्तुत हैं—

भवरों की पातें उतर उतर
कानों में झुक कर गुन गुन कर
हैं पूछ रहीं क्या बात सखी?
उन्मन पलकों की कोरों में क्यों दबी ढकी बरसात सखी?
चम्पई वक्ष को छूकर क्यों उड़ जाती केसर की उसाँस?
(धर्मवीर भारती)

यहां 'भवरों की पातें' कुन्तल 'बरसात' आंसू, 'केसर की उसांस' सुगन्धित मुख का प्रतीक है।

शांत हो,
काल को भी समय थोड़ा चाहिए,
जो घड़े कच्चे, अपात्र डुबा गए मझधार
तेरी सोहनी को चन्द्र माया की उफनती वाढ़ियों में
उन्हीं में से उसी का जल अनन्तर तू पी सके
और कहेगा आह कितनी तृप्ति
क्रौंच बैठा हो अगर कभी वल्मीकि पर
तो मत समझ
वह अनुष्टुप बांचता है सङ्गिनि के स्मरण के
जान ले वह दीमकों की टोह में है।

इस प्रकार के प्रतीकों के पीछे प्रसंग गर्भत्व भी है। सोहनी की कहानी पञ्जाब प्रदेश की प्रसिद्ध कहानी है। सोहनी अपने प्रिय से मिलने के लिए रात में पीतल के घड़े को पेट के नीचे रख कर नदी पार कर जाती थी। एक दिन किसी ने उस पीतल के घड़े के स्थान पर मिट्टी का कम पका कच्चा घड़ा रख दिया। वह भ्रम से उसी घड़े को लेकर नदी में चली गई। जो बीच मंझधार में ही फूट गया। कविता प्रेमी के प्रति है। सोहनी और उसका प्रिय प्रेमिका और प्रेमी के प्रतीक हैं। प्रेम के प्रति ऐसा व्यंग्य कहां मिलेगा। श्री गिरिजा कुमार माथुर की 'प्रौढ़ रोमांस' शीर्षक कविता इस भाव को और भी स्पष्ट करती है। 'वल्मीकि' में श्लेष है (१) दीमक के घर (२) प्रसिद्ध कवि। इस प्रकार इन कवियों के अलङ्कार मनोहर और सशक्त हैं जन के भावों की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे अलङ्कारों का तिरस्कार कैसे किया जा सकता है।

भारतेन्दु के काव्य में प्रकृति चित्रण

श्री रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०

हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण की अपनी विशिष्ट और महान परम्परा है। हिन्दी के आदि कवि चन्दबरदाई से लेकर भारतेन्दु के समय तक के सभी कवियों के काव्य-कानन में प्रकृति की रङ्ग-बिरङ्गी छटा देखने को मिलती है। भारतेन्दु ने उन गत प्राकृतिक छवियों के अङ्कन की परम्परा के साथ ही अपनी मौलिक देन भी दी है।

प्रकृति और मानव-जीवन का परस्पर सम्पर्क आदि काल से रहा है। उसी के क्रोड में मानव-जीवन उससे सङ्घर्ष करता हुआ, उससे नाना वस्तुएँ ग्रहण करता हुआ अपने जीवन को सँवारता सतत् विकास करता रहा है। प्रकृति ने जहाँ मानव के वाह्य जीवन को सभ्यता के नाना उपकरण प्रदान किए हैं; वहाँ प्रकृति ने मानव-मानस का नये-नये भावों और विचारों से संस्कार और परिष्कार कर उसे संस्कृत बनाया है। मानव ने प्रकृति से राग-विराग, हर्ष-विषाद का तादात्म्य किया है; करुण, शृङ्गार, रौद्र, भयानक, शान्त आदि अनेक भाव और रस प्राप्त किए हैं।

मानव जीवन की नयी-नयी मोड़ों पर प्रकृति से नये-नये भावों की प्रेरणा प्राप्त करता रहा है। और नये-नये रूप में प्रकृति उसे दृष्टिगोचर होती रही है। जब-जब वह जीवन की नयी मोड़ पार कर नये युग में पदार्पण करता है और नई सभ्यता और संस्कृति से अपने नये जीवन को वस्त्रित करता है, तब तब प्रकृति अपना समस्त वैभव भण्डार लिए उसके वाह्य तथा अन्तस को आभूषित करने के लिए उद्यत रहती है। प्रकृति मनुष्य के भग्नाश हृदयों को भी निराश न हो सतत् सङ्घर्ष से जीवन को गतिशील रखने का संबल और प्रकाश प्रदान करती है। आदि कवि बाल्मीक के मानस को प्रकृति ने ही हिल्लोलित कर भाव-लहरियाँ प्रवाहित की थीं जो कवि के मुख से कविता के रूप में बह चली। तब से प्रकृति कविता का एक अभिन्न बन गई और काव्य में उसका चित्रण नाना रूपों; नाना रङ्गों और नाना भावों में हुआ है। कविता के जन्म के साथ ही प्रकृति से उसका चोली-दामन का साथ रहा है। कवि ने भावों के अतिरिक्त प्रकृति से काव्य सज्जा के लिए कला-प्रसाधन उपमान, रूपक, प्रतीक, आदि प्राप्त किए हैं।

बाल्मीक ने प्रकृति में हृदय की करुणा का तादात्म्य पाया और उनके हृदय से करुण रस की धारा बह उठी। कालिदास ने उसमें यौवन-तरङ्ग की संयोग-लीला के भी दर्शन किए और शकुन्तला के हृदय में यौवन-तरङ्ग उद्दीप्त हो उठी। भवभूति ने प्रकृति की विशालता और सुषमा के भी दर्शन किए और आलम्बन रूप में उसकी प्रशस्त धारा बह निकली। जायसी ने प्रकृति में मानव सापेक्षता भी देखी और वियोग-संयोग की उत्कट धारा प्रवाहित हो उठी। तुलसी ने प्रकृति का मानव-वृत्ति संस्कारक रूप भी देखा और वह उपदेष्टा के रूप में भी हमारे सामने आई। सूर ने रासलीला की सुरम्य कुञ्जों के रूप में उसे देखा और वह संयोग में सुखदायिनी और वियोग में दुख-दायिनी बन गई। रीति कालीन कवियों ने प्रकृति का शृङ्गार-सज्जित उद्दीपक सौन्दर्य रूप देखा और शृङ्गार-रस की धारा उमड़ पड़ी; और प्रकृति नायक-नायिका की अभिसार कुञ्जें बन गई। भारतेन्दु ने प्रकृति का यथार्थ भौतिक मानव-उपयोग-परक रूप भी देखा और उनके काव्य में प्रकृति अपने यथार्थ मानव-उपयोगी रूप में भी चित्रित हुई है। हर युग में हर कवि प्रकृति की परम्परागत छवियों के साथ-साथ नयी-नयी छवियों और प्राकृतिक छटाओं एवं चित्रों से काव्य कानन का साज संवार करता रहा है।

सभी कवियों ने वस्तुतः देखा जाय तो प्रकृति को मानव उपयोगी रूप में ही देखा है, चाहे वीररस के उद्रेक में उसका उपयोग देखा हो, चाहे भक्ति-भाव अथवा चाहे शृङ्गार-रस के उद्दीपन में उसकी उपयोगिता देखी हो और चाहे प्रकृति में मानव के भौतिक उपयोगिता का रूप देखा हो। भिन्न-भिन्न काल के दृष्टि भेद के कारण काव्य में

प्रकृति चित्रण भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है।

मनुष्य ने आदि काल से ही प्रकृति से सङ्घर्ष कर जीवन के भौतिक सुख-प्रसाधन उससे प्राप्त किये हैं। भारतेन्दु ने प्रकृति के इस रूप को भी देखा और प्रकृति-चित्रण की परम्परा पर चलते हुए प्रकृति के इस रूप का भी चित्रण उन्होंने किया है। यही उनके प्रकृति-चित्रण की अपनी नयी विशेषता है।

भारतेन्दु युग संक्रान्तियुग था। उस युग के पृष्ठ पर काव्य में प्रकृति-चित्रण की परम्परा मुक्त रीति कालीन श्रृङ्गार परक धारा थी। उस धारा के प्रवाह से भी भारतेन्दु का बच सकना सम्भव न था और फिर जब कि वे स्वयं दरबारी संस्कारों में पले थे। अस्तु जहाँ हम उनमें एक ओर प्रकृति चित्रण की नयी चेतना परक दृष्टि देखते हैं वहाँ उनकी कविता में पुरानी परिपाटी का चित्रण भी देखने को मिलता है।

परम्परा मुक्त रूप—भारतेन्दु की चन्द्रावली भी जायसी की नागमती, तुलसी के राम और सूर की गोपियों की भाँति बन के वृक्षों से अपने प्रियतम का पता पूछती है—

"अहो अहो बन के रूख कहूँ देख्यौ पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाय कहौ वह कितै सिधारो॥"

बिहारी की नायिका की ही भाँति भारतेन्दु की नायिका का सौन्दर्य उद्दीप्त हो उठता है—

"ऊवरी घटा में देखि दूनरी लगा है अहा,
कैसी आज चूनरी फबी है मुख गोरे पै।"

भारतेन्दु का-हृदय प्रकृति के सौन्दर्य में अधिक नहीं रमा था। वे तो राधा-कृष्ण के मांसल सौन्दर्य में ही अधिक विभोर रहे। यदि कहीं प्रकृति-चित्रण मिलता भी है तो राधा तथा अन्य गोपियों के मन में कृष्ण के प्रति श्रृङ्गार भावना के संयोग-वियोग पक्ष के उद्दीपन के रूप में या राधा-कृष्ण के रास-विहार के प्रसाधन जुटाने के रूप में। प्रकृति का यह रूप हम प्रेमाश्रु वर्णन, मधु-मुकुल, वर्षा विनोद आदि संग्रह में देखते हैं। भारतेन्दु ने शिशिर, हेमन्त, बसन्त और पावस आदि ऋतुओं तथा फागुन और सावन मास को ही विशेष रूप से अपने प्रकृति चित्रण का विषय बनाया है। भारतेन्दु का मूल अभीष्ट प्रकृति-चित्रण नहीं था, वरन् राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का वर्णन ही था। इसीलिए स्वभावतः उनके प्रकृति-चित्रण में उन्हीं ऋतुओं और महीनों को विशेष स्थान मिला है जो विशेष रूप से प्रेमी-युगल के हृदयों को उद्दीप्त करने वाले होते हैं—

"भई सखि साँझ, फूल रही द्रुम बेलि,
चलै किन कुंज कुटीर
हरे तरोवर भए सुनहरे
भिरकी मनहुँ अबीर
झुकि रहे रंग रंग के बादर
मनु सुखए बहु चीर
× × ×
हरीचन्द इक तुव बिनु फीकौ सब मानत बलबीर।

नायिका को प्रकृति प्रिय की याद दिलाती है और वह उसके प्रिय के पास जाने के उपकरण भी जुटा देती है—

"सखी री साँझ सहायक आई,
मेट्यो भय बैरी प्रकास को,
सब कुछ दीन दुराई।
× × ×
गरज बुलावत तोहि चंचला,
चमकत राह दिखाई।
औरन के चकचौंधा लावत,
तेरी करत सहाई।
तैसेहि झींगुर झनकत नूपुर,
जासों नाहिं सुनाई।
वायु सुखद ता दिसि तोहिं भेजत,
तरु हिल रहत बुलाई।
× × ×
हरीचन्द चलि उत किन भामिन,
रहु पिय अंकन लाई।"

जिस प्रकृति ने नायिका को प्रिय का स्मरण दिलाया और प्रिय के पास पहुँचने तक का मार्ग प्रशस्त किया वही प्रिय के पास पहुँचने पर नायिका को अति सुखदायी और उद्दीपक होती है—

(शेष पृष्ठ १३६ पर देखिए)

महादेवी की कविता का भाव-स्रोत

कु० शकुन्तला मिश्र

महादेवी की काव्य-कल्पना जीवन के किस गहन स्रोत से उपकरण लाकर प्रवाहित होती है, आज का आलोचक इस पर बड़ी शीघ्रता से निर्णय दे देता है—पीड़ा से। महादेवी के काव्य को साधारणतया दुःखवाद की संज्ञा दी जाती है। इसका कारण भी स्पष्ट है, महादेवी के सम्पूर्ण काव्य पर वेदना की एक अस्पष्ट छाया घिरी मिलती है। एक गीला करुण भाव उनके काव्य की पंक्ति-पंक्ति में गहरी श्वाँसें लेता है। यह सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति हो या ब्रह्म से शाश्वत वियुक्त जीवात्मा की परितप्त वियोग कथा—परन्तु वह कोई व्यथा है इतना सत्य है।

रहस्यवाद के प्रकृति और पुरुष के रूपकों में इतना अधिक उलझा जा चुका है कि उसे दुहराना व्यर्थ है। महादेवी के काव्य में, जायसी की 'विरह कथा' या कबीर की 'काहे रे नलिनीं तू कुम्हिलानी' से तुलना करने पर भाव-सामञ्जस्य अवश्य मिलता है और जायसी तथा कबीर के काव्य का मूल रहस्यानुभूति थी। प्रश्न यह उठता है कि महादेवी का अद्वैत चिन्तन भी क्या इसी की अभिव्यक्ति है? यद्यपि यह असम्भव नहीं है किन्तु आज की भाव-तरल कविता को केवल आध्यात्मिकता के बोझे से लाद देना कहाँ तक सङ्गत है? आज का कवि जब जीवन के द्वन्द्वग्रस्त स्पन्दन में पलता है तब अद्वैत-चिन्तन के लिये उसके पास अनुभूतियाँ कहाँ हैं और अवकाश कहाँ हैं? काव्य सदैव से कवि की सुख-दुख की अनुभूतियों का संवाहक है और आज के वस्तुपरक युग में तो और भी अधिक। आज का काव्य तो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद के आवरण में कवि का निजी अभिव्यक्तिवाद बन कर आता है। किन्तु महादेवी का काव्य मानव प्राणों की शाश्वत अभिव्यक्ति है। वैसे ही काव्य भावों का संवाहक है। भावों की उच्छ्वसित व्यथा पर जब कल्पना का कोमल स्पर्श होता है, अभावों की रिक्ति पर उल्लास जब अपनी सतरङ्गी छाया डालता है तब वहीं कला का जन्म होता है। कवि पन्त ने भी 'वियोगी होगा पहला कवि' कह कर पीड़ा को ही काव्य का मूल माना है। और यह मानी हुई बात है कि नारी में अधिक भावना होती है। भावकता के कारण व्यथा की अनुभूति उसे अपेक्षाकृत गहरी होती है। यही कारण है कि सदैव उसके काव्य में व्यथा की छाया रहती है। यही कारण है मीराँ की घायल वेदना का, जिससे उनके नैनों को प्रिय-वियोग में रोती रहने की बान पड़ गई थी और अवधि के दिन गिनते-गिनते 'आँगुलियाँ री रेख' घिस गई थीं। और यही कारण है महादेवी की 'दीप सी युग-युग जलने' की आकांक्षा का। इस व्यथा का मूल क्या है इसे तो भविष्य बतायेगा। जब भौतिकता की ओर वायु-वेग से बढ़ता साहित्य विपथगा धाराओं से टक्करें लेगा तब भी महादेवी की शान्त और स्निग्ध भावना जगती रहेगी।

प्रश्न यह है कि क्या महादेवी के काव्य में बिखरी यह पीड़ा ही उनके काव्य का मूल उद्देश्य है? इस स्थान पर हम कह सकते हैं—नहीं। वैसे साधारणतया अनुभूति-प्रधान होने के कारण उनका काव्य व्यथा-स्नात है किन्तु यह गीति-काव्य की एक निजी विशेषता है। महादेवी के ही शब्दों में—"गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगा....। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

महादेवी के काव्य में व्यथा का प्राधान्य होने का सब से पहला कारण है उनका नारी होना। नारी की मनोवृत्तियाँ स्वभावतः ही अधिक भावमयी और प्रवणशील होती हैं। फिर अपने संस्कृतिगत संस्कारों की सीमा में स्वकीया भाव के साधारण अनुराग के अतिरिक्त भी यदि अनुराग व्यंजना हो सकती है तो अज्ञात, अज्ञेय के प्रति। महादेवी का अद्वैत चिन्तन इसी सूक्ष्म भाव-लोक की सृष्टि है। मनकी वह अवस्था, जिसमें शशि के दर्पण में देख-देख कर

तिमिर केश सुलझाये जाते हैं—नींद अपने मृदुल स्वप्न-पंख फैलाकर निशा के क्षितिज पार उड़ जाती है, अधखुले दृगों पर विस्मृति का खुमार छाया रहता है—जब चतुर-चितेरा सुधि-विहीन हृदय पर अश्रु हास रंगने लगता है—कितनी गहन भावतन्मयता की द्योतक है। महादेवी के काव्य का एक मूल है उनकी व्यापक सौन्दर्यानुभूति। उन्होंने सूक्ष्म में विराट सौन्दर्य की कल्पना की है। और यह सौन्दर्यानुभूति ही उनकी काव्य कल्पना को शक्तिदान देती है। इसी कण कण में बिखरे सौन्दर्य के अन्वेषण में उनकी कल्पना अपना अभीष्ट पाती चलती है।

'मैं फूलों में रोती व बालागण में मुस्काते
मैं पथ में बिछ जाती हूँ, वे सौरभ में उड़ जाते।'

और जब अन्वेषण के इस पथ पर उस अज्ञात सौन्दर्य की एक भी झलक दीखजाती है, वहीं उनका प्रश्न होता है—

'मधुरिमा के मधु के अवतार
सुधा से, सुषमा से छवि मान।
आँसुओं से सहमे अभिराम
तारकों से हे मूक अजान
सीख कर मुस्काने की बान
कहाँ आये हो कोमल प्राण?'

महादेवी के अद्वैत चिन्तन का मूल तो यह सौन्दर्यानुभूति ही है। कस्तूरी के मृग सा भटकता हुआ मन किसी पारस मणि के स्पर्श के से क्षण में चौंक कर देखता है—उद्देश्य तो उसी में है। तब वह अपने उन्माद पर हँस देता है—'मैं किसी की मूक छाया हूँ न क्यों पहचान पाता।' तब वह करुण अभाव, चिर तृप्तिका संसार बन जाता है। इसी सौन्दर्यानुभूति के सहारे प्राणों को विरह व्यथा ही प्रिय हो जाती है। मिलन कभी यदि आवे भी तो दुख के ही रूप में, क्योंकि प्रिय-पथ के वे शूल भी मन को प्रिय हो जाते हैं।

"............एक रस तम से भरा है
एक मेरा शून्य आँगन
एक ही निष्कम्प दीपक से दुकेला हो रहा मन
आज निज पद चाप की भेजो न झंझावात देखो।........"

यह व्यथा कितनी शान्त है और कितनी मधुर! जीवन की ज्वाला जलती है किन्तु उससे ज्योत्स्ना का शीतल प्रकाश होता है। दाह की उष्णता नहीं। तृप्ति और सुख उल्लास और सन्तोष बिखराता कवि का निजत्व जलता है प्रकाशदान के लिए। इस दीप-शिखा से पतंगे नहीं टकराते, क्योंकि इसमें तृष्णा अथवा ऐन्द्रियता का लेश भी नहीं है।

यह जलने की भावना महादेवी के काव्य की दूसरी मुख्य प्रेरक भावना है। इस आत्म विलय से कवि की आत्मा में गौरव भर जाता है। युग-युग की आकुल साधना इसी लौ में पलती है।

'दीप सी युग-युग जलूँ, पर वह सुभग इतना बतादे—'

उनकी भावना प्रिय को पाना चाह कर भी अपना निजत्व खोना नहीं चाहती। आखिर उसका भी तो कुछ मान है—"सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।" वह साधारण तपस्या से प्रिय को पाना भी नहीं चाहती, न अपने में सीमित कर लेना ही इष्ट है। यहाँ तो द्रुत पङ्खों वाले मन के लिए अन्तहीन नभ बनने की याचना की गई है। दूरी यहाँ रङ्गमय है-प्रिय में अपने को विलीन कर देने से चेतना का यह भाव-तारल्य कहाँ रहेगा?

अज्ञात प्रिय के इन संकेतों का मूल है एक भावुक कवि हृदय की मार्मिक अनुभूतियाँ। जब साधारण स्तर से ऊपर उठ कर मनोवृत्तियाँ अपने आस-पास के वातावरण में अपने को बेमेल पाती हैं—आत्म परिष्करण के प्रयास में व्यक्तित्व स्वयं सबसे दूर एकाकी सा हो जाता है, तब स्वभावतः ही बहिर्मुखी मानव प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। यह पार्थक्य फिर कोई ऐसा साथी नहीं मिलने देता जो मन को स्पर्श कर सके। महादेवी के अत्यन्त परिष्कृत, संगत व्यक्तित्व में भी यही बात है। उनकी भावनाओं ने उन्हें ही अधिक से अधिक सूक्ष्म बना दिया। और इस अत्यधिक सूक्ष्मता का परिणाम होता है स्थूल जगत में अनफिट हो जाना। किन्तु मानव प्राण जिससे अपना आत्मिक निजत्व स्थापित कर सके—ऐसी एक सर्वाङ्ग सुन्दर श्रेष्ठता चाहते ही हैं। महादेवी का स्नेह भी एक धारा में बहा—वह एक सूक्ष्म सौन्दर्य

की ओर प्रवाहित था इसलिये उसकी अभिव्यक्ति भी सूक्ष्मतर थी।

'मिट मिट कर हर साँस लिख रही,
शतशत मिलन विरह का लेखा।
निज को खोकर निमिष आँकते,
अनदेखे चरणों की रेखा।
पल भर का वह स्वप्न तुम्हारी,
युग युग की पहचान बन गया।'

उस अज्ञात प्रिय के सान्निध्य से विरह की घड़ियाँ मधुर मधु की यामिनी में परिवर्तित हो जाती हैं। मिलन विरह से एकाकार हो गया है तब कवि की आत्मा अपने को बन्दिनी होते हुए भी बन्धनों की स्वामिनी पाती है। यह साधारण मानव से उच्चतम स्तर है। विराट् की प्रेमिका बन कर वही मानव आत्मा विश्व के कण-कण में अपना स्नेह बिखरा देती है। विराट् चेतना के उन कणों के प्यार करने की उत्कण्ठा में कवि को बस एक से तादात्म्य स्थापित करके नष्ट हो जाना इष्ट नहीं।

'तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुण्ठन से,
मैं तुम्हें ढूँढने के मिस,
परिचित हो लूँ कण-कण से।'

यह भाव-मन की स्नेह स्निग्ध करुण प्रेरणाओं से ही आया है। अपने मानस का सूनापन विश्व के कण-कण में बिखरा मिलता है—नए घन उसके लिये प्रिय का सन्देशा लाते हैं, कैरव-वन उसके रोमाञ्च के साथ-साथ पुलकित होते हैं, उसकी स्थिरता पर लोलतारक भी अचञ्चल हो जाते हैं। तब उसकी शून्यता पर द्रवित हो कर कवि की भावना अपने प्रिय से याचना करती है—

'दुलरा देना, बहला देना,
यह तेरा शिशु जग है उदास।'

महादेवी की भावनाओं में व्यथा है किन्तु यह 'विषाद के मोती' चाँदी सी स्मिति के डोरों में गूँथे गये हैं। वास्तव में उनके काव्य में कुछ ऐसा भाव गाम्भीर्य है कि उसमें हताशा का क्रन्दन नहीं मिलता। फूल में सुरभि की भाँति एक सूक्ष्म उल्लास सर्वत्र व्याप्त मिलता है। एक अपूर्व तृप्ति के रङ्गों ने कहीं-कहीं उनके शब्द चित्रों को बहुत आकर्षक बना दिया है।

'जिसकी विशाल छाया में जग बालक सा सोता है,
मेरी आखों में वह दुःख आँसू बन कर रोता है।
जग हँस कर कह देता है
मेरी आँखें हैं निर्धन
इनके बरसाये आँसू
क्या अब तक वह पाया गिन ?'

एक अनुभूति के बल पर पीड़ा का साम्राज्य दूर हो जाता है तब तुच्छता की भावना से दूर विराट् की प्रेयसी अपने सौभाग्यगर्व में भर कर कह उठती है मैं किसे त्यागूँ और माँगूँ क्या! मधुमय और विषमय सब एक हैं मुझे मेरे पद छूते ही कंटक, कलियाँ और प्रस्तर सभी रस मय हो उठते हैं तब अमर सुहाग और प्रिय के अनन्त अनुराग भरी मैं किससे क्या माँगूँ ?

अभाव और मूक सुख दुख उसका शृङ्गार किया करते हैं। कितनी गहरी है अनुभूति की यह अवस्था जब कवि की दृष्टि में प्रिय की दृग श्यामता और स्मित विभा से रङ्ग लेकर रात दिन उपहार बन बन कर आया करते हैं। अन्त में आन्तरिक उल्लास के आवेग में कल्पना प्रिय को ही पा लेती है।

'तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?
× × ×
रोम रोम में नन्दन पुलकित
साँस साँस में जीवन शतशत
स्वप्न स्वप्न के विश्व अपरिचित
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय,
स्वर्ग मुझे क्या निष्क्रिय लय क्या ?'

तब उस अज्ञात प्रिय से केवल काया-छाया का अन्तर रह जाता है। इस उल्लास से आवृत व्यथा में मुझे निराशा नहीं मिलती। प्रायः महादेवी के दुखवाद को लेकर हिन्दी कविता का उपहास किया गया है कि छायावादी कविता में वेदना और आँसुओं के अतिरिक्त है ही क्या? पर यदि स्थिर चित्त से देखा जाय तो महादेवी के काव्य में मानव-प्राणों का चिरन्तन आशावाद समाया हुआ है। वह नीर

भरी दुख की बदली जो नवजीवन अंकुर ले उठने के लिये बरसती है, जिसकी छाया में मलय पवन पलती है, अपनी सुधि के आगम से विश्व में सुख की सिहरन ला देती है। कवि की दृष्टि में यह संसार दुखमय नहीं, चिरन्तन आशा का आधार है—

'आदि में छिप आता अवसान
अन्त में बनता नव्य विधान
सूत्र ही है क्या यह संसार
बँधे जिसमें सुख दुख जय हार।'

विराट की आराधना में तन्मय महादेवी के काव्य में क्षुद्र का भी महत्व है। क्रन्दन करते भ्रान्त मानव प्राणों के लिये भी आशा है—इस आशा की मधुर मौन स्वीकृति से उसे एक अपूर्व शक्ति मिलती है।

'स्निग्ध अपना जीवन का क्षार,
दीप करता आलोक प्रदान
गला कर मृत्पिण्डों में प्राण
बीज करता असंख्य निर्माण
नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास
विफलता में है पूर्ति विकास।'

कवि की ज्वलन साधना का लक्ष्य बहुत विस्तृत है। ठण्डी विभूति बन जाने में ही उसके जीवन की सार्थकता है। जीवन का वह मेघ, जो जन मङ्गल के लिये बरसता है—अणु-अणु का ताप शान्त कर देना चाहता है। वह अनन्त विकास का क्रम बनना चाहती है। प्रिय को खोजने का उद्देश्य बस अपने प्राणों में बाँध रखना नहीं है। 'तुम्हें बाँध पाती सपने में' में, कवि की आकांक्षा कितना सीमा हीन श्रेय रखती है—

'मधुर राग बन विश्व सुलाती
सौरभ बन कण-कण बस जाती
भरती मैं संस्कृति का क्रन्दन हँस जर्जर जीवन अपने में।'

इस सिलसिले में एक बात रह जाती है। छायावादी कवि पर पलायन प्रवृत्ति का दोष बहुधा लगाया गया है। कहा जाता है कि वस्तुस्थिति छोड़ कर केवल कल्पना की मधु-माधवी के गीत गाते रहना कवि के लिए कहाँ तक ठीक है! महादेवी की कविता उनके एकान्त मन की अभिव्यक्ति है—किन्तु उनकी निस्सङ्गता में अनुभूति दीप्त क्षण बोलते हैं। आज विरले कवि ही वह दे सकते हैं। सङ्घर्षों से दूर भागने की प्रवृत्ति मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है और महादेवी का काव्य तो नारी का काव्य है। सहज आत्मार्पण शील। अशक्त हाथों से नौका खेने की व्यर्थ चेष्टा न करके वे उसे मझधार में छोड़ देती हैं। कर्णधार कौन है—विसर्जन। पर प्राणों की शक्ति इतने आत्म पीड़न के बाद कहीं भी क्षीण नहीं होती।

अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

महादेवी की कविता के भाव स्रोत जीवन के पल-पल में चलते रहने वाले सुख-दुख हर्ष-विषाद के छोटे-छोटे सङ्घर्ष ही हैं। उन्हीं से उनकी अनुभूतियों का गाम्भीर्य किसी असीम आराधना के उपकरण खोज लेता है। मनुष्य स्वयं चेतना नहीं, चैतन्यांश है पर कितने प्राणों को इस रिक्ति की चरम अनुभूति होती है। महादेवी की कल्पना जीवन के इसी स्रोत से भाव लाई। उल्लास बढ़ा तो 'प्रिय के सन्देशों के वाहक मैं सुख-दुख में दूँगी भुज भर' गा उठी और रिक्ति का अनुभव होने पर—'किससे रूठूँ किससे रीझूँ भर लूँ किस छवि से अन्तर्मन!' कह उठी।

कवि के क्षेत्र को विधानों में बाँध कर नहीं रखा जा सकता, न उपयोगितावाद की कसौटी पर उसकी प्रत्येक पंक्ति कसी जा सकती है। महादेवी की व्यथा भी सीमाहीन है 'प्रात-सी नीरव' और 'तम-सी अगम' किन्तु इसके ये अर्थ नहीं कि कोई व्यक्तिगत व्यथा उनका भाव स्रोत हो। महादेवी के ही शब्दों में—"वर्षा में चढ़ी हुई नदी का अस्थिर, असंयत वेग तथा दोनों किनारों को गिराता हुआ मलिन जल हमारे विस्मय का कारण नहीं होता। × × × क्योंकि उसके आदि में कोई उजला स्वच्छ स्थिर अपने हृदय को गला कर मिलाने वाला बर्फीला पर्वत है और अन्त में अन्त हीन गोद को फैलाये समुद्र......" इसी प्रकार महादेवी की कविता का मूल भाव स्रोत भी सीमा हीन सन्तोष और शान्ति की अनुभूति है।

गद्यकार जयशङ्कर प्रसाद

प्रो० वासुदेव एम० ए०

प्रसादजी का साहित्यिक कार्य-क्षेत्र—आधुनिक हिन्दी साहित्य ने जिन विभूतियों को जन्म दिया है उनमें प्रसाद जी को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। जिस साहित्याङ्ग पर उन्होंने लेखनी चलाई, उसमें वे खूब चमके। बचपन से वे कवि रहे, आगे चलकर नाटककार हुये और फिर उपन्यास तथा कहानियाँ भी इनसे अछूती न रह सकीं। कवि के रूप में प्रसादजी छायावादी साहित्य की सेवा करते हुये उन्होंने 'आँसू', 'लहर', 'झरना', 'कामायनी' जैसी काव्य-पुस्तकों की रचना की। 'कामायनी' छायावादी काव्य का एकमात्र महाकाव्य है। 'आँसू' में प्रसादजी के हृदय की संवेदनशीलता प्रकट हुई है। नाटककार के रूप में भी उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। भारतेन्दु और प्रसाद के अतिरिक्त और कोई नाटककार प्रसिद्ध नहीं हुआ और न हिन्दी नाट्य-साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित ही कर सका। उनके नाटक, दो को छोड़, सभी ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ने दर्जनों नाटक लिखे किन्तु सबसे बड़ी विशेषता उनकी मौलिकता और भारतीयता है। वे न अँग्रेजी नाटकों से प्रभावित हुये और न बँगला से। हिन्दी नाटकों का वास्तविक विकास इन्हीं के द्वारा हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी अपनी गतिविधि रही। प्रसाद अपने जीवन में कुल तीन ही उपन्यास लिख सके—'कङ्काल', 'तितली', और 'इरावती'। इनमें अन्तिम उपन्यास अधूरा है। साहित्यिक दृष्टि से ये उपन्यास भी बहुत सफल उतरे हैं; इनमें प्रसाद का अपना व्यक्तित्व है और चरित्र-चित्रण की मौलिकता। प्रेमचन्द की अपेक्षा यद्यपि इनके चरित्र अधिक जटिल हैं, इसका कारण लेखक की भावुकता और दार्शनिकता है, तथापि संयम का अभाव नहीं। कहानीकार प्रसाद उपन्यासकार प्रसाद से कहीं अधिक सफल हुये हैं। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' इनकी कहानियों के संग्रह हैं। प्रसाद के चरित्र शिक्षित नागरिक होते हैं। अतः ये चरित्र हल्के न होकर बहुत गम्भीर हैं। प्रसादजी चाहे कवि हों या उपन्यासकार, नाटककार हों या कहानीकार, उनका कवि सभी स्थलों पर वर्तमान रहता है। वे अपने कवि-हृदय को कहीं भी छिपा न सके। यही कारण है कि उनका कथा-साहित्य प्रेमचंद की तरह सर्वसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। फिर भी इससे प्रसाद की महत्ता और प्रतिभा पर कोई आँच नहीं आती क्योंकि इनके गम्भीर और दार्शनिक व्यक्तित्व तक सर्वसाधारण की पहुँच नहीं है। इन्होंने कुछ निबन्धों की भी रचना की है जो 'काव्य और कला' तथा 'अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में सङ्कलित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि के लिये प्रसाद के पास एक विशिष्ट योजना थी जिसके अनुसार वे हिन्दी गद्य और पद्य दोनों को पूर्णता तक ले जाना चाहते थे किन्तु ४७ वर्ष की अवस्था में राजयक्ष्मा ने इस अलौकिक विभूति से हमें वञ्चित कर दिया।

प्रसाद के गद्य की भाषा—हम देख चुके हैं कि प्रसाद ने साहित्य के अनेक अङ्गों पर सफलता पूर्वक लेखनी चलाई है। अतः यह जानना आवश्यक है कि इनकी भाषा ने कहाँ तक व्यापक क्षेत्र का निर्वाह किया है। भाषा पर विचार करने के पूर्व यदि हम प्रसादजी के भाषा-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों को समझ लें तो हमारा कार्य सरल हो जायगा। प्रसाद संस्कृत के प्रेमी और प्राचीन भारतीय संस्कृति के साधक थे। इनके ऐतिहासिक नाटक प्राचीन भारत के ऐतिहासिक कथानक पर आधारित हैं। अतः पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनकी भाषा चलती है। उनके पात्रों की संस्कृति प्राचीन भारत की संस्कृति है। फलतः वे सदा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रसाद की भाषा देश और काल के अनुसार भी चलती है। यद्यपि उनके समस्त साहित्य की भाषा का मूलाधार और मूल प्रेरणा संस्कृत है तथापि आवश्य-

कतानुसार जहाँ-तहाँ कुछ अन्तर आ ही गये हैं। 'अजातशत्रु' के पात्र जिस भाषा का व्यवहार करते हैं, 'राज्यश्री' के पात्र इनसे कुछ भिन्न स्वर में बोलते हैं। इसी तरह 'राज्यश्री' की भाषा और 'कंकाल' की भाषा में स्पष्ट अन्तर है। इससे पता चलता है कि देश और काल के बारे में प्रसाद सावधान रहते हैं, यद्यपि सामान्यतः इनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक है और भाषा का सङ्गठन एक ही आधार पर हुआ है। प्रसादजी की भाषा में खिचड़ी भाषा—जैसी मिलावट नहीं है। इनकी यह धारणा है कि पात्रों की विविधता के कारण भाषा में विविधता लाना अच्छी बात नहीं। इसी विश्वास के आधार पर इनके सभी पात्र तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं, चाहे वह पात्र सिकन्दर-सा विजयी हो, सुरमा जैसी साधारण मालिन हो, या दाण्डायन जैसे दार्शनिक हों। विशेषतः दो पात्रों के वार्तालाप में जब किसी गम्भीर विषय पर तर्क-वितर्क होने लगते हैं तो इनकी भाषा बड़ी ही क्लिष्ट हो जाती है। दार्शनिकता और कविता के आग्रह से ऐसे स्थल सर्वसाधारण की पहुँच के परे होते हैं। अतः प्रसाद के गद्य पर दर्शन की गम्भीरता और कविता की रमणीयता अपनी छाप छोड़ गई है। सर्वसाधारण को इनकी भाषा बोझिल मालूम होती है पर किसी भी साहित्यकार को इसमें ओज, प्रवाह और माधुर्य की त्रिवेणी के कलकल निनाद का अनुभव होता है। प्रसादजी ने मुहावरों का प्रयोग बहुत कम किया है और कहावतें तो मिलती ही नहीं लेकिन शब्दों की सजावट इतनी आकर्षक और व्यवस्थित है कि इनकी कमी नहीं खटकती। सभी शब्द जैसे कुशलता पूर्वक यथा स्थान नगीने के समान जड़े हुए हैं जिसमें न कहीं शिथिलता है और न प्रवाह का अभाव।

आक्षेप और परिहार—प्रसादजी की भाषा अपनी क्लिष्टता के कारण आलोच्य विषय बन चुकी है। तत्सम-शब्दों की प्रधानता के कारण वह दुरूह होगई है। इसीलिए कुछ लोगों के विचार से इनकी भाषा 'पथरीली' है। एक दूसरा आक्षेप यह है कि प्रसाद की भाषा में प्रसाद गुण का सम्पूर्ण अभाव है और यही कारण है कि उनके नाटक अभिनयोपयोगी नहीं हैं और कहानियाँ साधारण जनता के मन को आकर्षित नहीं करतीं। इस प्रकार जहाँ तक भाषा का प्रश्न है प्रसादजी ने उसे वर्तमान अशिक्षित सर्वसाधारण की निकटता से सदा बचाया है। इनकी भाषा 'पथरीली' है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि भाषा वही 'पथरीली' होती है जहाँ स्वाभाविक प्रवाह नहीं होता। सच तो यह है कि प्रसाद की भाषा में सरिता का स्वाभाविक प्रवाह है। कोई भी भाषा संस्कृत-प्रधान या उर्दू-प्रधान होने से दुरूह या 'पथरीली' नहीं होती। प्रसाद के लिये भाषा संस्कृति का वाहन बनकर आयी है। भाषा में पथरीलापन का अनुभव तब तक नहीं होता जब तक पढ़ते-पढ़ते हमें कहीं अचानक धक्का नहीं लगता या यह भावना हृदय में नहीं उठती कि अमुक स्थान पर अमुक शब्द होता तो अधिक सुन्दर होता। भाषा में क्लिष्टता का कारण यह नहीं है कि प्रसाद अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि एक विराट व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और भारत की महिम संस्कृति का प्रकाशन हुआ है जो अपने में पूर्ण है। शब्द-चयन में कहीं भी आडम्बर नहीं। प्रसादजी स्वयं आडम्बर रहित थे। जहाँ तक प्रसाद गुण का प्रश्न है यह कुछ सीमा तक ठीक ही है। इसके परिहार में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि प्रसाद की भाषा अध्ययन के विस्तार के साथ ही अपेक्षाकृत अधिक क्लिष्ट होती गई है। बौद्ध साहित्य के अध्ययन और दार्शनिक चिन्तन के कारण भाषा बोझिल और गम्भीर हो गई है। अतः पहले तो उनकी भाषा बहुत खटकेगी, पर ज्यों-ज्यों हम अपनी रुचि का परिष्कार करते हुए प्रसाद के व्यक्तित्व से परिचित होते जायेंगे वे हमारे लिये अधिक सरल, अधिक सरस और अधिक आत्मीय होंगे। उन्होंने अपने वर्तमान नाटक, रङ्ग-मञ्च के लिये नहीं लिखे। अतः नाटकों के अभिनय में कठिनाई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। किसी भी बड़े कलाकार का काम रङ्गमञ्चीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं होता। न तो इससे कला का पोषण होता है और न मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति ही होती है। प्रसाद को रङ्ग-मञ्च का स्तर ऊँचा करना था। इसलिये भी उन्हें भाषा का नूतन संस्कार करना पड़ा।

प्रसाद की शैली—भाषा के अनुरूप प्रसाद की शैली को भी एक ठोस आधार प्राप्त है। अपनी रचनाओं

में ये अपने आप को कभी नहीं भूले हैं, चाहे वह गद्य-साहित्य हो या पद्य। उनकी प्रत्येक पंक्ति में उनकी आत्मा बैठी है, काव्य का सौष्ठव वर्तमान है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि प्रसाद का कवि अपना अस्तित्व कभी नहीं खोता। उसका स्पन्दन पंक्ति-पंक्ति में प्रस्फुटित है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक प्रसाद ने भी कवि प्रसाद को कभी अकेला नहीं छोड़ा। छोटे-छोटे वाक्यों में दार्शनिक भावों का गुम्फन और उपमाओं तथा उक्तियों द्वारा सुधी पाठकों के मन पर प्रभाव का सृजन करना प्रसाद के गद्य की अपनी विशेषता है। उनकी गद्य-शैली को हम मुख्यतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) भावात्मक शैली—किसी भी कवि के गद्य की भावात्मक शैली में भावों की सरसता का होना स्वाभाविक है। गद्य में जहाँ प्रसाद भावावेश में आ जाते हैं वैसे स्थल पर लेखक की भावुकता और सरसता स्पष्ट हो जाती है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण में लेखक ने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस शैली को छोटे-छोटे सरस वाक्यों से बड़ी शक्ति मिलती है और उसमें गति और प्रवाह होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पात्रों का भावावेश प्रसाद के व्यक्तिगत भावावेश का ही प्रतिबिम्ब है। उनकी व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का परिचय हमें ऐसे स्थलों पर मिलता है। लेखक के हृदय की तरल भावुकता पानी में छलकते हुए और चमकते हुए तेल के सदृश सतह पर दिखाई पड़ती है।

(ख) चित्रात्मक शैली—चित्रात्मक शैली नाटककार और कहानीकार के लिए आवश्यक होती है क्योंकि चरित्रों की अवस्थाओं का प्रदर्शन, भावों की अभिव्यञ्जना और विषयों का स्पष्टीकरण इस शैली द्वारा सुगम और सरल होता है। प्रसाद परिस्थितियों का वर्णन चित्रों की अवतारणा द्वारा करते हैं। उनके शब्द-चित्र लेखक की कुशल चित्रकला के परिचायक हैं। कुछ सार्थक शब्दों को चुन कर किसी भी बाह्य परिस्थिति और मानसिक स्थिति का वर्णन करने में लेखक को बड़ी सफलता मिली है। इन चित्रों में प्रसाद की संवेदनशीलता, मार्मिकता और काव्यात्मकता दर्शनीय है।

(ग) व्यंग्यात्मक शैली—तीसरी विशेषता जो हम प्रसाद की गद्य-शैली में पाते हैं वह है उनका व्यंग्य। उनके व्यंग्य बड़े चुटीले और मार्मिक होते हैं। ये स्वस्थ भी हैं और यथार्थ भी। इस शैली में किसी मद्धिम सत्य की ओर लेखक का संकेत होता है जिसमें गम्भीर परिहास भी कभी-कभी झाँक जाता है। विशेषतः नाटकों में व्यंग्य के प्रयोग से वर्णन सजीव हो उठा है।

इनके अतिरिक्त प्रसाद के गद्य में बहुत बड़ी संख्या में सूक्तियाँ मिलती हैं। इन सूक्तियों में लालित्य के साथ मन को प्रभावित कर झकझोरने की अद्भुत शक्ति है। मुहावरों का प्रयोग तो लगभग नहीं हुआ है पर कहीं है भी तो उसमें प्रेमचन्द के मुहावरों की चुलबुलाहट नहीं है। किन्तु प्रसादजी अपनी शैली में इसकी अपेक्षा भी नहीं करते।

प्रसाद की भाषा शैली—उपसंहार

सामान्यतः प्रसाद की भाषा शैली आवश्यकतानुसार भावों के अनुरूप बदलती गयी है। अतः यह व्याख्यात्मक नहीं है, उनकी भाषा में न तो कृत्रिम अलङ्कारों का अंबार है और न मुहावरों की मादकता। उसका अपना स्वतन्त्र रूप है, जो केवल शब्द-चयन पर निर्भर करता है। प्रसाद जिस द्विवेदी युग में लेखक बनकर पैदा हुए थे वह भाषा की सरलता का युग था; सरसता की ओर बहुत ही कम लेखकों का ध्यान गया था। प्रसादजी ने युग की माँग के विपरीत साहित्यिक शैली में काव्य की रमणीयता और सरसता भरी। यह उनका अपना प्रयोग था। फलतः भाषा शैली क्लिष्ट हो उठी और व्यावहारिक भाषा भी साहित्यिक आवरण में सज-सँवरकर बाहर निकली। उनके वाक्य संतुलित और व्याकरण-संमत हैं। जहाँ वे किसी घटना का वर्णन करने लगते हैं या किसी कथानक का विकास होने लगता है वहाँ सजग पाठकों की उत्सुकता जाग्रत करने में इनकी भाषा-शैली सहायक हुई है। एक सीमा तक हम शुक्लजी और प्रसादजी के गद्य की तुलना कर सकते हैं। शुक्लजी मूलतः निबन्धकार और आलोचक थे पर प्रसाद एक साथ कथाकार, नाटककार और कवि थे। अतः शुक्लजी की शैली व्याख्यात्मक और प्रसाद की शैली भावात्मक है।

(शेष पृष्ठ १६५ पर देखिए)

मलयालम भाषा और साहित्य

के० एस० वि० शेणाई, एम० ए०, एम० एस-सी० ट्रिवेंड्रम

[मलयालम का अपना उच्च साहित्य है। थोड़े ही समय में इस भाषा ने एक विशाल साहित्य की रचना करके भारत में एक महत्वपूर्ण स्थान अपना लिया है। इस भाषा के साहित्य में ऐसे कुछ पुराने और नये ग्रन्थ हैं, जो अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं मिलते। उत्तर भारत की जनता इस भाषा के और इसके साहित्य के बारे में बहुत ही कम जानती है। इस लेख से मेरा उद्देश्य मलयालम भाषा और साहित्य से उत्तर के भाइयों को परिचित कराना है।]

भारत के उस भाग को केरल कहते हैं, जो उसके दक्षिण-पश्चिम कोने में कन्याकुमारी से गोकर्ण तक और अरब समुद्र से सह्य पर्वत तक फैला हुआ है। इसके करीब तीन चौथाई भाग से ट्रावनकोर-कोचिन राज्य बना हुआ है और बाकी मद्रास में मलबार जिला के रूप में मिला हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण केरल 'दक्षिण का काश्मीर' कहा जाता है।

केरल के अलावा इस देश को 'मलयालम' भी पुकारते हैं। 'केरल' और 'मलयालम' शब्दों की व्युत्पत्ति के बारे में कई मत हैं। 'केरल' या 'मलयालम' की होने के कारण इस देश की भाषा का नाम यथाक्रम "कैरली" या 'मलयालम' पड़ गया। आजकल देश के लिए 'केरल' और भाषा के लिए 'मलयालम' अधिक प्रचलित है।

मलयालम भाषा की उत्पत्ति के बारे में भाषा वैज्ञानिकों ने कई मत पेश किये। पहले तमिल और पीछे संस्कृत का इतना बड़ा प्रभाव इस भाषा पर पड़ा था कि कई विद्वान इस भाषा का उद्भव ही तमिल या संस्कृत से मानने लगे थे। लेकिन प्राचीन ग्रन्थों की युक्तियुक्ति परीक्षा और विस्तृत गवेषण के फल स्वरूप आज विद्वानों का मत बदल गया है।

इन मतों का एक एक करके अब उल्लेख किया जायगा।

१—पहला मत यह है कि मलयालम भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से है। भाषा पण्डित अप्पुनंडु गाडी ने इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है:—

(क) संस्कृत हिमगिरि गलिना,
द्राविड़ वाणी कलिन्दजा मिलिना।
केरल भाषा गङ्गा,
विहरतु मे हृत्सरस्वदा संगा॥

(ख) आर्य द्राविड़ वाक्जाता केरलीयोक्ति कन्यका,
एतत् सूत्र वरारोहा प्रसूता प्रौढ़ सम्मता।

इस मत के अनुसार संस्कृत मलयालम की माता है और द्राविड़ (तमिल) उसकी धाय।

वक्कंकूर राजराजवर्मा जैसे थोड़े आधुनिक विद्वान भी इस मत को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन भाषा शास्त्र की किसी कसौटी पर कसने पर भी यह मत खरा नहीं उतरता। मलयालम पर एक समय संस्कृत का प्रभाव इतना गहरा पड़ा था कि भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार थी, यहाँ तक कि मलयालम के शब्दों पर संस्कृत की विभक्तियाँ तक लगाई जाती थीं। इस कृत्रिम सम्मिश्रण से मलयालम में 'मणिप्रवाल' नाम की एक नई शैली चल पड़ी थी। इस शैली पर संस्कृत का जनत्व शायद लागू हो, पर समूची मलयालम भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से कभी नहीं हो सकती।

२—दूसरा मत यह है कि मलयालम तमिल से उत्पन्न हुई। इस मत के प्रमुख समर्थक सुप्रसिद्ध 'केरलपाणिनि' ए० आर० राजराज वर्मा हैं। काल्डवेल नामक पाश्चात्य विद्वान भी इसी मत को ठीक मानते थे।

दक्षिण भारत में द्रविड़ परिवार की करीब पन्द्रह भाषाएँ बोली जाती हैं, जिनमें तमिल, मलयालम, तेलुगु और कन्नड इन्हीं चार भाषाओं में अपना-अपना साहित्य है। उनमें भी तमिल का साहित्य सबसे आगे बढ़ा हुआ है। संस्कृत के प्रभाव में आने के पहले मलयालम तमिल के प्रभाव के अधीन थी; तमिल के कई शब्द और व्याकरण के नियम मलयालम में आये थे। 'रामचरितम' जैसे पुराने

ग्रन्थ इस प्रभाव के उदाहरण हैं। 'रामचरितम्' को कोई विद्वान तमिल-ग्रन्थ तक कह चुके हैं। सच कहें तो तमिल के अत्यधिक सम्पर्क के कारण 'तमिल मणिप्रवाल' शैली मलयालम भी चल पड़ी थी, जो 'संस्कृत मणिप्रवाल' की तरह बलवती हो नहीं पायी। इसी शैली को देखकर लोग भ्रम में पड़े थे और इस मत का आविर्भाव हुआ था।

जैसे चम्पू ग्रन्थों की भाषा को देखकर मलयालम को संस्कृत से निकली हुई कहना ठीक नहीं, उसी प्रकार 'रामचरितम्' जैसे ग्रन्थों की भाषा शैली के बल पर उसे मलयालम से उत्पन्न कहना भी।

३–तीसरा मत मलयालम की उत्पत्ति के बारे में यह है कि तमिल और मलयालम एक ही पुरानी भाषा की दो शाखाएँ हैं। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान गुण्डर्ट और भाषा इतिहासकार गोविन्द पिल्लाई इस मत के समर्थक हैं। लेकिन आदिम ग्रन्थों की परीक्षा ने इस मत को भी भ्रम-मूलक साबित किया है।

४–चौथा या आधुनिक मत इस प्रकार है:—मलयालम भी तमिल की तरह मूल द्राविड की एक स्वतन्त्र शाखा है। आट्टूर कृष्णपिरडी और साहित्यकार नारायण पणिक्कर ने इस मत का समर्थन किया है। मूलद्राविड से उत्पन्न होकर कुछ काल तक भाषा का विकास स्वतन्त्र था, पीछे चलकर पहले तमिल और बाद में संस्कृत से भाषा यहाँ तक मिल गई थी कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व तक ढका हुआ था। एक प्रफुल्ल युवावस्था के बाद आज मलयालम अपनी प्रौढ़ावस्था में फिर स्वतन्त्र होकर अपना साहित्य-महल द्रुतगति से बना रही है। अर्थात् मलयालम का 'आदिकाल' स्वतन्त्र था; बाद में 'तमिल-प्रभाव-काल' और 'संस्कृत-प्रभाव-काल' आये और गुजर गये; और अब इसको 'आधुनिक काल' में फिर से स्वातन्त्र्य मिल गया है। इन चारों कालों का विशद विवरण फिर किया जायगा।

मलयालम भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित चिरस्मरणीय उल्लूर परमेश्वर अय्यर का लिखा हुआ एक ग्रन्थ हाल ही में प्रकाशित हुआ है जिसके अनुसार आज की मलयालम पुरानी देशी तमिल ही है, और उसी पुरानी तमिल का एक अलग सुधरा हुआ रूप आज की तमिल है। [पुराने समय में 'भाषा' के व्यापक अर्थ में 'तमिल' शब्द का उपयोग होता था] इस मत के अनुसार मलयालम तमिल की माता बनती है, जो ऊपर उल्लिखित (दूसरे) मत का बिलकुल उल्टा है। यह नया मत आधुनिक भाषा-शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित कर रहा है।

विभिन्न मतों का उल्लेख करने से मेरा अभिप्राय यह नहीं कि आज भी इन मतों पर वाद-विवाद हो रहा है। आज इन मतों का इतना ही अर्थ निकाला जाता है कि द्राविड भाषाओं में मलयालम ने संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध रखा था, और द्रविड़ परिवार के भीतर मलयालम ने तमिल से ही सबसे अधिक मेल रखा था।

मलयालम के प्रायः सभी भाषा शास्त्री आज यह मानते हैं कि मलयालम मूल द्राविड की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में उत्पन्न हुई थी और अपने विकास-काल में तमिल और संस्कृत के निकट सम्पर्क में आयी थी। आज वह फिर स्वतन्त्र है और अपने उच्च साहित्य की रचना कर रही है। तमिल उसकी बड़ी बहन है और तेलुगु, कन्नड आदि छोटी बहनें।

हम भी इसी आधुनिक और सर्व प्रचलित मत को अपनाकर आगे बढ़ेंगे।

(पृष्ठ १६७ का शेष)

"हरि बिन संकट में को काको—
रह्यो बात इक पतित जनम को आँधरो सदा को।"

प्रो० मुन्शीराम शर्मा ने उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर सूरदास को जन्मान्ध माना है। श्री द्वारिकाप्रसाद परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल की भी यही राय है। परन्तु अन्य आलोचक इस पर शङ्का करते हैं। यह तो सब ही मानते हैं कि वे अन्धे थे—पर जन्मान्ध होने पर शङ्का इसलिए करते हैं कि उन्होंने जो चित्र-विधान किए हैं और जो सूक्ष्म निरीक्षण किया है—उसे कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता। हमारी सम्मति में अभी यह विषय और खोज और परीक्षा चाहता है।



आलोचना

कबीर की विचार-धारा—लेखक-डॉक्टर गोविन्द त्रिगुणायत, एम. ए., पी-एच. डी., प्रकाशक-साहित्य-निकेतन, कानपुर। पृष्ठ ४६६, मूल्य ७)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक द्वारा आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध का मुद्रित संस्करण है। कबीर की जो उपेक्षा पचास वर्ष पहले थी वह अब नहीं है। कबीर गम्भीर अध्ययन के विषय बन गये हैं। 'मसि कागद छुओ नहिं कलम गही नहिं हाथ' वाले कबीर की अटपटी वाणी ने प्रकाण्ड-पण्डितों के भी दाँत खट्टे किये हैं। उनकी विचार परम्परा वेदों, तन्त्रों, सिद्धों और नाथ पन्थियों से लगाई जाती है। त्रिगुणायतजी ने कबीर को उसी परम्परा में बैठाल कर उनके सिद्धान्तों का विधिवत अध्ययन उपस्थित किया है। इस अध्ययन से कबीर पर पड़े हुए प्रभावों का भी विवेचन हुआ है किन्तु यह दिखाया गया है कि कबीर सार-ग्राही थे, उन्होंने किसी मत को उसके समस्त रूप में नहीं स्वीकार किया है। जैसे बौद्ध धर्म की मध्यम प्रतिपदा को मानते हुए उनके नास्तिक-वाद को नहीं माना गया। कबीर को मुसलमानी एकेश्वर-वाद की अपेक्षा वैदिक ब्रह्मवाद और वैष्णवता से अधिक प्रभावित बतलाया है। इस सम्बन्ध में दिखलाया है कि वैष्णव धर्म निर्गुणवाद के विरुद्ध नहीं है। कबीर ने वैष्णव धर्म का अवतार वाद नहीं माना है।

लेखक की यह विशेषता है कि उसने व्यापक बातें नहीं की हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि अद्वैतवाद माया आदि के भेद-प्रभेद बतलाकर उसने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि कबीर ने किस रूप को कहाँ तक माना है। लेखक ने कुछ विवादास्पद शब्दों की जैसे सहज, शून्य, सुरति, निरति, विसम आदि की व्याख्या की है। इस व्याख्या के साथ पूर्ववर्ती टीकाकारों के मत की भी आलोचना की गई है।

संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी ग्रन्थों के विस्तृत अध्ययन का उपयोग करते हुए लेखक ने पुस्तक को उच्च स्तर के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है।

संत-सुधा-सार—सम्पादक-श्री वियोगी हरि, प्रस्तावना लेखक-आचार्य विनोबा भावे; प्रकाशक-सस्ता साहित्य-मण्डल-प्रकाशन। पृष्ठ संख्या पहला खण्ड ६६३, दूसरा खण्ड २९०, मूल्य ११)

हिन्दी के भक्ति-काल की दो धाराएँ रहीं—सगुण और निर्गुण, भक्त और संतकवि।

श्री वियोगी हिन्दी जनता को ब्रजमाधुरी का सार दे चुके हैं जिसमें अधिकांश में भक्त कवियों की वाणी का रसास्वाद कराया गया है। अब उन्होंने सन्तों की वाणी का सार प्रस्तुत किया है। इस संग्रह में ३७ सन्तों की वाणी का सार उनके चोला परिचय (भौतिक शरीर के परिचय) के साथ दिया है जिसमें उनकी आत्मा की झलक मिल जाती है। इसके अतिरिक्त फुटनोट में कठिन शब्दों का अर्थ भी दे दिया गया है।

भारतीय विचार-धारा की एक सूत्रता जितनी भक्त और सन्त कवियों में मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं; वे प्रान्तीय बन्धनों से परे रहे हैं। सन्त विनोबा ने अपनी भूमिका में दिखलाया है कि गोरखनाथ को भारत के प्रायः सभी प्रान्तों ने अपनाने का प्रयत्न किया है। यही हाल रैदास, नाभादास, मीराबाई, नामदेव आदि का है। सन्त-साहित्य में भारत की नैतिक और आध्यात्मिक विचार-धारा का परिचय मिलता है। सन्त विनोबा के अनुसार इसमें वैदिक, बौद्ध और तमिल विचारधारा का समन्वय है। इसमें तो पौराणिक विचार-धारा का सार आ गया है। सन्त साहित्य के मूल विचारों को सन्त विनोबा ने निम्न लिखित श्लोक में आबद्ध कर दिया है—

स्वकर्मणि-समाधानं परदुःख निवारणम्।
नामनिष्ठा सतां संगः चारित्र्य परिपालनम् ॥

भारतीय आध्यात्मिक-साधना का सार उपस्थित करने का जो सत्प्रयास श्री वियोगी हरि ने किया है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

उद्धव-शतक-मीमांसा—लेखक-श्री कृष्णचन्द्र वर्मा एम. ए., प्रस्तावना लेखक-रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल', प्रकाशक-किताब महल प्रकाशन। पृष्ठ २७६, मूल्य २५)

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में उद्धव शतक का बहुत ऊँचा स्थान है। इसका भाव पक्ष भक्ति काल का है और कला पक्ष रीतिकालीन है। वर्माजी ने इसकी टीका उपस्थित कर विद्यार्थियों और साधारण पाठकों का उसके रसास्वादन में बड़ी सहायता दी है। वास्तव में, जैसा रसालजी ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है, पाठ के सहित ही निकलना चाहिए किन्तु यदि कापी राइट नियमों के भङ्ग का भय है तो टीका के प्रारम्भ में मूल की पहली प्रथम पंक्ति अवश्य दे देना चाहिए। कैदियों और अस्पताल के मरीजों की भाँति छन्दों की संख्या भी व्यक्तित्व शून्य सी रहती है।

पुस्तक में भ्रमर गीत की परम्परा ब्रह्म वैवर्त पुराण और श्रीमद्भागवत से लगाकर अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रिय-प्रवास और गुप्तजी के द्वापर तक दी है। इसमें रीतिकाल के भ्रमर गीत सम्बन्धी स्फुट छन्दों का भी उल्लेख हुआ है।

उद्धव शतक के काव्योत्कर्ष में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का उद्घाटन किया गया है, भाव पक्ष में छन्दों की व्यञ्जना की ओर संकेत किया है किन्तु अनुभावों और सञ्चारियों का यथेष्ट वर्णन नहीं हो पाया है। कला पक्ष में अलङ्कारों और छन्द-विधान का विवेचन हुआ है और उनकी भाषा की शुद्धता और नियमबद्ध परिनिष्ठता पर भी प्रकाश डाला गया है किन्तु यह परिनिष्ठता की सरलता और अनियमितता न्योछावर को जा सकती है।

छन्दों की टीका में शब्दार्थ के साथ भावार्थ भी दिया गया है किन्तु कहीं-कहीं विशेषकर ऋतु सम्बन्धी छन्दों में काव्य-सौष्ठव और व्यञ्जनात्मक चमत्कार पूरी तौर से नहीं दिखाया जा सका है। जैसे छन्द ८८ में वृषभानु की नगरी के अर्थ केवल राधाजी का गाँव दिया गया है। यह बतला देने से वृष के सूर्य बड़े प्रचण्ड होते हैं चमत्कार बढ़ जाता है। वहाँ प्रति समय ग्रीष्म ऋतु बनी रहती इतना पर्याप्त नहीं है, इसमें व्यञ्जना यह है कि उससे भाग कर कहाँ जाया जाय? इसमें दुख की तीव्रता बढ़ जाती है।

वैसे टीका बड़ी शुद्ध और व्याख्यात्मक है और विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। —गुलाबराय

एकाङ्की कला—लेखक-प्रो० रामयतनसिंह 'भ्रमर'; प्रकाशक-किताब-महल, इलाहाबाद। पृष्ठ १९१, मूल्य २॥)

स्वतंत्र एकाङ्की कला पर प्रथम पुस्तक है। ५ शीर्षकों में विवेचन किया है। आरम्भ में 'साहित्य में प्रगतिशीलता और जीवन' के अन्तर्गत नाटक-कला के सिद्धान्तों का परिचय दिया है। उद्देश्य के साथ 'प्रगतिशील' अर्थ का भी स्पष्टीकरण है। दूसरा अध्याय 'नाटक' है जिसमें मूल तत्वों के साथ पूर्वी-पश्चिमी नाटकों की तुलनात्मक समीक्षा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के बुद्धिवाद पर विचार करने के उपरांत 'एकाङ्की-कला' का विवेचन है। जिसमें उत्पत्ति, वस्तु-उद्घाटन, संघर्ष आदि तत्वों पर प्रकाश डाला है। भविष्य में एकाङ्की के स्वरूप पर विचार करने के अतिरिक्त 'परिशिष्ट' में संस्कृत व हिन्दी में एकाङ्की नाटकों का पूर्व इतिहास भी दिया है। लेखक भारतेन्दु से हिन्दी में आरम्भ मानता है।

पुस्तक में अब तक की प्रत्येक सम्बद्ध वस्तु का उपयोग करने से उपयोगिता बढ़ गई है। पश्चिमी एकाङ्की का प्रभाव स्पष्ट करने से पुस्तक का मूल्य बढ़ गया है।

उपन्यास

राधा और राजन—लेखक–श्री बलभद्र ठाकुर, प्रकाशक–ग्रामोत्थान विद्यापीठ, राजस्थान। पृष्ठ ३२६, मू० ४॥)

नामकरण से कुछ भ्रम होता है किन्तु उपन्यास राजनैतिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। सन् १६२६–४० तक की दीर्घ पीठिका पर आधारित है। 'राजन' 'स्वराज्य-आन्दोलन' का पक्षी है। अत्यन्त विद्वान् होकर भी परीक्षा पास करने के लिए बैठना उसे नहीं जँचता। वह यथाशक्ति सुधारक और गरीबों का सहायक है। काशी में 'लीला', लाहौर-पेशावर में 'राधा' उसकी शिष्यायें रहीं, प्रभावित भी हुईं। पात्र वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसे काशीनाथ अमीर वर्ग का।

'राजन' नैतिक हीनता को स्वीकार नहीं करता। व्यक्तिगत जीवन में कभी राधा की ओर झुकता है, कभी लीला की ओर। सरकार अन्त में उसे फाँसी दे देती है। लेखक रचना-कौशल में प्रवीण है। मानसिक घात-प्रतिघातों का निरीक्षण सूक्ष्म है। राजन राधा की ओर आकृष्ट हुआ सहानुभूति देख कर, राधा विरक्त होने लगी उसके अज्ञात कुल-वंश को सुन कर। संस्कार काम कर रहे हैं। अन्त में नाना स्थितियों के बीच वह 'मास्टरजी' को ही अपना महान् देवता मान लेती है।

लेखक ने आदर्श का व्यावहारिक रूप 'समाज' संस्था के रूप में रखा है, जहाँ प्रत्येक सदस्य है, उनकी अर्जित वस्तु समाज की होती है, सब साथ रहते हैं, खाते हैं। दुनियाँ के शोषितों को एक करने का नारा भी है। इस प्रकार समस्या के साथ संभाव्य समाधान इसकी बड़ी विशेषता है।

यह अवश्य हुआ है कि सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के स्थल सयत्न निकाले गये हैं। पता चल जाता है लेखक अब सिद्धान्त-चर्चा कर रहा है किन्तु रोचक व स्वाभाविक शैली में उपन्यास आकर्षक हो गया है। पढ़ने से लगता है हिन्दी उपन्यास गठन व विचार दोनों दृष्टियों से उच्च होने लगे हैं।

बदलती राहें—लेखक–श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक–साहित्य-प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १६०, मूल्य ३)

यह आदर्शवादी उपन्यास है जिस पर गाँधीवादी सुधार की पूरी छाप है। जमींदार वर्ग का प्रतिनिधित्व चौधरी रणजीत करते हैं। उनकी सत्ता चाहे नष्ट हो गई पर वंश की अकड़ और शान वही है। पटवारी, थानेदार सभी सदियों से उनके परिवार से पुष्ट होते रहे हैं। किन्तु प्रगति के साथ परिवर्तन उन्हें कठोर सत्य लगा। बेटे को मर्यादा के कारण घर से निकाल दिया था—फिर जाकर मना लाए। उसे मन्त्री देख, अखबारों में उसकी प्रशंसा पढ़ छाती गर्व से फूल उठती है। गाँव के सेठ छगन मगन से उनका पुराना ही व्यवहार है।

मुन्नू लाला सेठ-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके विचार से पैसे के बल पर सब कुछ सम्भव है। उन्हें हारना पड़ता है। चौधरी रणजीतसिंह जहाँ एक ओर 'शील-कुमारी' की जमानत करते हैं, उनकी भी करते हैं।

'सिल्लो' दलित वर्ग की स्त्रियों में नवोन्मेष का प्रतीक है। एम० ए० कर अब शीलकुमारी बन गई है और मन्त्री विजय बाबू उससे विवाह कर लेते हैं। चन्दनपुर गाँव की जागर्ति का वह सूत्र है। कुछ ऐसी ही कल्पना प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी है। त्याग और सेवा ही यहाँ भी आदर्श है।

आकर्षक व्यक्तित्व केवल चौधरी साहब का है जो शीला को आशीर्वाद देकर समय की प्रगति के सम्मुख सिर झुका देते हैं। गाँव छोड़ कर चले जाते हैं।

उपन्यास में कमजोरी यह है कि आरम्भ से ही प्रतीत होने लगता है लेखक सूत्राधार की तरह पात्रों को विशेष दिशा में मोड़ रहा है। विजय बाबू शीला का प्रेम पत्र-व्यवहार भी अनावश्यक है। कोरी भावुकता ही वहाँ स्पष्ट होती है। शैली आकर्षक है।

नए नगर की कहानी—लेखक–श्री 'रावी', प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, आगरा। पृष्ठ २३६, मूल्य १)

प्रस्तुत उपन्यास भविष्य में अधिक सुखी मानव-समाज की कल्पना से प्रेरित है। वेकंटाचलम् इस नए नगर के निर्माण का सूत्रधार है। उसमें कुछ योगशक्तियाँ भी हैं। अनेक सहायक जो स्वतः सामर्थ्य के अनुसार उसका कार्य करते हैं समाज के विभिन्न वर्गों में उसके शिष्य हैं जो

व्यक्तियों को आकृष्ट करते हैं। हिमदा वेश्याओं में काम करती है। नए नगर में स्त्री सम्बन्धी प्रयत्न उसी पर निर्भर रहेगा। राजा भिखमङ्गों के वर्ग में।

नए निर्माण की प्रत्येक योजना स्पष्ट की गई है। स्थान भी चुन लिया गया है, प्लान भी बन गया है, लेखक उसे स्वयं देख भी आया है। उसमें नागरिकों के, स्त्री-मनुष्य के परस्पर सम्बन्धों पर भी विचार है। सङ्गठन में प्रत्येक वर्ग के आदमी रहेंगे, उनकी आजीविका का प्रश्न भी सुलझाया गया है। कल्पना इसमें यही है कि किस प्रकार किस रूप में ऐसे नगर का निर्माण हो जिसमें वर्तमान क्षोभ, अतृप्ति, असन्तोष का स्थान ही न रहे।

पात्रों का चित्रण कला की दृष्टि से चाहे सुन्दर हो यथार्थ के अधिक निकट नहीं कहा जा सकता। तर्क के आधार पर कोई वस्तु सिद्ध अवश्य की जा सकती है फिर भी उसका वैसा ही अस्तित्व होना आवश्यक नहीं, अन्य लेखकों ने भी भविष्य में मानव जगत सम्बन्धी ऐसी कल्पनाएँ की हैं।

उपन्यास आत्म-प्रधान शैली में लिखा गया है। स्वयं लेखक की विचारधारा, स्थिति, व्यक्तित्व पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। कहीं स्वयं अपनी कलम से कहीं परिचित पात्रों द्वारा। इस उपन्यास की प्रेरणा ही लेखक को वेंकटाचलम् ने दी। अन्तिम परिच्छेद तो उन्हीं ने लिखा भी है। उसमें आगे चित्र देने की आशा भी है। उपन्यास पढ़ने योग्य है। भाषा सरल है। मूल्य कम है। हिन्दी की पुस्तकों का इसी प्रकार कम मूल्य रक्खा जाय तो बिक्री पर जरूर असर पड़े।

निर्माण-पथ—लेखक—श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ मूल्य ४)

'निर्माण-पथ' मिल मालिकों और मिल कर्मचारियों के सङ्घर्ष की उस मूल समस्या को लेकर चलता है जिसके अन्तर्गत यह आवश्यक हो चुका है कि यह सङ्घर्ष सहयोग में बदल जाए।"

सेठ भानामल मिल मालिक हैं, कॉल साहब मैनेजर। कॉल ने ही सेठ की सहायता की, मिलें, इमारतें खड़ी कर दीं। कामरेड विमला मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती है। उसका मुख्य सहायक है अशफाक। चौहान साहब कांग्रेसी हैं, जनता के सेवक हैं। कर्तव्य भावना से बिल्कुल च्युत तो नहीं फिर भी सेठ से उन्हें हजारों रुपयों की सहायता मिलती रहती है।

वेतन बढ़ाने के प्रश्न पर हड़ताल हो जाती है। कॉल झुकने को तैयार नहीं, चौहान साहब ने कांता से शादी कर उसे भी हरा दिया। वह पारिवारिक जीवन में भी सुखी नहीं। स्त्रियाँ स्वच्छन्द घूमती हैं। अन्त में वह कुछ मजदूरों को अपनी ओर कर मिल में आग लगाने की योजना बनाता है। किन्तु पता चल जाने से अशफाक रक्षा करता है, तब तक चौहान, सेठजी भी पहुँच जाते हैं, कॉल, बनर्जी पकड़ लिए जाते हैं। अन्त में कॉल सेठजी से अलग होकर नवीन मिल की योजना बनाता है।

भाषा सरल, शैली आकर्षक है। घरेलू व्यवहार के शब्द वातावरण को स्वाभाविक बनाते हैं।

सूरज का सातवाँ घोड़ा—लेखक—श्री धर्मवीर भारती, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ······· मूल्य १॥)

एक नवीन प्रकार का उपन्यास है जिसमें लघु-कथाओं द्वारा पारस्परिक सूत्र जोड़े गए हैं। प्रधान पात्र माणिक-मुल्ला है जिनसे सम्बन्ध रखने वाली अन्य कथाएँ हैं। वे अपने गत जीवन से सम्बद्ध घटनाएँ प्रस्तुत करते हैं, साथ ही कथा की रोचकता, उद्देश्य पर भी प्रकाश डालते हैं। कथाएँ उनके मतानुसार निष्कर्षवादी हैं। इस प्रकार सात सम्बद्ध कथाओं से यह उपन्यास बना है।

इसमें निम्न मध्य वर्गीय समाज का चित्रण है। लेखक ने उसे यथार्थ रूप से उभारा है। जीवन के प्रति अडिग आस्था ही "सूरज का सातवाँ घोड़ा" है।

मुख्य ध्यान शैली पर जाता है जो चिर परिचित कथाशैली है जिसमें 'पञ्चतंत्र', 'सहस्र रजनी-चरित्र' लिखे गए हैं उसका हृदय और मस्तिष्क दोनों पर प्रभाव पड़ता है। हिन्दी में ऐसी कथाशैली का उपयोग अभी तक नहीं हुआ है।

—त्रिलोचन पाण्डेय

इतिहास

भारत का चित्रमयं इतिहास (प्रथम भाग)—लें०—श्री महावीर अधिकारी, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६। पृष्ठ ३५८, चित्र ३०१, सजिल्द मूल्य ६)

इस पुस्तक में भारत के इतिहास के उस भाग पर प्रकाश डाला गया है जिसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है और जिसका क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। प्रागैतिहासिक काल से लेकर तालीकोट युद्ध तक का वर्णन इसमें है, जब दक्षिण के विजयनगर राज्य का पराभव हुआ था। पुस्तक तीन भागों में समाप्त होगी—दूसरे भाग में बाबर से लेकर सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध तक का वर्णन होगा और तीसरे भाग में १८५७ से वर्तमान काल तक का। पुस्तक की बड़ी विशेषताएँ दो हैं। एक तो, यह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखी गई है। अँग्रेज इतिहासकारों ने हमारे इतिहास का अपने स्वार्थवश जो विकृत रूप किया था वह इसमें नहीं है। दूसरे, इसमें प्रत्येक घटना को सचित्र बना दिया है। प्रायः प्रत्येक पृष्ठ चित्रमय है। निश्चय ही यह चित्र एक कलम और कूची के बनाये हुए हैं पर उनमें प्राचीनता की छवि दिखाई जरूर देती है। भाव प्रकट करने में चित्रकार को काफी सफलता मिली है। इतिहास को इस प्रकार चित्रमय बना देने से वह विद्यार्थियों के बहुत मतलब का हो गया है। इतिहास के तथ्य याद रखने में यह चित्र बड़े सहायक होंगे। दोनों दृष्टियों से यह इतिहास बहुत महत्वपूर्ण है और ऐसे सुन्दर प्रकाशन के लिये हम प्रकाशक को बधाई दिये बिना नहीं रह सकते हमारा विश्वास है कि सभी लोग पुस्तक का स्वागत करेंगे।

हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव—ले०—श्री मन्मथ-राय, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग। पृष्ठ १७३ मूल्य १॥)

हमारे देश में जो उत्सव, मेले या त्यौहार मनाये जाते हैं या प्राचीन काल में मनाये जाते थे—उनका ही वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। प्रत्येक उत्सव के वर्णन में उसके प्रारम्भ से लेकर वर्तमान रूप तक की चर्चा की गई है और जिस उत्सव का उल्लेख या वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है उसका उल्लेख मात्र टिप्पणियों में कर दिया गया है। ऐसे अनेक उत्सवों की चर्चा इस पुस्तक में है जिनका नाम भी आज हम लोग नहीं जानते। साथ ही ऐसे उत्सवों की भी चर्चा है जिन्हें हम रूढ़ि समझ कर मानते आ रहे हैं पर जिसका ऐतिहासिक महत्व है। जो उत्सव हमारे देश में मनाये जाते हैं उनसे मिलते-जुलते जितने उत्सव विदेशों में मनाये जाते हैं उनका भी यथा-स्थान वर्णन किया गया है। और कहीं-कहीं बड़े विस्तार के साथ पुस्तक बहुत खोज और परिचय के साथ लिखी गई है और हमारे एक लुप्तप्राय अङ्ग पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। विद्वद्वर श्री गोपीनाथजी कविराज की भूमिका ने पुस्तक का महत्व और भी बढ़ा दिया है। ऐसी सुन्दर और सांस्कृतिक पुस्तक का स्वागत हिन्दी जगत में निश्चयपूर्वक होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

अर्थशास्त्र

भारत का औद्योगीकरण—लेखक—श्री डी० एस० नाग (वाइस प्रिंसिपल, गोविन्दराम सेकसरिया कालेज आफ कामर्स एण्ड इकानामिक्स, जबलपुर)। पृष्ठ २४२, मूल्य २॥)

इस पुस्तक में भारत के औद्योगीकरण के प्रत्येक पहलू पर विचार किया गया है। हमारे देश में औद्योगिक विकास अन्य देशों की अपेक्षा क्यों पिछड़ा रहा है इन सब कारणों पर दृष्टि डालते हुये लेखक ने न केवल औद्योगिक महत्व की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है किन्तु इसकी प्रगति बढ़ाने के लिए भी प्रस्ताव उपस्थित किये हैं। इस पुस्तक में भारतवर्ष के मुख्य-मुख्य उद्योगों की सरल भाषा में व्याख्या की गई है और भविष्य में उनके विकास की योजनायें और उन्नति के लिए सुझाव रखे गये हैं। लेखक ने भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक नीति का भी सुन्दर ढङ्ग से विश्लेषण किया है और पञ्चवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास के लिए जो सरकार ने नीति अपनाई है उसका भी वर्णन है। भारत-

वर्ष की आर्थिक समस्याओं में दिलचस्पी रखने वाले सर्वसाधारण के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। हिन्दी भाषा में ऐसी पुस्तकों का अभाव होने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। —महेन्द्रपालसिंह जैन

स्फुट

आदर्श पत्र लेखन—लेखक-श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ५६०, मूल्य ७॥)।

पत्र लेखन भी एक कला है। हिन्दी में इस कला में पटु या पारङ्गत हिन्दी के अनन्य विद्वान पं० पद्मसिंह शर्मा थे। उनके पत्र जिसके पास भी पहुँचते थे, उसके हृदय में गुदगुदी पैदा कर देते थे। हम-लोग वैसे पत्र नहीं लिख सकते। एक पत्र को पढ़ कर पढ़ने वाले का मन कुछ रुकता है और वही बात दूसरे ढङ्ग से अच्छे पत्र लेखक से लिखाई जाय तो वह अच्छे भाव भी पैदा कर सकती है। पत्रों ने इतिहास के बड़े बड़े काम किए हैं। इतिहास की अनेक लड़ाइयाँ गलत ढङ्ग से पत्र लिखने के कारण ही हुई हैं। ऐसी दशा में पत्र लेखन को एक कला ही समझ कर उसका अभ्यास करना सदा लाभदायक होगा।

प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से लिखी गई है। इसमें सभी प्रकार के पत्र आदर्श ढङ्ग से लिखे गए हैं और उनके लिखने के सम्बन्ध में गुर मन्त्र भी प्रत्येक विषय के आरम्भ में दिए गए हैं। पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में व्यक्तिगत पत्र हैं और दूसरे में व्यापारिक। दोनों भागों में जितने तरह के पत्र हो सकते हैं—सभी का वर्णन पुस्तक में किया गया है। अंग्रेजी में इस प्रकार की सैकड़ों पुस्तकें मिलती हैं। हर्ष है कि हिन्दी की अब ऐसी सुन्दर और उपयोगी पुस्तक निकली है। हम इस पुस्तक का सहर्ष स्वागत करते हैं और उन सब लोगों से जो आकर्षक और प्रभावकारी ढङ्ग से व्यक्तिगत या व्यापारिक पत्र लिखना चाहते हैं—इस पुस्तक को पढ़ने की सलाह देते हैं।

(पृष्ठ १५७ का शेष)

प्रसाद का साहित्य गम्भीर विचारकों तथा साहित्य में स्वस्थ रुचि रखने वालों के लिये लिखा गया है जो साधारण लोगों की पहुँच के परे है।

यह कहा जाता कि प्रसाद ने सर्वसाधारण के लिये कुछ नहीं लिखा किंतु इसमें प्रसाद का कोई दोष नहीं। वे अपने युग के सारे गरल को नीलकण्ठ महादेव की तरह गले के नीचे उतार चुके थे। उनका हिन्दी गद्य उस दिन की राह देख रहा है जब हिन्दी का गद्य-साहित्य अपनी सारी शक्ति के साथ साधारण पाठकों की बौद्धिक और आध्यात्मिक चेतना के परिष्कार में समर्थ होगा। उनकी कृतियों का यथार्थ मूल्यांकन आने वाली पीढ़ी करेगी। प्रायः प्रसाद की तुलना रवीन्द्रनाथ से की जाती है। वास्तव में वे हिन्दी के रवीन्द्र थे किन्तु हिन्दी का यह मौन साधक प्रचार और आडम्बर की दुनिया से दूर रहा। जैसा कि वे आडम्बर-रहित थे वैसा ही इनका गद्य बनावट से दूर है। प्रसाद का बौद्धिक दृष्टिकोण इतना विकसित है कि उनके साहित्य में उनकी आत्मा हिन्दी गद्य-साहित्य को आगामी कितने वर्षों तक पथ-प्रदर्शन करती रहेगी। कहा नहीं जा सकता कि उनकी पंक्ति-पंक्ति में आदर्श, स्वर-स्वर में करुणा, भाव-भाव में विश्व-प्रेम और पद-पद में माधुर्य भरा है। प्रसादजी अपने गठित शरीर, चौड़े ललाट और सुन्दर मुखमण्डल के द्वारा जिस प्रकार हजारों के बीच पहचाने जाते थे, उसी प्रकार उनका एक-एक असाधारण वाक्य, स्वस्थ शब्द-चयन, सुन्दर भाषा-शैली और पुष्ट विचार हजारों-लाखों वाक्यों के बीच पहचाने जा सकते हैं। उनके गद्य का युग अभी आया नहीं, आने वाला है।

शङ्का-समाधान

न्दी का रूप—

मुजफ्फरपुर से एक सज्जन लि. ते हैं—हिन्दी में हो रहे ना प्रकार के प्रयोगों पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन विचार यों नहीं करता तथा हिन्दी को एक सुनिश्चित रूप क्यों हीं दिया जाता ?

—नागरी लिपि के एकीकरण और प्रमाणीकरण के म्बन्ध में बहुत से लोगों का ध्यान गया है। साहित्य-सम्मेलन ने यह कार्य अवश्य उठाना चाहिये था पर पिछले दिनों ह बहुत-सी पार्टीबन्दी का शिकार रहा। रिसीवर के कारण भी इसका कार्य क्षेत्र संकुचित रहा। हिन्दी भाष और लिपि तथा अक्षर-विकास को परिनिष्ठित रूप देने की ओर सम्मेलन अपना ध्यान देगा—ऐसी हमारी आशा है।

*

मङ्गल कार्य—

मुबारकपुर (फैजाबाद) से श्री हरिश्चन्द्र मिश्र पूछते हैं—"जिस कर्म का परिणाम शुभ हो, वह सनातन-धर्म है। जिस कर्म का फल हो अशुभ, वह विश्व-बन्ध अधर्म है" श्यामनारायण पाण्डेय के उक्त पद में बताया गया है कि जिस काम का फल अच्छा होता है वही सनातन धर्म है, क्या यह ठीक है ?

——निश्चित रूप से जिस कार्य का परिणाम शुभ हो वह सनातन धर्म के अनुकूल है। शुभ उसे कहते हैं जो समाज-विरोधी न हो, नकल करके परीक्षा पास कर लेना एक समाज-विरोधी कार्य है, ऐसा व्यक्ति समाज में वह उत्तरदायित्व पा जायेगा जिसके लिए वह योग्य नहीं है। अतः वह अधर्म है। झूठ बोलकर अपने स्वार्थ को साध लेना भी इसीलिये अपराध है। कवि का तात्पर्य स्पष्ट है कि हमें कोई अनुचित कार्य न करना चाहिये, क्योंकि ऐसे कार्यों का परिणाम सर्वथा अमङ्गलमय होता है।

*

सबसे बड़ा उपन्यासकार—

श्री सदानन्द शशिधा ग्राम बाग से पूछते हैं—आधुनिक हिन्दी साहित्य का सब से बड़ा उपन्यासकार एवं कहानीकार कौन है ?

——साहित्य में सबसे बड़े का प्रश्न बड़ा कठिन है। उपन्यास साहित्य की एक विधा है किन्तु उसकी कई कोटियाँ और शाखाएँ हैं। किसी एक उपन्यासकार को सब शाखाओं में श्रेष्ठ कहना कठिन होगा। प्रेमचन्दजी को उपन्यास सम्राट कहा जाता है। वास्तव में वे अपने ढङ्ग के अर्थात् चरित्र-प्रधान सामाजिक उपन्यासों के लिखने में सर्वश्रेष्ठ थे भी किन्तु अन्य प्रकार के उपन्यासों का वे साधारण प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते हैं। विलक्षण पात्रों के उपस्थित करने में जैनेन्द्रजी बहुत बढ़े-चढ़े हैं। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास लिखने में अज्ञेयजी और इलाचन्दजी जोशी ने विशेषता प्राप्त की है। प्रगतिवादियों में यशपाल जी आदि श्रेष्ठ हैं।

*

महादेवीजी का संयोग—

श्री विजेन्द्रनारायण अङ्गार मुजफ्फरपुर से लिखते कि "समझ में नहीं आता कि संयोग समय महादेवीजी क्यों छिप जाना चाहती हैं" का समाधान करते हुए साहित्य-सन्देश में यह लिखा गया था कि "संयोग हो जाने पर उनकी चिर प्रिय-पीड़ा समाप्त हो जाने का भय है। समर्पण द्वारा प्राप्त संयोग का आनन्द उन्हें प्रिय नहीं, अतः वे संयोग समय छिप जाना ही चाहती हैं।"

आगे अङ्गारजी लिखते हैं "पर एक जगह वे अपने कल्पित प्रिय की कभी से प्रतीक्षा करती हैं।"

"जो तुम आ जाते एक बार,
यह सजल मुख देख लेते"

तथा प्रतीक्षा में लिखती हैं—

"करुणामय को भाता है तम के पर्दे में आना,
हे नभ की दीपावलियो तुम क्षण भर को बुझ जाना।"

इससे यही स्पष्ट होता है महादेवीजी संयोग चाहती हैं।

——संयोग में छिप जाने का जो उत्तर साहित्य सन्देश के पिछले अङ्क में दिया गया है वह ठीक है। प्रतीक्षा में

अधिक आनन्द है और जब पीड़ा को उन्होंने अपना ध्येय बनाया तब उनके लिए संयोग का महत्व नहीं रहता। इसके अतिरिक्त यह पंक्ति उनकी त्याग-भावना की भी द्योतक है। वे प्रियतम की प्रतीक्षा में रहना चाहती हैं। प्रियतम से मिलन चाहने में वह निःस्वार्थता प्रकट नहीं होती जो मिलन के समय छिप जाने में। इसका दूसरा आध्यात्मिक अर्थ यह है कि वे मिलन के समय अपना व्यक्तित्व खो देना चाहती हैं। मिलन में 'मैं' का अभाव हो जाता है। "प्रेम गली अति साँकरी जामें दो न समायँ"

इस भावना से "जो तुम आ जाते एक बार" की पंक्तियों का भी विरोध नहीं है। ये पंक्तियाँ उनकी मिलन की चाह की द्योतक हैं। यह चाह चिरन्तन की चाह है, पपीहा की रट है। इसमें दया की याचना की ध्वनि अवश्य है किन्तु इसके आगे कुछ नहीं।

तम के पर्दे में आने की बात उनके रहस्यवाद से सम्बन्ध रखती है। भगवान के दर्शन वैभव के प्रकाश में नहीं होते और न शास्त्र ज्ञान के आलोक में उनकी प्राप्ति होती है। वह एक धूमिल अन्धकार में ही आते हैं। इसीलिए वे तारों के छिप जाने की बात कहती हैं। अधिकार में व्यक्तित्व की स्पष्ट रेखायें नहीं रहतीं। इसमें वैध और अवैध प्रेम की भी बात नहीं रहती।

इसी उत्तर में अङ्गारजी की दूसरी शङ्का ('करुणामय पर्दे में क्यों आना चाहते हैं, शुद्ध प्रेम में डर किस बात का?') का समाधान हो जाता है। डर की तो कोई बात नहीं, विना प्रयास और साधना के प्रियतम अनधिकारी के लिए सुलभ नहीं होना चाहता। सच्चा प्रेमी अन्धकार में भी उनको देख लेगा।'

* * *

बिहारी और केशव—

एक सज्जन ने प्रश्न किया है—क्या कविवर 'बिहारी' आचार्य केशवदास के पुत्र थे?

—बिहारी सतसई में एक दोहा है—

प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराय॥

आचार्य केशव सनाढ्य ब्राह्मण थे, परन्तु अपने को 'केसोराय' लिखते थे। अतः 'राय' शब्द से 'भाट' का अनुमान करना अशुद्ध है, जैसा कि डा० ग्रियर्सन ने किया था।

राधा कृष्णदासजी ने आचार्य केशवदास को ही बिहारी का पिता माना था। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने उन्हें पिता न मानकर 'गुरु' माना है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"यदि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवदास होते तो यह बात परम्परा में अवश्य प्रसिद्ध होती। इससे जान पड़ता है कि बिहारी प्रसिद्धि कवि केशव के पुत्र नहीं थे।" मिश्रजी ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बिहारी के पिता का पूरा नाम था 'केशव केशवराय' क्योंकि कुलपति मिश्र के दोहे में भी एक 'केसौ केसौराय' का उल्लेख है:—

कविवर मातामह सुमिरि, केशव केशवराय।
कहौं कथा भारथ की, भाषा छन्द बनाय॥

मिश्रजी के अनुसार बाबू व्रजरत्नदास के पास एक हस्तलिखित पोथी में 'केसौ केसौराय' नामक कवि के कुछ छन्द भी प्राप्य हैं। अतः बिहारी के पिता 'केसौ केसौराय' नाम के कोई अप्रसिद्ध कवि थे, प्रसिद्ध आचार्य केशवदास नहीं। परन्तु यह खोज का विषय है अभी निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

* * *

क्या सूरदास जन्मान्ध थे—

मंगलूर (द० भा०) से श्री श्रीधर भट्ट लिखते हैं—"सूरदास जन्म के अन्धे थे, इसलिए उनका नाम सूरदास पड़ा।" क्या यह बात ठीक है?

—यह विषय विवादास्पद है। विद्वानों ने कोई निर्णय अभी तक इस विषय पर नहीं दिया। आपके ही नामरासी श्रीधर भट्ट ने 'संस्कृत परिभाषा' में लिखा है—

'जन्मान्धो सूरिदासोऽभूत प्राच्यो-ब्राह्मण उन्मदः।'

श्री हरिरायजी का यह वाक्य भी बड़ा महत्व रखता है—"सो सूरदासजी के जन्मत ही सों नेत्र नाहीं हैं।"

स्वयं सूरदास ने लिखा है—

"नाथ मोहि अब की बेर उबारो।
काम-हीन जनम को अंधो, मोतें कौन निकारो।"

(शेष पृष्ठ १५६ पर देखिए)

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

की

प्रथमा, विशारद और साहित्य-रत्न की परीक्षाओं के लिए

सहायक पुस्तकों का सूची-पत्र सं० २०१०

प्रथमा के लिए

१-सूर पदावली की टीका १)
२- ,, ,, ॥=)
३-काव्य संग्रह की टीका (भाग १) ३)
४- ,, ,, (,, २) ४)
५-हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रश्नोत्तरी २)
६-प्रथमा प्रश्नपत्र उत्तर सहित ३)
७-प्रथमा गाइड ६)

मध्यमा (विशारद) के लिए

१-हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रश्नोत्तरी ३)
२-ब्रजमाधुरी सार की टीका २॥)
३-आधुनिक काव्य संग्रह की टीका २॥)
४-जीवन यज्ञ परिचय १॥)
५-हिन्दी गद्य निर्माण एक अध्ययन १॥)
६-सं० झाँसी की रानी : एक अध्ययन—
प्रताप नारायण टण्डन १॥)
७-कवि और शैली-रामावतार अग्निहोत्री ॥=)
८-मध्यमा दिग्दर्शन ३॥)
९-मध्यमा पथ प्रदर्शक गाइड ६)
१०-मध्यमा हिन्दी प्रश्न व उत्तर सहित ५॥)
११- ,, भूगोल ,, ४)
१२- ,, कृषि ,, ३)

साहित्य-रत्न (प्रथम खण्ड) के लिए

१-हरिऔध और उनका प्रियप्रवास—
कृष्णकुमार सिन्हा ३॥-)
२-प्रसाद का चन्द्रगुप्त—,, ,, २॥)
३-परीक्षोपयोगी फाइल साहित्य-रत्न प्र० खंड १॥)
४-सा० रत्न पथ दर्शिका प्रथम खण्ड—
श्री मनमोहन गौतम एम० ए० १०)
५-आचार्य शुक्ल और उनकी चिन्तामणि ॥।=)
६-उत्तमा प्रश्नोत्तर १९०२ से २००८ १३)
७-मृगनयनी समीक्षा—हरस्वरूप सार्गव १॥)
८-कर्मभूमि समीक्षा— ,, ,, १॥)
९-कामायनी दर्शन—कन्हैयालाल सहल ४)
१०-आ० कवि महादेवी वर्मा की टीका—
श्री रामकुमार सांख्यधर १)
११-उद्धवशतक परिशीलन २)
१२-आधुनिक कवि पन्त की टीका २॥)
१३-कुरुक्षेत्र की सरल टीका २॥)

साहित्य रत्न (द्वितीय खण्ड) के लिए

१-साहित्य रत्न पथ दर्शिका (द्वि० खण्ड)—
श्री मनमोहन गौतम एम० ए० १०)
१-,, ,, कुमुद विद्यालङ्कार ८)
२-भाषा विज्ञान गाइड (चतुर्थ संस्करण) ,, २॥)
३-संस्कृत पथ प्रदर्शक गाइड—
जयनारायण गौतम १॥)
५—बंगला पथ प्रदर्शक गाइड ५)
६-सूर एक सरल अध्ययन— २)
७-तुलसी का विवेचनात्मक अध्ययन—
श्री दशरथ झा २)
८-प्रसादजी की कला—गुलाबराय एम० ए० ३)
९-साहित्यालोचन के सिद्धान्त— १)
१०-परीक्षोपयोगी फा० सां० रत्न द्वि० खण्ड १॥)
११-कला कल्पना और साहित्य-डा० सत्येन्द्र ४)
१२-कबीर की विचारधारा-डा० [illegible] त्रिगुणायत

सभी पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न भण्डार, आगरा।

REGD. No. A. 263. OCTOBER, 1953. LICENSE NO. 16.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

साहित्य सन्देश आगरा

की

परीक्षोपयोगी फाइलों

की

विषय-सूची अन्दर देखें

सब फाइलों की विषय-सूची बड़ी होने के कारण हम पिछले अङ्क में उन्हें नहीं छाप सके। इस बार हम उनकी संक्षिप्त सूची इस अङ्क में अन्यत्र छाप रहे हैं। यद्यपि अभी परीक्षा का समय बहुत दूर है, फिर भी परीक्षार्थी हमारी फाइलों का अध्ययन करने के लिए बड़े उत्सुक हैं। हमने जो फाइलें इस वर्ष तैयार की हैं वे निम्न परीक्षाओं के लिये उपयोगी हैं।

एम० ए० (प्रथम वर्ष),	एम० ए० (द्वितीय वर्ष)
साहित्य रत्न (,,),	साहित्य-रत्न (,,)
बी० ए०,	इण्टर।

मूल्य में भी विशेष रियायत

चार साल पहले हमने एक फाइल का मूल्य ३) रक्खा था, लेकिन सब विद्यार्थी लाभ उठा सकें इसलिए हमने १।।) की प्रत्येक फाइल बनाई है। प्रत्येक फाइल में चार अङ्क हैं।

साधारण डाक से (पोस्टल सार्टीफिकेट लेकर) मँगाने के लिए १।।) और रजिस्ट्री से मँगाने के लिए २) मनीआर्डर से भेजें। वी० पी० से मँगाने वालों को २।) की वी० पी० भेजी जायगी, अतः मनीआर्डर भेजना लाभप्रद होगा। जिस परीक्षा की फाइल आप चाहते हों, उसका उल्लेख मनीआर्डर में होना आवश्यक है।

आर्डर तथा मनीआर्डर भेजने का पता:—

साहित्य-सन्देश कार्यालय, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

साहित्य सन्देश

वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए० पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क ५

वार्षिक मूल्य ४)] आगरा—नवम्बर १९५३ [एक अङ्क का

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।
३. महीने की २० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।
६. साहित्य-सन्देश में कविता-कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।
७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।



वर्ष १५] आगरा—नवम्बर, १९५३ [अङ्क ५

हमारी विचार-धारा

पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ—

नवम्बर मास की पहली और दूसरी तारीख को कलकत्ता में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार को राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की अध्यक्षता में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया था। इस ग्रन्थ के सम्पादक हैं डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल, श्री गुलाबराय, डाक्टर सत्येन्द्र, श्री गोपालप्रसाद व्यास, और पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी।

यह अभिनन्दन ग्रन्थ कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पहले तो इस ग्रन्थ में व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त जिस संस्था (व्रज साहित्य मण्डल) ने इ[illegible] किया है उसके आदर्शों को अग्रसर करने में यह पूर्णतया सहायक होगा। यह ग्रन्थ व्रजभाषा, व्रजसाहित्य, व्रज के रीति-रिवाज, व्रजाधीश भगवान कृष्ण और उनसे सम्बन्धित सम्प्रदायों के दर्शनों का बड़े सुन्दर ढङ्ग से विवेचन हुआ। व्रज संस्कृति का एक संक्षिप्त विश्वकोश है। इस १००० पृष्ठ से अधिक के ग्रन्थ में व्रज की लोकवार्ता का संग्रह है। यह ग्रन्थ जिस व्यक्ति को भेंट किया गया है वह सर्वथा अपनी निरन्तर साहित्य-साधना के कारण इस सम्मान का अधिकारी है।

यह महोत्सव और भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा। सभापति के आसन से राजर्षि टण्डन जी ने जो भाषण दिया उसमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि व्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, और विहारी भी अपना स्वतन्त्र साहित्य रखते हुए भी देश और राष्ट्र के हित में अपने को राष्ट्रभाषा हिन्दी का अङ्ग समझती हैं, और ऐसा चाहिए भी। हिन्दी के हित में ही उनका हित है। उनका आत्म-समर्पण उनके बोलने वालों की राष्ट्रीय भावना का परिचायक है। इसके अतिरिक्त कलकत्ते में जो हिन्दी साहित्यकारों का बङ्गाली साहित्यकारों से सम्पर्क हुआ वह दोनों ओर से बहुत सी भ्रान्तियों को दूर करने में सहायक होगा। यह सम्मेलन सद्भावना का सम्मेलन था। बङ्गाली साहित्यकारों ने प्रसन्नता पूर्वक इस महोत्सव के आयोजनों में भाग लिया। परस्पर के वार्तालाप से हिन्दी भाषा भाषियों पर यह प्रभाव पड़ा कि बङ्गाली लोग इतनी संकुचित मनोवृत्ति के नहीं हैं

जितने कि वे समझे जाते हैं। बङ्गाली साहित्यकारों को भी यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी वाले साम्राज्य नहीं वरन् सहयोग चाहते हैं। हम लोगों ने उनको बतलाया कि हम लोग बङ्गाली लेखकों पर भारतीयता के नाते उतना ही गर्व करते हैं जितना कि हम हिन्दी वालों पर। बङ्किम, शरत, रवीन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय हिन्दी भाषा भाषियों के बड़े लोक प्रिय हो गये हैं। हिन्दी ने उदारता से दूसरे प्रान्तों के साहित्य को अपनाया है। हिन्दी भी दूसरे प्रान्तों से यह अपेक्षा रखती है कि वे हिन्दी को अपनावें। हिन्दी में पठनीय साहित्य है, उसका वे अनुवाद करें। अनुवादों का क्रम एकाङ्गी न हो। हिन्दी के आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द, गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला के ग्रन्थों का दूसरी भाषाओं में अनुवाद आवश्यक है। बङ्गला के लेखक यदि हिन्दी को अपनायेंगे तो उनको पाठकों का एक विस्तृत क्षेत्र मिलेगा। इस प्रकार इस उत्सव में दोनों ओर से सद्भावना का वातावरण रहा और अच्छा आदान प्रदान हुआ।

हीरक जयन्ती—

हमें यह जान कर हर्ष हुआ कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इस वर्ष बसन्त पञ्चमी के अवसर पर अपनी हीरक जयन्ती मनाना तय किया है। सभा ने विगत ६० वर्षों में हिन्दी प्रचार के लिए अनवरत उद्योग किया है और उसमें अमित सफलता प्राप्त की है। उसको हीरक जयन्ती मनाना ही चाहिये। इस अवसर पर सभा के अधिकारी एक जयन्ती ग्रन्थ और अपनी पत्रिका का एक विशेषाङ्क निकालना चाहते हैं। अपने पुस्तकालय का विस्तार करना, एक प्रेस स्थापित करना और एक अतिथि भवन बनाना चाहते हैं। सभा की इस समस्त योजना की सफलता की कामना करते हुये हम यह निवेदन करेंगे कि सभा के अधिकारी फिर से एक बार सभा के काम में पहला जैसा वेग और प्रवाह लाने का प्रयत्न करें।

हिन्दी भवन में स्वागत—

हिन्दी के प्रख्यात कवि, लेखक और पत्रकार श्री हरिशङ्करजी शर्मा, और हिन्दी के पुराने लेखक तथा व्यङ्गकार पं० केदारनाथजी भट्ट एम० ए० तथा सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री सुधीर खास्तगीर का २६ अक्टूबर को राजधानी के नव-स्थापित हिन्दी-भवन में स्वागत किया गया। हम इस प्रकार के उत्सवों का स्वागत करते हैं और यह चाहते हैं कि ऐसे उत्सव सब स्थानों पर किये जायँ जिनमें हिन्दी सेवियों और शिल्पियों को सम्मानित किया जाय। इससे हिन्दी का बहुत हित होगा और एक स्थान के साहित्यिकों का परिचय दूसरे स्थान वालों को मिल सकेगा।

पत्रकार और विज्ञापन—

सहयोगी 'प्रवाह' ने सितम्बर के अङ्क में 'पत्रकारिता' पर एक टिप्पणी दी है जिसमें एक विदेशी पत्रकार यात्री के विचारों को उद्धृत किया है। इस पत्रकार ने "यदि मैं एक भारतीय पत्र सम्पादक होता!" शीर्षक लेख में ५–६ बातें दी हैं—जिनमें एक 'अज्ञान और अंध विश्वास पर पलने वाले विज्ञापन न छपने चाहिए' भी है। हमारे देश के पत्रों में कितने विज्ञापन ऐसे छपते हैं—यह हम सब जानते हैं। विदेशी पत्रकार यह धारणा लेकर यहाँ से गया यह हम लोगों के लिए बड़ी लज्जा की बात है। और इसकी ओर सभी पत्रकारों का ही नहीं हमारी सरकार का ध्यान भी जाना चाहिए जिससे इन विज्ञापनों को नियमतः रोका जा सके। ऐसे विज्ञापनों से साधारण जनता को कितना धोखा होता है और उससे कितने आदमी ठगे जाते हैं—यह कौन नहीं जानता। फिर भी ऐसे विज्ञापन साधारण पत्रों में ही नहीं, अनेक राष्ट्रीय कहे जाने वाले पत्रों में भी छपते हैं। हमारी सम्मति है कि इनका छपना बन्द होना चाहिए। हमारी यह धारणा आज से नहीं बहुत पहले से है। हमने छः वर्ष तक एक स्थानीय पत्र 'आगरा पञ्च' निकाला और अब १५ वर्ष से 'साहित्य सन्देश' निकाल रहे हैं किन्तु ऐसे विज्ञापन मिलने पर भी नहीं छापे। हम तो इस बात के भी विरुद्ध हैं कि पत्र में विदेशी वस्तुओं के बायकाट का उपदेश दें और उनके विज्ञापन छापें। हम चाहते हैं कि यह प्रवृत्ति सर्वथा बन्द हो जाय।

समाज-विरोधी साहित्य—

'अवन्तिका' के अक्टूबर के अङ्क में श्री मन्मथनाथ गुप्त का "साहित्यिक अनुप्रेरणा और प्रगतिवाद" शीर्षक एक लेख छपा है। इसमें आपने बड़े सुन्दर ढङ्ग से यह दिखाया है कि यद्यपि कवि या लेखक अधिकतर अनुप्रेरणा-

वश लिखता है पर लिखते समय उसे अपने विचारों पर नियंत्रण जरूर रखना चाहिए। बिना इसके समाज का हित नहीं हो सकता। उनके लेख के अन्तिम वाक्य यह हैं:—"इस प्रकार साहित्यिक जुनून की बात अस्वीकार न करते हुए भी जुनून पर नियन्त्रण रखने की बात इकबाल ने कही है, और यह साफ कर दिया है कि वही जुनून वाला सबसे ऊँचा है जो अपने ऊपर नियंत्रण रखता है। इस प्रकार यह प्रमाणित है कि अनुप्रेरणा की दुहाई देकर समाज-विरोधी, प्रगतिरोधी साहित्य को प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता।"

कला और मानव—

अमृतसर में हाल ही में भारतीय ललित कला परिषद के साथ हुई प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते हुये राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने सुन्दर बात कही है—"राज्य के मङ्गल के साथ-साथ कला भी फलती-फूलती है। भारत अब आर्थिक स्थायित्व की ओर बढ़ रहा है। आशा है कि कला भी अपनी ख्याति की चरम सीमा पर पहुँच जायगी। मानव कला के बिना जीवित नहीं रह सकता। कला का जन्म कविता, चित्र, मूर्ति व भवन निर्माण के रूप में उस समय होता है जब कि मानव में भावनायें पैदा होती हैं और वह उन्हें किसी न किसी रूप में व्यक्त करने के लिए मजबूर हो जाता है। लेकिन कला मानव से फलती-फूलती है, पैसे से नहीं। यदि अच्छे कलाकार स्वार्थ का परित्याग करके कला की उन्नति के लिए काम करें तो वह फले-फूलेगी। कला अमर है। उसमें ह्रास नहीं होता। लेकिन ऐसा समय भी आता है, जब एक देश पर विदेशियों का आक्रमण हो जाता है। तब देश के लोगों को अकथनीय मुसीबतों का शिकार बन जाना पड़ता है। और उन्हें अपने अस्तित्व के लिए कोशिश करनी पड़ जाती है। तब कला ही उनका सहारा होती है। उसका अस्तित्व खत्म नहीं हो जाता। जैसे ही कोई राष्ट्र अपने बुरे दिनों से मुक्ति पाता है, उसकी कला चमक उठती है।"

आपने अन्त में कहा—"भारत सरकार और पञ्जाब सरकार दोनों कला को फलने-फूलने में सहायता देंगी। इस कार्य के लिए अर्थ अथवा और किसी चीज की जरूरत होगी, सरकार मुहैया करेगी।"

देव पुरस्कार—

विंध्य प्रदेशीय सरकार ने घोषित किया है कि मार्च १९५१ के पश्चात् प्रकाशित हुई सर्वोत्तम काव्य कृति पर २१००) का देव पुरस्कार तथा ६-७ हजार के अन्य पुरस्कार अन्य विषयों की पुस्तकों पर वितरण किये जायँगे। पुस्तकों की ६-६ प्रति ३१ दिसम्बर १९५३ तक 'सूचना तथा प्रचार अधिकारी विंध्यप्रदेश रीवां' के पते पर भेजनी चाहिए। विस्तृत नियमावली यहीं से मिलेगी। देव पुरस्कार के पुनर्जीवन प्राप्त करने का हम हृदय से स्वागत करते हैं।

हिन्दी के कवियों का उत्तरदायित्व—

भारत सरकार के सूचना व प्रसार मन्त्री डा० केसकर ने कानपुर में हिन्दी कथाकार सङ्घ के तत्वावधान में अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा—"कविता किसी भी राष्ट्र के जीवन का प्रतीक तथा संकेत हुआ करती है और सच तो यह है कि कविता से ही राष्ट्र के हृदय का परिचय प्राप्त होता है। यह एक ईश्वरीय देन है और यही कारण है कि कवि तथा उसका काव्य जनता की मूल्यवान निधि माना जाता है।"

हिन्दी के कवियों को सम्बोधित करते हुए आपने कहा—"कवियों का अब यह कर्तव्य है कि वे समाज की भावनाओं और आकांक्षाओं को संसार के सामने रख दें। मैं नहीं समझता कि हिन्दी के कवियों पर इससे पहले कभी इतनी बड़ी जिम्मेदारी आई थी। मुझे आशा है कि हमारे कविगण इस आकांक्षा की पूर्ति करेंगे।"

"कविगण को चाहिए कि वे जनता और देश के वास्तविक जीवन का चित्रण अपने हृदय की भाषा, अपनी मातृभाषा में करें, ताकि बाहर की दुनियाँ को हमारी संस्कृति और सभ्यता की झाँकी मिल सके और उसे हमारे राष्ट्रीय जीवन और साहित्य के गुप्त खजानों का पता चल जाए।"

डा० केसकर के यह शब्द बड़ा महत्त्व रखते हैं और हिन्दी के कवियों को इन पर मनन और आचरण करना चाहिए।

मध्यभारत में हिन्दी—

मध्यभारत के मुख्य मन्त्री श्री मिश्रीलाल जी गङ्गवाल ने उस दिन ग्वालियर में भाषण देते हुए कहा—"देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारा समस्त कार्य हमारी ही भाषा में होना चाहिए। हमारा राज्य एक हिन्दी भाषा भाषी राज्य है और हिन्दी में ही यहाँ सब कार्य होते हैं। विदेशों में भी ऐसे अनेक छोटे-छोटे राज्य हैं जहाँ उनकी अपनी भाषाओं में शिक्षा दी जाती है और समस्त राजकीय कार्य उन्हीं की भाषा में सम्पन्न होते हैं। हमारा देश शक्तिशाली है, यहाँ त्याग, तपस्या और जनबल की कमी नहीं हैं। हमारे समस्त कार्य निष्ठा और विश्वास के साथ होने चाहिए तब ही हम उन्नति कर सकते हैं।"

आदिवासियों में हिन्दी—

बिहार प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक अधिवेशन अभी जमशेदपुर में हुआ है। इस सम्मेलन ने निर्णय किया है कि छोटा नागपुर और संथाल परगने में रहने वाले 'आदिवासी' लोगों को शिक्षित बनाने और उनमें हिन्दी का प्रचार करने के लिए वहाँ पाठशालाएँ खोली जायँ और कुछ परीक्षाएँ चालू की जायँ जिनमें वहाँ के लोग परीक्षा दे सकें। निस्सन्देह यह काम बड़े महत्व का है और इसकी पूर्ति तभी हो सकती है जब पचासों नौजवान किसी लालसा से नहीं प्रत्युत केवल सेवा की भावना से वहाँ जाकर यह काम करें। आदिवासियों में ही नहीं, आसाम, राजस्थान, मध्यभारत आदि कई प्रदेशों में ऐसी अनेक जातियाँ हैं जो सर्वथा निरक्षर तो हैं ही, हिन्दी बोल भी नहीं सकतीं। इन जातियों में हिन्दी प्रचार का काम हम जोरों से न करेंगे तो हमें पीछे पछताना पड़ेगा।

श्री खेर का भाषण—

उत्तर प्रदेशीय विधान परिषद के अध्यक्ष माननीय श्री खेर जन्मजात मराठी भाषी हैं। आपने उस दिन ग्वालियर की एक सभा में भाषण देते हुए कहा कि मैं घर में भले ही मराठी बोलता हूँ—पर हिन्दी की महत्ता को भली भाँति जानता हूँ और यह मानता हूँ कि आगामी दस वर्ष में हिन्दी का प्रचार सभी प्रदेशों में हो जायगा और उसके द्वारा हमारी संस्कृति और राष्ट्र में एकता पैदा होगी। आपने तुलसी कृत रामचरित मानस की लोक-प्रियता और उपयोगिता की बड़ी प्रशंसा की।

जो बात खेर महोदय ने मराठी के सम्बन्ध में कही वह अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग वे लोग अपने घर में तथा प्रान्त में करें किन्तु राष्ट्र से सम्बन्धित विषयों में वे राष्ट्रभाषा ही प्रयोग करें। राष्ट्र की एक सूत्रता बनाये रखने के लिए एक ही भाषा का प्रयोग आवश्यक है। राष्ट्रभाषा किसी प्रान्तीय भाषा के विरोध में नहीं खड़ी है, वह उनकी अविरोध भाव से समृद्धि चाहती है किन्तु वह अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार में तथा राष्ट्रीय महत्व के ग्रन्थों के लिखे जाने में राष्ट्रभाषा को अँग्रेजी का स्थान देना चाहती है। कोई देश हितैषी अँग्रेजी की व्यापकता नहीं चाहता। हिन्दी में लिखने से प्रान्तीय लेखकों की वाणी प्रान्त में सीमित न रह कर सारे देश में गूँज उठेगी।

हिन्दी भाषा में सुधार—

मैसूर के शिक्षा-मन्त्री श्री ए० जी० रामचन्द्र राव ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के १८ वें वार्षिकोत्सव पर दीक्षान्त भाषण देते हुये कहा कि—"हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषायें एक दूसरे की पूरक हैं, एक दूसरे से होड़ करने वाली नहीं।" हिन्दी के सम्बन्ध में आपने कहा—"हिन्दी को अधिक सरल बनाना है तथा उसकी कई अनावश्यक बातों को दूर कर देना चाहिए। उदाहरण के तौर पर संज्ञा के साथ 'ने' का प्रयोग समाप्त कर देना चाहिये; साथ ही हिन्दी-व्याकरण के लिंगभेद में सुधार करना चाहिए।"

श्री रामचन्द्रराव ने कहा कि—"मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को हिन्दी को दक्षिण की प्रादेशिक भाषाओं में गूँथकर उनके साहित्य को समृद्ध करना है। साथ ही दक्षिण की भाषाओं के विचार, भाव और व्यञ्जना-शक्ति की सहायता से हिन्दी के साहित्य को समृद्ध करना चाहिए।"

श्री राव के उक्त सुझावों पर हिन्दी वालों को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि और उसका प्रभाव

प्रो० राजनारायण मिश्र एम० ए०, साहित्य रत्न

'क्रोचे' का 'अभिव्यञ्जनावाद' यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र का एक सामान्य सम्प्रदाय है। सत्रहवीं शताब्दी में पुरानी ग्रीक-कला का आतङ्क था। प्राचीन ग्रीक-कला का नया विश्लेषक आचार्य लेसिङ्ग 'आत्म सौन्दय से सम्पन्न अभिव्यञ्जना को ही काव्य मानता है।' कालरिज ने 'सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करती है, उसे ही काव्य मानते हैं।' कुछ लोग इस अभिव्यञ्जनावाद को एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' मानते हैं। किन्तु यह कुन्तक के वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है। वक्रता वहीं तक अपेक्षित है, जहाँ तक उसका सम्बन्ध हृदय की किसी अनुभूति से हो। चमत्कारवादी कलाकारों ने व्यञ्जना-प्रणाली में सजीवता को ही सब कुछ मान लिया था और उन्होंने 'कलार्थे कला' की सृष्टि की थी! स्वानुभूति की प्राची पर ही कला का अभ्युदय होता है। सौन्दर्यानुभूति की परम्परागत रूढ़ि शैली ही कला है, ऐसा पाश्चात्य समीक्षक मानते हैं। किन्तु भावोद्रेक और रसोद्रेक जो उसकी स्वाभाविक क्रियाएँ हैं, उसे वे अस्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध इटेलियन काव्य-मीमांसक क्रोचे ने सर्व प्रथम इसके शास्त्रीय पक्ष की विवेचना की। उसने अनुभूति को ही अभिव्यञ्जना माना; शब्द और रेखाओं को उसका स्थूल उपकरण मात्र।

मानसिक व्यापार की सूक्ष्मतम क्रियाओं पर ही यह 'वाद' आधारित है। क्रोचे काव्य तथा कलाओं को एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक व्यापार का परिणाम मानता है। उसके मत में दृश्य जगत् की कोई सत्ता नहीं। मन की ही एक प्रक्रिया दृश्य जगत् को जन्म देती है। उसकी एक दूसरी प्रक्रिया कलात्मक आकलन करती है। जगत उसी मानसिक वृत्ति का प्रतिविम्ब मात्र है। अभिव्यञ्जना मानव-मन की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का प्रकाशन है जिसका केन्द्र मनुष्य का अन्तर्जगत है, बाह्य जगत के छाया-चित्र उसी के प्रतिविम्ब हैं। सौन्दर्य-ग्रहण की अभिव्यक्ति में कुछ लोग उसकी सत्ता द्रव्य में, कुछ रूप में और कुछ दोनों में मानते हैं! किन्तु क्रोचे एक मात्र रूप (Form) को ही सौन्दर्य का आधार स्वीकार करता है। वह अभिव्यक्ति को ही सब कुछ मानता है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) पर ही आधारित है न कि भावपरक एवं आनन्दपरक सीमाओं में आबद्ध। कला तो श्रेय और प्रेय दोनों से ऊपर है। वह तो मानव मन की एक ऐसी शक्ति है जिसके संस्कार सब में पाये जाते हैं। 'मनुष्य का प्रातिभ ज्ञान किसी न किसी रूप में प्रकट होकर अपना कोई न कोई रूप ग्रहण करता है—इस विशिष्ट रूप का ही नाम अभिव्यञ्जना है।' वस्तु के सामने आते ही उसका अन्तःसंस्कार होता है, वह अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ता है। सौन्दर्य की भावना से चित्त में स्वतः आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है जिसके अतिरेक से हमारे वे अन्तर्द्वन्द्व स्थूल भौतिक रूपों—शब्द, स्वर, गति, रेखा आदि में प्रकट हो जाते हैं। अभिव्यञ्जना के मूल में भी यही क्रियाएँ काम करती हैं। अभिव्यञ्जना का शास्त्रीय रूप मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का ही परिणाम है, उसका लौकिक रूप कला-शून्य हुआ करता है। भावाभिव्यञ्जन एक मात्र भौतिक या लौकिक है। इसका सम्बन्ध कलात्मक अभिव्यञ्जना से नहीं होता। कला का वास्तविक रूप आध्यात्ममूलक है।

काव्य भी कला के क्षेत्र में आता है। किन्तु न तो वह अनुभूति, या मूर्त विधान और न दोनों का संयोग है किन्तु पं० बल्देव उपाध्याय के शब्दों में उसे 'अनुभूति का चिन्तन' या 'गीतिमय प्रतिमान' ही कहा जा सकता है। मानसिक व्यापार की क्रियाओं का उल्लेख कर क्रोचे ने काव्य को 'सत्यं शिवं, सुन्दरम्' के क्षेत्र से भी बाहर कर दिया है। वह 'सत्यं', शिवं' को व्यवहार जगत् की वस्तु मानता है। कला का मूल्य यदि 'सौन्दय' में है तो वह भी समीचीन नहीं क्योंकि सुन्दर और असुन्दर का विवेचन नहीं हो

सकता। अतः कला का मूल्य कला में ही है।' (Art for Arts'sake)

अभिव्यञ्जनावाद की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि समझने के लिए उपदेशवाद (Didacticism) को समझ लेना आवश्यक होगा। उपदेशवादी प्रवृत्तियों के पलायन से ही अभिव्यञ्जनावादियों का उत्थान हुआ है। किन्तु उपदेशवाद समाज की एक ऐसी ठोस मान्यता है, जो समाज और जीवन दोनों के सदैव निकट रहेगा। उपदेशवादी कलाकारों ने काव्य के रूप पक्ष की ओर नहीं, उसके उद्देश्य की ओर ही विशेष ध्यान दिया है। रस्किन इस सिद्धान्त का अनुयायी था "Ruskin said bluntly that the arts, must be didactic to the people, as their chief end" होरेस ने कलाकार को शिक्षक, अनुरञ्जक, या दोनों कहा है—, Horace asserts that the poet is to teach, to please, or to do both., दाँते ने नीति शास्त्र या नैतिक क्रिया-कलाओं पर ही अपनी सुखात्मक अनुभूतियों को आधारित किया है। Dante says that the genus of philosophy to which his comedy is to be assigned is moral activity or ethics." शेली जैसे कलाकारों ने भी 'उपदेशवाद' को अपने जीवन का महामन्त्र माना है। Shelly was outspopen, Didactic poetry is my abhorence." पीटर ने भी स्वच्छ कला को ही जीवन कहा है। Hist. of the world literature pp. 166, 2 0. "Peter says that Life should be lived as a fine art."

इसी उपदेशवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में क्रोचे ने 'अभिव्यञ्जनावाद' के रूप में अपनी सुसुप्त भावनाओं का हुँकार किया है। वह स्वभाव से ही मनुष्य को दार्शनिक या कलाकार समझता है। वह कल्पना को सौन्दर्य बोध या ग्रहण की शक्ति मानता है। बाह्य अभिव्यक्ति को आन्तर अभिव्यञ्जना का ही विशदतम प्रकटीकरण कहता है। कल्पना के अभाव में प्राकृतिक सौन्दर्य का शाश्वत स्पन्दन नहीं समझा जा सकेगा, क्योंकि अभिव्यञ्जना उसका एक मात्र क्षेत्र है। 'क्रोचे' की इन मान्यताओं का प्रतिवाद पहले तो पाश्चात्य कलाकारों ने किया है; किन्तु भारतीय समीक्षकों ने भी अत्यन्त मनोवेग के साथ उसकी वास्तविकता समझने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल, डा० दास, श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी, श्री गुलाबराय, डा० उपाध्याय प्रभृति उद्भट आलोचकों की पैनी दृष्टि से यह विषय अछूता नहीं है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि, द्वितीय भाग में इसे अपने यहाँ का पुराना 'अलङ्कारवाद' ही कहा है। किन्तु उन्होंने अभिव्यञ्जना या कल्पना की ऊँची उड़ान को ही सब कुछ नहीं मान लिया है। उनका स्पष्ट मत है, "अप्रस्तुतों (उपमानों) के प्रयोग में केवल सादृश्य साधर्म्य पर दृष्टि न रह कर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर भी ध्यान रहे।" क्रोचे का स्पष्ट मत है कि हमारे मन में कुछ संस्कार होते हैं, उसी से रुचि, स्मृति, ध्यान और अद्भुत की सृष्टि होती है। ये सब अभिव्यञ्जना के बाह्याङ्ग हैं। हमारी रुचि, हमारा ध्यान, हमारी स्मृति सदैव अद्भुत की ओर आकृष्ट होती है। उसी से हमारे मन में कुछ संस्कार निर्मित और प्रौढ होते हैं। सुन्दर, असुन्दर, सत- असत् का विचार तो मानसिक व्यापार से सम्बन्ध रखता है। उसने मन के कार्यों को ज्ञान और क्रिया में, ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान और तर्क सम्बन्धी ज्ञान तथा क्रिया को प्रेय (लाभात्मक) और श्रेय (कल्पनात्मक) भावों में विभाजित किया है। किन्तु जहाँ तक कला का क्षेत्र है वहाँ मन की तथा प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञान (Intuition) की सर्वाधिक प्रधानता ही निरूपित है। अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य का प्रतीक है, उसका विकास कला में होता है। कलात्मक अभिव्यञ्जना चार विभिन्न सरणियों में अभिव्यक्त होती है। अन्तः संस्कार, आध्यात्मिक कल्पनापरक योजना, आनन्द और उसकी शब्द, स्वर, गति, रेखा द्वारा अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य बोध के सापेक्ष्य साधन हैं।

अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के संबंध में 'क्रोचे' का स्पष्ट मत है कि "All art is expression, therefore all expression is art.

रहा काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में, इस पर भी उसका स्पष्ट मत है कि 'होमर' के 'ओडेसी' काव्य को पढ़ कर कितने लोग सैनिक हुए हैं। अर्थात् चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना ही लोगों में परिवर्तन करती है। यही कारण है कि काव्य में अभिव्यञ्जना का ही अधिक महत्त्व है।

कला स्वतः पूर्ण होती है। 'कला का उद्देश्य कला ही है।' कवि अपनी कल्पना के बल पर शब्द तथा अर्थ की अभिव्यञ्जना करता है, वह उससे उत्पन्न प्रभाव के चक्कर में नहीं पड़ता। गायक वीणा के तारों पर ही अपनी अंगुलियाँ घुमाता है, चित्रकार का ध्यान पूर्ण तन्मयता के साथ तूलिका फेरने में ही रखता है—उसके परिणाम की ओर नहीं रहता।

इस प्रकार यदि सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत विषय पर विचार किया जाय तो निम्नलिखित आक्षेप 'अभिव्यञ्जनावाद' के ऊपर लगाए जाते हैं।

१—'क्रोचे' ने कल्पना की प्रधानता से काव्य को ज्ञानात्मक (Intuition) माना है। किन्तु 'रस-सिद्धान्त' के अनुसार उसका मूल रूप भावात्मक माना गया है।

२—कल्पना का कार्य मूर्त रूप या आलम्बन खड़ा करना है तो इसका क्षेत्र कला तक ही क्यों सीमित किया जाय? विज्ञान, दर्शन या अन्य शास्त्रों तक उसकी पैठ क्यों नहीं है?

३—क्रोचे काव्यानुभूति और भावानुभूति में अन्तर समझता है क्योंकि भावानुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक होती है। यदि काव्यानुभूति का भावोद्रेक से सम्बन्ध नहीं है तो क्यों करुण आख्यानों को सुनकर आँसू निकलने लगते हैं?

४—वक्रोक्तिवाद व्यापक काव्य भावना है जिसमें रस और ध्वनि निहित हैं। यह पाश्चात्य अभिव्यञ्जनावाद नहीं हो सकता क्योंकि यह रीति, रस, ध्वनि को स्वीकार नहीं करता।

५—अभिव्यञ्जनावाद स्थूल रूप से केवल चमत्कारवाद है जिसमें न तो रस के लिए आग्रह है और न अलङ्कार के लिए प्रेम। वह कला के नैतिक आधार पर विश्वास नहीं रखता। 'कुन्तक' का 'वक्रोक्तिवाद' केवल वाग्वैदग्ध्य नहीं है जो केवल शब्द या अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करता है।

६—'क्रोचे' ने काव्य का जीवन और जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा।

७—काव्य के मानसिक व्यापार का सम्बन्ध श्रोता या पाठक से नहीं रहता है।

८—मन को ही सब कुछ मान लेना तथा जगत् को भी मानसिक वृत्ति का प्रतिबिम्ब कह देना उचित नहीं था।

अतः उपर्युक्त विवेचन से विचारक 'क्रोचे' के 'अभिव्यञ्जनावाद' के मूल तक पहुँचने में किसी भी कठिनाई का अनुभव न करेंगे! आशा है, विचारकों का सन्तुलित दृष्टिकोण इस विषय की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया तक पहुँच कर भारतीय 'रसवाद' से उसका समन्वय करेगा, जो इससे भी आगे की वस्तु है!

(पृष्ठ १७७ का शेषांश)

इस तरह हम देखते हैं कि विद्यापति शैव थे, उनने गङ्गा और शक्ति की प्रार्थना की है, शिव से सम्बन्धित रहने के कारण शुक्लजी ने भी लिखा है—"विद्यापति शैव थे, उन्होंने इन पदों की रचना शृङ्गार काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति का कृष्ण-भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिये।" श्री विश्वनाथ मिश्रजी का भी विचार है कि "विद्यापति के राधाकृष्ण शृङ्गार या काव्य के देवता हैं, भक्ति के नहीं।"

विद्यापति का धर्म-सम्प्रदाय

प्रो० धनेश्वर झा एम० ए०

विद्यापति को अमरत्व प्रदान किया है उनके पदों ने, इस सम्बन्ध में शङ्का हो ही नहीं सकती है। ये एक शृङ्गारी कवि थे और शृङ्गार के आराध्यदेव हैं श्रीकृष्ण इसलिये इनके पदों के भी। किन्तु इनके पदों में हम इनका कवि रूप ही पाते हैं जिनमें यौवन की पुकार है, दरबारी वातावरण का प्रभाव है। किन्तु इस कवित्व के अतिरिक्त भी इनका एक रूप है और वह है भक्ति का जिससे विरले ही व्यक्ति बच पाये हैं। रसराज के उपासक अन्त में निराश होकर कहते—

'माधव हम परिणाम निराशा।
तोहे जगतारण दीन दयामय, अतए तोहर विसवासा॥'

और भक्ति में अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए, सफाई देते—

'आध जनम हम नींद गमापनु, जरा शिशु कत दिन गेला,
निधुवन रमनि रभस रंग मातनु, तोहें भजव कौन बेला।'

हाँ, विद्यापति एवं अन्य भक्त-कवियों में अन्तर अवश्य है। वे तुलसी की तरह पहले भक्त कवि नहीं हैं वरन् पहले कवि हैं तब भक्त। अतः हम देखें कि विद्यापति ने ईश्वर के किस रूप की उपासना की है।

विद्यापति के धर्म-सम्प्रदाय बहुत दिनों तक विवाद के विषय थे और अभी भी इन्हें वैष्णव मानने वालों का अभाव नहीं है। इनके पदों में राधा-कृष्ण के नाम को देख कर लोगों ने इन्हें वैष्णव मान लिया था। इतना ही नहीं, महाप्रभु चैतन्य भी इनके पदों को गाते हुए मूर्च्छित हो जाते थे, ऐसा कहा जाता है। बहुत से आलोचक दुर्गा सम्बन्धी भक्ति के कुछ पदों को देखकर इन्हें शाक्त समझ लेते हैं किन्तु प्रमाण इन्हें शैव ही सिद्ध करते हैं, हाँ, विष्णु-द्रोही नहीं। क्योंकि ये कहते—

'भल हरि भल हर भल तुअ कला।
खनहिं पित बसन खनहिं बघछला॥
खन पंचानन खन भुजचारी।
खन संकर खन देव मुरारी॥'

कहीं-कहीं इनने श्रीकृष्ण को भी परमात्मा का अवतार समझ कर इनकी वन्दना की है किन्तु ऐसे स्थल कृष्ण के शृङ्गार-रूप के समक्ष नगण्य ही हैं।

इनके राधाकृष्ण कभी साधारण नायक-नायिका के प्रतीक हैं तो कभी राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी के जिनके ये आश्रित थे। अधिकांश स्थलों में इनके कृष्ण लम्पट युवक मात्र हैं जो कभी चीर हरण करते तो कभी रास रचाते हैं। निम्न लिखित पद के कृष्ण कभी इनके आराध्यदेव नहीं हो सकते जिनके विषय में सखी कहती है—

'कुँज भवन सँय निकसलि रे, रोकल गिरिधारी।
एकहि नगर बस माधव हे, जनि करिय उघारी॥'

इतना ही नहीं—

'छाड़ कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नव सारी।
अपजस होयत नगर भरि हे, जनि करिय उघारी॥'

इस सरस वर्णन के अतिरिक्त हम देखते हैं कि इनकी जन्मभूमि में ही इनके पदों का प्रचार भक्ति काव्य के रूप में नहीं है। इनका प्रयोग तो विवाहादि शृङ्गारिक अवसरों पर ही होता है। तीर्थाटन, व्रत-पूजादि भक्ति के अवसर पर इनके शिवगीत ही गाये जाते हैं जो नाच-नाच कर गाने के कारण 'नचारी' कहे जाते हैं। इस दृष्टि से भी हम इन्हें वैष्णव न कह शैव ही कहेंगे।

किसी भी प्राचीन कवि के सम्बन्ध में चाहे वे विद्यापति हों वा कबीर, सूर हों वा तुलसी, किम्वदन्तियों का भी महत्व कम नहीं है। इस महाकवि के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है कि इनके शैव पिता ने वाणेश्वर महादेव की उपासना के उपरान्त ही यह पुत्र रत्न पाया था। ये वाणेश्वर महादेव अब भी इनकी जन्मभूमि 'बिस्पी' के उत्तर भेड़वा नामक ग्राम में हैं जिनकी ओर संकेत कर कवि कहते हैं—

'आन चान गन हरि कमलासन, सब परिहरि हम देवा।
भक्तबछल प्रभु बान महेसर, जानि कयल तुअ सेवा॥'

(अन्य व्यक्ति चन्द्र और विष्णु की पूजा करते हैं किन्तु उन देवताओं को छोड़कर हे वाणेश्वर ! मैंने आपको भक्तवत्सल जानकर आपकी सेवा की है)

इनके सम्बन्ध में 'उगना' वाली किंवदन्ती भी प्रसिद्ध है जिसमें भक्ति-विवश हो शिव का इनके यहाँ 'उगना' नाम धारण कर दासत्व ग्रहण करना कहा गया है, जिनके अन्तर्धान होने पर ये गाते फिरते थे—

'उगना रे मोर कतय गेला।
कतय गेला सिव कीदहु भेला॥'

इनके अतिरिक्त मृत्यु के समय गंगा यात्रा एवं मृत्युपरान्त इनकी चिता पर शिवलिंग की स्थापना भी इन्हें शैव ही प्रमाणित करती है। शैव होने के कारण ही इन्होंने शिव की शक्ति की वन्दना की है—

'जय जय भैरवि असुर भयाउनि, पशुपति भामिनी माया।
सहज सुमति बर दिअओ गोसाउनि, अनुगति गति तुअ पाया'

और शिव की जटा निवासिनी गंगा से भी कहते हैं—

'कत सुख सार पाओल तुअ तीरे।
छाड़इत निकट नयन बह नीरे॥
कर जोरि बिनमओं बिमल तरंगे।
पुन दरसन होए पुनमति गंगे॥
एक अपराध छमब मोर जानी।
परसल माय पाय तुअ पानी॥'

ये अपने आराध्यदेव शिव के रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"जोगिया एक हम देख लौंगे माई,
अनहद रूप कहलो ने जाई।
पंच बदन तिन नयन बिसाला,
बसन बिहुन ओढ़न बघछाला।
सिर बहे गङ्ग तिलक सोहे चन्दा,
देखल सरूप मेटल दुख दन्दा।"

('अर्थात् असीम सुन्दर शिव पञ्चमुख एवं त्रिनेत्र हैं, वे वस्त्र-विहीन हैं और बाघ-चर्म ओढ़ते हैं उनकी जटा में गङ्गा और भाल में चन्द्र विराजमान हैं। इस रूप को देख कर दुख-द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं।) कवि शिव के अर्द्ध नारीश्वर रूप का वर्णन करते हुये कहते हैं—

"जय जय शङ्कर जय त्रिपुरारि,
जय अध पुरुष जयति अधनारि।
आध धवल तनु आधा गोरा,
आध पटोर आध मुँज डोरा।
आध हड़माल आध गज मोती,
आध चानन सोहे आध बिभूती।"

इनके आराध्य देव 'शिव' हैं, रुद्र नहीं। वे लोगों को सुख ही देते, दुख नहीं। स्वयं कष्ट सहकर भी भक्तों का कल्याण करते। इनने आजन्म दरबार का सेवन किया उपार्जित सम्पत्ति द्वारा अपने परिवार का पालन किया, किन्तु अन्तिम समय में इन्हें पश्चात्ताप होता कि:—

"जतेक जतेक धन पाप बटोरल,
मिलि मिलि परिजन खाय।
मरनक बेरि हरि केओ न पूछए,
करम संग चल जाय।"

तो फिर उसी अशरण शरण शिव की शरण में जाते हैं और कहते हैं:—

"तोहें प्रभु त्रिभुवन नाथे, हम निरदोस अनाथे।
करम धरम तप हीने, पड़लहुँ पाप अधीने।
बेड़ भसल मँझ धारे, भैरव धरु करु पारे।"

(अर्थात् इस संसार सागर में मेरी जीवन नौका फँस रही है, आप त्रिभुवन नाथ हैं और मैं धर्म कर्म विहीन अनाथ हूँ। अतः हे भैरव आप ही पार लगा सकते हैं।)

इन्हें शिव की दयाशीलता पर विश्वास है और उद्धार में समय लगते देख कहते हैं:—

"करवन हरब दुख मोर हे भोलानाथ,
दुखहि जनम भेल, दुखहि गमाएब,
सुख सपनेहुँ नहिं भेल हे भोलानाथ।"

और उनसे अब धन सम्पत्ति न माँग सद्गति ही माँगते हैं:—

"भन विद्यापति मोर भोलानाथ,
गति देहु अभय बर मोहि।"

(शेष पृष्ठ १७५ पर देखिए)

तुलसी की नारी-भावना

श्री कृष्णनन्दनप्रसाद 'अभिलाषी' एम० ए०

तुलसी-साहित्य के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों की दृष्टि में तुलसी की महानता अपूर्ण है। सृष्टि के निर्माण में जितना सहयोग पुरुष का है, उससे कहीं अधिक नारी का है। अतः नारी पुरुष की अपेक्षा अधिक आदर और सम्मान की अधिकारिणी है। तुलसी-साहित्य में नारी को यह उचित सम्मान नहीं दिया गया है, ऐसा उनका विचार है। डा० माताप्रसाद का विचार तो एक पग और आगे का है। उनका कहना है कि तुलसी ने नारी को सम्मानित करने के बदले अपमानित किया है। वे नारी के प्रति बड़े उदासीन थे। अपने कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिए उन्होंने तुलसी साहित्य से निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।

१—कवने अवसर का भयउ, गयउ नारि विस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अविद्या नास॥

अयोध्या—दशरथ

२—काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाय।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाय॥

अयोध्या—अयोध्यावासी

३—भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ विकल सकै मनहिं न रोकी।
जिमि रवि-मनि द्रवै रविहि बिलोकी॥

कविः शूर्पणखा की प्रणययाचना

४—राखिअ नारि जदपि उर माहीं।
जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं॥

सीताहरण के पश्चात् राम लक्ष्मण से

५—नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥

मन्दोदरी से रावण

६—सहज अपावनि नारी।
पति सेवत सुभ गति लहइ॥

अरण्य—अनुसूया सीता से

७—अधम से अधम, अधम अति नारी। —रावरी

८—ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥ —समुद्र

९—महा वृष्टि चलि फूटि कियारी।
जिमि स्वतन्त्र भये बिगरहिं नारी॥ —कवि

१०—विधिउ न नारि हृदय गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी॥

—अयोध्या—भरत

मेरे विचार से उपरोक्त सारे उद्धरण युक्ति संगत हैं। कवि ने पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही इनकी सृष्टि की है। इनमें न वह उदार है और न अनुदार। अपने विचार की पुष्टि में मैं प्रत्येक उद्धरण पर विश्लेषणात्मक प्रकाश डालने का प्रयत्न करता हूँ।

सर्व प्रथम उद्धरण रामायण के अयोध्याकाण्ड से लिया गया है जिसमें राजा दशरथ की वाणी अभिव्यक्त हुई है। ये पंक्तियाँ उस समय की हैं जब राम राज्याभिषेक की तैय्यारी सुनकर रानी कैकेयी दशरथ से अपने दो कटु वरदान मांगती है। कैकेयी की वरदान-याचना सुनकर राजा दशरथ पर वज्र टूट पड़ता है। स्वप्न में भी उन्हें कैकेयी से ऐसी आशा नहीं थी। कैकेयी पर उन्हें स्नेह के साथ-साथ पूर्ण विश्वास भी था। वही कैकेयी जब उनके जीवन की सर्वश्रेष्ठ अभिलाषा को क्षण मात्र में पैरों तले कुचल देती है—ऐसे समय में उनकी कैसी विक्षिप्त दशा होगयी होगी, यह अनुमान करने की बात है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति सब कुछ कह सकता है। मनुष्य किस पर विश्वास करे? अतः ये पंक्तियाँ स्वाभाविक हैं।

दूसरे उद्धरण की पंक्तियाँ उन ग्रामीण नर-नारियों की हैं जिन्हें वन-पथ गामी सुकुमार राम, लक्ष्मण, सीता को देख कर तरस आया था। उनके दुःख का कारण एक नारी को जान कर सारा जन-समाज क्रोध और आवेश में भर गया। स्त्रियाँ सङ्कोच से गढ़ गईं। उसी

समय पुरुष वर्ग ने नारी-शक्ति के पक्ष में उपरोक्त निर्णय दिया। इसमें कवि का क्या दोष है? परिस्थितियों ने उसे ऐसा लिखने को बाध्य किया।

तीसरा उद्धरण अधिक कटु है, क्योंकि अधिक सत्य है। शूर्पणखा जैसी राक्षसी प्रवृत्ति वाली स्त्रियों का स्वभाव ऐसा ही कामी और लोभी होता है। राम का मनोमुग्धकारी रूप देख कर शूर्पणखा का हृदय मचल उठा उन्हें अपनाने को। किन्तु जब वह अप्राप्य सिद्ध हुये तो वह लक्ष्मण की ओर मुड़ी, पर वह तो और भी दुष्प्राप्य प्रतीत हुए। फलतः वह व्याकुल हो गई। उसकी व्याकुलता और विह्वलता का एक मात्र कारण रूप लोभ ही था। ऐसी स्थिति में उसकी जैसी राक्षसी के लिए यदि कवि ने इन पंक्तियों को लिख डाला तो कौन सा महापाप किया!

चौथे उद्धरण का अर्थ है कि यद्यपि व्यक्ति नारी, शास्त्र और नृप को प्रेम और आदर से अपनाना चाहता है, पर वह उन्हें अपना नहीं पाता। कारण यह है कि नारी-चरित्र में जो विविधता और उसके हृदय में जो विशालता है, शास्त्रों में जो गहनता और नृप नीति में जो व्यापकता है, वह एक सामान्य व्यक्ति में कैसे सब के सब समाहित हो जायँ! ऐसा हो जाने पर नारी वह नारी नहीं रह जायगी जिसके लिए युगों से यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—"दैवो नाजानासि नारीचरित्रम्।" फिर वह शास्त्र क्या जो सब कण्ठस्थ हो जाय! और नृप-नीति यदि पकड़ में आ ही गई तो फिर उसकी विशेषता क्या रही? अतः ये पंक्तियाँ भी अपना महत्व रखती हैं।

एक बात और। प्रस्तुत उद्धरण सीता हरण के पश्चात् राम का कथन है। सीता स्वेच्छा से रावण के साथ नहीं गई थीं—यह सर्व विदित है। ऐसी स्थिति में यही अर्थ लेना उचित होगा कि जो वस्तु जितनी प्रिय होती है, खो जाने पर उसके लिए उतना ही अधिक दुःख होता है। और यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति उसी वस्तु को दोष देता है। राम का कथन भी इसी वर्ग का है।

पाँचवाँ उद्धरण रावण द्वारा मन्दोदरी को उस समय कहा गया गया है जब सीता के लिए कामान्ध रावण को मन्दोदरी सद्बुद्धि देती है। भला रावण—जिसे अपने बल और बुद्धि पर गर्व और विश्वास था—अबला नारी की बात क्यों सुनता! वह लगा भला-बुरा सुनाने उसे। उसी वाग्धारा में ये पंक्तियाँ भी निकल पड़ीं। अब स्वयं ही विचार करें कि इसमें कवि कहाँ तक दोषी है?

महात्मा लोग अपने को सदा नीची दृष्टि से देखा करते हैं। संसार को अपने से ऊपर और बड़ा देखना उनका स्वभाव है। अनुसूया भी एक ऐसी ही महान आत्मा थी। वह तपस्विनी के साथ ही विदुषी भी थी। छठा उद्धरण सीता से उन्हीं का कथन है जिसमें एक ओर स्वभावगत नम्रता है और दूसरी ओर जातिगत धर्म का सदोपदेश। उनके लिए यह कहना—'सहज अपावनी नारी' उचित ही है।

राम-रस में माती हुई शबरी ने भी इसी दृष्टि से अपनी जाति को बार-बार 'अधम से अधम' कहा है। उसकी इस कटु आलोचना में नारी जगत् का कल्याण छिपा है। नारी ही क्या पुरुष-वर्ग भी यदा-कदा ऐसी कटु आलोचना सुनता आया है। मानव जीवन के लिए ऐसे वाक्य अति आवश्यक हैं।

आठवें उद्धरण की पंक्तियाँ अपनी कटुता के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका 'ताड़न' शब्द सारा महत्व छिपाए है। श्लेष ने कवि की खूब सहायता की है। नारी को 'ताड़ना' (मारना-पीटना) दी जाय—यह ठीक नहीं। कवि ने सोचकर नहीं लिखा। परन्तु जब—

विषय जीव पाई प्रभुताई।
मूढ़ मोह बस होइ जनाई॥

तब तो ताड़ना आवश्यक है। कुमार्ग पर चलने वालों को सद्पथ पर लाना सद्पुरुषों का कर्तव्य है। यदि नारी कुमार्ग पर न चले तो उसे किसी रोक-टोक की आवश्यकता नहीं।

नवें उद्धरण को पढ़कर नारी स्वातन्त्र्य के आधुनिक पुजारी बौखला उठते हैं और कड़े शब्दों में कहने लगते हैं कि तुलसी नारी स्वतन्त्रता के विरोधी थे। पर बात ऐसी नहीं है। ऐसा कहना उनके प्रति अन्याय होगा—क्योंकि उन्हीं के 'रामचरित मानस' के बालकाण्ड में पार्वती से

उनकी माँ कहती हैं—

'पराधीन सपनेहु सुख नाहिं'

बात यह है कि तुलसी को नारी स्वातन्त्र्य से नहीं, उसके अति से भय था। कहा भी है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। स्वतन्त्रता मिलने पर स्त्री क्या, पुरुष भी बिगड़ जाते हैं। अतः यदि तुलसी ने यह कहा—'जिमि स्वतन्त्र भये बिगरहि नारी' तो कौनसा बुरा काम किया।

अन्तिम पदखण्ड अयोध्याकाण्ड से लिया गया है और इसके कहने वाले भरत हैं जिन्हें राम के लिए अनन्य भक्ति थी और जो उन्हीं के लिए जीना सफल और सार्थक समझते थे। ननिहाल से लौटने पर जब उन्हें मालूम हुआ कि उनके हितार्थ मां कैकेयी की आज्ञानुसार राम चौदह वर्ष के लिए अकारण ही बिलकुल निरपराध बन चले गए, तब उनकी आत्मा अपनी नीचता के लिए क्षोभ और ग्लानि से भर गई और उनका हृदय स्वार्थिनी और निकृष्ट बुद्धि वाली माता के लिए क्रोध और आवेग से उबल पड़ा। आज उनके सारे दुःख, सारे पाप और कलङ्क तथा सारे क्षोभ और ग्लानि का एक मात्र कारण वही मां थी जिसके लिए उनके हृदय में प्रेम और स्नेह था, बल और विश्वास था। उसीने जब ऐसा किया तो फिर संसार में दूसरा और कौन हित चाहने वाला था! पुत्र होकर भी वे उसकी प्रकृति पहचान न सके। ऐसी ही मानसिक और हार्दिक विह्वलता की स्थिति में ये पंक्तियाँ निकल पड़ी हैं उनके मुख से। क्या इनमें अस्वाभाविकता है! क्या इनमें अनुचित अनुदारता है! क्या इनमें पुरुष वर्ग का पक्षपात है? नहीं! नहीं! कुछ नहीं।

अतः इस विवेचन और विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि तुलसी पर किये गये नारी सम्बन्धी आक्षेप निराधार और निरर्थक हैं। उन पंक्तियों में अनुदारता के स्थान पर उदारता और स्वाभाविकता है। तुलसी नारी के प्रति पूर्ण निष्पक्ष और सहृदय हैं। इसके प्रमाण में कुछ अन्य तथ्य उपस्थित किए जाते हैं।

सर्व प्रथम ध्यान देने की बात यह है कि जिस व्यक्ति की स्त्री (पत्नी रतना) के ही मुख से भगवत-प्रेम की दीक्षा मिली हो—भला वह स्त्री वर्ग के ऊपर कैसे अन्याय कर सकता है! उन्होंने तो स्पष्ट लिखा है—

'हमतो चाखा प्रेम रस, पतनी के उपदेस'

दूसरी बात यह है कि जिस तुलसी ने मीरा को यह आदेश भेजा था—

जाके प्रिय न राम वैदेही

तजिए ताहि कोटि बैरी सम जदपि परम सनेही॥

वह तुलसी नारी की उपेक्षा कैसे कर सकते थे और यदि कभी उपेक्षा की तो इसी बाधा के रूप में।

यदि तुलसी नारी के प्रति मन से उदासीन रहते तो कभी उसका लेशमात्र भी गुण या विशेषता प्रदर्शित नहीं करते। किन्तु यदि हम आँख खोल कर ध्यान से देखें तो स्पष्टतः पायेंगे कि उच्च-वर्ण-कुल की बात कौन करे, तारा जैसी वानर-नारी तथा मन्दोदरी और सुलोचना जैसी राक्षस स्त्रियाँ भी विदुषी और सद्बुद्धि वाली चित्रित की गई हैं। मन्दोदरी तो रावण जैसे महापण्डित को भी उपदेश देती है।

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।

नारि सिखावन करेसि न काना॥

इनके अतिरिक्त अनुसूया, शबरी आदि तपस्विनियों के रूप भी अङ्कित किए गए हैं। सीता तो तुलसी की आदर्श नारी थीं हीं। कौशल्या आदर्श मां का स्थान ग्रहण करती हैं।

चौथी बात यह है कि तुलसी की दृष्टि में स्त्री को मां-रूप का आदर पुरुष-पिता से कहीं ऊपर था, तभी तो कौशल्या राम से बन-गमन के सम्बन्ध में कहती हैं—

जौं केवल पितु आयुस ताता।

तौ जनि जाहु जानि बड़ माता॥

जौं पितु मातु कहेऊ बन जाना।

तौ कानन सत अवध समाना॥

पाँचवीं बात यह है कि तुलसी के समय में बहु-विवाह की प्रथा बड़े जोरों से आगे बढ़ रही थी। तुलसी इसका परिणाम अच्छी तरह जानते थे। इसी बहु-विवाह के कारण दशरथ को प्राण त्यागना पड़ा। राम को बन जाना पड़ा और स्वयं कैकेयी को कलङ्किनी बनना पड़ा। अतः तुलसी इसको रोकना चाहते थे—जिसकी और

तत्कालीन नारी-पुरुष आगे बढ़ रहे थे। ऐसी अवस्था में नारी निन्दा आवश्यक और उचित थी।

छठी बात यह है कि तुलसी ने एकनिष्ठ, पतिव्रता नारी को सदा आदर की दृष्टि से देखा है। इसका उज्ज्वल प्रमाण 'मानस' के बालकाण्ड में ही मिलता है जहाँ पार्वती यह प्रण करती है—

जनम कोटि लगि रगर हमारी।
बरौं सम्भु न तु रहौं कुमारी॥

इसी शम्भु के अपमान के कारण वह अपने पिता की यज्ञ-अग्नि में भस्म हुई थी। तुलसी ने कहीं कहीं स्त्रियों को पतिव्रत का उपदेश भी दिया है जिसमें बताया है कि नारी का एक मात्र धर्म मन-वचन-कर्म से पति की सेवा करना है—

एकइ धरम एकु ब्रत नेमा :
काय वचन मन पति पद प्रेमा॥

तुलसी को विशिष्ट नारी की मर्यादा की अधिक चिन्ता थी। इसीलिए राम ने बाली को इन शब्दों में डाँटा था—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी।
सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई।
ताहि बधे कछु पाप न होई॥

अगली बात यह है कि तुलसी के आदर्श पुरुष राम थे जिन्होंने बाली को छिप कर मारा और पश्चात्ताप में एक शब्द भी नहीं कहा। राम को ओर से बाली को कोई खटका नहीं था। किन्तु कैकेयी—जिसे राम की उपस्थिति से खटका था—राम को बनवास दिलाने के कारण सदा के लिए कलङ्कित हो गई—यद्यपि अपनी सफाई देने के लिए उसके पास यथेष्ट तर्क थे। यहाँ पर पुरुषों के प्रति कवि ने जो पक्षपात किया—डाक्टर साहब उसे मार्क करने में चूक गए।

इसी प्रकार गर्भवती, निःसहाय, निरावलम्ब सीता का आजीवन के लिए, एक क्षुद्र धोबी के अपवाद हेतु, बनवास के कठोर दंड देने में राम रूप में पुरुष वर्ग की कठोरता और स्वार्थता का आभास मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस तुलसी ने यदा-कदा नारी की निन्दा की है, उसी ने अपने वर्ग पुरुषों को भी निन्दा के थपेड़ों से घायल किया है। एक दो उदाहरण और देखिए—

१—सुभ गति पाव कि परतिय गामी।
२—कामी पुनि कि रहइ अकलङ्का।

तुलसी को सती स्त्रियों पर बड़ा विश्वास था। वह उनके लिए उदाहरणीय बन गई थीं। सीता स्वयंवर के अवसर पर वे लिखते हैं—

डिगइ न संभु सरासन कैसे।
कामी वचन सती मन जैसे॥

सतीत्व की मूर्ति सीता के चरणों पर महा पण्डित रावण को भी झुक कर प्रणाम करना पड़ा था—

सुनत वचन दस सीस लजाना।
मह महँ चरन बंदि सुख माना॥

कुछ लोगों ने तुलसी की नारी-निन्दा का कारण रूढ़िगत परम्परा माना है, क्योंकि श्रीमद्भागवत और मनु-पुराण में स्त्रियों की काफी निन्दा की गई है। उदाहरणार्थ भागवत में लिखा है कि स्त्रियाँ तो त्याज्य हैं ही, उनकी सङ्गति करने वाला भी त्याज्य है। महाराज मनु ने भी नारी-स्वतन्त्रता का विरोध किया है।

पर विचारणीय बात यह है कि तुलसी जैसा महा-मौलिक कवि रूढ़िवादी नहीं हो सकता।

कुछ लोगों का विचार है कि नारी के प्रति तुलसी की उपेक्षा की भावना उनकी स्वाभाविक कठोरता के कारण थी क्योंकि बालपन में न तो उन्हें माँ की ममता मिली और युवापन में स्त्री का पूरा प्यार मिला। तुलसी जैसा महाकवि स्वभावतः नीरस कठोर — यह कहना महा असङ्गत है।

इस सम्बन्ध में महात्मा गान्धी ने लिखा है—'गोस्वामी तुलसीजी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है।' किन्तु कला की कसौटी पर यह कथन भी सत्य नहीं जँचता। एक तो तुलसी ने अन्याय किया ही कहीं, और यदि किसी की दृष्टि में कुछ अन्याय हो भी गया तो कुछ उद्देश्य से ही। और वह उद्देश्य था धर्म की दृष्टि से उप-

(शेष पृष्ठ १८६ पर देखिए)

सदल मिश्र का हिन्दी का रूप

श्री हरेन्द्रप्रताप सिन्हा, एम०-ए०, रिसर्च स्कालर

जब अँग्रेजों ने अपना प्रभुत्व भारत में जमा लिया तब उन्होंने यहाँ की भाषा सीखनी चाही। अभी तक हिन्दी में कविता का ही अधिक प्रचार था, गद्य की रचनायें बहुत कम हुई थीं। अतएव उन्हें उर्दू और हिन्दी दोनों ही गद्य की आवश्यकता हुई। जब सन् १८०३ में गिलक्राइस्ट ने गद्य पुस्तकों को तैयार करने के लिये हिन्दू-मुसलमान विद्वान कालेज में बुलवाये तो हिन्दी के लिए श्री लल्लूलाल और सदल मिश्र बुलाये गये। हिन्दी गद्य-साहित्य रचना का बहुत कुछ श्रेय सैयद इन्शाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र को है। श्री नलिनी मोहन सान्याल ने 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखते हुए कहा है—"हिन्दी भाषा अर्थात् खड़ी बोली लल्लूलाल और सदल मिश्र की देन मानी जा सकती है। इसी तरह का समर्थन ग्रीव्ज तथा अन्य हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में भी पाया जाता है। सैयद इन्शाअल्ला तो कालिज के बाहर रहकर काम करते थे।

सदल मिश्र की भाषा का विचार करते समय हमें यह याद रखना चाहिये कि वे बिहार में आरा जिले के रहने वाले थे। अतएव उन पर बिहारी प्रभाव है। बिहारी बँगला भाषा से बहुत प्रभावित है। अतएव मिश्रजी पर भी बँगला प्रभाव है। उदाहरण के लिए—

"हंस, सारस, चक्रवाक आदि पक्षी भी तीर-तीर सोहावन शब्द बोलते, आसपास के गाछों पर कुहूँ कुहूँ कोकिलें कुहुक रहे थे, जैसे बसन्त ऋतु का घर ही होय।"

इसमें 'गाछों' शब्द बिहारी का है जो बंगला से आया है। इसी प्रकार "यह तो अनाथ स्त्री कोई काँदती है।" में काँदती शब्द बंगला का है। मुसलमानी शासन-काल में पटना, मुर्शिदाबाद आदि में मुसलमानों का यथेष्ट प्रभाव रहा जिससे बिहारी भाषा पर उर्दू का भी प्रभाव पड़ा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सदल मिश्र की भाषा है। और सत्य तो यह है कि अन्य भाषाओं की अपेक्षा उर्दू का ही उनकी भाषा पर विशेष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उर्दू के मुहावरे, वाक्यावली आदि की ओर विशेष ध्यान दिया है—'सुनते ही आग हो गये', 'सुग्गा सा पढ़ाया', 'हर्ष से दूने हो' मुहावरों में उर्दूपन है। इससे इनकी भाषा सजीव बन पड़ी है। ये गद्यमें 'कि' 'वो' का अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ—

"वो भी तरजन मुनि ने जो आश्चर्य की बात कह थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा कहते कि—

विभक्ति के रूप में 'सा' और "सारी" के प्रयोग भी हैं। "निपट आश्चर्य मुझको लगा कि" देखने को मैं आया हूँ कि 'उठकर बैठी और लगी सोचने' फिर लगी कहने आदि में उर्दू के ढङ्ग के वाक्य हैं उर्दू के साँचे में ढली हुई है। ऐसा लगता है कि सदल मिश्र ने अपने सम्मुख भाषा का कोई आदर्श नहीं रखा।

लल्लूलाल के गद्य में एक माधुर्य है जो कि मिश्रजी की भाषा में नहीं, कारण यह है कि बिहार और विशेषतः आरा ब्रजभाषा के प्रभाव से अछूता रहा। जो ब्रजभाषा के शब्दों के प्रयोग हुये भी हैं तो वे परिवर्तित रूप में। जैसे 'चहुँदिस', 'सोनन्ह', 'साँची', 'हँय' आदि 'आवते' 'जावते' परिवर्तित रूप है। यों उन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग किया है। स्वतन्त्र रीति की गद्य की परिपाटी चलानी चाही। भाषा की प्रौढ़ता की दृष्टि से वे अपने समय के गद्यकारों से श्रेष्ठ ठहरते हैं। मिश्रजी के पूर्वज संस्कृत के उद्भट विद्वान थे और वे स्वयं भी जिससे कि संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। मिश्रजी की भाषा में पूर्वी शब्दों का प्रयोग भी अधिक है। "स्मरण किये से, इहाँ, जुड़ाई, बाजने लगा, जौन जौन" आदि पूर्वी शब्द हैं। कदाचित मिश्रजी ने अवधी साहित्य का अध्ययन किया होगा और दूसरा कारण बिहार और पूर्वी भाषा-भाषी

प्रान्त का सामीप्य है ही। इनकी भाषा में पण्डिताऊपन है जोकि कहीं-कहीं सकर्मक क्रियाओं के प्रयोग में देखा जा सकता है। जैसे—"बात को सुनते हैं, पीड़ा को सहते हैं।" "सोई और फिर" जैसे वाक्यांश हमें गलियों में कथावाचकों की भाषा का आभास देता है।

सदल मिश्र की भाषा गठीली है और लल्लूलाल की तरह भाषा में लचरपन नहीं है। भाषा में तोड़-मरोड़ नहीं और न शब्दों का जाल ही। उनका गद्य गद्य प्रतीत होता है। उनकी शैली सरल है क्लिष्टता बिल्कुल नहीं मिलती। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं, लल्लूलाल की भाँति लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग नहीं करते। सदल मिश्र चूँकि कवि नहीं थे इसीलिये शायद अनुप्रास और तुकान्त वाली भाषा नहीं मिलती। शब्दों का दुहराकर प्रयोग किया है जैसे "उथल-पुथल, रोना-कल्पना" आदि। मुहावरों का प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है। व्याकरण सम्बन्धी भूलें बहुत पायी जाती हैं। वचन संज्ञा आदि के विषय में शिथिलता मिलती है, इसका कारण केवल यही हो सकता है कि उस समय तक व्याकरण के नियम नहीं बने थे। उर्दू शब्द योजना में इनका झुकाव सैयद इन्शा की ओर अधिक है। कहीं-कहीं पर क्रिया पद का निर्माण स्वतन्त्र रूप में भी किया है जैसे—'इतों की ब तक ही'

सन् १८०३ में उन्होंने नासिकेतोपाख्यान की रचना की। नासिकेतोपाख्यान संस्कृत में वर्णित नचिकेत की कथा के आधार पर है।

उनकी भाषा का रूप समझने के लिए नासिकेतोपाख्यान का एक अंश नीचे दे रहा हूँ—

"एक दिन जब राजा की कन्या चन्द्रावती अपनी सहेलियों के साथ गङ्गा-तट पर पहुँची तो उसने देखा कि एक कमल का फूल सोने का सा बनाया, महा सुगन्ध, कुश से लपेटा हुआ सन्मुख बहा चला जा रहा है। उसने एक सखी से उसे ला देने को कहा। सुनते ही सखी ने लाकर राजपुत्री के हाथ में उस कमल को रख दिया राजकुमारी जब उसे सूँघने लगी तो वह बीज नाक के मार्ग से उसके पेट में चला गया। कालान्तर में राजकुमारी को गर्भ रह गया। उसके माता-पिता को उसके गर्भ का पता चला तो उनके पछताने की कोई हद न रही। राजा ने क्रोध में आकर चन्द्रावती को देश निकाला दे दिया। वह ऋषियों के पवित्र तपोवन में जाकर अपने जीवन को व्यतीत करने लगी। थोड़े समय के पश्चात् उसके एक पुत्र की उत्पत्ति हुई। वह पुत्र नाक से जन्मा था इसलिए उसका नाम नासिकेत रखा गया। उस पुत्र के जन्म से जब उसकी ऋषियों की सेवा में विघ्न पड़ने लगा तो उसने एक घास के बोझे पर रख के उसे गङ्गा में बहा, आप जा मुनियों को हर्षित हो फिर सेवने लगी कि जिससे थोड़े ही दिन में ज्ञान-विज्ञान को पहुँची।"

इस उपर्युक्त वाक्यांश को पढ़ कर हमें यही भास होता है कि आज के किसी लेखक द्वारा लिखा हुआ गद्य है, १५० वर्ष पुराना नहीं। आज के गद्य के बहुत ही निकट मालूम पड़ता है और इसे देख कर यह कहना पड़ता है कि गद्य को आधुनिक रूप देने का श्रेय सदल मिश्र को ही है।

(पृष्ठ १८१ का शेषांश)

देश देना और काव्य की दृष्टि से परिस्थिति अनुकूल कथा-प्रवाह की रक्षा करना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तुलसी ने कहीं भी जान-बूझ कर नारी की निन्दा नहीं की है और यदि कहीं अनजान रूप में हो भी गई है तो उसे भोग की वस्तु समझकर ही। उन दिनों और आज भी, चन्दन, माला और स्त्री सुख की सामग्री समझी जाती थीं—

चन्दन बनितादिक भोग।'

ऐसे जिन स्थलों पर वे आक्षेप के पात्र बने हैं उन स्थलों पर नारी इसी तृष्णा तृप्ति के साधन रूप में समझी गई है। अन्यथा तुलसी का व्यवहार उनके साथ सदा उचित और उदार रहा है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा-शैली

श्री सूर्यकान्त मिश्र, बी० ए०

"व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे।" --आचार्य शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। पाठकगण यदि उस समय की भाषा-शैली और व्याकरण के प्रयोगों को देखें तो स्पष्टतः ज्ञात हो जायेगा कि व्याकरण में कितनी व्यतिक्रमता और भाषा अस्थिरता आ गई थी। मनमानी भाषा का प्रयोग साहित्यकार अपनी विचार-धारा को व्यक्त करने के लिए करने लगे थे। इस तरह से भाषा में रूप हानि और व्याकरण में शिथिलता का हमें यही कारण प्रतीत होता है कि भारतेन्दुजी ने हिन्दी साहित्य को विदेशी साहित्य के साथ सम्पर्क स्थापित कराया। अपने साहित्य को विभिन्न साहित्यिक उपाङ्गों से ज्ञान भण्डार को भरने का प्रयास किया। और इस प्रयास का परिणाम हुआ हिन्दी साहित्यकारों में भाषा के प्रति आलस्यपन। यद्यपि बङ्गला साहित्य से हिन्दी में उपन्यास साहित्य का भी विकास हुआ। अँग्रेजी साहित्य ने समालोचना, नाटक एवं अभिव्यञ्जना प्रणाली से हिन्दी साहित्य को उसके चिन्तन-धारा और साहित्यक उद्यान को अनेक फूलों से सुसज्जित करने में सहयोग दिया। इस तरह से विदेशी साहित्य की सन्निकटता और सामीप्यता प्राप्त करके हिन्दी साहित्यकार भाव और उनकी साहित्यिक विचार-धारा से प्रभावित तो हुए ही साथ ही साथ भाषा का भी प्रयोग करने लगे जैसे—अँग्रेजी से—स्वार्थ लेना, दृष्टिकोण, जीवन का मूल्याङ्कन आदि और बङ्गला से भी उधार लेने लगे। इससे भाषा विकृत और अव्यवस्थित बनने लगी और लेखकों के लेखों में फारसीदानी, अँग्रेजीदानी, संस्कृतदानी, बङ्गलादानी आदि भाषाएँ चल पड़ीं। इस तरह व्याकरण और पदविन्यास एवं वाक्यविन्यास भी अव्यवस्थित हो गया। पर यह तो आचार्य द्विवेदी की प्रतिभा थी कि भाषा का परिष्कार और व्याकरण की शुद्धता का आन्दोलन 'सरस्वती' के सम्पादन का दायित्व लेकर चलाया। बेधड़क से पत्रिका में आने वाले लेखों को शुद्ध व्याकरण पूर्ण और परिमार्जित भाषा शैली में ढालने लगे यद्यपि विरोध हुआ पर सफल रहे।

भाषा और शैली—हिन्दी गद्य के क्षेत्र में एक नवीन शैलीकार के रूप में द्विवेदीजी आये। 'सरस्वती' के सम्पादन का जब से भार लिया तब से व्याकरण की शुद्धियाँ और भाषाओं तथा विभक्तियों की त्रुटियों को ठीक करने लगें। द्विवेदीजी की पत्रिका में जितने भी निबन्ध आते थे उन सब लेखों को सरल, प्रभावपूर्ण, व्याकरण सम्मत, और छोटे-छोटे वाक्य-समूहों को शुद्धकर अपनी भाषा-शैली की कला को प्रस्फुटित करते रहते थे। द्विवेदी जी की भाषा बहुत सरल, प्रवाहपूर्ण, सुव्यवस्थित और परिमार्जित खड़ी बोली में है। अपने पाठकों को समझाने के लिए सदैव छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते थे। शुक्लजी ऐसी सामासिकता और क्लिष्ट शब्दों की प्रचुरता इनकी भाषा-शैली में नहीं मिलती है। "डा० भटनागर का कथन है—न गूढ़ गुम्फित पदावली है और न एक ही पंक्ति में विभिन्न विचार ही भर दिए हैं। द्विवेदीजी ही पहले साहित्यिक व्यक्ति हैं जिन्होंने कि अपने लेखों में पाठकों का प्रथम ध्यान दिया है।"

"पर द्विवेदीजी के अधिकतर लेखों की रचना 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ ही साथ नए-नए विचारों की उद्भावना वाले निबन्ध बहुत ही कम मिलेंगे।" —आचार्य शुक्ल

द्विवेदीजी के लेख विचारात्मक श्रेणी में आते हैं। इनके निबन्धों को यदि पाठक पढ़े तो उनको यही ज्ञात होगा कि लेखक ने मोटी अक्ल के पाठकों के लिए निबन्ध लिखा है। वाक्य-विन्यास सरल और साफ है, भाषा एवं व्याकरण नपे-तुले एवं सुव्यवस्थित तथा परिष्कृत है। शब्दों की पुनरावृत्ति भी है। उदाहरण—

"इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।"

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा-शैली की विशेषता और प्रयास भी यही था कि गद्य और पद्य का एक ही विन्यास होना चाहिये और यह कथन अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ का था। जिसने अपने काव्य में ऐसी शैली का प्रयोग किया था। द्विवेदी युग के कवियों ने इस नीति को अपनाया पर सफल नहीं हुये। सानुप्रास कोमल कान्त पदावली का प्रयोग काव्य में चल पड़ा। बोल-चाल की भाषा में व्यावहारिक भाषा की बहुलता इतनी हो गई कि कविता गद्यमय प्रतीत होने लगी। इसका प्रभाव हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त पर स्पष्ट पड़ा। द्विवेदीजी के साथ साथ इन कवियों ने भी अपने काव्य में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता लाना आरम्भ कर दिया। यद्यपि आगे चल कर इन कवियों ने अपने को सम्हाल लिया। फिर भी Matter of facts' और गद्यवत् काव्य-शैली की छाप तो पड़ ही गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इनमें वह लाक्षणिकता, मूर्तिमत्ता और वह वक्रता बहुत कम रह गई जो रस-सञ्चार की गति को तीव्र कर सके और मन को आकर्षित। यथा, सर्वथा, है, था, तथैव शब्दों का प्रयोग करके काव्य को गद्यवत् बना दिया।

पर इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि आचार्य द्विवेदीजी ने भाषा-शैली में क्रान्ति मचा दी। शब्द-वैचित्र्य, कान्तित्व की गम्भीरता, वाक्य-विन्यास, वर्ण विन्यास की शुद्धता और व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई की पद्धति जो द्विवेदीजी ने अपनाई उसके लिए हिन्दी-साहित्य सदा ऋणी रहेगा। द्विवेदीजी के प्रयास ने ही हिन्दी साहित्य के क्षितिज को विस्तृत और विशाल बनाया। विभिन्न साहित्य के साहित्यिक रत्नों का अनुवाद अपनी भाषा में किया। जैसे शिक्षा की मुख्य पुस्तक Herbert Spencer द्वारा लिखित Education का अनुवाद किया। "द्विवेदीजी की भाषा-शैली की विशेषता बताते हुए डा० जगन्नाथ शर्मा ने लिखा है कि द्विवेदीजी को उर्दू, अंग्रेजी और मराठी भाषाओं का गम्भीर अध्ययन होते हुए भी इन भाषाओं के शब्दों को यत्र तत्र अपनी भाषा में ऐसा मिला दिया कि उसका विदेशीपन बिल्कुल से जाता रहा।" (गद्य साहित्य का विकास) स्वतन्त्र वाक्य-समूहों को सम्यक् रूप में रखा।

आचार्य द्विवेदीजी ने भाव-प्रकाशन के लिए तीन शैलियों का प्रयोग अपने साहित्य में किया है—

१—व्यंग्यात्मक शैली—इस शैली का जहाँ भी प्रयोग किया है उसमें व्यावहारिक शब्द मिलते हैं। वाक्य-समूह वहाँ सरल और छोटा है। वाक्य-समूह के शब्दों में व्यंग्य की झलक मिलती है। मसखरापन का भी प्रयोग पाठ को रुचिकर बनाने के लिए किया है।

२—आलोचनात्मक शैली—आलोचनात्मक शैली का वहाँ पर प्रयोग किया है जहाँ पर कि गम्भीर विषयों की विवेचना की है। जैसे 'कवि और कविता' नामक निबन्ध में मिलता है। संयम और नियन्त्रण रूप से शब्दों का प्रयोग किया है। मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है। जिससे वाक्य विन्यासों में आलोचनात्मक सजीवता प्रतीत होने लगती है।

३—निर्णयात्मक शैली—जहाँ पर द्विवेदीजी ने इस शैली का प्रयोग किया है वहाँ पर उर्दू और संस्कृत के तत्सम् शब्दों का प्रयोग मिलता है। जहाँ पर वस्तु विवेचना की है या खोज-पूर्ण निबन्ध लिखे हैं वहाँ पर भाषा का रूप तत्सम हो गया है और वाक्य बड़े-बड़े मिलते हैं पर छोटे छोटे वाक्य भी तद्भव के साथ यत्र तत्र मिलते हैं। जैसे—जिस समाज के विद्यार्थी बच्चों तक को अपने दोषों पर धूल डाल कर दूसरों को धर्म सिखाने और बिना पूछे ही उन्हें 'नेक सलाह' देने का अधिकारी है उनके बड़ों और विद्वानों के पराक्रम की सीमा कौन निर्दिष्ट कर सकेगा?

वस्तुतः जो काम अँग्रेजी साहित्य में डा० जॉनसन ने किया वही हिन्दी साहित्य में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी किया। भाषा में सुव्यवस्था, प्रांजलता, व्यञ्जकता स्थिरता, सरलता, व्याकरण पूर्ण और तथ्यपूर्ण विवेचन

(शेष पृष्ठ १८८ पर देखिए)

कहानीकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

श्री गोवर्द्धन शर्मा

हिन्दी साहित्य संसार में गुलेरीजी तीन रूपों में आये—सम्पादक, निबन्धकार और कहानी लेखक के रूप में। हिन्दी साहित्य में उनका कहानीकार अन्य रूपों की अपेक्षा सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ है। कुल तीन कहानियाँ लिखकर एक श्रेष्ठ कहानीकार का अमरपद पा लेना सरल काम नहीं है। 'गुलेरीजी हिन्दी के न साहित्यिकों में से थे, जिन्होंने कम लिखा पर ख्याति अधिक प्राप्त की।'* विश्व-साहित्य में भी ऐसी घटनायें विरल हैं। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' के शिल्प विधान, स्वस्थ अनुभूति और निर्दोष चित्रण को देख हिन्दी के आलोचकों को यह विश्वास नहीं हो पाया कि यह गुलेरीजी की अपनी मौलिक कहानी है। उन्हें संदेह था कि 'यह किसी अंग्रेजी कहानी का अनुवाद है या कोई अपहृत कृति है'। वे उसकी श्रेष्ठता को गुलेरीजी की प्रतिभा की देन मानने को तैयार नहीं थे किन्तु जब उनकी प्रारम्भिक दो अन्य कहानियाँ 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' प्रकाश में आयीं तो यह आक्षेप सारहीन लगने लगा। इन कहानियों को देख कर गुलेरीजी की कला की छलांग स्पष्टतः समझी जा सकती है।

गुलेरीजी की केवल ये तीन कहानियाँ ही पाठकों के सामने आ पाई हैं। उनकी प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' में "एक ऐसे नवयुवक का चित्र अंकित किया गया है जिसमें विद्याबल तो है किन्तु अनुभव का बल नहीं है, इसलिये उसे जीवन का सुख नहीं मिलता। अन्त में परिस्थितियाँ उसकी आँखें खोल देती हैं और वह सुखमय जीवन प्राप्त करने में सफल हो जाता है। 'बुद्धू का काँटा' भी इसी प्रकार की एक अनुभव-हीन युवक की कहानी है। 'उसने कहा था' उनकी अन्तिम व श्रेष्ठ रचना है। ये तीनों कहानियाँ जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के सजीव चित्र उपस्थित करती हैं। इनकी बड़ी विशेषता यह है कि इनमें भिन्न भिन्न पात्रों की भावभंगी अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार सुन्दर और उपयुक्त भाषा में अंकित की गई है।† यही गुलेरीजी की साहित्यिक क्षमता है और इसी क्षमता के कारण वे हमारे अमर कहानीकार हैं।"

गुलेरीजी की तीसरी और अन्तिम—साथ ही सर्वश्रेष्ठ रचना 'उसने कहा था' हिन्दी कहानी साहित्य की अमूल्य निधि है जो अपने में उत्कृष्ट और बेजोड़ है। "इस कहानी की विशेषता है कि लेखक ने दो तीन पात्रों द्वारा ही मनुष्य के भावों का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। पूरा वर्णन स्वाभाविक और सजीव है। कहानी का पहला वाक्य सरस है और उसमें आगे छोटे-छोटे वाक्यों की सुन्दर कड़ियाँ जुड़ती चली गई हैं। पाठक कथानक में डूब जाता है। कहानी समाप्त कर लेने पर एक क्षण वह स्थिर रह जाता है और फिर सारी घटनाओं के फैले चित्रों को समेटने लगता है। अमृतसर की गली की रेशम से कढ़ा हुआ सालू ओढ़े हुए लड़की पचीस वर्ष बाद उसी को 'मत्था टेकना', और अन्त में महायुद्ध में खन्दकों के बीच उसके पुत्र की रक्षा करना, एक बुझती हुई ज्योति के प्रकाश में मृत्यु से पहले कई पिछली घटनायें बहुत साफ हो जाती हैं।* उन रङ्गीन दृश्यों को भावुकता पाठक के हृदय पर एक अमिट छाप छोड़ जाती है।" प्रस्तुत कहानी लहनासिंह के बचपन से अमृतसर में प्रारम्भ होती है और उसका अन्त लहनासिंह की मृत्यु के साथ फ्रांस के युद्ध-क्षेत्र में होता है। प्रस्तुत कहानी 'बहुत अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी के नवीन प्रतिमानों को देखते हुए विराट या महाकथा (Epic story) कही जा सकती है।× उसमें भी पूर्ववर्ती दोनों कहानियों की तरह 'रोमांस' का गम्भीर पुट है।

* डा० नगेन्द्र—विचार और अनुभूति

† राजेन्द्रसिंह गौड़—हमारे लेखक

* 'पहाड़ी' प्रतिनिधि कहानियाँ—पृष्ठ २७५

× नन्ददुलारे वाजपेयी—'आधुनिक साहित्य'

जिस समय गुलेरीजी ने कहानी लिखना प्रारंभ किया था, वह आधुनिक हिन्दी कहानी का शैशव काल था। 'प्रसाद', 'कौशिक', प्रेमचन्द और शिवपूजनसहाय की कहानियाँ छपनी लग गई थीं। राजा राधिकाप्रसादसिंह की प्रसिद्ध कहानी 'कानों का कँगना' प्रकाशित होगई थी। कला और शिल्प-विधान की दृष्टि से कहानी चलना सीख रही थी। दौड़ना उसे अभी नहीं आया था। ऐसे प्रारम्भिक युग में इतनी अद्भुत और परिपक्व रचना का निर्माण करना वास्तव में आश्चर्यजनक है। उनकी तीनों कहानियों का विषय है 'मनुष्य' जो अपनी भूलों पर पश्चाताप करता है, * सुख में हँसता है और दुःख में आठ-आठ आँसू बहाता है। जो मानव जीवन के धूल धुएँ में अपने को लपेट कर, धूप में तपा कर मन की मलिनता को चाँदी की तरह उज्ज्वल और गङ्गाजल की तरह पवित्र बनाना चाहता है। यह मनुष्य अपनी सामाजिक चेतना से परिपूरित भी है और उसके द्वन्द्वों से आक्रान्त भी। उनकी कहानियों के मुख्य पात्र ऐसे ही हैं। 'लहनासिंह' को तो पूर्ण विकसित उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। 'उसने कहा था' कहानी श्रेष्ठ 'वातावरण' का आदर्श मानी जा सकती है।

'उसने कहा था' कहानी की प्रशंसा करते हुए प्रोफेसर केसरीकुमार ने लिखा है ×—'उसने कहा था' शीर्षक कहानी में गुलेरीजी ने प्रथम महायुद्ध के एक अद्भुत दृश्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हुए मानव जीवन की दिव्य सार्थकता से उन्हें परिचित कराया है। युद्धों में अनेक सैनिक मारे जाते हैं लेकिन कितनों की ओर हमारा ध्यान जाता है तथा कितनों के जीवन के कोमल, करुण, त्यागपूर्ण पक्षों को हम सहानुभूति एवं समवेदना की दृष्टि से देखने की चेष्टा करते हैं। एक महान् लेखक की सूक्ष्म दृष्टि ही इस क्षेत्र में अनायास प्रवेश कर पाती है।' उनकी कहानी-कला में जहाँ सूक्ष्मता है वहाँ पर व्यापकता भी है। बचपन की भावुकता, पुत्र की कल्याण कामना करने वाली मातृभावना, विशुद्ध प्रेम और उसके लिए महान् उत्सर्ग, युद्ध की सरगर्मी, सैनिक जीवन की रूक्ष व्यवस्था में कोमलता का अंकुर, एक-पिपासु सैनिक के हृदय में आत्म बलिदान की आकांक्षा, सहनशीलता की पराकाष्ठा—सभी ने 'उसने कहा था' को एक अमर रचना बना दिया है। प्रस्तुत कहानी में कहानीकार ने क्रमशः इतिहास, ओज और करुणा का उत्तरोत्तर विकास किया है जिसमें पाठक के हृदय में रस का परिपाक क्रमानुसार प्रगाढ़ और पुष्ट होता गया है।†

'गुलेरीजी का कहानी साहित्य, हिन्दी कहानी के आने वाले युग की घड़ियाँ गिन रहा था; इसीलिए उनके कहानी साहित्य में हम आचार भी पाते हैं, व्यवहार भी; शृङ्गार भी पाते हैं, संयम भी; मानव मन की 'छायानुभूतियाँ' भी पाते हैं, जीवन की 'मांसल' अनुभूतियाँ भी। जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण अपने थे।' अपार विद्वत्ता को पाकर भी प्राणवत्ता को उन्होंने नहीं खोया। 'जीवन के रस का उन्होंने सम्यक् उपभोग किया, परन्तु अप्रजाग्रत विवेक के कारण उसमें बहे नहीं। इससे अनुभूति में स्थिरता आई। उर्वर विचार ने उन्हें गम्भीरता और परिपक्वता प्रदान की। जीवन तत्वों का यही सम्यक् सन्तुलन उनके जीवन और साहित्य की सफलता का कारण बना।'* और इसीलिए उनकी कहानियों का प्रमुख आकर्षण 'रस' है।

'उसने कहा था' कहानी में यथार्थवाद और आदर्शवाद का अद्भुत सम्मिश्रण है। लहनासिंह ने इतना बड़ा बलिदान किया लेकिन स्पष्ट शब्दों में उस बलिदान के लिए लेखक ने एक शब्द भी कहीं लिखा है। × एक अन्त में जा कर जब पाठक लहनासिंह और सूबेदारिन के सम्बन्ध से परिचित होता है, तब उसे लगता है कि सब क्यों हुआ ? और तब उसे मालूम होता है लहना के बलिदान का मूल ! यह है कहानी-कला का

---

* प्रो० वासुदेव—'हिन्दी कहानी और कहानीकार'
× प्रो० केसरीकुमार—'हिन्दी कथाकार'

† प्रो० वासुदेव—'हिन्दी कहानी और कहानीकार'
* डा० नगेन्द्र—'विचार और अनुभूति'
× 'पहाड़ी'—'प्रतिनिधि कहानियाँ'

'संकेत और गूँज' का श्रेष्ठतम उदाहरण !

इसके अतिरिक्त यदि इसी कहानी पर सङ्कलन त्रय (Three uinties) की दृष्टि से विचार किया जाय तो बड़ी निराशा होती है। इसमें काल-सङ्कलन तथा स्थान-संकलन का यद्यपि कोई ध्यान नहीं रखा गया है पर प्रभाव-ऐक्य का बड़ा सुन्दर और सफल निर्वाह हुआ है। प्रभाव की एकता (Unity of Impression) ही पाठक को अपने में सराबोर कर सकने में सफल हुई है। "इनकी शैली में बात-चीत की सभी मनो-मुग्धकारी विशेषताएँ मिलती हैं। उनकी भाषा बहुत ही सरल, स्पष्ट और व्यञ्जनापूर्ण है, उसमें हास्य के मधुर छींटे और व्यङ्गोक्तियाँ भी मिलती हैं।" भाषा-शैली में पाण्डित्य और व्यवहारिकता, गाम्भीर्य और विनोद, सरलता और सशक्तता अन्यत्र दुर्लभ है। वे वास्तव में प्रतिभापुत्र थे।

उनकी रचनाओं में प्राप्त हास्य के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है×—'वास्तव में उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय में जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है, जो विकृतियों में भी अद्भुत् वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय में किसी प्रकार का दम्भ या मैल नहीं है, और जो खुल कर हँसता है।' एक उदाहरण लीजिए। अमृतसर के इक्के-ताँगे वालों की बोलियों की तारीफ करते हुए आप फर्माते हैं:—

'क्या मजाल है कि जी और साहब सुने बिना किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चुनौती देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—"हट जीऐ जोगिए, हट जा करमा वालिए, हट जा पुत्ताँ प्यारिये, बच जा लम्बी वालिये।" समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी आयु तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है—बच जा।"

(उसने कहा था)

† डा० श्रीकृष्णलाल—'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'
× डा० नगेन्द्र—'विचार और अनुभूति'

यहाँ एक बात स्मरण रखने की है कि गुलेरीजी को सदा लक्ष्मी का वरद हस्त प्राप्त रहा अतएव उनके हास्य में तीव्र व्यङ्ग का पुट कतई नहीं मिलता। व्यङ्ग में तीव्रता तभी आती है, जब कि लेखक वा व्यङ्गकार को अनेक अभावों का सामना करना पड़ा है। यह प्रश्न गुलेरीजी के सामने कभी नहीं आया, अतः व्यङ्ग का न होना ही स्वाभाविक है। गुलेरीजी हास्य की उद्भावना नहीं करते। वह उनकी अपनी सृष्टि नहीं। वे तो उद्-बोधक मात्र हैं। प्राप्त परिस्थितियों में ही गुदगुदा देना उनकी अपनी विशेषता है। 'सुखमय जीवन' के अन्त में परिस्थिति में काफी तनाव आ जाता है, पर जहाँ उसमें थोड़ी शिथिलता आई गुलेरी जी की तरङ्ग प्रवाहित होने लगती है। लहनासिंह और 'लपटन साहब' की बातचीत में विनोद का सुन्दर उदाहरण है।

कहानीकार गुलेरी ने केवल एक कहानी 'उसने कहा था' लिख कर साहित्य क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। यह उनकी महत्ता है—यही उनकी सफलता।

(पृष्ठ १८५ का शेषांश)

शैली का रूप द्विवेदीजी ने स्थिर कर हिन्दी की खड़ी बोली को काव्य और गद्य में प्रयुक्त करने के लिए बल और शक्ति दी। यदि भारतेन्दु ने भाषा के आदर्श स्वरूप की स्थापना की तो आचार्य द्विवेदी ने भाषा-शैली को परिष्कृत, शुद्ध एवं व्याकरण सम्मत बनाया।

आज जब हिन्दी राष्ट्र भाषा घोषित कर दी गई है और उसके प्रसार के लिए कार्य हो रहा है तो मैं लेखक, प्रचारकों और साहित्यकारों का ध्यान पुनः आकृष्ट करता हूँ कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सरस, प्रभावोत्पादक, छोटे छोटे वाक्य समूहों और व्यास शैली को वे अपनायें जिससे हिन्दी से अपरिचित भाषा भाषी सरलता से भाषा सीख सकें।

'निराला' में विचार और विकास

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०, साहित्य-रत्न

कवि की 'कला' के पीछे उसकी अपनी चिन्ता-धारा पृष्ठ भूमि का कार्य करती है। कभी-कभी कलाकारों का विचार-विश्लेषण प्रस्तुत कर उस पर इतना अधिक जोर दे दिया जाता है कि यदि कलाकार की विचारधारा, पाठक की विचारधारा के प्रतिकूल पड़ती है तो विचारक उसके विषय में मनमानी राय बना लेता है। ऐसी स्थिति में विचारधारा की अनुकूलता के कारण या तो उसकी 'कला' को अनुचित महत्व दे दिया जाता है या फिर प्रतिकूल स्थिति में उसे अनावश्यक उपेक्षा प्रदान की जाती है। प्रगतिवादिता की झोंक में समाज-शास्त्र के मञ्च से कुछ आलोचकों ने ऐसा किया भी है और उसका परिणाम यह हुआ है कि स्वयं 'निराला' के काव्य में ही उन कविताओं को अनुचित महत्व दे दिया गया है जो काव्य-कला की दृष्टि से महान् नहीं हैं परन्तु क्योंकि वे एक विचार-धारा विशेष का, सीधा और कभी-कभी अनर्गल प्रचार करती हैं (यथा कुकुरमुत्ता की गुलाब नामक कविता) और आलोचकों को नहीं 'प्रचारकों' को यह 'प्रचार' अधिक पसन्द है, अतः काव्य के नाम पर 'भद्दे प्रयोगों' को भी श्रेष्ठ काव्य की पंक्ति में आसन दे दिया जाता है। अस्तु

निरालाजी एक आदर्शवादी कवि हैं उनमें चिन्तन व बुद्धितत्व की प्रमुखता पाई जाती है, मात्र भावोच्छ्वास से वे सदा दूर रहे हैं जैसा कि उनके समकालीन कवियों में पाया जाता है। उनका स्वर दार्शनिक रहा है। उस युग के दार्शनिक पत्र 'समन्वय' के वे सम्पादक भी रह चुके हैं उनके लेखों में इस आदर्शवादी विचारधारा की व्याख्या व विश्लेषण भी मिलता है किन्तु फिर भी निरालाजी की कला—छायावादी कला दार्शनिक ऊहापोह में न पड़कर, 'कला' का अञ्चल नहीं छोड़ती, जहाँ 'पन्त' 'एकतारा', 'नौका-विहार' आदि कविताओं में अपनी दार्शनिक-विवेचना में डूब जाते हैं, जहाँ वे दार्शनिक की गम्भीर मुद्रा में जीव-जगत व ब्रह्म के सम्बन्ध में अपने विचारों को पद्य-बद्ध करने लगते हैं वहाँ 'निराला' जी, विचार-धारा विशेष के अनुसार अपने हृदय में उठे हुये भावों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। बौद्धिक विवेचन में कम पड़ते हैं। उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक कविता 'तुम और मैं' को ही देखिये। वहाँ कवि 'स्रष्टा' और 'सृष्टि', 'विधाता' और 'व्यक्ति' के सम्भव-सम्बन्धों को ही वाणी देता है। वे सम्बन्ध रमणीय कल्पना द्वारा लाये जाकर, संवेदना में लपेटे हुए संगीत की मधुरिमा के साथ व्यक्त होते हैं। अतः ब्रह्म व जीव के सम्बन्ध की यह व्याख्या दार्शनिक शब्दावली से दूर, प्रतीक पद्धति या उपमान-विधान पर चलती है। निरालाजी प्रवचन या उपदेश को कवि की सबसे बड़ी दुर्बलता मानते हैं। अतः उनकी 'कला' में एक विशेष प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि ब्रह्म, जीव, जगत् के सम्बन्ध में अपने चिन्तन के सूत्र को पकड़ कर नीचे उतर जाते हैं और हृदय के क्षेत्र में अनेकानेक रमणीय-भाव लहरियों के स्पन्दन से बौद्धिकता की जड़ता को दूर कर, संवेदना के रङ्ग में रङ्ग कर, पूर्ण प्रौढ़ भाषा में उसे अभिव्यक्ति देते हैं। अतीत के प्रति लिखी गई कविताओं तक में यही प्रवृत्ति हम बराबर पाते हैं। 'प्रत्यभिज्ञा' के बल पर मन के किसी निगूढ़-तल पर वे किसी बाह्य-विषय यमुना आदि को देखकर उसकी सामयिक स्थिति तथा अतीत स्थिति की विचारणा के कारण उद्भूत भावनाओं को एकत्र कर पुनः पूरी शक्ति व प्रौढ़ता के साथ उन भावनाओं को वाणी देते हैं। अतः हम निराला के काव्य में दर्शन की अतुल—अस्पष्ट गहराइयों की विवेचना नहीं पाते। 'निराला' रहस्यमय मानसिक स्थितियों को कम, हृस्य से मानव-हृदय के सहज सम्बन्धों को अधिक वाणी देते आये हैं। दुरूहता वस्तु में नहीं उनकी शैली, विचार-संयोजना और विशेष रूप से पदावली की दीर्घता और कला की महार्घता में आती है। स्फुट मात्र भी अस्फुट शैली में इसीलिये दुरूह जान पड़ते हैं।

निराला में दार्शनिक बारीकियों का विवेचन कम

मिलता है। वे मूलतः मानवतावाद (Humanism) के कवि हैं। इसीलिये लगभग एक ही समय में "तुम और मैं" और "भिखारी" जैसी कविताएँ लिख सके हैं। 'पन्त' के विकास को देखकर हम कहते हैं कि उनका कवि एक दार्शनिक-आग्रह से निकल कर एक अन्य दार्शनिक आग्रह में फँस गया है। परिणामतः कला की स्वच्छन्दता व मनोरमता पर आघात हुआ है। वह विचार से बोझिल, मर्मस्पर्शिता से रहित विचार-प्रसार मात्र रह गया है। निराला पन्तजी के समान नित्य नवीन विचार-धाराओं से आन्दोलित होकर पहले से ग्राह्य पथ को छोड़ने वाले कवि नहीं हैं। प्रारम्भिक कविताओं में विश्वात्म-वादी हैं और युद्ध काल के बाद की कविताओं में उनका स्वर विद्रोही-समाजवादी जैसा हो गया है। पहले वे पुनर्जागृति काल की आदर्शवादी विचार-धारा के समर्थक थे किन्तु आज उनका स्वर व्यंग्य-प्रधान कविताओं में तीखा हो गया है परन्तु न तो उन्होंने तब काव्य में पूर्व सिद्धान्तों की घोषणा की थी और न मार्क्स की शब्दावली वे आज फेरते हैं। मानवता की मुक्ति के लिए प्रयत्न के रूप में ही वे मार्क्सवाद की दुहाई देते हैं; जीवन के चिर रक्षित सिद्धान्तों के रूप में नहीं। उनके प्राचीन विश्वास आज भी उनके साथ हैं। हाँ, वे आज महादेवी के समान 'महत्व' के प्रति आत्म निवेदन में नहीं डूबे रहना चाहते। उन्ह वायु की गति को बहुत पहले अनुभव कर लिया था। अतः व्यक्तिवादी काव्य का प्रवर्तन करने वालों में जैसा उनका स्थान महत्वपूर्ण है उसी प्रकार जनवादी धारा का भी वही प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

निरालाजी की कविताओं के प्रथम संग्रह 'परिमल' के सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि रामकृष्ण-मिशन ने 'परिमल' को अद्वैतवाद दिया। उसने उन्हें यह भी सिखाया कि मनुष्य की सेवा 'वेदान्त' के प्रतिकूल नहीं है। निराला के अन्दर एक अन्तर्द्वन्द्व का जन्म हुआ—यदि संसार और मनुष्य मिथ्या है तो इनकी सेवा में व्यर्थ समय क्यों लगाया जाय, इस मानसिक सङ्घर्ष का चित्र उनकी 'अधिवास' नामक कविता में मिलता है। वह पूछते हैं कि "अधिवास कहाँ है" मानो सन्यासी उत्तर देता है कि 'अधिवास' वहीं है जहाँ गति का अन्त हो जाता है। कवि फिर पूछता है कि जब तक उसके हृदय में करुणा है क्या तब तक गति का अन्त हो सकता है? दुखी मानव को देखते ही उसके हृदय में वेदना उमड़ आती है, और वह उसे गले से लगा लेता है, वह मानता है कि वह माया में फँसा हुआ है, फिर भी उसकी गति रुक नहीं सकती

........वह गतिहीन 'अधिवास' को नमस्कार करता है, और पुकार उठता है—

"छूटता है यद्यपि अधिवास
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास"

परिमल में इस तरह की बहुत सी रचनाएँ हैं जिनमें अद्वैतवाद को चुनौती सी दी गई है।*

आदर्शवादी रचना काल में यहाँ डा० महोदय ने कवि की विचार-धारा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र पकड़े हैं—

१—कवि अद्वैतवादी है।

२—किन्तु उसका वेदान्त मानव-सेवा, जागृति, देश सेवा, स्वतन्त्रता के प्रतिकूल नहीं है।

३—कवि के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व है, कि वह वैयक्तिक मुक्ति की साधना में ही निमग्न हो कर रह जाये या मानवीय करुणा का प्रसार करे—मानव की सेवा करे।

आगे डा० शर्मा ने पुनः ललकार कर कहा है—"वह अद्वैतवादी नहीं है, जो अपने अन्तर को वज्र कठोर कह कर समाज के आगे ताल ठोंकता है, वह समाज के और सैकड़ों लोगों जैसा सङ्घर्ष से जूझने वाला सिपाही है, जो अपना दिल बढ़ाने के लिए दुश्मन को ललकारता है।"*

किन्तु परिमल की कविताओं का अध्येता उक्त निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता। परिमल ही नहीं गीतिका, अनामिका, और अणिमा तक भी अनेक कविताओं में कवि पूर्णतया अद्वैतवादी है। यह आवश्यक नहीं है कि अद्वैतवादी

* निराला नामक पुस्तक से—डा० रामविलास शर्मा

सङ्घर्ष से जूझने वाला सिपाही बन कर समाज के आगे ताल ठोंकने वाला नहीं बन सकता। दुश्मन को ललकारने वाला भी अद्वैतवादी हो सकता है—निराला ऐसा ही अद्वैतवादी है।

जो क्रान्ति के ताण्डव का आह्वान करता है, सामाजिक जड़ता पर वज्र व्यंगों की बौछार करता है और जगत के दुःख व दैन्य को वाणी देता है। निराला के अन्तर्द्वन्द्व के सम्बन्ध में निवेदन यह है कि परिमल में एक भी ऐसी रचना नहीं मिल सकती जिसमें अद्वैतवाद को चुनौती दी गई हो। डा० शर्मा ने भी यह लिखा है कि परिमल में अद्वैतवाद को चुनौती 'सी' दी गई है। यहाँ 'सी' शब्द विचारणीय है।

हमें जहाँ निराला के अद्वैतवाद के सम्बन्ध में अन्तर्द्वन्द्व दिखाई पड़ता है वहाँ वस्तुतः चुनौती कभी नहीं दी गई है, न उसे छोड़ा गया है। कवि ने विभिन्न स्थानों पर इस तत्व पर जोर दिया है कि मानव जीवन का उद्देश्य विभिन्न बन्धनों से मुक्ति पाना है। जीव की मुक्ति—वेदान्त के अनुसार आवागमन से छुटकारा पाने में है। इस जीवन में, अनेकात्मक जगत में, एकता का सूत्र खोज कर, उस अत्यान्तिक स्थिति को प्राप्त कर आनन्द प्राप्ति ही मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। यहाँ दार्शनिक के दो मार्ग हो सकते हैं। एक तो वह समाज से तटस्थ होकर घोर एकान्तिक साधना में लीन हो जाय, समाज के दुःखों को 'माया' या भ्रम समझे या तत्वतः उस दार्शनिक सत्य को समझ कर, एकात्म्य की स्थिति हृदय से स्वीकार कर विभिन्न भेदों, उपभेदों, सामाजिक विषमता तथा अन्य मान्यताओं का घोर प्रतिशोध करे। क्योंकि वह समझता है कि फलतः ये भेद मिथ्या हैं। मनुष्य के उस अहं को जगाये, जिसके जाग्रत हो जाने पर मनुष्य की महत्ता संसार की सारी नश्वर वस्तुओं के ऊपर प्रतिष्ठित हो सके, जिससे अपने को क्षुद्र, दासानुदास समझने वाले मनुष्यों में उसी दुर्दमनीय शक्ति का विस्फोट हो सके जो नाना रूपात्मक जगत के मूल में अवस्थित है, जिसकी दीप्ति, सविता का तेज, जिसकी स्निग्धता, शशि की सुधा, जिसकी गति सागर की हलचल बनकर हमारे दृगों के सम्मुख अनेक रूपों में प्रतिभासित होती है। उस मूल शक्ति का 'अधिवास' जब प्रत्येक प्राणी में है, किन्तु उस शक्ति से अपरिचित अपने को क्षुद्र, परतन्त्र, अशक्त और अज्ञ समझ कर पतित होता है। इसी मूल 'शक्ति' का परिचय देकर स्वामी विवेकानन्दजी ने भारतवासियों में स्वाभिमान, स्वातन्त्र्य गौरव, शक्ति, विद्रोह, जागृति के स्फुलिङ्ग उत्पन्न किये थे। निराला में भी (डा० शर्मा के अनुसार भी) रामकृष्ण, विवेकानन्द के इसी सन्देश को—इसी दृष्टिकोण से वर्णित किया गया है। अतः समष्टि रूप से यदि हम देखें तो परिमल, गीतिका, अनामिका की रहस्यात्मक रचनाओं में न कोई अन्तर्द्वन्द्व मिलता है न कोई भ्रान्ति ही दृष्टिगोचर होती है। विवेकानन्द में 'वेदान्त' के उपयोग (Application) पर अधिक जोर है। निराला में भी वेदान्त के एप्लीकेशन पर अधिक जोर होने के कारण यह भ्रान्ति स्वाभाविक है कि वह व्यक्ति अद्वैतवादी ही नहीं है जो समाज के आगे ताल ठोंकता है। निराला में ठीक इसके विपरीत वेदान्त स्वाभिमान, गौरव और क्रान्ति के पीछे खड़ा है जो कवि में अद्भुत आशा व उत्साह स्थिर रख सका है, क्योंकि वह मनुष्य को, प्रकृति के ऊपर विजय करने वाली—मैटर से विकसित—चेतना के रूप में नहीं देखता अपितु प्रकृति के ऊपर उठ कर 'पुरुष' के साथ एकाकार करता हुआ अपने को उसी अपरिमित—अन्तः प्रकाश का कोष समझ कर समाज की सारी अवांछनीय परिस्थितियों पर टूट पड़ता है। अनन्त और शाश्वत सत्य को तत्वतः समझ लेने पर फिर भेदों की सत्ता की स्वीकृति भला निराला कैसे दे सकता है!

स्वामी रामतीर्थ जैसे साधक और दार्शनिकों तक ने 'आत्मवाद' की अनुभूति को स्वतन्त्रता, अभ्युदय व निःश्रेयस सबके लिए एक साथ आवश्यक माना है। उन्होंने १९०२ ई० में सैन फ्रांसिस्को में भाषण देते हुए कहा था—कि स्वतन्त्रता का विचार शाश्वत है, श्वान, व्याघ्र, चींटे, पक्षी, मनुष्य सभी स्वतन्त्रता चाहते हैं, उसके लिए रक्त तक बहाते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी धर्म उस अन्तिम मुक्ति का उद्देश्य अपने सम्मुख

रखते हैं जिसका लघु अर्थ है 'स्वतन्त्रता'।

Every body in this world wants to be free, dogs, lions, tigers, birds, men love freedom. The thought of freedom is universal, Chritians, Hindoos, Mohammedans, all religions, have set up before them one goal. What is that? Salvation, the little meaning of which is freedom.

(Complete works of Swami Rama, **Part I** Page 110.)

अतः 'वेदान्त' निराला की ललकार को और भी अधिक प्रभविष्णु, स्थायी और महान बनाने के लिए आता है। हमें यह न भूलना चाहिये कि शङ्कराचार्य की तरह व्यवहारिक भेद प्रधान जगत की सत्ता को स्वीकार कर समाज के ढाँचे को वैसा ही बनाये रहने देना विवेकानन्दजी कभी नहीं चाहते, वे तो 'वेदान्त' का उपयोग ही मनुष्य जीवन को सुखी और पूर्ण बनाने के लिए करना चाहते हैं। निराला का कवि तभी विपन्न-परिस्थितियों में भी शृङ्गार व विद्रोह दोनों प्रकार के काव्यों में समस्याओं का दार्शनिक पुट प्रस्तुत करते हुये भी अधिक मानवीय और व्यवहारिक है।

यहाँ हम स्वा० विवेकानन्दजी के 'वेदान्त' के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। इससे स्पष्ट हो जायगा कि 'वेदान्त' संसार की समस्याओं से मुख मोड़कर—पलायन करने वाले सिद्धान्त के रूप में वहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है अपितु एक विराट क्रान्तिकारी दर्शन के रूप में ग्रहण किया गया है।

स्वामीजी के अनुसार वेदान्त शक्ति व पुरुषार्थ के लिये है, संसार से भागने के लिये नहीं, उन्होंने कहा था—

"लेकिन हम लोगों के देश में अब ज्यादा रोने धोने का समय नहीं है, इस समय कुछ बल पौरुष की आवश्यकता है, निर्गुण ब्रह्म में विश्वास होने, सब तरह के कुसंस्कारों से रहित होकर, मैं ही निर्गुण ब्रह्म हूँ, इस ज्ञान की सहायता से खुद अपने पैरों पर खड़ा होने से हृदय में कैसी अपूर्व शक्ति का विकास होता है, कहा नहीं जा सकता।'*

"हम लोगों को इस महिमाशाली आत्मा के प्रति विश्वास जगाना होगा, तभी बल वीर्य आयेगा, तुम जो चिन्तन करोगे, वही बनोगे, अगर तुम अपने को दुर्बल समझोगे तो दुर्बल होगे, तेजस्वी समझने पर तेजस्वी होगे.... अद्वैतवाद हम लोगों को अपने को दुर्बल होने का उपदेश नहीं देता, किन्तु अपने को तेजस्वी, सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ समझने का उपदेश देता है,....हम मे से प्रत्येक के पीछे ऐसी ही अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, चिदानन्द, अमर जीवन का विशाल सिंधु भरा हुआ है।"*

"हमें आत्म ज्ञान की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी अद्वैत के कार्य रूप में लाने की, 'पहले रोटी पीछे धर्म' जब तुम्हारे देशवासी भूखों मर रहे थे, तब तुम उन्हें धर्म खिला रहे थे, भूख की अग्नि को धर्म कभी शांत नहीं कर सकता....मैं तुम्हें फिर याद दिलाता हूँ कि सबसे पहले तुम्हें अपने देश के असंख्य पतित भाइयों का उद्धार करना होगा।"*

पाठक! कृपया इस अन्तिम उद्धरण को परिमल की अधिवास कविता से मिलायें। स्पष्ट हो जावेगा कि निराला के अन्तर्द्वन्द्व का रूप क्या है। वस्तुतः 'वेदान्त' के प्रति वहाँ शङ्का नहीं है अपितु उसके उपयोग की असामयिकता है जिस पर कि उक्त उद्धरण में स्वामीजी ने भी जोर दिया है, कवि अधिवास में कहता है—

कहाँ?
मेरा अधिवास कहाँ?
क्या कहाँ? रुकती है गति जहाँ?
भला इस गति का शेष-सम्भव है क्या,
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश?
मैंने भी शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे

* वेदान्तधर्म—स्वा० विवेकानन्द

झट उमड़ वेदना आई
उसके निकट गया मैं धाय
लगाया उसे गले से हाय
फँसा माया। निरुपाय,
कहो, फिर कैसे गति रुक जाय ?

उसकी अश्रु भरी आँखों पर, मेरे करुणाञ्चल का स्पर्श।
करता मेरी प्रगति अनन्त, किन्तु तो भी मैं नहीं विमर्ष।

छूटता है यद्यपि अधिवास,
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास॥

इस कविता से डा० शर्मा ने यह निष्कर्ष निकाला कि कवि गतिहीन अद्वैतवाद को छोड़ देता है, किन्तु कवि अद्वैत को छोड़ता नहीं है इसका प्रमाण स्वयं 'अधिवास' के पश्चात् 'अणिमा' और 'अर्चना' तक की रहस्यमयी अनेक रचनायें हैं जो कवि की केवल रहस्यप्रियता की द्योतक नहीं अपितु उसके विश्वास व चेतना की प्रतीक हैं। उक्त पंक्तियों से यही ध्वनि निकलती है कि उस 'चरम स्थिति' पर पहुँचना प्रवञ्चना ही होगी, यदि हम अपने सम्मुख दुखी निज भाई को देख कर करुणा का अञ्चल न दें, इन दुखियों पर करुणा बरसाने में सांसारिक दुःख को दुःख मान लेने में भले ही उस अद्वैत स्थिति से बिलगाव होता हो परन्तु मुझे उसका कुछ भय नहीं है।

अतः यहाँ अद्वैत स्थिति की अस्वीकारता (Negation) नहीं है अपितु जगत की यथार्थ समस्याओं से आँखें बन्द कर मुक्ति के प्रयत्न में, ब्रह्म में आत्मा की एकाकारिता व तन्मयता की स्थिति को अपने जीवन का ध्येय मानकर, मानवीय 'करुणा' को भी महत्व देने का प्रश्न है। छुटने का अर्थ यहाँ तिलाञ्जलि नहीं है, पूरी कविता का भाव सामने रख लेने पर यह भाव और स्पष्ट हो जायेगा।

कवि पूछता है कि मेरा 'अधिवास' कहाँ है तो उत्तर मिलता है कि अधिवास वहाँ है जहाँ गति रुक जाती है अर्थात् आवागमन के बन्धन से मनुष्य छुटकारा पा जाता है, आत्मा ब्रह्म में एकाकार हो जाती है, मुक्ति मिल जाती है।

यह हुई गति हीनता। अब कवि पुनः प्रश्न करता है कि—वह 'चरम स्थिति' कैसे प्राप्त हो सकती है (जो कि उसका अन्तिम ध्येय है) तक मुझमें मानवीय करुणा अवशेष है। संवेदना जगने का अर्थ है स्थिति प्रज्ञावस्था से दूर रहना। 'करुणा' उत्पन्न होने का अर्थ है—कि संसार के मोह से छुटकारा नहीं मिला और दुःखी जीवों को देखकर करुणा का (मोह का) जग जाना स्वाभाविक है। कवि कहता है कि मैं 'अहंब्रह्मास्मि' का गायक और विश्वासी हूँ, किन्तु जब मैंने एक दुःखी भाई को देखा तो मेरे हृदय में करुणा उत्पन्न हो गई, वेदना से हृदय भर गया, मैं उस दुःखी व्यक्ति के निकट गया और उसे गले से लगाया, मैं इस मोह में—इस करुणा के आवेश से जनित माया में फँसने के लिए विवश हूँ। क्योंकि मानवीय भावनायें सहज रूप से मेरे हृदय में उत्पन्न हो जाती हैं। अब जब यह मानव के प्रति 'मोह' उत्पन्न हो जाता है तो यह कैसे सम्भव है कि मैं उस आत्यन्तिक स्थिति को प्राप्त कर लूँगा जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, जहाँ जीव व ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रहता। सरिता समुद्र में खो जाती है और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक इन जगत के दुःखों को देखकर मेरे मन में आवेश उठते रहते हैं। जब तक उस दुःखी व्यक्ति पर मेरा करुणा का आँचल है, तब तक इससे मेरी प्रगति होती जा रही है अर्थात् मैं उस चरम स्थिति से विमुख होकर जगत की वेदनाओं की ओर बढ़ता जा रहा किन्तु मुझे अपने अधिवास से अलग हो जाने का दुःख—विमर्ष नहीं है यद्यपि वह हमसे छूट रहा है परन्तु मुझे कोई भय नहीं है यह तो हुआ कविता का भाव। अब यहाँ स्पष्ट है कि कवि उस 'अधिवास' क अपना चरम लक्ष्य स्वीकार कर रहा है। 'आत्मा की मुक्ति' ही उसका ध्येय है किन्तु वह जगत के दुःखों को 'माया मोह' कह कर सन्यासियों की तरह टाल देने को प्रस्तुत नहीं है। उसे इस बात का खेद है कि संसार के दुःखों की ओर बढ़ कर वह अपने 'अधिवास' से बिलग हो जायेगा। दो गतियाँ हैं, एक—जगत की ओर, दूसरी—ब्रह्म की ओर। ब्रह्म की ओर जाने के लिए वेदनाओं का नाश आवश्यक है परन्तु कवि को यही तो दुःख है कि वह दुःखी भाई के दुःख को देखकर उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहता।

वह ब्रह्म स्थिति को पाने की इच्छा रखता हुआ भी मानव के दुःखों की अवहेलना नहीं करना चाहता। इसके लिए वह निरुपाय है, ववश है कवि को खेद है कि इससे वह ब्रह्म से विमुख हो जायेगा किन्तु वह सोचता है कि मुझे इसका भय नहीं क्योंकि भले ही उस 'अधिवास' से बिलगाव हो जाय किन्तु मानवीय भावनाओं का अनादर असहनीय है। वहाँ मनुष्य के दुखों को 'माया' समझ कर आँख नहीं मूँदना चाहता। बस।

इस कविता में कवि मानवीय भावों को भी उतना ही महत्त्व देना चाहता है, जितना ब्रह्म-ज्ञान को। जैसा कि विवेकानन्द ने कहा था कि—"पहले रोटी पीछे धर्म"। अतः इस कविता में 'अधिवास' को छोड़ा नहीं गया। उसके लिए उचित वातावरण प्रस्तुत कर लेने की बात कही गई है। विकलाङ्ग जीवन को ब्रह्म ज्ञानी बनने की यदि धुन लगी हो तो वह उसकी विडम्बना ही होगी।

स्वामी रामतीर्थ से एक बार अमेरिका में पूछा गया कि आप हमें सन्यास की शिक्षा क्यों देते हैं। इच्छाओं का हनन करके तो मानवता के सारे प्रयत्न नष्ट हो जायेंगे। सारे समाज के लिए हमारा प्यार न फैल कर अपने में केन्द्रित हो जायगा। Vedanta wants us to break all connections with the whole world and suppress our love for the whole world. तब स्वामीजी ने जो उत्तर दिया था उसमें भी सांसारिक जीवन की पूर्णता के लिए 'अद्वैतवाद' का उपयोग बताया गया है। अधिक सशक्त, स्वस्थ, स्वतन्त्र एवं गौरववान् बनने के लिए हमें पूर्णता की स्थिति तक उठना होगा। समष्टि के सुधार के लिए प्रथम व्यष्टि को सुधारना होगा। हम यह नहीं कहते कि उनका यह उत्तर हमारी समस्या को हल करने के लिए उपयुक्त है। किन्तु उस समय के सभी दार्शनिकों ने 'अद्वैतवाद' को किस प्रकार समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोगी ठहराया था, कम से कम इतना स्पष्ट हो जाता है। अपनी अपर्याप्तता और अभावों पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'पूर्णता की अनुभूति' को आवश्यक ठहराया था—वे कहते हैं—So long as you regard yourself as a part only, as a small........so long as you are divided, you are not whole, you are simple, not strong." हम आज इस दृष्टि से अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सकते। यह निश्चित रूप से एकान्तिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है परन्तु हमें समय को देखना होगा। निराला के किशोर जीवन के आस पास इन्हीं विचारों का ताना बाना बुना हुआ था परमहंस, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रवीन्द्र और रामतीर्थ के विचारों का। इनमें भी विवेकानन्द जी का दर्शन अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक भूमि पर टिका था। रामतीर्थ जी में दार्शनिक व साधना का पक्ष अधिक प्रबल है, पर वह भी उतना पलायनवादी व प्रगति विरोधी नहीं है जितना कन्दराओं में ही जन्म लेकर जीवन समाप्त कर देने वाले साधकों का होता है, जो जीवन के यथार्थ प्रश्नों से कतरा कर केवल इच्छानाश का ही उपदेश देते रहते हैं और समाज की विषमता को शाश्वत मान लेते हैं। जागृति काल के इन साधकों की साधना—पक्ष एकांगी व व्यक्तिगत अवश्य है परन्तु उन सबने उसे एक सीमा तक व्यवहारिक रूप देने का प्रयत्न बराबर किया है, वे विदेशी की दासता के जुए को फेंक देना अपना कर्त्तव्य बताते हैं, वे विदेशी व्यापारियों से समझौता नहीं करते, जनता के साथ विश्वास-घात नहीं करते, उसके दुःख दारिद्रय, परवशता पर ध्यान देते हैं परन्तु उनका 'हल' वैयक्तिक आस्था पर निर्भर करता है, परन्तु उनके श्रद्धा व विश्वास निराला के काव्य में एक क्रांतिकारी भावना का बीज वपन करते हैं।

कामायनी में वैदिक आदर्शवाद

डा० सूर्यदेव शर्मा, सिद्धान्त वाचस्पति, साहित्यालङ्कार, एम० ए०, डी-लिट्

हिन्दी साहित्य गगन के देदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र तथा आधुनिक साहित्यिक क्षेत्र में सर्वप्रथम रहस्यवाद का बीज वपन करने वाले महाकवि श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' के पावन काव्यप्रसाद से जो भी जन वंचित रहा मैं तो समता हूँ कि वह "साहित्य सङ्गीत कला विहीनः, साक्षात...." ही रहा। महाकवि प्रसादजी की शिक्षा दीक्षा, संस्कृत भाषा तथा वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन, परम्परागत प्राप्त संस्कृति का वातावरण सबने मिलकर प्रसादजी को जिस सुरम्य ढाँचे में ढाला था उनसे हम यदि यह आशा करें कि उनकी काव्य कल्पना कुरङ्गिनी वैदिक बोध वाटिका में विचरती रही हो अथवा बौद्ध विचार-धारा के विहारों में विहार करती रही हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। कविवर प्रसादजी की अनेक रचनाओं में सर्वोपरि रचना महाकाव्यों की कोटि में एक उच्च स्थान ग्रहण करने योग्य "कामायनी" है। अतः आज हमें यही विवेचन करना अभीष्ट है कि कामायनी की पृष्ठभूमि में कहाँ तक वैदिक विचारधारा के साथ समन्वयन हुआ है, वैदिक आदर्शवाद का इस महाकाव्य में कहाँ तक अनुगमन अथवा समावेशन किया गया है?

"कामायनी" में महाकाव्य के लक्षणानुसार जिस दिव्यादिव्य मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के कथानक को लेकर कविवर प्रसादजी ने अपनी विलक्षण एवं प्रखर प्रतिभा से जलप्रलय का महा भयङ्कर दृश्य उपस्थित किया है, उसकी पृष्ठभूमि भी वैदिक साहित्य के सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में ही उपलब्ध होती है। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन की गाथा का जो बीज उपलब्ध होता है वह प्राचीन संस्कृत साहित्य में, पुराणों और इतिहासों में अनेक स्थानों में बिखरा पड़ा है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को रूपक के आवरण में न रखकर कविवर प्रसादजी ने मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही माना है और इस विचारधारा का आदि स्रोत ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में ही उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन के पश्चात् इसी युग के प्रवर्त्तक भारतीय इतिहास के आदि पुरुष मनु को ही माना है। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें श्रद्धादेव कहा गया है "श्रद्धादेवो वैमनुः" (शतपथ का० १ प्र० १) छान्दोग्य उपनिषद में मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या है। ऋग्वेद में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। श्रद्धा काम गोत्रजा है। अतः उसे कामायनी ही कहा जाता है। जलप्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में इड़ा का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है जैसे "इड़ा देवी भारती विश्व तूर्तिः" (ऋग्वेद—२-३-८) तथा "इड़ा सरस्वती मही तिस्रोदेवी मयोभुवः"। इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने बुद्धि का विकास, राज्य स्थापना, संघर्ष तथा सांसारिक वैभव को प्राप्त किया और श्रद्धा के प्रभाव से ऋग्वेद—१०-१५१-४ के अनुसार "श्रद्धया विन्दते वसु" मनु ने परम धन जीवन का साफल्य इच्छा, ज्ञान और कर्म का त्रिकोणमय आनन्द का दर्शन किया। इस प्रकार कामायनी महाकाव्य का समस्त आधार तथा परिकर पृष्ठभूमि वैदिक साहित्य ही है। इस बात को महाकवि प्रसादजी ने कामायनी की भूमिका में स्वयं ही स्वीकार तथा स्पष्ट किया है। इसी वैदिक आदर्शवाद का कामायनी में हम उदाहरणों सहित कुछ विस्तृत विवेचन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

(१) मानव जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है जिनमें अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का दूसरा रूप ही आनन्द है जिसको कामायनी में भी मानव सृष्टि के आदि पुरुष मनु के जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द के रूप में ही महाकवि प्रसादजी ने स्वीकार किया है। अथर्ववेद के अनुसार मोक्ष में आनन्द ही आनन्द

है और उस आनन्द का साधन ज्ञान है क्योंकि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती और वह ज्ञान श्रद्धा से आता है जैसा कि भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है "श्रद्धया लभते ज्ञानम्"। इस प्रकार श्रद्धा के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" और बिना मुक्ति के आनन्द नहीं। इस प्रकार कामायनी में मानव जीवन के लक्ष्य का आदर्श कितनी सुन्दरता से निभाया गया है यह प्रारम्भ से अन्त तक उसके पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा। उसके सर्गों का अनुक्रम चिन्ता, आशा, श्रद्धा, वासना, लज्जा, इड़ा, निर्वेद, दर्शन और अन्त में आनन्द ही पूर्णतया वैदिक आर्यों के जीवन-क्रम की ओर संकेत करता है जो अन्त में पुरातन पुरुष प्रकृति से मिलकर आनन्द सागर में सुशोभित होता है। इसी भाव को कवि ने इस प्रकार अङ्कित किया है:—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित,
यह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरङ्गायित था,
आनन्द-अम्बु निधि शोभन।

(२) यह संसार परिवर्तनशील है। वेद के शब्दों में "अश्वत्थे वो निषदनम् परणे वो वसतिष्कृता" पीपल के चञ्चल पत्ते पर तुम्हारा सबका घर है। इस चलायमान जगत में किसी का कुछ ठिकाना नहीं। परिवर्तनशीलता विश्व की विशेषता है। इसी भावना को कामायनी में देखिए:—

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है,
व्यक्त नील घन माला में,
सौदामिनी संधि सा सुन्दर,
क्षण भर रहा उजाला में।
देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले;
हाँ—कि गर्व रथ में तुरङ्ग सा,
जितना जो चाहे जुत ले।

(३) किन्तु विश्व की इस परिवर्तनशीलता और जीवन की क्षण भंगुरता हमें निराशावाद की ओर न ले जाय इसीलिए कामायनी में एक पूरे सर्ग में आशा का उदय दिखलाया गया है क्योंकि वैदिक धर्म आशा का धर्म है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में जीवन भर सौ वर्ष तक कर्म करने और आशा रखने का सन्देश दिया गया है। यही आशा का सन्देश कामायनी में श्रद्धा के शब्दों में मनु के लिए निम्न प्रकार दिया गया है:—

तपस्वी! क्यों इतने हो क्लान्त?
वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश,
बताओ यह कैसा उद्वेग?

जब मनु ने यह कहा "किन्तु जीवन कितना निरुपाय, निराशा है जिसका परिणाम" तब वैदिक आशावाद का प्रतिपादन करती हुई श्रद्धा क्या कहती है:—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह, अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर।

वेद कहता है "कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहितः" मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बायें हाथ में विजय है। जीवन कर्मशील और विजयशील बनाओ। यही सन्देश कामायनी में देखिये:—

और यह क्या तुम सुनते नहीं,
विधाता का मंगल वरदान—
"शक्तिशाली हो, विजयी बनो"
विश्व में गूँज रहा जय गान।
डरो मत अरे अमृत संतान,
अग्रसर है मङ्गलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र,
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

(४) वैदिक साहित्य में यज्ञ की महत्ता पर जितना बल दिया गया है उतना और किसी एक बात पर नहीं। इस तथ्य को मानव जीवन की सफलता के लिए कामायनी में भी आवश्यक समझा गया और मनु के द्वारा जलप्लावन के पश्चात् प्रथम कर्म यज्ञ ही का विधान कराया गया है। यज्ञ का अवशिष्ट अन्न 'इदन्नमम्' अनुसार मनु किसी अपरिचित व्यक्ति की तृप्ति के लिए दूर रख आते थे। यही वैदिक आदर्श है:—

अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ कहीं दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित समझ सहज सुख पाते थे।

ज्ञान जहाँ मुक्ति का दाता है, कर्म स्वर्ग प्रदाता है। वैदिक सिद्धान्त के इस तत्त्व को महाकवि ने कितने सुन्दर शब्दों में लिखा है:—

कर्म यज्ञ जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा;
इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा।

(५) किन्तु वैदिक काल के विकृतियुग में यज्ञ में पशुवध का विधान कुछ आचार्यों ने बता डाला और कह दिया "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" यद्यपि यह वैदिक आदर्श के विरुद्ध है। महाकवि प्रसादजी भी इस विकृतवाद में कुछ आगे बढ़े और उन्होंने मनु के द्वारा यज्ञ में पशु का बलिदान कराया। किन्तु पुनः उस विकृत-भावना से ऊपर उठ कर उस पशु बलिदान का श्रद्धा के द्वारा विरोध कराया—यही सच्ची वैदिक भावना थी। श्रद्धा मनु के बलिदान कर्म से रुष्ट होकर कहती है:—

मनु क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल नव मानवता !
जिसमें सब कुछ ले लेना हो, हंत ! बची क्या शवता !
ये प्राणी जो बचे हुए हैं इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या वे सब ही हैं फीके !

यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में जिस यज्ञ पुरुष का वर्णन है उसको कामायनी के शब्दों में सुनिये:—

रचना मूलक सृष्टि यज्ञ यह यज्ञ पुरुष का जो है,
संसृति सेवा भाग हमारा से विकसने को है!

कितना सुन्दर उपदेश है। महात्मा गांधी का सर्वोदय सिद्धान्त का आधार यही है प्राणीमात्र की सेवा हमारा ध्येय है "मित्रस्य चक्षुसः समीक्षा महे" यही वैदिक सन्देश है, विश्व सेवा का यही सुन्दर उपदेश है।

(६) अहिंसा का तारतम्य वैदिक धर्म में अत्यन्त गहन है। किसी जीव की हिंसा न करना साधारणतः सर्वमान्य सिद्धान्त है किन्तु गृहस्थों और योद्धाओं के लिए यह उतना लागू नहीं आततायी का वध करना राष्ट्र के हित में विहित है जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है— "आततायिनमायान्तम् हन्या देवाविचारयन्"। इसी भाव को आत्मरक्षा में शस्त्र उठाने को विहित कर्म बतलाती हुई श्रद्धा कहती है :—

अपनी रक्षा करने में जो, चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र;
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं, हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।

मानव का पद पशुओं से ऊँचा है अतः पशुओं की रक्षा करना, न कि उनकी हिंसा करना मानव का परम कर्त्तव्य है :—

"पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि में बनें सेतु"

यही अहिंसा का उपदेश वेद हमको पग पग पर देता है।

(७) श्रद्धा रूप कामायनी अपने अवकाश के समय में तकली चलाती और गीत गाती थी "चलती है तकली मधुर गीत" "चलरी तकली धीरे धीरे प्रिय गये खेलने को अहेर" गृहलक्ष्मी के लिए तकली और चरखे का विधान पूर्णतः वैदिक है जिस पर महात्मा गांधीजी ने भी इतना अधिक बल दिया था। वेदों के प्रसिद्ध विद्वान श्री पं० दामोदर सातवलेकरजी ने तो "वेद में चरखा" नाम की पुस्तक ही रच डाली है। प्राचीन ऋषिकाओं के समान श्रद्धा भी आश्रम में तकली चलाने में व्यस्त रहती थी।

(८) वैदिक नारी का सर्वोत्तम भूषण शील और लज्जा है। कामायनी में लज्जा पर एक सर्ग ही लिखा गया है जिसमें लज्जा स्वयं कहती :—

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ;
मतवाली सुन्दरता पग में नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।
चंचल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हल्की सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।

इस प्रकार नारी सौन्दर्य की रक्षा करने वाली लज्जा ही है। नारी लज्जा के आवरण में ही श्रद्धा की पात्र बनती है जो फिर मानव जीवन के सुन्दर समतल में पीयूष स्रोत सी बहा करती है:—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में।

(९) जिस प्रकार केनोपनिषद में सब देव प्रबल कर

हार जाते हैं और यत्न ब्रह्म का पता नहीं पाते, तब हेममयी उमा ही इन्द्र को ब्रह्म का पता देती है। उपनिषद की इस आख्यायिका में हेमंवती उमा उसी प्रखरा बुद्धि की प्रतिनिधि हैं जो कामायनी में इड़ा (बुद्धि) के रूप में प्रकट होती है और मनु को आनन्द के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में सहायक होती है। मनु इड़ा से कहता है—

मनु मेरा नाम सुनो बाले !
मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश।
मैं तो आया हूँ देवि ! बता दो,
जीवन का क्या सुख सन्देश ?

बिना इड़ा के ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं और बिना ब्रह्मज्ञान के आनन्द की प्राप्ति नहीं। उस आनन्द में मानव

"सब भेद भाव भुलवा कर, दुख सुख को दृश्य बनाता, मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता !" कह उठता है।

कामायनी महाकाव्य का अन्तिम छन्द लिखकर कवि ने इसी अखण्ड आनन्द का वर्णन इस प्रकार किया है:-

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।

वैदिक तथा उपनिषद का मुक्ति का आनन्द है जहाँ हृदय की सब भ्रम ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सर्व संशय दूर हो जाते हैं और समरसता प्राप्त होती है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः"।

(पृष्ठ २०० का शेषांश)

का ह्रास गत दशक में दिखाई पड़ा, गुप्तजी ने भी उसी का साथ दिया। मेरा आशय यह है कि कवि ने नये काव्य-प्रयोगों को तो नहीं अपनाया पर अपने ऊपर से छायावादी काव्य शिल्प का प्रभाव, जो अधिक नहीं था, हटाने का उद्योग किया। काव्य की आदर्शवादी विचारधारा कल्पनाशील स्वच्छन्दतावाद को एक सीमा तक ही ग्रहण कर सकती थी। जीवनानुकूल प्रवृत्तियाँ जीवन-वैचित्र्य को पूर्णतः आत्मसात् करने में समर्थ नहीं हो सकीं।

'जय भारत' में गुप्तजी ने जीवन के कठोर और कोमल दोनों पक्षों को उपस्थित करते हुए जीवनोत्थान की अप्रतिहत चेष्टाओं का निरूपण किया है। कवि के मानव-जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों के अध्ययन में यह ग्रन्थ उपयोगी प्रमाणित होगा ...य की अर्द्धशताब्दी की चिन्तना इसमें थोड़े हेर फेर से उपलब्ध भी हो जायगी गुप्तजी के कथा-काव्यों में 'जय भारत' की विशिष्ट स्थिति और महत्ता है। वे इस कारण महान् नहीं हैं कि उनके क्षेत्र में अधिक लोगों ने कार्य नहीं किया, वरन् इसलिये कि वे आदर्शवादी जीवन-व्यवस्था के उत्थान वादी कवि हैं। उनका काव्य जीवन की उच्चाशयी वृत्तियों को पोषित करता है तथा भारतीय संस्कृति का नवीन उन्मेष लिए हुए है। निस्संदेह नहुष के स्वर्ग-पतन से आरम्भ होकर युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण पर परिसमाप्त होता हुआ यह काव्य मानव की उत्थान-चेष्टाओं का समाकलन करता चला है आरम्भ और अन्त की यह विरोधमयी संगति नाट्य-सौंदर्य से सम्पन्न है। सामाजिक यथार्थवाद के इस काव्य-युग में सांस्कृतिक (पौराणिक) आदर्शवाद की यह कृति अपनी कलात्मक विशेषताओं के कारण ही समादृत हो सकेगी।

'जय भारत'—समीक्षा

प्रो० कमलाकान्त पाठक, एम० ए०

आधुनिक साहित्य के शिरोरत्न तथा भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि स्वनाम धन्य श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की नई काव्य पुस्तक 'जय भारत' है। यह प्रबन्ध-रचना सैंतालीस खण्डों में विभक्त है। कवि ने 'निवेदन' शीर्षक प्राक्कथन लिखा है। उसी में इस पुस्तक के नामकरण का रहस्य उद्घाटित होता है। 'महाभारत' को सर्व प्रथम 'जय काव्य' नाम से अभिहित किया गया था। उसके कलेवर की वृद्धि होती गई और बाद में वह 'भारत' काव्य कहलाया। भृगुवंशी ब्राह्मणों ने व्यास की भारत नामक चतुर्विंशति साहस्री संहिता को शत साहस्री बना डाला और उसका नाम 'महाभारत' पड़ा। कवि ने स्वतंत्रता पूर्वक 'महाभारत' के 'जय' और 'भारत' प्राथमिक और माध्यमिक नामों के एकीकरण से इस काव्य-ग्रन्थ का नामकरण किया। अवश्य ही काव्य के कथा-क्रम का आधार सम्प्रति उपलब्ध 'महाभारत' है। इस नाम से इतना तो स्पष्ट है कि कवि ने भरतवंश के आख्यानों को उठाया है और उनके अन्तर्गत जो चारित्रिक गुण प्रस्फुटित हुए हैं उनका जय-जय-कार किया है। उसने प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम ज्ञान-विज्ञान कोष 'महाभारत' को अपना प्रतिपाद्य विषय निर्वाचित किया है पर इसी नामकरण में सामयिकता का आग्रह भी है। श्रीधर पाठकजी के 'जयहिन्द' देशेश हिन्द' को तो हम भूल गए, पर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा प्रवर्तित 'जयहिन्द' आजकल हमारा राष्ट्रीय अभिवादन बना हुआ है। कवि ने जयहिन्द का हिन्दीकरण किया—'जय भारत', और उसके द्वारा अपने पाठकों का अभिवादन भी।

गुप्तजी ने निवेदन में एक बात और स्पष्ट की है, वे समझते हैं कि प्रत्येक कवि का मानस-विकास होता रहता है और उसे जब अपनी पुरानी उक्ति दोहरानी होती है तो वह भी नए शब्दों में, नई भङ्गिमा के साथ। उन्होंने यह किया भी है और यदि वे यह कार्य न करते तो वह श्रम-लाघव आत्म-निरीक्षण की न्यूनता स्पष्ट करता। गुप्तजी प्रायः अर्द्ध शताब्दी से काव्य-रचना करते आए हैं और उन्होंने महाभारत की कथा पर आधारित अनेक काव्य-ग्रन्थों की सर्जना की है। 'जय भारत' में उन्होंने पुरानी कृतियों को प्रायः नवीन वेश-विन्यास दिया है, नए रूप में उपस्थित किया है। बारह वर्ष की सुदीर्घकालावधि में इसकी रचना हुई है, पर कवि बीच-बीच अन्यान्य काव्य-कृतियों का निर्माण भी करता रहा है।

जिस प्रकार 'साकेत' गुप्तजी का प्रतिनिधि-काव्य ग्रंथ है, उस प्रकार की स्थिति 'जय भारत' की नहीं है। यह उनके महा भारतीय काव्य ग्रंथों का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है। गुप्तजी की वाणी भारतीयता की भारती है आधुनिक काव्य में उनकी सांस्कृतिक काव्य-धारा अपना पृथक अस्तित्व रखती है। वे सांस्कृतिक पुनरुत्थान-वादी कवि रहे हैं। भारतीय जीवन की अन्यतम विशेषताओं का उनके काव्य में व्यक्तीकरण हुआ है। इसी अर्थ में उनका काव्य महान् है। उन्होंने महत् चरित्रों के उत्कृष्ट गुणों की कथा-काव्य के माध्यम से व्यञ्जना की है। उनकी शैली भी विशिष्ट है, उनकी निजी। शुद्ध, सरल और प्रवाहमयी भाषा के वे आचार्य हैं। जितना तत्सम शब्दों का वे उपयोग करते हैं उतना प्रान्तिक शब्दों का प्रयोग। उनके व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, रुचि और शैली का 'जय भारत' में पूर्ण परिपाक उपलब्ध होता है।

सम्बन्ध ही प्रबन्ध-तत्व का एक मात्र नियामक नहीं होता। कवि ने महाभारत के सैंतालीस प्रसङ्गों पर चरित्रोत्कर्ष-विधायिनी रचनायें उपस्थित की हैं। यशोधरा तथा द्वापर से ही कवि ने सुसम्बद्ध, सुगठित तथा अव्याहत प्रबन्ध-निर्माण की शैली का परित्याग कर दिया था। अतएव साकेत की प्रबन्ध कला का पुनरावर्तन सम्भव न था। 'काबा' और 'कर्बला' की रचना-पद्धति को गुप्तजी निखारने लगे और उन्होंने 'जय भारत' को उसी साँचे में

ढाला। इसका मुख्य कारण यह है कि गुप्तजी वर्णनात्मक कथा-काव्य के स्रष्टा होते हुये भी चरित्र-निर्माण कला में अपेक्षाकृत अधिक रुचि रखते हैं। वे चरित्रों की महानता से अभिभूत होकर उन्हीं की विशिष्टताओं का निरूपण करने लगे। उनका काव्य घटनात्मक या वर्णनात्मक न रह कर चरित्रादर्श व्यञ्जक हो गया। अवश्य ही गुप्तजी का चरित्र-निर्माण अन्तश्चेतनावादियों के शिल्प से नितान्त भिन्न है।

प्राचीन समय में एक ही कथावस्तु के भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों पर जैसी नाना वीर-गीतियाँ प्रचलित थीं और वे अनेक बैठकों में सुनी जाती थीं, वैसी ही स्थिति 'जय भारत' के खण्डों की भी समझिए। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग के अनुकूल है। जब हम छोटी कहानियों और एकांकी नाटकों की प्रवर्द्धना करते हैं तब प्रबन्ध काव्य की इस नवीन पद्धति का स्वागत भी करेंगे।

'जय भारत' का आरम्भ 'नहुष' खण्ड से हुआ है। मैं उपन्यासों के परिच्छेदों से इन खण्डों को भिन्न कोटि में रखता हूँ। 'नहुष' खण्ड में मानव-जीवन के उत्थान और पतन का चित्रण है, पर नहुष पतन में भी जीवन की गति का अनुभव करता है। उसका कथन है—

"गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था आप गिरता हूँ अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।

यह स्वस्थ जीवन-निष्ठा अभिनन्दनीय है। यदु और पुरु में पितृ-भक्ति का आदर्श निरूपित करते हुये भोग-लालसा को भ्रान्तिमयी बताया गया है। 'योजन गन्धा' में भीष्म-प्रतिज्ञा का वर्णन हुआ है। शान्तनु को क्लेश है कि उन्हें नव-पत्नी पाने के लिए पुत्र बलि देनी पड़ी। कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन करने के उपरान्त उन्होंने बन्धु-विद्वेष, द्रोणाचार्य, एकलव्य परीक्षा याज्ञसेनी आदि प्रसङ्गों की नियोजना की है। इस प्रकार 'महाभारत' की सुप्रसिद्ध एवं सुनिर्दिष्ट क्रमबद्धता 'जय-भारत' में रक्खी गई है। पर 'शान्ति पर्व' का निरूपण अथवा वर्णन कवि को अग्राह्य-प्राय रहा। उसमें: कदाचित् युधिष्ठिर के धर्म राजत्व का प्रकर्ष व्यञ्जित करने का उसे सुयोग मिलना भी कठिन था। पर कवि ने प्रत्येक प्रसङ्ग की वर्णना में अपना अभिप्रेत भी स्पष्ट किया है, यथा हिडिम्बा से उसने यह कहलाया—

'यदि तुम आर्य हो तो दो हमें आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृत कार्यता ?'

गुप्तजी प्राचीनता प्रेमी ही नहीं हैं, उनके काव्य में नवयुग की प्रेरणा और प्रभाव भी प्रभूत मात्रा में विद्यमान है।

'जय भारत' में कथन-वक्रता, छन्द-वैभिन्य तथा अलंकृति के प्रसाधनों का पर्याप्त उपयोग हुआ है। पर कवि की शैली में द्वापर तक आकार जिस छायावादी काव्य-शिल्प का आग्रह दिखाई पड़ा था, वह उस कृति के उपरान्त ही नष्ट हो गया और वे अपनी द्विवेदीयुगीन काव्य कला का परिष्कृत सुप्रयोग करने लगे। अपने इस मत की पुष्टि के लिये 'जयभारत' के 'स्वर्गारोहण' से एक उद्धरण दूँगा—

"नीचे अवनी, ऊपर अम्बर,
अब इन्हें मध्य पथ बढ़ा रहा,
गिरिराज उठाकर गोदी में,
मानों कन्धों पर चढ़ा रहा !
लेकर समाधि, जमकर जल भी,
अविचलता से संलग्न हुआ,
दधिकादों का उत्सद करके
हिम शैल उसी में मग्न हुआ।
पट पकड़ झाड़ियाँ रोक इन्हें
संस्पर्श सुरस चखती जाती,
पर वसन रहे, तनु मोह न लख
कुछ अभिज्ञान रखती जाती।
जगती अतीव ठण्डी साँसें
इनके वियोग में भरती है,
अपनी माया इनमें न निरख
काया भी काँप सिहरती है।"

जिस चित्रमयी सूक्ष्म भावाभिव्यञ्जक काव्याभिव्यक्ति

(शेष पृष्ठ १९८ पर देखिये)



आलोचना

साहित्य साधना की पृष्ठ-भूमि—लेखक पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव' प्रकाशक—ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना ४। पृष्ठ २१६, मूल्य ६)

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने देखा "कि अनेक उच्चकोटि के आलोचनात्मक ग्रन्थों के रहते हुये भी, नवीन-साधकों के लिये, इस प्रकार का ग्रन्थ नहीं था जिसके द्वारा एक ही पीठिका पर साहित्य के प्रायः सभी मुख्य अङ्गों की साधना का पथ सुलभ किया जा सके।" उसी की पूर्ति के लिए यह पुस्तक लिखी गई है। ठीक है, किन्तु प्रश्न यह है कि आलोचना के सारे सिद्धान्तों का जितने चलते ढङ्ग से इस पुस्तक में विवेचन किया गया है उससे 'नवीन साधक' कहाँ तक लाभ उठा पायेगा। हिन्दी में "साहित्यालोचन" की अपूर्णता पर ही विद्यार्थी को पर्याप्त क्षोभ उत्पन्न होता है किन्तु साथ ही 'साहित्यालोचन' को अपदस्थ करने का साहस अब तक कोई पुस्तक प्राप्त न कर सकी, प्रत्येक विषय पर कुछ लिख देने से 'नवीन साधक' का कार्य नहीं होगा, अपितु जिस विषय पर लिखा जाय उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन होने से कार्य होगा। विषय की दृष्टि से इसमें साहित्य तत्व, काव्य, अलङ्कार, रस, दृश्यकाव्य, कथा साहित्य सभी पर विचार किया गया है परन्तु विवेचन पूर्ण नहीं है। 'सौन्दर्य', काव्य और जीवन, 'रस' के मापदण्ड की सार्वभौमिकता आदि प्रश्न जैसा वैज्ञानिक तटस्थ विवेचन चाहते हैं वह लेखक की आदर्शवादी विचार धारा के कारण उलझे ही रह गये हैं, वह उसे स्पष्ट व्यक्त नहीं कर सका।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग)—सम्पादक श्री उदयसिंह भटनागर एम० ए०, प्रकाशक—साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ उदयपुर। पृष्ठ लगभग २४८, मूल्य ४)

उदयपुर की 'साहित्य-संस्थान' नामक संस्था कई प्रकार से हिन्दी सेवा का बहुत अच्छा काम कर रही है। उसने पुरातत्व विभाग द्वारा साहित्य की खोज का प्रशंसनीय कार्य किया है जिसकी रिपोर्ट तीन भागों में प्रकाशित हो चुकी है और तीन चार भाग और तैयार हैं जो शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। संस्थान द्वारा पृथ्वीराज रासो और राजस्थानी चारण और राव साहित्य के सम्पादन का काम भी हो रहा है। लोक साहित्य के विभाग द्वारा मेवाड़ की कहावतें और मालवीय-कहावतों की पुस्तक छप चुकी है। राजस्थानी भीलों की कहावतें छपने वाली हैं। राजस्थानी लोक गीतों का भी संग्रह हो रहा है तथा और भी उपयोगी साहित्य प्रकाशन का कार्य हो रहा है। संस्थान के सामान्य विभाग द्वारा उच्च कोटि के व्याख्यानों का प्रबन्ध किया जाता है। और उन व्याख्यानों को प्रकाशित भी कराया जाता है। संस्थान की ओर से 'शोध पत्रिका' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी निकली है जो काफी महत्व रखती है। इस प्रकार ये तथा इसी प्रकार के और अनेक काम संस्थान द्वारा हो रहे हैं। संस्थान के ये सब कार्य

बड़े शान्त ढङ्ग से तथा बिना किसी प्रसिद्धि की लालसा से किये जा रहे हैं। अतएव इनकी यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रशंसनीय है

प्रस्तुत पुस्तक में ३२५ लेखकों की चर्चा है और ५०६ ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। ये ग्रन्थ ३२६ लेखकों के हैं। ७६ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके लेखकों का परिचय नहीं मिल सका है और ६२ ग्रन्थ महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रन्थ हैं। रिपोर्ट से इन ग्रन्थों का सामान्यतः पूरा परिचय मिलता है। कौन ग्रन्थ कहाँ मिला है इसका भी उल्लेख रिपोर्ट में किया गया है। इस प्रकार यह रिपोर्ट राजस्थानी साहित्य पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है।

काव्य सरिता—लेखक-श्री दत्त विद्यावाचस्पति। प्रकाशक-एन० एम० भटनागर एण्ड ब्रदर्स, अमर निवास उदयपुर। पृष्ठ १००, मूल्य १।)

प्रस्तुत पुस्तक साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की प्रथमा एवं विशारद तथा राजपूताना विश्वविद्यालय की मैट्रिक एवं इण्टर परीक्षाओं के अलङ्कार, छन्द तथा रस विषयक पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर विद्यार्थियों के हितार्थ लिखी गई है। अलङ्कार तथा छन्दों के लक्षण गेय पंक्तियों दिये गये हैं और उन्हें गद्य में समझा भी दिया गया है। यह काम हिन्दी के पुराने मान्य ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। छन्द एवं रस सम्बन्धी विवेचन में विशेष परिश्रम किया गया है और प्रत्येक छन्द की मात्रा-गणना के द्वारा विद्यार्थियों का काम अत्यन्त सरल कर दिया गया है रस सम्बन्धी विवेचन में लेखक ने नवीनतम उपयोगी सामग्री का अन्तर्भाव करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इतना सब होने पर भी जहाँ-जहाँ लेखक ने स्वतन्त्र बुद्धि से काम लेने का प्रयत्न किया है वहाँ वह भटक गया है और परिणामस्वरूप उसकी परिभाषायें अत्यन्त त्रुटिपूर्ण हो गई हैं जिनसे विद्यार्थियों का अहित होना असम्भव नहीं। उदाहरणस्वरूप एकाध परिभाषा यहाँ दी जा रही है—

१—"काव्य में आनन्द देने वाले वाक्यों को ही काव्य कहते हैं।"

२—"जिस पुस्तक से हमें रमणीय अर्थ मालूम हो, जो हृदय को आनन्द देने वाला हो और गद्य में लिखा हुआ हो, ऐसे ग्रन्थ को हम गद्यकाव्य कहते हैं। उदाहरणार्थ—गद्य संग्रह, चित्रलेखा।"

३—"काव्य के दो अङ्ग हैं—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार।"

छन्दों में कहीं-कहीं पंक्तियाँ अटपटे रूप में प्रस्तुत की गई हैं। प्रूफ की अशुद्धियाँ जहाँ तहाँ खटक जाती हैं। वैसे पुस्तक की अधिकांश सामग्री उपयोगी है।

कविता

बदली की रात—लेखक-श्री बैरागी, प्रकाशक-नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद। पृष्ठ ८८, मूल्य ३)

'बदली की रात' तेलगू के प्रसिद्ध कवि श्री आलूरी बैरागी चौधरी की पचास छोटी-बड़ी, विभिन्न छन्दमयी कविताओं का संग्रह है। इसमें गीत भी हैं, छन्दबद्ध कविताएँ और मुक्तक भी। छन्द-भेद के सदृश ही कविताओं में विषय-भेद और अभिव्यक्ति की नवीनता भी उल्लेखनीय है। कुछ गीत वियोग के हैं, कुछ प्रगतिशील ढङ्ग के, कुछ विद्रोही स्वर लेकर उठने वाले और कुछ ऊबी हुई अपनी जिन्दगी के, आदि आदि। कवि का स्वभाव उसे मुक्त रहने की प्रेरणा देता है। लघुता और सीमा के प्रति विद्रोह करते हुए पहली ही रचना में उसने कहा है—

मैं अनन्त का पथिक बन्धनों में न बँधा रह जाऊँगा।
अपने विहरण में सीमा का अत्याचार न सह पाऊँगा।
जीवन और मृत्यु के सागर जिस सीमा पर हुए सम्मिलित।
उस सीमा को पार करूँगा मैं लघुता का बन्दी पीड़ित

'जागृति-गान' गाता हुआ कवि जगत के अशिव-कुरूप को साकार बनाकर युगों का हिसाब सौंफ करा लेना चाहता है। पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूतिशील कवि ने ओजस्वी वाणी में नाश और तूफान का आह्वान किया है—

हो गया है पेंदे में छेद, डूबता जीवन का जलयान।
त्वरित हो नाश, बँटाओ हाथ, बनो तुम इसके हित तूफान।

मानव जीवन की क्षुद्रता ने बैरागी के हृदय को सबसे अधिक प्रभावित और द्रवित किया है—

कितना निस्सहाय, कितना लघु,
कितना दुर्बल और अकिञ्चन,

कितना क्षुद्र, तुच्छ सीमित है,
घृणा-जनक मानव का जीवन।

इन कविताओं की विशेषता यह है कि कवि कहीं भी निराश होकर हाथ पर हाथ रखे बैठा अथवा भाग्य को कोसता आपको न मिलेगा। प्रत्येक कविता में एक आशा का सङ्गीत, नवीन जीवन की प्रेरणा, जीवन का आह्लाद, मृदु-मधुर के प्रति सजीव निष्कलुष आकर्षण जैसा कोई न कोई भाव समाया हुआ मिल जायगा। वियोग और स्मरण में लिखी गई कविताओं में भावों की नई चटक के साथ-साथ सरसता अभिव्यक्ति की सरलता और प्रभावशीलता जितनी मिलती है उससे कम विद्रोह के स्वर में भी कोई बात नहीं मिलेगी। जिस वेदना से भरकर कवि ने मृत-जीवन के प्रति सहानुभूति प्रकट की है उतनी ही पीड़ा से अपने गीले गान भी लिखे हैं, किन्तु आशा की किरण का स्पर्श सबको मिला है। कवि लम्बी और मुक्त छन्द की कविताओं के लिखने में भी सफल है और भावमय गीतों के सर्जन में भी। उसकी नवीन उपमाओं और कोमल भावनाओं के स्पर्श से दोनों प्रकार की कविता की अभिव्यक्ति आकर्षक है।

तुलसीदास—लेखक—श्री स्नेह ओझा, एम० ए०। प्रकाशक—साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर। पृष्ठ ६४, मूल्य १॥)

प्रस्तुत खण्डकाव्य निरालाजी के तुलसीदास के बाद हिन्दी में तुलसीदास सम्बन्धी दूसरी रचना है।* भाव और भाषा तथा कथा-विन्यास सब दृष्टियों से निरालाजी के काव्य से भिन्न यह काव्य तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग का आरम्भ दोपहर की चिलचिलाती धूप के वर्णन से हुआ है। इसी धूप में, रात्रि में नहीं, तुलसीदास अपनी पत्नी के पास पहुँच जाते हैं, जो उसी दिन उनके पास से अपने घर गई थी। रत्नावलि सखियों के साथ है अतएव पति के इस व्यवहार से उसके अहम् को ठेस सी लगती है। आत्मप्रतिष्ठा की भावना से वह तुलसीदास को कुछ लज्जित करते हुए कहती है कि तुमने इस व्यवहार से मुझे सखियों में भी लज्जित कर दिया। फिर उसका उपदेश चलता है और कुछ समय उपरान्त जब वह वहाँ से भोजनादि का प्रबन्ध करने के लिए हटती है, तुलसीदास घर से निकल पड़ते हैं। रुष्टा रत्नावलि का रूप जितना भयानक है उतने ही कटु उसके वचन भी हैं:—

नचत भृकुटि, तुरत मनु भी मान रति को मैन,
बन बरछी से छुटे औ मे तिरीछे नैन॥

बेचारे तुलसीदास सुनते ही ठगे से रह जाते हैं, उनका मुँह पीला हो जाता है। कुछ सोच-विचार करके रत्नावलि के प्रति मन ही मन कृतज्ञता प्रकट करते हुए निकल जाते हैं। उनके लिए रत्नावलि का घर भी साकेत होगया:—

तव निकेतन आज तें साकेत मोरे हेत-
राजधानी है जहाँ, हिय राम आसन लेत।

दूसरा प्रसङ्ग रत्नावलि की विरह-दशा का चित्रण है। वर्णन भारतीय परम्परा के अनुकूल है। निम्न पंक्तियों के पठन से हरिऔध की राधा का स्मरण होने लगता है:—

सकल मुखरित गाँव में बस एक ही यह गेह,
निपट भासत दीन मानहु, हीन-चेतन-देह।
दुसह दुख की दीसती सी अमिट मानों छाप,
आप ही अभिशापमय जहँ मधुर मौनालाप॥

साथ ही, एक प्रभावशाली करुण दृश्य भी अङ्कित हो जाता है।

तीसरे सर्ग में तुलसीदास घूमते-घामते बहुत समय पश्चात् एक दिन अचानक ही रत्नावलि के द्वार पर साधु वेश में आ खड़े होते हैं। रत्नावलि उन्हें पहचानती है और अनुनय-विनय तथा साथ चलने का हठ आरम्भ होता है। एक बार फिर रत्नावलि तुलसीदास को उपदेश देती हुई सी प्रतीत होती है। तुलसीदास के द्वारा नारी के प्रति व्यक्त किए गए विचारों को वह अपने प्रबल तर्कों के बल से फिर डगमगा देती है। बड़ी कठिनाई से तुलसी अपने मन को जीत पाते हैं और पुनः चले जाते हैं। रत्नावलि मीन के सदृश तड़पती रह जाती है।

इस सर्ग में षट्ऋतु वर्णन का निर्वाह भी कर दिया गया है। तुलसी भिखारी के रूप में खड़े किए गये हैं और

* एक और सुन्दर काव्य-रचना तुलसीदास पर 'देवार्चन' नाम से निकली है जिसके लेखक श्री 'करील' हैं और प्रकाशक साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

रत्नावलि के बार-बार आग्रह और चरण-स्पर्श के प्रयत्न से वह ऐसे भयभीत दिखाये गए हैं कि वह उनके उपयुक्त नहीं जान पड़ता। वे रत्नावलि को जानते हुए भी छद्म कर रहे हैं। तुलसी उस अवस्था में पहुँचे हुए विरागी हो चुके थे, अतः उन्हें दृढ़ भाव से विरक्त न दिखाकर छद्म करते हुए बताना उचित नहीं जान पड़ता।

लेखक तुलसीदास की प्रतिक्रिया को निरालाजी के सदृश सामाजिक आघात जनित नहीं मानता बल्कि व्यक्तिगत मानता हुआ चलता है। रत्नावलि को वह यशोधरा और उर्मिला के सदृश ही उपेक्षिता मानकर उसकी ओर आकृष्ट हुआ है और रत्नावलि के प्रति विशेष मोह ने ही तुलसी के चरित्र को उक्त स्थलों पर कुछ नीचे उतार लिया है। रत्नावलि के द्वारा तुलसीदास को प्रथम अवसर पर बताई गई डाट-डपट को वह केवल 'सङ्कोच की जड़ता' मानता है। नारी के प्रति तुलसीदास के युग की जैसी भावना थी, मानों रत्नावलि उसका बदला चुकाती है।

लेखक ने नवीन दृष्टिकोण से कथा का संयोजन किया है। इसे हम एक भिन्न कथा ही कहें तो अच्छा। अलङ्कारों का प्रयोग, शब्दों की तोड़-मरोड़ और ब्रजभाषा के साथ अन्य भाषा-शब्दों का मेल काव्य की सरलता और सरसता में बाधक नहीं हुआ।

टूटे तार—ले०—विश्वेश्वर बी० ए०, प्रका०—मित्र सङ्घ समसपुर, मुंगेर। पृष्ठ ३६, मूल्य ।।=)

कवि विश्वेश्वर का कहना है कि जीवन के आरम्भ से टूटे तार तक उसे रोने का ही अधिक मौका मिला। वही रुदन इन २२ कविताओं में मुखरित है। कवितायें लेखक के अन्तःसङ्घर्ष की द्योतक हैं। कहीं उसकी कथा करुणा से गीली है और कहीं आशा की ज्योति से दीपित। अधिकतर कवि किसी विशेष की स्मृति में लीन होकर निराशा के स्वर भरता रहा है किन्तु अन्तिम कविताओं में विश्वास और दृढ़ता की सफल अभिव्यक्ति हुई है। संग्रह के गीतों के स्वर भिन्न-भिन्न हैं।

बदलता युग—लेखक-महेन्द्र भटनागर, प्रकाशक—श्री दीनानाथ बुकडिपो, खजूरी बाजार, इन्दौर। पृष्ठ ७६, मूल्य १।।)

'बदलता युग' में लेखक की ४३ कविताएँ संग्रहीत हैं। कविताएँ प्रगतिशील दृष्टिकोण से राष्ट्रीय इतिहास का परिचय प्रस्तुत करती हैं। बङ्गाल का अकाल तथा पञ्जाब के साम्प्रदायिक दंगे से लेकर मलान सरकार की क्रूरता, जनता-राज्य तथा आधुनिक नारी तक कवि का दृष्टि-विस्तार है। कभी-कभी वह शराबी को शराब के दोष बताने की चेष्टा करता हुआ उसे शराब न पीने का उपदेश भी करता है। इन कविताओं में आरम्भ से अन्त तक कवि का विश्वास उसका साथ देता है।

साम्प्रदायिक दङ्गों के सम्बन्ध में कवि का विश्वास है कि—

आँधियाँ बङ्गाल के नभ में उठीं थीं जब,
रोक लेना था मगध प्रतिशोध का विप्लव।
फिर न पड़ती देखनी पञ्जाब की पशुता,
और यह सीमान्त के निर्दोष मानव शव॥

उसका विश्वास है कि : रुकेगी यह नहीं आवाज—
सब इन्सान जग के एक हैं,
हम एक हैं।

कवि ने मिल मजदूर को जागरण के लिए पुकारा है, धरती की पुकार में युवकों को बलिदान के लिए ललकारा है, नवीन भविष्य की अर्चना की है और देश और समाज की विभिन्न परिस्थितियों ने कवि की वाणी को प्रेरणा दी है।

पागल के गीत—लेखक-श्री रामभरोसे पाठक, प्रकाशक-साहित्य मण्डल, सेंवढ़ा, दतिया, विन्ध्यप्रदेश। पृष्ठ ६४, मूल्य ।।।=)

'पागल के गीत' में ४१ कविताएँ संग्रहीत हैं। कविताओं की आधारभूमि और उनका स्वर एक ही है—स्वर्गीया पत्नी की स्मृति और तज्जन्य विकलता की अभिव्यक्ति। समर्पण के अश्रु शीर्षक के अन्तर्गत अपनी कविताओं की पृष्ठभूमि बताते हुए कवि ने कहा है—"तुम्हारे (पत्नी के) अभाव में, प्राणों में नशा का धुआं सा छाया रहता है जिससे जीवन-पथ धुँधला पड़ गया है और पथ-भ्रष्ट के समान भटक रहा हूँ।" यहाँ तक कि उसे स्वयं मृत्यु की प्रबल कामना है। लेखक का आकर्षण विगत जीवन के प्रति जितना है उसकी तुलना में भविष्य और वर्तमान बहुत ओछा है। निराश कवि की

जीवन में कहीं कोई निस्वार्थ व्यक्ति न मिला अतः जीवन के प्रति उसे कोई मोह नहीं है। उसका स्पष्ट कथन है—'बस ऊब गया जीते जीते' अब यदि वह जीवित है तो केवल जलने के लिए—'मैं किसी की याद में चुप रह शमा बन जल रहा हूँ।' उसे विश्वास नहीं कि उसके बीते दिन कभी लौट भी सकेंगे। क्योंकि : 'कब किसके बीते दिन लौटे।' उद्देश्य की एकता के कारण एकरसता अनुभव होती है। भाषा के विचार से रचना उत्तम है।

क्रान्ति किरण—लेखक-मदनलाल पंवार, प्रकाशक-स्वयं कवि, कोटा-राज। पृष्ठ ८३, मूल्य १)

'क्रान्ति-किरण' कवि की कविताओं का प्रथम संग्रह है। संग्रह की १५ कविताओं का विभाजन 'स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व' तथा 'स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त' नामक दो शीर्षकों में हुआ है। उसने सशस्त्र-क्रान्ति का आह्वान किया है। स्वयं कवि के शब्दों में—'प्रायः अधिकांश रचनाओं में रक्त के छींटे एवं वीरोचित प्रलय हुँकारें ही आपको मिलेंगी'। कङ्गाली के नृत्य, राशन-व्यवस्था, शिक्षक की दुर्दशा तथा भारत के बँटवारे की ओर कवि की दृष्टि केवल आकर्षित ही नहीं हुई है बल्कि उसका हृदय उन सबसे द्रवित भी हुआ है। प्रतिक्रिया स्वरूप ओजमयी वाणी में राग गाकर शव में प्राण फूँकने की चेष्टा की गई है। इन कविताओं में कवि के हृदय की वेदना, मर्मान्तक अनुभूति, असन्तोष, क्षोभ के साथ साथ आशा, विश्वास और विजयोल्लास सभी की सफल और अवसरोचित अभिव्यक्ति हुई है। समाज और देश की सेवा इन कविताओं का विशेष लक्ष्य है। युवक के प्रति उसकी पुकार है।

हम जियें और को जीवन दें, हम पियें और को पयघट दे।
हम एक बार ही मुसकायें, उन अधरों को मुसकाहट दे।

कवि ने देश के निर्माण के लिए सबके जागरण की कामना की है। उसकी कामना है कि देश के लिए 'कब्रों में मुर्दे जायँ जाग।' स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व कवि स्वयं हलाहल पीकर शिव बनने को उत्सुक था, प्रलय मचा देने के लिए उसका हृदय व्याकुल था और स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश के निर्माण के लिए उसका स्वर उसी उत्साह से ऊँचा है। कवितायें सरल और सुबोध हैं।

—प्रो० आनन्दप्रकाश दीक्षित

राजधानी के कवि—सम्पादक-गोपाल कृष्ण कौल, रामावतार 'त्यागी', प्रकाशक-निर्माण प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १४४; मूल्य ३)

यह दिल्ली के स्थानीय कवियों का एक अच्छा कविता संग्रह है। सभी प्रकार के कवि हैं, किसी वाद या विवाद को सामने रखकर यह संग्रह नहीं किया गया, कविता के प्रचार तथा नई प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। तार सप्तकों में भी नये कवि आये थे, किन्तु उसके पीछे 'वाद' का आग्रह था, यद्यपि वह चला नहीं। इस संग्रह में 'नवीन', उदयशङ्कर भट्ट, गिरजाकुमार माथुर, गोपालप्रसाद व्यास, अज्ञेय आदि एक साथ हैं, दोषी, सम्राट, 'कालरा', 'बेचैन', 'व्यथित' 'मुनब्बर', 'विह्वला', 'हंस', 'कौल' सभी हैं। कविताओं में दो स्वर प्रधान हैं—भूख, प्रेम। आप इन्हें प्रगतिवादी या प्रेम विषयक कवितायें कह सकते हैं।

अनुभूति का स्पन्दन, भाषा की ... एवम् स्वच्छता इन कविताओं की विशेषता है। कुछ कवियों के प्रयोग अपरिपक्व हैं। इस संग्रह के पुराने कवियों के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। नये कवियों का भविष्य अज्ञात है। लक्षण शुभ भी हैं और अशुभ भी, अशुभ इसलिये कि आज की कविता एक ढाँचे में ढलकर निकल रही है। व्यवस्था के प्रति असंतोष यदि व्यक्त न होकर व्यञ्जित होने लगे तो अच्छा हो। कवितायें प्रशंसनीय और योजना अनुकरणीय है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

गद्यकाव्य

उन्मुक्ति (गद्यकाव्य)—ले०-रेणु, प्रकाशक-शक्ति प्रकाशन, झालरापाटन। पृष्ठ ८२, मूल्य १॥)

गद्यगीत (गद्यकाव्य) काव्य की एक प्रतिष्ठित विधा है। यद्यपि इसका प्रचलन अब नहीं-सा है, परन्तु इसकी अपनी कला और अपना सौन्दर्य है। भारतीय साहित्य में इसका सूत्रपात कविगुरु रवीन्द्रनाथ टाकुर ने किया—हिन्दी में उन्हीं की 'गीताञ्जलि' की प्रतिच्छाया थी राय

कृष्णदास की 'साधना'। फिर तो रायकृष्णदास ही पथ-प्रदर्शक हुए और चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि, रामनाथ लाल 'सुमन', दिनेशनन्दिनी चोरडिया (डालमिया); भँवरमल सिंघी, तेजनारायण काक, रामकुमार वर्मा आदि कई कवि गद्यगीतकार हुए।

इसी परम्परा को अनुसरण रखने वाली कवियित्री हैं श्री शकुन्तला कुमारी 'रेणु'। इनके गद्यगीत प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहे हैं—उन्हीं का संग्रह है 'उन्मुक्ति'। इसमें छोटे-बड़े ८१ गद्यगीत हैं।

'उन्मुक्ति' के गद्यगीतों में उस 'परोक्ष' तत्व का भावन और चिन्तन है जो भावुक रहस्यवादी के अन्तर्तम में प्रत्यक्ष हो उठता है; और अनेकविध अनुभूतियों में अपनी अभिव्यक्ति करने लगता है। रहस्यवाद इन गद्य-गीतों का मूल-स्वर है। रहस्यवाद में जीवन से पलायन की आसङ्का रहती है, परन्तु 'रेणु' जी के उच्च-उदात्त मानवतावाद तथा समाज सापेक्ष जीवनवाद की जीवित स्वस्थ भावना इन गद्यगीतों में मुखरित हुई है। दार्शनिकता से वे बोझिल नहीं हैं और न सस्ते 'रोमांसवाद' से हल्के।

—डा० सुधीन्द्र

निबन्ध

हँसता जीवन—ले०-भुवनेश्वर नाथ मिश्र, प्रका०-ग्रन्थमाला कार्यालय पटना। पृष्ठ १७१, मूल्य २)

पुस्तक १६ लेखों का संग्रह है जिनमें कुछ तो साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं, कुछ साधारण विषयों पर लिखे गये हैं। पुस्तक की भूमिका श्री विनयमोहन शर्मा ने लिखी है। साहित्य की साधना क्या है, सौन्दर्य तथा कला क्या है—आदि विषयों का भी विवेचन है। 'रसोल्लास' निबन्ध रस तथा सौन्दर्य का विवेचन करता है। उनके अनुसार किसी वस्तु की ललक में ही रस होता है। वे 'भगवान की प्रीति और तज्जन्य आनन्द की आन्तरिक अनुभूति को' ही भक्ति मानते हैं। 'जीवन की शोभा' का अर्थ व प्रेम और सेवा मानते हैं। 'मोरों के देश में', 'चलते समय' निबन्ध यात्रा से सम्बद्ध हैं। 'सोप केस', 'ओ मेरे चप्पल' मौलिक विचार उपस्थित करते हैं।

शैली में भावुकता व तर्क की प्रधानता है। अंग्रेजी संस्कृत से उद्धरण देकर लेखक ने अपने विचारों की पुष्टि की है। एक निबन्ध से राजस्थान के लोक-जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। सुन्दर ग्रामीण चित्र दिए हैं। कहीं कहीं आडम्बर पूर्ण शब्द-जाल के भी दर्शन होते हैं।

सामयिक निबन्ध—लेखक-प्रो० इन्द्र, प्रकाशक-हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद। पृष्ठ २०८, मू० ३)

पुस्तक में लेखक के ४० निबन्धों का संग्रह है जो विभिन्न विषयों पर लिखे गये हैं। उद्देश्य है पाठकों को सामान्य विषयों का ज्ञान कराना तथा विद्यार्थियों के लिए परीक्षा में उपयोगी होना। राजनैतिक निबन्धों में भारतीय संविधान, विभाजन, शरणार्थी समस्या, हिन्दू कोड बिल, जमींदारी प्रथा आदि समस्याओं व विषयों पर विचार किया है। अंग्रेजी का स्थान, भाषा के आधार पर राज्य, उच्च शिक्षा का माध्यम, सहशिक्षा आदि निबन्ध शिक्षा-सम्बन्धी हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद, तुलसी आदि का परिचय भी कराया है। सुभाष बोस, स्टालिन माओत्सेतुङ्ग आदि व्यक्तियों की जीवनी पर भी प्रकाश डाला है। कुछ सामयिक विषय भी हैं—सिंचाई की योजनायें, मुद्रा-स्फीति, जनवृद्धि की समस्या आदि।

—त्रिलोचन पांडेय

कहानी

मसूरी वाली—लेखक-बेढब बनारसी, प्रका०-पराग, बड़ी पीयरी काशी। पृष्ठ १२६, मूल्य १॥)

बेढब बनारसी हास्य के प्रसिद्ध लेखक हैं। उनकी अनेक पुस्तकें हिन्दी संसार में अपना स्थान बना चुकी हैं। कविता, कहानी, नाटक सभी में आप हास्य तथा व्यङ्ग के ऐसे फव्वारे छोड़ते हैं जिन्हें पढ़ते ही बनता है। आपकी लेखनी शिष्टता की सीमा से बाहर नहीं जा पाती। प्रस्तुत पुस्तक आपकी १७ कहानियों का संग्रह है। 'मसूरी वाली' पहली कहानी है। पूरी कहानी पढ़ते पढ़ते पाठक यह समझता रहता है कि वह एक स्त्री की चर्चा सुन रहा है पर अन्त में पता लगता है कि वह कोई स्त्री नहीं मसूरी से आई हुई एक छड़ी है। इसी प्रकार के कथानक और कहानियों में है। पाठक पुस्तक को एक बार पढ़ देखें।

शङ्का-समाधान

लोकगीत—

लश्कर से श्री गोविन्दसहाय वर्मा ने प्रश्न किया है—"लोकगीतों की सृष्टि कैसे होती है और उनके बिस्तार के क्या साधन हैं ?"

——लोकगीतों की रचना विशेष प्रकार की मनोदशा से होती है। जब आनन्द या करुणा के अतिरेक से भाव मन में रह नहीं पाते, कुछ तीव्र अभिव्यक्ति का माध्यम चाहते हैं। ग्रामीण जीवन से विशेष सम्बन्ध होने के कारण ही उन्हें हम 'लोकगीत' कहते हैं।

इनके दो रूप हो सकते हैं—(१) विशेष अवसर पर गाए जाने वाले गीत—ब्याह, नामकरण आदि उत्सवों के समय (२) नित्यप्रति के काम के समय गाए जाने वाले—चक्की पीसते समय, बच्चों को सुलाते समय आदि। इनमें स्वानुभूति का प्रकाशन होता है।

प्रसाद—

भागलपुर के एक सज्जन श्री जयप्रकाश यादव लिखते हैं कि वे "शशिमुख पर घूँघट डाले……" वाली प्रसाद की पंक्तियों में यह नहीं समझ पाये हैं कि उसमें सम्बोधन किसे किया गया है। 'आए' शब्द पर भी उन्हें आपत्ति है।

——वस्तुतः प्रसाद ने अपने आराध्य को यहाँ पर पुरुष-रूप में नहीं स्त्री-रूप में ही लिया है। और स्त्री-रूप के लिए पुरुषवाची शब्दों का प्रयोग करने की प्रायः उनकी आदत है। स्त्री-लिङ्ग वाले शब्दों को भी उन्होंने पुल्लिङ्ग बनाया है। "तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलते हो क्यों" में भी यही स्त्री रूप है जब कि वे 'चलते हो' का प्रयोग करते हैं। यह उन पर फारसी प्रभाव माना जा सकता है। इसी प्रभाव से उन्होंने "छिल छिल कर छाले फोड़े" की चर्चा भी की है।

तुलसी—

श्री महेन्द्रप्रसाद, दरभङ्गा से पूछते हैं—"तुलसीदासजी नारी के प्रति बेहद उदार हैं या बेहद अनुदार ?"

——वस्तुतः तुलसी का नारी के प्रति दृष्टिकोण उदार है। दो चार प्रसङ्गों को उद्धृत कर घोषणा कर देना कि वे विरोधी थे या आज के स्थूल मनोवैज्ञानिक नियमों पर उनको कसना ठीक नहीं है। वे नारी-स्वातन्त्र्य में भी मर्यादा के पोषक रहे। यदि उनके प्रति सहृदय न होते तो कौशल्या सी माता या सीता सी पत्नी का चित्रण न कर पाते। मर्यादा के अन्तर्गत वे नारी के प्रति पूर्ण उदार हैं। इसका विरोधी कोई भी उदाहरण उनकी कृतियों में नहीं मिलता।

सूरदास—

मंगलूर से श्री श्रीधर भट्टजी का प्रश्न है—"वे (सूरदास) जन्म से ही अन्धे थे, इसलिए उनका नाम सूरदास पड़ा। क्या यह ठीक है ?"

——यह कथन सही नहीं माना जा सकता। एक तो उनका अन्धा होना पुष्ट आधारों से प्रमाणित नहीं है। उन्होंने जो वर्णन किए हैं वह नेत्रवाला ही कर सकता है। इतना तो निश्चित है कि वे जन्मान्ध नहीं थे, बाद में चाहे हो गये हों। अन्धों के लिए 'सूरदास' शब्द का प्रयोग तो परम्परा के कारण भी हो सकता है। जनता परम्परागत नामों को ही अधिक अपनाती है। हम तो यह भी सम्भावना देखते हैं कि उनका नाम ही कुछ और हो, दीक्षा के उपरान्त 'सूरदास' नाम पड़ा हो। जैसा प्रायः 'चरणदास', 'रामदास' नामों से स्पष्ट भी होता है। उत्तर प्रदेश के एक गायक श्री चन्द्रशेखर पन्त अब बाबा 'हरिदास' हो गये हैं।

कामायनी—

श्री पशुपति पाण्डेय, बलिया से पूछते हैं कि कामायनी में चिन्ता को 'मधुमय अभिशाप' क्यों कहा गया ?

——'अभिशाप' तो इसलिए कि चिन्ता वाञ्छनीय नहीं होती, उसकी कोई कामना नहीं करता। लेकिन प्रसाद उसे मधुर—मधुमय—भी कहते हैं। क्योंकि चिन्ता अन्ततः परिणाम में सुखद होती है। इसी चिन्ता से प्रेरित होकर मनुष्य सुख-प्राप्ति के लिए जीवन में प्रयत्नशील होता है। और परिणाम अच्छा होता है। इसी कारण आगे चल कर इसी चिन्ता को प्रसाद ने 'सुन्दर पाप' भी कहा है।

उन्हें 'साहित्य', 'काव्य', शब्दों व कुछ आलोचकों की परिभाषाओं ने भी शङ्कित किया है। ज्ञानराशि के सञ्चित कोष को हम वाङ्मय कह सकते हैं, साहित्य को उतना व्यापक शब्द मानना ठीक नहीं है। काव्य और साहित्य भी वस्तुतः एक नहीं हैं। काव्य भाव तत्व की ओर विशेष उन्मुख है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से तो साहित्य बिल्कुल भिन्न है। या तो शब्द + अर्थ सहित, या "हितेन सह सहितं!" कविता काव्य के अन्तर्गत एक रूप है। अतः काव्य से उसका क्षेत्र व कार्य पृथक है।

राधा का संकेत—

जोधपुर से श्री हरिकृष्ण पुरोहित ने पूछा है—"राधा शब्द की उत्पत्ति सर्व प्रथम किस साहित्य में हुई? तथा उसका ऐतिहासिक इतिहास क्या है?"

——राधा का सर्व प्रथम उल्लेख 'हरिवंश पुराण' में है। उसमें कृष्ण ने 'हा राधे····' कह कर विरह प्रकट किया है। तब उसका उल्लेख 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में है। 'भागवत' में राधा का नाम तो नहीं, पर एक गोपी का उल्लेख अवश्य है जो कृष्ण को विशेष प्रिय थी। 'अमर कोष' में विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम राधा है। 'गाथा सप्तशती' (५ वीं सदी) में भी उसका उल्लेख है। 'ध्वन्यालोक' के दो श्लोकों में उसका वर्णन है।

वैष्णव साहित्य में निंबार्काचार्य ने राधा का उल्लेख किया है। फिर जयदेव ने राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया। बङ्गाल में उसे प्रधानता मिली। विद्यापति ने अपनी पदावली में उसे नायिका बनाया। जहाँ कृष्ण कितनी ही बार उसका नाम रटते हैं। तब 'सूरसागर' में राधा आई। रीतिकालीन काव्य के तो अक्षर-अक्षर में 'राधा' छा गई है। हरिऔध ने पुनः 'प्रियप्रवास' में राधा को एक नवीन रूप से प्रस्तुत किया है।

भिन्न 'वाद'—

पटना से श्री कामताप्रसाद सिंह पूछते हैं—'वाद' किसे कहते हैं, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? इसके कितने प्रकार हैं?

——कुछ विशेष प्रकार के विचारों व रूप संविधान से प्रेरित काव्य सिद्धांत ही वस्तुतः 'वाद' है। इसका सम्बन्ध वस्तु व उसकी अभिव्यञ्जना प्रणाली दोनों से है। जब किसी विशेष दिशा में लोग समान रचना करने लगते हैं—जब उनकी रचनाओं में निश्चित सिद्धांत का प्रतिफलन होने लगता है तब 'वाद' की उत्पत्ति होती है। जैसे 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत विशेष मानसिक स्तर में भावानुभूति की अभिव्यक्ति होती है जिसका प्रभाव शैली पर भी पड़ता है। इनका प्रचलन व्यापकता पर ही निर्भर है। जब उस प्रकार की यथेष्ट रचना हो जाय, तब उसके स्वरूप के विश्लेषण के उपरांत उसके तत्वों के आधार पर उसकी प्रवृत्तियों का निर्देश किया जा सकता है। अतः नवीन एकाध रचना को लेकर 'वाद' का निर्देश कर चलना ठीक नहीं होता।

हिन्दी कविता में इधर तीन वादों की प्रधानता रही है—'छायावाद', 'रहस्यवाद' और 'प्रगतिवाद'। शुक्लजी ने 'कलावाद', 'अभिव्यञ्जनावाद' पर भी विचार किया है जो शुद्ध पाश्चात्य उपज है। 'राष्ट्रवाद' का भी कुछ दिन नाम सुनाई दिया। इधर 'प्रयोगवाद', 'हालावाद', 'प्रतीकवाद' नाम भी चल रहे हैं। बिना विषय की व्यापकता व गहराई के हम तो किसी 'वाद' की उपस्थिति मानने को तैयार नहीं, लेकिन जन साधारण में जो प्रथा चल पड़ी, वह चलती जाती है।

———

REGD. No. A. 263. NOVEMBER, 1955. LICENSE No. 1
Sahitya Sandesh, AGRA. Licensed to post without Prepayment

परीक्षार्थी-प्रबोध (भाग ४)

प्रकाशित हो रहा है

'परीक्षार्थी-प्रबोध' के अब तक तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और उनकी उपयोगिता के कारण हिन्दी संसार ने इन्हें खूब अपनाया है। प्रबोध का चतुर्थ भाग गत वर्ष ही छप जाना चाहिए था, पर समय पर उसकी पूरी तैयारी न हो सकने के कारण ऐसा न हो सका। अब इस भाग का सम्पादन हो चुका है और पुस्तक छप रही है। आशा है १५ दिसम्बर से पूर्व ही पाठकों के हाथों में पहुँच जायगी।

पाठकों को ज्ञात है कि परीक्षार्थी-प्रबोध में साहित्य-सन्देश के पुराने वर्षों के उत्तमोत्तम लेखों को छांट कर संग्रह किया जाता है। चतुर्थ भाग में ऐसे ही लेखों का संग्रह किया गया है। इस भाग के सम्पादन में इस बात का ध्यान विशेष रूप से रक्खा गया है कि अधिकतर वे लेख आवें जो एम. ए. या साहित्य-रत्न आदि परीक्षाओं के लिए उपयोगी होंगे। इन परीक्षाओं में नियत पाठ्य-पुस्तकों पर भी लेख इसमें मिलेंगे। कुछ लेख ऐसे भी हैं जो अभी तक कहीं नहीं छपे हैं, जो केवल इसी पुस्तक के लिए विशेष रूप से लिखाये गये हैं। पुस्तक में कौन-कौन से लेख हैं यह पाठकों को अन्यत्र छपी विषय-सूची से स्पष्ट हो जायगा।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य में

परीक्षार्थी-प्रबोध हमारे सभी पाठकों के लिए उपयोगी पुस्तक है और हम चाहते हैं कि वह सब के यहाँ रहे। इसलिए हम उसे अपने ग्राहकों को पौने मूल्य पर देते हैं। चौथे भाग का मूल्य भी ३) होगा। लेकिन हमारे ग्राहकों को यह पुस्तक २।) में मिलेगी। पोस्टेज खर्च अलग होगा। पोस्टेज और वी० पी० खर्च में किफायत करने के लिए इस बार हमने तय किया है कि कई ग्राहक चाहें तो एक साथ भी इस पुस्तक को मँगा सकेंगे। इससे रजिस्ट्री, वी० पी० तथा मनीआर्डर का खर्च अलग-अलग न लगेगा। अगर कोई ग्राहक एक प्रति से अधिक भी मँगाना चाहेगा तो हम अधिक प्रति भी इसी रियायत के साथ भेज देंगे।

चारों भाग एक साथ

परीक्षार्थी प्रबोध के चारों भाग एक साथ लेने पर मूल्य तो पौना होगा ही, हम पोस्टेज की भी रियायत कर देंगे। परन्तु यह रियायत उन्हीं सज्जनों को मिल सकेगी जिनका ६) का मनीआर्डर हमें १५ दिसम्बर तक मिल जायगा। इस भाग की माँग बहुत ज्यादा है। ऐसी दशा में पाठकों को अपनी प्रति सुरक्षित करवा लेनी चाहिए।

साहित्य-रत्न-भण्डार, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

साहित्य सन्देश

वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क ६

वार्षिक मूल्य ४)] आगरा—दिसम्बर १९५३ [एक अङ्क का

इस अङ्क के लेख

'साहित्य-सन्देश' के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा-जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।



वर्ष १५] आगरा—दिसम्बर, १९५३ [अंक ६

हमारी विचार-धारा

संस्कृत राष्ट्रभाषा के रूप में—

डाक्टर काटजू तथा महामहिम राज्यपाल श्रीप्रकाशजी संस्कृत को राष्ट्रभाषा के रूप में देखना चाहते हैं। संस्कृत भाषा को भारत में जो मान्य पद प्राप्त है उसके सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। वह हमारी संस्कृति और साहित्यिक परम्पराओं का मूल श्रोत है। इस दृष्टि से संस्कृत का पठन-पाठन अनिवार्य कर दिया जाय तब तक हानि नहीं है। किन्तु उसका राष्ट्रभाषा बनाना समय की गति को ३००० वर्ष पीछे ले जाना है। संस्कृत कभी देश भाषा रही हो किन्तु आजकल देश भाषाएँ संस्कृत से बहुत दूर पहुँच गई हैं। संस्कृत के व्यापक प्रचार के दिनों में भी लोक-भाषा के रूप में प्राकृतें उसकी प्रति-द्वन्द्विता करने लगी थीं। राष्ट्रभाषा और लोक-भाषा में विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए। जिस भाषा को जनता न समझ सके वह राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती, इसके अतिरिक्त जहाँ हमारी कांग्रेस सरकार मुसलमानों की सुख-सुविधा का इतना ध्यान रखती है वहाँ वह एकदम संस्कृत को कैसे राष्ट्रभाषा बना देगी। जब वे लोग संस्कृत गर्भित हिन्दी को भी सहन नहीं कर सकते हैं तब उनके ऊपर संस्कृत लादना ऐसा ही होगा जैसा कि पाकिस्तान के हिन्दुओं पर अरबी। हिन्दी और उर्दू में तो विशेष अन्तर नहीं है। मूल भाषा तो एक ही है। पारिभाषिक शब्दों और लिपियों का अन्तर है।

हिन्दी सीखने में मुसलमानों अथवा अन्य भारतीयों को लिपि की ही समस्या रहेगी। भाषा की इतनी नहीं। संस्कृत हिन्दी की मातामही अवश्य है किन्तु जो जन-सम्पर्क हिन्दी ने प्राप्त कर लिया है वह संस्कृत को नहीं मिल सकता। यह कहना कि संस्कृत स्वीकार कर लेने से विरोध मिट जायगा वृथा के हठवाद को प्रोत्साहन देना है। जनता को हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत बोलने में दस गुना कष्ट होगा।

देवनागरी लिपि-सुधार—

हर्ष की बात है कि देवनागरी लिपि के सुधार के सम्बन्ध में जो समिति लखनऊ में बैठी थी उसके निर्णय

प्रकाशित हो गये। हमें इस बात का सन्तोष है कि उन्होंने कोई ऐसे परिवर्तन नहीं किए जिससे कि हिन्दी का रूप किसी प्रकार विकृत हो। अधिक परिवर्तनों का एक बड़ा भय यह था कि देवनागरी में लिखे या छपे हुए प्राचीन ग्रन्थ अशोक के शिला लेखों की भाँति दुरूह हो जाते। प्रेसों को भी बड़ी उथल-पुथल करनी पड़ती। सुविधा के स्थान में असुविधा हो जाती। वास्तव में बात यह है कि मशीन को लिपि के अनुकूल होना चाहिए न कि लिपि को मशीन के अनुकूल। टाइप राइटर की ही सुविधा के लिए ह्रस्व इ की मात्रा को पीछे न रख कर आगे रख दिया है। वैसे अब ऐसे टाइप राइटर बन गये हैं जिनमें ह्रस्व इ की समस्या बिना किसी परिवर्तन के हल हो गई है। हम नई ध्वनियों के जैसे मराठी के ल की और भी स्वर ध्वनियाँ Cat में ऐ और College ऑ की ध्वनियों के बढ़ाये जाने के पक्ष में हैं लेकिन वर्तमान लिपि संकेतों के रूप परिवर्तन के पक्ष में नहीं हैं।

नागरी लिखने में नागरी अङ्कों की भी स्वाभाविकता स्वीकार कर ली गई है। ६ अब इस रूप में लिखा जायगा। वह इस रूप में पहले भी लिखा जाता था। पण्डित जवाहरलाल जी रोमन और उर्दू लिपियों का जारी रहना जरूरी समझते हैं। यह केवल मोह और ललक की बात है हिन्दी लिखने के लिए किसी दूसरी लिपि की आवश्यकता नहीं। नागरी लिपि में वैसे ही उर्दू भी लिखी जा सकती है। भारत की अन्य लिपियों के लिए भी वह पर्याप्त है उनके लिए न रोमन चाहिए और न उर्दू। आसामी भाषा यदि किसी पादरी ने रोमन अक्षरों में लिखी और लोगों ने अपनाया तो इसका यह अर्थ नहीं कि देवनागरी लिपि उसके लिए पर्याप्त नहीं, उर्दू लिपि की जानकारी से मध्य-पूर्व से सम्बन्ध स्थापित करने में सुलभता होगी। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है किन्तु जनता में कितने ऐसे हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आते हैं। वे जब फारसी अरबी पढ़ेंगे तब अरबी लिपि भी सीख लेंगे। वृथा क्यों कष्ट उठाया जाय। हम तो उर्दू साहित्य को भी नागरी अक्षरों में लाना चाहते हैं जिससे उसकी मान्यता बढ़े। फिर भी यदि कोई उर्दू पढ़े तो हमें उनसे कोई द्वेष नहीं।

हिन्दी को मौलिक विचारक चाहिए—

आजकल राष्ट्र भाषा को सम्पन्न बनाने के, बहुत से प्रयत्न चल रहे हैं। उनमें अन्य प्रान्तीय और विदेशी भाषाओं के साहित्य के अनुवाद की बात बड़े जोरों से कही जाती है। यह प्रयत्न भी अत्यन्त आवश्यक है। इस विषय में सभी लोग सहमत हैं। संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद न होना हमारे लिए लज्जा की बात है। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के अनुवाद की इसलिए विशेष आवश्यकता है कि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के बोलने वाले अपने से इतर भाषाओं के साहित्य का हिन्दी के माध्यम से रसास्वाद कर सकें और भारत की एकता का सक्रिय अनुभव कर सकें।

हिन्दी का उत्तरदायित्व अनुवादों तक ही नहीं है, अनुवाद आवश्यक है किन्तु हिन्दी की सर्वमान्यता के लिए उसकी गाँठ की पूँजी बढ़ाने की आवश्यकता है। कविता और कथा साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी अपना अंशदान करने में किसी से पीछे नहीं है किन्तु अभी विचारात्मक साहित्य, दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, इतिहास आदि के ग्रन्थों की आवश्यकता है। संस्कृत और अँग्रेजी ने जो देशव्यापी मान्यता प्राप्त की है वह केवल अनुवादों के कारण नहीं की है वरन् अपनी ठोस विचारात्मक सामग्री के कारण। जहाँ ठोस सामग्री होती है वहाँ सब लोग दौड़ कर जाते हैं। जो कुछ हमारे यहाँ ठोस सामग्री है उसका पर्याप्त विज्ञापन नहीं हुआ है और मौलिक साहित्य निकलते भी कम है। फैक्टरी की वस्तुओं की भाँति सरकार मौलिक लेखक बनवा नहीं सकती। कवियों की भाँति प्रतिभाशाली लेखक भी उत्पन्न होते हैं बनाये नहीं जाते। जो थोड़ी बहुत प्रतिभा को चिनगारी लेकर आते हैं उनको उचित प्रोत्साहन नहीं मिलता है। मिलता भी है तो वे हिन्दी में नहीं लिखते। हमारे मौलिक लेखक अंग्रेजी का मोह छोड़कर हिन्दी में लिखें। यदि उनको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की आवश्यकता है तो वे दोनों भाषाओं में लिखें। कवीन्द्र रवीन्द्र ने ऐसा ही किया था। हिन्दी लिखने से उनको यूरोप के बराबर विस्तृत क्षेत्र मिलेगा।

सरकार का भी यह उत्तरदायित्व है कि वह ऐसे साधन उपस्थित करे जिससे मौलिक विचारकों को हिन्दी

लिखने की सुविधा हो। अच्छी हिन्दी की पुस्तकों को विश्व विद्यालय पाठ्य-क्रम में रखकर मान दे। वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण कार्य को कुछ अधिक महत्व दे। भाषा को सम्पन्न बनाने के कार्य को भी पञ्च वर्षीय योजना में स्थान दे।

लेखकों और विचारकों को यहाँ वे सुविधाएँ भी नहीं हैं जो योरुप में हैं। उनको यथासम्भव योग-क्षेम की चिन्ताओं से मुक्त रक्खा जाय। उनको प्रयोग शालाओं में काम करने की सुविधा दी जाय। अध्यापकों का भी उत्तरदायित्व है कि वे थोड़े क्षुद्र स्वार्थों का बलिदान करके राष्ट्र भाषा को सम्पन्न बनाने में लग जायँ। हम अनुवादों की झूठी पत्तल चाट कर बहुत दिन नहीं जी सकते।

हिन्दी के तार—

हमें यह जान कर हर्ष हुआ कि केन्द्रीय तार विभाग हिन्दी के तार भेजने में आशातीत उन्नति कर रहा है। थोड़े ही समय में उसने ४०० स्थानों से हिन्दी के तार भेजने और ग्रहण करने का प्रबन्ध कर लिया है। हम आशा करते हैं कि निकट भविष्य में ही यह प्रबन्ध सारे भारत में फैल जायगा और हमारे सभी पाठक हिन्दी में तार भेजने में अपना गौरव समझेंगे।

मध्य-प्रदेश में हिन्दी—

२५ नवम्बर को एक वक्तव्य देते हुए मध्य-प्रदेश के मुख्य मन्त्री पं० रविशङ्कर शुक्ल ने जो सूचनाएँ दी हैं—हिन्दी वाले उसे सुन कर प्रसन्न होंगे। आपने कहा है कि मध्य-प्रदेश सरकार के सारे काम तेजी से हिन्दी या मराठी में लिये जा रहे हैं। प्रत्येक सरकारी कार्यालय में अँग्रेजी, हिन्दी, मराठी कोश भेज दिया गया है और हिन्दी के टायप करने और शीघ्र लिपि लेखक तैयार किए जा रहे हैं। राज्य के सभी तरह के फार्म हिन्दी में अनुवादित कर के छपवा दिए गए हैं। हम जानना चाहते हैं कि उत्तर-प्रदेश की सरकार इस मामले में कितनी आगे बढ़ी है। घोषणायें तो यहाँ भी बहुत हुई हैं पर वास्तविक काम कितना होता है—यह देखने की बात है।

साहित्य में गतिरोध—

विगत वर्षों से हिन्दी साहित्य में गतिरोध की चर्चा विभिन्न क्षेत्रों से उठ रही है। यह चर्चा केवल साहित्य में ही नहीं वरन् राजनीति में भी चल रही है और यह चर्चा विभिन्न रूपों में विश्व के अनेक देशों के जन-जीवन और साहित्य में आज उठी है। विभिन्न देशों की परिस्थितियों और परम्पराओं के अनुसार इस समस्या का रूप भी भिन्न है। यदि इस भिन्नता को दृष्टि में न रख कर इस समस्या के हल में पाश्चात्य का अन्धानुकरण किया गया तो फिर और नई समस्यायें उठ खड़ी होने की सम्भावनायें हैं।

आज जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक सङ्घर्ष चल रहा है। यह सङ्घर्ष राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मान स्थापनाओं का सङ्घर्ष है। अभी विश्वगगन द्वितीय महायुद्ध के धड़ाकों की गूँज से शान्त नहीं हुआ है कि पुनः एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि अति विध्वंस-कारी अस्त्रों के प्रयोग से विश्व गगन विक्षुब्ध हो उठा है और मानव विद्वेष, शोषण और प्रतारणा का स्वर सबसे ऊपर सुनाई पड़ने लगा है। पर मानव अभी भी जीवित है तभी उसके बल से ही तो विभीषिका का अन्तिम नाटक होने से रुका है। युग एक नई करवट के लिए सङ्घर्ष कर रहा है, जिसमें मानव अडिग रह सके और मानवता की स्थापना हो सके।

महान साहित्य मानव का उदात्त अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है और उसका समाज से चोली दामन का सङ्ग होता है, उसकी महानता की सबसे बड़ी कसौटी समाज सापेक्षता ही होती है तभी तो हम रीति-काल की अपेक्षा जो समाज से नाता तोड़ दरबारी सीमा से बन्द होगया था भक्ति काव्य को जो उदात्त और व्यापक मानवता का सन्देश देता था महान कहते हैं। भले ही रीतिकाल में कला का निखार हुआ, पर समाज सापेक्षता न होने के कारण वह साहित्य भक्तिकाल के साहित्य की कोटि को न पा सका।

आज हमारा देश भी एक नई करवट ले रहा है, वह एक घोर संक्रान्ति से गुजर रहा है। ऐसे अवसर पर

बहुत कुछ पुराना छोड़ना होता है नया अपनाना होता है। समाज की सारी स्थिति नये पुराने के दोहन मन्थन में तरल हो जाती है। उसमें से रूढ़िगत अस्वस्थ पुरातन को अलगाव कर स्वस्थ पुरातन के साथ नये का गतिशील सामञ्जस्य स्थापित करना, मानवता के प्रति विश्वास जगाना, जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करना, उसकी भावनाओं को उदात्त बनाना और इस युग सङ्घर्ष में अडिग मानव को गढ़ना कलाकार का काम है। निःसन्देह आज की इस स्थिति में कलाकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है और उसके सामने यह प्रश्न उठते हैं कि आज की कला में क्या खो रहा है, क्यों खो रहा है, आज की स्थिति में कला और समाज का क्या सम्बन्ध है, कौन से पुराचीन नैतिक मूल्य अस्वस्थ हैं, कौन से नये नैतिक मूल्य स्वस्थ हैं, उनकी नये मानव समाज में कैसे स्थापना करनी है, उनका रूप क्या होगा आदि नितान्त स्वाभाविक है; और स्पष्टतः इस बात का लक्षण है कि कलाकार अपने उत्तरदायित्व के प्रति सतर्क हैं।

उत्तरदायित्व के प्रति सतर्कता में भी एक गतिरोध की सम्भावना का भय प्रतीत होता है उसके प्रति सतर्क रहना भी नितान्त आवश्यक है। आज हम हिन्दी साहित्य में अनेक धाराएँ देख रहे हैं और हर धारा के अपने कुछ आग्रह हैं। जब हम आग्रहों की सीमा में बन्द हो बालू में गर्दन दिए शुतुरमुर्ग की तरह और कुछ देखने से इन्कार कर देते हैं वहीं वास्तविक गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। स्वस्थ आदान-प्रदान की भावना को सजग करना नये उपयोगी और सही मान मूल्यों के निर्माण के लिए पहली सीढ़ी है।

इस समस्या पर छुट पुट रूप से विद्वान विचार प्रकट कर रहे हैं और स्थायी तौर पर भी कहीं-कहीं साहित्यिकों ने मिलकर इस समस्या पर विचार-विमर्श किया है किन्तु आवश्यकता थी उच्च स्तर पर सामूहिक रूप से इस समस्या के मन्थन की।

अभी हाल में कलकत्ता में व्रज साहित्य-मण्डल के तत्वावधान में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के अभिनन्दन समारोह के अवसर पर डा० सत्येन्द्र ने साहित्य में गतिरोध पर सामूहिक रूप से विचार-विमर्श करने की दृष्टि से एक गोष्ठी का आयोजन किया था। इस गोष्ठी में विचार के लिए निम्न प्रश्नावली प्रस्तुत की गई थी—

(१) क्या खो गया है? (२) क्यों खो गया है? (३) साहित्य अथवा कला से मनुष्य का कोई सम्बन्ध है? (४) नहीं, तो क्यों? (५) है, तो क्या और कैसे? (६) क्या साहित्यकार को पूर्ण स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की मान्यता के साथ कला और मनुष्यता के सम्बन्ध को लेकर किन्हीं मर्यादाओं की मान्यता आवश्यक है? (७) प्राचीन नैतिकता क्या है? (८) क्या नवीन नैतिकता का कोई स्वरूप साहित्यकार खड़ा कर रहा है? और क्या उसकी आवश्यकता है? (९) खोये मानव की पुनरोपलब्धि के लिए साहित्यकार किस नीति और किस मर्यादा के साथ कला-सृष्टि प्रस्तुत करे? (१०) क्या साहित्यकार प्रादेशिक और भौगोलिक सांस्कृतिक सीमाओं में बँध कर मानव को मानवता की पुनरोपलब्धि करा सकता है!

यह प्रथम अवसर था जब हिन्दी के चोटी के साहित्यकारों ने मिल कर सामूहिक रूप से उपरोक्त प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया। इस गोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वान थे—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डा० देवराज पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं० झाबरमल शर्मा, श्री मोहनसिंह सेंगर, बाबू गुलाबराय, श्री गोपालप्रसाद व्यास और श्री मोहनलाल वाजपेयी आदि। इसी प्रकार सामूहिक सङ्गठित रूप से इन प्रश्नों पर अभी और विचार करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार के विचार-विमर्श ही इस बात के लक्षण हैं कि साहित्य में गतिशीलता है। इन पर न विचार करना अपने-अपने पूर्वाग्रहों में ही अपने को आबद्ध कर लेना ही सही अर्थों में गतिरोध है और इसी के विरुद्ध सतर्क रह कर साहित्य के नये मानदण्डों की खोज परताल करना गतिशीलता है।

हम इस गोष्ठी का स्वागत करते हैं और इन प्रश्नों पर अन्य विद्वानों के विचारों का आह्वान करते हैं।

कलाकार और सामान्य व्यक्ति

प्राध्यापक श्री नित्यानन्दप्रसाद सिनहा, एम० ए०

जब हम किसी को कलाकार कहते हैं तो हमारे मन में यह धारणा रहती है कि कलाकार अपने श्रोता-दर्शकों से सर्वथा भिन्न प्राणी है—वह एक विशिष्ट प्राणी है, एक ऐसा प्राणी है जिसे ईश्वर की देन विशेष विभूतियां मिली हैं, अथवा, कम से कम जो अपनी विभूतियों, मानसिक शक्तियों का विशेष प्रकार से उपयोग ही करता है। साधारणतया लोगों का विश्वास है कि कलाकार निश्चित ही साधारण जन की भाँति नहीं, वह असाधारण है, और जन साधारण से उसका स्तर बहुत-बहुत ऊँचा है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार और साधारण व्यक्ति में बहुत अधिक अन्तर नहीं, यद्यपि किसी-किसी अर्थ में बहुत अधिक अन्तर जान पड़ता है।

कला का बहुत व्यापक अर्थ होता है। कला कार्य-कौशल, कार्य पटुता को भी कहते हैं। किसी कार्य को सम्पादित करने की जो विशेष कुशलता होती है, उसे हम उस कार्य की कला कहते हैं। कार्य कुशलता, चतुराई या विशिष्ट ज्ञान के सहारे हम किसी कार्य को भली भाँति करने में समर्थ हो पाते हैं। इस अर्थ में कला विशिष्टीकरण (Specialisation) के अतिरिक्त और कुछ नहीं। विशिष्टीकरण किसी व्यक्ति विशेष को कार्य विशेष की विशिष्ट क्षमता प्रदान करता है। इस अर्थ में यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि एक कलाविद् (जिसे कलाकार भी कहा जा सकता है) अन्य व्यक्तियों से भिन्न है क्योंकि जो विशेष ज्ञान और क्षमता उसे प्राप्त है वह औरों को नहीं।

कला यदि दूसरों में आनन्दोद्भव तथा भावोद्रेक करानेवाली समझी जाय तब भी यह मानना पड़ेगा कि कलाकार अन्य प्राणियों से भिन्न है क्योंकि आनन्द प्रदान करने एवं भावों को जगाने की विधि से परिचित कलाकार ही ऐसा करने में समर्थ हो सकेगा। इस प्रकार आनन्द प्रदान करने वाले और आनन्दित होने वाले का सहज अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के हृदय में भावों को जगाना चाहता है तो वह जान बूझकर अपने मन के अनुकूल भावों को ही जगाता है। इससे स्पष्ट है कि वह अपने निजी भावों का आरोप करना चाहता है। ऐसी स्थिति में एक है भावों का आरोप करने वाला और दूसरा है भावों को ग्रहण करने वाला। आरोप करने वाला कलाकार विशेष प्राणी है और ग्रहण करने वाला साधारण क्योंकि अपनी कुछ विशेषताओं के सहारे ही वह कलाकार अपने भावों का आरोप करने में समर्थ होता है। यहाँ भी कलाकार और साधारण व्यक्ति के बीच अन्तर मान्य है। पर यहाँ एक बात ध्यान देने की अवश्य है। कलाकार दो प्रकार के होते हैं: एक, जन्मजात और दूसरे, अभ्यास निर्मित। जन्मजात कलाकार साधारण व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न दीख पड़ेगा, किन्तु अभ्यास निर्मित कलाकार में असाधारणता कम ही होगी।

कला अनुकृति और अभिव्यञ्जना के अर्थ में भी ग्रहण की जाती है। अनुकृति भावोद्रेक में सहायक बनती है और भावों का प्रकाशन ही कला की संज्ञा पाता है। प्रकृति पर्यवेक्षण के उपरान्त प्राकृतिक पदार्थों के अनुकरण की आत्मभावना हृदय में जगती है, और वही अनुकरण की प्रवृत्ति अभिव्यञ्जना के मूल में है। चित्रकला के मूल में प्राकृतिक दृश्यों का अनुकरण है तो पक्षियों का कलरव और नदियों का कलकल नाद सङ्गीत के मूल में। मूर्त प्राणियों और पदार्थों का अनुकरण ही तो मूर्तिकला की सृष्टि करता है। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि कलाओं का मूलभूत कारण अनुकृति है। कला एक माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने हृदय में जो भी अनुभव करते हैं उसे व्यक्त कर देते हैं। अपने भावों की अभिव्यक्ति करने वाला केवल अपने भावों को प्रकट करता है, वह यह भी नहीं समझ पाता कि वह क्या प्रकट

कर रहा है और कैसे प्रकट कर रहा है। जब हृदय में भाव जगते हैं, वह उन्हें सँभाल नहीं पाता और इसीलिए लगता है, उसके भाव स्वतः निःसृत हो रहे हैं। सच तो यह है कि हम अपने भावों की अभिव्यक्ति इसलिए करते हैं कि बिना अभिव्यञ्जना का सहारा लिए हम उन्हें स्वयं भी नहीं समझ पाते! Collingwood ने लिखा है, At first, he (artist) is conscious of having an emotion, but not conscious of what this emotion is ....the emotion expressed is an emotion of whose nature the person who feels it is no longer unconscious.' तो, भाव हृदय में उलझे हुए होते हैं और हम जैसे-जैसे प्रकाश में लाते जाते हैं वे सुलझते जाते हैं। हमारे भाव जितना सुलझते हैं, हम उन्हें उतना ही समझते हैं।

हम अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं, सम्भव है किसी श्रोता-पाठक के सामने स्पष्ट करते हों। पर इससे यह न समझना चाहिए कि श्रोता-पाठक के हृदय में अपने भावों के समान ही भावों को जाग्रत करना हमारा अभीष्ट है। हमें तो अपने भाव प्रकाशन से ही संतोष हो जाना है। भावोद्रेक की चिन्ता वहाँ रहती है? हाँ, यदि किसी प्रकार का प्रभाव हम अपने श्रोता-पाठक के मन पर डालना चाहते हैं तो केवल इतना ही कि वह यह समझ ले कि हम क्या अनुभव कर रहे हैं। बस। किन्तु यह तो वही प्रभाव है जो हम अपने भाव प्रकाशन के द्वारा अपने आप में जगाना चाहते हैं। इसलिए यह निश्चित हो जाता है कि हम और हमारे श्रोता-पाठक दोनों एक ही रूप में केवल इतना ही समझना चाहते हैं कि हम क्या क्या अनुभव कर रहे हैं। किन्तु जो व्यक्ति दूसरों के हृदय में कुछ प्रभाव जगाने की चेष्टा करता है वह एक ऐसा प्रभाव डालना चाहता है जो स्वयं उस पर नहीं पड़ता। ऐसा लेखक और पाठक उस भाव के प्रति ठीक उतना ही भिन्न हो जाते हैं जितना किसी औषधि के सम्बन्ध में डाक्टर और उसका रोगी होते हैं। डाक्टर अपने रोगी के लिए औषध बताता है, रोगी उस औषधि का सेवन करता है—और दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं होता। ठीक इसके विपरीत जो केवल भावों को अभिव्यक्त करता है वह अपने तथा अपने पाठक के साथ एक ही सा व्यवहार करता है। Collingwood के शब्दों में—He is making his emotion clear to his audience, and that is what he is doing to himself. इस प्रकार अपने भावों को पाठक या श्रोता के समक्ष स्पष्ट करता है और अपने समक्ष भी वह यही करता है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कलाकार भावाभिव्यक्ति किसी श्रोता या पाठक विशेष को सम्बोधित करके नहीं करता। प्रथमतः भाव प्रकाशक अपने आप को ही सम्बोधित करता है और तत्पश्चात् किसी ऐसे अन्य व्यक्ति को जो उसे हृदयंगम कर सके। किसी अभिव्यञ्जित वस्तु को हृदयङ्गम कर सकना तभी सम्भव है जब हृदयङ्गम करने वाले में भी वैसी ही वस्तु हो जैसी अभिव्यक्त करने वाले में। कहने वाले का आशय सुनने वाला तभी समझ सकता है जब सुनने वाले के मस्तिष्क में भी वैसी वस्तु के लिए स्थान हो। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण का सहारा लें। यदि कोई यह कहे कि दो और दो मिलकर चार होते हैं और उसका सुनने वाला कोई ऐसा व्यक्ति हो जो गणित के साधारण नियम 'जोड़' को नहीं जानता हो तो क्या वह उपर्युक्त बात समझ सकेगा? कदापि नहीं।

वक्ता ही उसे समझ सकेगा, वह अन्य व्यक्ति नहीं। इसे तो वही श्रोता समझ सकता है जो अपने मस्तिष्क में ही जोड़ सके कि दो और दो मिलकर चार होते हैं। जिस प्रकार विचारों की अभिव्यक्ति में यह सिद्धान्त लागू होता है वैसे ही भावों की अभिव्यक्ति में भी। यदि कवि हर्ष या विमर्ष को अभिव्यक्त करता है तो उस हर्ष-विमर्ष को वही पाठक या श्रोता समझ सकेगा जिसे उस प्रकार के हर्ष-विमर्ष का अनुभव करने की क्षमता हो। साधारण सी उक्तियाँ हैं—

"जाके पायँ न फटे बिवाय,
सो क्या जाने पीर पराय।"

तथा—

"बिंधने की व्यथा वह जानता फूल,
चुभा जिसमें कभी खार जो हो।"

आदिकवि की अमर पंक्तियाँ—

मा विषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः
यत्क्रौंच मिथुनादेकं अवधिः काम मोहितः

जिस अन्तर्वेदना के फलस्वरूप निर्गत हुई थीं उसे तो वही समझ सकेगा जिसका हृदय स्वयं इतना संवेदनशील हो कि समान परिस्थिति में वह भी ठीक वैसा ही अनुभव कर सके जैसा वाल्मीकि ने किया। इसीलिए तो कहा जाता है कि जब कोई किसी कविता को पढ़ता और समझता है तो वह केवल कवि के भावों को नहीं समझता वरन् कवि के शब्दों में अपने भावों का अनुभव करता है और तत्क्षण उसे ऐसा लगता है कि कवि के शब्द उसके अपने ही शब्द हों। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि कवि हमें भी कवि बनाता है तो उसका यही अर्थ होता है कि जिन भावों की अभिव्यक्ति करने से कोई कवि की संज्ञा पाता है वे भाव हमारे हृदय में भी निवास करते हैं। कवि किसी फूल के सौन्दर्य का वर्णन करता है किन्तु उस वर्णन को पढ़कर वही पाठक प्रसन्न होता है जो उस फूल के उस सौन्दर्य को देखने, ग्रहण करने की आँखें रखता हो। काव्यमर्मज्ञ तो जानते ही हैं कि रस की उत्पत्ति नहीं होती रस की निष्पत्ति होती है। श्रोता-पाठक-दर्शक में पहले से ही स्थायी भावों की स्थिति प्रायः स्वीकार की जाती है। अतः जो भी काव्य का रसास्वादन करने में समर्थ होता है वह स्वयं भी रसिक ही होता है। और जो रस-रसिक नहीं वह काव्य रस का आस्वादन कर ही नहीं सकता। किसी कवि की प्रार्थना—

अरसिकेषु कवित्त निवेदनं
शिरसि विधि मा लिख, मा लिख-

यही तो आभास देती है कि अरसिक के समक्ष काव्य-चर्चा करना भैंस के आगे वेणु बजाना है।

मैं समझता हूँ कि अब यह मानने में आपत्ति नहीं की जा सकती कि यदि कला अभिव्यञ्जना है तो लेखक भी केवल उतना ही बड़ा कलाकार है जितना बड़ा पाठक। कलाकार और पाठक-श्रोता में प्रकार का भेद नहीं, मात्रा का जो भेद हो। इस स्थल पर यह बता देना अनुचित नहीं होगा कि कलाकार के निर्माण में पाठक-श्रोता या जन साधारण का बहुत बड़ा हाथ होता है। दूसरे शब्दों में जन और युग के अनुकूल ही कलाकार होते हैं। प्रत्येक युग का अपना अलग धर्म होता है। एक युग के बहु-संख्यक प्राणी प्रायः एक ही सा अनुभव करते हैं। युग-विशेष का कलाकार युग विशेष की भाव धारा को ही अभिव्यक्त करता है। ऐसा वह जान-बूझकर या प्रयत्न के द्वारा नहीं करता, वरन् अनायास ही करता है। कारण, उस कलाकार में और जन साधारण में कोई भेद तो है नहीं। उस कलाकार के हृदय में भी तो वैसी ही भाव-भावनाएँ उद्भूत होती हैं जो उस युग के जन-जन के हृदय में उद्भूत हो सकती हैं। विश्व के किसी भी साहित्य का इतिहास इस उक्ति की पुष्टि करता है। हिन्दी साहित्य के ही विभिन्न कालों की सामान्य प्रवृत्तियों का अध्ययन कर हम इसे भली-भाँति समझ सकते हैं कि युग परिवर्तन के साथ ही कलाकारों, उनकी भावनाओं और पाठक-श्रोताओं में भी परिवर्तन होता रहा है।

तो क्या यह मान लिया जाय कि कलाकार और साधारण व्यक्तियों में थोड़ा भी अन्तर नहीं? नहीं। अन्तर तो है, पर प्रकार का नहीं प्रत्युत भाव प्रकाशन का। Pope ने लिखा है कि कवि वही अभिव्यक्त करता है (What all have felt but none so well expressed, जिसे सभी अनुभव करते हैं लेकिन कोई भली भाँति प्रकट नहीं कर पाता। साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है— "अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किञ्चित व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में "जिसे लोक-हृदय की पहिचान हो।"

ऊपर हमने देखा है कि भावों के प्रकट करने में हृ

(शेष पृष्ठ २२२ पर देखिए)

महाकवि सूर की मौलिकता

श्री सहदेवप्रसादसिंह 'देव' एम० ए०

किसी कलाकार की मौलिकता या नवीकरण पर विचार करते समय हमें परम्परा को नहीं भूलना चाहिये। परम्परा और नवीकरण का गाढ़ सम्बन्ध रहा करता है। जब कलाकार कोई नयी उद्‌भावना करता है तो परम्परा-प्रदत्त सारी सामग्री उसकी चेतना के सम्मुख रहा करती है। कलाकार अपने युग से तो प्रभावित होता ही है; इस के अतिरिक्त वह अपने पूर्व के साहित्य से भी प्रभावित होता है। कलाकार की श्रेष्ठता इसी में है कि अपने पूर्व से कुछ लेकर भविष्य के लिए कुछ दे जाय। अपने पूर्व से कुछ लेने मात्र से किसी कवि की मौलिकता में प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगता। 'स्वान्तः सुखाय' रामचरित मानस 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' भी है; फिर भी उसकी मौलिकता अक्षुण्ण है। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' महाभारत पर आधारित होते हुए भी 'काव्येसु नाटकम् रम्यम् तस्य रम्यम् शकुन्तला' बन सका है। इसी तरह 'कामायनी' की कथा वेदों और पुराणों में छितरायी पड़ी है, साकेत की कथा जनसाधारण की जिह्वा पर नाचती—और अन्त में कल का 'कुरुक्षेत्र' महाभारत के भीष्म-युधिष्ठिर संवाद पर आधारित है। फिर भी ये काव्य ग्रन्थ मौलिक हैं। उसी तरह सूरसागर का विषय कई आधारों पर आधारित होते हुए भी सूर की प्रतिभा ने उसमें कलात्मकता का चमत्कार दिखाया है।

इधर कुछ दिनों से जब कि सूर-साहित्य के अनुशीलन की ओर विद्वानों का ध्यान गया है, सूर-सागर को स्कन्धों में विभाजित देख कुछ विद्वानों ने इसे भागवत का अनुवाद कहना शुरू किया है। श्रीमद् का आधार सूर ने अवश्य लिया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट के पहले सूर दैन्योक्ति के पद रचा करते थे जिसे महाप्रभु ने 'घिघियाना' कह कर निन्दा की और सूर को श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका कह दी। कृष्ण का जीवन तो काव्यमय है ही। सूर को जैसे एक नई काव्य-दृष्टि मिल गयी। अब वह खिलौनों से क्यों खेलने लगा। सूरसागर में वर्णित विषयों की उत्कृष्टता की ओर दृष्टि ले जाँय—वह चाहे बाल वर्णन हो, या गोपियों का विरह या विशुद्ध गीति-काव्यात्मक पात्र राधिका के स्वरूप को देखें—इनमें जो रस मिलेगा वह सूरदास की अपनी चीज है। उसमें अनुवाद की सङ्कीर्णता नहीं। सूर द्वारा वर्णित कितने विषयों की चर्चा तक भागवत में नहीं आयी है। तो किन कारणों के आधार पर इसे अनुवाद कहा जाता है। सूरसागर में कवि के अन्तःसाक्ष्य की कतिपय पंक्तियाँ भी इन विवादों का कारण बनी हैं। सूर की मौलिकता के प्रसङ्ग में प्रारम्भ में कुछ आधुनिक पौराणिक प्रबन्धों की चर्चा की गयी है। आधुनिक कवि दिनकरजी ने 'कुरुक्षेत्र' के निवेदन में अपनी मौलिकता की ओर अप्रत्यक्ष इशारा करते हुए लिखा है कि महाभारत का ख्यात वृत्त लेने का उनका उद्देश्य 'हिन्दी महाभारत' जैसी कोई चीज लिखने का नहीं था। जबकि सूरदास ने स्पष्ट घोषणा की है कि उनका उद्देश्य सूरसागर को भाषा-भागवत का रूप देने का था—

'सूरदास कह्यो भागवत अनुवाद' या

× × ×

'व्यास कहे शुकदेव सौं द्वादश कंध बनाय।
सूरदास सोई कहे पद भाष्य करि आहि॥'

अतः सूर को सागर की रचना बारह स्कन्धों में करनी पड़ी—जिसमें वे पूर्णतया असफल रहे। लेकिन असफलता भी तो कभी-कभी किसी गुण को बतलाने वाली ही होती है। दशम् स्कन्ध सूर का मनचाहा विषय था। शेष स्कन्धों में उनकी वृत्ति नहीं रमी और वे वर्णात्मक छन्द बन पड़े। तब क्या कवि की स्वीकारोक्ति के अनुसार सागर को अनुवाद ग्रन्थ माना जाय? सूरदास ने अपने को अनुवाद की संकीर्णता में कभी नहीं रक्खा। वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे। भावुक और सरस कला-

कार अनुवादक नहीं हो सकता है। सूरसागर के 'पन्ने पर पन्ने' पढ़ते जाइये, केवल उपमाओं, रूपकों की छटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा-व्यञ्जना का चमत्कार यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दश-दश बार दुहरायी जा रही है फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ है। जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा है उसे यह बात अजीब सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही नहीं करे, पर बात सही है। काव्यगुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। इसे अनुवाद ग्रन्थ तो कतई नहीं कहा जा सकता।

अगर सूरदास सागर को भाषा-भागवत कहते हैं तो मेरे विचार में इसमें कवि का एक विशेष भाव निहित है। प्राचीन कवियों के एक विशेष दृष्टिकोण के वशीभूत होकर ही सूर ऐसा कहते हैं। वह दृष्टिकोण है प्राचीन कवियों की आत्मश्लाघा की गोपनीयता की भावना। एक तो प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण में आत्मश्लाघा की भावना का सर्वथा अभाव रहा है। जीवन की छोटी-छोटी बातों को सँभाल कर रखने और उसे आत्मकथा का रूप देकर काल की गाँठ में उसे बाँधने की परम्परा हमारे यहाँ कभी नहीं रही। हमारा उद्देश्य सर्वथा महान रहा। इस लोक में भी हम उस लोक के लिए प्रयत्नशील रहे। हमारे प्राचीन पूर्वज उन बातों पर अधिक बल देते थे, जिनका सम्बन्ध मनश्चेतना या आत्मा से अधिक था। वे अत्यन्त नम्र थे, ऊँचे तत्वदर्शी थे जो अपने को महत्व देना जानते ही नहीं थे। वे जिन चरित्रों की गाथा गाते थे वे इतने ऊँचे थे कि उनके निर्माताओं को उनके सामने आत्मविज्ञप्ति की बात ही नहीं सूझी। यही कारण है कि हिन्दी में केशव के पहले किसी कवि ने अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। दूसरे सूर जिस भाव-भूमि पर अपने आराध्य को उतारने जा रहे थे—जिस तत्व की बातें सरस शृङ्गार के माध्यम से प्रकटाने जा रहे थे—तथा निर्गुण के स्थान पर जिस सगुण की अवतारणा करने जा रहे थे, उन्हें डर था जनता उसे अन्यथा नहीं समझ ले। इसलिए उन्हें ऐसी उक्ति करनी पड़ी। मैं कोई नई बात नहीं कहने जा रहा —यह तो 'श्री मुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाय' विषय है। तुलसी ने भी 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' इसी अर्थ में कहा है। महाकवि सूर को जो डर था वही हुआ भी। सूर के बाद आने वाले साहित्यिक-काल रीतिकाल में 'राधा-कृष्ण' से तत्व की बातें तिरोहित हो गयीं और इसी भय की आड़ में एक से एक भद्दी तुकबन्दियाँ की गयीं।

तो सूरदास की मौलिकता के सर्वाङ्गीन विवेचन के लिए निम्न सन्दर्भों पर विचार अपेक्षनीय होगा—

(क) सूरसागर में सर्वथा मौलिक कथा-प्रसङ्गों की कल्पना, (ख) भागवत की कथाओं का रूप परिवर्तन, (ग) दर्शन के क्षेत्र में कवि की नयी दृष्टि, (घ) शैली का नया प्रयोग, (ङ) भाषा की मौलिकता।

सूरसागर के कथा का ढाँचा भागवत के समान है। कथा क्रम में कोई अन्तर नहीं है लेकिन बीच-बीच में कवि ने कुछ अपनी नयी लीलाओं को भी उसमें जोड़ दिया है। कथा के प्रारम्भ में सूर 'दाढ़ी' के रूप में उपस्थित होते हैं। बाद के सभी कवियों ने दाढ़ी का चित्रण किया है लेकिन वे सूर से नहीं मिलती। बरसाने और महराने के व्यक्तियों की कथा सूर की अपनी उपज है जो कृष्ण-काव्य को स्थानीय रङ्ग प्रदान करती हैं। बाल-लीला के प्रसङ्गों के सूत्र भागवत में मिलते हैं लेकिन इसी के आधार पर महाकवि ने एक विशाल महल तैयार किया है जिस पर बल्लभाचार्य के नवनीत प्रिय के दृष्टिकोण तथा शुद्धाद्वैत का स्पष्ट प्रभाव है। बल्लभ के प्रेमा-भक्ति का सूर ने सफल विकाउ दिखाया है जिसका प्रथम भाग यह बाललीला है जिसमें यशोदा-गोपियों का सुख, उत्कण्ठा, उल्लास, प्रिय-विषयक चिन्तन आदि वात्सल्य भक्ति के अङ्ग आ जाते हैं। इस भक्ति का दूसरा छोर कृष्ण कथा के उत्तरार्द्ध में मिलता है जब यशोदा गोपी को कृष्ण से वियुक्त चित्रित किया गया है। भागवत से विपरीत मनोविज्ञान का सहारा लेकर इन स्थलों पर सूर ने खण्ड-काव्य की सृष्टि कर डाली है। मानों इसी वियोग के पटतर के रूप में सूर ने प्रारम्भ के संयोग का चित्रण किया हो। साथ ही इन दोनों छोरों के बीच की सारी कथा (कुछ का उल्लेख मात्र भागवत में पाया जाता है)

सूर की अपनी उपज है। और इसमें कवि ने सर्वथा मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। विवेचन की सुविधा के लिए इसका यों विभाजन किया जा सकता है—(अ) राधा-कृष्ण के प्रेम स्फुरण और प्रेम-विकास की कथा, (ब) गोपियों का प्रेम, (स) लीलात्मक संयोग चित्रण।

भागवत में राधा का नाम तक नहीं आया है। सूर के पहले राधा-कृष्ण की प्रेम कथा ब्रह्मवैवर्त पुराण, जयदेव, गर्गसंहिता, चण्डीदास और विद्यापति में आया था, लेकिन सूर ने जिस रूप में इसकी उद्भावना की है, वह सर्वथा मौलिक है। सूर ने राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन, साहचर्य-जन्य प्रेम एवं उसके विकास का बड़ा ही मनोहारी और स्वाभाविक वर्णन किया है। पण्डित और डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है—"सूरदास ने राधिका के जिस रूप का चित्रण किया है उसकी तुलना शायद ही किसी अन्य भक्त के चित्रण से की जा सके। चिर-साहचर्य और बाल्य-सख्य की भूमिका के ऊपर प्रतिष्ठित यह राधिका अथवा उपमान स्वयं ही हो। इस प्रेम का कोई पटतर नहीं। बाललीला के समय ही एक दिन—

खेलन ही निकसे ब्रजखोरी।
कटि कछुनी पीताम्बर ओढ़े
हाथ लिए भौंरा चकडोरी।
× × ×
गये श्याम रबि तनया के तट
अंग लसत- चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा
नयन विशाल भाल दिये रोरी।
× × ×
सूर श्याम देखत ही रीझे
नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

संस्कृत के कवियों ने भी एक प्रकार की ठगोरी का वर्णन किया है। यह ठगोरी और ही प्रकार की है। इसमें कहीं झिझक नहीं, सङ्कोच का लेश भी नहीं था। सो श्याम ने देखा और परिचय पूछा—

"बूझत श्याम कौन तू गोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि
बातनि भुलइ राधिका भोरी"।

प्रथम दर्शन में ही प्रेम की उलझन प्रारम्भ हो गयी। 'नाम कहा है तेरो री' राधिका का परिचय एक दिन यशोदा ने पूछा और परिचय पाकर उन्होंने राधा को अच्छी तरह 'संवार दिया' और कृष्ण के साथ खेलने की अनुमति दे दी। इस प्रकार बाल-काल से ही राधा-कृष्ण का प्रेम सहज स्वाभाविक रूप में विकसित होता है तथापि दोनों के मन में एक दूसरे के लिए उत्सुकता बनी रहती है—

'राधा विनय करत मन ही मन
सुनहुँ श्याम अन्तर के यामी।
मातु पिता कुल कानहि मानत
तुम्हें न जानत हैं जग स्वामी'।

यह कामना किसी विलासवती की नहीं है, यह ... की कामना है, यह एकान्त प्रेम है, आकस्मिक नहीं और यह दीर्घकाल के साहचर्य से उत्पन्न हो पाया है। भवभूति ने राम और सीता के प्रेम में दीर्घ साहचर्य जनित ... गाढ़ता का दर्शन पाया था—

"किमपिकिमपि मंदमंदमासतियोगात
विरलित कपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलं परिरंभ व्याप्तैकैक दोष्णों
रविदितगत श्यामा रात्रिरैवं व्यरैसीतां॥

बहुत खींचतान की जाय तो इस 'नवल प्रेम' की उत्पत्ति में जयदेव के गीतगोविन्द के मंगलाचरण की छाया दीखेगी जो स्वयं ब्रह्मवैवर्त की कथा का नया परिचय है। लेकिन सूर ने जहाँ राधाकृष्ण को तरुण चित्रित कर ... को स्वाभाविक बना दिया है, वहीं राधा को लौकिक ... तल पर चित्रित किया है, अवतारी के रूप में नहीं। ... कृष्ण के प्रेम विकास, मान, मानमोचन की कथा में ... दास ने जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा—ये प्रसङ्ग वहाँ ... लेकिन इन्होंने उसकी स्वतन्त्र उद्भावना की है। ... राधा को लेकर कई मौलिक उद्भावनाएँ की हैं।

भागवत में हैं, न अन्य पूर्ववर्ती कवियों में। इनमें प्रमुख है रास के अवसर पर राधा-कृष्ण के विवाह की कल्पना। अन्य जगह राधा को परकीया के रूप में चित्रित किया है। सूर ने इसे स्वकीया बनाकर राधा को पूर्णतया गीति-काव्यात्मक पात्र बना दिया है। वह न केवल स्वकीया हैं वरन् उनका प्रेम चिर-साहचर्य जन्य एवं उत्कण्ठा हीन भी है। अन्य भक्त कवियों की भाँति सूर ने राधाकृष्ण को एकाएक नहीं मिला दिया। इसलिए सूरसागर में विद्यापति और चण्डीदास की भाँति पूर्व राग की व्याकुल वेदना नहीं मिलेगी। परन्तु इसमें एक वेदना है जो सूर की सर्वथा अपनी चीज है। राधा-कृष्ण साथ खेलते हैं, फिर भी दोनों पूर्वराग की एक विचित्र वेदना का अनुभव करते हैं। शास्त्रीय विवेचन में इस वेदना को क्या कहा जाय, किसी अलङ्कारिक ने नहीं बताया। ऐसी ही उद्भावना को शुक्लजी कवि की 'पहुँच' कहते हैं। प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-व्यथा की जो अनुभूति होती है उसे प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं। प्रेम का उत्कर्ष ही इसका कारण है—

'राधेहु मिलेहु प्रतीति न आवति' और

'यद्यपि राधिका हरिसँग,

'हृदय व्याकुल धीर नाहीं वदन कमल विलास'

राधा का चित्रण कवि ने कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में किया है। यही कारण है कि जब कभी युगल-मूर्ति का मिलन होता है—सारी वनस्थली चकित होकर निर्निमेष भाव से शोभा के इस अपार समुद्र को देखा करती है और इस मिलन संगीत को गाते सूर जैसे रुकना ही नहीं जानते।

सूरसागर की गोपियाँ सूर की अपनी उपज है। भागवत में गोपियों को कृष्ण से सम्बन्धित करने वाले दो प्रसङ्ग हैं—चीर-हरण और रास। सूर ने इसका भी हृदय-हारी वर्णन किया है। इन्होंने रास के अन्त में गोपियों की उत्पत्ति का उल्लेख करके तथा वामन पुराण को साक्षी देकर भागवत से अपनी स्वतन्त्रता का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। सूर की गोपियाँ वल्लभ की गोपियों से भी भिन्न सामान्य जीव हैं, श्रुतिं नहीं। गोपियों के रूपकों में सूर ने वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्त को भी बढ़ाया है। रास में सूर की एक बड़ी विशेषता प्रकृति को मानव क्रिया कलाप की पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करने में है! देखिये सूर की अन्धी आँखों ने रास लीला का स्टेज तैयार करते हुए प्रकृति का कैसा आह्लादकारी दृश्य देखा था—

'आज निशि शोभत सरद सुहाई।

शीतल मन्द पवन वहै रोम रोम सुखदायी।

यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रुचि मंडली बनायीं।''

यहाँ प्रकृति न सिर्फ पृष्ठभूमि में है वरन् वह मानव मानव क्रिया-कलाप में भाग भी लेती है—

'अदभुत कौतुक देखि सखी री,

श्री बृन्दावन में होड़ परी री।'

भागवत के रास और चीर-हरण के सदृश सूर ने कुछ और रूपकों की कल्पना की है जैसे दानलीला, पन-घट लीला, बहुनायक कथा। यह तो रही दो छोरों के बीच की बात। अन्तिम छोर भ्रमरगीत का मूल विषय भागवत पर ही आधारित है लेकिन उसमें काव्य का पुट, नये प्रसङ्गों की उद्भावना आदि सूर की अपनी है। भागवत में निर्गुण और योग को अधिक महत्व दिया गया है। लेकिन इसमें सूर का उद्देश्य हृदय की रागात्मक वृत्ति पर आश्रित भक्ति को मस्तिष्क-जन्य ज्ञान और निवृत्ति-जन्य योग से श्रेष्ठ और श्रेयस्कर बताना है। वस्तुतः भ्रमरगीत एक ऐसी रचना है जिस पर किसी भी कवि को गर्व हो सकता है। श्री नवलकिशोर गौड़ के शब्दों में "भ्रमरगीत अक्षरों में बँधी हुई जीवन की चिरन्तन वेदना की एक करुण प्रतिमा है।"

मौलिक उद्भावनाओं को छोड़कर जो सामग्री सूर ने भागवत आदि से ली है उसका भी रूप-परिवर्तन कर दिया है। ऐसी सामग्री का व्यवहार दो रूपों में पाया जाता है। जहाँ सूर की वृत्ति रमी है वहाँ उनकी भावना गेय पदों में फूट पड़ी है। और अन्य स्थलों पर कवि ने वर्णनात्मक छन्दों में विषय को चलता कर दिया है। ये वर्णनात्मक अंश कई रूपों में पाये जाते हैं। कुछ का विषय तो वही है जो गेय पदों का और दोनों समानान्तर चलते हैं। कुछ वर्णनात्मक छन्द संयोजक कड़ी के रूप में मिलते

हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि सूरसागर का वर्णनात्मक अंश स्वतन्त्र रूप से भागवत की कथा की रूपरेखा उपस्थित करता है—मिथ्या है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने दो अनुमान किये हैं। (१) भागवत कथा को सुनकर कवि ने दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धों पर अपने मन के अनुकूल कभी प्रबन्धात्मक, कभी स्फुट रीति से पद-रचना की। इस पद रचना को स्कन्धों के कथा-क्रम की दृष्टि से जहाँ कथा क्रम छूटे पाये गये वहाँ पूर्ति के लिए रख दिए गये। (२) दूसरे ये वर्णनात्मक अंश स्वयं सूर का नहीं होकर दूसरे का भी हो सकता है, जिसने सूरसागर को भागवत का वाह्य रूप दिया। क्योंकि इन्हीं वर्णनात्मक अंशों में बार-बार दुहराया गया है कि सूरदास भागवत के अनुसार कह रहे हैं।

साहित्य-सन्देश में प्रकाशित अपने एक निबन्ध—"क्या महाकवि सूर साम्प्रदायिक कवि थे?" में दर्शन के क्षेत्र में सूर की मौलिकता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उन्हीं बातों की आवृत्ति यहाँ अपेक्षनीय नहीं। सूर की मौलिकता के विषय में दर्शन के क्षेत्र की सूर की नयी उद्भावना पर स्नेही पाठक उस निबन्ध को पढ़ लें।

महाकवि ने अपनी प्रतिभा से सूरसागर में एक विशिष्ट शैली को अपनाया है। यह शैली गीति काव्य की है। गीति काव्य की शैली सूर से पहले जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि कवियों ने अपनायी थी अवश्य लेकिन ब्रजभाषा की कविता इससे किन अर्थों में प्रवाहित हुई यह विवादास्पद है; हजारीप्रसादजी के शब्दों में 'शायद बहुत कम'। सूर के गेय पदों की सबसे पहली विशेषता है संगीत। सूर संगीत के बड़े भारी पण्डित थे। सूरसागर में कितनी ऐसी राग-रागनियाँ व्यवहृत हुई हैं जिसका आज के आचार्य नामकरण तक नहीं कर सके। शिखरचन्द्र जैन के अनुसार—"संगीत विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं तो बहुत ऊपर उठ जाते हैं।" सूर के इसी संगीत ने ब्रजभूमि को वन्दनीय एवं ब्रज भाषा को वरेण्य बनाया। दुख का विषय है कि संगीत की कसौटी पर सूर पर कोई खोज अभी तक नहीं हो सकी है। पदों की दूसरी विशेषता उद्भावना शक्ति का चमत्कार है। सूर जो कुछ कहना चाहते हैं वह एक ही पद में कहे [illegible] हैं तथा पद के सम्पूर्ण भाव टेक की एक ही पंक्ति में गुम्फित कर देते हैं। सूर की उद्भावना शक्ति का चमत्कार वहाँ देखने को मिलता है जहाँ कवि एक ही विषय को लेकर भिन्न भिन्न प्रकारों से उसे प्रकटाते हैं। पदों की तीसरी विशेषता उसमें कल्पना के चमत्कार की है। इनकी कल्पना शक्ति बड़ी ही तीव्र थी। इसी उर्वर कल्पना के बल पर वे 'बन्द-आँखों से' ही विषय का कोना कोना [illegible] आते थे।' सूर की इसी उद्भावना शक्ति को देखकर आलोचकों ने उनके जन्मान्ध होने पर शङ्का की। इन्हीं विशेषताओं के कारण सूरसागर काव्य गुणों की एक विशाल बनस्थली बन सका है। इस बनस्थली के सहज सौन्दर्य पर द्विवेदीजी ने लिखा है—"सूरसागर उस रमणीय उद्यान के समान नहीं है जिसका सौंदर्य पद पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाता है बल्कि उस अकृत्रिम बन-भूमि के समान है जिसका रचयिता रचना में ही घुलमिल गया है।"

समग्र सूरसागर गेय पदों में वर्णित होने पर भी उनकी भावनाओं का एक प्रवाह है जिसने अन्त में कथा का रूप धारण कर लिया है अतः सूरसागर प्रबन्ध का भी स्पर्श करता है। मुन्शीराम शर्मा 'सोम' के शब्दों में "सूरसागर प्रबन्ध काव्य का स्पर्श करता हुआ, मुक्तक के अन्तर्गत भाव-भरित-गीति-काव्य का श्रेष्ठतम निदर्शन है"। [illegible] ने इसमें जिस शैली को अपनाया है उसे हम कथात्मक गीतिकाव्य या गीतात्मक कथा काव्य दोनों कह सकते हैं। इस विषय पर हजारीप्रसादजी ने सूर-साहित्य में विस्तार से विवेचन किया है। सूर को गेय पदों को प्रबन्ध के रूप में सजाने की प्रेरणा शायद जयदेव के गीत-गोविन्द से मिली। गीत गोविन्द में थोड़े से गान हैं जिसे कवि ने प्रबन्ध काव्य के रूप में सजाया है लेकिन इसका विषय गीति काव्यात्मक या लिरिकल अधिक है—यह प्रबन्ध नहीं हो सका है। सूर ने इसी पद्धति को अपनाया है। सूरसागर के शिल्प के विषय में द्विवेदीजी के विचार द्रष्टव्य हैं—"शिल्प [illegible] गीति-काव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही मह[illegible]

(शेष पृष्ठ २२५ पर देखिए)

सेनापति की परम्परा रीति-कालीन या भक्ति-कालीन

श्री जगदीशनारायण त्रिपाठी एम० ए०

आचार्य शुक्लजी के शब्दों में सेनापति वास्तव में व्रजभाषा कवियों की सेना में सेनापति के ही समान है। इनकी ऋतु-वर्णन की विशिष्ट प्रणाली और व्रजभाषा पर इनका अधिकार ये ही दो ऐसे गुण हैं जिन्होंने इनके लिए यह स्थान निर्धारित किया है। इनकी रचनाओं का केवल एक ही संग्रह 'कवित्त रत्नाकर' उपलब्ध होता है। दूसरे 'काव्य-कल्पद्रुम' का अभी तक पता नहीं चला है। रीतिकाल की अलङ्कारिक प्रवृत्तियाँ इनके काव्य में आदि से अन्त तक अपने प्रौढ़ रूप में पाई जाती हैं। सेनापति अपने जीवन में राम-भक्ति के रस में निमग्न रहे। इनके एतद्विषयक उद्गार काव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों से इनकी रचना आद्यन्त भरी पड़ी है।

इन दोनों प्रवृत्तियों की प्रचुरता के कारण यह निर्णय करना कठिन है कि ये रीति कवि हैं या भक्त कवि। ध्यानपूर्वक 'कवित्त-रत्नाकर' का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें रीतिकालीन अलङ्कारिक प्रवृत्ति की अपेक्षा भक्ति-भावना का ही आधिक्य है। श्रमसाध्य श्लेषादि अलङ्कारों से ओतप्रोत वर्णन-प्रवाह में भी कहीं-कहीं हृदय का भक्ति सम्बन्धी भाव स्वतः फूट पड़ता है, रोके नहीं रुकता। 'कवित्त-रत्नाकर' की पाँच तरङ्गों में से पूरी दो तरङ्गों को अपने भक्ति उद्गारों का माध्यम बना कर कवि ने निस्सन्देह, अपनी भक्ति-पिपासा को शान्त किया है। भक्ति की इस प्रधान अभिव्यक्ति को देख कर ही आचार्य प्रवर शुक्लजी ने अपने इतिहास में सेनापति को भक्तिकाल के कवियों की कोटि में ही परिगणित किया है।

ग्रन्थारम्भ में कवि परम्परा-प्राप्त गणेशादि मांगलिक देवताओं की बन्दना को छोड़ कर अपने परम उपास्य देव राम की ही बन्दना करता है। कवि का उपास्य अखिल सृष्टि में व्यापक परब्रह्म की ही मूर्ति है—

"परम जोति जाकी अनन्त, रमि रही निरन्तर।
आदि, मध्य अरु अन्त, गगन, दस दिसि बहिरन्तर॥
गुन पुरान इतिहास, वेद बन्दीजन गावत।
धरत ध्यान अनवरत, पार ब्रह्मादि न पावत॥
सेनापति आनन्द-घन, रिद्धि सिद्धि-मङ्गल-करन।
नाइक अनेक ब्रह्माण्ड कौ, एक राम सन्तत सरन॥"

भक्ति का अकाट्य प्रमाण तो उन प्रसिद्ध पंक्तियों में मिलता है जिनमें कवि यवनोपासना के कारण अपनी स्वयं विगर्हणा करता है—

"चारि बरदान तजि पाइ कमलेच्छन के,
पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइयै॥"

सेनापति की भक्ति भी अच्छी उच्चकोटि की थी जिसके, भक्ति की दीनता रूपी, अवयव का इस पंक्ति में सुन्दर उदाहरण मिलता है—

"अन्दौं अघ-खण्डन खराऊँ रघुराई की।"

अटल विश्वास के कारण सेनापति को सर्वदा प्रभु के चरणों का ही भरोसा रहता है—

"और न भरोसो, जिय परत खरौ सो ताही,
राम-पद पङ्कज को पूरन भरोसो है॥"

सेनापति के काव्य में रीतिकालीन गुण भी अपने परम उत्कृष्ट रूप में विद्यमान हैं। रीति-वर्णन की दृष्टि से भी सेनापति का काव्य किसी रीतिकालीन कवि की रचनाओं से कम नहीं है। रीतिकालीन विभिन्न प्रवृत्तियों को सेनापति ने बड़ी ही प्रतिष्ठा से काव्य में गुम्फन किया है। शृङ्गारिकता, श्लेषादि अलङ्कार प्रियता, नायिका भेद आदि रीतिकाल की प्रधान प्रेरक शक्तियाँ रही हैं। प्रथम तरङ्ग में श्लेष गर्भित पदों का ही संग्रह है। श्लेष के ऐसे साफ उदाहरण, जिनमें भाषा की पूर्ण कसावट हो, कहीं शिथिलता न हो, इतनी अधिक मात्रा में कम देखने में आते हैं। "नाहीं नाहीं करैं थोरी माँगि सब दैन कहैं" वाला कवित्त श्लेष का सुन्दर उदाहरण है। अन्य प

भी इसी कोटि के हैं। श्लेष के अतिरिक्त शृङ्गार के उदात्त रीतिकालीन चित्रों से, बीच-बीच में जिसमें शृङ्गारिक रूप व्यापारों के अतिरिक्त नायिका भेद को भी पर्याप्त स्थान मिल जाता है, द्वितीय-तरङ्ग भरी पड़ी है। रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति सेनापति ने भी 'परकीया' का ही विशेष चित्रण किया है, किन्तु वह स्वकीया को महत्ता को भी स्वीकार करते हैं। 'रामायण-वर्णन' में उन्होंने राम के एक नारी-व्रत पर बहुत जोर दिया है और बड़े उत्साह से 'दाम्पत्य-रति' का चित्रण किया है। ऋतु-वर्णन तो शृङ्गार-क्षेत्र में एक अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ऋतु-वर्णन में सेनापति ने जो नवीन दृष्टिकोण रक्खा है वह निश्चय ही सराहनीय है। सारी रचना में कवि का अलङ्कार प्रेम सर्वत्र स्फुट है। पाँचवीं तरङ्ग में राम भक्ति सम्बन्धी उद्‌गार प्रकट करते समय कवि को अलङ्कारों की सनक सवार हो जाती है और शब्दों के साथ वहाँ फिर खिलवाड़ शुरू हो जाती है। एकाक्षर, द्वयाक्षर तथा अनेक शब्द चित्र वाले पदों का निर्माण होने लग जाता है।

रीतियों का ऐसा उच्च विधान संस्कृत के भारवि और माघ के बाद सेनापति में ही मिलता है। भाषा पर अधिकार और साहित्य-शास्त्र का पूर्ण पाण्डित्य ऐसे स्थलों से प्रकट है। स्वयं उन्होंने अपने काव्य की प्रशंसा में कहा है—"सरस अनूप रूप रस यामैं ध्वनि है।" तथा इन्हीं रीतिकालीन परिपक्व गुणों की प्रशंसा में वे स्थान-स्थान पर गर्वोक्तियाँ भी करते आये हैं—"देखौ चतुराई सैनापति कविताई की।"

उपर्युक्त विवेचन से सेनापति में रीति और भक्ति के दोनों ही प्रभाव तुल्य बल से स्पष्ट है। अवश्य ही उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना तत्कालीन प्रवृत्तियों की धारा में योगदान के लिए ही रची थी। किन्तु ऐसी रचना में भी वे भक्ति से सर्वथा निर्लिप्त नहीं रह सके; और है भी हार्दिक भाव का परित्याग कठिन ऋतु-वर्णन में भी जहाँ कि भक्ति-भावना का कुछ भी अवकाश नहीं, वह प्रकट ही हो जाती है। शरच्चन्द्रिका धवलित जगत में कवि को राम का यश दिखाई देता है—

"उदित विमल चन्द्र चाँदनी छिटक रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है॥"

भक्ति-वर्णन के स्थलों में जो अलङ्कारिता आ घुसी है वह काल की प्रवृत्ति और काव्य की अपरिहार्य आवश्यकता पूर्ति के लिए ही आई है। कवि का आविर्भाव रीतिकाल के आरम्भ (सं० १७०६) में हुआ जब कि भक्तिकालीन प्रभाव पूर्णरूपेण व्याप्त था। उसी वातावरण से सेनापति भी प्रभावित है। कवि का हृदय सर्वथा भक्ति की ही तरङ्ग से आकुल है। ग्रन्थारम्भ के समान ही ग्रंथ की समाप्ति भी कवि की भक्ति भावना का प्रमाण देती है—"सेइ सियापति पाय-सेनापति कविता सजी।" सूर और तुलसी की भाँति सेनापति की भक्ति चाहे उतनी उच्चकोटि की न हो कि उसमें दूसरे विषयों पर ध्यान न जाय, फिर सेनापति को अन्य विषयों के सम्मुख भक्ति का ध्यान भी बना रहता है और समय-समय पर प्रस्फुटित होता रहता है। अतः इनको भक्त कवियों की ही परम्परा में रखना अधिक समीचीन है।

(पृष्ठ २१५ का शेषांश)

कवि और उसके पाठक-श्रोता में अन्तर हो जाता है। यद्यपि दोनों एक ही कार्य करते हैं, दोनों ही विशेष शब्दों में अपने भावों को ही प्रकाशित करते हैं, कवि के भाव प्रकाशन की समस्या स्वयं सुलझती जाती है किन्तु पाठक-श्रोता अपने भावों को तभी स्पष्ट कर सकता है जब कवि उसका भाव बता देता है। और तब वह पाठक अनुभव करने लगता है कि कितनी सरलता से वह अपने भावों को प्रकट कर सकता है, और यदि वह चाहता तो कवि से पूर्व ही उस भाव को व्यक्त कर देता। किन्तु वास्तव में वह ऐसा करने में समर्थ नहीं होता।

अतः कवि की श्रेष्ठता न तो उसके भावों में है न भावाभिव्यञ्जन की शक्ति में वरन् उसकी श्रेष्ठता इस बात में है कि जो सब लोग अनुभव कर सकते हैं और जो सभी व्यक्ति भी कर सकते हैं, उसे जन्म के पूर्व ही व्यक्त करने की क्षमता वह रखता है।

शुक्लजी के साधन और साध्य का सामाजिक विश्लेषण

श्री सतीश मिश्र एम० ए०

हिन्दी-साहित्य के जिस विकास-क्रम पर आचार्य शुक्ल का उदय हुआ, वह हमारे सामाजिक शैथिल्य और निरुत्साह का युग था, परिपाटी विहित रसज्ञता और रूढ़ि-समर्थित काव्य-कला के प्रति विद्रोह के साथ साहित्य के नये रूप और वस्तु-तत्वों की उद्भावना में तत्कालीन सामाजिक गतिरोध और राष्ट्रीय संघर्ष के अनेक चित्र उभर कर आये, ये चित्र अपनी विविधता में जितने यथार्थ और स्पष्ट थे उतने ही नैराश्यपूर्ण और पलायन् बोधक। जीवन के प्रति आस्था और आशामय विश्वास की शक्तियाँ नष्ट हो रही थीं, उनके उद्धार की आवश्यकता थी और जन-कल्याण के उदात्त आदर्शों के पुनरुत्थान के द्वारा प्राचीन तथा नवीन के बीच स्वस्थ सामञ्जस्य की स्थापना साहित्य मनीषियों की चिन्ता का विषय बना था।

उपरोक्त परिपार्श्व में शुक्लजी ने अपने दायित्वों को पहचाना, परिणामतः समस्त शुक्ल साहित्य में गुण-दोष कथन से आगे बढ़ कर कवि की 'अन्तः प्रकृति की छान-बीन' और 'विशेषताओं के अन्वेषण' के जो विधायक प्रयत्न हुए, उनमें जीवन संघर्ष की कठोर विषमताओं में उलझे सन्तप्त जन-समुदाय के आशा और शक्ति के मूर्त रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा सर्वत्र परिलक्षित होती है।

निश्चित रूपरेखा—शुक्लजी की समालोचनायें एक निश्चित रूपरेखा के आधार पर स्थित हैं। सर्वप्रथम वह ऐतिहासिक समीक्षा के द्वारा आलोच्य वस्तु का परम्परागत आधार निर्दशित करते हैं। फिर कवि के जीवन-वृत्त और उसके सामाजिक सम्बन्धों की विशद विवेचना के द्वारा उसकी 'विशेषताओं के अन्वेषण' और 'अन्तः प्रकृति की छानबीन' में प्रवृत्त होते हैं। तत्पश्चात् सम्पूर्ण काव्य-वस्तु के भावग्रह, तात्विक तथा दार्शनिक समीक्षा द्वारा अभिव्यक्त मतों, सिद्धान्तों और आदर्श भावनाओं की व्याख्या करते हैं। साथ ही सैद्धान्तिक आधार पर काव्य के भाव और विभाग पक्ष का उद्घाटन, कलापक्ष की विवेचना और काव्य-तत्वों का निरूपण भी होता है, अन्त में गुण-दोष कथन और विशेषताओं के प्रकाशन के पश्चात् कवि और उसके काव्य का साहित्यगत महत्व और स्थान निश्चित् करने की चेष्टा होती है।

इसके अतिरिक्त स्वयं शुक्लजी की आत्माभिव्यक्ति भी हुई है। इन आत्माभिःयञ्जनों में प्रायः निम्नलिखित तत्व मिलते हैं—

१—प्रकृति प्रेम

२—शक्ति, शील, सौन्दर्य के समन्वय की आदर्शप्रियता

३—सगुणोपासना में श्रद्धा।

४—लोक संग्रही वृत्ति और मर्यादा प्रियता।

५—सहृदयता और भावुकता।

६—प्रत्यक्षवादिता।

७—यथार्थवादिता।

८—शिष्टवादिता।

९—प्रबन्ध-प्रियता।

१०—भारतीयता।

समाजगत-आधार—उपरोक्त रूपरेखा से स्प[illegible] कि शुक्लजी ने न तो साहित्य के समाजगत आधार [illegible] उपेक्षा ही की और न साहित्यकार को कभी इसके सा[illegible] से अलग करके ही देखा, अपितु अपने कतिपय पूर्वा[illegible] और मान्यताओं की स्वनिर्मित पृष्ठभूमि पर जिनका आ[illegible] तत्कालीन सामाजिक स्थिति और समाजगत घात प्रति[illegible] द्वारा निर्मित हुआ था साहित्य-समालोचना के नये [illegible] और आदर्श खड़े किये।

समालोचना साहित्य की चेतना है, और सा[illegible] जीवन की चेतना, जीवन का केन्द्र समाज है। [illegible] जीवन की अनेक क्रियायें समाज के अन्तर्गत होती [illegible] साहित्य में मानव की सामाजिक क्रियाओं के [illegible] प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः श्रेष्ठ साहित्य-सृजन [illegible] श्रेष्ठ समाज अपेक्षित है। कवि और आलोचक [illegible]

में परस्पर सहयोग करते हैं। आलोचक उत्तम समालोचना लिखने के लिए उत्तम साहित्य की रचना में योग देता है, और कवि अथवा कथाकार उत्तम साहित्य सृष्टि के लिए श्रेष्ठ समाज के निर्माण में सहायता करता है। अतः साहित्यकार एक क्रियाशील और सामाजिक संघर्ष-रत प्राणी है।

साहित्यकार समाज से ही लेता है और समाज को ही देता है। समाजव्यवस्था ही साहित्य का वस्तुतत्व है, और साहित्य अनेक रूपतत्वों में से एक रूपतत्व है। वस्तु के अभाव में रूप की कल्पना असम्भव है, अतः शब्द और अर्थ के माध्यम से समाज-निर्माण के प्रयास करना ही साहित्य-रचना है। इस प्रकार साहित्यकार का समाज-निर्माण का संघर्ष उसकी वैयक्तिक समस्या भी है, क्योंकि समाज की एक इकाई होने के कारण उसे अपने जीवन सुख और सौन्दर्य के लिए भी तो संघर्ष करना पड़ता। लेकिन प्रयत्नों की सफलता के लिए आवश्यक होता कि वह संघर्षशील प्रगत्योन्मुख सामाजिक तत्वों का साथ दे। इस सङ्घर्ष के बीच साहित्यकार की रचनात्मक प्रतिभा स्वयं शक्ति अर्जित करने और अपने साथियों को अनुप्राणित करने के लिए स्फुलिङ्ग की भाँति प्रज्वलित हो उठती है और इसी शक्तिमती चेतना का पूर्ण स्फुटन ही साहित्य का रूप प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार साहित्य-रचना और समाज निर्माण के कार्य साथ साथ होते हैं, और दोनों कार्य-कारण सम्बन्ध शृङ्खला में आबद्ध हैं। साहित्यकार प्रस्तुत समाज-व्यवस्था के जीवंत सत्यों और संघर्ष के ऐतिहासिक मोड़ों को आत्मसात करके साहित्यिक-कृति प्रस्तुत करता है। नई भावनायें, नये आदर्श और नये जीवन-दर्शन समाज के सम्मुख आते हैं, और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया सक्रिय-रूप में आन्दोलित हो जाती है। रूपान्तर और परिवर्तन इस क्रम में साहित्य, साहित्यकार और समाज तीनों चलते चलते हैं। इस विकास-परम्परा में तीनों का स्वरूप निरन्तर द्वन्द्वात्मक और गतिमान होता है। किन्तु इस परिवर्तनशीलता के बावजूद भी साहित्यकार प्रत्यक्ष परिवर्तन-का आवेशवान नहीं होता, वह अपने साहित्य को अधिकतम क्रान्तिकारी शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए उसे कोरा प्रचार मात्र नहीं बनने देता।

समीक्षक का दृष्टिकोण अपने युग और समाज के घात-प्रतिघातों की भूमि पर ही निर्मित होता है। इस दृष्टिकोण को शक्ति और मूर्तात्मकता देने के लिए वह अपने समसामयिक साहित्य की समीक्षा करता है और साथ ही अपनी साहित्य परम्परा का ऐतिहासिक विवेचन और साहित्यिक विरासत की व्याख्या भी करता है। सामाजिक निर्माणमूलक साहित्य-रचना को अपेक्षित भूमि प्रस्तुत करने के लिए दोनों कार्य समान रूप में महत्वपूर्ण हैं।

शुक्लजी के युग का आलोच्य-साहित्य प्रधानतः छायावादी था, जिसकी उन्होंने अपनी कसौटी पर अच्छी परीक्षा की और कतिपय विद्वानों के मतानुसार उसकी सामाजिक अनुपयोगिता के अतिव्याप्त उद्घाटन के कारण वह छायावादी कवियों के साथ न्याय नहीं कर सके। किन्तु परम्परागत साहित्यिक विरासत के जिस अङ्ग की विस्तृत विवेचना में वह प्रवृत्त हुए उसकी मौलिक और उदात्त उद्भावना ने उन्हें महानता के शिखर पर पहुँचा दिया।

तत्कालीन सामाजिक परिपार्श्व—प्रथम महायुद्ध के समय और उसके उपरान्त के भारतवर्ष की आर्थिक व्यवस्था औपनिवेशिक तथा अर्ध सामन्ती थी, समाज-सङ्घर्ष का रूप था—साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद विरोधी, एक ओर तो साम्राज्यवाद और अवशिष्ट सामन्तवाद की उन्मत्त शक्तियाँ थीं, और दूसरी ओर थे पूँजीवादी जनतन्त्र के उदात्त आदर्श, पूँजीवादी जनतान्त्रिक शक्तियाँ पूरी शक्ति के साथ साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के संयुक्त मोर्चे पर चोट कर रही थीं। उनकी हिरावल थी राष्ट्रीय नारों से गुमराह और उत्तेजित किसान-मजदूर जनता, अग्रगति में गिरीं। मेहनतकश लोगों की लाशों के सहारे राष्ट्रीय पूँजीवाद का विजय-रथ प्रगति कर रहा था, सर्वहारा के रक्त और हड्डियों के हथियारों से ही अभिजातीय जनवाद की लड़ाई लड़ी जा रही थी, लेकिन अक्तूबर १९१७ की रूसी क्रान्ति के बाद विश्व के सर्वहारा वर्ग ने क्रान्ति की अग्रगति में अपनी अपूर्व शक्ति सम्पन्न भूमिका को पहचाना, अपने रक्त के मूल्य और महत्व के प्रति

चेतना ग्रहण की, और विश्व के समस्त पूँजीवादी जनतान्त्रिक मोर्चों में एक गहरी दरार पड़ गई। पूँजीवादी लोकतन्त्रीय आन्दोलन कुण्ठित हो गये, और उनकी शिथिलता सार्वजनिक नैराश्य और पलायन की जननी बनी।

तत्कालीन साहित्य में यह असंगति पूरी तरह उभर कर आई। सङ्घर्षशील शक्तियों का यह अन्तर्विरोध वास्तविकता से पलायन की प्रवृत्ति, स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह और निष्क्रिय, निष्प्रभ वैयक्तिक स्वच्छन्दतावाद का आधार बना; जिनमें साम्राज्यवाद से लोहा लेने की शक्ति न थी, वे कुछ तो स्वनिर्मित भावना-जगत में (छायावादी साहित्य) रुमानी उड़ानें भरने लगे, और कुछ ने विगत वैभव के गानों (प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक आदि) में अपना मुँह छिपाया। दूसरी ओर आनन्दवाद के आध्यात्म (कामायनी) में जन-कल्याण ढूँढ़ा गया और सम्पूर्ण अव्यवस्था का दोष विज्ञान और भौतिकता के सिर मढ़ देने की चेष्टा की गई। सामाजिक दुरावस्था का कारण जड़ मशीन नहीं, चेतन मनुष्य ही है, जो उसका स्वार्थपूर्ण प्रयोग करता है। इस परिपार्श्व में युग की समस्याओं को केवल प्रेमचन्द ने अपने 'गोदान' में समझा।

शुक्लजी ने इस निराश और पलायन मुखी वातावरण को नष्ट करके जीवन के प्रति आस्था और आशामय दृष्टिकोण स्थापित करने के लिए लोक मङ्गल का नारा लगाया और महाकवि तुलसी के आप्त आदर्शों के पुनः प्रकाशन के द्वारा जन-कल्याण के मार्ग प्रदर्शित किये। लोक-मङ्गल के दो पक्ष होते हैं :—

१—साधनावस्था अथवा प्रयत्न पक्ष,

२—सिद्धावस्था अथवा उपभोग पक्ष।

शुक्लजी ने केवल साधनावस्था पर ही बल दिया। इस प्रकार उनकी दृष्टि में जीवन के प्रति आशामय दृष्टिकोण ही पर्याप्त नहीं, अपितु उसके लिए सक्रिय प्रयत्न और उत्साहमूलक सङ्घर्ष अपेक्षित है। उन्होंने व्यक्तिवादिता के विरुद्ध सामूहिकता और सामाजिकता को श्रेष्ठ स्थान दिया, कवियों को अन्तर्मुखी न हो कर जीवन और जगत की कठोर भूमि पर उतरने को ललकारा और स्थूल श्रृङ्गारिकता के स्थान पर जीवन की उत्साहपूर्ण, स्नेह सिंचित उदात्त भावभूमियाँ दिखलाईं, तथा जनजीवन के विभिन्न पक्षों के पूर्ण सहृदय एवं यथार्थ उद्घाटन के मार्ग प्रदर्शित और प्रशस्त किये।

इस प्रकार शुक्लजी का साध्य निस्सन्देह सक्रिय और प्रगतिशील था, लेकिन साधनों की प्रवृत्ति सामन्ती पुनरुत्थानपरक होने के कारण वह युग को साहित्यिक समस्याओं का कोई ठीक निराकरण प्रस्तुत न कर सके। तुलसी और उनके काव्य को आदर्श मानकर उन्होंने विदेशी साम्राज्यवाद का विरोध किया, किन्तु भारतीय सामन्तवाद के लिए पूर्ण उदार और शक्ति-सम्पन्न स्वीकृति प्रदान की। उन्होंने समाज-परिवर्तन और सामाजिक प्रगति का पक्ष ले लिया, लेकिन सर्वहारा नीति के मार्ग से नहीं, बल्कि सामन्ती आदर्शों के सहारे। उनके विरोध में शक्ति थी, किन्तु समर्थन अशक्त और असङ्गत था। पर्यवेक्षण में दूरदर्शिता थी, किन्तु आदर्श स्थापन संकीर्ण ही रहा।

(पृष्ठ २२० का शेषांश)

काव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या 'लिरिकल' है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग 'लिरिकल' या गीति काव्यात्मक है............सूरदास ने राधिका और श्रीकृष्ण के प्रेम का एक ऐसा सम्पूर्ण चित्र खींचा है जो गीतिकाव्य के भीतर से महाकाव्य के रूप में प्रकट हुआ है।

दो शब्द सूर की भाषा पर न कहे जायं तो सूर की मौलिकता पर विवेचन खोटा ही रह जायगा। ब्रजभाषा को पूर्ण शक्ति के साथ सूर का साहित्य जगत में आविर्भाव हुआ था। सूर ब्रजभाषा के प्रथम एवं अन्तिम प्रौढ़ कवि थे। इनके पहले ब्रजभाषा का ऐसा प्रयोग किसी ने नहीं किया था। यही कारण है कि रामचन्द्र शुक्ल ऐसे आलोचक को सहसा विश्वास नहीं होता कि किसी भाषा की प्रथम कृति इतनी प्रौढ़ कैसे हो सकती है। अतः उनका निष्कर्ष है—'सूरसागर किसी आती हुई परम्परा का प्रतिफलन है; भले ही वह मौखिक रही हो'।

यशोधरा में विरह-वर्णन

श्री श्रीपति शर्मा एम० ए० (हिन्दी और अंग्रेजी), साहित्य-रत्न

व्रजभाषा के वाग्विलास और वैभव को छोड़ कर जिस प्रकार गुप्तजी ने सरल खड़ी बोली के शिशु को अपनाया, और उसको अपने मनोहर वाणी-वितान में पोषण करके अपनी अक्षय काव्य प्रतिभा द्वारा उसे परिपुष्ट और समृद्धि बनाया, उसी प्रकार युगों से उपेक्षित, करुणा और त्याग की प्रतिमूर्ति नारी-जीवन में उच्चतम आदर्शों को उपस्थित कर के अपनी कला की मौलिकता का स्पष्ट परिचय दिया है। यह कहना अनावश्यक न होगा कि कवि ने विश्व-वीणा से अपना स्वर विकृत न कर के युग-धर्म की रागिनी में अपना राग एक कर के युग धर्म के प्रति अपने न्याय का परिचय दिया है। आज का युग पीड़ितों और उपेक्षितों का युग है। नारी स्वतन्त्रता का युग है। अतः गुप्तजी ने अपने साहित्य में उर्मिला, यशोधरा और राधा के चरित्र द्वारा उपेक्षित नारी वर्ग के प्रति अपनी उदार सहानुभूति दिखाई है। यशोधरा के प्रथम पृष्ठ पर अङ्कित निम्नाङ्कित पंक्तियाँ :—

'अबला जीवन ! हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥'

युगों से उपेक्षित नारी जीवन की करुण गाथा स्पष्ट कर देती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पुरुष के त्याग को उन्होंने हीन माना है। 'साकेत' में भरत के त्याग तथा समस्त वसुधा की पीड़ित मानवता के लिए निर्वाण की खोज में जाने वाले गौतम के त्याग को उन्होंने उच्च स्थान दिया है। परन्तु इस त्याग चित्रण में उनकी कोई नवीनता नहीं है। इन महापुरुषों की गौरव-गाथा तो युगों से नाना पुराण, इतिहास और काव्य गाते-गाते अभी तक नहीं थके। पर 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' के अनुसार कवि वही है जो दूर की कौड़ी सामने लाये। अन्धकार के गर्त में पड़ी सदियों से पीड़ित नारी की करुण पुकार और कराह को उर्मिला और यशोधरा के चरित्रों में गुप्तजी ने स्पष्टतया उपस्थित कर दिया है। विचारपूर्वक देखा जाय तो यशोधरा 'साकेत' की उर्मिला से अधिक सहानुभूति का भाजन है। जहाँ लक्ष्मण उर्मिला को कुछ वर्षों ही के लिए छोड़ कर वन जाते हैं, वहाँ यशोधरा गौतम को आजीवन के लिए खो देती है और अब पाती है तो वीतराग सिद्धार्थ के रूप में।

जहाँ उर्मिला वन-प्रस्थान के समय लक्ष्मण के वियोग में अश्रु-धारा बहा कर हृदय की वेदना को कुछ कम कर सकती है, वहाँ पर यशोधरा को यह अवसर भी गौतम ने नहीं दिया।

'सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात॥'
'सखि वे मुझ से कह कर जाते
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते।

पति के चरणों में वह अपना सर्वस्व बलिदान कर के अपना पूर्ण आत्म-विश्वास प्रकट करती है, परन्तु इसके प्रत्युत्तर में नारी पति का विश्वास चाहती है, परन्तु गौतम अर्धरात्रि की नीरवता में यशोधरा को स्वप्नों की माया में लीन सोता छोड़ कर, उसे अपने पथ की बाधा समझ कर उसे छोड़ कर चल देते हैं, और उसके साथ विश्वासघात करते हैं। इससे बढ़ कर उपेक्षा उसकी और क्या हो सकती है। पुरुष युगों से नारी के प्रति यह उपेक्षा करता आया है। आदि कवि की इसी उपेक्षित भावना के विद्रोह में भवभूति को अपने उत्तर—रामचरित में माता जानकी के जीवन के करुण पृष्ठों को खोल कर करुण रस की अमरता सिद्ध करनी पड़ी। परिणामतया गौतम को इस अन्याय को गोरल गरल के घूँट की तरह पी जाती है

'जाँय सिद्धि पावें वे सुख से
दुःखी न हों इस जन के दुःख से
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से,
आज अधिक वे भाते—
सखि वे मुझ से कह कर जाते।'

विरह विदग्धा उपेक्षिता यशोधरा के अन्तरतम से कितनी शीतल निर्झरिणी का प्रवाह गुप्तजी ने किया है। अपनी मनोहर प्रतिभा द्वारा यशोधरा के विरह वर्णन में उर्मिला के विरह चित्रण से कला के दृष्टिकोण से कहीं अधिक मौलिकता का परिचय गुप्तजी ने दिया है। यशोधरा के चित्रण में गुप्तजी की विरह-भावना और भी तप कर शुद्ध और उदात्त हो गई है।

'साकेत' का नवम् सर्ग उर्मिला के आँसुओं से गीला है। कहीं-कहीं उर्मिला विक्षिप्त हो उठती है, उन्मादिनी हो कर पशु-पक्षियों के दुःख पर भी संवेदना प्रगट करती है। इस विरह की विक्षिप्त अवस्था के अव्यवस्थित भाव Shakespeare के Macbeth में Lady Macbeth के Sleep walking scene की याद दिलाते हैं। इसमें गुप्तजी की मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय अवश्य मिला है, पर 'उर्मिला' की वेदना में व्यक्तिगत स्वार्थ का दर्शन है। विश्व-की वेदना तड़प नहीं है। उनके आँसू लक्ष्मण की सम्पत्ति हैं जो उन्हीं के चरणों में समर्पित हुए हैं, वे विश्व की सम्पत्ति नहीं, विश्वात्माओं की पद पद्मों की भेंट नहीं चढ़े हैं। चौदह वर्षों की कठोर तपस्या के बाद जब वह लक्ष्मण को पाती है, तो उसे अपने यौवन धन के चले जाने का पश्चात्ताप है।

'पर यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं
वह खोया धन आज कहाँ से पाऊँ मैं।'

यशोधरा में इस प्रकार की स्वार्थ भावना नहीं है। उसे दुःख केवल इस बात का है कि पति ने ठीक से उसे पहचाना नहीं, और उसको पथ की बाधा ही समझा—

'मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना,
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते........।'

: से, कम से कम इतना अवसर भी उन्होंने न दिया कि उन्हें सहर्ष वह वीर क्षत्राणी की भाँति विदा करती। वह कहती है—

'मिला न हा! इतना भी योग
मैं हँस लेती, तुझे वियोग।
देती उन्हें विदा मैं गाकर, भार झेलती गौरव पाकर,
यह विश्वास न उठता आकर, बनता मेरा राग न रोग।'

यशोधरा के इस कथन में गुप्तजी ने नारी-हृदय के पवित्रतम कोने को झाँका है। यशोधरा के हृदय की यह उदात्त-भावना हिन्दी काव्य में सबसे पहले गुप्तजी में एक निराले रूप में दिखाई देती है।

सूर के विरह वर्णन में बड़ी गम्भीरता और प्रखरता है। परन्तु वहाँ तो विरह-विदग्ध गोपिकायें जगत को फूटी आँख से भी नहीं देखना चाहतीं। अपनी वियोगाग्नि में सारे जगत को भस्म कर डालना चाहती हैं—

'मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्याम-सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।'

सूर की गोपिकाओं के सतत नयन-नीर-मोचन से बादल भी हार मान लेते हैं। ब्रज में पनारे बह उठते हैं। विरह की दृष्टि से भावुक भावज्ञ इस अश्रुधारा में डूबते उतराते भले ही तृप्त न हों, पर आज का युग तो इसे अस्वाभाविक ही कहेगा।

यही कारण है कि तर्क और विज्ञान के इस बुद्धिवादी युग में कोई मनचला आलोचक कह बैठता है कि जब सूर की गोपियों की अश्रुधार से बादल भी हार मान लेते हैं, जब वे इतनी आसानी से पनाले बहा सकती हैं तो आज जब जल के अभाव में अकाल का भीषण दृश्य आता है, तो उसकी पूर्ति गोपिकाओं के अश्रुनीर द्वारा क्यों न की जाय।

सूर से लेकर रीति-काव्य में इसी प्रकार के वियोग का संकुचित चित्रण मिलता है। हाँ, प्रियप्रवास में हरिऔध ने देश सेविका, और पर दुःख पीड़िता राधा को सामने लाकर राधा के चरित्र को थोड़ा ऊपर उठाया है, 'साकेत' के उर्मिला के विरह में कितना एकाङ्गीपन है कहा जा चुका है। हाँ इतना मानना पड़ेगा कि उस एकाङ्गीपन के होते हुए भी उस रुदन्ती विरहणी के विरह रस के लेप से गुप्तजी का अक्षर-अक्षर अनुप्राणित है। यशोधरा का विरह एकाङ्गी नहीं। नागमती की विरह की तरह प्रकृति के कोने-कोने में व्याप्त है, पर अपनी एक छटा लिए हुए। उसके मन में तप करते हुए प्रियतम का ध्यान बना

और उसे सारी प्रकृति इसी रङ्ग में रङ्गी दिखाई देती है।

'अरी वृष्टि ऐसी ही उनकी दया दृष्टि रोती थी।
विश्व वेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी।

सावन की जल राशि में उसे गौतम के भरे हृदय की धारा शतधा होकर, बहती दिखाई देती है। 'शरदातप उनके विकास का सूचक है थल थल में'।

"खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों के कल-कल में" उसकी विनय है कि सारा जगत् उसके प्रियतम के तप के फल में प्रसन्न और हँसमुख दिखाई दे।

'दिन मुख दमके, पल्लव चमके, भव ने नव रस लूटे,
स्वामी के सद्भाव फैलकर फूल फूल में फूटे।'

उनके श्रम का रस सब भोगें-यशोधरा की यही विनय है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति को देखकर वह वियोगाग्नि नहीं बिखेरती वरन् उससे समवेदना पाती है।

गौतम के विरह के कारण उसका हृदय-ताप, गौतम का तप-ताप, तथा जेठ की लू सब में साम्य है।

'मेरा ताप और तप उनका, जलती है यह जठर मही,
मैंने ही क्या सहा सभी ने, मेरी बाधा व्यथा सही।'

पतझड़ में तो वृक्ष भी गौतम के त्याग की उसे याद दिलाते हैं—

'पेड़ों ने पत्तों तक, उनका त्याग देखकर त्यागे'।

वियोग की दुःखपूर्ण घड़ियों में उसे सर्वत्र आशा ही आशा दिखाई देती है।

नाच उठी आशा प्रतिदल पर, किरणों की झलमल में।'

यही आशा तथा विश्वास की अपूर्व ज्योति, जो यशोधरा के चरित्र की नवीनता है, अन्त तक उसके जीवन पथ को आलोकित करती रहती है। उसका उल्लास अंग्रेजी के महान लेखक चार्ल्स लैम्ब के उल्लास की भाँति है जिसकी तुलना एक आलोचक ने तेज काँटों में फूले हुए मनोहर पुष्प से की है:—

'His humour was like a flower plucked from the most thorny bushes'

दुःख के तीक्ष्ण क्षणों में वह तनिक भी निराश नहीं होती वरन् आशा की क्षीण, पर स्थिर ज्योति के सहारे वह जीवन पथ पर आगे बढ़ती है:—

'जीर्ण तरी भूरि भारि, देखि अरी एरी,
कठिन पथ दूर पर, और यह अँधेरी'
सजनी उलटी बयार, वेग धरे प्रखर धार,
पद पद पर विपद वार रजनी घन घेरी'

उपर्युक्त सुन्दर गीत प्रसाद की 'देवसेना' के निम्न गीत का ध्यान दिलाता है—

माझी साहस है, खेलोगे। इत्यादि

यशोधरा को अटल विश्वास है। 'आशा से आकाश थमा है, श्वास तन्तु कब टूटे'। विशाल आकाश उसे आशा का सन्देश देता है और इसी सन्देश के प्रकाश में उसका जीवन-जग ज्योतिर्मय हो जाता है और वह आगे बढ़ती है।

उर्दू के शायरों का क्या कहना उन्होंने तो जुदाई और फुरकत में अनेक बेसिर पैर की उड़ानें मारी हैं। एक सज्जन ने तो नारी हृदय को अस्पताल ही कर दिया है:—

'अश्क आँखों में, जिगर में दर्द, सोजश दिल में है।
इक मुहब्बत की बदौलत, घर का घर मुश्किल में है'

इस आशावाद को प्राचीन कवियों ने विरह-वर्णन में स्थान नहीं दिया। यशोधरा को समस्त विश्व के पर्दे में एक न्यायी पुरुष की झाँकी मिलती है, और कह उठती है—

'किन्तु प्रकृति के पीछे मानो एक पुरुष है न्याई।
आशा रक्खो, आशा रक्खो, आशा रक्खो भाई।'

यह कहना आवश्यक होगा कि यशोधरा की इस आशावादी भावना में गुप्तजी आदर्शवाद और गांधीवाद से प्रभावित हैं। गांधीजी भी प्रायः कहा करते थे 'आशावाद आस्तिकता है, निराश व्यक्ति नास्तिक है, जो ईश्वर की शक्ति में विश्वास रखता है कि जगत् के प्रत्येक कार्य और योजना के पीछे एक अर्थ, एक तात्पर्य, एक महती शक्ति है, वह निराशा को अपने पास नहीं आने देगा। यशोधरा का भी विरह-विदग्ध हृदय इसी आशा के सहारे शक्तिमान है। जब शुद्धोधन अनेक रूपकों के प्रलोभन पर भी देखते हैं कि गौतम समस्त वसुधा के भोग सुख को त्याग कर चले जाते हैं, वह बहुत ही अधीर और निराश हो जाते हैं तो वे यशोधरा से पूछते हैं कि:—

"धीरा है यशोधरे तू, धैर्य कैसे मैं धरूँ,
तू वही बता उसके लिए, मैं आज क्या करूँ।'

यशोधरा उत्तर देती है:—

उनकी सफलता मनाओ तात मन से,
सिद्धि लाभ करके वे, लौटें; शीघ्र वन से'

जब वे खोज में चर भेजने को कहते हैं तब वह उन्हें मना करती है, शुद्धोधन को समझाती है कि वे असमर्थ और भूले नहीं हैं। उन्हें ज्ञान का प्रकाश मिल गया है। अन्त में वह उन्हें दयनीय समझकर छोड़ देती है।

छन्दक से यह सुनने पर कि गौतम ने सिर के बाल काटकर सन्यासी का वेष बना लिया है, यशोधरा भी अपने सिर का बाल काट डालती है।

'आलि कर्तरी ला मैंने क्या पाले काले बाल
बस सिंदूर विन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल।
वह जलता अङ्गार जलादे उनका सब जंजाल।'

अपने सिन्दूर-विन्दु से उनकी तपश्चर्या की मङ्गल कामना करती है। सब करने पर भी वह अपने सम्मान को नहीं छोड़ती।

गौतम अर्द्धरात्रि में उपेक्षा भाव से जब उसे विना देखे चले जाते हैं तो उसका नारी हृदय तड़प उठता है वह कठोर होने की परीक्षा में तत्पर हो जाती है।

"अब कठोर हो वज्रादपि, ओ, कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।"

और फिर अन्त में सन्तोष और आशा से पूर्ण हृदय की पुकार गूँजती है:—

"जाओ नाथ अमृत लाओ तुम मुझ में मेरा पानी।
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी॥"

उसे विश्वास है कि एक दिन वे अवश्य लौटेंगे और अपनावेंगे अन्त में यही होता भी है। अपने सम्मान की रक्षा में तत्पर वह अपनी कथा आप सीती रहती है; अपने मन का सन्तुलन नष्ट नहीं होने देती। अन्त में जब सिद्धि लाभ करके भगवान बुद्ध कपिलवस्तु आते हैं, तो सारा नगर उनके स्वागत के लिए उमड़ पड़ता है। यशोधरा अपने स्थान से विचलित नहीं होती, उसका विश्वास है यदि मान सच्चा है, यदि वास्तव में उसके प्रति अन्याय किया गया है, यदि उसके त्याग का कोई महत्व है, तो भगवान स्वयं उसके पास आवेंगे। बुद्ध उसके सामने भिक्षुक के रूप में आते हैं और उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं।

"दीन नहीं गोपे सुनो, हीन नहीं नारी कभी।"

फिर यशोधरा उल्लासपूर्वक अपने को भगवान बुद्ध की शरण में रख देती है। बुद्ध स्वयं उसके उदात्त भावना से दब जाते हैं। सुजाता के ऋण को भी उन्होंने स्वीकार किया था, जिसकी खीर खाकर उनको एक दिन तुष्टि मिली थी। बुद्ध के शब्दों में गुप्तजी स्वयं नारी महानता को स्वीकार करते हैं। 'द्वापर' में भी एक स्थल पर कवि कहता है:—

'एक नहीं दो दो मात्रायें,
नर से भारी नारि।'

यही नहीं यशोधरा के चरित्र द्वारा गुप्तजी ने नव युग के नर-नारियों को संसार-संग्राम में वीरतापूर्वक लड़ने का सन्देश दिया है। जो लोग भगवान बुद्ध की तरह संसार की कठिनाइयों को बन्धन मानकर उससे अलग हो जाना चाहते हैं, उन्हें कृष्ण की भाँति वे कर्मयोग की शिक्षा देते हैं। वह इस बन्धन को बनाए रखने का सन्देश देती हैं। इस बन्धन से वह बुद्ध की मुक्ति को भी हेय ठहराती हैं।

"निज बन्धन को सम्बन्ध सयत्न बनाऊँ,
कह मुक्ति भला किस हेतु

मोक्ष के पीछे दौड़ लगाने की भावना वह नहीं चाहती, वरन् 'संसार हेतु शतबार सहर्ष मरें' की शिक्षा देती है। जरा और मरण भयभीत होने की वस्तु नहीं हैं। जरा जहाँ विश्राम है मरण वहाँ नवजीवन दाता है। दोनों जीवन के दो पहलू हैं जो एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का रहना अनिवार्य है। यशोधरा आशा और विश्वास से जीवन पथ पर चलना मुक्ति पाने से सैकड़ों बार श्रेयस्कर मानती है। उसकी यह गति उसकी महान शक्ति का परिचय देती है। वह सौ वीरों से बलशालिनी है जो ललकार कर कह सकती है:—

"आओ प्रिय ! भव में भाव विभाव भरे हम,
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम।
कैवल्य काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार हेतु शतवार सहर्ष मरें हम।"

कुछ आलोचकों को गुप्तजी की यह उपदेशात्मकता जो उनकी आदर्श भावना से प्रेरित है, खटकती है। पर मेरा तो विचार है, उपदेश देते हुए भी गुप्तजी कवि धर्म से च्युत नहीं हुये हैं। यह उनकी कला की मौलिकता है। उनके लिए कला अभिप्रेत नहीं; अभिव्यक्ति है, लक्ष्य नहीं लक्षण है। कला, कला के लिए न होकर जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को कमनीय बनाने के लिए है।

यशोधरा के विरह वर्णन को एक नवीन धरातल पर रखने का श्रेय गुप्तजी को इसलिए भी है कि उन्होंने प्राचीन कवि परम्परागत विरह-चित्रण के उपादानों का यशोधरा के विरह-चित्रण में त्याग दिखाया है जिसका पिष्टपेषण युगों से शृङ्गारी कवि करते आये हैं। विद्यापति और सूर से लेकर समस्त रीति काल में उन्हीं साधनों को कवियों ने विरह वर्णन में स्थान दिया है। परन्तु यशोधरा को चन्द्रिका हृदय-ताप नहीं देती। सूर की नायिका की तरह वीणा बजाने से भी चाँदनी रात में ऊब नहीं जाती है।

"दूर करहु बीना को धरिबौ।
मोहे मृग नहीं रथ हाक्यौ नाहिंन होत चन्द्र को ढरिबौ॥"

बसन्त का वैभव यशोधरा के हृदय में व्यथा का सञ्चार नहीं करता। शीतल मन्द वायु उसे कष्ट नहीं देती है, न उन्माद उत्पन्न करती है। सारांश यह है कि गुप्तजी का विरह-वर्णन अधिक संस्कृत, मनोहर तथा मौलिक है। वैसे तो धनञ्जय के अनुसार विरह की अभिलाषा, चिन्तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि और मरण आदि जो दश अवस्थायें बताई गई हैं और जिनका सम्यक् विवेचन विरह कवियों ने किया है, यशोधरा में प्रायः इन सभी दशाओं का दर्शन मिलता है, पर एक शास्त्रीय परम्परागत उपादान के रूप में नहीं, वरन् एक स्वाभाविक कलात्मक रूप में, जिससे वहाँ मनोहरता आ गई है। उर्मिला के विरह वर्णन में गुप्तजी का मन अधिक रमा पर जब 'साकेत' की एक प्रति गांधीजी को दी गई तो उन्होंने गुप्तजी को यह पत्र लिखा—"उर्मिला का रुदन आपने भाषा के दृष्टिकोण से सुन्दर है, पर साकेत में उसको शायद ही स्थान हो सकता, दो-दो सर्गों में खामोख्वाह उर्मिला को रुलाया गया, उसके सारे परिवार को रुलाया गया।" बापू चाहते थे कि वियोगिनी होते हुये भी उर्मिला देश-सेविका त्याग की मूर्ति बने। पर यह अभाव बना ही रहा। उसी अभाव की पूर्ति यशोधरा के चित्रण द्वारा गुप्तजी ने की है।

अतः यशोधरा का विरह संकुचित भूमि पर आधारित न होकर, उच्च धर्म भूमि पर टिका हुआ है। उसके हृदय में मानवता का कल्याण चाहने वाले गौतम के विराट हृदय का प्रतिबिम्ब है। उसमें दया और सहानुभूति की पूर्णता है, आशावादिता की जीवन ज्योति है जो समस्त काव्य को ज्योतिर्मय करती है।

भावुकता तथा उक्तिसौष्ठव की दृष्टि से उद्धवशतक की पूर्णता

श्रीमती सुकेशिनी निगम एम० ए०

रत्नाकरजी ने यद्यपि 'उद्धव शतक' के लिए विषय नवीन नहीं लिया है फिर भी यह रचना उसी प्रसङ्ग को लेकर लिखे गए ग्रन्थों का पिष्टपेषण मात्र नहीं हैं। 'उद्धव शतक' कवि की उत्कृष्ट तथा महत्वपूर्ण रचना है जिसमें कवि की मौलिकता ओत-प्रोत है। इसमें भावुकता तथा उक्ति सौष्ठव का सुन्दर सम्मञ्जस्य है। काव्य के छन्द कवि की सहृदयता तथा भावुकता का परिचय देते हैं।

'उद्धव -शतक' शृङ्गार रस का काव्य है इसमें कवि ने संयोग पक्ष न लेकर परम्परानुसार कृष्ण के मथुरा जाने के पश्चात गोपी-विरह तथा उनके प्रति कृष्ण का उद्धव द्वारा सन्देश ले जाने का ही वर्णन ग्रहण किया है।

रत्नाकरजी के पूर्व के कवियों ने भी इस प्रसङ्ग पर भक्ति-भाव से प्रेरित होकर रचनाएँ समय-समय पर की हैं और इस कारण प्रेम के एक पक्ष का ही चित्रण किया है। परन्तु रत्नाकरजी ने इसमें तुल्यानुराग दिखा कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। कवि विषय का पिष्टपेषण न करके ऐसी वस्तु प्रस्तुत करना चाहता है जो स्वाभाविक होकर साथ हो वास्तविक भी हो। आज के युग में एकाङ्गी प्रेम मान्य नहीं इस कारण गोपियों का ही प्रेम नहीं दिखाया गया है जितना गोपियाँ कृष्ण को प्रेम करती हैं उतना ही कृष्ण गोपियों को और इसी कारण 'उद्धव शतक' का कृष्ण गोपियों समान ही प्रेमातुर तथा प्रेम विह्वल दिखाया गया है।

विरह के अन्तर्गत जितनी भी मानसिक तथा शारीरिक दशाएँ सम्भव हैं उनका चित्रण कवि ने बड़ी मार्मिकता से किया है। कवि ने भाव-व्यञ्जना बहुधा अन्य कवियों की भाँति वाणी द्वारा नहीं की है इन्होंने हृदय की दशाओं का चित्रण कहीं अश्रु से कहीं चेष्टाओं से तो कहीं सात्विक अनुभावों के द्वारा कराया है।

अपनी वल्लभी राधा तथा अन्य गोपिकाओं के वियोग में कृष्ण की जैसा दशा दिखाई गई है वह बड़ी ही स्वाभाविक है; वह रीति-कालीन-वर्णित विरह से भिन्न है जहाँ नायक नायिका के शरीर से निकली विरह की लपटों से आस-पास का वातावरण भी प्रभावित होता दिखाया गया है और यहाँ तक कि कौवे के काले होने के कारण की कल्पना विरही के शरीर से निकला धुआँ समझा जाता है। रत्नाकरजी अवश्य विह्वलता, उत्सुकता तथा विरह का वर्णन करते हैं परन्तु उसके लिये ऐसे उपमानों को प्रस्तुत नहीं करते जो कल्पनातीत हों। देखिये कृष्ण की आकुलता का दृश्य :—

"न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात,
जाको अध ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रत्नाकर उमहि गहि श्याम ताहि,
बास वासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है।"

कमल को देख कर कृष्ण को राधा का स्मरण होना स्वाभाविक वृत्ति है। राधा पद्मिनि नायिका थीं अतः उनका मुख कमल समान सुन्दर था, परन्तु कवि ने मुरझाया कमल लिख कर राधा के उदास मुख को नीचे झुकाकर बैठने का चित्र उपस्थित किया है। कृष्ण मुरझाए फूल को देख कर राधा का स्मरण कर प्रेम विह्वल हो उठते हैं और उसको सूँघते ही विवर्ण मुख होकर मूर्छित हो जाते हैं। यह है प्रेम की अपूर्व व्यञ्जना। कवि ने ऐसा दिखाकर कृष्ण के हृदय के स्थाई भाव प्रेम का आभास दिया है।

विरह में मनुष्य बहुत कुछ कहना चाहता है परन्तु भावों के आधिक्य के कारण वह कुछ कह नहीं पाता और यदि वह कहना चाहता भी है तो उसका गला दुख के आधिक्य से भर उठता है और अश्रु का प्रवाह होने लगता है। कृष्ण की ऐसी ही दशा एक स्थल पर देखिये :—

"नैंकु कहि बैननि सौं अनेक कहि नैंननि सौं
रहि सहि सोइ कही दीन हिचकीनि सौं।"

अश्रु यहाँ कृष्ण के प्रेमातुर हृदय की उथल पुथल का चित्र हमारे सामने रख देते हैं।

विरह में स्वाभाविक है कि मनुष्य को अपनी पुरानी बातें स्मरण हो आती हैं—

फिरते हुते जू जिन कुञ्जन में आठों जाम,
नैननि में अब सोउ कुञ्ज फिरवौ करैं।"

उनकी आँखों में हर समय व्रज के रास रङ्ग भी बसे हुए हैं—

जमुना कछारनि की रङ्ग रास रारनि की,
विपिन बिहारनि की हौंस हुलसावति॥

कवि ने इस प्रकार कृष्ण का प्रेमोद्वेग दिखाया है। यह तब ही किसी भी कवि के लिये सम्भव है जब उसने प्रेम की इन दशाओं का भली भाँति अनुभव किया हो।

उद्धव के व्रज जाते समय कृष्ण को मौन दिखाकर कवि ने प्रेमाधिक्य दिखाया है। कृष्ण कुछ कह नहीं पा रहे हैं। वे उद्धव के रथ के पीछे पीछे चले जारहे हैं। कवि ऐसे स्थान पर कृष्ण द्वारा अनेक संदेश न कहलाकर उन्हें मौन रखकर दुख का आधिक्य व्यंजित करता है।

कवि ने व्रज भूमि को प्रेम भाव का उद्दीपन बनाकर उद्धव पर उसका प्रभाव दिखाया है। व्रज भूमि कृष्ण-मय हो रही थी, उसका एक एक कण कृष्ण-मय हो रहा था तथा अब कृष्ण के वियोग से दुखी होकर रो रहा था। उस भूमि पर उद्धव जो ज्ञान का सन्देश ले जा रहे थे उन्हें अपना ज्ञान खोता सा प्रतीत होने लगा तथा वह व्रज भूमि की धूल में लोटने लगे। यह क्या है? कवि ने इसके द्वारा यह दर्शाया है कि प्रेम के प्रभाव के सामने ज्ञान कुछ नहीं है।

प्रिय के समीप से आई हुई वस्तु से मिलने की लालसा यह भी मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। गोपियों को उद्धव के आगमन की सूचना मिलती है और वे व्याकुल हो उत्सुकता से नन्द के द्वार पर दौड़ कर जाती हैं। वे कृष्ण के विरह में तड़प रही थीं तथा किसी प्रकार उद्धव से कृष्ण का समाचार प्राप्त करने को उत्कण्ठित हो उठती हैं जिसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है:—

"उझकि उझकि पद-पङ्कज के पञ्जनि पर,
पेखि पेखि पाती छाती: छोहनि छुवे लगी।
हमको लिख्यौ है कहा हमको लिख्यौ है कहा""।"

इस प्रेम की गम्भीरता तथा विह्वलता को देखकर उद्धव का ज्ञान भूलना स्वाभाविक था। ऐसे अनन्य प्रेम के आगे ज्ञान कहाँ टिक सकता है वह तो व्रज भूमि के प्रभाव से पहिले ही कछारों में जा उलझा था।

स्त्री की सरलता, भोलापन तथा ममता को कवि ने भली प्रकार पहिचाना है। गोपियों की सरलता तथा भोले-पन का बड़ा मार्मिक तथा हृदयग्राही चित्रण कवि ने किया है। उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियों की दशा विचित्र हो गई—

'कोई सेद सनी कोई भरि दृग पानि रहि,
कोउ घूमि घूमि परि भूमि मुरझानी है।
कोउ स्याम स्याम के बहकि बिललानी,
कोउ कोमल कर जोरै थामि सहमि सुखानी है॥"

कैसे सरल हृदया गोपियाँ ऐसे उपदेश को सुनकर धीरज धारण कर सकती थीं!

वे भोली अशिक्षित नारियाँ योग की बात को कैसे समझ सकती थीं। वे कहती हैं तुम बताओ हम उस अपार ब्रह्म को कैसे त्रिकुटी में रक्खें। इससे नारी स्वभाव की सरलता का आभास होता है। ये गोपियाँ तो कृष्ण के प्रेम में रङ्गी हैं; वे तो कृष्ण पर अपना मन मानिक न्यो-छावर कर चुकी हैं। उनका प्रेम ऐसा नहीं जो भूलने योग्य हो; वे तब ही तो कहती हैं कि हम सब कुछ करने को तैयार हैं बस—

'एति कहि देहु कै कन्हैया मिलि जायगौ—'

वे कहती हैं कि हम तुम्हारे ब्रह्म में अवश्य मिल जाएँगी पर पहिले तुम्हारे ब्रह्म को अपने कृष्ण से मिला कर देखेंगी। यदि दोनों में समानता हुई तो हम तुम्हारे ब्रह्म को सहर्ष ग्रहण करेंगी अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार उद्धव के व्रज जाते समय वे उनसे प्रार्थना करती हैं कि "स्याम सों हमारी रामराम कहि दीजियौ।" बस इसके अतिरिक्त वे कुछ नहीं कहतीं। उनका प्रेम कितना गम्भीर था वे अपने दुख से कृष्ण

को दुखी नहीं करना चाहती हैं।

कृष्ण के लिए बाँसुरी तथा नवनीत भेजने में भी अत्यधिक स्वाभाविकता है। वे कृष्ण को बाँसुरी इस कारण भेज रही हैं जिससे वे ब्रज का स्मरण करते रहें तथा नवनीत उनको रुचिकर था।

अन्त में कृष्ण का उद्धव के आँसुओं को अपने पट पर लेना भी स्वाभाविक था। उद्धव जिन नेत्रों से ब्रज को देख कर आये थे उन नेत्रों से गिरे आँसुओं को पृथ्वी पर गिरता कैसे देख सकते थे। कृष्ण भी तो प्रेमातुर तथा प्रेम-विह्वल थे।

'उद्धव-शतक' में रत्नाकर की भावुकता ही नहीं उक्ति सौष्ठव भी उच्चकोटि का है। इनकी उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। ये उक्तियाँ केवल चमत्कार प्रदर्शन के हेतु नहीं लिखी गई हैं वे अर्थगर्भित तथा मार्मिक हैं। ये उक्तियाँ सुन्दर अलङ्कारों की सहायता से किसी भाव विशेष को व्यञ्जित करती हैं। इन उक्तियों में जो कल्पना द्वारा अप्रस्तुतों की योजना की गई है वह भी प्रशंसनीय है। वह अप्रस्तुत कल्पनातीत नहीं है, वे नित्य जीवन के ही हैं। यही कारण है कि इनकी उक्तियाँ नीरस नहीं हैं।

"सील सनी सुरुचि सुबात चलै पूरब की,
और ओर उमगि दृगनि मिदुराने ते"

इस छन्द में कवि ने वर्षा का रूपक बाँध कर कृष्ण के हृदय की विह्वलता तथा प्रेमाधिक्य के कारण अश्रुओं के प्रवाह का वर्णन किया है। इसी प्रकार—

"चल्यौ न चारौ भाँति कोटिन विचारयौ तउ"

इसमें कवि काँटे का रूपक बाँध कर कृष्ण के हृदय से ब्रज की सुधि न निकलना व्यञ्जित करता है।

आगे एक स्थल पर उद्धव कृष्ण को समझा रहे हैं कि ब्रज को भूल जाओ उसमें तुम्हें फँसना नहीं चाहिए। इस बात को कवि ने एक हाथी को फँसाने की प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत किया है—"खेत माहिं खोदि खाई सुद्ध स्वारथ की।" रत्नाकरजी की उक्तियों का चमत्कार कुछ लोकोक्तियों तथा मुहावरों में भी देखते ही बनता है। दो एक छन्दों में इन्होंने योगी-वियोगी का तारतम्य भी बड़े अपूर्व ढङ्ग से करके उक्ति-सौष्ठव का अच्छा परिचय दिया है।

"टूक टूक ह्वै मन मुकुर हमारौ" जैसे अवतरणों में अपने सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर इन्होंने उक्ति-सौष्ठव और भावुकता में मणि-काञ्चन का योग दिखाया है।

(पृष्ठ २३६ का शेषांश)

भी मुक्त हैं.......उसमें नियम कोई नहीं है......मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-साहित्य उसकी मुक्ति है।" तात्पर्य यह कि यदि पंक्तियों में लय हो, प्रवाह हो, सङ्गीत हो, तो नपे तुले साँचों में काव्य-कलसों को ढालने के लिए अक्षरों और मात्राओं के पीछे पड़ना अनावश्यक है।

इतने विवेचन के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी कवि ने भाव और कला दोनों की दृष्टि से अद्वितीय प्रगति की। परन्तु इतना होते हुए भी छायावाद का भविष्य उज्ज्वल नहीं रहा। कवि केवल अपने ही सुख-दुःख की चर्चा करते जान पड़ते और समझ पड़ता कि समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं, प्रत्युत जिस विश्व की ओर वे कभी-कभी संकेत किया करते वह भी उनकी ही कल्पना द्वारा निर्मित नया अपरिचित संसार था। उनके प्रेम, उनकी वेदना, और उनकी अभिलाषा का सम्बन्ध किसी ऐसे 'कौन' के साथ रहा करता जिसे वे खुल कर बतला नहीं पाते थे। उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति के प्रति ममता इतनी अधिक हो गई थी कि उसमें व्यक्त किये गये भावों में व्यक्तिगत सङ्कीर्णता की दुर्गन्धि आने लगी। युग के संघर्षों की थोड़ी भी झलक इस युग की कविता में नहीं प्राप्त होती है।

किन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि भाव, भाषा तथा व्यञ्जना में छायावाद ने जितनी बड़ी क्रान्ति की उतनी बड़ी क्रान्ति हिन्दी-कविता के किसी युग में नहीं हुई। हिन्दी कविता को वृन्दावनी गलियों से निकालकर विश्व-साहित्य के सम्पर्क में लाने का श्रेय छायावाद को ही है।

छायावाद—एक अध्ययन

श्री जगदीशनारायण त्रिपाठी एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (अंग्रेजी)

द्विवेदी-युग के काव्य में नैतिक बुद्धिवाद का प्राधान्य था। प्रेम तथा शृङ्गार लुप्त हो चला था और इतिवृत्तात्मकता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। जन्म से ही कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और इस युग तक तो काव्य-सृष्टि के बाह्याकार पर इतनी प्रचुर मात्रा में लिखा जा चुका था कि कवि का हृदय छन्दादि बन्धनों से मुक्त हो कर स्वच्छन्द अभिव्यक्ति तथा आत्मदर्शन के लिए विद्रोह कर उठा।

'वास्तव में जब मनुष्य स्थूल-जीवन-सङ्घर्ष से दब जाता है तब उसकी प्रवृत्तियाँ क्रान्ति की ओर अग्रसर होती हैं। इसी को साहित्यिक भाषा में स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा जाता है।' इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य-सौन्दर्य से है, आन्तरिक तथा सूक्ष्म से नहीं। यह इतिवृत्तात्मकता या स्थूलोपासना द्विवेदी-युग में एक निर्दिष्ट सीमा तक पहुँच चुकी थी। ऐसी स्थिति में इसकी प्रतिक्रिया होना अनिवार्य था। अतः सूक्ष्म ने स्थूल के प्रति विद्रोह किया और जिसके फलस्वरूप छायावाद का जन्म हुआ। यह विद्रोह सर्वकालीन एवं सार्वदेशिक है। अँग्रेजी के रोमांटिसिज्म की भाँति प्रायः छायावाद का जन्म हुआ है, इसी कारण वह हमारे साहित्य की एक नव जागृति का सन्देश अपने भीतर निहित किये हुए है। छायावाद का जन्म एवं विकास का समय १९०९ से १९३६ ई० तक और उसका स्वर्णयुग १९३१ से १९३६ ई० तक माना जा सकता है।

इस धारा के कवियों ने स्वदेश के साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र से विमुख हो कर विदेश के साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र से गठबन्धन किया। रिचर्ड और इलियट इस आन्दोलन के साहित्यिक गुरू बने। शेली, कीट्स वर्ड्सवर्थ उसके पथ-प्रदर्शक। इस प्रकार छायावाद ने हिन्दी कविता को एक नवीन भावलोक तथा नवीन अभिव्यञ्जना-शैली प्रदान की। इस नवीन शैली को ग्रहण करने में असमर्थ प्राचीन काव्य-मर्मज्ञ इसका विरोध करने लगे तथा उस पर छायात्मकता, अनैतिकता, अस्पष्टता आदि के आक्षेप लगा कर उपहास करने लगे। इसका कारण यह था कि 'छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का सञ्चय न दे कर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर उन्मुख कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना कठिन हो गया।' सच्ची कविता की रहस्यवादिता या छायावादिता का प्रतिपादन अँग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक ब्राडले ने बड़े भावपूर्ण शब्दों में किया है:—

'सच्ची कविता पूर्ण-विचारित एवं स्पष्ट रूप से परिभाषित भावों का अलङ्करण-मात्र नहीं; यह तो विकास और निश्चितता की ओर अग्रसर होते हुए एक धूमिल कल्पना-पुञ्ज के रचनात्मक आवेग की उपज होती है। यदि कवि पूर्व से ही यह जानता है कि ठीक-ठीक उसके क्या अभिप्राय होंगे तब वह कविता करता ही क्यों! तब तो पूर्व से ही कविता लिखी-लिखाई सी हो गई, क्योंकि कविता की समाप्ति होने पर ही कवि को भी पता चलेगा कि उसका अभिप्राय यही था कि जब उसने रचना आरम्भ की और जब तक उसमें संलग्न था, तब तक उसका भावों पर आधिपत्य न था। प्रत्युत भावों का ही उस पर आधिपत्य था......................और यही कारण है कि ऐसी कविताएँ हमें रचनाएँ प्रतीत होती हैं, न कि निरी योजनाएँ; और इनमें वह जादू की सी शक्ति रहती है जो केवल आरम्भ से ही नहीं आ सकती। इसी कारण यह भी है कि यदि हम ऐसी कविता के अभिप्राय के लिये आग्रह करें ही, तो अधिक से अधिक यही उत्तर मिल सकता है कि—इसका अभिप्राय यही है।'

यद्यपि गतानुगतिक पंडित छायावादी कविता का निरन्तर विरोध करते रहे किन्तु सौन्दर्योन्मुख कवि आगे बढ़ता हुआ गाता गया :—

चींटियों की सी काली पाँति,
गीत मेरे चल फिर निशि-भोर।
फैलते जाते हैं बहु भाँति,
बन्धुं, छूने अग-जग के छोर ॥

हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' शब्द के विषय में बहुत ही मतभेद रहा है। भिन्न-भिन्न आलोचकों एवं विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यायें की हैं। इनके आधार पर छायावाद की निम्नलिखित सर्वमान्य विशेषतायें हो सकती हैं—

१—आत्माभिव्यक्ति, २—सौन्दर्य-भावना, ३—करुणा की धारा—दुःखवाद, ४—रहस्यवाद, ५—नीति-विद्रोह, ६—प्रकृति-प्रेम, ७—अभिव्यञ्जना शैली बंकिम, लाक्षणिक, चित्ररागवती और चित्र भाषा। अब इन विशेषताओं पर पृथक्-पृथक विचार करेंगे।

१—आत्माभिव्यक्तिः—रीतिकालीन कवि रीति-बन्धनों से जकड़ा होने के कारण उसका व्यक्तित्व लुप्त हो गया था। रीति परम्पराओं के विरोध में ही छायावाद का जन्म है। अतः छायावाद में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता होना आवश्यक है। छायावाद में रोमान्टिसिज्म की भाँति कवि का काव्य से अधिक महत्व माना गया है, क्योंकि काव्य में कवि के भावात्मक व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। छायावादी कवि अन्तर्मुख होकर अपने भीतर की अनुभूतियों की अनन्त सम्पदा अङ्कन करने लगा। श्री महादेवी वर्मा में यह आत्माभिव्यक्ति बहुत पायी जाती है। भगवतीचरण वर्मा और बच्चन की आवेश-प्रधान रचनाएँ भी इसी अहंभाव से परिपूर्ण हैं।

२—सौन्दर्य-भावना:—छायावादी 'सत्यं, शिव, सुन्दरं' में से केवल 'सुन्दरं' का उपासक है। उसके लिये सौन्दर्य में अशोभन का स्थान ही नहीं है। अमूर्त अशरीरी सौन्दर्य-प्रियता छायावादी काव्य की विशेषता है। यह युग एक प्रकार से सौन्दर्य-दृष्टि के पुनर्निर्माण (Assthetic Revival) का युग था, जिसने रोमांस का सहारा लिया था। छायावादी कवियों का आग्रह उतमोत्तम आदर्श सौन्दर्य की सृष्टि की ओर होने के कारण वे सुन्दर शब्दों, सुन्दर भावों और सुन्दर रूपों में खो गये। इस प्रकार वे 'रोमाण्टिक' और 'पलायनवादी' कहे जाने लगे। उन्होंने जिस जीवन की काल्पनिक अनुभूति की वह हमारे साधारण प्रतिदिन के जीवन से भिन्न था। वास्तव में सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण आश्चर्य, भक्ति और अतीन्द्रिय आसक्ति का ही अधिक है।

अँग्रेजी का प्रसिद्ध सौन्दर्योपासक कवि शैली अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन लिये पहिले नारी-रूप की उपासना सापेक्ष समझता था। उसके अनुसार जो सौन्दर्य लोक सुन्दर और शाश्वत है, उसकी क्षणिक आभा नारी में दिखाई देती है। यह कला का स्वरूप हमारे छायावादी कवियों में भी अभिव्यक्त हुआ है। प्रेम के प्रति 'प्रसाद' की दृष्टि विलासपूर्ण, निराला की दाम्पत्य भाव की, पंत की मानसिकता और महादेवी की आध्यात्मिक है। गत अर्द्ध-शताब्दी के काव्य को यदि हम लें तो एक बात सामान्य रूप से पाई जाती है, और वह यह कि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, बच्चन, हृदयेश, तारापाण्डेय और सुमित्रा कुमारी सिन्हा आदि सैकड़ों कवियों ने बहुत उच्छ्वास भरे हैं!

३—करुणा की धारा-दुःखवाद:—करुणा काव्य की जननी है और उसका जीवन से भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। छायावाद में करुणा का प्रवाह स्वाभाविक मनोवेगों को लेकर है। महादेवी वर्मा के अनुसार कवि की उसी करुणा का काव्य में महत्व है जो स्वयं दीप सी जलकर विश्व को आलोकित करती रहे, यथा—

चिर ध्येय नहीं जलने का ठण्डी विभूति बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह दुःख का चिरसुख हो जाना ॥

प्रसाद और पन्त ने भी दुःख के प्रति बड़े मार्मिक भाव व्यक्त किये हैं। निराला जो की करुणा हृदय को आन्दोलित कर देती है। छायावाद की ओट में उन्होंने कुछ व्यक्तिगत निराशा के भी चित्र खींचे हैं।

४—रहस्यवाद:—छायावाद में रहस्यवाद की प्रधानता का कारण द्विवेदी-युग की नीतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। प्राचीन रहस्यवाद और आधुनिक रहस्यवाद में एक अन्तर है वह यह कि प्राचीन रहस्यवादी कवि कवि धार्मिक भावना से आकृष्ट हुए थे और आधुनिक

रहस्यवादी कवि पर आध्यात्मिकता की उतनी छाप नहीं जितनी कि भावुकता और कल्पना की। 'छायावाद का कवि धर्म के आध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है।' छायावादी कवियों ने कविवर प्रसाद और निराला ने भारतीय अद्वैतवाद का अच्छा अध्ययन किया है जिसके परिणाम स्वरूप उनके काव्य में भावुकता और दार्शनिकता का सुन्दर समन्वय है। पन्तजी ने पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन का सुन्दर काव्यमय प्रयोग किया है। महादेवी वर्मा बौद्ध-दर्शन से प्रभावित हैं।

५—*नीति-विद्रोह*—ड्राइडेन का मत है कि "कविता का यदि एक मात्र नहीं तो कम-से-कम प्रमुख ध्येय आनन्ददान है, शिक्षादान का ध्येय यदि अङ्गीकृत भी किया जाय तो केवल गौण रूप से।" किन्तु द्विवेदी-युग में शिक्षा-दान ही काव्य का लक्ष्य था। छायावाद भाव क्रांत और कला-आन्दोलन था। भावक्षेत्र में छायावादी कवि ने सर्वप्रथम धर्म और नीति का ही विरोध किया। हालावाद इसी का प्रतिफलन है।

६—*प्रकृति-प्रेम*:—छायावाद का सम्बन्ध प्रकृति के जीवन से है। इसमें प्रकृति चेतना मानी जाती है और वे सभी भावनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं जो नर-नारी के जीवन में किसी भी प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं। छाया-वाद-काल में प्रकृति को चेतना से युक्त देखना एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई थी। छायावाद में प्रकृति का क्रम-शील जीवन ही देखा जाता है। अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि जब कवि प्रकृति का वर्णन करे तो प्राकृतिक वस्तुओं के रूप और आकार की निश्चित रेखाएँ दे। दूसरे शब्दों में वह प्रकृति का मानवीकरण हुआ। मानवीकरण और इसमें यही अन्तर है कि नवीकरण एक प्रकार का आरोप है और छायावाद में प्रकृति कवियों को वैसा लगती ही है। छायावादी कवि ने प्रकृति मानवीय रूप ही नहीं दिया उसे मानवीय चेतना, मानवीय भावना और मानवीय व्यापार भी दिये।

७—*अभिव्यञ्जना-शैली*—छायावाद की कविता में अभिधा का स्थान लक्षणा ने ले लिया। इसे शैली की विशिष्टता कहा जा सकता है। इसके कई रूप हैं। कहीं तो अन्योक्ति और वक्रोक्ति का आश्रय लिया गया, कहीं अलङ्कारों के वक्र, लाक्षणिक और अँग्रेजी ढङ्ग के प्रयोग मिलते हैं। कहीं प्रतीकों का प्रयोग है। इन सबने एक स्थान पर मिल कर नये पाठक के लिए कितने ही पदों में कूट-काव्य की सृष्टि कर दी।

छायावाद के सूक्ष्म भावलोक की अभिव्यक्ति के लिए चित्र-भाषा अपेक्षित है। "जिसके शब्द सस्वर हों, बोलते बोलते हों। सेब की तरह जिसके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झङ्कार में चित्र और चित्र में झंकार हो।" कवि पन्त के शब्दों में यही चित्र आया है। साथ ही छायावाद के लिए चित्रराग की भी अपेक्षा है। भाव और भाषा का सामञ्जस्य उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। यह चित्र-भाषा और चित्रराग छायावाद काव्य की एक विशेषता है। प्रतीक पद्धति से इस प्रकार की भाषा के निर्माण में बड़ा योग मिला है।

कहीं पर कवियों ने हृदय की अनुभूति से अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त का रूप दिया है। छायावादी कवियों ने अँग्रेजी के बहुत से अलङ्कार जैसे ध्वन्यर्थव्यञ्जना (Onomatopoea), विशेषण-विपर्यय (Trasferred Epithet), मानवीकरण (Personification) आदि ज्यों के त्यों अपना लिए जिससे भाषा की चित्रमयता में बहुत वृद्धि हुई।

इसके अतिरिक्त छायावादी कवि ने छन्दों के रङ्ग ढङ्ग में परिवर्तन किया। नवीन छन्दों के साथ-साथ मुक्त छन्दों में भी कविता की गई। हिन्दी के नवयुगीन कवियों में निराला का स्थान मुक्तक छन्दों की रचना की दृष्टि से औरों से अधिक प्रौढ़ है। उन्होंने परिमल की भूमिका में अपने मुक्तक छन्दों की न्याय्यता प्रतिपादन करने के लिए वेद मन्त्रों तक हवाला दिया है तथा उनकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

"मुक्त छन्द तो वह हैं जो छन्द की भूमि में रह कर

(शेष पृष्ठ २३३ पर देखिए)

मराठी साहित्य के 'प्रसाद'

श्री गङ्गाप्रसाद कमठान बी० ए०

मराठी-कथा-साहित्य में श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर का उदय एक विशिष्ट स्थान रखता है। युगद्रष्टा केलकर की लेखनी के स्पर्श से मराठी साहित्य एक नवीन दिशा और एक नई दृष्टि के साथ निखर उठा। हिन्दी-साहित्य में जो स्थान जयशङ्कर 'प्रसाद' जैसी सर्वाङ्गीण प्रतिभा के व्यक्तित्व को प्राप्त है-वही मराठी में केलकर को।

श्री न० चि० केलकर (सं० १९२९—२००४) सर्व सम्मति से तिलक के महाराष्ट्रीय उत्तराधिकारी माने जाते थे। भगवान् तिलक की मृत्यु के उपरान्त लगभग बीस वर्ष पर्यन्त आपने महाराष्ट्रीय जनता के मुखपत्र (Mouth piece) 'केसरी' का सम्पादन और सञ्चालन सुचारु रूप से किया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के 'शिवशम्भु का चिट्ठा' के सदृश्य केलकर लिखित 'मराठे अरिण इंग्रज' निबन्ध संग्रह लोकप्रिय है। केलकर कृत्तियाँ [illegible]ङ्कृत हैं—

दार्शनिक-निबन्ध—भारतीय-तत्वज्ञान	
जीवनी—	'तिलक चरित्र'; 'गॅरीबाल्डी'
इतिहास—	फ्रेंच राज्य क्रान्ति का इतिहास
निबन्ध—	मराठे अरिण इंग्रज
आलोचना—	हास्य विनोद मीमांसा
उपन्यास—	नवल पूर्चा संस्थानिक
लघुकथा—	गत गोष्टी संग्रह
लोक गीत—	'लॉवनी' पापड़ा
नाटक—	चन्द्रगुप्त, कृष्णार्जुन युद्ध, तोतयाचे बराड

'राष्ट्र पुरुषों की जीवनी ही राष्ट्र का इतिहास है',—कार्लाइल के इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन कर 'गरीबाल्डी' एक ऐतिहासिक जीवनी लिख जीवनी साहित्य में एक नई लीक खींची तथा 'तिलक-चरित्र' में सं० १९६०-१९८० का महाराष्ट्रीय इतिहास पृष्ठ पीठ होगया। बीसवीं शताब्दी के मध्य काल के प्रमुख टीकाकार केलकर की आलोचनात्मक शैली भावुकता से ओत प्रोत है। मराठी शायर प्रभाकर की आलोचना करते समय आप लिखते हैं, "प्रभाकर की प्रतिभा उज्वल है, वाणी में प्रमाद नहीं है, विषय वैचित्र्य है और भाषा का स्वरूप प्रौढ़, किन्तु कोमल और लालित्यपूर्ण है।" आपकी आलोचनात्मक-पद्धति शान्तिप्रसाद द्विवेदी की तरह है।

श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर का "नवल पूर्चा-संस्थानिक' उपन्यास मराठी उपन्यास साहित्य का कीर्ति-स्तम्भ है। उपन्यास की पार्श्वभूमि Romantic है। प्रगतिशील उपन्यासकार ने उपन्यास में मध्यम श्रेणी के महाराष्ट्रीय जन-जीवन के साथ श्रमजीवियों का जीवन भी झलका दिया है, जिससे पूँजीवादी साहित्य ने जनतन्त्री केलकर को क्रान्तिकारी कलाकार के नाम से पुकारा है। उन पर नाना आक्षेप लगाए हैं। आँग्ल नाटककार गाल्सवर्दी के समान आपने अपनी कला कृति में अपनी भूमिका पक्षपात हीन ही रखी है। चरित्र-चित्रण में आपकी दृष्टि अन्तर्मुखी रहती है।

आधुनिक मराठी कहानी की आयु केवल सत्तर वर्षों के करीब है। सन् १९२९ में 'रत्नाकर' मासिक के उदय-काल से ही मराठी कहानी साहित्य में एक बाढ़ सी आई। कहानीकार केलकर ने अपने राजनैतिक विचारों का प्रचार करने के लिये, जनता को जागरूक रखने के लिये मराठी लघु कहानियाँ लिखीं। सन् १९२९—१९४० तक का काल मराठी कहानी काल के विकास और उत्कर्ष का काल संघकाल कहलाता है। आपकी कहानियों का केन्द्र बिन्दु परतन्त्र भारत की करुण कहानी है। कहानियों में करुणा का वैसा ही स्रोत बहता है जैसा 'प्रसाद' की कहानियों में। केलकर की कहानियाँ क्रान्ति की ओर अग्रसर हो तिलक के विचारों का यथार्थवादी रूप लिये चलती हैं। आपकी कहानियों की भूमिका 'प्रसाद' की तरह कवित्वमय वातावरण से पूरित रहती है, जिसमें घटनाओं का सूत्र धीरे-धीरे मन्थर गति से उच्च बिन्दु (climax)

की ओर बढ़ता है फिर विकसित हो नाटकीय ढङ्ग से पूर्ण विराम पर पहुँचता है।

मराठी-नाट्य-साहित्य के द्वितीय उत्थान का काल केलकर-युग के नाम से विख्यात है। आपने भी अपने सशक्त व्यक्तित्व से नाट्य जगत में 'प्रसाद' की तरह एक नया चरण रख उसे सफलता के सोपान पर चढ़ा दिया। केलकर ने अपने नाटकों में यदि कहीं ऐतिहासिक व्यक्ति को आधार बनाया है तो कहीं पौराणिक कथा का सूत्र है तो कहीं देश की दुर्दशा का व्यंग्य चित्र। केलकर के नाटक कृत्रिम पाश्चात्य साज-सज्जा के चोले को उतार नवीन शैली से शृङ्गारिक हुए। अब तक श्रीपद कृष्ण कोल्हटकर और श्री कृष्णजी प्रभाकर खाडीलकर के नाटकों के पात्र लेखक के व्यक्तित्व के छायामात्र थे, किन्तु नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने यथार्थवादी शैली को अपना उन्हें स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया। आपके नाटकों को तीन भागों में बाँटना समीचीन है :—

ऐतिहासिक नाटक—चन्द्रगुप्त
पौराणिक नाटक—कृष्णार्जुन युद्ध
सामाजिक नाटक—तोतयाचे बराड

न० चि० केलकर के पूर्ववर्ती नाटककारों का काल मराठी में मौलिकता की दृष्टि से—दरिद्रकाल (Poor-Period) ही है। किन्तु केलकर ने अपनी लेखनी से भाषा का सुहाग और देश का भाग्य जगमगा दिया। केलकर का 'चन्द्रगुप्त' नाटक एक मात्र उद्‌बोधनात्मक ऐतिहासिक नाटक ही नहीं है अपितु राष्ट्र प्रेम की अखण्ड ज्योति को जलाता हुआ इतिहास की पृष्ठ भूमि पर टिका हुआ है। मूलतः 'प्रसाद' की ध्रुवस्वामिनी की तरह समस्या नाटक है। जिस तरह प्रसादजी ने पात्रों के चरित्र को अनेक परिस्थितियों के मध्य खड़ा कर उनके अन्तर्द्वन्द्वों के विधान पर विशेष जोर दिया, उसी तरह केलकर ने विरोधी विचार वाले पात्रों की सृष्टि कर उनकी भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों की झाँकी दिखाई है। ज्यों 'प्रसाद' के चन्द्रगुप्त में चाणक्य का चरित्र सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है त्यों केलकर के चन्द्रगुप्त में 'चन्द्रगुप्त' का।

न० चि० केलकर कवि थे। कवि होने के नाते उनके अधिकांश पात्र भावुक हो 'प्रसाद' की तरह यथार्थवादी भूमिका पर अक्षरशः न उतर पाये। अतः काव्यात्मक वातावरण उनके नाटकों में प्रायः पाया जाता है। श्री केलकर का चन्द्रगुप्त रङ्गमञ्च की दृष्टि से—अभिनय की कला से पूर्णतः सफल हो कलाकार प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी से पग मिला उठा है। साथ ही प्रसाद के चन्द्रगुप्त की तरह काल दोष से बच 'प्रसाद' की कला से होड़ लगा उठा है।

तोतयाचे बराड एक सामाजिक नाटक है। यद्यपि श्री नारायण वासुदेव गोड़बाले इसे ऐतिहासिक नाटक मानते हैं। नाटक में केलकरजी ने शॉ की तरह समाज की पिसी परम्पराओं पर गहरी चोट की है। नाटक के पात्र बौद्धिक स्तर (इंटलेक्चुअल स्टैण्ड) पर स्थिर हैं। कथोपकथन प्रसाङ्गानुकूल स्वाभाविक बन पड़े हैं। नाटक का कोई भी सूत्र शिथिल प्रतीत नहीं होता है सभी मूल विचार-धारा को बलवती बनाते चलते हैं। नाटक में मानव-जीवन की सामयिक सामाजिक समस्याओं का पर्दा-फाश किया गया है। नाटककार ने सफलता के साथ तत्कालीन विचार-धाराओं को भी कथा-सूत्र में गूँथ दिया है।

केलकर ने 'कृष्णार्जुन युद्ध' में पौराणिक पात्रों को मानवीय स्तर पर उतारने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। सम्भवतः उनके इस प्रथम प्रयास पर डी० एल० राय की विचार वल्लरी का प्रभाव प्रतिभासित होता है। केलकर के 'कृष्णार्जुन युद्ध' के सांस्कृतिक चित्रों में वर्तमान और भविष्य के लिए मानवतावाद का जीवन-सन्देश है। न० चि० केलकर का 'कृष्णार्जुन' माखनलाल चतुर्वेदी रचित 'कृष्णार्जुन युद्ध' की तरह अस्वाभाविक पद्य व्यवहार से बोझिल हो मराठी में अपवाद स्वरूप नहीं है। अपितु मञ्च-रचना और साहित्य-सौन्दर्य की गङ्गा-जमुना बहा मराठी नाटकों का आदर्श बन गया है। नाटक स्वगत कथन के लम्बे रोग से बच सांकेतिक भाषा को अपना साहित्य जगत में एक नया चरण रख गया है।

निस्सन्देह केलकर के उपन्यास महाकवि शेक्सपीयर के सुखान्त नाटकों की तरह हैं तथा नाटक 'प्रसाद' की भावभूमि के समान गतिशील हैं। केलकर और प्रसाद दोनों कवि थे—भावुक थे। दोनों ही निज-निज युग के खेवा थे।



आलोचना

सूरदास और उनका साहित्य—लेखक-श्री शान्ति-स्वरूप गौड़, प्रकाशक-श्री राजेन्द्र पब्लिशिंग हाउस, आगरा। पृष्ठ संख्या २३१, मूल्य ३)

सूरदासजी पर कई आलोचनात्मक ग्रन्थ निकल चुके हैं किन्तु यह छोटी सी पुस्तक भी अपनी कुछ विशेषता रखती है। इसमें सूरदास का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से तो कुछ कम किन्तु रस और सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से कुछ अधिक हुआ है।

लेखक ने साहित्य-लहरी को प्रामाणिक मानते हुए भी (साहित्य-लहरी के अनुसार तो सूरदासजी चन्द बर-दाई के वंशज ब्रह्मभट्ट ठहरते हैं) उनको हरिरामजी की टीका के अनुसार सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। अस्तु पुस्तक में जो सूर की भक्ति उनके दार्शनिक सिद्धान्तों और उनके वर्णित रसों का जो विवेचन हुआ है वह एक मार्मिक और शास्त्रीय दृष्टि से हुआ है। सूर में भक्ति की भूमि-काओं के उदाहरण देते हुये लेखक ने बतलाया है कि यद्यपि सूर ने सभी आसक्तियों को यथास्थान अपनाया है तथापि दास्य और सख्य भक्तियों को अधिक महत्त्व दिया है। सख्य भक्ति का आरम्भ वात्सल्य में होता है और उसकी चरम परिणति दाम्पत्य भावना में होती है। सूर ने अपना तादात्म्य नन्द, यशोदा, गोपियों, राधा और सखाओं से कर अपने को सभी परिस्थितियों में रख कर उनका मार्मिक चित्रण किया है। विरह की दशाओं और सञ्चारियों आदि का भी दिग्दर्शन कराया है। सारे सूर-सागर विशेष कर दशम स्कन्द में व्याप्त राधा, कृष्ण, उद्धवादि पात्रों का बहुत संक्षेप में सुन्दर चरित्र-चित्रण किया गया है। अलङ्कारों का विवेचन अपेक्षाकृत कम हुआ है। भावपक्ष की दृष्टि से विवेचन सराहनीय है।

स्वास्थ्य कैसे पाया—सम्पादक-श्री विट्ठलदास मोदी प्रकाशक-श्री आरोग्य मन्दिर प्रकाशन गोरखपुर। पृष्ठ संख्या २०६, मूल्य १॥)

यह ग्रन्थ प्राकृतिक चिकित्सा से सम्बन्ध रखता है। इसमें भिन्न-भिन्न रोगों के मुक्त भोगी लोगों के अनुभव दिए गए हैं। विभिन्न लोगों की गवाही एक ही आदमी की गवाही की अपेक्षा अधिक मान्य होती है किन्तु एक चिकित्सक का क्रमबद्ध लेख अधिक उपयोगी। मिट्टी के सम्बन्ध में सम्पादक ने स्वयं अपने अनुभव दिये हैं।

यद्यपि यह ठीक है कि सन्दल का घिसना भी एक सरदर्द है और प्राकृतिक चिकित्सा भी रोग से कम कष्टकर नहीं है तथापि जहाँ तक भोजनों और उपवास के प्रयोग हैं वहाँ तक वे सर्व सुलभ हैं, मिट्टी के भी प्रयोग दुष्कर नहीं हैं। सादा फल, तरकारी प्रधान चोकर समेत मोटे आटे की रोटियों का भोजन सब अपना सकते हैं। मिर्च मसाले के स्वाद का भी बलिदान करना होगा। किन्तु लोग डाक्टरों और वैद्यों के चक्रव्यूह से (जिसमें एक बार घुस कर निकलना कठिन होता है) बच सकते हैं।

पुस्तक के पढ़ने से ऐसी धारणा बन जाती है। पुस्तक में कुछ विज्ञापन का सा ढङ्ग अवश्य है किन्तु अच्छी चीज का भी विज्ञापन करना पड़ता है। —गुलाबराय

आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी-भावना—लेखिका-शैलकुमारी, प्रकाशक-हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद। पृ० २६४, सजिल्द मूल्य ७)

पुस्तक प्रयाग विश्व विद्यालय द्वारा लेखिका का डी० फिल् के लिए स्वीकृत प्रबन्ध है। १२ अध्यायों में नारी के विभिन्न रूपों का जो १६००-४५ के बीच हिन्दी साहित्य में चित्रित किए गए, क्रमशः वर्णन हैं। भूमिका में नारी के प्रति भक्तिकालीन व रीतिकालीन कवियों के दृष्टिकोणों का उल्लेख है। नारी भावना की एक सीमा यदि भक्तिकालीन वैराग्य-काव्य में उपलब्ध है तो दूसरी चरम परिणित रीतिकालीन विलासमय काव्य में है, फिर भी लेखिका के मतानुसार दोनों विरोधी सीमाएँ केन्द्र में एक ही हैं। 'पूर्व पीठिका' में बताया है किस प्रकार २० वीं शताब्दी का काव्य नारी भावना की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है, इसके कारण व प्रेरणा श्रोतों को उन्होंने ७ शीर्षकों में बाँट दिया है।

१६००-१६२० 'संक्रांति युग' है जो नारी-भावना के प्राचीन व नवीन दो किनारों को मिलता है। १६२०-३७ 'परिवतन युग' है जिसमें नारी के सत् असत् रूपों है विकास हुआ तथा राष्ट्रीय समाज-सुधार से प्रेरित नारी भावना भी दिखायी पड़ी। १६३७-४५ को वे 'प्रगति युग' मानती हैं जिसमें एक ओर तो क्रान्तिवादी नारी भावना रही, दूसरी ओर उस पर पाश्चात्य मनोविश्लेषण का प्रभाव पड़ा। इसी का एक रूप 'नयी रोमांसवादी नारी भावना, भी है जिसमें 'नरेन्द्र', 'बच्चन' विशेष उल्लिखित हैं। लेखिका का विचार है कि इस प्रगति काल में नारी भावना अभी अपनी रूप-रेखा निश्चित नहीं कर पाई है। जिसका प्रधान कारण कवि की अस्थिर तथा अस्वस्थ मनोदशा है।

अन्त में 'सन्दर्भ ग्रन्थ' शीर्षक से सहायक सामग्री का विवरण भी प्रस्तुत कर दिया है जिसमें अभी तक की प्रत्येक आवश्यक सामग्री का उल्लेख है। विषय अपने साहित्यिक महत्व के साथ-साथ वर्तमान नारी-समस्या से भी सम्बद्ध है: अतः इसकी दृष्टि से अभी तक की प्रगति का ज्ञान होना अत्यन्त लाभप्रद है। शैली पर अँग्रेजी प्रभाव है। भाषा सरल है। कहीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी किया है जिनका अँग्रेजी रूप भी कोष्ठकों में दे दिया है। —त्रिलोचन पाण्डेय

कविता

'आँखों में'—लेखक-हरिकृष्ण 'प्रेमी', प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली। पृष्ठ ११०, मूल्य २)

प्रस्तुत कविता पुस्तक में भावों की विशृङ्खलता ही उसका प्रधान गुण कही जा सकती है। नाना प्रकार रस-सिक्त बूँदें कवि छिटकाता चलता है। वेदना, प्रेम, कसक और तज्जन्य मादकता का जीवन में प्रभाव स्वीकार करते हुए कवि कहता है—

> "किसके अन्तस्तल में भर दूँ,
> अपनी आँखों का सन्देश ?
> किसने इस जग में देखा है,
> मेरे प्रियतम का शुभ देश ?"

प्रेम की पीड़ा को ही प्रधानता दी गई है। संसार की विभीषिकाओं में ग्रस्त व्यक्ति इससे तृप्त हो जाय—यही वह चाहता है। मधुशाला, साक़ी का भी उल्लेख है, कहीं नेत्रों के नभ में बादलों के घुमड़ने का, कहीं 'साजन का दिया हुआ' सूनापन ही वरदान बन गया है। आद्योपांत कवि वेदना में सराबोर है। उसका अस्तित्व ही किसी कल्पना या छाया लोक में प्रतीत होता है। अन्त में भी उसकी कामना अतृप्ति की चाह है।

> "दुख से थके हुए प्राणों में,
> सिसका करे तरसती प्यास
> कई जन्म पूरे हों फिर भी,
> रहे अधूरे ही उच्छ्वास !"

वन्दना के बोल—लेखक-हरिकृष्ण 'प्रेमी', प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, पृष्ठ १२०, मूल्य २)

प्रस्तुत कविता संग्रह गान्धीजी के जीवन पर लिखा गया है। ६० कविताएँ हैं। गान्धी के अभाव से उत्पन्न घाव नहीं भरा जा सकता इसलिए कवि की बाँसुरी ने भी

वन्दना के बोल गाए हैं। अनेक स्थलों पर गांधी को महामानव या देवता के रूप में प्रतिष्ठा की गई है। कवि लगातार अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाता गया है। कहीं उन्हें 'पृथ्वी पर स्वर्ग का वरदान' कहा है और कहीं उन्हें 'चन्द्रमा सा मनमीत' कहा है। गांधी हिमालय की तरह अचल भी थे और सरिता की तरह तरल भी। एक स्थान पर चर्खे का सुदर्शन से गतिमय कहा है :—

"है अधिक गतिमय सुदर्शन चक्र से चर्खा तुम्हारा।"

कवि को गान्धी ही सर्वत्र पथ प्रदर्शक दिखाई देते हैं। उनके चरण-चिह्न (foot prints) दीपकों की तरह प्रकाशित हो रहे हैं। अन्त में कवि ने उनकी चिनगारी की याचना की है। कवि का हृदय भी केसर की तरह महक उठे। वह उनके रूप से अपनी निशानी झाँकता है तब कीर्ति गाथा भी पुरानी नहीं हो सकती। यह कवि का अखण्ड विश्वास है।

"कवि तुम्हारे गीत गाकर
कर रहा है धन्य वाणी!"

जलते तारे—लेखक-रघुवीरशरण 'मित्र', प्रकाशक-भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ। पृ० १०६, मूल्य २॥)

पुस्तक में लेखक की ३२ कविताओं का संग्रह है। आरम्भ में डा० रामकुमार वर्मा ने 'कुछ शब्द' के अन्तर्गत इसकी प्रशंसा की है—इनमें जीवन की शक्ति व साहस से ग्रहण करने की क्षमता है—'दृष्टिकोण' के अन्तर्गत कवि ने भी इसकी पृष्ठभूमि व मान्यताओं पर प्रकाश डाला है।

ऐवरेस्ट-विजेता 'तेनसिंह' का एक स्थान पर उल्लेख नवीन तुलनाओं के पक्ष का समर्थन करता है—

"लेकिन 'तेनसिंह' सा कोई चलने वाला—चलता चलता चोटी पर चढ़ ही जाता है।"

'ओज' गुण की प्रधानता है। 'आवेश', 'निराशा', 'खिन्नता' के दबे हुए स्वरों से यथास्थान कर्मठता की घोषणा की गई है। ऐसा लगता है कवि के जीवन में नहीं, आदर्शरूप में ही कर्मठता है। नाना प्रकार के भावों की व्यञ्जना अवश्य होती है किन्तु आद्योपांत किसी विशेष भाव का अस्तित्व नहीं मिलता। आग की घोषणा, क्रान्ति की पुकार मात्र से ही शैली में शक्ति नहीं आ पाती।

पुस्तक के विषय प्राचीन हैं, छन्द, लय, तुक विधान भी परम्परागत ही हैं। नव-निर्माण का उसमें प्रकाश नहीं मिलता। भाषा चलती हुई है। 'एकात्मा' कविता से 'पन्त' के 'परिवर्तन' का स्मरण हो आता है।

—त्रिलोचन पाँडे

कहानी

पृथ्वी से सप्तर्षि मण्डल—लेखक-श्री सम्पूर्णानन्द, प्रकाशक-प्रसाद परिषद, काशी। पृ० ७३, मू० १॥)

राज्य-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्दजी को हिन्दी-जगत् दार्शनिक तथा तत्त्ववेत्ता के रूप में जानता है पर ज्योतिष के आधार पर इस पुस्तक में एक कहानी कहने का प्रयास हुआ है। हिन्दी में एच० जी० वेल्स की शैली की वैज्ञानिक कहानियों का अभाव लेखक को खटका है। इसीलिए अन्य लेखकों का ध्यान आकर्षित करने के हेतु उन्होंने इस पर कलम चलाई है। यद्यपि "अपनी कमियों को मैं जानता हूँ, विज्ञान का पण्डित नहीं, कहानी लिखने की कला से सर्वथा अनभिज्ञ। पुस्तक भ्रामक भी हो सकती है और रोचक तो स्यात् नहीं ही होगी।"

(लेखक की भूमिका से उद्धृत)

सन् २०२८ में आज से पचहत्तर वर्ष बाद मरुत्वान् पृथ्वी से ऊपर सप्तर्षि-लोक में भ्रमण करता है। सन् २०३५ में सात वर्ष बाद कुछ नये अनुभव प्राप्त करके यह सकुशल पृथ्वी पर लौट आता है। दूरस्थ पिण्डों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की झलक देखी गई है। शनि के उपग्रह टाइटन पर होटल और पुलिस की चौकी रखी गई है। लेखक का दावा है कि तारों से उसे प्रेम है और आकाश-निरीक्षण का प्रेम पाठकों में उद्बुध करने की उनकी अभिलाषा है। मरुत्वान पर जाने वाले हैं चार मित्र—ज्योतिषी अद्वैतकुमार, प्राणिशास्त्र के डा० रमेशचन्द्र, इञ्जीनियर विमलादत्त तथा पं० गिरीशप्रसाद। इस उपन्यास में समय-समय पर इन मित्रों की वार्तालाप हुई है और अधिक स्थलों पर लेखक अपनी शैली में निबन्ध

लिखते से ही मालूम पड़ रहे हैं। अदृष्ट देश की काल्पनिक यात्रा को उपन्यासोपयुक्त रञ्जकता प्रदान कर सकना सम्पूर्णानन्दजी सदृश गम्भीर लेखक के वश का रोग नहीं है। पुस्तक उपन्यास क्या, निबन्ध शैली में लिखित भ्रमण-वृतान्त ही अधिक है। हिन्दी वालों का विशेषतः उपन्यास कहानी लिखने वालों का इस ओर ध्यान जाना आवश्यक है। किसी एक ही लोक की (भूलोक की नहीं) घटनाओं का विशद वर्णन होता तो उपन्यास कहीं अधिक रोचक बन सकता था। पूर्ण पुस्तक पढ़ने के बाद भी पाठक को कुछ ऐसा नहीं लगता जैसे वह अनेकानेक लोकों को देख कर आ रहा हो। लेखक के सामने चित्र (केवल विचार नहीं) 'प्रत्यक्ष' हो तभी तो पाठक उसका 'साक्षात्कार' कर सकता है। फिर भी पुस्तक कई दृष्टियों से अभिनन्दनीय है।

'चाकलेट'—लेखक-बेचन शर्मा 'उग्र', प्रकाशक-टण्डन ब्रादर्स, कलकत्ता, पृष्ठ १५६ मूल्य ३॥)

पुस्तक का विषय सामाजिक यथार्थ होकर भी साहित्योपयोगी नहीं माना जाता रहा है। किन्तु 'उग्र' जी ने इसे उपेक्षणीय नहीं समझा, क्योंकि यह समाज को विकृत कर देता है। अतः सुकुमार युवकों को सचेत करते हुए उन्होंने आठ कहानियाँ कही हैं या कहना चाहिए आठ घटनाओं को कहानी का रूप दे दिया है।

आरम्भ में प्रस्तुत विषय का लगभग ४० पृष्ठों में वैज्ञानिक विवेचन साहित्य भूषण श्री रामनाथलाल सुमन द्वारा किया गया है, जिससे पुस्तक का आधार पुष्ट हुआ है। गांधीजी ने भी पुस्तक का हेतु शुद्ध माना है। लेखक ने अमानुषी व्यवहार पर घृणा ही पैदा की है।

हिन्दुस्तान की कहानी—लेखक-श्री मुल्कराज आनन्द, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृ० मूल्य २)

इस पुस्तक में 'मोहनजोदड़ो' आदि की सभ्यता से लेकर गांधी की मृत्यु तक का भारतवर्ष का इतिहास एक सरल कहानी के रूप में लिखा गया है। पुस्तक मुख्यरूप में ६ वर्ष से १६ वर्ष तक के बालकों के लिए उपयोगी है जैसा लेखक ने 'भूमिका' में स्पष्ट कर दिया है।

इतिहास के प्रत्येक उन्नत युग में भारत ने एकता, सहनशीलता के आदर्शों की प्राप्ति की चाहे वह मौर्य युग हो, या गुप्तयुग या अकबर का समय। आज भी प्रेरणा वही हैं। बालकों को यह स्पष्ट बतलाने की चेष्टा की गई है कि किस युग में किन-किन प्रवृत्तियों की प्रधानता रही। अमुक घटना हुई तो क्यों हुई ? बीच में लेखों, पुस्तकों से उद्धरण भी दिए हैं। इससे रोचकता बढ़ी है। चित्रों द्वारा भी वक्तव्यों की पुष्टि की गई है। इस कारण सुबोधता आ गई है। भाषा बोल चाल की है जिसे बालक सुविधापूर्वक समझ सकते हैं।

पानी बोला—लेखक-श्री रामचन्द्र तिवारी-सिद्धि तिवारी। प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली। पृष्ठ १०८, सजिल्द मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखकों ने पानी की उत्पत्ति एवं उसके भिन्न भिन्न रूपों में परिवर्तित होने की वैज्ञानिक प्रक्रिया का, अत्यन्त सरल एवं सुरुचिपूर्ण भाषा में, कहानीकार की शैली में वर्णन किया है। विज्ञान जैसे नीरस विषय को बालकों की सरस रुचि के अनुकूल बनाने का यह अपने ढङ्ग का प्रशंसनीय प्रयास है। विद्वान् लेखकों ने बालकों की मनोवैज्ञानिक अवस्था का अच्छी तरह अध्ययन करके पानी की बूँदों विषयक उनकी औत्सुक्य प्रवृत्ति का समुचित समाधान किया है। शैली को ठीक वही रूप दिया गया है जैसा बूढ़ी दादी का बच्चों को कहानी सुनाने का होता है। सचित्र होने के कारण बच्चों को आकर्षित करने की क्षमता और भी बढ़ गई है।

—रामबाबू शर्मा एम० ए०

उपन्यास

व्यथा—ले०-श्री महावीरशरण अग्रवाल, प्रका०-श्री रघुवीरनारायण अग्रवाल, श्री मन्दिर कार्यालय १५. दरियागञ्ज, दिल्ली। पृष्ठ ८४, मूल्य १।)

"एक भारतीय नारी के कारुणिक जीवन का एक अश्रुमय चित्र......" के रूप में लेखक ने इस उपन्यास की घटनावली का विकास किया है। इसमें तीन युग्म हैं—मधु, अनिल, राधा-गोविन्द तथा मालिनी-शैलेन्द्र राधा चाहती थी अनिल को पर मुसलमान लड़की समझी

जाने के कारण अनिल उससे विवाह नहीं कर सकता। वह विदेशी सभ्यता में पली मधु को अपनाता है। मालिनी चित्रपट-तारिका है। ये पति-पत्नी आपस में सन्तुष्ट नहीं हैं। अनिल राधा की तरफ आकृष्ट है तो गोविन्द मधु की तरफ। गोविन्द मालिनी से भी आकृष्ट होता है। राधा-पुत्र राकेश तथा मधु-बाला पूनम के जोड़े की कल्पना की जाती है। राधा कष्ट सह कर भी दूसरों को सही रास्ते पर लाने का उद्योग करती रहती है पर अनिल से विवाह न हो सकने के कारण वह व्यथा-मूर्ति बनी रहती है। लड़कियाँ पहाड़ पर चलती गिरती रहती हैं। साथ के युवक उन्हें सँभालते रहते हैं जिससे इच्छा-अनिच्छा से विवाह-सम्बन्ध स्थापित होते दिखाये गये हैं। उपन्यास में न सहज स्वाभाविकता है, न नाटकीय तीव्रता। मधु-अनिल-पूनम जिस गाड़ी से जा रहे हैं उसकी निरर्थक सा दुर्घटना का बेकार वर्णन हुआ है। उपन्यास-कला के बारे में युवक लेखक को अभी बहुत कुछ सीखना है। थोथी सामाजिकता के पंजे में न आकर मन के आधार पर विवाह-सम्बन्ध होना चाहिए—इसी की ओर संकेत हुआ है।

चन्दा—लेखक-इन्द्र बसावड़ा, प्रका०-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृ० १९६, मू० ३॥=)

लेखक गुजरात के हिन्दी लेखक हैं। "चन्दा भारतीय ग्राम-जीवन के वातावरण में पली-बढ़ी एक गूँगी असहाय बाला की कथा है जिसे अन्ततः मानव की मूल सात्विक-प्रवृत्ति ने सामाजिक अनुबन्धों के भयङ्कर तूफान से बाहर ला खड़ा किया। उपन्यास सामाजिक कुरीतियों पर एक आशावादी की गहरी चोट है।" चन्दा एक गूँगी लड़की है जो बाबू राधेमोहन के घर में शरण पाती है। आश्रयहीन छटी कक्षा का विद्यार्थी गोपाल भी वहीं घर का होकर रहता है। गूँगी को वह घर में आने के पहले दयार्द्र होकर नाव में बिठा फल खिलाता है। गजानन पण्डित उसे इस हरकत के लिए डाँटते हैं और स्वयं गूँगी पर बल प्रयोग करते हैं जिससे वह गर्भवती हो जाती है। कथावाचक कर्मकाण्डी पण्डितों का प्रातिनिध्य करने वाले गजानन का इसमें अत्यन्त हीन चरित्र दिखाया गया है। इनकी दूसरी पत्नी सती से उनका पति-पत्नी सम्बन्ध नहीं हो पाता पर सती पति की सेवा में संलग्न रहती है। युवा सती के चरित्र का यह आदर्शात्मक विकास कुछ अस्वाभाविक-सा हो गया है। गूँगी और गोपाल अलग से रहते हैं पर दुनिया यही समझती है कि गूँगी के गर्भ गोपाल से रहा है यद्यपि ८-७ महीने तक घर वालों को जैसे कुछ पता ही नहीं। कलङ्क से बचने के लिए गोपाल अथाह पानी में कूद पड़ता है, उधर गूँगी भी निकल जाती है। अरण्य-बालिका पालू बहिन की छत्रछाया में गूँगी के प्रसव होता है और गोपाल उसे अपना लेता है। अविवाहित लड़की की सन्तान को हेय नहीं समझना चाहिये—हेय समझना चाहिये ऐसे कुकर्मी पण्डितों को जो धर्म की आड़ में जघन्य पाप करते रहते हैं। असहाय अवस्था में कुमारी के शिशु रह जाय तो कुमारी का क्या दोष? यह सब दिखाने के लिए ही चन्दा को जैसे गूँगी बनाया गया है, पर उसके गूँगी होने से उसके प्रति पाठक की कोई विशेष सहानुभूति नहीं होती—यह लेखक की कला की त्रुटि ही मानी जायगी। हार्डी के उपन्यास 'टैस' की इसमें छाया है। कथानक का मूल काफी पुराना हो गया है फिर भी सामाजिक रीतियों पर यह सफल आक्षेप है। सबसे आकर्षक चरित्र है चरित्र-हीन गजानन पण्डित का! पुस्तक संग्रहणीय है।

अपना पराया—ले०-कमलचन्द्रदास, प्रका०-ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना ४। पृष्ठ १०५, मू० १।)

लेखक ने इसे किशोरोपयोगी उपन्यास की संज्ञा दी है पर इसमें असम्बद्ध और विशृङ्खल घटनाओं का इतना घटाटोप है कि वयस्कों को भी कुछ रस प्राप्त नहीं हो सकता। संस्कृत-फारसी के शब्दों के युगपत् प्रयोग की कोशिश की गई है पर ऐसे शब्दों के जबर्दस्ती जमघट से शैली नाम की कोई चीज नहीं रह गई है। अहिन्दी भाषियों को इस तरह के नये शब्द सिखाने की चेष्टा ही। अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग किसी भी दृष्टि से उपन्यास में कुछ सार्थकता नहीं लगी। सुन्दर बाल-साहित्य की हिन्दी में अभी कितनी त्रुटि है।

गङ्गा-मैया—लेखक-भैरवप्रसाद गुप्त, प्र० राजकमल दिल्ली पृष्ठ संख्या १४३, मूल्य १॥=)

'वर्षों से लेखक 'माया' के सहकारी सम्पादक के रूप में कथा-प्रेमी पाठकों की उल्लेखनीय सेवा कर रहे हैं। आपके उपन्यास तथा कहानियाँ समाज के नव-निर्माण के लिए एक नवीन दिशा के द्योतक हैं।'

मानिक और गोपी दो किसान भाई हैं—बड़े हृष्ट-पुष्ट, पहलवान। वृद्ध जोखू पहलवान कुश्ती में गोपी से मारा जाता है। जोखू के गाँव वाले बदला लेने के लिए मानिक को मार डालते हैं। मानिक और गोपी का विवाह हुआ था दो सर्व सुन्दर, लावण्यमयी बहनों से। गोपी की भाभी विधवा हो जाती है। मार-पीट में गोपी को जेल हो जाती है; गोपी की स्त्री इस बीच में मर जाती है। सब के मन में आती है गोपी का भाभी से ही विवाह क्यों न हो जाय। कट्टर सामाजिक विरोध के बावजूद मटरू पहलवान की सहायता से एक नाटकीय ढङ्ग से देवर-भाभी का विवाह सम्पन्न कराया जाता है। देवर भाभी का प्रणय तो लोक प्रसिद्ध है ही। विधवा भाभी वैधव्य-कष्ट से मुक्त होने के लिए फिर देवर से विवाह ही क्यों न कर ले? हिन्दुओं की परम्परागत रूढ़ियों का अन्धानुकरण श्रेयस्कर नहीं यही इस उपन्यास का सन्देश है। विधवा-विवाह-वर्जन आज की परिस्थिति में सर्वथा अस्वाभाविक, हानिप्रद एवं पापजनक है। युवा विधवाओं का सन्निकट व्यक्तियों द्वारा पाणिग्रहण ही मुरझाये मनों को हरा करेगा—यही इसका सामाजिक प्रतिपाद्य है। घटनाओं का विकास इसमें सुघड़ है तथा चरित्रों की झाँकी मनोहर। भाषा चलती और सरस तथा उपन्यास सुपाठ्य एवं सग्रहणीय। लेखक इसके लिए बधाई के पात्र हैं। गंगा मैया के पास की धरती में सब फलते फूलते हैं—पेड़-पौधे ही नहीं, नर-नारी भी। यही शीर्षक की सार्थकता है।

महल और मकान—लेखक–श्री यज्ञदत्त एम० ए० प्रकाशक–.............. पृष्ठ सं० १८४, मूल्य ३)

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने देश-दशा का, देश की विगत कुछ वर्षों की प्रगति का, तथा प्रगति क्षेत्र में पूँजीवादी अनैतिक हथकण्डों का भण्डाफोड़ करते हुए मजदूर-वर्ग अथवा नैतिक बलशाली सहयोगी संघों द्वारा देश की सम्भाव्य उन्नति का प्रतिपादन करते हुये विश्व शाँति का मार्ग दिखाया है। इस प्रकार उपन्यास में यथार्थ का चित्रण करते हुये आदर्श की कल्पना की है। उपन्यास बौद्धिक होते हुये भी अत्यन्त मनोरञ्जक एवं सरस है। उपन्यास प्रगतिशील तत्वों से युक्त होते हुये भी केवल प्रोपेगण्डा नहीं कहा जा सकता।

रामबाबू शर्मा, एम० ए०

धर्म

वैष्णव-धर्म—लेखक–श्री परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक–विवेक प्रकाशन इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या १५६, मूल्य ३॥)

परशुराम चतुर्वेदी ने सन्त साहित्य पर पर्याप्त मात्रा में लिखा है। प्रस्तुत पुस्तक का सगुणोपासना से सम्बन्ध है। यह पुस्तक किसी विशेष साम्प्रदायिक भावना को लेकर लिखी गई है वरन् लेखक का दृष्टिकोण है ऐतिहासिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म का अध्ययन, वैष्णव धर्म का किस प्रकार वैदिक धर्म से उदय हुआ, उसका कर्मकाण्ड प्रधान धर्म श्रद्धा द्वारा भक्ति में परिणत होगया तथा विष्णु सूर्य, इन्द्र, नारायण आदि के रूप में होते हुए राम कृष्ण के रूप में आये, इन सब बातों पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि राम की अपेक्षा वैदिक साहित्य में कृष्ण का अधिक विशिष्ट रूप से उल्लेख हुआ है। यद्यपि इस ग्रन्थ में डाक्टर रामकृष्ण भण्डारकर तथा राय चौधरी आदि महानुभावों का अधिक आश्रय लिया गया है तथापि इसमें पाश्चात्य विद्वानों और उनके भारतीय अनुयायियों का अन्धानुकरण नहीं किया गया है। इसमें ऐसे मतों का जैसे कृष्ण भक्ति का आरम्भ भारत में अभीरों के आगमन अथवा ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव से हुआ है, निराकरण किया गया है। यद्यपि प्राचीनता वादी सनातन धर्म के हिसाब से महाभारत आदि ग्रन्थों को ईसा से पूर्व सातवीं या आठवीं शताब्दी का मानना एक विडम्बना है फिर भी इनकी कालक्रम में कहीं सीमा बाँधनी ही पड़ेगी। यह दूसरी बात है कि हम उसे और कुछ पहले ले जायँ। पुस्तक में वैष्णव धर्म की कृष्ण और राम से सम्बन्धित सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं, उनकी उपासना-पद्धतियों और उनके धार्मिक चिह्नों का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में मौलिक सामग्री तो अधिक नहीं है तथापि इसमें निष्पक्ष और सन्तुलित विवेचन की ओर रुचि है जिसका हम स्वागत करते हैं। यह पुस्तक भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बढ़ाने में विशेष रूप से सहायक होगी।

इतिहास

इतिहास की कहानी—लेखक-श्री मुल्कराज आनन्द, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। मू० २॥)

इस पुस्तक में १० अध्यायों में लेखक ने मनुष्य का क्रमशः विकास दिखाने की चेष्टा की है। सृष्टि के आरंभ से लेकर आज तक की स्थिति का वैज्ञानिक आधार देते हुए वर्णन किया है। पुस्तक का आधार डार्विन का विकासवाद है। किस प्रकार अग्नि का उपयोग सीखा गया, कैसे मिलें आदि कारखाने बने, कैसे कलाओं तथा उद्योगों का विकास हुआ—इन सब पर प्रकाश डाला गया है। सचित्र होने से पुस्तक उपयोगी बन गई है।

नृत्य सङ्गीत आदि का आरम्भ किस तरह हुआ, भाषा का जन्म कैसे हुआ—आदि विषयों पर लेखक ने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। लिपि तथा अक्षरों के विकास पर भी प्रकाश डाला है। साथ ही यूरोप, चीन, भारत आदि देशों में सांस्कृतिक उत्थानों का विवेचन करते हुए इन्सान के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उपस्थित की है। लेखक का विश्वास है कि यह "कहानी प्रकाश की किरणों को बिखेरेगी और घिरे हुए अन्धकार के आवर्त को चीरने में सहायक सिद्ध होगी।"

—त्रिलोचन पांडेय

प्राप्ति-स्वीकार

पञ्च वर्षीय योजना—लेखक—श्री बलराज एम० ए०, प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली। पृ० ४०, मूल्य ॥) आयोजन कमीशन की पञ्च वर्षीय योजना का संक्षिप्त विवरण।

भगवान महावीर और उनका मुक्ति मार्ग—लेखक-श्री रिषभदास रांका, प्रकाशक–भारत जैन महामंडल, वर्धा। पृ० ६०, मूल्य ।=) भगवान महावीर स्वामी को समझने के लिए जैन आगम सूत्र कृताङ्ग का सार।

चिनगारियाँ—लेखक-ताराचन्द एल० कोठारी, अनु०-जमनालाल जैन, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल, वर्धा। पृ० ३६, मूल्य ।=) धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं पर व्यंग्यात्मक लेख।

संयुक्त राज्य अमेरिका के बारे में कुछ तथ्य—वितरक-यूनाइटेड स्टेट्स इनफोर्मेशन सर्विस। अमेरिका के बारे में आँकड़ों सहित तथ्यों का सङ्कलन चित्रों तथा मानचित्रों सहित।

झाँसी की रानी (संक्षिप्त) एक अध्ययन—लेखक-प्रो० राजेश्वर गुरू एम० ए०, प्रकाशक–साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर। पृ० ६२, मूल्य १) 'झाँसी की रानी' पर संक्षिप्त आलोचनात्मक अध्ययन। परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

निबन्ध निचय—लेखक-बी० जे० तिवारी, प्रकाशक-विनय प्रकाशन मन्दिर, इन्दौर। पृ० ४४, मूल्य ।=) रासो रचयिता कवि 'चन्द', हिन्दी में भक्ति काव्य, हिन्दी की प्रेम गाथाएँ तथा रीतिकालीन कवियों की काव्य साधना—चार विषयों पर निबन्ध।

विदग्ध मञ्जरी—लेखक तथा प्रकाशक-रामआधारलाल 'विदग्ध' गढ़मलपूरी, बलिया। पृ० ४०, मूल्य ॥) 'विदग्ध' जी का आशाओं-निराशाओं से समन्वित कविता संग्रह। गीतों की विदग्धता कविजी के नाम को सार्थक बनाने में सफल हुई है।

कम्पिल गौरव—रचयिता-श्री सुरेन्द्रसागर जैन प्रचण्डिया, प्रकाशक–महावीर प्रकाशन, अलीगञ्ज, एटा। 'कम्पिल' गङ्गा तट पर जैनियों का एक तीर्थ स्थान है। इसी तीर्थ की गौरव गाथा इस पुस्तक में गाई गयी है।

श्रद्धाञ्जलि—रचयिता-श्री दीनबन्धु भट्ट, प्रकाशक-राष्ट्रभाषा सेवा मन्दिर-मण्डल, मेवाड़। मूल्य ≡)

'परख' की परख—सम्पा० चन्दूलाल दुबे, प्रकाशक–साहित्य सेवा सदन, बोरगाँव (जिला बेलगाँव) पृ० ३१, मूल्य ।≈) जैनेन्द्रकुमार के 'परख' उपन्यास पर लिखे गए कुछ लेखों का सङ्कलन।

पर्व की कथाएँ—लेखक-श्री कामताप्रसाद जैन, प्रकाशक-श्री महावीर प्रकाशन, अलीगञ्ज, एटा। पृ० ८०, मूल्य सदुपयोग। इसमें जैन धर्म के विभिन्न पर्वों पर पाठ करने के लिए बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से लिखी गई कथाएँ।

विंध्य-प्रदेश (शासन)—विन्ध्य-प्रदेश के शासन के विभिन्न पहलुओं पर ब्यौरेवार प्रकाश।

विंध्य-प्रदेश प्रशासन विवरण—यह विन्ध्य-प्रदेश की सरकार की सन् १६५२ की प्रशासन रिपोर्ट है।

विंध्य-प्रदेश विधान सभा—विन्ध्य-प्रदेश की विधान सभा के प्रथम अधिवेशन की कार्यवाही।

विंध्य-प्रदेश विद्युत प्रसार—विन्ध्य-प्रदेश में अब तक कितना विद्युत प्रसार हो चुका है तथा भावी योजना क्या है इसका पता इस पुस्तिका से भली भाँति चलता है।

विंध्य-प्रदेश के आदिवासी—विन्ध्य-प्रदेश के आदिवासियों के संस्कार, रीति-रिवाज और रहन-सहन, तथा उनके कल्याणार्थ किए गये सरकारी कार्य।

Dawn of Freedom—१५ अगस्त १६५३ के पुनीत अवसर पर विन्ध्य-प्रदेश की सरकार ने अपने राज्योन्नति के रूप में क्या-क्या किया है—इसका विवरण।

रजना—लेखक-श्री अनुरागी, प्रकाशक-अभिराम-प्रकाशन, नौधरा, कानपुर। पृष्ठ ५४ (छोटा साइज) मूल्य ॥।) कवि के सरस सवैयों का सङ्कलन।

मंजुलता—लेखक-श्री विद्याधर 'मंजु', प्रकाशक-प्रभात साहित्य कुटीर। पृष्ठ ३०, मूल्य ॥।) 'मंजु' जी के हृदयोद्गारों का सञ्चय।

चिर-संगिनी—लेखिका-स्व० कलिस्ता तिरस्की, प्रका०-श्री सिरील तिरस्की, 'अजेय' बड़ी टोली, रांची। पृष्ठ १६, मूल्य ।-) लेखिका की कुछ जीवनोपयोगी बातें।

पारिजात मंजरी—अनु० श्री अनन्तवामन वाकणकर, प्रकाशक-भोज प्रकाशन, धार। पृष्ठ ४० मूल्य १) संस्कृत नाटक पारिजात मञ्जरी का सरस एवं सुबोध हिन्दी भाषान्तर।

मुक्ति पथः एक विवेचन—लेखक-श्री तनसुखराय साहित्य रत्न, प्रकाशक-नव साहित्य-मंडल, सब्जी मण्डी, दिल्ली। पृष्ठ ६६, मूल्य ॥।) पं० इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्ति-पथ' का विवेचनात्मक अध्ययन। परीक्षार्थियों के लिए।

सूक्ति-सञ्चय—लेखक पं० गुरुनरायन सुकुल, प्रकाशक-तरुण भारत ग्रंथावली, दारागञ्ज प्रयाग। पृष्ठ ८८, मूल्य १) संस्कृत, हिन्दी एवं उर्दू और कहीं कहीं अंग्रेजी की मनोरञ्जक एवं नित्य जीवन के उपयोग में आने वाली सूक्तियों का संग्रह।

सदाचार दर्पण—लेखक-लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रकाशक उपर्युक्त। पृष्ठ ८४, मूल्य १) सदाचार सम्बन्धी विषयों पर उपयोगी लेखों का संग्रह।

पथिक का सपना—रचयिता-शिवलषण महतो 'विकट' प्रकाशक-श्री रामदेव सिंह, ग्राम भमन विगहा, पो० भैरव (गया) पृष्ठ ४३, मूल्य ॥=) कवि के जीवन-सम्बन्धी सपने !

धरती के गीत—रच० श्री जयशङ्कर त्रिपाठी, प्रकाशक कुमुद मुद्रणालय, प्रयाग। पृष्ठ ८०, मूल्य १) ग्राम्य शब्दों के सहारे ग्रामीण वातावरण का मार्मिक चित्रण। अन्त में कुछ लोक भाषा में भी हृदय-स्पर्शी गीत।

मृत्यु गीत—रच० आचार्य सारङ्ग शास्त्री, प्रकाशक-भाषा साहित्य परिषद, सोनपुर (सारन) पृष्ठ ३२, मूल्य ॥) कवि के व्यथा पूर्ण स्फुट गीतों का सङ्कलन।

योजना की प्रगति—सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, दिल्ली द्वारा प्रकाशित। योजना कमीशन द्वारा आयोजित प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अनुसार अब तक देश में क्या प्रगति हुई है—इसका आँकड़ों सहित वर्णन।

शङ्का-समाधान

(पृष्ठ २४८ का शेष)

१२—"मिश्र-बन्धुओं से जो हिन्दी के रत्न माने जाते हैं; क्या वे युक्ति संगत हैं ? अगर हैं तो क्या कबीर, देव, त्रिपाठी आदि के बराबर आधुनिक महाकवियों पंत, निराला प्रसाद आदि को स्थान नहीं दिया जा सकता ?" —श्यामदत्त त्रिपाठी इटावा।

——मिश्रजी का ६ रत्नों का वर्गीकरण पुराना हो गया है। अब यह मान्य नहीं है। पंत, निराला, प्रसाद आदि आधुनिक कवि भी महान हैं।

शङ्का-समाधान

'शङ्का समाधान' स्तम्भ के लिए हमारे पास इतने पत्र आने लगे हैं कि उन सब का उत्तर देना सम्भव नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि बहुत से लोग जिज्ञासा के लिए नहीं केवल कौतूहल के लिए प्रश्न लिखकर भेज देते हैं। ऐसी दशा में यह सूचित करना आवश्यक है कि शङ्कायें वे ही भेजी जायँ जिनका निराकरण पाठकों को पुस्तकों में न मिले। शङ्कायें बहुत सूक्ष्म में लिखी होनी चाहियें और एक से अधिक नहीं भेजी जानी चाहिए। समाधान के लिए जवाबी कार्ड या लिफाफा भी भेजना चाहिए अन्यथा कोई उत्तर नहीं दिया जायगा। साहित्य-सन्देश में स्थान के अनुसार उन्हीं शङ्काओं का समाधान किया जायगा जो सार्वजनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। —सम्पादक

१—"कामायनी के चिन्ता सर्ग में चिन्ता को मधुमय अभिशाप क्यों कहा गया है ?"

—पशुपति पांडे, अमौली

——चिन्ता दुःखों की सूत्रधारिणी है, अस्तु अभिशाप है, किन्तु वह मधुमय है क्योंकि वह मानव-मन में गति और आशा का स्पन्दन उत्पन्न करती है। चिन्ता जिसके कारण मनु आरम्भ में दुःखी थे और वह उन्हें अभिशाप लगती थी किन्तु उसी चिन्ता से मनु को अपनी स्थिति का भान हुआ, उनके मन में आशा का सञ्चार हुआ, श्रद्धा से उनका मिलन हुआ और वे नियामक मनु बन सके।

२—"सूरदास शब्द अन्धों के लिए सूरदास से पहले से प्रयुक्त होता था और वे अन्धे थे अतः सूरदास कहलाए या उनके बाद सूरदास शब्द अन्धों के लिए प्रयुक्त होने लगा।"

—श्रीधर भट्ट, मंगलूर (एस. के.)

——सम्भवतः इस शब्द का प्रयोग पहले से ही होता सा रहा था। भाषा विज्ञान में यह नियम है कि प्रायः बुरी बात के लिए अच्छे शब्दों का प्रयोग करते हैं जैसे मृत्यु को स्वर्गवास कहते हैं। इसी प्रकार अन्धों के लिए सूरदास शब्द का प्रयोग होने लगा। सूरदास ने स्वयं अपने लिए 'आँधरो' और 'सूरदास' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है—'सूरदास द्वारे ठाड़ो आँधरो भिखारी'।

३—"तुलसी नारी के प्रति बेहद उदार हैं या अनुदार ?"

—महेन्द्रप्रसाद, दरभङ्गा

——इस विषय पर नवम्बर के साहित्य-सन्देश में प्रकाशित 'तुलसी की नारी भावना' लेख पढ़िये।

४—"कबीरदासजी के शव की अन्त्येष्टि संस्कार के सम्बन्ध में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े होने पर उनके मृत शरीर के फूलों में परिणित हो जाने और उनके दोनों दलों में बाँट दिए जाने में तथ्य क्या है ?"

—जयनारायण अरुण, बिजनौर

——यह कहना तो कठिन है कि इस घटना में वास्तविकता का कितना अंश है किन्तु महत्ता बढ़ाने के हेतु प्रायः ऐसी किंवदन्तियाँ प्रचलित हो जाती हैं। इससे यह तो स्पष्ट होता ही है कि कबीरदास का मान हिन्दू और मुसलमान दोनों ही करते थे।

५—"सूरदासजी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने दोनों नेत्रों को काम-विकार का कारण समझकर फोड़ लिया था, इस किंवदन्ती में कहाँ तक तथ्य है ?"

—अर्जुनसिंह, आबूरोड

——सूरदास जन्मान्ध हों या किसी रोग से उनकी आँखें फूट गई हों पर अपने हाथ से उन्होंने अपनी आँखें फोड़ी थीं ऐसा इतिहास सम्मत नहीं प्रतीत होता, नहीं तो वे भगवान को उलाहना न देते—

"मित्र सुदामा कीन अयाचक, प्रीति पुरानी जानि,
सूरदास सों कहा निठुराई, नैनहूँ की हानि।"

नारी के रूप सौन्दर्य की आसक्ति से बचने के लिए आँख फोड़ लेने में कवित्व अधिक है वास्तविकता कम। 'काम लीन जन्म को अन्धो' का यही अर्थ हो सकता है कि वे कामान्ध भी थे और जन्मान्ध भी। उन्होंने अपने को एक जगह ५८ और 'दुइ विधि आँधरो' कहा है।

६—"लोकगीतों की सृष्टि कैसे होती है और उनके

विस्तार के क्या साधन ''

—गोविन्दसहाय वर्मा, लश्कर

——लोकगीतों की सृष्टि जनता द्वारा होती है और वही उसके विस्तार का साधन है। प्रायः गाँव का एक व्यक्ति गीत रूप में अपनी भावनाएँ व्यक्त करता है और गाँव वाले मिल कर उसे सुनते तथा गाने वाले मिलकर गाते हैं। उस गीत में जनता की परम्परा, रीति-रिवाज और अपनी भावनएँ होती हैं अस्तु वह आसानी से मकान कण्ठहार बन जाता है और एक के मुख से दूसरे के पास और दूसरे से तीसरे के पास चला जाता है और विस्तार बढ़ जाता है। प्रायः ऐसे गीत पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं और अनेक कवि उसमें अपनी पंक्तियाँ भी जोड़ देते हैं और तब वह एक व्यक्ति की कृति न रह कर अनेक की हो जाती है।

७—''लक्ष्मणजी ने कैकेयी के प्रति और पिता के प्रति भी कुछ औरमानजनक वाक्य कहे हैं (साकेत पृष्ठ ६१)। साके के प्रमुख पात्र लक्ष्मण के मुख से क्या ऐसे वचन शोभा देते हैं ?''

—रामप्रसाद 'भगत', पीर पैंती

——लक्ष्मण के चरित्र पर यह आक्षेप औरों ने भी किया है। किन्तु यह लक्ष्मण के उग्र चरित्र का परिचायक है। लक्ष्मण अपने भाई के आदर्श सेवक थे किन्तु इस आदर्शवाद में थोड़ा सामयिक यथार्थवाद का भी पुट है। तुलसीदास भी इस यथार्थवाद से नहीं बच सके। भरतजी भी थोड़े उग्र हो जाते हैं। गुप्तजी ने चरित्रों को यथार्थ बनाने का प्रयास किया है। लक्ष्मणजी के उग्र चरित्र को देखते हुए उनके कथन् युक्तिसङ्गत प्रतीत होते हैं।

८—''आधुनिक महाकाव्यों को महाकाव्य माना जा सकता है ? यदि हाँ तो क्यों और नहीं तो क्यों ? और किन आधुनिक काव्य-ग्रन्थों को महाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है ?''

—सरोजरञ्जनसिंह, मोतीहारी

——किसी कला कृति को समग्र रूप से शास्त्रीय लक्षणों में नहीं बाँधा जा सकता। रामायण भी पूरी तरह से महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों पर खरी नहीं उतरती फिर भी वह महाकाव्य है। और फिर साहित्य की मान्यताएँ भी बदलती रहती हैं। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों की कसौटी पर कस कर आधुनिक महाकाव्यों को महाकाव्य न कह देना उनके साथ अन्याय होगा। कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास आधुनिक प्रसिद्ध महाकाव्य हैं, और उन्हें शैली-विन्यास, कथानक तथा विचारों की महानता आदि की दृष्टि से महाकाव्य ही कहा जायगा।

९—''भगवान कृष्ण ने लीलार्थ जन्म ग्रहण किया था। गोपियों के साथ रासलीला और चीरहरण में उनके इसी मनोरथ की सिद्धि होती है—परन्तु न तो वह महाभारत में ही और न गीता में ही युद्ध में सक्रिय भाग (युद्ध में शस्त्र) नहीं लेते। जब वह स्वयं सक्रिय भाग नहीं लेते तो अर्जुन को उपदेश देने का महत्व क्या है ?''

—कु० स्नेह कपूर, उन्नाव।

——कृष्ण ने अर्जुन को कर्म का उपदेश दिया है। उनका 'रास लीला' रूप उसी व्यापक जीवन कर्म का एक अङ्ग है। कृष्ण के दो रूप थे—बाल रूप अर्थात् 'लीला' रूप और युवावस्था में वे लीला रूपी कृष्ण कर्मयोगी कृष्ण हो गए। उन्होंने भले ही स्वयं शस्त्र नहीं ग्रहण किया वैसे तो एक बार चक्र धारण किया भी था प [illegible] से विरक्त हो रहे अर्जुन को कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश कृष्ण ने युद्ध में दिया था जो मानव मात्र को कर्म का उपदेश था।

१०—''प्रेमचन्द जी के उपन्यास आदर्शवादी हैं या यथार्थवादी ?''

—अवधविहारीलाल, जालौन।

——प्रेमचन्दजी के उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं।

११—''प्रगतिशील साहित्य से क्या तात्पर्य है ? क्या वह प्रगतिवाद का रूपान्तर है अथवा प्रगतिवाद उसका अंश मात्र है ?''

—भुवनेश्वर प्रसाद, पानीपत।

——जो साहित्य समाज के नये जीवन के संघर्षों को गतिशील अभिव्यक्ति प्रदान् करता है उसे प्रगतिशील साहित्य व्यापक अर्थों में कहा जा सकता है। संकुचित अर्थ में उसे सर्वहारा वर्ग के हितों का मार्क्सवादी विचारधारा का साहित्य कहते हैं और प्रगतिवाद उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है।

(शेष पृष्ठ २४६ पर देखिये)

सन् १९५३ में प्रकाशित

हिन्दी साहित्य की नवीन पुस्तकों की सूची

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

आलोचना

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—गुलाबराय एम० ए० ६)
आधु० काव्य में सौन्दर्य भावना—कु० शकुन्तला एम-ए० ४)
कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत एम-ए. ७)
कविवर बिहारी—जगन्नाथदास रत्नाकर ६)
कवि आरसी की काव्य साधना—प्रताप साहित्यालङ्कार २॥)
काव्य श्री—भाग १ डा० सुधीन्द्र ।॥)
कविवर सेनापति उनका कवित्त रत्नाकर—
डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी १॥)
कामायनी दर्शन—कन्हैयालाल सहल ४)
कला— हंसकुमार तिवारी ५)
क्रिसन रुकमिणी-री वेलि—सं० नरोत्तमदास स्वामी ५)
चिन्तामणि दर्शन— हरिहरनाथ टण्डन ३)
छायावाद युग— शम्भुनाथसिंह एम. ए, ६॥)
निबन्धालोक— प्रो० राजेन्द्र शर्मा एम. ए. ४)
प्रेमचन्द— नन्ददुलारे वाजपेयी २।)
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ३॥)
[प्रा]चीन कवियों की काव्यभावना—प्रो० विजयेन्द्र स्नातक १॥)
[प्रेमचन्]द के उपन्यास और कहानियाँ—सुशीला देवी एम-ए. ३)
ब्रजभाषा के नवरत्न— कृष्ण कुमार सिन्हा २॥।-)
भाषा भारती— डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित २॥)
मंथन— जैनेन्द्र कुमार ५)
महाकवि सूरदास— नन्ददुलारे वाजपेयी ४)
वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास कला—
प्रो० रामचरण महेन्द्र १॥)
वेलि क्रिसन रुकमिणी री—आनन्द प्रसाद दीक्षित ५)
संत दर्शन—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ४॥)
साहित्य का श्रेय और प्रेय—जैनेन्द्रकुमार ७)
आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त—डा० एस-पी. खत्री ११)
हिन्दी साहित्य में भ्रमर गीत की परम्परा—
सरला शुक्ल एम० ए. ४)
सामयिक निबन्ध—प्रो० इन्द्र एम-ए० २।)
साहित्यावलोकन—विनयमोहन शर्मा ३)
सूरदास और उनका साहित्य—शान्ति स्वरूप गौड़ ३)
सूर का भ्रमर गीत साहित्य—सुरेशचन्द्र गुप्त एम. ए. १॥)
शैलियाँ—फूलचन्द जैन १॥)
हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद और उनके प्रवर्त्तक—
विश्वम्भरनाथ एम. ए. १॥)
हिन्दी का सामयिक साहित्य—विश्वनाथप्रसाद मिश्र ४)
हिन्दी साहित्य— डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ७॥)
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—डा० कमलकुल श्रेष्ठ ७॥)
हिन्दी के गौरव ग्रन्थ— संकलन २)
हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ— ,, २)
हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ— ,, २)
दक्षिणी हिन्दी—बाबूराम सक्सेना ३)
पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर गुप्त ६)
हिन्दुई साहित्य का इतिहास—अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ७)
आधु० हिन्दी साहित्य की भूमिका— ,, ,, ८)
साहित्य शिक्षा और संस्कृति—डा० राजेन्द्रप्रसाद ५)
प्रबन्ध सागर—यज्ञदत्त शर्मा ५॥)
मृगनयनी में कला कृतित्व—डा० सत्येन्द्र २।)
भारतेन्दु और उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कवि—
किशोरीलाल गुप्त एम. ए. ॥।)

हिन्दी कवियों की आलोचना—कृष्णकुमार सिन्हा ४॥)
साहित्य समीक्षाञ्जलि—डा० सुधीन्द्र ४)
व्यक्ति और वाङ्मय—प्रभाकर माचवे ७)
समीक्षा की समीक्षा— ,, ,, ५)
विवेचन—कन्हैयालाल सहल ३)
कबीर शाखी सुधा–प्रो० रामचन्द्र श्री वास्तव 'चन्द' ३=)
कर्म भूमि समीक्षा हरस्वरूप भार्गव १।।।)
कहानी कला और कलाकार—व्यथित हृदय २)
सूर प्रभा—डा० दीनदयाल गुप्त १॥)
शब्दों का जीवन—भोलानाथ तिवारी २)
आधुनिक कवियों की काव्य भावना–सुरेशचन्द्र गुप्त १॥)
अयोध्याकाण्ड एक अध्ययन—रामखेलावन चौधरी १)
वाद समीक्षा—कन्हैयालाल सहल ।।।)
हिन्दी काव्य शास्त्र—आचार्य शान्तिलाल बालेन्द्र ४)
आधुनिक तीन महाकाव्य—भारत भूषण सरोज ३)
साहित्यकी—शचिरानी गुर्टू ५)
हिन्दी साहित्य की कहानी—रामरतन भटनागर ३॥)
उद्धव शतक मीमांसा—कृष्णचन्द्र वर्मा २॥)

कविता

अपलक—बालकृष्ण शर्मा नवीन ३॥)
क्वासि—बालकृष्ण शर्मा नवीन ३॥)
अग्नि शस्य—नरेन्द्र २॥)
चाँदनी रात और अजगर—उपेन्द्रनाथ अश्क ३।)
ठण्डा लोहा—धर्मवीर भारती ३)
द्रौपदी विनय अथवा करुण शतरी—
सम्पादक—कन्हैयालाल सहल ।।।)
बदली की रात—वैरागी ३)
मनवन्तर—शम्भूनाथसिंह २)
मेघमाला—श्यामबिहारी शुक्ल २॥)
राजधानी के कवि—शिवदानसिंह चौहान ३)
माता—माखनलाल चतुर्वेदी ४॥)
उत्तरा—सुमित्रानन्दन पन्त ५)
रजत शिखर— ,, ,, ५)
रामराज्य—पं० हरीशङ्कर शर्मा १।।।)
सोपान—बच्चन ५)

शङ्कर सर्वस्व—संपा० पं० हरिशङ्कर शर्मा २॥)
हिमाञ्चला—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल २।)
भक्ति कवि व्यासजी—वासुदेव गोस्वामी ६)
सूर–बालकृष्ण पदावली—प्रभुदयाल मीतल ३॥)
सूर–रामचरित— ,, ,, १॥)
सूर–विनय-पदावली— ,, ,, २॥)
देवार्चन—करील ५)
सन्त-सुधासार—वियोगी हरि १॥)
रुबाइयात उमर खैयाम—मैथिलीशरण गुप्त १)
नज़ीर की बानी—फिराक गोरखपुरी २॥)
जञ्जीरें टूटती हैं— ,, ,, २॥)

कहानी

अवध की शाम—ख्वाजा अहमद अब्बास २॥)
इंसान के रूप—यशोविमलानन्द १।)
चील और चट्टान—करतारसिंह दुग्गल ४)
चिराग तले—ख्वाजाअहमद अब्बास २॥)
जीवन के मोड़—महावीर अधिकारी ३)
जुदाई की शाम का गीत—उपेन्द्रनाथ अश्क २।।।)
टूटी चूड़ियां—सुशीला शर्मा १॥)
निशा गीत—अनन्तगोपाल सेवड़े ३)
पानी बोला—रामचन्द तिवारी २।)
पांच रुपये की आजादी—कृष्णचन्द २॥)
बया का घोंसला और सांप—लक्ष्मीनारायणलाल ३॥)
बैंगन का पौधा—उपेन्द्रनाथ अश्क)
मेरा बेटा मेरा दुश्मन—ख्वाजाअहमद अब्बास ३।।।)
शिमले की क्रीम—वीरेन्द्र मेहदीरत्ता २।)
हिन्दुस्तान की कहानी—मुल्कराज आनन्द २)
इंसान की कहानी— ,, ,, २।।।)
उपनिषद कथा—सुधीरकुमारदास गुप्त १॥)
कारावास—श्री यश २)
कुछ पैसे—रामशरण शर्मा १।)
चित्र का शीर्षक—यशपाल २)
फूलों का कुर्ता— ,, २)
हिन्दी साहित्य की अंतर्कथाएँ—भोलानाथ तिवारी २॥)
हिन्दी की श्रेष्ट कहानियां–डा० गोविन्द त्रिगुणायत ३॥)

राजस्थानी रनिवास—राहुल ५)
चतुरंग—रवीन्द्रनाथ टाकुर १॥)
दो बहनें— ,, ,, २॥।)

उपन्यास

अन्धेरे के जुगुनू—डा० रांगेयराघव ५)
चोर की प्रेमिका—कृष्णमूर्ति कल्कि ४)
नये मोड़—उदयशङ्कर भट्ट ३॥)
परेड ग्राउण्ड—हंसराज रहबर १॥)
पतझार—भगवतीप्रसाद वाजपेयी ५)
मृग जल—अनन्त गोपाल सेवड़े ५)
गङ्गा मैया—भैरवप्रसाद गुप्त १॥।=)
चन्दा—इन्द्र बसावड़ा १॥।=)
जीवनदान—श्रीराम शर्मा राम १॥।=)
कायर—राजेन्द्र शर्मा १॥।=)
आदमी और सिक्के—महेन्द्रनाथ १॥।=)
बलि का बकरा—मन्मथनाथ गुप्त ३)
महल और मकान—यज्ञदत्त शर्मा ३)
मधु—यज्ञदत्त शर्मा ३)
व्यथा—महावीरशरण अग्रवाल १।)
रहस्यमयी—रिषभचरण जैन २)
विवर्त—जैनेन्द्रकुमार ४।)
वार्ड नं० ६—चैखव २)
व्यतीत—जैनेन्द्रकुमार ३॥)
सूरज का सातवां घोड़ा—धर्मवीर भारती १॥)
सुबह के भूले—इलाचन्द जोशी ५)
हिज एक्सलेंसी—अनु. उपेन्द्रनाथ अश्क २॥)

अपराजिता—चतुरसेन शास्त्री २)
अधूरा स्वप्न—अनु. प्रकाश पण्डित ६)
चोली दामन—कर्तारसिंह दुग्गल ३॥)
तूफान की कलियाँ—कृष्णचन्द्र ६)
प्रवञ्चना—गुरुदत्त ५)
नये नगर की नई कहानी—रावी १)
पैरों में पङ्ख बाँध कर—रामवृक्ष बेनीपुरी ४॥)
बीज—अमृतराय ४॥)

चक्की—मन्मथनाथ गुप्त ३।)
जब खेत जागे—कृष्णचन्द्र २॥।)
अमर बेल—वृन्दावनलाल वर्मा ५)
प्रेत बोलते हैं—राजेन्द्र यादव ४)
पाथेय—अनीता चटोपाध्याय ३॥)
नीलम की अँगूठी—विभूतिभूषण मुखोपाध्याय ४)
चाकलेट—बेचनपांडे शर्मा उग्र ३॥)
घेरे के भीतर—जगन्नाथदास गुप्त २)
रथ के पहिए—देवेन्द्र सत्यार्थी ५॥)
फुलवाड़ी—रवीन्द्रनाथ ठाकुर २॥।)

नाटक

अन्धकार और प्रकाश—उदयशङ्कर भट्ट २॥)
एकाङ्की समुच्चय—जयनाथ नलिन ३)
चन्द्रावली नाटिका—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय १॥)
भारत-दुर्दशा— ,, ,, १॥)
बादलों के पार—हरिकृष्ण प्रेमी ३)
मानिनी गोपा—हरीनारायण मैंदवाल २।)
कृष्ण वियोगिनी— ,, ,, १॥)
मानव-प्रताप—देवराज दिनेश २)
सफर की साथिन—रामशरण शर्मा १॥।)
सगर-विजय—उदयशङ्कर भट्ट २)
जीवन और सङ्घर्ष— ,, ,, ३)
नशे नशे की बात—यशपाल २॥)
युग छाया—शिवदानसिंह चौहान २॥)
पग ध्वनि—चतुरसेन शास्त्री २॥)
पैसा परमेश्वर—रामनरेश त्रिपाठी ३)
वितस्ता की लहरें—लक्ष्मीनारायण मिश्र १॥)
पर्दे के पीछे—उदयशङ्कर भट्ट ३)
नटी की पूजा—रवीन्द्रनाथ टाकुर २)
क्रान्तिकारी—उदयशङ्कर भट्ट १।)

सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक

हर्ष-चरित—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ६॥)
शिशुपाल वध—रामप्रताप त्रिपाठी ८)
कालिदास ग्रन्थावली—सं० सीताराम चतुर्वेदी ३०)
अभिनव नाट्य-शास्त्र— ,, ,, १५)

रतीय संस्कृति में आर्येतरांश—शिवशेखर मिश्र २॥)
रतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी ५)
ादि भारत—प्रो० अर्जुन चौबे 'कश्यप' ११)
रतीय संस्कृति और इतिहास भाग १—
सत्यकेतु विद्यालङ्कार ४॥।)
" " " भाग २—" २।)
। मध्यकालीन भारत—डा० वासुदेव उपाध्याय ६)
ारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास—
गुरुमुख निहालसिंह १०)
ारत का चित्रमय इतिहास भाग १—महावीर अधि० ६)
ारत का प्राचीन इतिहास—सत्यकेतु विद्यालङ्कार १०)
शिया का आधुनिक इतिहास भाग १—" ६॥)
स्कृत साहित्य का सुबोध इति०-रामविहारीलाल शास्त्री २॥)
ारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव—मन्मथराय २॥)
न्दर्य शास्त्र—डा० हरद्वारीलाल शर्मा ३)
ारा सांस्कृतिक साहित्य-प्रो० जगन्नाथराम शर्मा ३॥।)

राजनीति

हि की दीवार के दोनों ओर—यशपाल ७)
पू का सपना—नर्वदेश्वर ॥।)
स्को में तीन वर्ष—वाल्डर वैडल स्मिथ १॥)
ातंक से दूर—अलेक्जेन्डर वामीन १॥)
शा संघर्ष—पेनिंग्टन हेलि १॥)
थी निर्भीक योजना—विलर्ड आर. एस. पी. १॥)
ोक तन्त्र—ओमर गासलिन १॥)
जवेल्ट के संस्मरण—जान ग्रन्थर १॥)
ारतीय राष्ट्रीयता—देवदूत विद्यार्थी १॥।)
स में बेगारी—डेविडजे जलिन १॥)
न्न और आजादी—एडवर्ड जैराण्डाइज १)
ाधुनिक यूरोप का राजनीतिक दर्शन-श्यामसुन्दरदास २)
ाजनीति शास्त्र—डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ६॥)

जीवनी

परिव्राजक की प्रजा—शान्तिप्रिय द्विवेदी ३॥)
मेरा बचपन—रवीन्द्रनाथ ठाकुर २)
कलकत्ता के उर्दू कथाकार—बरुआ। २॥)
कलकत्ता के हिन्दी कथाकार— " २॥)

धर्म और दर्शन

विश्व धर्म दर्शन—सांवलिया बिहारीलाल शर्मा १३॥)
यूरोपीय दर्शन—
स्व. महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ३)

कोश

वृहद् हिन्दी-शब्द कोश—सं०-कालिकाप्रसाद,
राजवल्लभ सहाय, मुकन्दीलाल श्रीवास्तव २०)
पारिभाषिक शब्द कोश—मुकन्दीलाल श्रीवास्तव ४)
हिन्दी-मुहावरा-कोश—भोलानाथ तिवारी ७॥)
कोश-कला—रामचन्द्र वर्मा १॥)
ब्रजभाषा सूर-कोश—४ भाग—दीनदयाल गुप्त १२)

भ्रमण

हिमालय-परिचय—राहुल १०)
शिवालक की घाटियों में—विद्यानिधि सिद्धान्तालङ्कार ५)
माओ के चीन में—देवव्रत २॥)
माओ के देश में—रामआसरे १)
यात्रा के पन्ने—राहुल ६)
खण्डहरों का वैभव—मुनिकान्त सागर ६)
वो दुनियाँ—भगवतशरण उपाध्याय ४)
अरे यायावर रहेगा याद—वात्स्यायन ६)
आँखों देखा रूस—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार २)
यूरोप—देवेशचन्द्र दास ३)

बालोपयोगी पुस्तकों की सूची मुफ्त मँगायें

समस्त हिन्दी की पुस्तकों के मिलने का एकमात्र स्थान—

साहित्य-रत्न-भण्डार, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

REGD. No. A. 263. DECEMBER, 1952 LICENSE No.
Sahitya Sandesh, AGRA. Licensed to post without Prepayment

परीक्षार्थी-प्रबोध (भाग ४)

प्रकाशित हो रहा है

'परीक्षार्थी-प्रबोध' के अब तक तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और उनकी उपयोगिता के कारण हिन्दी संसार ने इन्हें खूब अपनाया है। प्रबोध का चतुर्थ भाग गत वर्ष ही छप जाना चाहिए था, पर समय पर उसकी पूरी तैयारी न हो सकने के कारण ऐसा न हो सका। अब इस भाग का सम्पादन हो चुका है और पुस्तक छप रही है। आशा है २० दिसम्बर से पूर्व ही पाठकों के हाथों में पहुँच जायगी।

पाठकों को ज्ञात है कि परीक्षार्थी-प्रबोध में साहित्य-सन्देश के पुराने वर्षों के उत्तमोत्तम लेखों को छांट कर संग्रह किया जाता है। चतुर्थ भाग में ऐसे ही लेखों का संग्रह किया गया है। इस भाग के सम्पादन में इस बात का ध्यान विशेष रूप से रक्खा गया है कि अधिकतर वे लेख आवें जो एम. ए. या साहित्य-रत्न आदि परीक्षाओं के लिए उपयोगी होंगे। इन परीक्षाओं में नियत पाठ्य-पुस्तकों पर भी लेख इसमें मिलेंगे। कुछ लेख ऐसे भी हैं जो अभी तक कहीं नहीं छपे हैं, जो केवल इसी पुस्तक के लिए विशेष रूप से लिखाये गये हैं। पुस्तक में कौन-कौन से लेख हैं यह पाठकों को अन्यत्र छपी विषय-सूची से स्पष्ट हो जायगा।

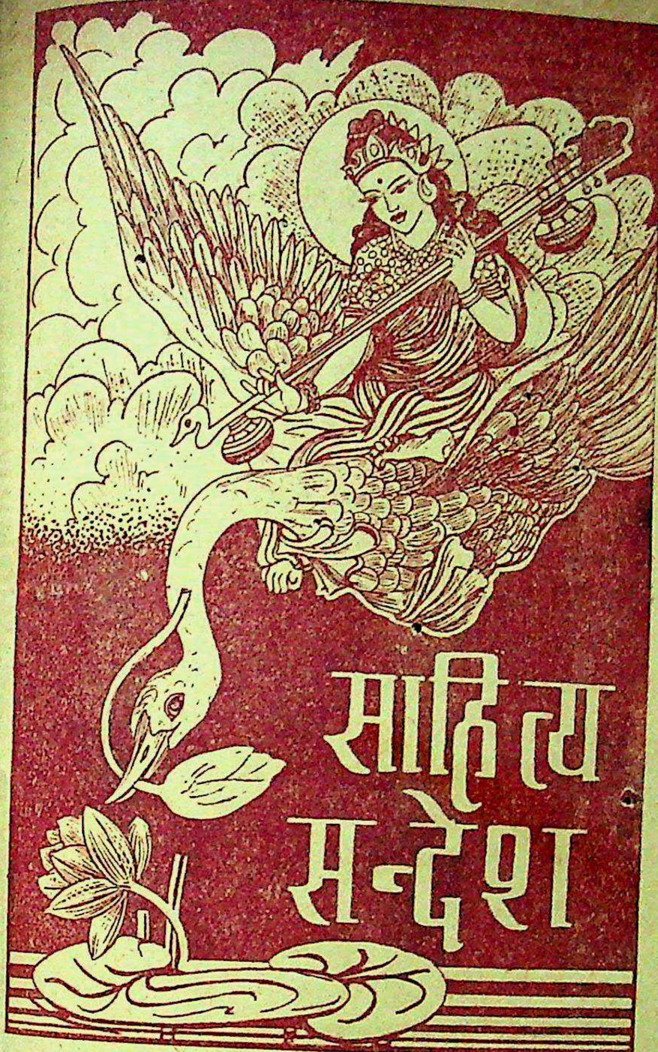
साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य में

परीक्षार्थी-प्रबोध हमारे सभी पाठकों के लिए उपयोगी पुस्तक है और हम चाहते हैं कि वह सब के यहाँ रहे। इसलिए हम उसे अपने ग्राहकों को पौने मूल्य पर देते हैं। चौथे भाग का मूल्य भी ३) होगा। लेकिन हमारे ग्राहकों को यह पुस्तक २।) में मिलेगी। पोस्टेज खर्च अलग होगा। पोस्टेज और वी० पी० खर्च में किफायत करने के लिए इस बार हमने तय किया है कि कई ग्राहक चाहें तो एक साथ भी इस पुस्तक को मँगा सकेंगे। इससे रजिस्ट्री, वी० पी० तथा मनीआर्डर का खर्च अलग-अलग न लगेगा। अगर कोई ग्राहक एक प्रति से अधिक भी मँगाना चाहेगा तो हम अधिक प्रति भी इसी रियायत के साथ भेज देंगे।

चारों भाग एक साथ

परीक्षार्थी प्रबोध के चारों भाग एक साथ लेने पर मूल्य तो पौना होगा ही, हम पोस्टेज की भी रियायत कर देंगे। परन्तु यह रियायत उन्हीं सज्जनों को मिल सकेगी जिनका ९) का मनीआर्डर हमें ३१ दिसम्बर तक मिल जायगा। इस भाग की माँग बहुत ज्यादा है। ऐसी दशा में पाठकों को अपनी प्रति सुरक्षित करवा लेनी चाहिए।

साहित्य-रत्न-भण्डार, ४, गांधी मार्ग, आगरा।



सम्पादक
श्री गुलाबराय एम० ए०
डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक
साहित्य-प्रेस आगरा।





वर्ष १५ अङ्क ७–८

[वार्षिक मूल्य ४)] आगरा–जनवरी-फरवरी १९५४ [इस अङ्क का मूल्य

'साहित्य-सन्देश' के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।
३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।
६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।
७. साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

'आधुनिक काव्याङ्क' की विषय-सूची

कुछ उपयोगी आलोचनात्मक प्रकाशन

गुप्तजी की कला—डा० सत्येन्द्र, एम० ए०। इस ग्रंथ में विद्वान लेखक ने वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से श्री मैथिलीशरण गुप्त की कला के संश्लिष्ट सौन्दर्य का विश्लेषण किया है। मूल्य २)

साहित्य की झाँकी—डा० सत्येन्द्रजी की यह प्रसिद्ध पुस्तक है, जिसमें हिन्दी साहित्य के प्रमुख कलाकारों और समस्याओं पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है और हिन्दी साहित्य में कई नई उद्भावनायें की हैं। पुस्तक का चतुर्थ संस्करण अभी हुआ है। मूल्य १॥)

रसज्ञ-रंजन—ले० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। इस ग्रंथ में आचार्य द्विवेदीजी के महत्व-पूर्ण साहित्यिक लेख संग्रहीत हैं, जिससे साहित्यिक विषयों पर आचार्य द्विवेदीजी के उपयोगी विचार ज्ञात होते हैं। मूल्य १)

साकेत : एक अध्ययन—ले० डा० नगेन्द्र। इस ग्रंथ में राष्ट्रकवि डा० मैथिलीशरणजी गुप्त के प्रसिद्ध ग्रंथ 'साकेत' का अध्ययन और विवेचन हुआ है। साकेत के काव्य-सौष्ठव को हृदयङ्गम करने के लिये पुस्तक का पढ़ना आवश्यक है। मूल्य २॥)

हिन्दी गीति-काव्य

संशोधित-संस्करण—इसी महीने में प्रकाशित हो रहा है।

लेखक—प्रो० ओमप्रकाश अग्रवाल एम० ए०।

यह पुस्तक विशेषकर हिन्दी गीति-काव्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के लिए लिखी गई है, इसमें हिन्दी के गीति-काव्य तथा कवियों का परिचय निष्पक्ष रूप से किया गया है। विषय प्रवेश से गीति-काव्य की विशेषताएँ तथा सङ्गीत और विकास और तुलनात्मक सारांश रूप रेखा प्रस्तुत करते हुए आदि-काल से लेकर आधुनिक काल तक २३ प्रमुख गीति-काव्य के कवियों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। जहाँ आवश्यकता हुई है वहाँ आवश्यक उदाहरण भी दिये गये हैं। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह गीति-काव्य अमूल्य निधि है।—मूल्य ३)

लिपि विकास—ले० श्री राममूर्त्ति मेहरोत्रा, एम० ए०। इस छोटी सी पुस्तक में लेखक ने लिपि के ऐतिहासिक विकास की विविध सम्भावनाओं पर विचार करते हुए उनका तुलनात्मक विवेचन किया है। पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। मूल्य ॥) मात्र।

कालिदास और उनका रघुवंश—ले० प्रो० रामप्रसाद, एम० ए०। कवि-कुल-गुरु महाकवि कालिदास के जीवन पर ऐतिहासिक आलोक डालने के साथ ही इस पुस्तक में उनके ग्रन्थों का भी मूल्याङ्कन व परिचय कराया गया है। कालिदास को समझने के लिये पुस्तक आवश्यक है। मूल्य १)

प्रसादजी की ध्रुवस्वामिनी—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा। यह हमारा नवीनतम प्रकाशन है जो अभी छपकर तैयार हुआ है। प्रसादजी के अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी का इसमें सुबोध शैली में मूल्याङ्कन और अध्ययन है। मूल्य १)

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का प्रमुख स्थान—

साहित्य-रत्न-भण्डार, ४ महात्मा गांधी रोड, आगरा।



भाग १५]　　आगरा—जनवरी-फरवरी, १९५४　　[अङ्क ७-८

हमारी विचार-धारा

हमारा यह विशेषाङ्क—

'साहित्य-सन्देश' का यह विशेषाङ्क 'आधुनिक काव्याङ्क' के नाम से पाठकों की भेंट करते हुए हमें हर्ष भी है और खेद भी है। हर्ष तो इस बात का है कि हम इसमें जो बातें देना चाहते थे, वे अपने विद्वान् लेखक महानुभावों की अपार अनुकम्पा से देने में सफल हुये और हिन्दी के पाठकों के लिए वह सब सामग्री संजो सके हैं जो उनके बड़े काम की है और जिससे आधुनिक काव्य की गति-विधि का विहङ्गावलोकन संक्षेप में पूर्णता के साथ इस अङ्क से कर सकेंगे। खेद इस बात का है कि हम इसे अपनी इच्छानुसार १ फरवरी को नहीं निकाल सके और वे सब लेख हम इस अङ्क में नहीं दे सके जिन्हें हमने बड़े प्रयत्न और परिश्रम से विशेषरूप से लिखवा कर संग्रह किया था। कई लेख तो बहुत ही उपयोगी होने पर भी स्थान संकोच के कारण नहीं छापे जा सके। उनके लेखकों से जिनसे हमने बड़े आग्रह से यह लेख लिखवाये थे हम नत-मस्तक होकर क्षमा याचना करते हैं।

यह अङ्क कैसा बना है इसका निर्णय करना पाठकों पर निर्भर है। वे ही इसका मूल्याङ्कन करेंगे। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि हमने इसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने में कोई कसर नहीं रक्खी है और हमारा विश्वास है कि साहित्य-सन्देश के विशेषाङ्कों की लड़ी में इसका भी वही मूल्यवान स्थान होगा। अङ्क में जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

परिशिष्टाङ्क—

आधुनिक काव्याङ्क में छपने से जो लेख रह गये हैं उन्हें हम धीरे धीरे अगले अङ्कों में छापेंगे। पर उसका अगला अङ्क यानी मार्च का अङ्क इस विशेषाङ्क का परिशिष्ट होगा। उसमें भारतीय और विदेशी भाषाओं के आधुनिक काव्य की चर्चा होगी। यह अङ्क बड़ा महत्त्वपूर्ण होगा। हम यह सब सामग्री इसी अङ्क में देना चाहते थे परन्तु स्थान और समय के अभाव से वह सम्भव नहीं था। अतः अगले अङ्क में यह सब सामग्री दी जावेगी। परिशिष्टाङ्क में जो लेख छपेंगे उनकी सूची निम्न भाँति है—

१—अँग्रेजी काव्य की आधुनिकतम प्रवृत्तियाँ—
प्रो० नागरमल सहल एम० ए०

२—आधुनिक अँग्रेजी काव्य की समकालीन प्रवृत्तियाँ—
श्री अनन्तकुमार पाषाण एम० ए०

३—सोवियट काव्य की आधुनिक प्रवृत्ति—
प्रो० दशरथ झा० एम० ए०

४—आधुनिक मराठी काव्य का क्रमिक विकास—
प्रो० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे एम० ए०
५—आधुनिक गुजराती कविता—
प्रो० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम० ए०
६—आधुनिक पञ्जाबी कविता—
डा० हरदेव बाहरी एम० ए०, पी-एच० डी०
७—उर्दू काव्य की नयी प्रवृत्तियाँ—
श्री कैलाशबिहारी 'मौज'
८—आधुनिक असमिया काव्य—एक झाँकी—
श्री गोपाल चन्द्र महन्त
९—आधुनिक मणिपुरी काव्यों का विहंगावलोकन—
श्री मणिरत्ना शर्मा शास्त्री, रा० भा० र०
१०—आधुनिक उड़िया साहित्य की एक झलक—
श्री बनमालीदास
११—तेलुगू काव्य की आधुनिक-धारा—
श्री वी० एल० नारायणाचारी
१२—आधुनिक तमिल काव्य धारा—
श्री पी० बाल सुन्दरम्
१३—मलयालम कविता का संक्रान्ति काल—
श्री के० एस० वी० शेषाद्री, एम. ए., एल एल. बी.

बङ्गाली और कन्नड़ भाषाओं के लेख अभी तक हमें नहीं मिल पाये हैं। आशा है उनके लेखक भी शीघ्र ही हम पर कृपा कर अपने लेख भेजने की कृपा करेंगे। इस प्रकार मार्च का अङ्क सभी भारतीय भाषाओं की आधुनिक काव्य-प्रगति का परिचय कराने में सफल होगा। हमारा विश्वास है कि आधुनिक काव्याङ्क के बाद इस परिशिष्टाङ्क की भी पाठक बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे।

पाठकों से निवेदन—

इस अवसर पर हम अपने पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे 'साहित्य सन्देश' को अपना पत्र समझ कर, साहित्य का सेवक और विद्या-व्यसनियों का अद्वितीय हितू समझ कर और सारे भारत में हिन्दी का साहित्यिक ज्ञान-वर्द्धन करने वाला अपूर्व साधन समझकर उसे अपना स्नेह का पात्र बनावेंगे। हम चाहते यह हैं कि वे स्वयं उसको पढ़ें और अपने मित्रों में उसकी चर्चा करते रहें।

उत्तर प्रदेशीय सरकार के पुरस्कार—

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने इस वर्ष भी हिन्दी लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ पुरस्कार दिए हैं। अभी १५ हजार रुपए के पुरस्कारों की पहली सूची निकली है, सम्भवतः एक दो सूची और निकलें। इस बार पाँच पुरस्कार पांडु लिपियों पर दिए गए हैं। चार ५००) के एक ३००) का। पाँच-पाँच सौ के तीन पुरस्कार संसदीय नियम और पद्धतियों सम्बन्धी पुस्तकों पर हैं और एक पुरस्कार ज्योतिष सम्बन्धी पुस्तक पर—

१—विधान सभा की कार्यप्रणाली—श्री गिरजाशंकर जोशी
२—संसदीय पद्धति—श्री परमात्माशरण पचौरी
३—संसद और ससदीय प्रक्रिया—श्री परिपूर्णानन्द पैनुली
४—भारतीय ज्योतिष—श्री नेमिचन्द्र जैन शास्त्री

इनके अतिरिक्त १५ पुरस्कार और हैं जिनमें एक हजार और एक हजार से ऊपर के केवल चार हैं:—

१—हर्ष चरित्र—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
२—क्वासि, अपलक, रश्मिरेखा—पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
३—वेद-धरातल—श्री गिरीशचन्द्र अवस्थी
४—शूद्रक—पं० चन्द्रवली पाण्डेय

शेष ११ पुरस्कार एक हजार से कम के हैं:—

१—देवार्चन—श्री करील
२—मुक्ति के बन्धन और ययाति—श्री गोविन्दबल्लभ पन्त
३—मौन पालन—श्री बी० एस० रावत
४—अजाने रास्ते—श्री सत्यनारायण
५—आजादी के बाद—श्री विनोद अस्तोगी
६—कौमुदी महोत्सव—श्री देवदत्त शास्त्री
७—चलते-चलते—श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी
८—पूर्व आधुनिक राजस्थान—डा० रघुवीरसिंह
९—आखिरी दांव—श्री भगवतीचरन वर्मा
१०—मनुष्य जीवन का लक्ष्य—श्री रामावतार विद्याभास्कर
११—हिन्दी मशीनें—श्री रामप्रसाद

इन लेखकों को बधाई और सरकार को धन्यवाद देना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। पुरस्कारों की पूरी सूची प्रकाशित होने पर आवश्यकता हुई तो हम और कुछ लिखेंगे।

आधुनिक हिन्दी कविता का विकास : परिस्थितियाँ और दिशायें

श्री गुलाबराय एम० ए०

अंग्रेजी राज्य के आ जाने पर चारों ओर नवीन युग का अरुणोदय हो गया था। किन्तु काव्य-क्षेत्र में कुछ काल तक प्राचीन परिपाटी ही चलती रही। गद्य की अपेक्षा पद्य में रूढ़िवाद अधिक दिन तक ठहरता है। काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का जीवित रहना उसी रूढ़िवाद का फल है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो जाने के कारण बुद्धिवाद बढ़ा और शृङ्गारिक मादकता का कुछ खुमार उतरा। सन् १८५७ के गदर के पश्चात् परिस्थितियों में भी परिवर्तन आ गया था। सन् ५७ का गदर बुझते हुए स्वतन्त्रता के दीपक की अन्तिम चमक थी। उसकी विफलता ने हार की मनोवृत्ति को और भी गहरा कर दिया था। हास विलास तो रहा किन्तु उसमें उत्साह और उल्लास न था। उस समय की हँसी फीकी हँसी थी। नायिका-भेद और शृङ्गारिक कविता में विशेष बल नहीं रह गया था। सामन्तशाही भी शेष प्रायः हो चली थी। नायिका-भेद की लकीर पीटी जा रही थी लेकिन उसी तरह से जैसे कि बिना इञ्जिन की रेलगाड़ी कुछ दूर तक ढकिल सकती है।

भक्ति-काव्य हिन्दू मनोवृत्ति के कुछ अधिक निकट होने के कारण मरा नहीं था। उससे शृङ्गार-भावना की भी तृप्ति हो जाती थी किन्तु कुछ सात्विक रूप में। उस समय की राष्ट्रीयता में अंग्रेजी शासन की सुव्यवस्था पर साधुवाद और राजभक्ति की भावना भी थी। और साथ ही उनकी शोषक नीति के विरुद्ध एक नरम सा विद्रोह भी था। गद्य का प्रचार तो बढ़ा ही किन्तु नयी शासन-व्यवस्था का प्रभाव पद्य पर भी पड़ा। कुछ तो अंग्रेजी के समृद्ध साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण विचारों को उत्तेजना मिली और कुछ नये शासन की सफलता से अपेक्षाकृत शान्ति मिली और इस कारण अध्ययन की भी रुचि बढ़ी। उसी के साथ अपनी पारस्परिक फूट तथा छुआछूत आदि सङ्गठन के अभाव के कारणों की ओर ध्यान आकर्षित होकर पश्चाताप की भावना जाग्रत हुई। इन सब कारणों से जातीयता के भाव बढ़े और उसी के साथ जातीयता की अवनति का मूल-कारण-स्वरूपा सामाजिक कुरीतियों की ओर भी लोगों का ध्यान गया। इस प्रकार समाज सुधार की नींव पड़ी। धीरे-धीरे राजनीति और समाज-सुधार सम्बन्धी भावों का प्रवेश साहित्य में हुआ और पहले पहल भारतेन्दु बाबू की कविता में राष्ट्रीय भावना झंकृत हुई।

यद्यपि देश में स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय प्रभृति महानुभावों के सत्प्रयत्नों से देश में समाज-सुधार की ओर कुछ-कुछ राजनीतिक-सुधारों की चेतना जाग्रत हो चुकी थी तथापि उनका काव्य में प्रवेश नहीं हुआ था। भारतेन्दु बाबू ने ब्रज-भाषा की शक्ति को पहचाना और बड़े सबल शब्दों में घोषणा की 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।'

काव्य के विषय में तो परिवर्तन के लिए द्वार खुला किन्तु काव्य की भाषा वही ब्रजभाषा रही।
भाषा ने साहित्य में ऐसा स्थान प्राप्त कर लिया था कि उसको काव्य भाषा के पद से च्युत करना कठिन था। रीतिकाल के आदर्श नायक-नायिका राधा-कृष्ण ही थे। इस नाते से रीतिकाव्य में भी ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा। ब्रजभाषा प्रान्तीय भाषा न रही वरन् साहित्य की व्यापक भाषा हो गई थी। कुछ काल तक तो ब्रजभाषा का ही साम्राज्य रहा। उसके पश्चात् धीरे-धीरे कुछ कविगण ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में (जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्रीधर पाठक) काव्य रचना करते रहे। उसके पश्चात् लोगों ने अपनी रुचि के अनुकूल अलग-अलग क्षेत्र चुन लिए।

भारतेन्दु बाबू में देश भक्ति के साथ राजभक्ति की मात्रा भी पर्याप्त थी। उसका यह कारण था कि अंग्रेजी राज्य की सुव्यवस्था ने देश में शान्ति स्थापित करदी थी

और वे उसके द्वारा भारत की उन्नति की आशा कर रहे थे। उन्होंने अँग्रेजी की काबुल, मिश्र आदि देशों में सफलता पर बड़ा हर्ष प्रकट किया था क्योंकि उसमें भारतीय सैनिकों का गौरव बढ़ा था। उस राज्य-भक्ति में भी कहीं कहीं दबे असन्तोष की झलक मिलती है। भारत का धन विदेश में जाता देख उनका हृदय व्यथित होता था। इस प्रकार उनकी राजभक्ति और देश-भक्ति दोनों ही हृदय की वस्तु थीं।

भारतेन्दु बाबू ने अपने काव्य द्वारा चार बातों की नींव डाली जिनका कि प्रभाव आधुनिक काव्य पर भी दिखलाई पड़ता है। वे बातें इस प्रकार हैं (१) साहित्यिक भाषा का जनता की भाषा के साथ सम्पर्क (२) प्रेम में वेदना और कसक (३) देश-भक्ति और समाज-सुधार, (४) धार्मिक सहिष्णुता।

भारतेन्दु बाबू स्वयं ही कवि नहीं थे वरन् वे उस समय की एक केन्द्रीय ज्योति थे जिसके चारों ओर अन्य कविगण मण्डल बांधकर घूमा करते थे। उन्होंने कवियों को दान और मान दोनों से प्रोत्साहन दिया। उनके अपने समय में बहुत से कवि समाज स्थापित हुए जिनमें उपस्थित की हुई समस्याओं की पूर्ति में कभी-कभी बड़ी उत्कृष्ट कविता की सृष्टि हुई।

द्विवेदी युग—मेरठ दिल्ली की आस-पास की जनता की बोली के रूप में खड़ी बोली बहुत दिन से चली आती है। उर्दू की यही जननी है। मुसलमानों ने उसे बनाया नहीं था वरन् उसे अपना कर उर्दू का रूप दिया था। इसकी अकारान्त प्रवृत्ति का पूर्व रूप 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कन्त' जैसे अपभ्रंश काव्य में भी मिलता है। इसके पश्चात कबीर, खुसरो, रहीम, भूषण आदि की कविताओं में भी खड़ी बोली को स्थान मिलता रहा किन्तु ब्रज और अवधी के साथ कृष्ण और राम के पवित्र नामों का जो स्वाभाविक आकर्षण लगा हुआ था वह इसमें न था। साहित्यिक गद्य में इसका प्रचार न था। वास्तव में जब गद्य ही नहीं तब वहाँ खड़ी और पड़ी कहाँ से आती?

जब लल्लूलालजी आदि ने इसमें गद्य रचना आरम्भ की (इन्होंने इसे जन्म नहीं दिया) तब से साहित्य क्षेत्र में इसका अस्तित्व दिखलाई पड़ने लगा। बोलचाल में तो इसने उत्तर भारत में व्यापकता प्राप्त करली थी। बोल-चाल की भाषा होने के कारण तथा गद्य और पद्य की भाषा का भेद मिटाने के अर्थ तथा साहित्यिक मितव्ययता के नाते लोगों ने इसको पद्य की भाषा बनाने का यत्न किया।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी संस्कृत छन्दों के बड़े हिमायती थे। इन्होंने इस सम्बन्ध में कई लेख लिखे और स्वयं भी संस्कृत छन्दों में कविता की। संस्कृत छन्दों के अपनाने से कविता ने अपने बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने में एक कदम आगे बढ़ाया।

इस संस्कृत शैली को पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सफलतापूर्वक अपनाया। द्विवेदीजी की कविता में इति-वृत्तात्मकता अधिक थी। उन पर कुछ महाराष्ट्र का भी प्रभाव था। उस समय की चित्रकला में भी कुछ वास्त-विकता की ओर रुचि थी। उस समय बङ्गाल स्कूल की शैली जो अजन्ता आदि की प्राचीन कला से प्रभावित थी, प्रकाश में नहीं आई थी। बङ्गाल स्कूल की कला में शारीरिक अङ्गों की सुडौलता की अपेक्षा भाव व्यञ्जकता अधिक थी। द्विवेदी-युग की कला में यह बात न थी। राजा रवि वर्मा उस समय के सब से बड़े कलाकार थे और कविवर मैथिलीशरणजी सब से बड़े कवि। उस समय 'भारत भारती' और 'जयद्रथ वध' का ही बोलबाला था। काव्य के लिये जैसी उन्माद के निकट आने वाली तन्मयता चाहिए वैसी उनमें न थी। द्विवेदीजी का महत्व उनके कवि होने में उतना नहीं है जितना कि कवि निर्माता होने में। गुप्तजी आदि कवियों ने उनका ऋण मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया है।

उपदेशात्मकता उस समय की प्रवृत्तियों में से थी। आर्य समाज और राष्ट्रीय उत्थान इस बात के लिए कुछ अंशों में उत्तरदायी हैं। पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा में आर्य समाज के ही प्रभाव से उपदेशात्मकता का ही प्राचुर्य था। इस प्रवृत्ति का प्रभाव तत्कालीन उपन्यासों में भी दिखाई देता है। रीतिकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप उपदेशा-त्मकता स्वाभाविक थी हिन्दी उस समय अन्य प्रान्तीय भाषाओं से टक्कर लेना चाहती थी। पर अपनी श्रेष्ठता दिखाने का यह सुलभ मार्ग था। कलात्मकता आने में देर लगती है।

छायावाद युग—भारत में जागरण हो गया था किन्तु जागरण के अनुकूल फल नहीं मिले थे, द्विष का मूल नहीं मिटा था। सोते हुए मनुष्य में वेदना कम होती है किन्तु जागे हुए मनुष्य में वह बढ़ जाती है। भारतीय युवकों के हृदय में जीवन के अभाव तथा परम्परागत सामाजिक और राजनीतिक दासता की रूढ़ियाँ अखरने लगीं। जीवन की असफलताएँ उग्र हो उठीं!

जीवन की असफलताएँ और वैयक्तिक प्रेम की प्रतिस्पन्दनशून्य परनिर्भरता मनुष्य की वृत्ति को अन्तर्मुखी बना देती है। वह एक प्रकार के आत्मानन्द में मग्न रहने का प्रयत्न करने लगता है। जो सुख और आनन्द उसे जीवन में नहीं मिलता वह उसे कल्पना में ढूँढ़ने लगता है। उसका मनोराज्य ही उसको स्वर्ग बन जाता है। वह जीवन की कठोर वास्तविकता से मुख मोड़ स्वप्नों की दुनिया में विचरता है। उसकी स्वप्नलोक की परियाँ उसके साथ अभिसार को आती हैं। (मालूम नहीं रीतिकालीन कवियों ने स्वप्नाभिसारिका को क्यों छोड़ दिया था) अलिवालीएँ उनकी सहचरी बन जाती हैं। इससे भी बढ़ कर वह सांसारिक प्रेम पात्र को छोड़ कर एक अव्यक्त प्रेम-पात्र से अपना नाता जोड़ने लगता है और उसकी खोज में अपने मन का सूनापन मिटाने लगता है। कभी-कभी वह बहिर्मुख हो प्राकृतिक छायाओं के सौन्दर्य से रूप-लालसा तृप्त करने लगता है। इसमें न नैराश्य का भय रहता है और न अनुनय विनय की आवश्यकता होती है। इस पर कल्पना का रङ्ग भी चोखा आता है। पन्त का-सा कवि लोल-हिलोल की छवि को अपने नयनों में बोरने लगता है। प्रकृति-प्रेम के और भी कई कारण हो सकते हैं। इन प्रवृत्तियों की मानसिक आधार-शिला पर द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में तथा समय की स्वातन्त्र्योन्मुखी भावनाओं में, अन्तर्मुखी छायावाद और रहस्यवाद का जन्म हुआ।

इस प्रकार उपर्युक्त परिस्थितियों से प्रभावित नवीन कविता में, मानव-गौरव, व्यक्तिवाद, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, वैयक्तिक प्रेम, छायावाद और रहस्यवाद की धाराएँ बहने लगीं।

छायावाद पल्लवित हुआ और वह कल्पना प्रधान कवियों के हाथ में खूब फला फूला। उसने भारतीय युवकों को भूतवाद के गर्त में पड़ने से रोका। काव्य को एक नई भाषा दी। नये उपमान और अलङ्कारों को जन्म दिया और प्राचीन रूढ़ियों में एक सुखद नवीनता उत्पन्न की। किन्तु उसके आलम्बन अव्यक्त थे, उनमें निजीपन का अभाव था; इस कारण छायावाद में भक्ति-काव्य की तन्मयता न आई और उसने एक रूढ़िवाद को जन्म दे दिया। छायावाद मन के सूनेपन को दूर न कर सका।

जीवन का कठोर सत्य भुलाया नहीं जा सकता। छायावाद के सौन्दर्य विधान में, प्रसादजी के अतीत-गान में, महादेवीजी की करुणा भरी तान में, बच्चनजी के मधुगान में उसकी करुण पुकार सुनाई पड़ती ही रही! दुख दुख ही रहा। नवीनतम कविता ने पुरानी धाराओं को अपनाते हुए जीवन की ओर आँख उठाई है। आज का कवि दुख को भुलाना नहीं चाहता है वरन् उसके मिटाने के लिए चिन्तनशील है। वह अपनी विफलताओं को स्वीकार करता है। यदि वह दुख से लड़ने के लिए तैयार नहीं है तो वह उसकी उपेक्षा भी नहीं करना चाहता।

वर्तमान कविता के निराशावाद में वासनाओं का ह्रास नहीं हुआ है। वे चिर-अमर रहती हैं। अञ्चलजी की कविता में वासना तृष्णा अपराजिता ही रही है। उनका साम्राज्य अटल है। यह भी जीवन का एक सत्य है।

चिर तृष्णा में प्यासे रहना,
मानवता का सन्देश यहाँ।

जीवन की निराशाओं को कवि अपनी मस्ती में भूल जाता है। दुख पीड़ा की वह परवाह नहीं करता। वह चलता रहना चाहता है।

अपनी तरणी फेंक प्रलय की
लहरों में खुल खेलें हम
आज भाग्य के उल्कापातों
को हँस हँस कर झेलें हम

छायावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रेम वैयक्तिक होकर कुछ कुछ स्पष्टरूप से वासनामय होता जा रहा है। आदर्श-

वाद कम होता जा रहा है, काव्य वास्तविकता की ओर बढ़ रहा है।

नवीन युग की नवीन-धारा—यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ही समय से युग का अरुणोदय हो गया था तथापि उस समय में प्राचीन काल की झलक थी। नये युग की भावनाओं को लेकर कविता को भी अपने बन्धन अखरने लगे और वह स्वतन्त्रता की ओर बढ़ी। उपाध्यायजी और गुप्तजी के समय में नवयुग का वास्तविक उदय हुआ था। भारतेन्दु-युग के लिए तो हम गुप्तजी के शब्दों में यही कहेंगे कि—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ
किन्तु देखो रात्रि का जाना हुआ।

प्रगतिवाद—जिस प्रकार छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया स्वरूप था उसी प्रकार इसमें सूक्ष्म के प्रति स्थूल की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। वह जीवन की विषमताओं को भुला कर सौन्दर्य के स्वप्न नहीं देखना चाहता है। वैसे तो जहाँ नवीनता है वहीं प्रगति है (छायावाद भी एक प्रगति के रूप में आया था) किन्तु प्रगतिवाद अब एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। वह काव्य को वस्तुवाद की कठोर और कर्कश भूमि पर खड़ा करना चाहता है। वह शोषित, पीड़ित मानव को ही अपने काव्य का आलम्बन बनाना चाहता है। सामन्तशाही और पूँजीवाद से उसका विरोध है। जो लोग उनसे सम्बन्ध रखने वाली कविता करते हैं अथवा वे जो प्रगतिवादी सिद्धान्तों को नहीं मानते वे प्रतिक्रियावादी कहलाते हैं।

प्रगतिवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है। वह एक प्रकार के मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप कहा जा सकता है। सौन्दर्य और कला से उसका विरोध नहीं है। किन्तु वह पहले उन भौतिक अभावों को और जनता के दैन्य और दारिद्रय को दूर करना चाहता है, जिसके कारण उनकी सौन्दर्यानुभूति में कमी पड़ती है। वह कला को जन साधारण के उपयोग का विषय बनाना चाहता अभी प्रगतिवाद में वकालत और प्रचार का प्राधान्य है और कला की अपेक्षाकृत कमी है। जिस प्रकार प्रगतिवादी कवि यह मानता है कि निम्न श्रेणी के एवं दलितों में भी मानवता के दर्शन हो सकते हैं उसी प्रकार प्रगतिवादी यह नहीं मानता कि उच्च वर्ग के लोगों में भी हृदय की उच्च भावनाएँ मिल सकती हैं। उनको शिक्षा के कारण उनकी अनुभूति भी तीव्र होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त दुख में पड़ा हुआ अभिजात वर्ग का मनुष्य केवल मानवता के नाते हमारी सहानुभूति का विषय हो सकता है। इससे यह भी मानना पड़ेगा कि संसार में रामराज्य स्थापित करने के लिए क्रान्ति ही एक मात्र साधन नहीं।

प्रगतिवाद भी रूढ़िग्रस्त हो गया है। उसकी शोषित वर्ग के साथ जो सहानुभूति है वह अधिकतर बौद्धिक है। शायद यह फैशन कभी सच्ची सहानुभूति उत्पन्न करदे। हमको काव्य में प्रगतिवाद की वास्तविकता के साथ छायावाद के सौन्दर्य का समन्वय करने की आवश्यकता है। हमको चक्की के कर्कश स्वर को कोमलता प्रदान करने तथा उस कार्य को सुलभ बनाने के लिए कुछ राग चाहिए और राग में चक्की पीसना न भूलना चाहिए।

देश में मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रभाव है किन्तु उसी के साथ हमारे काव्य में गान्धीजी के अहिंसावाद और कवीन्द्र रवीन्द्र के कलावाद का भी प्रभाव है। वर्तमान हिन्दी काव्य में एक नैतिक और सांस्कृतिक चेतना जाग्रत हो रही है, वह बन्धन में ही मुक्ति के दर्शन करती है। देश में स्वतन्त्रता का अरुणोदय हो गया है। दासता से कुण्ठित साहित्य को भी अब गति मिलेगी। उन्नत वास्तविकता के साथ उज्ज्वल स्वप्न भी देखने को मिलेंगे। नयी राष्ट्रीय चेतना भी जाग्रत होगी जो विश्व को एक नीड़ में आबद्ध करने वाली मानवता का प्रचार करेगी। हमारे कविगण भारत को समृद्ध और सम्पन्न बनाकर उसे विश्व-भ्रातृत्व की भावना का प्रकाश-स्तम्भ प्रमाणित करने का सुख-स्वप्न देखेंगे। देश की समृद्धि के साथ हिन्दी का भी मान बढ़ेगा, स्वदेशाभिमान के साथ स्वभाषा के प्रति गौरव भावना का उदय होगा। उच्च शिक्षा के माध्यम बनने के साथ साथ हिन्दी में नये वैज्ञानिक साहित्य की सृष्टि होगी। अभी निराशा के बादल बिलकुल हटे तो नहीं आशावाद का अरुणोदय हो गया है—

'सूखी री यह डाल वसन वासन्ती लेगी।'

नई कविता की भूमिका

श्री विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०

कविता का कैसा ही युग हो, उसमें कई प्रकार के साहित्यकार और साहित्यानुरागी पाए जाते हैं। एक ऐसे, जिन्हें यह चेतना ही नहीं होती कि नया युग आया है। अतः जिस युग में वे अब तक जीवित रहे हैं, उसी में अन्तिम साँसें लेते रहते हैं। दूसरे ऐसे, जिन्हें यह चेतना तो होती है कि नए ढङ्ग की रचनाएँ हो रही हैं, पर उनकी सहानुभूति उस नव सृजन शक्ति को नहीं मिल पाती। तीसरे ऐसे, जो नवीन के सम्पर्क में आते हैं, ... से थोड़ा बहुत उन्हें अच्छा लगता है, अधिकांश नहीं। पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनकी दृष्टि यह पहचान लेती है कि पिछला युग अब समाप्त हो गया और उसे पुनर्जीवित करना असम्भव है। ऐसे ही भावनाशील नवयुवकों में से नई प्रतिभाएँ उभरती हैं जो नए युग का निर्माण करती हैं। इन्हीं में उन अधकचरे नवयुवकों को भी ले लेना चाहिए जो अपनी उमङ्ग में मात्र अन्धानुकरण करते हैं और जिन्हें इस बात का बहुत कम ज्ञान होता है कि नए प्रभाव में से क्या ग्रहण करना चाहिए क्या नहीं।

इस प्रकार नई कविता की उपेक्षा भी होती है, विरोध भी, सम्मान भी। इन सारी बातों का प्रभाव कवित पर पड़ता है। उपेक्षा होती है प्राचीन संस्कारों से शासित होने के कारण। ऐसे लोगों का कोई दोष नहीं है। वे किसी नई भाव-धारा को ग्रहण ही नहीं कर सकते। आज भी ऐसे कवियों की कमी नहीं है जो प्राचीन विषयों पर कवित्त-सवैयों में लिखते हैं और अकेले या छोटी-मोटी मण्डली बनाकर और उसी को बहुत बड़ा संसार समझ कर मग्न रहते हैं। विरोध कई प्रकार के व्यक्तियों द्वारा होता है। प्राचीन-पन्थी विरोध करते हैं नासमझी के कारण। पर अधिकतर विरोध होता है अपने से ठीक पिछले युग के कवियों और काव्यप्रेमियों द्वारा। यह विरोध प्रायः ईर्ष्या के कारण होता है जिसका प्रभाव धीरे-धीरे क्षीण होता चला जाता है। पर एक विरोध सद्भावना से प्रेरित होकर भी हो सकता है। फिर भी विरोध विरोध ही है। आगे चल कर कोई कवि चाहे कितना ही बड़ा हो जाय, प्रारम्भ में वह सहानुभूति, स्नेह और प्रोत्साहन का ही भूखा होता है और ये उसे मिलने भी चाहिए।

सन् १९३५ से इधर का युग प्रगतिवाद-युग कहलाता है। इससे पहले छायावाद-युग समाप्त होता है। छायावाद के चार बड़े प्रहरी जयशङ्कर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन 'पन्त', 'निराला' और महादेवी हैं। रामकुमार इनसे थोड़े उतर कर इन्हीं की कोटि में आते हैं। इस युग में काम करने वाले और भी कुछ महत्वपूर्ण कवि हैं जो थोड़े भिन्न पथ का अनुसरण करते रहे। इनमें हम भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गुरुभक्तसिंह, और सुभद्राकुमारी चौहान आदि के नाम ले सकते हैं। लेकिन नये युग और छायावाद-युग के बीच की एक कड़ी और है जिसे हम उत्तर-छायावाद-काल कह सकते हैं। इस अवधि में यह स्पष्ट हो गया था कि पुराना युग अब समाप्त होने वाला है। इसमें काम करने वाले कवि हैं बच्चन, नरेन्द्र और अञ्चल आदि। ये तीनों ही छायावाद को प्रगतिवाद की सीमा-रेखा से जोड़ते हैं। कोई भी युग सहसा प्रारम्भ नहीं हो जाता। प्रत्येक युग में कुछ कवि ऐसे अवश्य होते हैं जो पिछले युग के प्रभावों से धीरे-धीरे मुक्त होकर आगे आने वाले कवियों के लिए नई भावना-भूमि तैयार करते हैं। ये पिछले तीनों कवि ऐसी ही भूमि और भूमिका प्रस्तुत करते हैं। इनमें बच्चन की देन कुछ अधिक महत्वपूर्ण है। इतना होने पर भी नई कविता का आरम्भ बच्चन से नहीं माना जा सकता। यह श्रेय यदि किसी को मिल सकता है तो 'अज्ञेय' को।

जैसे छायावाद युग के सम्बन्ध में यह भ्रम नहीं

होना चाहिए कि उसमें केवल प्रकृति में चेतना का आरोप करने वाले कवि रहते थे, उसी प्रकार प्रगतिवाद युग के सम्बन्ध में भी इस धोखे में नहीं रहना चाहिए कि इसमें केवल साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करने वाले कवि होंगे। किसी भी युग में काम करने वाले अनेक रुचियों के कवि रहते हैं। इससे भिन्न रुचि के कवियों का महत्व कम नहीं हो जाता।

नई कविता का जो वास्तविक रूप अब तक पाठकों के सामने नहीं आ पाया, उसमें दलगत भावना का बहुत बड़ा हाथ है जिसे यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा। प्राचीनकाल के लोग अपनी साधना के बल पर ही जीते थे, पर आज का कवि प्रचार के बल पर भी जीता है। यह प्रचार जान-बूझकर भी होता है और अनजाने भी। इसी प्रचार के कारण आज के पाठक को यह विश्वास हो गया है कि आजकल केवल दो वाद काम कर रहे हैं—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—और इन वादों के बाहर कविता हो ही नहीं रही है। पर पूरा-पूरा सत्य यह नहीं है। क्योंकि अभी तक नये कवियों की बहुत कम रचनाएँ पुस्तक-रूप में प्रकाश में आई हैं, अतः हमारे आलोचकों ने जो कह दिया, वही हमारे सरल पाठकों ने स्वीकार कर लिया। पहला भ्रम फैलाया प्रगतिवादी आलोचकों ने। प्रगतिवादी आलोचक न केवल अपने पक्ष के कवि की अतिशय प्रशंसा करते हैं, वरन् दूसरे पक्ष को दबाने, उसके यश को ढकने और उसे महत्वहीन मानकर उसका तिरस्कार करने का प्रयत्न भी करते रहते हैं। शिवदानसिंह चौहान के लिए तो मैं नहीं कह सकता, पर प्रगतिवाद के दो प्रमुख आलोचक डा० रामविलास शर्मा और प्रकाशचन्द्र गुप्त जीवन भर यही काम करते रहे हैं। इधर अमृतराय और नामवरसिंह भी, जैसा टूटा-फूटा वे लिख सकते हैं, डा० शर्मा और गुप्तजी के अधूरे काम को आगे बढ़ाने के प्रयत्न में हैं। प्रगतिवादी कवियों को और कुछ नहीं तो एक लाभ अवश्य ही है और वह यह कि इधर उनकी दो चार रचनाएँ प्रकाशित हुई नहीं, उधर झट से उनकी प्रतिभा का विरुद गाने वाले आलोचक उन्हें मिल जाते हैं।

कुछ हानि पहुँचाई प्रयोगवाद के प्रचार ने भी। यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि दोनों सप्तकों को प्रकाशित कर कुछ नए कवियों और नई कविता को प्रकाश में लाने का बहुत ही महत्वपूर्ण काम 'अज्ञेय' जी ने किया, पर इसके उपरान्त लोगों का धारणा यह हो चली कि केवल इतनी ही और इस प्रकार की कविता ही नई कविता है और तब इसी का समर्थन या विरोध होने लगा। यह समझा जाने लगा कि या तो आज का कवि प्रगतिवादी है या फिर प्रयोगवादी। यों 'अज्ञेय' जी को इसके लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दोष है उन आलोचकों का जो अपनी सहानुभूति इन वादों के बाहर काम करने वाले कवियों को दे ही नहीं सके।

यह तो सभी जानते हैं कि भक्ति-काल में पद रचना की परम्परा के समान ही बीसवीं शताब्दी में गीति-काव्य की एक परम्परा प्रारम्भ हुई थी। इसका पूर्ण विकास छायावाद काल में हुआ। पर यह परम्परा आज भी समाप्त नहीं हुई। नए वेग, नए रस और नवीन लहरियाँ उठती हुई यह धारा बढ़ती ही चली जा रही है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दो शब्दों के प्रचार से जिन कवियों को प्रकाश में आने का सबसे कम अवसर मिला, वे इसी परम्परा की नई पीढ़ी के कवि हैं। प्रगतिवादियों में जैसे हम नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा; नेमिचन्द्र जैन आदि के नाम ले सकते हैं, प्रयोगवादियों में 'अज्ञेय' और उनके अनुयायियों के, उसी प्रकार नए गीतिकाव्यकारों में विद्यावती कोकिल, सुमित्राकुमारी सिनहा, शान्ति मेहरोत्रा, हंसकुमार तिवारी, गिरिधरगोपाल, रमानाथ अवस्थी, जगदीश गुप्त, शिवचन्द्र नागर, देवनाथ पांडेय 'रसाल', चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' आदि कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों से इन कवियों की संख्या वैसे कहीं अधिक है और इस समुदाय के कवि उपरोक्त दोनों दलों के कवियों से कम प्रतिभाशाली भी नहीं हैं। न्याय की बात तो यह थी कि पिछले पन्द्रह बीस वर्ष की कविता के युग (सन् १९३५) का नाम इन्हीं कवियों के कर्म को दृष्टि में रखकर पड़ना चाहिये था। पर युग का नाम विशे

कारणों से कभी किसी बड़े साहित्यकार और कभी किसी भावधारा या विचार-परम्परा के आधार पर यों ही पड़ जाता है और वह एक अलग बात है।

इस प्रकार इस युग में तीन प्रकार के कवि पाये जाते हैं—

१—प्रगतिवादी,

२—नए गीतिकार,

३—प्रयोगवादी।

प्रयोगवाद वास्तव में हिन्दी कविता का कोई वाद नहीं है। छायावाद के समान यह शब्द भी भ्रम से प्रचलित हो गया है। 'तार सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने प्रयोग शब्द का प्रसङ्गवश प्रयोग किया है। पर हिन्दी के आलोचकों के लिए इतना ही एक नए वाद का निर्माण करने के लिए पर्याप्त था। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में उन्होंने इसका विरोध करते हुये कहा भी कि प्रयोग का कोई वाद नहीं है और हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना। पर हिन्दी में यदि आप किसी बात का विरोध कर बैठें, तो वह और भी आवेश के साथ सिद्ध करके आपके मत्थे मढ़ दी जायगी।

प्रयोगवाद का अर्थ यदि भाव और कला सम्बन्धी नवीनता से है, तो ऐसे प्रयोग तो युग-युग में होते रहे हैं और इस दृष्टि से चन्द, कबीर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, हरिश्चन्द्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रसाद, निराला और बच्चन सभी प्रयोगवादी हैं। और यदि किसी कवि की उन प्रारम्भिक रचनाओं को जो अभी पुस्तक रूप में प्रकाशित होने की क्षमता न रखने के कारण किसी संग्रह-ग्रन्थ में दे दी गई हैं, प्रयोगवादी कहते हैं, तो और भी हास्यास्पद है। कविता सदा वाद का 'लेबिल' लगाकर ही चले, यह आवश्यक नहीं है। यह बात न जाने कैसे फैल गई है कि 'तार-सप्तक' में जिसे भी स्थान मिल गया, वह प्रयोगवादी हो गया। यदि ऐसा मान लिया जाय तब तो प्रयोगवादी और प्रगतिवादी में कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा। इन कवियों में डा० रामविलास शर्मा, नेमीचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल और मुक्तिबोध अपने विचारों में साम्यवादी हैं। कुछ की सहानुभूति और झुकाव साम्यवाद की ओर है। उदाहरण के लिए नरेश मेहता और शमशेर बहादुरसिंह को लीजिए। अतः इन्हें प्रगतिवादी मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। यह बात इन कवियों में से कुछ की घोषणाओं से एकदम स्पष्ट हो जाती है—

१—जो व्यक्ति एक विकासोन्मुख साहित्य की आवश्यकताओं को चीन्ह कर उनके अनुरूप गद्य लिखे, वह कवि हो भी कैसे सकता है। मेरे बहुत से लेख साहित्य के अशाश्वत सत्य, वाद-विवादों से पूर्ण हैं।

—डा० रामविलास शर्मा

२—पढ़ने में विशेष दिलचस्पी है। राजनीति में भी क्रियात्मक रूप से। मार्क्सवादी और 'कम्यूनिस्ट' भी।

—नेमीचन्द्र जैन : परिचय

३—शौक दो ही चीजों का—सिनेमा और सिगरेट। आजकल राजनीति का अध्ययन अच्छा लगता है। मार्क्सवाद को आज के समाज के लिए रामबाण मानता हूँ। कम्यूनिस्ट हूँ।

—भारतभूषण अग्रवाल

४—क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ।

—मुक्तिबोध

ऐसे कवियों को हम प्रयोगवादी किस आधार पर मानें? आज जहाँ हम हैं, वहाँ खड़े होकर ही आज की कविता को हम नई कविता कहते हैं। आज से सौ वर्ष बाद यही कविता पुरानी हो जायगी। किसी समय वीर रस, भक्ति और शृङ्गार की रचनाएँ भी नई कविता कही जाती होंगी, पर आज वह समस्त साहित्य प्राचीन-काव्य कहलाता है। अभी तो सन् १८५० से इधर के काव्य को ही आधुनिक-काव्य कहते हैं। उसमें भी सन् १९३५ से इधर की कविता को नई कविता। ध्यान से देखें तो पिछले आधुनिक काव्य से यह नई कविता कई बातों में भिन्न है। आधुनिक काव्य में रहस्य-भावना का प्राधान्य था। यह रहस्य-भावना एक प्रकार से युग की परिस्थितियों के अनुकूल प्राचीन निर्गुण उपासना का ही नया संस्करण थी। इसके कारण व्यक्ति संसार से खिंचकर किसी अलौकिक शक्ति को आत्म-समर्पण करने में बीत।

को सार्थकता समझता था। इसी से कुछ लोगों ने इसे पलायनवाद का नाम भी दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस भावना के कारण काव्य के क्षेत्र में कुछ अत्यन्त पवित्र, सूक्ष्म और कोमल भावनाओं को जन्म मिला; पर अधिकतर भावनाएँ वायवी, काल्पनिक और दुरूह भी हैं। पाठक उन्हें न ग्रहण कर पाता है, न समझ पाता है, न उनसे प्रभावित हो पाता है। इसके विपरीत नई कविता में संसार को ठोस मानकर और उसे सत्य एवं महत्वपूर्ण समझ कर जीवन को सुखी और सुन्दर बनाने पर बल दिया गया। इसके लिए सबसे बड़ी प्रेरणा मिली मार्क्स के जीवन-दर्शन से, जिसे साम्यवाद कहते हैं। यही साम्यवाद कविता में प्रगतिवाद बन जाता है। यह एक प्रकार से अध्यात्मवाद का विरोधी वाद है। झगड़ा मिटाने के लिए कुछ विद्वानों और साहित्यकारों के ऐसे प्रयत्न भी अभी चल रहे हैं कि इन दोनों वादों को एक-दूसरे का पूरक मान लिया जाय, पर समझौते की यह बात कट्टर-पन्थियों द्वारा मान्य घोषित नहीं हुई। छायावाद के प्रति भी अब वह ललक नहीं रह गई। छायावाद उस प्रवृत्ति का नाम है जिसमें प्रकृति को चेतन स्वीकार किया जाता है। यह प्रवृत्ति भी सच पूछिए तो रहस्यवृत्ति के कारण ही उत्पन्न हुई थी। प्रकृति की आत्मा को पहचानना छायावाद था। रहस्यवाद में जैसे आत्मा-परमात्मा, जीवन में जैसे प्रेमी-प्रेमिका, छायावाद में वैसे ही प्राकृतिक वस्तुओं में एक दूसरे के प्रति आकर्षण की स्वीकृति थी। यह आकर्षण उस समय तक सिद्ध नहीं हो सकता था, जब तक प्रकृति को चेतन न मान लिया जाय। अतः छायावाद प्रकृति को चेतना-सम्पन्न मानने का दूसरा नाम हुआ। यह तो फिर भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रकृति के प्रति कवियों के दृष्टिकोणों में यह सबसे विकसित दृष्टि-कोण है। नए युग में जब अध्यात्म-भावना शिथिल हुई और रहस्यवाद का प्रचलन कम हुआ तो स्वाभाविक था कि छायावाद की भावना को भी आघात पहुँचता। आज का कवि संसार के साथ प्रकृति को भी अपने सहज और भौतिक विकास में देखता हुआ भावना के नए सम्बन्ध जोड़ रहा है, यहाँ तक कि वह उन तिरस्कृत, भद्दे और कुरूप रूपों पर भी दृष्टि डाल रहा है जो छायावादी कवि की कल्पना की कोमल और सुरुचिपूर्ण परिधि में कभी आ ही नहीं सकते थे। राष्ट्रीय-भावना भी जिस रूप में पहले ग्रहण होती थी, अब नहीं होती। सन् १९४७ के उपरान्त तो वह भावना समाप्त ही हो गई। पहले विदेशी शासन के विरुद्ध सङ्घर्ष करने, स्वतन्त्रता के लिए बड़े से बड़े बलिदान के लिए कटिबद्ध रहने एवं माँ की जंजीरें तोड़ने के जो स्वर सुनाई देते थे, अब क्षीण पड़ गए हैं। जेल जीवन ने भी बहुत सी मार्मिक रचनाएँ उस समय हिन्दी को दी थीं। न जाने कितने प्रयाण-गीत लिखे गए। देश के स्वतन्त्र होने से इन सबको अब वैसा अवकाश नहीं रहा। ऐसी रचनाओं की गणना अब सामयिक रचनाओं में होती है और उस वातावरण से हटाकर उन्हें पढ़ने में अब वैसा आनन्द नहीं आता जैसा कभी आता था। देश-भक्ति का तो अब रूप ही जैसे बदल गया है। इतना होने पर भी स्व-शासन के गीत गाए जाते हों, ऐसा भी नहीं है। किसी भी देश के कवि इतने स्वतन्त्र-चेता तो अवश्य होते हैं कि अन्ध आवेश में या आँख मींचकर वे किसी की प्रशंसा न करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा गान्धी के कर्मों और बलिदान के प्रति लोगों में अब भी अनुराग शेष है और आए दिन उन पर रचनाएँ होती रहती हैं, पर उनके अनुयायियों की प्रशंसा में कुछ नहीं लिखा जाता। वर्तमान शासन के प्रति एक प्रकार की असन्तोष की भावना ही लोगों में धीरे-धीरे बढ़ रही है। भारत में यदि किसी नए व्यक्तित्व के प्रति सम्मान जगा है तो वह भू-दान यज्ञ के प्रणेता आचार्य विनोबा भावे के प्रति। पर उनके प्रति भी श्रद्धा अभी पिछले युगों के कवियों जैसे मैथिलीशरण गुप्त एवं बाल-कृष्ण शर्मा नवीन आदि द्वारा ही अधिक व्यक्त हुई है। हालावाद की ध्वनि अब शान्त हो गई है। उस मादकता के पीछे विदेशी प्रभाव था जिसे हिन्दी वाले अधिक नहीं पचा सके। उसका अनुकरण भी इसी से कहीं नहीं हुआ। यहाँ तक कि उसके प्रस्तावक बच्चन ने भी अब उससे अपना पीछा छुड़ा लिया है। नई कविता को आज तो अन्य दो विदेशी मनीषियों ने प्रभावित कर रखा है—

पहले हैं मार्क्स जिनके नाम पर प्रगतिवाद का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और दूसरे हैं फ्रायड जिन्होंने बहुत अंशों तक प्रयोगवाद को आच्छादित कर रखा है।

नई कविता नई परिस्थितियों की उपज है। देश की राजनीतिक स्थिति बदल गई। भारत स्वतन्त्र हो गया है और अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर उसे सम्मान प्राप्त हुआ है। अतः हमारे कवियों की वाणी में अब दीनता नहीं सुनाई पड़ती। राष्ट्रीय पताका, स्वतन्त्रता और देश के गौरव को लेकर बहुत सी रचनाएँ भी इधर लिखी गई हैं। रहस्य-वाद के रूप में जो रही सही अध्यात्म-भावना चल रही थी, वह समाप्त हो गई है। पुराने छायावादी कवियों में नवचेतनावाद के रूप में अरविन्दवाद विकसित हुआ है, पर नये कवि अध्यात्म और धर्म की बिल्कुल चिन्ता करते नहीं दिखाई देते। धार्मिक और अध्यात्म भावना क्षीण होने का एक बहुत बड़ा कारण मार्क्स-दर्शन का बढ़ता प्रभाव है। पिछले कवियों की अपेक्षा नए कवि सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सजग प्रतीत होते हैं। कविता में सामाजिक तत्त्व अब अधिक उभर कर आ रहा है। सामाजिक कल्याण की ओर जो हमारे कवि उन्मुख हुये हैं उसके मूल में भी अधिकांश रूप से मार्क्स-वाद है। सामाजिकता की यह चेतना वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रायः आई है। आज की अर्थ-विषमता तो किसी से छिपी नहीं है। आज मध्यवर्ग विशेष रूप से संकट ग्रस्त, चिन्तित और क्षुब्ध है। भीतर से वह टूटा हुआ है। हमारे अधिकतर कवि इसी मध्यवर्ग से आते हैं, अतः उनकी वाणी में इस चिन्ता, क्षोभ और टूटने के स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं। कुछ जिनके ऊपर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ गया है—और ऐसी दशा में यह प्रभाव पड़ना बहुत स्वाभाविक है—वर्ग संघर्ष की बात करने लगे हैं। अतः छायावादी कवियों का वेदनावाद तो इनमें नहीं पाया जाता, पर हताश ये अवश्य प्रतीत होते हैं। क्योंकि भारत में स्वयं मध्यवर्ग अभी तक डांवाडोल स्थिति में है, ऐसी दशा में उस वर्ग से आए कवियों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे कोई स्पष्ट मार्ग दिखला सकेंगे। नई कविता में मनोवैज्ञानिकता बढ़ रही है। कुछ फ्रायड और कुछ विदेशी कवियों के अध्ययन के प्रभाव से प्रतीकवाद से लेकर अति यथार्थवाद तक कविता में प्रवेश पा गए हैं। इस अन्तिम वाद का प्रभाव अन्धानु-करण के रूप में ही अभी चल रहा है। आज मार्क्स ने जीवन की धूलिभरी धरती पर दौड़कर बाह्य-फल को जितना विस्तार दिया है, फ्राइड ने मन की अनन्त गहराई में उतार कर उतना ही भावना की जटिलता में हमारे कवियों की प्रतिभा को उलझा दिया है।

———

"आज के संक्रान्ति-काल में मैं साहित्य स्रष्टा एक कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग सङ्घर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव हृदय के मञ्च पर जिन विश्व निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अन्तःक्रीड़ा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन सङ्गीत में झंकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धान्तिकता के मृग-जल-मरु को भटकती हुई अन्तः शून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अन्तर्जगत तथा अन्तर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके; एवं इस युग के वादों की सङ्कीर्ण भित्तियों में बन्दी युग-युग से निश्चेष्ट निष्क्रिय मानव-हृदय में, जिसकी प्रत्येक श्वास में घृणा द्वेष के विष का सञ्चार हो रहा है, उसका स्वाभाविक प्रेम का स्पन्दन तथा देवत्व का सङ्गीत जाग्रत कर सके।" —पन्त

आधुनिक हिन्दी कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्रो० वासुदेव एम० ए०

दर्शन और कविता—दर्शन और कविता का सम्बन्ध मस्तिष्क और हृदय का समझौता है। विचार-शून्य कविता कविता न होकर वनिता का विलास हो जाती है। 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं'—जैसी काव्य की परिभाषा एकाङ्गी है। उत्कृष्ट कविता में हृदय का रस-स्रोत तो है ही, मस्तिष्क की विचार-राशि भी होनी चाहिये। तभी कविता जीवन की ठोस नींव पर खड़ी होकर अडिग और अमर बनी रह सकती है। दर्शन की तरह कविता का लक्ष्य भी सत्य की खोज और जिज्ञासाओं का शमन है। यदि दोनों में अन्तर है तो इतना ही कि कविता का मुख्य उद्देश्य सत्य की खोज के साथ आनन्द की सृष्टि भी है। पर, दर्शन के विचार तत्व से हीन कविता से चाहे आनन्द का फव्वारा ही क्यों न फूटता हो, स्थायी नहीं होती। अतः यह सिद्ध है कि कविता की अमरता दर्शन की पीठिका पर निर्भर करती है। संसार के सभी बड़े-बड़े कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा कुछ-न-कुछ दार्शनिक विचार अवश्य दिये हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद, रवीन्द्र सभी नये-पुराने कवियों ने अपने अनमोल विचारों को हमारे सामने रखा है। कविता में कल्पना और भाव का महत्व तो है ही, पर विचार की अनुपस्थिति कविता को स्थायी और उत्कृष्ट बनने नहीं देती। अतः कविता में विचार का होना अत्यावश्यक है।

कविता की महत्ता और श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले कुछ लोग भावावेश में आकर यह कह बैठते हैं कि 'काव्य में दर्शन आत्मसात् हो सकता है, पर दर्शन में कविता समाविष्ट नहीं होती।' व्यापक दृष्टि से, दर्शन की प्रक्रिया में तर्क की प्रधानता होती है, और कविता की सृष्टि में संवेदना की। प्रक्रिया में भले ही अन्तर हो, पर दोनों का लक्ष्य एक ही है—सत्य की खोज। यदि हम कविता के लक्ष्य पर विचार करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक दृष्टि से कविता जीवन की अन्तिम मञ्जिल है, जहाँ पहुँच कर सब कुछ जान लिया जाता है, जानना कुछ शेष नहीं रह जाता। जीवन की चरम सिद्धि, सत्य, शिव और सुन्दर की सम्मिलित आराधना कविता के द्वारा ही सम्भव है। दर्शन की कुनिष्ठा में सत्य की उपलब्धि हो सकती है, कुछ अंश तक शिव की उपासना हो जाती है पर सुन्दर की साधना बिलकुल नहीं होती। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि दर्शन की अपेक्षा कविता की सत्ता, शक्ति और उपयोगिता अधिक व्यावहारिक है। कवि के दार्शनिक होने से एक लाभ यह भी है कि हमारी जीवन-ममता ज्यों की त्यों बनी रहती है। दार्शनिक अपनी उड़ान में संसार को माया, दुःख और पाप का विशाल कारखाना समझ समाज, परिवार और विश्व की उपेक्षा कर बैठता है। कवि की दार्शनिकता में जीवन की विरक्ति नहीं, समग्र जीवन की अनुरक्ति बनी रहती है। यही कारण है कि संसार में दार्शनिकों की अपेक्षा महाकवियों का सम्मान अधिक हुआ है, सभ्य देशों में। कविता और दर्शन के अन्तर ऊपरी हैं, भीतरी नहीं। वास्तव में काव्य और दर्शन एक ही पृष्ठ के दो पन्ने हैं; एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; कवि दर्शन के बिना नहीं रह सकता क्योंकि दर्शन ही उसकी जिज्ञासाओं का अन्त करता है। आज तो विज्ञान भी दर्शन की ओर मुड़ चला है और दर्शन कविता की ओर।

यद्यपि वर्तमान युग भावों का नहीं, विचारों का युग है, बुद्धिवादी विचारों का; फिर भी कविता मरी नहीं है, कभी मर भी नहीं सकती। आज के कवि विचारक होकर ही जी सकते हैं—उनकी कविता का कोई-न-कोई वैचारिक आधार होना ही चाहिये। अतएव, कवि के लिए विचारक, चिन्तक या दार्शनिक होना बहुत जरूरी है। प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि कोलरिज का ठीक ही कहना था कि 'ऐसा कोई महान कवि नहीं हुआ जो कवि के साथ ही महान

दार्शनिक न हो।'' इमर्सन ने भी कविता में दर्शन की आवश्यकता अनुभव की है। उन्होंने प्रो० विलियम नाइट को एक पत्र में लिखा था कि 'दर्शन का स्थान कविता के बाद है, क्योंकि काव्य दर्शन का सर्वोच्च परिणाम है।'

प्राचीन परम्परा—काल के पृष्ठों पर उन्हीं कविताओं का मूल्याङ्कन होता आया है जो दर्शन से, किसी-न-किसी सीमा तक सम्बन्धित होती हैं और वे ही कवि महाकवि की उपाधि से विभूषित होते रहे हैं जिन्होंने दर्शन को अपनी कविता की पृष्ठभूमि बनाया है। हिन्दी का समस्त मध्ययुगीन साहित्य दर्शन के रङ्ग से रञ्जित है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह पहला अवसर था जब कवियों को दर्शन का कोई-न-कोई आधार चुनना ही पड़ा था। कबीर का एकेश्वरवाद, जायसी का सूफीवाद, तुलसी का विशिष्टाद्वैतवाद और सूरदास का शुद्धाद्वैतवाद—उस युग के कवियों की विभिन्न दार्शनिक चेतनाएँ थीं। हिन्दी के दर्शन-काव्य में इन विविध वादों का महत्व सर्वाधिक है। ये सभी विचार-राशियाँ तत्कालीन विचार-स्वातन्त्र्य की परिचायक हैं। उस समय के कवि अपने विचार की दुनिया में स्वतन्त्र थे। उन पर राजनीति का दबाव कम, व्यक्ति के उन्मुक्त व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक था। उनमें लकीर की फकीरी नहीं थी। मध्ययुग का दार्शनिक काव्य आधुनिक हिन्दी कविता का वह पूर्व-पृष्ठ है जिसे हमारे आधुनिक कवियों को कई बार खोल कर पढ़ना पड़ा है। तुलसी से मैथिलीशरण गुप्त, मीरा से महादेवी, कबीर से निराला, सूरदास से पन्त, जायसी से प्रसाद को बारबार प्रेरणाएँ ग्रहण करनी पड़ी हैं। ऐसा मालूम होता है कि मध्ययुग के सभी महाकवि रूप और काल बदल कर मैथिलीशरण, निराला, पन्त, प्रसाद और महादेवी के रूपों में अवतरित हुए हैं हिन्दी साहित्य का प्राचीन काव्य (मध्य-युग का) अपने स्वस्थ और पुष्ट दार्शनिक विचारों के लिए सदा याद किया जायगा, क्योंकि उसकी जड़ सशक्त दर्शन के के पाताल-लोक में धँस चुकी है। हिन्दी की दार्शनिक चेतना सदैव अपने प्रवाह में गतिशील रही है। यह बात और है कि उसकी गति कभी तीव्र, कभी प्रच्छन्न और कभी क्षीण रही है। मध्ययुग की हिन्दी कविता में दर्शन का जो गतिशील स्रोत फूटा था, वह रीतिकालीन कविता की सहारा मरुभूमि में सूख गया। कविता के कलेवर से विचार की आत्मा (दर्शन) निकल भागी। काव्य का पिंजरा खाली पड़ा था, और उसकी मैना कहीं उड़ चुकी थी। रीतिकाल में कविता विचार से शून्य, आचार से हीन और दर्शन की चिन्तना से निर्बल थी। लगभग दो सौ वर्षों तक हिन्दी कविता, प्रबल विचारधारा के अभाव में सिर धुनती रही। दर्शन से वियुक्त हो कर कविता वेश्या बन कर दरबार में ठुमुक-ठुमुक कर नाचने लगी। विचार के स्थान पर व्यभिचार को खुल-खेलने का अवसर मिला। ज्यों-ज्यों देश में मुगलों का पतन होता गया त्यों-त्यों हिन्दी कविता की भी मृत्यु होती गयी।

सबल विचार-दर्शन के अभाव में कविता की मौत हो जाती है। लेकिन सब दिन एक ही तरह नहीं कटते। समय ने पलटा खाया। देश में अँग्रेजों का सिक्का जमने लगा। सारे देश पर उनका अधिकार होगया। हम उनके सम्पर्क में आये और वे हमारे। विचारों का आदान-प्रदान आरम्भ हुआ। नये युग का श्रीगणेश हुआ।

नयी चेतना—हिन्दी कविता की जो दार्शनिक धारा रीतिकाल की मरुभूमि में विलिप्त हो गई थी, वह पुनः १८ वीं शताब्दी के तीसरे चौथे चरण में धरती फोड़ कर बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ने लगी। इस नवीन दार्शनिक पुनरुत्थान का श्रेय बंगाल के राजा राममोहनराय को दिया जाता है और कहा जाता है कि आधुनिक भारत को जगाने में अकेले राममोहन राय ने जो काम किया वह अद्वितीय था। हिन्दी के आलोचक बात-बात बंगाल में की दार्शनिकता और काव्य चेतना को जरूरत से ज्यादा महत्व देते हैं। लेकिन यदि हम राममोहनराय से पहले होने वाली सांस्कृतिक पुनरुत्थान की तैयारियों को जानने की चेष्टा करें तो स्पष्ट हो जायगा कि भारतेन्दु-काल तक हिन्दी के कवि बंगाल की सांस्कृतिक चेतना से न्यूनाधिक अप्रभावित ही रहे। बात यह है कि उन दिनों बंगाल के अतिरिक्त उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में भारत

के प्राचीन दर्शन को पुनरुज्जीवित करने की तैयारियाँ की जा रही थीं। हिन्दी में संत-साहित्य की एक लम्बी परम्परा रही है और इसका प्रभाव सदैव गतिशील रहा है। राममोहनराय के पूर्व हिन्दी प्रान्तों में ऐसे अनेक संत, दार्शनिक और सुधारक हो चुके थे जो १९ वीं शताब्दी के दार्शनिकों और सुधारकों जैसे राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामतीर्थ के मार्ग प्रशस्त करने में लगे थे। तुलसी साहब (हाथरस, १७६०—१८४२) और संत डेढ़राज (आगरा, १७७१—१८५२) ऐसे ही महापुरुष थे जिन्होंने अपनी साधना के द्वारा भारतीय विचारधारा को नई गति दी थी। राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिन नई बातों का प्रचार किया था उन्हें अकेले संत डेढ़राज करते जा रहे थे। वर्ण-व्यवस्था की अनावश्यकता, ब्राह्मणोतर जाति की कन्या से विवाह, हिन्दू-मुस्लिम साधनाओं का समान-आदर, पुरुषों और स्त्रियों को धर्म के क्षेत्र में समान अधिकार, पर्दा प्रथा का त्याग, मूर्ति-पूजा की व्यर्थता, विचार-स्वातन्त्र्य में आस्था आदि नवीन बातों का प्रचार संत डेढ़राज पहले ही कर चुके थे। हम कह सकते हैं कि यदि हिन्दी कविता में नयी भावधारा का आविर्भाव हुआ तो इसका श्रेय उत्तर भारत के हिन्दी प्रान्तों में काम करने वाले नये संतों, समाज-सुधारकों और दार्शनिकों को ही मिलना चाहिये। बड़े-बड़े लेखकों से यह जानकर खेद होता है कि हिन्दी की नवीन काव्य-चेतना में या तो बंगाल के नये साहित्य का अनुकरण हुआ है या अँग्रेजी की रोमान्टिक कविता का अनुवाद। किसी भी देश की कविता अनुकरण और अनुवाद पर जीवित नहीं रह सकती; उसके पीछे कवि की उस आत्मिक चेतना का विस्फोट होता है जो देश, काल और परिस्थिति की प्रतिक्रिया में जन्म लेता है। हिन्दी में नयी कविता और नयी विचारधारा के मूल-स्रोत को तत्कालीन परिस्थितियों में ढूँढ़ना होगा। रीतिकाल में विचार चेतना की जो धारा अचानक सूख गयी थी, वह अब भारतेन्दु-युग में अनुकूल अवसर पाकर पुनः प्रवाहित होने लगी। युग चेतना ही काव्य चेतना की पृष्ठभूमि बनती है भारतेन्दु-काल में हिन्दी काव्य की भाव दिशा बदली, तो इसकी प्रेरक-शक्तियों को तुलसी साहब, संत डेढ़राज, लाला शिवदयाल (१८१८-७८) राय सालिग्राम साहब (१८२८-१८९८) जैसे अनेकानेक संतों और धर्म सुधारकों में खोजना चाहिये। बात-बात में विशेष का मुखापेक्षी होना ठीक नहीं।

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि दर्शन का सागर लहराने के पूर्व सुधार की सरिता प्रवाहित होती है। भारत के सभी प्रान्तों में हिन्दी प्रान्तों में भी, यही हुआ है। ऊपर हमने जिन सन्तों का नामोल्लेख किया है, वे सभी प्रधानतः धर्म और समाज के सुधारक थे, इनमें सन्त डेढ़राज का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। उन दिनों जब सारा उत्तरभारत दासता की अफीम खाकर सोया पड़ा था डेढ़राज ने घूम घूम कर धर्म की नयी व्याख्या की, रूढ़िवादी समाज को नया मार्ग दिखलाया, शोषित नारियों के अधिकारों को फिर से दिलाने की चेष्टा की और मूर्ति पूजा का तीव्र खण्डन किया। डेढ़राज की नवीन सांस्कृतिक चेतना में हम स्वामी दयानन्द सरस्वती और राममोहनराय के प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

भारतेन्दु का युग सुधार की तैयारी में लगा रहा। स्वयं भारतेन्दु ने एक ओर सन्तों और समाज सुधारकों के नये आन्दोलनों का साथ दिया और दूसरी ओर मध्ययुग की वैष्णव दर्शन-परम्परा को जीवित रखने की चेष्टा की। उन्होंने अपने को वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने की बात कही है। धर्म और समाज को रूढ़ि और जर्जर परम्परा के जाल से मुक्ति दिलाने में भारतेन्दु ने स्वयं समाज-सुधार का आन्दोलन चलाया था। उनके युग में गुजरात और पञ्जाब में स्वामी दयानन्द और स्वामी रामतीर्थ (१८७३—१९०६) और बङ्गाल में राजा राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और बङ्किमचन्द्र का नवीन धर्म-प्रचार आरम्भ हो चुका था। भारतेन्दु पुनरुत्थान की इन नवीन चेतनाओं से अवश्य परिचित थे। उनकी वाणी में नये युग का नया सन्देश इसलिये सुनायी पड़ता है कि वे युग की धर्म-चेतना के प्रति भली-भाँति जा रूक थे। इस युग के कवि और दार्शनिक अपनी मुक्ति के लिये चिंतित नहीं हुए, क्योंकि समाज, धर्म

-और देश की दीन-हीन दशा हो चुकी थी। उन्हें चैन कैसे आता? कोलाहल में साधना नहीं होती। अतः हमारे धर्म चेता कवियों की साधना प्रक्रिया में अन्तर पड़ गया। कवियों ने सूर और तुलसी की वैष्णवता में देश का राग मिलाकर राधा-कृष्ण की भक्ति के साथ देशानुराग का भी परिचय-दिया। 'कहाँ करुणानिधि केशव सोये' में केवल भक्त भारतेन्दु के हृदय का करुण क्रन्दन ही सुनाई नहीं देता वरन् देश के अन्तर की विह्वल वेदना भी सुनाई पड़ती है। अब समाज का सुख, देश का कल्याण और धर्म की नवीन व्याख्या—नये कवियों की नयो भाव-दिशा हो गयी। भारतेन्दु-काल में भारतेन्दु, सत्यनारायण, श्रीधर पाठक, रत्नाकर आदि कवियों ने आधुनिक हिन्दी कविता को चेतना की नयी दिशा दी। वस्तुतः इस काल में हमारे कवि देश की पतनावस्था, धर्म की जर्जरता और समाज की रूढ़िबद्धता का लेखा-जोखा संग्रह करने में ही अधिक व्यस्त रहे। दर्शन की सूक्ष्म दर्शिता और गहराई उनमें नहीं है। इस युग में नवीन सांस्कृतिक चेतना के लिये जो वातावरण तैयार हुआ था वह समाज-सुधार और धर्म सुधार के अधिक अनुकूल और उपयुक्त था। अतः भारतेन्दु-युग पथ-भ्रष्ट धर्म और समाज को नये पथ लाने के प्रयत्न में ही अधिक लगा रहा। सा । को व्यक्ति की अपेक्षा समाज के उत्थान की चिन्ता धिक थी। विभिन्न प्रान्तों में साधना की सामाजिक सं ओं के उदय का यही का था। दयानन्द का समाज, राममोहनराय का ब्रह्मसमाज, केशवचन्द्रसेन पासना-समाज, महाराष्ट्र में रानाडे का प्रार्थना-समाज, इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि अब धर्म के साधकों को सामाजिक शक्ति और सामूहिक उपासना में अपेक्षाकृत अधिक आस्था जगने लगती थी। वे समाज का सङ्गठन कर देश का सङ्गठन करना चाहते थे। इनका प्रभाव हमारे तत्कालीन कवियों पर भी पड़ा।

२० वीं शताब्दी की दार्शनिक चेतना—२० वीं शताब्दी के प्रथम दो दशक भारत की सांस्कृतिक और नवीन दार्शनिक चेतना के पुनरुत्थान-काल माने जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ, ठाकुर और महात्मागांधी, इस युग की प्रेरक शक्तियाँ हैं। दर्शन की गहराई, चिन्तन की सूक्ष्मता और साधना का समन्वय-प्रयोग इन्हीं दार्शनिकों से आरम्भ हुआ। इन सभी साधकों ने वैदिक काल से चली आती हुई आध्यात्मिक चेतना को, देश में, पुनः जीवित किया। इन सभी विचारकों ने वेद, उपनिषद, गीता, वेदान्त तथा वैष्णव धर्म को मिला कर एक ऐसे अध्यात्मवाद को जन्म दिया जो देश को दार्शनिक परम्परा के अनुकूल होता हुआ भी हमारे युग की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक सिद्ध हुआ। मूलतः एक बार फिर उपनिषदिक विचार-धारा को प्रबल वेग से प्रवाहित होने का अवसर दिया गया। डा० सर राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है—"भारतीय दर्शन का अध्यात्म से गहरा सम्बन्ध है। भारत में कोई धर्म ऐसा नहीं पनपा जिसमें दार्शनिक आधार न हो।" तात्पर्य यह कि १६ वीं शताब्दी में राममोहनराय और दयानन्द सरस्वती आदि ने जिन धार्मिक आन्दोलनों का श्रीगणेश किया था, उन्हें २० वी शताब्दी के दार्शनिकों (स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण, विवेकानन्द) और महाकवियों (रवीन्द्र, प्रसाद, पन्त, महादेवी, निराला) ने अध्यात्म की नयी व्याख्या उपस्थित करते हुए व्यक्ति और समाज, समाज और राष्ट्र तथा राष्ट्र और विश्वात्मा तथा विश्वात्मा और परमात्मा की समन्वयात्मक शक्ति का परिचय दिया है। भारत की भूमि पर एक बार फिर मध्ययुग की आध्यात्मिक धारा प्रवाहित हुई। लेकिन अध्यात्म की व्याख्या पहले से अधिक सुबोध और सरल की गई। इन नये दार्शनिकों को यह चिन्ता सदा बनी रही कि अध्यात्म की चेतना व्यक्ति की व्यक्तिगत साधना न हो जाये। उन्हें तो अपने साथ समाज, देश और विश्व को लेकर चलना था। भारत के दार्शनिक इतिहास में सम्भवतः यह पहला अवसर था जब उपनिषद्-गीता और वेदान्त की सामाजिक और मानवतावादी व्याख्या उपस्थित की गयी

भारत के चिर-पुरातन—चिर-नवीन 'आध्यात्म दर्शन का समाजीकरण' कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। भारत में 'सामाजिक-दर्शन' के जन्मदाता इन्हें ही

मान सकते हैं। वास्तव में 'सामाजिक-दर्शन' नाम की चीज पहले कभी नहीं सुनी गयी। यह आधुनिक भारतीय दर्शन की नयी देन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि २० वी शताब्दी के तीसरे चरण तक (सन ३०) हमारे देश में और विशेषकर हिन्दी कविता में जिन विचारकों और दार्शनिक महाकवियों का आगमन हुआ, उन सब लोगों ने अध्यात्म-दर्शन को जनता की सामान्य मनोभूमि पर लाने की जी तोड़ कोशिश की और इसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। हिन्दी के नये कवि युग-चेतना और युग के महिम व्यक्तित्व की वाणी को कान देकर सुनते आये हैं। सन् १८ तक हिन्दी कविता में दर्शन की व्यापकता नहीं आयी थी क्योंकि अब तक समस्त द्विवेदी-युग पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के जादू का असर था। हमारे कवि धर्म-सुधार और समाज-सुधार तथा देशानुराग को ही तीव्रता प्रदान कर रहे थे। वास्तव में, द्विवेदी-युग आध्यात्मिक जागरूक की भूमिका तैयार करने में ही लगा रहा। जिस तरह भूमिका में लह की बात नहीं उसी तरह इस युग में हम हिन्दी के किसी भी दार्शनिक महापुरुष को नहीं पाते। महावीरप्रसाद द्विवेदी अवश्य उस काल की प्रेरकशक्ति थे, लेकिन मूलतः वे साहित्य के पथ-प्रदर्शक थे, दार्शनिक का व्यक्तित्व उनमें नहीं था। मैथिलीशरण गुप्त तब भी 'भारत-भारती' के द्वारा देश के भूत, वर्तमान और भविष्य का हिसाब-किताब करने लगे थे। द्विवेदी-युग के कवियों पर एक हद तक महात्मा गांधी का प्रभाव अवश्य था। गांधीवाद के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त ही हैं जो आज भी इसका प्रतिनिधित्व करते चले जा रहे हैं। इस काल तक कवियों की रूढ़िवादिता और व्यक्तिगत भक्ति-भावना की पुरानी मनोवृत्ति दूर हो चुकी थी। हमारे कवियों में समाज के सुख और देश की आजादी के साथ विश्व बन्धुत्व की मङ्गल-भावना जड़ जमने लगी थी। पौराणिक भावना भी धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी। राधा और कृष्ण की पौराणिक साधना समाप्त प्रायः थी। हिन्दी कविता की चिन्ता-धारा में यह पहला अवसर था जब हमारे विचारक और कवि पौराणिक प्रसङ्गों के प्रभाव से बच-बच कर चलने की कोशिश करने लगे। किन्हीं-किन्हीं कवियों ने अपनी पौराणिक ममता का परिचय नवीन बुद्धिवादी व्याख्या द्वारा दिया है।

सन् १९१८ के बाद हिन्दी कविता का अन्तर और बाहर सब-कुछ बदल गया। उसकी काया तो बदली ही, उसकी आत्मा भी बदल गयी। उसने अपने लिए जिस पृष्ठभूमि को चुना उसमें युग की दार्शनिक चेतना भी थी और कवियों के हृदय की स्वानुभूति भी। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस नयी कविता को 'छायावाद' का नाम दिया गया है। कुछ समय तक छायावाद द्विवेदी-युग के कवियों और आलोचकों के लिए कुतूहल का विषय बना रहा। काफी समय तक यह अनादृत और उपेक्षित रहा। कुछ लोग तो इसकी शव-परीक्षा भी कर चुके हैं। लेकिन कठोर परीक्षा में भी उन्हें प्राण-स्पन्दन की उपस्थिति का अनुभव हुआ है। आज उसकी सहानुभूति-मूलक समीक्षा होने लगी है। लेकिन प्रगति-पथ के अनुयायी आलोचक छायावादी कविता को पूँजीवाद की सृष्टि तक कह देने में तनिक नहीं झिझकते। उनका कहना है कि सन् १९१९ तक हिन्दी कविता में छायावाद का जितना विकास हुआ है, उसमें पूँजीवादी और राष्ट्रीयवादी विचारधारा की प्रधानता थी। इस तरह हिन्दी की छायावादी कविता के सम्बन्ध में आज भी लोगों की धारणायें भ्रामक बनी हुई हैं। धरती के उपासक प्रगतिवादी लेखक आकाश-बिहारी छायावादी कवियों को निराशावादी और पलायनवादी तक कह देते हैं। लेकिन वस्तु-स्थिति कुछ और ही है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादी कविता अपने युग की विषम परिस्थिति, कवियों की व्यक्तिगत निराशा, प्रथम महायुद्ध से होने वाले दुष्परिणामों और विगत युग की थोथी उपदेशात्मकता की प्रतिक्रिया में उठ खड़ी हुई थी। वह न तो बंगला की रवीन्द्र-कविता की नकल है और न अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता का अनुसरण। यह सच है कि छायावादी कवि को अंग्रेजी और फ्रेंच कविता का गहरा अध्ययन करना पड़ा है। ये सभी महत्वाकांक्षी विद्यार्थी थे। कालेज-जीवन में उन्हें विदेशी

साहित्य के अनुशीलन का सुअवसर मिला था। जिन दिनों छायावाद का सृजन हो रहा था वह देश के इतिहास में निराशा का काल था। प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था। सारे यूरोप में महानाश की अग्नि धू-धू कर जल रही थी। इस नाश के दृश्य को देख कर यूरोपीय कवियों का हृदय काँप उठा था। अंग्रेजी में टी० एस० इलियट को भी 'वेस्ट लैंड' लिख कर महानाश की कब्र पर संवेदना के दो आँसू गिराने पड़े थे। बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के भाव जाग चुके थे। ऐसी अवस्था में भारत के अध्यात्म-प्राण कवि यदि दृश्य-जगत को छोड़ अनन्त की खोज में निकले तो क्या आश्चर्य! हिन्दी कवियों का हृदय तो आप ही भरा था। देश में बृटिश सैनिकों का आतङ्क फैला था? देश के नाम पर मर-मिटने वाले दीवानों को फाँसियों की जयमाल देकर उनका अभिनन्दन किया जा रहा था। इनसे हिन्दी के कवि अवश्य विचलित हुए लेकिन भारतीय रङ्गमञ्च पर गांधीजी के आते ही हृदय की निराशा सदा के लिए जाती रही। कुछ दिनों तक हिन्दी काव्याकाश में अस्पष्ट विचारों का कुहरा सा छाया रहा, क्योंकि हमारा देश संक्रान्ति-काल से गुजर रहा था। कवियों की निराशा का एक कारण यह भी था कि हिन्दी के लगभग सभी छायावादी कवि अपने व्यक्तिगत जीवन से असन्तुष्ट थे। एक तो गरीबी उन्हें बेतरह बर्बाद कर रही थी और दूसरे अपने प्रेमिक जीवन में वे असफल हु . सभी कवियों अपने निराश और असफल प्रेम पर आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाना पड़ा है। उनकी प्रारम्भिक कृतियाँ निराश-प्रेम के गीतों से भरी हैं। प्रसाद का 'आँसू' पन्त की 'ग्रन्थि पल्लव' जैसी कुछ रचनायें, ऐसी ही काव्य-पुस्तक हैं। इन छोटे-बड़े कारणों ने मिल कर छायावादी कविता के जन्म में प्रेरक शक्ति का काम किया। पर यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि इन कवियों को अनन्त की कुहेलिका में ही मानसिक वेदना का परितोष क्यों मिला? इसके दो कारण बताये जा सकते हैं—एक, भारत में अध्यात्म की लम्बी परम्परा रही है। दो-तीन सौ वर्ष पूर्व हमारे कवि अध्यात्म के संसार की बातें किया करते थे। हिन्दी कवियों को विरासत में भारत के उज्ज्वल अतीत से वेद, उपनिषद्, गीता, वेदान्त, बौद्ध-दर्शन, वैष्णव-दर्शन आदि ही मिले थे जो रवीन्द्र, रामकृष्ण, विवेकानन्द, गांधीजी, स्वामी रामतीर्थ और अरविन्द के माध्यम से हमें प्राप्त हुए हैं। हिन्दी की छायावादी कविता में १९ वीं-२० वीं शताब्दी की नवीन दार्शनिक चेतना और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। हमारे कवि किसी न किसी आधुनिक दार्शनिक से अवश्य प्रभावित हुए हैं। पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी हिन्दी के ऐसे दार्शनिक कवि हैं जैसे कभी हुए ही नहीं। अतएव इन कवियों ने हिन्दी कविता को जो नई विचारधारा दी, उसमें आधुनिक दार्शनिकों की वाणी स्पष्ट सुनाई पड़ती है। दर्शन की सूखी मिट्टी में कविता ही हृदय का जल छिड़क कर जीवन के पौधों को नव-जीवन प्रदान करती है। बङ्गाल में रवि बाबू और हिन्दी प्रान्तों में पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी ने यही किया। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य में हम कविता की दार्शनिक विशेषता पाते हैं। सारा देश एक साथ दर्शन की नवीन विचारधारा के साथ प्रवाहित होता जा रहा था। निष्कर्ष यह कि हिन्दी के छायावादी कवियों ने बिलकुल नयी किस्म की कविता को जन्म दिया। रवि बाबू की गीतांजलि से हमारे कवियों की दार्शनिक मनोवृत्ति को अवश्य ही सहारा मिला होगा। लेकिन हम यह कहना नहीं चाहते कि हिन्दी की छायावादी कविता में जो भी नवीनता है, उसका मूल स्रोत बङ्गाल की नवीन कविता अथवा रवीन्द्र की कविता में ही छिपा है। महाकवि का व्यक्तित्व व्यापक होता है। उसका प्रभाव दूसरे कवियों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता ही है। रवि बाबू निस्सन्देह नये युग के महान् कवि थे। उनका साहित्य नवीन ही क्यों, चिरनूतन और चिरपुरातन है। हम उनकी सत्ता और महत्ता के कायल हैं। लेकिन यह कैसे मान लिया जाये कि हमारे हिन्दी कवियों को आँख मूँद कर रवीन्द्र का अनुकरण और अनुसरण ही करना पड़ा है। प्रसाद, निराला, और महादेवी हमारे युग के ऐसे महाकवि हैं जिन पर किसी भी दूसरे देशी या विदेशी कवि

का प्रभाव नहीं माना जा सकता। प्रसाद का आनन्दवाद सर्वथा उनकी मौलिक दार्शनिक खोज है, निराला का अद्वैतवाद उनकी अपनी सृष्टि है और महादेवी का दुःखवाद भारतीय साहित्य की अद्वितीय देन है। पन्त की प्रारम्भिक रचनाओं पर रवीन्द्र का प्रभाव अवश्य माना जा सकता है लेकिन बाद की रचनाओं में उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व देखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दी के छायावाद में जिन सशक्त कवियों का आविर्भाव हुआ है, वे सभी अपनी-अपनी परिस्थिति और मनोवृत्ति के अनुसार दार्शनिक चेतना को अपने काव्य में विस्तार देते गये हैं। उन पर किसी भी बाहरी कवि का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं माना जा सकता।

मौलिकता—अब मैं संक्षेप में यह विचार करना चाहता हूँ कि छायावादी कविता की वे कौनसी ऐसी मौलिक उद्भावनायें हैं जो उसकी दार्शनिक चेतना को व्यापक और कविता को अमर बनाती हैं। सच तो यह है कि हमारे नये दार्शनिक कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से पश्चिमी आलोचकों के उन सभी आक्षेपों का खण्डन कर नितान्त नूतन दर्शन का निर्माण किया है जो एक समय भारतीय दर्शन को निराधार, सैद्धान्तिक निराशावादी, निष्क्रिय, अव्यवहारिक और पलायनवादी समझते थे। कुछ विज्ञापनवादी अँग्रेजों ने यूरोपीय दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध करने में भारतीय दर्शन की हीनता भी बतलायी है। हिन्दी के सभी छायावादी कवियों ने एक मत होकर इन हीन भावों की जड़ खोद डाली है। इस छायावादी कविता की दार्शनिक भित्ति एक दृढ़ विचार-दर्शन की नींव पर खड़ी है।

(क) द्वैत और अद्वैत का समन्वय, (ख) जीवन और जगत् की लालसा (ग) मृत्यु की असारता (घ) मुक्ति की अनिच्छा (ङ) सुख-दुःख की सम्मिलित उपासना (च) प्रकृति के प्रति विराट भावना (छ) परम चेतन सत्ता का समाजीकरण (ज) पलायन और प्रगति का सामञ्जस्य और (झ) विश्वात्मा में व्यक्ति की लय—ये छायावादी दर्शन-काव्य की कुछ मौलिक उद्भावनायें हैं, जिनकी अभिव्यक्ति सभी प्रबल कवियों में हुई है। हमारे कवियों ने दर्शन के सिद्धान्त और प्रयोग की जितनी सरल और सुबोध तथा व्यावहारिक व्याख्या की है वह भारतीय दर्शन के इतिहास में क्या, विश्व-दर्शन की चेतना में असाधारण और अद्वितीय है। इन दार्शनिक उद्भावनाओं में कवि ने कहीं भी मध्ययुग की राधाकृष्ण वाली पौराणिक लीलाओं को स्थान नहीं दिया। यह दर्शन अनुपम और अनमोल है जिससे समस्त मानवता को उद्बोधन प्राप्त होता है। निराला जी की निम्नलिखित पंक्तियों में हम छायावाद की दार्शनिक विशेषताओं से अवगत हो सकते हैं:—

चेतन का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य-
अक्षरों से अङ्कित हो नित्य।
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय।

वास्तव में, हिन्दी का छायावाद विश्व-चेतना का सुन्दर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य और महाशक्ति से व्यस्त विद्युत कणों का संग्रह समन्वय है जिसका प्रत्येक अक्षर विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य रूप से अङ्कित है। इन कवियों को अपनी दिव्य दृष्टि से न केवल भारत की वरन् समस्त संसार की दीन-हीन दशा को देखकर विराट दार्शनिक चेतना की उपलब्धि हुई थी। छायावाद का दृष्टिकोण प्रगति तथा जीवन का विरोधी नहीं वरन् जीवन की गतिशीलता में आस्था रखता है। यदि हिन्दी कविता के इतिहास में छायावाद का आगमन न हुआ होता तो आज इतनी जल्दी प्रगतिवाद की पताका न फहरा पाती। आज हालत यह है कि छायावाद की माया रूप बदलकर प्रगतिवादी, प्रतीकवादी और प्रयोगवादी कवियों को रिझाती चली जा रही है, उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार-दर्शन उन्हें प्रभावित और प्रेरित नहीं करता। वास्तव में, हिन्दी क्या, विश्व के समस्त साहित्य में आज गत्यवरोध बना हुआ है। देखना है, काव्याकाश से यह कुहासा कब दूर होता है!

आधुनिक काव्य की दार्शनिक विचार-धारा

श्री गुलाबराय एम० ए०

भाव और विचार—काव्य के तत्वों में यद्यपि भाव तत्व को प्रधानता मिली है तथापि उसमें विचारतत्व को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। काव्य के विचार शुष्क विचार के रूप में नहीं उपस्थित किये जाते हैं वरन् उनमें भावना का रस मिलाकर उनको ग्राह्य बनाया जाता है। काव्य में कला पक्ष के साथ हृदय और बुद्धि पक्ष दोनों का ही संतुलन आवश्यक है। विचार के बिना भाव केवल साबुन के रंग बिरंगे बबूलों की भाँति रह जाते हैं। विचार के बिना भाव अन्धे हैं और भाव के बिना विचार पंगु और शक्तिहीन रह जाते हैं। सांख्य शास्त्र के प्रकृति और पुरुष के अन्ध-पंगु न्याय से काव्य गतिशील होता है। विचार ज्ञानमय होने के कारण पुरुष के पर्याय हैं और भाव शक्तिमय होने के कारण प्रकृति के स्थानापन्न हैं।

युग के प्रभाव—हमारे कवियों ने अधिकांश में भारतीय विचार-धारा का आश्रय लिया है किन्तु वर्तमान भारत पूर्व और पश्चिम के विचारों का मिलन बिन्दु रहा है। योरोप के कुछ विचार तो भारतीय परम्परा से मेल खाते थे और उन्होंने उनको पुष्ट भी किया और कुछ स्वतन्त्र तेल और पानी की तरह अलग रहे। प्राचीन परम्पराओं में तो शाङ्कर वेदान्त और वैष्णव भक्ति मूलक द्वैतता अथवा द्वैतता और अद्वैतता का समन्वय रहा। वैष्णव सम्प्रदायों में वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य का प्रभाव अधिक रहा। शैव आगम यद्यपि कम पढ़े गये तथापि काशी में उनका भी प्रभाव रहा। राष्ट्रीय भावना ने बौद्ध धर्म को कुछ अधिक पोषण दिया। कुछ तो बौद्ध धर्म का दुःखवाद तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न निराशावाद से अधिक मेल खाता था और बौद्ध धर्म के नाते चीन, जापान आदि एशियायी देशों से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाने की सम्भावना हो जाती है। धार्मिक क्षेत्र में अद्वैतवाद की पुष्टि करने वालों में रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ प्रमुख हैं। ब्रह्म समाज ने भी उपनिषदों की अद्वैत विचारधारा को अग्रसर किया। स्वामी दयानन्द ने द्वैतवाद क्या त्रैतवाद का समर्थन किया। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र माना।

इन देशी प्रभावों के अतिरिक्त हेगिल का आध्यात्मिक सर्वात्मवाद और मार्क्स का भौतिक द्वन्द्वात्मक तर्कवाद हमारे शिक्षित युवक के मन को आकर्षित करता रहा है। (प्रगतिवाद में मार्क्सवाद का ही प्रभाव है) काव्य में तत्वज्ञान की इसलिए और भी आवश्यकता पड़ती है कि जीवन-दर्शन भी तत्वज्ञान पर आधारित रहता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, यहाँ तक कि रीतिकालीन देव और बिहारी तक के काव्य में एक दार्शनिक अन्तःस्रोत बहता रहता है। अब हम दर्शन की कुछ मूल समस्यायें लेकर देखेंगे कि उनके सम्बन्ध में हमारे कवियों ने क्या दृष्टिकोण रखा है।

जगत का अस्तित्व—शाङ्कर वेदान्त के सिद्धान्त का मूल सूत्र यह है:—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः' मध्यकाल में तो शाङ्कर मायावाद की ऐसी तूती बोली कि बिहारी जैसे वैष्णव कवि भी मायावाद के बहाव में बह गये। वे लिखते हैं—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

किन्तु नवयुग के प्रारम्भ में ही भारतेन्दुजी ने मायावाद के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य को मायावाद की रुई के लिए अग्नि बतलाया—

तूलमायावाद दहन हित अग्नि वपुः

सच्चे वैष्णव भक्तों की भाँति शाङ्कर वेदान्त की दोनों भित्तियों का खण्डन कर भारतेन्दुजी ने उसको भारत की दुर्दशा का कारण बतलाया।

रचि के मत वेदान्त को, सब को ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो तोरि हाथ और पाँव॥

भक्ति-भावना के कारण उन्होंने अद्वैतवाद को भी एक विडम्बना मात्र कहा है:—

कहो अद्वैत कहाँ से आयो,
शिवोऽहं भाखत सब लोग।
कहँ शिव और कहँ कीट अन्न के,
यह कैसो संयोग ?

द्विवेदी युग के आरम्भ में पं० श्रीधर पाठक ने भी जगत को सचाई सार माना है। जगत को सचाई सार मानने के कई कारण हैं, कुछ तो वैष्णवता और कुछ पाश्चात्य भौतिकवादी प्रभाव जो प्राकृतिक शक्तियों को अधिक महत्व देते हैं। इसके अतिरिक्त बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भी यह माँग थी कि संसार को सत्य माना जाय। संसार को मिथ्या मान कर सांसारिक अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील होने की प्रेरणा कम हो जाती है। यद्यपि स्वामी शङ्कराचार्य ने जगत की व्यावहारिक सत्ता मानी है तथापि आधुनिक युग का मनीषी परमार्थ और व्यवहार में अन्तर करना पसन्द नहीं करता। संसार को सत्य मान कर ही उसके प्रति आस्था हो सकती है। आधुनिक कविगण संसार को सत्य और वास्तविक मानते हैं।

जगत चेतन स्वरूप है—छायावाद प्रकृति का चेतन आधार लेकर चला है। प्रकृति में मानवी भावों का तभी आरोप हो सकता है जब यह माना जाय कि प्रकृति और मानव में एक ही आत्मा व्याप्त मानी जाय। छायावाद के दो उन्नायकों, प्रसाद और पन्त की कविता सर्वात्मवाद के भावों से अनुप्राणित है। प्रसाद ने विश्व को शिव रूप देखा है। उन पर शैव अद्वैतवाद का प्रभाव है। उन्होंने प्रारम्भ में व्रजभाषा में कविता की थी। उसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूप।
विश्वरूप तिन मांहि विराजत लखि सबही रूप॥
यह विराट संसार तासु प्रकट रूप है।
या में अञ्जन की आभा राजत अनूप है॥

—प्रेमराज्य

वे आनन्दवादी थे। 'रसो वै सः' के सारे जगत को आनन्दमय देखते थे और उसमें चितशक्ति के प्रसार का अनुभव करते थे किन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव से और वैसे भी उसको परिवर्तनशीलता के मानने वाले थे।

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत।
वह रूप बदलता है शत शत॥
कण विरह मिलनमय नित्य निरत।
उल्लास पूर्ण आनन्द सतत॥

—कामायनी (दर्शन सर्ग)

वे परमाणुओं को आकर्षण विकर्षण से पूर्ण और सतत नृत्यशील मानते हैं। विज्ञान भी आज कल के अणु परमाणुओं में सौर मण्डल की सी गति मानता है। शिव का आनन्दमय स्वरूप जो उनके नृत्य में अभिव्यक्त होता है, सारे विश्व में व्याप्त है। नृत्य जगत में व्याप्त ईश्वरीय सत्य का प्रतीक है। शिव संहिता में बतलाया गया है कि एक ही आनन्दमय सत्ता सारे संसार में व्याप्त है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

एकः सत्ता पूरितानन्दरूपः पूर्णोव्यापी वर्त्तते
नास्ति किञ्चित।

शिव संहिता १।६१

संसार में आह्लाद की व्याप्ति के कारण वह भगवान की लीला के रूप में परिणित हो जाता है। सारा विश्व, सूर्य, चन्द्र और तारे उसी शिव के नृत्य के फलस्वरूप अस्तित्व में आते हैं। देखिये—

लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा पुंज चितमय प्रसाद;
आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर।
बनते तारा हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूल कण से यह भूधर;
संहार सृजन के युगल वाद,
गतिशील अनाहत हुआ नाद।

—कामायनी (दर्शन सर्ग)

संहार और सृजन उन्हीं के चरण विक्षेप का फल है। यह नृत्य अनाहतनाद (शब्द ब्रह्म) का ही गतिमय रूप है। यह सारा सर्ग जगत में चित्त शक्ति के लहराते हुए आनन्द का काव्यमय निरूपण है। श्वेताश्वेतर उपनिषद

में रुद्र को सब लोकों का अपनी शक्तियों द्वारा शासक, पालक और संहारक बतलाया गया है, देखिए :—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः
य इमान लोकान ईशत ईशनीभिः।
प्रसङ्जनास्तिष्ठिति संचुकोयान्तकाले
संसृज्य विश्वाभुवनानि गोपाः —श्वेताश्वतर ३-२

पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त भी सारे सौरमण्डल को एक ही चितशक्ति का प्रकाश और प्रसार मानते हैं। प्रसाद जी में यही शक्ति कुछ साम्प्रदायिक (शैव) रूप धारण कर लेती है किन्तु उसके ऊपर का साम्प्रदायिकता का आवरण हटाने पर उसी व्यापक ब्रह्म की आनन्दमयी चेतना के दर्शन होते हैं। पन्तजी के विचार किसी सम्प्रदाय से प्रेरित नहीं हैं :—

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय,
चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय!
रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह, ताराचय
अग जग प्रकाशमय है निश्चय!
चित् शक्ति एक रे जगज्जननि,
धृत ज्योति योनि में लोकाशय,
पलते उर में नव जगत सतत,
होते जग जीर्ण उदर में लय!
—सौर मण्डल (पल्लविनी पृष्ठ २२१)

तैतरेय उपनिषद में लिखा है कि जिसमें से सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसमें जीवित रहते हैं, जिस में जाकर विलीन हो जाते हैं उसे ही तू ब्रह्म जान।'

'यतोवा इयानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।'
तै० ३।१।

जो लोग वर्तमान युग की कविता में भौतिकवाद ही देखते हैं उनके लिए ऊपर के उद्धरण नेत्रोन्मीलक होंगे। प्रगतिवाद ने भौतिकवाद को सिद्धान्त रूप से अपनाया है किन्तु उसकी काव्यमय अभिव्यक्ति अधिक नहीं हुई है। विकासक्रम में चेतनवादी चेतन का हाथ देखते हैं किन्तु मार्क्सवादी विकासवाद में भौतिक आवश्यकताओं और प्रकृति के अन्ध प्रयोगों को मान्यता देते हैं।

पन्तजी जड़ में ही चेतन के बीज निहित पाते हैं, जड़ जड़रूप से चेतन को नहीं जन्म देता है वरन् उसमें चेतन का बीज निहित रहता है जो जड़ के बन्धनों को तोड़कर बाहर आता है :—

बन्दी उसमें जीवन अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बंधन
पाने को है जो सत्य मुक्ति,
जड़ निद्रा से जग बन चेतन।
—सृष्टि (आधुनिक कवि, पृष्ठ ६५)

मायावाद—यह व्यापक रूप से तो नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक सब ही कवि जगत को सच्चा मानते हैं किन्तु वे उसे चेतन-स्वरूप अथवा चेतन का परिणाम अथवा विवर्त मानते हैं। निरालाजी मायावाद की ओर अधिक झुके हैं—संसार माया है, नश्वर है—

भेद का मायावरण, दुस्तर तिमिर घोर-उद्दावर्त
प्रमाणित तरङ्ग-भङ्ग.....
स्पृष्टहत जड़मता—
नश्वर संसार
सृष्टिपालन, प्रलय-भूमि
दुर्दम अज्ञान राज्य
मायावृत 'मैं' का परिवार -
अस्तित्व जीवन का महामोह —जागरण

द्वैत और अद्वैत—द्वैत-अद्वैत के सम्बन्ध में कुछ मतभेद अवश्य है किन्तु जब सारे विश्व को ही चेतनाधार मान लिया जाता है फिर द्वैत के लिए कम गुञ्जाइश रह जाती है किन्तु अद्वैतता की भी कई श्रेणियाँ हैं। कुछ तो अद्वैतता में भी व्यक्तित्व कायम रहना मानते हैं और कुछ कबीर की भाँति बूँद और समुद्र का सा पूर्ण एकीकरण और विलीनता भी मानते हैं किन्तु वैष्णवता और पश्चिमी ईसाई दर्शनों के प्रभाव से द्वैतता का अंश अधिक रहता है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने 'निर्गुण तू तो अखिल गुणों का वासस्थान' कह कर सगुण की स्थापना की और उन्होंने 'दासोऽहम्' की तन्मयता को ही 'सोऽहम्' कहा:—

अब भी एक प्रश्न रहा कोऽहं ?
कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं
तब तन्मयता कह उठी कि सोऽहं। —झंकार

प्रिय प्रवास की राधा में भी वैयक्तिक प्रेम तन्मयता के कारण जगत प्रेम में परिणत हो जाता है। पन्त में अद्वैतता की ओर अधिक झुकाव है—

एक छवि के असंख्य उडगन,
एक ही सब में स्पन्दन;
× × ×
हमारे काम न अपने काम
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप; —नित्यजगत

निराला में द्वैत और अद्वैत दोनों के अलग-अलग स्तर हैं। पञ्चवटी में हमको द्वैत और अद्वैत दोनों ही अपने-अपने स्थान में मिलते हैं—लक्ष्मण का दृष्टिकोण सेव और भक्ति का है, उसमें साधना का द्वैतभाव है और राम के दृष्टिकोण में सिद्ध का ऐक्य-भाव है। लक्ष्मणजी कहते हैं—

मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे काफी है
सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ मैं—
तो अधिक आनन्द है,
यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध—
पीता रहूँ सुधा इन्दु सिन्धु से बरसती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा
इसमें सन्देह नहीं—
आनन्द बन जाना हेय है
श्रेयस्कर आनन्द पाना है

कविवर रत्नाकर ने भी अपने उद्धवशतक में गोपियों द्वारा विलीनता के भाव का खण्डन कराया है—

जैहै बनि-बिगरि न बारिधता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।

रामचन्द्रजी ऊँचे स्तर पर पहुँच कर एकता और मुक्ति का पक्ष लेते हैं। वे कहते हैं:—

डूब गया अहङ्कार अपने विस्तार में—
टूट गये सीमा बन्ध—
छूट गया जड़-पिण्ड—
× × ×
स्थित मैं आनन्द में चिर काल जाल मुक्त
ज्ञानाम्बुधि बीचि रहित।

'तुम और मैं' में ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध दिखाई देता है जिसमें यह भाव प्रकट होता है कि तरङ्ग समुद्र की है न कि समुद्र तरङ्ग का है। इसमें वैष्णव भावना भी आ जाती है।

तुम तुङ्ग हिमालय-शृङ्ग
और मैं चञ्चल गति सुर सरिता
× × ×
तुम दिनकर के खर किरण जाल
मैं सरसिज की मुस्कान
× × ×
तुम प्राण और मैं काया

इस कविता में तुम और मैं के कई सम्बन्ध दिखाये गये हैं।

महादेवी में भी एकता के साथ द्वैतता मिलती है। महादेवी और प्रसाद दोनों पर वेदान्त के साथ बौद्ध-दर्शन का भी पूरा प्रभाव है। वे संसार को भगवान का विराट रूप मानती है—

आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर गर्जन रुन-झुन मँजीर।
× × ×
रवि शशि तेरे अवतंस लोल
सीमन्त जटित तारक अमोल
× × ×
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर

पूर्ण एकता का आभास नीचे के गीत में दिया जाता है—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
× × ×
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ॥
× × ×

तार भी आघात भी झङ्कार की गति भी।
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ॥

महादेवीजी जीव को सीमाओं पर गर्व करती हैं। वे ससीम की सीमाओं में ही असीम के दर्शन करती हैं:—

विश्व में यह कौन सीमा हीन है
हो न जिसकी खोज सीमा में मिला
क्या तुम ही सर्वज्ञ एक महान हो?

महादेवीजी का दुखवाद और 'नीर भरी बदली' की सी विनाशशीलता बौद्ध धर्म की देन है।

किन्तु इसी के साथ अभेद में भेद भी लगा हुआ है आजकल का युग व्यक्तिवाद का युग है। व्यक्ति अपने को बिलकुल खो नहीं सकता है।

मैं तुम से। एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश
मैं तुम से हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन में तड़ित-विलास॥

प्रसाद की समरसता में भी व्यक्तित्व के साथ अभेद है। समरसता में मित्र और दम्पत्ति की सी द्वैतता में भी एकता का आनन्द रहता है—

जाते समरमानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्मपरमात्मयोः

प्रवृत्ति निवृत्ति—आज कल की कविता निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति की ओर अधिक झुकी है। यद्यपि 'लेचल भुलावा देकर मेरे नाविक' के से पलायनवाद की प्रवृत्ति छायावाद में रही है तथापि वह स्थायी नहीं बनी। स्वयं प्रसादजी की फुटकर कविताओं में तथा कामायनी में सात्विक प्रवृत्तिओं की प्रबल प्रेरणा है। मनु देव सृष्टि की विफलता के कारण पलायनवादी बन गया था। श्रद्धा उसका ध्यान जीवन में व्याप्त आनन्द और उल्लास की ओर आकर्षित कर उस में जीवित रहने और कर्म करते रहने की प्रवृत्ति जाग्रत करती है। मनु का नैराश्य देखिये:—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय!
लिया है देख नहीं संदेह।
निराशा है जिसका परिणाम,
सफलता का वह कल्पित गेह।

—श्रद्धा सर्ग

श्रद्धा कहती है:—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह,
अरे तुम इतने हुये अधीर।
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मरकर जिस को वीर।
और यह क्या तुम सुनते नहीं,
विधाता का मङ्गल वरदान—
"शक्तिशाली हो विजयी बनो"
विश्व में गूँज रहा जय गान।
डरो मत अमृत सन्तान,
अग्रसर है मङ्गल मय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र,
खिची आवेगी सकल समृद्धि।

'नैराश्यं परमं सुखं' वाले हतोत्साह करने वाले सिद्धान्तों के विरुद्ध यह आशावादी संदेश देश के लिये आवश्यक है। भगवान के मङ्गलमय वरदान में विश्वास रखकर ही हम दुनिया के संघर्ष में आगे बढ़ सकते हैं।

आधुनिक कविता में दुखवाद की प्रवृत्ति अवश्य है किन्तु आशावाद भी पर्याप्त मात्रा में है। देखिये निराला जी का गीत:—

रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।

बन्धन में मुक्ति—आजकल के युग में गीता के निष्काम कर्म को अपनाया है। बन्धन में ही मुक्ति देखने की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति कवीन्द्र रवीन्द्र में हुई है।

वैराग्य साधने जे मुक्ति से आमार नय
असंख्य बन्धन माझे हे आनन्दमय! लभिव मुक्तिस्वाद।

—गीताञ्जलि

पन्तजी भी दूसरों के लिये तपने और जलने का उपदेश देते हुए बन्धन में ही मुक्ति के दर्शन करते हैं:—

तपरे मधुर मधुर मन
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
× × ×
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गंध हीन तू गंध युक्त बन

गुप्तजी बन्धनों को स्वार्थ हित नहीं चाहते पर

'बन्धन ही क्या स्वार्थ हेतु समुचित हैं?' वे बन्धनों में ही मर्यादा देखते हैं। अपने बन्धन में दूसरों की मुक्ति है। सारा कर्तव्य शास्त्र अपने अधिकारों को सीमित रखने में ही है।

'जनपद के बन्धन मुक्ति-हेतु हैं सब के,
यदि नियम न हो, उच्छिन्न सभी हो कब के।'

समन्वयवाद—समन्वयवाद भारतीय संस्कृति का एक सर्वमान्य अङ्ग है। समन्वयवाद वर्तमान कविता में ओत-प्रोत है। प्रसाद और पन्त दोनों ही सुख-दुख का समन्वय चाहते हैं—

हो उदासीन दोनों से सुख-दुख से मेल कराये।
ममता की हानि उठाकर दो रूठे हुये मनाये॥
—प्रसाद

सुख और दुःख का द्वन्द्व ममता के ही कारण उपस्थित होता है। यदि ममता और अहंकार न रहे तो सुख-दुख का भी द्वन्द्व छूट जाय।

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन!
—पन्त

घन दुख का प्रतीक है और शशि सुख का। महादेवी दुख को ही सुख मान लेती हैं। समरसता का सिद्धान्त भी समन्वयवाद का ही साम्प्रदायिक रूप (बुरे अर्थ में नहीं) है। कामायनी में इस समरसता का सिद्धान्त बड़े स्पष्ट शब्दों में मुखरित हुआ है। उसमें हृदय और मस्तिष्क भावना और बुद्धि का समन्वय है। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा को सौंपती हुई कहती है:—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निचय
हरले, हो मानव भाग्य उदय,
सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन मा की पुकार। —दर्शन सर्ग

बौद्धिक ज्ञान जहाँ तर्क में उलझ जाता है वहाँ हृदय का प्रातिभ ज्ञान (Intuition) एक साथ सत्य के दर्शन कर लेता है। श्री मद्भगवद्गीता में भी कहा है 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्' कामायनी में इसी का कथात्मक निरूपण है। श्रद्धा के ही सहारे मनु को शिव के दर्शन हुए हैं।

कामायनी में अधिकार और अधिकारी, पुरुष और नारी सबकी समरसता का निर्देश किया गया है। जड़ चेतन, जीव ब्रह्म सबकी तात्विक समरसता का नैतिक-रूप अधिकारी और अधिकृत की समरसता में मिलता है। इस समरसता का प्रभाव ही दुनिया के सङ्घर्ष का मूल है। आनन्द समरसता में ही है क्योंकि समरसता में पूर्णता है। पूर्णता ही भूमा है और भूमा ही सुख और आनन्द है। भूमा की व्यापक स्थिति में एक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता है। उपनिषदों में कहा है—

'यो वै भूम तत्सुखम्'

विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान!

विषमता ही जगत की पीड़ा का कारण है। समरसता में विषमता जाती रहती है और दुख की कालिमा से सुख की उज्ज्वल मणियाँ निकलने लगती हैं। अन्त में बतलाया गया है कि ज्ञान इच्छा और क्रिया के समन्वय से त्रिपुरारि शिव के दर्शन होते हैं।

स्वप्न स्वाप, जागरण मात्र हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे

इस प्रकार आधुनिक कविता तत्वज्ञान की गुत्थियों के साथ जीवन का एक दर्शन देती है जिसमें जीवन की वास्तविकता के साथ लड़कर विजय पाने का एक आशा भरा सन्देश है।

आधुनिक काव्य में सौन्दर्य-बोध

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०, साहित्य-रत्न

सौन्दर्य परिभाषाओं की सीमा में नहीं बँध पाया, अच्छा ही हुआ, आचार्यों ने इसे 'अनिर्वचनीय' कहा, वस्तु विशेष के साथ हमारी चित्त-वृत्ति कभी-कभी एकाकार हो जाती है, वस्तु ज्ञान का विषय न बन कर भावना का विषय बन जाती है, और इस स्थिति में हम कह उटते हैं कि यह वस्तु सुन्दर है। आचार्य शुक्ल इस अवस्था को "चित्त की तदाकार परिणति" की अवस्था मानते हैं और 'सौन्दर्य' को सुन्दर वस्तु से अलग नहीं मानते। किन्तु हमारे यहाँ नैयायिक वस्तुओं में 'जाति' को मानते हैं यथा मनुष्यों में 'मनुष्यत्व', घटों में 'घटत्व' आदि। इस दृष्टि से सुन्दर वस्तुओं में एक सामान्य तत्व 'सौन्दर्य' की सत्ता माननी होगी।

किन्तु पुष्प में 'पुष्पत्व' कहाँ रहता है ? 'मनुष्यत्व' कुछ गुणों या विशेषताओं की समष्टि मात्र है जो सुविधानुसार कथनीय बनाने के लिए 'मनुष्यत्व' के नाम से अभिहित किया जाता है या 'मनुष्यत्व' वस्तुतः कोई पदार्थ है ? विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि जिसे हम पुष्प कहते हैं वह वस्तुतः कुछ पंखुरियों का पुञ्ज मात्र है, पंखुरियाँ की—विविध रङ्गों से युक्त पंखुरियों को बिखेर देने पर 'पुष्पत्व' की सत्ता कहाँ रहती है ? तो यह एक तथ्य है कि सौन्दर्य पंखुरियों के विशेष विधान में है, इस 'विधान' को व्यापक अर्थों में सापेक्षता (Proportion) सङ्गति (Symmetry) सन्तुलन (Balance) आदि का 'सङ्घात' समझना चाहिए जिनका विवेचन सौन्दर्य शास्त्र में हुआ करता है, तो आकर्षक वस्तुओं में—विषयगत सौन्दर्य की दृष्टि से हम सापेक्षता, सङ्गति, सन्तुलन, सामञ्जस्य, सम्बद्धता, सानुपातता आदि का विचार करते हैं, ये सब 'पूर्णता' में पर्यवसित होकर, 'सौन्दर्य' को जन्म देते हैं, जो आनन्द का पर्याय है।

द्रष्टा की दृष्टि से देखने पर 'सौन्दर्य' 'भावना' पर निर्भर करता है, और भावना व्यक्ति के संस्कार, शिक्षा, रुचि-अभ्यास आदि अन्य वैयक्तिक व सामाजिक तत्वों पर। इस दृष्टि से 'सुन्दर' वह वस्तु होगी जो हमारी भावना के अनुकूल होगी तभी वह हमारी भावना का विषय बन सकेगी और तभी उसे देखकर हमारे चित्त की 'तदाकार परिणति' सम्भव होगी, 'वस्तु' के प्रति तादात्म्य के लिए उस वस्तु का हमारी आत्मा के अनुकूल होना आवश्यक है। कलाकार की यहीं परीक्षा होती है कि वह वर्णित विषय को, व्यञ्जित अनुभूति को, हमारी भावना का विषय बना देता है और वह जितना इस कार्य में सफल होता है उतना ही हम उसे सौन्दर्य स्रष्टाओं में उच्च स्थान देते हैं। यही साधारणीकरण कहलाता है। अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए यहाँ दो बातों को देखा जाता है (१) अनुभूति की सच्चाई, (२) अभिव्यक्ति की सामर्थ्य। अनुभूति के क्षेत्र में असंख्य भाव राशियाँ हैं, संस्कृत के आचार्यों ने इन्हें स्थायीभाव व सञ्चारियों में गिनाया है, पर वे अनेक हैं। इनके अतिरिक्त जगत में होने वाले अनेक अनुभव व विचार-प्रत्यूह को भी गणना इसी में होनी चाहिये। भावना के क्षेत्र में 'बुद्धि-राहित्य' सम्भव नहीं, यह बात दूसरी है कि सुख-दुःखादि की अनुभूति में बुद्धि की वैज्ञानिक प्रक्रिया कार्य नहीं करती; अभिव्यक्ति के सामर्थ्य में शब्द व अर्थ का सामञ्जस्य तथा ओज, माधुर्य, प्रसादादि गुणों व स्पष्टता, चारुता, अलंकृति, संहिति, संगीत, लय, वृत्त, चमत्कारक वक्रता, लावण्य, भणिति-भङ्गिमा आदि का विचार होता है।

तो सौन्दर्य-बोध की यह सामग्री है (१) विषयगत सौन्दर्य—रूप प्रकृति—(१) नर प्रकृति (२) नरेतर प्रकृति।

(२) विषयीगत सौन्दर्य—(१) भावना (idea and feeling), सङ्कल्प, विकल्प, अनुराग, विराग, आनन्द, विषाद, अश्रु-हास आदि।

(३) अभिव्यक्ति—शब्द, अर्थ, भणिति-भङ्गिमा—अलङ्कार, शैली, रीति, वृत्ति आदि-आदि।

सौन्दर्य का विभाजन क्या सम्भव है ? नहीं, वह तो अनुभूति का विषय है, आनन्द का अनुभव सभी करते हैं परन्तु वह क्यों होता है, कैसे होता है, इसका उत्तर देना कठिन है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति तथा संस्कृत रुचि ही इसका कारण है और प्रक्रिया के क्रम को लक्षित न कर सकने के कारण आचार्यों ने रस—आनन्द—सौन्दर्य को व्यञ्जित माना और उसे "असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य" कहा था। सामान्यतः सौन्दर्य बोध में हम रूप, भावना व अभिव्यक्ति का विचार करते हैं, इनमें तीनों का निर्वाह साथ-साथ भी होता है, अभिव्यक्ति तो किसी रूप या भावना की ही होगी, रूप सृजन में भी भावना का प्रक्षेपण रहता भी है और नहीं भी रहता, 'भावना' की प्रेषणीयता के लिए रूपों का अस्तित्व अनिवार्य है। अतः रूप, भावना व अभिव्यक्ति का विभाजन 'सौन्दर्य' की व्याख्या के लिये किया जाता है। अनुभूति के समय हम "और कछु" का ही अनुभव करते हैं जिसे "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति" कहा गया है। सौन्दर्यानुभूति के समय उक्त तीनों तत्व त्रिदेव के समान एक ही 'ब्रह्म' के पर्याय बन जाते हैं, आचार्य जब 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' 'इष्टार्थे व्यवछिन्ना पदावली', 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं', 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं' कहते हैं तो इन्हीं उपरोक्त तीन तत्वों में से किसी एक पर अधिक बल दे जाते हैं। इन परिभाषाओं के निर्माण करते समय देश और काल के बन्धन थे, सौन्दर्य बोध के अपने-अपने मापदण्ड भी अलग-अलग थे।

आधुनिक-काल के सौन्दर्य के मापदण्ड बदले, रीतिकाल का सौन्दर्यबोध, 'सौन्दर्यमलङ्कारः' पर आधारित था या रमणीयार्थ प्रतिपादक काव्य पर, जिसमें कुछ चमत्कार नहीं, शब्द का या अर्थ का, वह काव्य नहीं, कूड़ा है। इस काल में विषयीगत सौन्दर्य का लोप हो चुका था। चेतन की प्रक्रिया राधाकृष्ण के विहार में नेत्र निमीलन कर परकीयाओं की प्रतीक्षा में परिसमाप्त हो चुकी थी, 'रूपों' के क्षेत्र में प्रकृति 'भावना' को उद्दीप्त करने का साधन मात्र थी। कचनार की डाल डाल पर अङ्गार डोल रहे थे, विरह में बूँदें, बज्र बन गईं थीं। प्रकृति के रूपों की स्थिरता पर दृष्टि पड़ी तो कह दिया गया—

पदमाकर शीतल चाँदनी के,
कछु औरहि डोरन ह्वै गये हैं।
सखि वे हम, वे तुम वेई बनें,
पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।

तो रीतिकाल में 'रूप रचना' नवीन नहीं हो सकी, दृश्य विस्तार, दृश्योद्‌घाटन, दृश्याङ्कन की दिशाओं में अतिशयोक्तियों से वस्तुओं की शोभा को नापने का प्रयत्न किया गया, नायिका व नायक के गुण व अमूर्त भावनाओं की व्यञ्जना के लिए भी अतिशयोक्ति की परम्परा अपनाई गई। संस्कृत काल में नखशिख का निश्चित उपमान-विधान ब्रजभाषा की ललित पदावली में उतार लिया गया। रीतिकाल की सारी कला को एक साथ देखने से स्पष्ट है इस काल में—(१) स्थूल रेखाओं से चित्राङ्कन किया गया (नखशिख वर्णन)

(२) वस्तुओं की गणना से समृद्धि दिखाई गई। (समृद्धि, सजावट आदि के वर्णनों में प्रदर्शन अधिक है।)

(३) काम वृत्ति की परिधि में घेर कर नायिकाओं की बलज, अयलज—चेष्टाओं को शब्दों में बाँधा गया—जो उत्तेजक व उद्दाम, स्थूल और स्थिर हैं। गत्यात्मक, विस्तृत, गरिमामय और सात्विक नहीं (घाट पर नहाती हुई, मेलों में, सहेट स्थलों को जाती हुई नायिकाओं के वर्णनों में)[1]

(४) मानवीय भावनाओं में चित्त की चिकनाई का वर्णन तो है, किन्तु उसमें विस्फार, उद्वेग शीलता वर्तमान व भविष्य पर दृष्टि डालने के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व का अभाव है, भावना जैसे संयोग व वियोग के वर्णन में सिमट कर रहगई है।

(५) तटस्थ चित्रण नहीं है-प्रकृति की स्वतन्त्र भव्यता, विराट्ता, रहस्यमय सांकेतिक सौन्दर्य का अङ्कन नहीं है।

(६) अभिव्यक्ति परम्परा से ग्रसित है, अनुप्रास के प्रति दुराग्रह अधिक है, निश्चित छन्दों में सङ्गीत की मात्रा व प्रकार निश्चित है।

रीतिकाल में रूप, भावना, व अभिव्यक्ति के वर्गगत सौन्दर्य का 'पैटर्न' उपस्थित किया गया है। भावपक्ष में रुझान अधिक है 'प्रेरणा' कम। संयोग, वियोग में तब विचार व शैली के अभिनव प्रयोगों का अवकाश था ही कहाँ। भक्तिकाल में रूप, भावना व अभिव्यक्ति तीनों का सुन्दर सामञ्जस्य था, भक्तिकाल की कला में सरलता व सच्चाई अधिक थी। रीतिकाल में सौष्ठव, अलंकरण व अभिव्यक्ति की चमत्कृति अधिक। सौन्दर्य वही सबसे उत्कृष्ट कोटि का होता है जो हृदय को गतिशील बनाये। 'भावना-प्रवणता' सौन्दर्य की प्रथम शपथ है, रीतिकाल के कवि रूप व भावना कोमल स्पन्दन के स्थान पर मादन-भाव का उद्दीपन अधिक करते हैं, जिससे संभोग की प्यास तीव्र होती है। देव, पदमाकर, मतिराम, घनानन्द, बिहारी के कतिपय छन्दों में सौन्दर्य भाव-प्रवण-कर्त्ता के रूप भी हैं पर कुल मिलाकर रीतिकाल स्थूल उत्तेजक रूपों व चमत्कार प्रिय अभिव्यक्ति जनित सौन्दर्य का प्रतीक है। रीतिकाल के सौन्दर्य को देखने के लिये 'नायिका' के 'नियरे' जाने की प्रवृत्ति अधिक होती है।

'ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई''।

बिहारी में वचन वक्रता को छोड़कर 'भावना' की उदात्तता के ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं—

सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजति बाल।
हरुये कहु, मो, हिय बसति, सदा बिहारीलाल॥

निरपेक्ष्य दृष्टि से देखें तो रीतिकाल का 'माधुर्य' अधिक कमनीय है जिसमें फँसकर अँखियाँ "मधु की मखियाँ" अवश्य बन जाती हैं, 'भावना' वहाँ दूध की तरह उफान पर आ पाती हैं, सौन्दर्य की वह दिव्यता नहीं जो मानव के अंतरंग को अपने में ही तरंगायित समुद्र के रूप में परिणत कर दे।

आधुनिक काल गीतिकाव्य का युग है, सामान्यतः साहित्य में शब्द व अर्थ का चारुत्व रहता है, अर्थ की चारुता भावना पर निर्भर है, भावना द्रष्टा की दृष्टि और संवेदन-शक्ति पर जो परिस्थिति-सापेक्ष्य है। आधुनिक युग में प्राचीन आदर्शों व स्थिर मूल्यों के प्रति विद्रोह हुआ अतः भिन्न पद्धति पर सौन्दर्य सृजन हुआ। हृदय का सारा उद्वेलन, कल्पना की उच्चातिउच्च उड़ान तथा भाषा की शक्ति तभी बलवती होती है जब प्राचीन पगडण्डियों पर चलने को नवीन युग प्रस्तुत नहीं होता। आधुनिक युग के प्रथम पग में—भारतेन्दुकाल में कविता ने खड़ी बोली अपनाई, देशभक्ति पर कविताएं हुईं पर इनमें केवल विषय व दृष्टिकोण की नूतनता थी। चिंतन अभी 'कलात्मक' होकर नहीं अपनाया गया था, भारतेन्दु व प्रेमघन जैसे कवि व्रजभाषा के लालित्य को न छोड़ सके क्योंकि उनका सामाजिक व्यक्तित्व सुधारवादी तथा वैयक्तिक मन राधारानी का अब भी भक्त था। भारतेन्दु आजीवन "कृष्ण के सखा व राधारानी के गुलाम रहे।"

नवीन रूपों की कल्पना व अभिव्यक्ति-कुशलता का प्रश्न तब था ही नहीं।

द्विवेदी युग में नवीन वस्तुओं पर लिखा जाने लगा, कविता का विषय-विस्तार तो बढ़ा परन्तु अभी सामान्य वस्तु में भी असाधारण, दिव्य सौन्दर्य देखने की चाह बलवती नहीं हो पाई। ये कवि अन्तर व बाहर दोनों से सुधारवादी, जाति प्रेमी, पुनरुत्थानवादी व प्रवचन-पटु थे अतः एक ओर सामन्ती युग के वीरों के ओजमय चरित्रों का गुणगान होने लगा, दूसरी ओर 'भारतभारती' के उपदेश सुनाई पड़े, मनुष्य के मन को दिव्य भावनाओं से भर देने वाला 'सौन्दर्य' छायावादी कवियों ने दिया, द्विवेदी युग में फिर भी रूपों की कल्पनायें हुईं, निरपेक्ष्य दृष्टि से सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न हुआ। प्रकृति को देखकर Natural exultation स्वाभाविक आनन्द की व्यंजना हुई :—

दीख रही है कहीं दूर तक शैली श्रेणी।
कहीं घनावलि, बनी हुई है तेरी वेणी॥
नदियाँ पैर पखार रही हैं, बनकर चेरी।
पुष्पों से तरुराशि कर रही पूजा तेरी॥
मृदु मलय वायु मानों तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही।
हे मातृभूमि! किसका न तू, सात्विक भाव बढ़ा रही॥

यहाँ न सूक्ष्म निरीक्षण है, न रूपों का अद्भुत विलास, न असामान्य सौन्दर्य का तटस्थ दर्शन। वस्तु का परिगणन

तथा उनके प्रति श्रद्धा भाव अधिक मिलता है। भावना के क्षेत्र में दुर्दमनीय भावुकता, दासता की कचोट से उत्पन्न उत्तेजना, हरिऔध, गुप्त बन्धुओं आदि कवियों में व्यक्त होती रही।

आधुनिक काव्य के द्वितीय चरण, १६२० के पश्चात् सौन्दर्य के मापदण्ड बदलते गये। 'पल्लव' की भूमिका में पन्तजी ने भाषा, भाव, छन्द, प्रकृति के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण की वकालत की और छायावादी काव्य में रीतिकाल व द्विवेदी युग को कला में सहसा बड़ा अन्तर दिखाई पड़ा।

भावुकता के विस्तृत ऊहापोह, प्रवचन तथा इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर कल्पना शील, लाक्षणिक काव्य का विकास हुआ, नवीन रूपों व प्रयोगों का सृजन हुआ। जिस प्रकार सूर व तुलसी की व्रजभाषा को रीतिकाल में अलंकृत किया गया उसी प्रकार हरिऔध व गुप्तजी की प्रौढ़ परन्तु लालित्य रहित पदावली का ध्वन्यर्थ व्यञ्जक शब्दों तथा बङ्गला के अनुकरण पर ललित पदों से शृङ्गार किया गया। निराला, पन्त, प्रसाद का सौन्दर्यबोध अधिक सूक्ष्म, अधिक सांकेतिक तथा सशक्त था। लाक्षणिक पदावली का नूतन विकास हुआ। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में सौन्दर्य सृजन के लिये प्रतीकों की अनिवार्यता प्रायः सिद्ध है। छायावादी काव्य में नूतन भव्य प्रतीकों का प्रयोग हुआ। लक्षण, सङ्गीत, प्रतीक तथा नूतन पद विधान—इन तत्त्वों ने छायावादी शैली में क्रांति करदी। अतः एक नूतन diction का आविष्कार हुआ। यहाँ हमें विस्मरण न करना चाहिये कि आधुनिक सभ्यता का एक मुख्य गुण है 'व्यञ्जना' का विकास, साथ ही यह सभ्यता प्रच्छन्नता प्रिय है, स्पष्ट के स्थान पर अस्पष्ट को, अभिधा के स्थान पर संकेतों को अधिक पसन्द किया जाता है। यह गुण छायावाद में यहाँ तक बढ़ा कि आगे चलकर यह अस्पष्टता दोष की सीमा तक पहुँच गई। फिर भी शैली व भाषा की सफलता शुक्लजी जैसे आलोचक स्वीकार करते हैं।

छायावादी युग में चिंतक का दृष्टिकोण बदला। हमने कहा था कि भावना दृष्टिकोण के अनुसार बदलती जाती है। द्विवेदी युग के स्थूल प्यूरिटन उपदेशात्मकता की प्रतिक्रिया में छायावादी कला में एक रोमानी भावना की अभिवृद्धि हुई जिसने जगत में सौन्दर्य को खोजना प्रारम्भ किया। नारी व प्रकृति दोनों को उसके असाधारण, आकर्षक, दिव्य भव्य रूपों में देखा गया। यहीं छायावादी कला का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। वैयक्तिकता के कारण नारी के नयनों में सुषमा का सारा संसार देखा जाने लगा। परन्तु यह भूख थी कमनीयता व लावण्य की, नारी के प्रति हृदय के सारे उत्ताप, आह, उच्छ्वास, आत्म निवेदन को लेकर बढ़ता हुआ छायावादी कवि उसकी गरिमा को न भूलता था। वह उसमें अपार्थिव सौन्दर्य देखने लगता था। इसीलिये वह जब प्रकृति पर चेतना का आरोप करता तो नारी की सुषमा को ही उस प्रक्षेपण का आधार बनाता था क्योंकि उसकी नयन-नीलिमा में 'अज्ञात-सौन्दर्य' की झलक देखकर कवि भक्त की तरह नहीं, सूफी की तरह एक करुण-सौन्दर्य में निमग्न हो जाता था। सामाजिक व राजनैतिक बंधनों का बन्दी छायावादी कवि, प्राचीनतावादी सुधारक उपदेष्टाओं से लांछित छायावादी कवि जैसे 'क्षितिज के उस पार' अपना संसार बसाने लगा था। यह पलायन था, यह घोर वैयक्तिता-वाद था, यह और बात है परन्तु कल्पना का कोष खुल जाने के कारण शरण्य प्रकृति के अञ्चल में मुख छिपा कर रोता हुआ कवि जैसे कोटि कोटि अभिनव रूपों की सृष्टि कर सका। बन्धनों के विरुद्ध यह घोर प्रतिक्रिया थी, छन्द के बंद खुल गये, भाषा-कामिनी सज उठी और सङ्गीत के सम्मोहन में वाणी की वीणा बज उठी, प्रकृति जो उद्दीपन मात्र थी-अब कवि की एक मात्र सम्बल-दात्री बन गई। अतः निराला का 'बादल' पंत का पर्वत प्रदेश, इन्द्रधनुष, बादल, प्रसाद का 'प्रलय वर्णन' जैसे भव्य व विराट चित्र मिले, 'पंत' ने तो केवल 'नौका बिहार' में २० चित्र दिये जिनकी रेखायें बारीक व संकेतात्मक हैं। चित्रों की ये मूर्तियाँ सङ्गीत से सजीव की गई हैं जैसे उनकी 'बाल विहंगिनी' बोल उठी हो। छायावाद में प्रकृति के मनोरम, दिव्य, विराट, रङ्गीन रूपों को ही लिया गया। कला की दृष्टि से अनुकृति के स्थान पर यहाँ चेतना के आरोप से प्रकृति के अञ्चल में नवीन चित्रकारी भी की गई। जड़ प्रकृति का कण कण कवि के व्यक्तित्व से मुखरित हो उठा, प्रकृति को मानवीयता का रूप सबसे

अधिक यहीं दिया गया यही कारण है कि आभिजात्य होने पर भी प्रकृति की भव्य सुखमा कल्पना की परी बनकर हमारे हृदय को सुषमा से ओतःप्रोत कर देती है।

समाज की मान्यताओं के सम्बन्ध में वैयक्तिक दृष्टि होने के कारण छायावादी कवियों के चित्रों में विभिन्नता, विशदता तथा नवीनता मिलती है। 'प्रसाद' व निराला में विराट चित्रों का विधान है, कठोर व भयंकर चित्र भी हैं। पन्त व महादेवी में कोमल चित्रों का विधान है, किशोर कल्पनायें यहाँ ऐन्द्रिक चित्रण का आधार प्रस्तुत करती हुईं अपार्थिव अज्ञात स्पर्श से सिहर कर क्षितिज के उस पार किसी रहस्य के अङ्क में निमग्न होने को चल देती हैं। यहाँ वस्तु के तटस्थ व भावाश्रित दोनों प्रकार के चित्रणों में मानव के मन को वस्तु से तादात्म्य कराने की पूर्ण शक्ति पाई जाती है, वातावरण इतने मोहक और ऐन्द्रिजालिक हैं कि हम कवि की कल्पनाओं की सुकुमार ऊष्मा का ताप पाकर द्रवित हो उठते हैं। ऐसे ही असाधारण-साधारण दो चित्र देखिये—

'धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी
तारकमय नव वेणी बन्धन
शीश फूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सित, घन-अवगुण्ठन
मुक्ताहल अभिराम बिछादे, चितवन से अपनी
पुलकती आ वसन्त रजनी'

—महादेवी

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल
अपलक, अनन्त, नीरव, भूतल
तापस बाला गंगा निर्मल, शशिमुख से दीपित मृदु कर-तल
लहरे उर पर कोमल कुंतल
गोरे अङ्गों पर सिहर सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर
साड़ी की सिकुड़न सी जिसपर, शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी है वर्तल, मृदुल लहर

—नौका विहार—'पन्त'

रूपों में—रंग, स्पर्श, गंध, शब्द का विधान केवल छायावादी कवियों में मिला यथा 'तैलाभ गंध' व 'ऊपर हरीतिमा नभ-गुंजित' आदि में। पन्तजी का सौन्दर्य-बोध अन्य सामयिक कवियों से अधिक सूक्ष्म है, उनमें 'निराला' जैसा मार्वोद्रेग नहीं, परन्तु रूपों की सृष्टि करने में वे अद्वितीय हैं। रीतिकाल में फारसी के प्रभाव से अतिशयोक्ति व अभिव्यक्ति कुशलता का विकास हुआ था, साथ ही नायिकाओं के 'मुद्रा-अङ्कन' का कार्य अधिक हुआ। छायावाद पर योरोप के रोमांटिक काव्य का प्रभाव पड़ा। अतः कल्पना की रहस्यमयता का प्रवेश एक ओर हुआ तो दूसरी ओर वर्डसवर्थ की प्रवृत्ति के आधार पर प्रकृति की मुद्राओं का अङ्कन अधिक होने लगा। निराला के चित्र रहस्यमय हो उठते हैं। पन्त के चित्र मोहक, कोमल व अपेक्षाकृत स्पष्ट हैं। रवीन्द्र ने लिखा है कि जल से ऊपर उछलने वाली मछली का सौन्दर्य तो निरपेक्ष द्रष्टा ही देख सकता है, मछुआ नहीं, इसका अर्थ केवल यह है कि छायावादी कवियों के पास वह तटस्थ दृष्टि थी और इसी कारण यह काव्य भव्य बन सका। हम वैयक्तिकता, एकांगिता, रोमांस तथा पलायनवाद पर प्रहार करें किन्तु साथ ही छायावादी 'सौन्दर्य' की उपेक्षा न करें जो इन कवियों ने सजग साधना से हमारे सम्मुख रखा है। किन्तु आज 'पन्त', 'महादेवी' के काव्य का इस दृष्टि से अध्ययन बहुत कम हो रहा है, प्रायः आक्षेप इस पर होते हैं कि पन्त 'गांधीवाद' को किसी भी रूप में सही, स्वीकार क्यों कर लेते हैं।

छायावादी काव्य के रोमांटिक दृष्टिकोण के कारण उसमें असाधारणता आती गई। वह जन-काव्य न बन पाया और साथ ही अध्यात्म पक्ष आदर्शवाद के क्रोड से बाहर न निकल सकने के कारण छायावाद की प्रतिक्रिया यथार्थवादी काव्य में हुई जिसे 'प्रगतिवाद' कहा जाता है।

१—इसमें भव्य, विराट, असाधारण के स्थान पर सामान्य, कुत्सित, लघु वस्तुओं की ओर ध्यान गया। सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से यद्यपि वस्तुओं में एक सामान्य सौन्दर्य माना जाता है, यथा—कमल व गुलाब में कमल को आप अधिक पसन्द कर सकते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि आपको गुलाब कुरूप ही लगे, किन्तु विषयगत सौन्दर्य दृष्टि में कोई भी वस्तु सुन्दर हो सकती है और

यदि कलाकार सबल है तो वह क्षुद्रतम वस्तु में सौन्दर्य खोज लेता है और वह 'वस्तु' हमारी भावना-परिधि में आकर सुन्दर बन जाती है। प्रेमचन्द ने होरी व धनिया में सौन्दर्य खोज लिया। पन्त ने 'ग्राम्या' में ऐसा ही प्रयत्न किया। कुत्सितता सौन्दर्य का ही नाम है। एक दृष्टि से जो कुत्सित है, दूसरी दृष्टि से वही सुन्दर है। छायावादी कवि इन्द्र धनुष, बादल, नक्षत्र व तितली में ही सौन्दर्य खोजते थे। यथार्थवादी 'कुकुरमुत्ता' में भी सौन्दर्य की गरिमा खोज कर 'गुलाब' की भर्त्सना करने लगा।

२—शोषित जनता का साहित्य लिखा जाने लगा। इससे कई प्रवृत्तियाँ जन्मी—(अ) अनुकृतिवाद का प्रचलन हुआ। इसने कविता फोटोग्राफी का कार्य करने लगी, किन्तु 'अनुकृति' तो सौन्दर्य का सच्चा रूप नहीं अतः (ब) अनुकृति के साथ नये युग की आशाओं, सम्भावनाओं का चित्रण प्रारम्भ हुआ, जिसे 'सामाजिक यथार्थवाद' कहा जाता है। गोर्की के 'माँ' नामक उपन्यास में इसका रूप दृष्टव्य है। आज की प्रगतिवादी कविता में ऐसी सम्भावनायें अवश्य रहती हैं और इनमें कल्पना का सौन्दर्य अवश्य रहता है। 'पन्त' ने 'ज्योत्स्ना' में जो सम्भावित चित्र दिये हैं वे सर्वातीतावस्था (Transcendental) दशा के चित्र जान पड़ते हैं। इधर प्रयथार्थवाद (Super-realism) का नाम भी चला है, परन्तु काव्य पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं है।

छायावाद में कल्पना व चित्रण की भव्यता है परन्तु भावना का साधारणीकृत रूप कम है। रूप व अभिव्यक्ति दोनों असाधारण हैं। 'प्रगतिवाद' में 'रूप' कम, 'भावना' का सौन्दर्य अवश्य है। काव्य में इसका भविष्य समाजवादी विचारधारा की सफलता के साथ है। 'भाव-क्षेत्र' में प्रगतिवादी कवितायें 'भूकम्प' अवश्य मचा सकी हैं। किन्तु जीवन की अन्य वृत्तियों का प्रयोग न होने के कारण प्रगतिवादी कविता एकाङ्गी होती जा रही है। प्रायः प्रगतिवादी कवि दो व्यक्तित्व बना लेता है, एक से समाज के उत्तरदायित्व के नाते प्रगतिवादी कविता लिखता है और दूसरे से एकांतक प्रेम की। प्रेम में भी छायावादी प्रेम की प्रच्छन्नता के विरुद्ध, अश्लीलता की बाढ़ आ गई थी पर अब सन्तुलन आ रहा है। प्रगतिवादी अभिव्यक्ति का स्वरूप, गूढ़ार्थ व्यञ्जना, ललित, उदात्त पदावली को छोड़ कर जन-जन की भाषा को आधार बना कर खड़ा होता है। 'अभिधा' का आधार अधिक लिया जाता है परन्तु अब 'लक्षणा' का विकास होता जा रहा है। नवीन प्रतीक प्रयुक्त होते जा रहे हैं। प्रगतिवादी काव्य के ऊपर आक्षेप ही यह होता है कि इसमें 'सौन्दर्य' नहीं है। कुशल यही है कि ये आक्षेपकर्त्ता जो रीतिकालीन रुचि के हैं, सौन्दर्य का अर्थ ही नहीं समझते। परन्तु इतना अवश्य है कि गजन-तर्जन के स्थान पर मानव मात्र को 'आर्द्र' करने की कला का भी विकास होना चाहिये। व्यंग से चित्त में तीव्र क्षोभ उत्पन्न करने की शक्ति प्रगतिवादी काव्य में सबसे अधिक है, यथा निराला के व्यंग्य-काव्य में। विषमता से पीड़ित पाठक को ऐसे व्यंग्य-गीत इसीलिए प्रिय लगते हैं। प्रगतिवादी काव्य में भावना की सचाई का बड़ा अभाव है अतः सिद्धान्तों की घोषणा होने लगती है और शब्द, अर्थ दोनों भावना की ऊष्मा से पिघल कर प्रवाहित होते नहीं प्रतीत होते अतः काव्य प्रभावहीन हो जाता है। साहित्यिक सौन्दर्य शब्द, अर्थ के द्वारा अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति में निहित है, खेत, खलिहान, कारखाना आदि यथार्थ जीवन के चित्र बिना किसी अलङ्करण के इन कवियों ने दिये हैं जिनमें सरलता, सङ्गति व सापेक्षता पूरी मात्रा में है किन्तु 'संतुलन' का अभाव है। प्रगतिवादी कविता में जब तक 'संतुलन' नहीं आता तब तक उसका सौन्दर्य अधूरा और एकाङ्गी है।

प्रयोगवाद में मात्र अभिव्यक्ति का ही असाधारण चमत्कार है या फिर मन की अन्तर्ग्रन्थियों का उलझन भरा सुलझाव। प्रयोगवादी कला का मुख्य दोष है 'अस्पष्टता'। साथ ही सादृश्य, साधर्म्य का बिना विचार किये हुये अप्रस्तुत विधान किया जा रहा है। वे सौन्दर्य का नहीं, वैचित्र्य का प्रदर्शन यहाँ अधिक करते हैं। वैचित्र्य में भी सौन्दर्य होता ही है, परन्तु वह क्षण-स्थायी है। असाधारण मनःस्थितियों का विचित्र प्रकार से कथन जिस वैचित्र्य का सृजन कर रहा है वह मिथ्या दम्भ का प्रचार कर रहा है। सौन्दर्य तो सामञ्जस्य का ही नाम है

आधुनिक काव्य और प्राचीन मान

श्री लाल रमायदुपालसिंह एम० ए०, साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न

कुछ लिखने के पूर्व ही जैसे एक स्वयंसिद्ध असङ्गति, एक नैसर्गिक विषमता, चेतना को धर दबोचती-सी प्रतीत होती है—आखिर यह 'आधुनिक' और 'प्राचीन' का कैसा ताल-मेल ? 'वर्तमान' और 'भूत' का सन्धि-स्थल भी क्या कहीं सम्भव है ? एक है 'जो नहीं बीता', और दूसरा है 'जो बीत चुका है'—दोनों के बीच एक दुरवगाह्य-दुर्लंघ्य जलधि है और हमेशा रहेगा। सफेद दाढ़ी सफेद दाढ़ी ही है और रहेगी। उसका उठती रेखों से कोई सरोकार न है और न हो सकता। है प्राचीन प्राचीन है और नवीन नवीन।

पर बात कुछ और ही है। 'कुमारी क्षण(Virgin moment)*' का कौमार्य जिन छुई-मुई के उपादानों से बना है वे उसे अनजाने ही व्यूढ कर छोड़ते हैं; "भूत और भविष्य को पृथक् करने वाली छुरे की धार" † की लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई भला किसे, कब और कहाँ प्रतीत हुई ? यही क्यों, मैं तो कहता हूँ कि 'आधुनिक' की जाँच-परख, नाप-तौल, सदा से ही 'प्राचीन' द्वारा ही होती रही है और हमेशा होती रहेगी।

नवहल्या की नवजात शस्यराशि को भी मनुष्य सदा से उन्हीं पुराने मन-सेर-छटाँक से ही तौलता रहा है उसने उसके लिए नए बाँट नहीं बनाए। नवोद्भिन्नखनि के नूतन-प्रसूत मणिकाञ्चन की जाँच-तौल, पानी-कसौटी के वास्ते वह पुराने मान ही काम में लाता रहा है। यह बात और है कि चावल-रत्ती-माशा से ग्रेन-करट में हमें आधुनिकता प्रतीत हो। यही क्यों, मन सेर की जगह टन-हण्डरवेट में हमें अधिक शिष्टता-सभ्यता की अनुभूति हो सकती है पर चीजें मानवता के लिए दी-की दोनों पुरानी ही हैं। चाहे जिसका उपादान करें मेय वस्तु से मान प्राचीन ही ठहरेगा।

स्रष्टा नूतन से नूतनतर की सृष्टि करता जाता है; 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर क्षण-क्षण नवतोपयायिनी रमणीयता की परिसर्जना करता रहता है। परन्तु इससे हरिहर के रक्षण-हरण के कार्यविधान में कोई भी अन्तर नहीं आता; भावकपरीक्षक के अनुदिन चलने वाले पोषण-परिष्करण के साँचों में कोई अन्तर नहीं आने पाता। यह बात और है कि किसी महानुभाव को उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षा की पदावली पसन्द है तो दूसरे साहब को 'ट्रांस्फर्ड इपिथेट्' और 'पैथटिक फैलसी' की टर्मिनॉलॅजी इष्ट है। बातें दोनों ही सैकड़ों साल पुरानी हैं। "नई कविता के लिए नए मान" की बात कहीं नहीं है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय मानों का ही व्यवहार करता है; दुनिया में सभी कहीं अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विश्वसाहित्य की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। रूस इसका सबसे ठोस दृष्टान्त है। उसने अपना 'डायलेक्टिकल मैटीरियलिज्म' वाला मान इतना चालू कर रखा है कि इतिहास, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र और साहित्य—सब की जाँच-परख उसने इसी एक कसौटी पर की है। पर हम हैं कि हमें रस, ध्वनि, औचित्य, रीति और अलङ्कार के अपने राष्ट्रीय मान निरर्थ-अपार्थ ही प्रतीत होते रहे हैं यद्यपि यह कहना कठिन ही है कि क्यों !

रस को प्रायः पुरानी सीमाओं से घिरा रीतिकाल की घिनौनी शृङ्गारी प्रवृत्ति का उद्रेक मान कर एक वर्ज-नीयता का जामा पहना दिया जाता है। यही नहीं उसे आधुनिक काव्य की विवेचना के योग्य कम ही समझा जाता है। शायद इस बात की ओर ध्यान नहीं ही दिया जाता कि उस मनोरम सरोवर के हिम-धवल जलपाथि की स्वच्छ अवदातिमा मलिन पुलिन के संसर्ग से कभी काई की कालिमा की भी जननी बन सकती है। अन्यथा वह रस-सिद्धान्त कैसे मनोहर तारहारों और इन्दीवर शयवल्लों

* औरोबिन्दो।
† जवाहरलाल नेहरू।

को जन्म देता रहा है। इसे देखना हो तो हम वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, कालिदास, शूद्रक भवभूति और जयदेव-जगन्नाथ की शुभ्रवर्ष्मा सरस्वती के दर्शन कर कृतकृत्य हो सकते हैं।

काव्य हमेशा किसी-न-किसी चीज से नाता रखेगा ही। और दुनिया में ऐसी कोई चीज हो ही नहीं सकती जो किसी-न-किसी चित्तवृत्ति को पैदा करने वाली न हो। सभी दुनियावी चीजें हमारे चित्त को किसी न किसी तरह 'स्टीमुलेट' करती ही हैं। रसादि हैं क्या 'ऑरगैनिज्म' की 'मेंटल रेस्पॉन्स' को छोड़ कर। कवि ऐसी ही चीजों का अपने काव्य साहित्य में उपादान करता है। उसका हर वर्ण्य इसी से रसविभाव या भावविभाव से भिन्न और कुछ नहीं हो पाता। पन्त की निम्न पंक्तियों में वीर, हास्य, शृङ्गार, वीभत्स आदि न सही पर क्या कोई रस-विभावता या भाव विभावता है ही नहीं ?

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन" †

इसमें कान्ताविषयक रति उपसर्जनीभूत हो गई है प्रकृति विषयक अथवा वनदेवता विषयक रतिभाव के प्रति। अतः यहाँ या तो यों कहिए कि शृङ्गार के इतराङ्ग हो जाने से गुणीभूत व्यङ्गय काव्य के दर्शन होते हैं या यों कहिए कि शृङ्गारोपस्कृत वन देवता विषयक रतिभाव की ध्वनि कराई गई है। कविसरम्भ के देखते भावध्वनि का पक्ष ही ज्यायान् माना जायगा। 'नाज़ुक' इलाहाबादी की एक प्रगतिवादी रचना लीजिए:—

"कि भगवन् तुम तो हो बिरला के इस मेहमानखाने में।
तुम्हें क्या, बीतती क्या है गरीबों पर जमाने में॥
तुम्हें तो भोग दोनों वक्त मिल जाता है बेखटके।
तुम्हें क्या, भूख के मारे कहाँ किस-किस तरह बहके॥"

यहाँ अर्थ साम्य विषयक रति के प्रति भगवद्विषयक रति उपसर्जनीभूत हो गई है। देवविषयक रति की दृष्टि से गुणीभूतव्यंग्य अन्यथा अर्थस्वातन्त्र्य-रतिभाव की ध्वनि यहाँ पर मानी जायगी। भक्तिरस मानने वाले ऊपर की दोनों रचनाओं को क्रमशः प्रकृतिभक्ति और साम्यभक्ति के उदाहरण मान सकते हैं।

ध्वनि की व्यापकता बहुत ही बड़ी है। उसका लक्षण है:—शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।"* जिस रचना में शब्द अपने मुख्यार्थ को और अर्थ अपने को उपसर्जनीभूत करके किसी अर्थ विशेष की व्यञ्जना कराएँ उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं। पदों के मुख्यार्थ से आगे हमें लगभग हर साहित्यिक कृति में जाना ही पड़ता है। 'पोएटिक विज़न' या 'शायर का मुअने-मंशा' जानने के लिए ही पाठक-दर्शक या श्रोता आगे आता है। इसी ध्वनि या व्यञ्जना को क्रोसे ने 'एक्स्प्रेशन' और ए० सी० ब्रैडले ने 'सजेश्चन' कहा है। ब्रैडले के शब्दों में:—

"This all embracing perfection can not be expressed in poetic words or words of any kind, nor yet in music or in colour, but the suggestion of it is in much poetry, if not all, and poetry has in this suggestion, this 'meaning', a great part of its value...............It is a spirit........it is not our servant, it is our master"††

महाकवि महजूर की 'ग्रीसकूर' में काश्मीरी किसान-कन्या के जिस आत्मगौरव, खुद्दारी, गैरत और महत्व का अङ्कन किया गया है और यह सब जिस आर्थिक क्रान्ति का मन्त्र फूँकता है वह ध्वनि के अतिरिक्त और क्या है? यही नहीं वह कवि जिस 'नए बाग' की चरचा किया करता है वह व्यंग्य नहीं तो क्या वाच्य है? महाकवि प्रसाद ने अपनी "कामायनी" के द्वारा जिस शाश्वत मानवजीवन के अमर सन्देश को उपन्यस्त किया है क्या वह किसी प्रयुक्त शब्द का मुख्यार्थ है? यहीं 'साक़ीनामा'

†आधुनिक कवि।

* पण्डितराज जगन्नाथ।

†† Oxford lectures on Poetry.

डा० इकबाल के जिस सांस्कृतिक संदेश को सूफियाने ढंग से ध्वनित करता है क्या उसे किसी तरह भी अभिहित माना जा सकता है ? 'गालिब' के इस टुकड़े का मतलब क्या यही है कि "हमें" स्वर्ग की वास्तविकता मालूम है लेकिन यह विचार मनोविनोद के लिए अच्छा है "—

"हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन।
दिल के बहलाने को 'गालिब' यह खयाल अच्छा है ॥"†

'स्वर्ग वस्तुतः निस्सार है, भौतिक जगत् के परिपीड़ितों का काल्पनिक हवाई महल होने के नाते उसका विचार मानसन्तुद है' यह कवि विवक्षित वस्तु व्यञ्जय ही है।

सुश्री महादेवी वर्मा की निम्न पंक्तियाँ किन चिन्तन पर दार्शनिक मनोभावनाओं को जन्म दे देती हैं:—

× × × "इतिहास यही,—
उमड़ी थी कल, मिट आज चली।
मैं नीर-भरी दुख की बदली ॥" *

जीव-जीवन की क्षणभंगुरता और निखिल संसार की नश्वरता से जनित वैरस्य-वैमनस्यदायिनी, निर्वेदमूला एवं तत्वज्ञानात्मिका जिस अलौकिक विरति-निरति के दर्शन हमें इस कृति के नयनगोचर करते ही होने लगते हैं उस अतीन्द्रिय वस्तु की कल्पना भी क्या वाच्यार्थवादी को कभी भी नसीब हो सकती है ?

'औचित्य' की व्यापकता आचारशास्त्र, व्यवहारशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और लोकजीवन के पर्यवेक्षकों को पर्याप्त रूप से प्रतीत है ही; साहित्यशास्त्र में भी उसकी आत्मा का उपन्यास आचार्य क्षेमेन्द्र की लेखनी से हुआ; यदिच इसका सूत्रपात स्वयं आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ही किया था।

"सेंस ऑव प्रोप्राइटी, काङ्ग्रुइटी एण्ड हार्मनी" की आवश्यकता हर सहृदय को महसूस होती ही है। इसीलिए तो आचार्य अभिनवगुप्त ने 'औचित्यवद्रसध्वनि' को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।

† दीवान-ए-गालिब
* आधुनिक कवि
= ध्वन्यालोकलोचन

'रीति' को लोग आधुनिक इसलिए नहीं मानते कि वह लेखक के व्यक्तित्व की व्यञ्जक नहीं प्रतीत होती। वह रचना के अर्थ-वर्ण तक ही रह जाती है। 'स्टाइल इज दी मैन हिमसेल्फ' की बात उसमें नहीं है। पर रीतियों के भेद इसी का निदर्शन करते हैं :—

"तत्र दयितमुन्तृत्त्यो विदर्भाः। वल्लभसमासवृत्त्यो गौडाः।" × × ×*

स्वयं दण्डिन् ने रीति की प्रतिकवि भिन्नता की बात बड़े शान से सामने रखी है :—

"इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥" +

यही नहीं प्रसाद की रचनाओं में स्थित माधुर्य का सहज-मसृण प्रकाश-विलास उन्हें सरलता से पाञ्चाली रीति का कवि बना देता है। अन्यथा ऐसी रचनाओं का अर्थ ही क्या होगा ?—

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट पर डुबो रही ताराघट ऊषा-नागरी ॥
खगकुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई मधुमुकुल नवल रस गागरी ॥
अधरों में राग अमन्द पिए,
अलकों में मलयज बन्द किए,
तू अब तक सोई है आली नयनों में भरे विहाग री ॥"

प्रसाद की सारी साहित्यिकता 'माधुर्य' की मधुमती भूमिका तक ही सीमित है; उसका निखिल कृतित्व 'पाञ्चाली रीति' में निहित है।

यही नहीं सम्पूर्ण ग्रन्थ में जिस 'फिलॉसॅफी ऑफ लाइफ' को उपनिबद्ध किया जाता है उसकी ओर भी भारत के प्राचीन आचार्यों ने 'प्रबन्ध-ध्वनि' एवं 'प्रबन्ध-वक्रता' तथा 'अङ्गीरस' की विशकलना में सम्यक् रूप से ध्यान आकृष्ट कराया है। उनकी दृष्टि कालदेश की सीमा से दूर युग-युगीन एवं विश्वजनीन काव्य के अन्तस् पर थी।

* काव्य मीमांसा।
+ काव्यादर्श

आधुनिक कविता के विभिन्न वाद

श्री त्रिलोचन पाण्डेय एम० ए०

कभी-कभी सुनने में आता है कि आधुनिक हिन्दी कविता का युग वादों का युग है। हिन्दी साहित्य की विशाल परम्परा में इतने वाद कभी नहीं देखे गये। आश्चर्य इसलिए भी होता है कि जब हिन्दी को नई चाल में ढले अभी पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए, उल्लेख इतने वादों का हो रहा है—छायावाद, प्रकृतिवाद, रहस्यवाद, अद्वैतवाद, पलायनवाद, हालावाद, मांसलवाद, यौनवाद, प्रगतिवाद,प्रयोगवाद और प्रतीकवाद। इनके अतिरिक्त अभिव्यञ्जनावाद, व्यक्तिवाद, बिम्बवाद, कल्पनावाद आदि नाम भी झाँक कर चले गए हैं। अध्ययन करने वाला पहले कुछ घबड़ा सा जाता है। किन्तु ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि इतने 'वाद' वस्तुतः हैं नहीं, अधिकांशतः वे प्रवृत्ति मात्र हैं। सब के ऐसे ठोस सिद्धान्त तथा उपकरण नहीं जो वे विशिष्ट धारा का रूप ग्रहण कर सकें। 'वाद' शब्द को ही यदि मान लिया जाय तो हम अभी तक केवल चार वाद मानते हैं—छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। शेष सब इन्हीं की या तो शाखा-प्रशाखायें है, जिनका मूल से पृथक अस्तित्व नहीं, या उनकी सीमायें तथा प्रवृत्तियाँ हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न है।

पीठिका—हिन्दी साहित्य में सन् १९१९-२० के पूर्व 'वादों' की हलचल नहीं दीख पड़ती। इसका कारण यह नहीं कि कवि सोया हुआ था, या अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा कर रहा था। कारण यह था कि उसके द्वारा आने वाले युग की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। द्विवेदी युग या पुनरुत्थान युग के कवि खड़ी बोली के 'खड़ेपन' को माँज रहे थे, सामयिक व पौराणिक विषयों से उसका विषय-भण्डार बढ़ा रहे थे तथा तुक, विराम, छन्द के नियमों में कस कर उसकी शक्ति बढ़ा रहे थे। उच्च कविता के लिए कवि के भावों की सत्यता के अतिरिक्त व्यक्त करने वाले माध्यम का भी सशक्त होना आवश्यक है। इन बीस बर्षों में भाषा का विकास हुआ; पाश्चात्य शिक्षा, बौद्धिक जागरण ने ज्ञान की नवीन दिशाओं का संकेत किया। कवि ने वस्तुस्थिति से उसकी तुलना को, हिन्दी कविता को अँग्रेजी, फ्रेंच आदि कविताओं के समक्ष रख कर देखा। अतः द्विवेदी युग वह आधार शिला है जिसने हिन्दी कविता को एक नई दिशा में मोड़ दिया।

'जुही की कली' के प्रकाशन से हम नवीन कविता या छायावाद का आरम्भ मानते हैं। उसमें वे सभी तत्व हैं जो बाद में पूर्णतः लक्षित हुए। उसका विषय नवीन है, कल्पना नवीन है और विधान नवीन है। जड़ कली का मानवीकरण है तथा मलयानिल शरीररूप धारी नायक के रूप में आया है।

१—नायिका—"विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली"

२—नायक—"विरह विधुर प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन,
जिसे कहते हैं मलयानिल"

३—उसके वर्णन सांकेतिक हैं। पत्तों के बीच में लचकीले स्थान से पर्यङ्क का तथा पंखुरियों से पलकों का संकेत है:—
"दृग बन्द किए शिथिल पर्त्राङ्क" में मृदुल आन्दोलन, यौवन जन्य अलसता और क्रीड़ा का संकेत है—
"झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली"

४—वासन्ती निशा, चाँदनी रात उद्दीपन हैं और बंकिम नेत्र, सुकुमार देह उसके रूप-सौन्दर्य के द्योतक हैं। हम परवर्ती कविताओं में यह विशेष बात देखते हैं कि छायावाद ने परम्परा, रीति की भरसक उपेक्षा की, लेकिन फिर भी उसमें ध्वनि और रस के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। 'जुही की कली' में भी रस परिपाक है।

५—शब्द विधान गति सूचक है—

"फिर क्या ? पवन
उपवन सर सरित गहन गिरि कानन
कुञ्ज लता पुञ्जों को पार कर पहुँचा—"

लगता है जैसे आकुलता में पवन दौड़ता जा रहा हो।

६—कविता अतुकांत है, छन्द का कोई बन्धन नहीं। किन्तु लय, ताल का समावेश है। नियमबद्ध अनुप्रास का स्थान स्वरमैत्री और वर्णमैत्री ने ले लिया है—

(१) "डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल"
(२) "चकित चितवन निज चारों ओर फेर"

छायावाद—छायावाद के सम्बन्ध में हिन्दी के आलोचक एकमत नहीं हैं। किसी ने उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा है, किसी ने विशेष प्रकार की भाव-पद्धति माना है। कोई उसे शैली विशेष मानता है तो कोई उसे सहानुभूति की विवृत्ति मान चला है। डा० रामकुमार वर्मा, गंगाप्रसाद पाण्डे, नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसकी आध्यात्मिक व्याख्या की है तो डा० नगेन्द्र, डा० देवराज, शिवदान सिंह चौहान आदि की स्थापनायें इसके विरुद्ध हैं। वरन ये स्वयं छायावाद न होकर उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का बोध कराते हैं। छायावाद को स्पष्ट करने के लिए एक तो प्रसाद, पन्त निराला की कृतियाँ आलोच्य हैं, दूसरे उनकी भूमिकाओं द्वारा कवियों के तत्सम्बन्धी विचारों का अध्ययन हो सकता है। प्रसाद के 'काव्य कला तथा अन्य निबंध' से, निराला की 'परिमल' 'गीतिका' की भूमिकाओं से तथा पन्त की 'पल्लव', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा' की भूमिकाओं से उनके सैद्धांतिक व काव्यगत स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। हम इन मुख्य निष्कर्षों पर पहुँचते हैं:—

१—छायावादी कविता में प्रकृति के नाना रूपों का उद्घाटन हुआ है। प्रस्तुत रूपों में बिम्ब ग्रहण और अर्थ ग्रहण दोनों मिलते हैं। प्रसाद ने उद्दीपक, संकेत रूपों को प्रधानता दी है। पन्त ने कोमल पक्ष में विशेषता प्राप्त की है और निराला कठोर पक्षों में भी रमे हैं। इन कवियों ने प्रकृति को उठा-उठा कर देखा है। कभी विस्मय विमुग्ध हुए हैं, कहीं खेतों में फैली हरियाली उन्हें मुग्ध करती रही है। मानवी रूप में उसका संश्लिष्ट चित्रण किया है और बसन्त के आगमन में उसे फाल्गुन का सुलगता हुआ दीख पड़ता है। निराला ने 'बादल राग' में जागरण की प्रेरणा दी—"चल रे चल मेरे पागल बादल।" कवि ने अपनी मनोदशा से प्रकृति की तुलना भी की, उसे प्रेरक शक्ति के रूप में ग्रहण किया। कहीं वह प्रकृति में प्रेम और सौन्दर्य के दर्शन करता है—

"शिशिर कणों से लदी हुई कमली के भीगे हैं सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत ले कर शीतलता का भार।"

—प्रसाद

इस प्रकृति प्रेम में विस्मय भावना की प्रवृत्ति भी है जो रहस्य से नितान्त भिन्न है। प्रसाद के मनु विस्मय-मुग्ध हैं न मालूम ये उडुगण, सूर्य, चन्द्र किस का अनुसन्धान कर रहे हैं तो पन्त को नक्षत्रों से कोई निमन्त्रण देता है। अन्त में वे अपने भावों का भी प्रकृति पर आरोप कर देते हैं।

२—फिर भी छायावादी कवि के पाँव धरती पर रहे हैं। उसने यथार्थ की उपेक्षा नहीं की। कवि अनुभूतिशील थे, सामयिक आन्दोलनों से प्रभावित होते थे। देश प्रेम, अतीत के प्रति श्रद्धा, सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी। इसलिए छायावाद ने भारत के गौरव-गान में अनेक गीत दिये हैं। प्रसाद ने "हिमाद्रि तुङ्ग श्रृङ्ग से" प्रबुद्ध भारती का आह्वान किया। पन्त ने "भारत माता ग्राम्य वासिनी" के गीत गाये। निराला ने "भारति जय विजय करे" में देश वन्दना की। जागरण का सन्देश दिया—

"शेरों की माँदों में आया है आज स्यार,
जागो फिर एक बार।"

३—छायावाद में मौलिक रूप से स्वानुभूत विचारों का स्वच्छन्द प्रकाशन हुआ है। रुचि प्रेरणा के अनुकूल कविता हुई है। इसलिए उसमें अनुभूति प्रधान है, कहीं खिन्नता, करुणा व क्रांति की झलक भी मिल जाती है। मानव-जीवन की अपूर्णता उसे झकझोर देती है। समय-समय पर रूपसि के केश पाश से भी उसकी दृष्टि उलझी है। नारी के प्रति उच्च, शुद्ध-भावना भी इसकी विशेषता है। प्रसाद की 'श्रद्धा' इसका अनुपम उदाहरण है। इस

कारण "मुक्त करो नारी को" की घोषणा हुई है।

४—छायावादी कविता छन्द, अलङ्कारों के बन्धनों को आवश्यक नहीं मानती। परम्परा व रीति का भी वह आमूल विरोध करती है इसलिए कविता अतुकान्त छन्दों में प्रवाहित हुई है। फिर भी शृङ्गार, करुणा, प्रेम के इन कवियों ने उत्कृष्ट चित्र दिये हैं। उनमें ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता पर्याप्त रूप से है।

(१) "कंकण क्वणित रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार"

(२) "शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर"

(३) "धँसता दलदल, हँसता है नद खल खल"

प्रत्येक कवि एक दूसरे से व्यक्तित्व में, आदर्श में भिन्न है। उन पर प्रभाव भी पृथक् हैं। प्रवृत्तियों में अन्तर होने से उनकी अभिव्यक्ति में अन्तर है। प्रसाद में बौद्ध करुणा के साथ कुछ रूमानी लचक है, पन्त में कोमलता और वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स का अधिक प्रभाव है और निराला ओज प्रधान कवि हैं।

पलायन को इन कवियों की एक मनोदशा मानना चाहिए। जीवन की कटुता से कवि ऊब जाता है, यथार्थ संघर्ष में थक जाता है, अतः विचारों को विराम देना चाहता है। प्रसाद का "ले चल मुझे भुलावा देकर" या पन्त का "शांति, सुख रे उस पार" कहना इसी स्थिति का सूचक है। ठीक जिस तरह हम दिन भर के कार्य से थक कर रेडियो से मन हल्का कर लेते हैं और पुनः कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः उसे सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। परवर्ती छायावादी कविता में गहरी निराशा, वेदना तथा अहं की अभिव्यक्ति अधिक होने लगती है। कवि अन्तर्मुख होता गया है। उमरखैयाम के प्रभाव ने वैयक्तिक अभिव्यक्ति से मिल कर एक नया रूप धारण किया और कवि गण कविता को अपनी ही उत्कृष्ट-निकृष्ट अनुभूतियों के प्रकाशन का माध्यम बनाने लगे। कवि-सम्मेलनों में उन्हें सफलता मिली और मुख्य तीन कवि सामने आये—बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और अञ्चल। कवि बिल्कुल कल्पना का निवासी हो गया, उसमें मधुचर्या, ऐन्द्रिकता की अभिव्यक्ति बढ़ती गई। कहीं वह नियति-पूजक बना, कहीं मृत्यु की कामना करने लगा। ये कवि "कब मिलेंगे कौन जाने" के गीत गाने लगे या फिर—

"भर दी रोली से माँग प्रथम चुम्बन में,
बीती बातों में रात, हुआ फिर प्रात प्रथम चुम्बन में।"
—नरेन्द्र

कवि का क्षेत्र उत्तरोत्तर संकुचित होता गया। वह मृदुल गोल गोरी बाँहों में कम्पित अङ्गों को कसने की चर्चा करने लगा। कहीं वह पिपासाकुल पुजारी हो गया। अञ्चल की अनेक तत्सम्बन्धी कविताओं को हम इस प्रवृत्ति का चरम बिन्दु मानते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसी रचनाओं ने छायावाद के पतन में सक्रिय योग दिया। मैं इन्हें हिन्दी की क्षयग्रस्त (Decadent) कवितायें मानता हूँ।

रहस्यवाद—रहस्यवाद के अन्तर्गत दो कवि हैं—महादेवी वर्मा और निराला। इसका विकास-सूत्र वेद-उपनिषदों से खोजना ठीक नहीं, यह तो वर्तमान परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ है। शुक्लजी के अनुसार "चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भाव-क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।" रामकुमार उसे जीवात्मा की एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन मानते हैं, जिसमें वह दिव्य, अलौकिक शक्ति से अपना शान्त व निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। महादेवीजी के अनुसार रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेम हो जाता है। इसका छायावाद से मौलिक भेद है।

एक परोक्ष सत्ता के प्रति आत्म निवेदन इसका प्रधान लक्षण है। यथार्थ प्रकृति से परे या कहें भाव के एक स्तर-विशेष में कवि को किसी महान सत्ता की झलक मिलती है। कभी वह उसे परिचित लगती है, कभी अपने हृदय में ही उसका अनुभव होता है। "प्रिय तुम मुझमें फिर परिचय क्या ?" चिन्तन में आत्मा कभी अपने को ही पहेली समझती है, कभी प्रकृति के नाना दृश्यों में उसी का हास-सौन्दर्य प्रस्फुट देखती है—

"चुभते ही तेरा अरुण बान
बहते कन कन से फूट फूट मधु के निर्झर से सजल गान।"

चूँकि आत्मा अपने को परोक्ष सत्ता का प्रतिबिम्ब

मानती है—"बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ"—तो जगत् में भी उसे सत्ता का प्रतिबिम्ब दीखता है या कहीं संकेत मिलता है—"मुसकाता संकेत भरा नभ, अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?" जीवन में आत्मा थक कर प्रार्थना करती है—अब गाया नहीं जाता, तार ढीले हो गए हैं, अँगुलियाँ थक गई हैं ! फिर भी उलाहना देने में वह चूकती नहीं—"देव, अब वरदान कैसा ?"

महादेवी जी की जिन कविताओं में वेदना का विस्फोट है या करुणा की अन्तर्धारा है या निराशा व दुःख की व्यञ्जना है, वह रहस्यवाद के बाहर की वस्तु है। उन पर अन्य प्रभावों के कारण हैं।

विरह भावना इसकी दूसरी विशेषता है। आत्मा वियोग में चाहे रो रो कर समय काट दे, लेकिन संयोग के समय उसको छिपना अच्छा लगता है। चूँकि मानसिक संयोग तो निरन्तर है ही, फिर मिलन का प्रश्न ही नहीं उठता। विरह का महत्त्व भी है क्योंकि उससे प्रिय स्मरण अधिक सुखद प्रतीत होता है। इसलिए कवि गा उठता है—

"नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ—
मिलन का नाम मत ले, मैं विरह में चिर हूँ !"

विरह भावना का यह रूप समूचे हिन्दी साहित्य में पूर्व रूपों से भिन्न है।

निराला की कविताओं में रहस्यवाद की झलक अद्वैत भावना के रूप में मिलती है। उन पर हठयोग का प्रभाव भी है। "कौन तम के पार, रे कह ?" में परोक्ष सत्ता के पृथक् अस्तित्व की सूचना है। दूसरा रूप 'राम की शक्ति पूजा' तथा तुलसी की अन्तःसाधना में मिलता है। लौकिक उदाहरणों द्वारा निराला ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध भी व्याख्या करते हैं। वह तुङ्ग हिमालय-शृङ्ग है तो जीव एक सरिता, वह सूर्य का आलोक है तो जीव कमल का हास, वह प्राण है तो जीव काया है—प्रत्येक दृष्टि से दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है—

"तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुन्द इन्दु अरविन्द शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।"

प्रगतिवाद—सन् १९३६—३७ से हम हिन्दी साहित्य में एक नए युग का आरम्भ मानते हैं। आधार दो हैं—एक तो प्रसाद—प्रेमचन्द के युग की समाप्ति और दूसरे प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना। इस समय भी कवियों का एक वर्ग समाज के प्रति उत्तरदायी था। स्वतन्त्रता के युद्ध के लिए उनमें उत्साह था और देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना थी। एक भारतीय आत्मा ने पुष्प की आकांक्षा द्वारा इसे व्यक्त किया, सुभद्रा कुमारी चौहान ने "झाँसी वाली रानी" द्वारा इसे वाणी दी और 'दिनकर' ने हिमालय को सम्बोधित करते हुए जागरण का सन्देश दिया—"नवयुग शङ्खध्वनि जगा रही तू जाग जाग मेरे विशाल।" कुछ कवियों में राजनैतिक क्रांति की भावना भी थी। 'नवीन' ने कवि से ऐसी तान सुनाने की प्रार्थना की जिससे उथल-पुथल मच जाय। भगवती चरण वर्मा की दृष्टि 'भैंसा गाड़ी' में वर्ग वैषम्य तथा सङ्घर्ष की ओर भी गई थी। इसी समय दो यूरोपीय मनीषियों का कवि वर्ग पर क्रांतिकारी प्रभाव लक्षित हुआ—फ्रायड और मार्क्स का ! कवि अपने दैनिक जीवन में भी कुण्ठित था। इन परस्पर मिश्र प्रभावों ने साहित्य को नवीन गति दी। उसने जो साहित्यिक रूप धारण किया उसे आलोचकों ने 'प्रगतिवाद' कहा है।

प्रगतिवाद का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जा सकता है। वह आत्मा की निरपेक्ष सत्ता नहीं मानता, विश्व में केवल आधिभौतिक सत्ता मानता है। इसलिए वह साहित्य को वैयक्तिक चेतना न मानकर सामूहिक चेतना मानता है। वह वर्ग सङ्घर्ष की भावना को तीव्र करता है, सामन्ती बुर्जुवा वर्ग से उसे कोई सहानुभूति नहीं। दिनकर वैषम्य का चित्र खींचते हैं—

"श्वानों को मिलता दूध दही, बच्चे भूखे तड़पाते हैं—
मिल मालिक तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं !"

पन्त की दृष्टि 'ग्राम्या' में नए लोक की ओर उन्मुख हुई—

"यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विपण्ण, जीवन्मृत !"

यह कवि वर्गहीन समाज का चित्र भी प्रस्तुत करता है और जनवादी दृष्टिकोण के प्रति सबका विश्वास जाग्रत करता है।

प्रगतिवादी कविता के विषय-उपादान बदल गए। किसान, मजदूर, खेत, हलबैल, रोटी, झोंपड़ी, हँसिया-हथौड़ा पर लेखनी उठाना वह गौरव पूर्ण समझता है। 'सुमन' लालसेना के अभियान का वर्णन करते हैं—

"चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।"

प्रगतिवादी रूढ़ि परम्पराओं और ईश्वर आत्मा का खण्डन करता है। भाग्य पर व्यंग्य करता है। समझौता वह किसी रूप में भी नहीं चाहता, क्राँति की घोषणा करता है—

"उठ वीरों की भाव रंगिनी, दलितों के दल की चिनगारी,
युग मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग जाग री क्रांति कुमारी।"

उसकी एक और विशेषता है—मानवी वृत्तियों का स्वाभाविक उन्मुक्त प्रकाशन। वह किसी भाषण में भावों का चित्रण अब नहीं चाहता। यौन सम्बन्धी अनुशासन को भी वह आवश्यक नहीं मानता अतः नारी के रूप सौंदर्य के चित्रण या मधुचर्या पर भी उसे कोई संङ्कोच नहीं है। पन्त ने कहा था नारी का स्वर्गिक आकर्षण क्षुद्र और गुह्य ही क्यों रहे तो अञ्चल का स्वर गूँजा—

"आज सुहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन !"

भगवती चरण वर्मा ने भी ऐसी अनेक कविताएँ लिखी हैं।

इस क्षेत्र में प्रधान लेखक, कवि और आलोचक हैं—नरेन्द्र, शैलेन्द्र, राहुल, यशपाल, रामविलास, शिवदानसिंह रांगेय राघव आदि। नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल ने अपने को कम्यूनिस्ट कहा है, गजानन मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर अपने को मार्क्सवादी कहते हैं।

प्रयोगवाद—सन् १९४३ के उपरान्त एक और प्रकार की रचना दृष्टिगोचर हुई। 'तार-सप्तक' के पहले संग्रह में 'प्रतीक' तथा अन्य पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं ने विषयों तथा अभिव्यक्ति का एक भिन्न रूप धारण किया। कवियों के इन विभिन्न प्रयोगों को बाद में दूसरे 'तार सप्तक' के प्रकाशन के आसपास लोगों में एक नया नाम दे दिया—प्रयोगवाद! इस सम्बन्ध में यह नवीनता द्रष्टव्य है कि प्रयोगवाद एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में चला है। होता यह है कि पहले एक प्रकार की रचनायें होती जाती हैं, उनका नामकरण व वर्ग निर्धारण बाद को होता है किन्तु 'प्रयोगवाद' ने अपनी रूपरेखा पहले ही स्पष्ट कर दी है। दोनों मार्गों में १४ कवियों ने अपने अपने दृष्टि कोण प्रस्तुत किये हैं और सम्पादक 'अज्ञेय' ने आरम्भ में एक भूमिका दी है जिससे पाठक या आलोचक नवीन कविता को समझने में उलझे नहीं।

इन कवियों को देश स्थिति से प्रेरणा मिली। समय युद्ध का था, आर्थिक स्थिति गम्भीर थी, विचारों में निरन्तर परिवर्तन हो रहे थे और शान्ति कहीं नहीं थी। 'घासलेटी' साहित्य बढ़ रहा था। किन्तु श्री नामवरसिंह की तरह हम यह मानने को तैयार नहीं कि "पराजय, भूख, अनैतिकता की इसी कीच में 'प्रयोगवाद' की विद्रोही चेतना उत्पन्न हुई।" कवि पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव है और सबसे अधिक उस पर यूरोपीय कविता के प्रयोगों का प्रभाव है। फ्रांस में १९ वीं सदी के अन्त में कुछ कवि हुए थे—बोदलीयर, मलार्ये, व्लन, प्रस्त आदि। उनकी प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ व्यक्तिवादी, अनैतिक तथा कुत्सित भी थीं। उन्होंने कविता को रूढ़िग्रस्त विकारों से मुक्त किया था, सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा की थी, कविता-सङ्गीत में सामञ्जस्य स्थापित कर शैली में व्यञ्जना सम्बन्धी नवीन प्रयोग किए थे। हिन्दी की प्रयोगवादी कविता पर उसका सीधा और प्रत्यक्ष प्रभाव है। साथ ही द्वितीय महायुद्ध-कालीन अँग्रेजी कविता से भी उसने प्रेरणा ली है। इसकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१—प्रयोगवादी कवि "किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मञ्जिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।" इस कारण कवियों किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। इच्छित विषयों पर उन्होंने कलम उठाई है। १४ कवि नाना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। रामविलास शर्मा का कविता में प्रयोग है—

"हाथी घोड़ा पालकी, जै कन्हैया लाल की
हिन्दी हिन्दुस्तान की, जै हिटलर भगवान की।"

भारतभूषण अग्रवाल का प्रयोग है—

"खाना खाकर बिस्तर पर कमरे में लेटा
सोच रहा था मैं मन ही मन, हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है तुच्छ क्षुद्र मिट्टी के कारण
लिखूँ एक खत हो जा गान्धी का चेला......" !

२—"उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है।" इसका स्पष्टीकरण लेखकों की भूमिकाओं से हो जाता है। गिरजाकुमार माथुर की कविताओं में सङ्गीत की प्रधानता है, प्रभाकर माचवे ने उद्धरणों से कविता सजाई है। शमशेर बहादुरसिंह लिखते हैं कि सचाई का अपना स्वरूप होता है, ललित कलाएँ परस्पर मिश्रित रहती हैं, कवि की कुछ जाती दिलचस्पियाँ होती हैं तथा भाषा व कला के रूपों का कोई पार नहीं है। उनकी कविता का एक अंश है—

"बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही !....."

३—वे उलझी हुई संवेदनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। "आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है जो सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।" अज्ञेय से उद्धरण है—

"ठहर-ठहर आततायी ! जरा सुनले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा !".....

४—अभेद्य क्षेत्रों में जाने की उनकी स्वाभाविक प्रेरणा है। इसका प्रतिफलन मुख्यतः शैली में हुआ है। प्रयोग वैचित्र्य मिलता है। इन कवियों ने विराम संकेतों, सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइपों तथा अधूरे वाक्यों द्वारा भाषा को नवीन अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है।

५—फिर भी प्रकृति, सौन्दर्य और नारी आकर्षण का ये कवि विस्मरण नहीं कर सके हैं! भवानीप्रसाद मिश्र की दृष्टि सतपुड़ा के घने जङ्गलों पर गई है जो नींद में ऊँघते हुए लगते हैं, घास, पलाश, पत्र चुप हैं! कहीं वर्षा के आगमन पर प्रसन्नता है। हरिनारायण व्यास लिखते हैं—'नसोल चाँद आता है,' रूमानी तथा उद्दीपक दृष्टि भी बदली नहीं है। रघुवीरसहाय को प्रेयसी का गीत विचलित कर देता है—

" प्राण ! मत गाओ प्रणय के गान
पथ लगता अधिक सुनसान
तेरे गीत गाने से !"

नरेशकुमार मेहता और धर्मवीर भारती की शब्द-योजना रूमानी है। सङ्गीत व लय से युक्त है। भाव-प्रधान होने से उनमें प्रेषणीयता है। 'समय देवता' नामक लम्बी कविता में नवीन अलङ्कार-योजना है। उनकी अभिव्यक्ति जहाँ सुलझी हुई है, अत्यन्त आकर्षक बन पड़ी है। नरेश की उषस् कविता—

"अश्व की वल्गा लो अब थाम
दिख रहा मानसरोवर कूल....."

और भारती का कल्पना को सम्बोधन—

"कल्पने उदासिनी
किसी सुदूर देश में, न मेघदूत वेश में
किसी निराश यक्ष का प्रणय सँदेश ला रही...."

फिर भी ये कवि 'मदभरी चाँदनी', 'गुलाबी दुनियाँ' और 'फीरोजी होठों' को अभी भूले नहीं हैं। अन्तिम कविताओं से यह भी स्पष्ट होता है कि काव्य में वस्तुतः भाव तत्व ही प्रधान है, तभी वह काव्य है। उनमें व्यञ्जना का ही महत्व रहता है। तो क्या पुनः हिन्दी कविता भाव तत्व की प्रधानता की ओर गति बदल रही है?

आज कल हिन्दी कविता में नई-नई उद्भावनाएँ हो रही हैं और शीघ्रता से नए-नए प्रतीक संकेत प्रयुक्त हो रहे हैं। नवीन सादृश्य-विधान हो रहा है। परिवर्तन की गति भी बहुत तीव्र है। नरेश मेहता को सुन्दरी की बाँहें "चिकने चीड़ सी" लगती हैं तो रांगेय राघव को रात्रि कोयले की खान की मजदूरनी की तरह भार ढोती हुई प्रतीत होती हैं। बसन्त, मधुमास, पतझर आदि प्रतीक तो अब पुराने भी हो चले हैं। हिन्दी कविता शनैः मुखी होकर बह रही है। जूते, चप्पल, कुत्ते से लेकर हिमालय तक उसकी विषय वस्तु बन रहे हैं और सब प्रकार की कविताएँ प्रकाशित होती जा रही हैं। अभी उसमें किसी और नवीनता के दर्शन नहीं होते।

वर्तमान युग के महाकाव्य

श्री त्रिलोचन पाण्डेय एम० ए०

हिन्दी साहित्य की एक विशेषता यह है कि उसमें किसी परम्परा का अन्त नहीं होता। बीसवीं सदी की हिन्दी कविता में अन्यान्य काव्य रूपों के साथ-साथ प्रबंध काव्यों का भी महत्व है जिनमें महाकाव्यों का अलग स्थान है। कवियों ने उनमें भी भारतीय व यूरोपीय सिद्धांतों का समाहार करने की चेष्टा की है। वैसे शास्त्रीय सिद्धांत किसी रचना के प्रकार-विशेष की रूप रेखा मात्र ही निर्धारित कर सकते हैं क्योंकि वे अपने आप में इष्ट नहीं होते। उनका पालन कर देने से ही कृति महाकाव्य बन जाय, यह सम्भव नहीं है। उनमें आन्तरिक पक्ष प्रधान रहता है। महाकाव्यत्व के लिए निश्चित छन्दों की संख्या सर्ग विधान, रस विधान आदि के अतिरिक्त यह भी देखना होता है कि उनमें जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है या नहीं? वे मानव हृदय की भावनाओं का, सद् असद् प्रवृत्तियों का कहाँ तक चित्रण करते हैं? उन्होंने जीवन की कौन सी समस्या उठाई है और उसका समाधान क्या दिया है? इधर के हिन्दी महाकाव्य इन तत्वों पर दृष्टि रख कर चले हैं।

प्रधान महाकाव्य हैं—प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, नूरजहाँ, कृष्णायन, देवार्चन, साकेत-सन्त, सिद्धार्थ, सिद्धान्त-समर, हल्दीघाटी, जौहर, वर्द्धमान और रावण-महाकाव्य आदि। 'आधार वस्तु' की दृष्टि से इनके चार वर्ग निर्धारित हो सकते हैं—

१—प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान मूलक—'प्रियप्रवास' 'कृष्णायन' का सम्बन्ध भारतीय पुराणों में वर्णित कृष्ण-कथा से है। 'साकेत' राम लक्ष्मण के ऐतिहासिक वृत्त को लेकर बढ़ा है। 'कामायनी' में जल प्लावन का आख्यान आधार है। 'कुरुक्षेत्र' महाभारत का युद्ध प्रस्तुत करता है। 'साकेत-सन्त' में भरत माण्डवी की प्रधानता दी गई है। 'सिद्धार्थ' गौतम बुद्ध के और वर्द्धमान भगवान महावीर के जीवन वृत्त से संबद्ध है। इसी के चुनाव पर लेखक का कहना है एक तो अन्य चरित्रों का पिष्ट पेषण बहुत हुआ है और पौराणिक-आवरण से ढके रहने पर भी उन्हें बुद्धि-सम्मत रूप नहीं दिया जा सकता जबकि बुद्ध के चरित्र में उत्तरोत्तर मनुष्य की आत्मा का पूर्ण विकास हुआ है।

२—अप्रसिद्ध पौराणिक आख्यान मूलक—'सिद्धान्त समर' में सम्राट अवीक्षित का उपाख्यान है जो सूर्यवंशी एक सम्राट थे। मारकण्डेय पुराण में उनका चरित्र मिलता है। वे इक्ष्वाकु के उपरान्त उत्पन्न हुए थे। लेखक ने उनको तत्कालीन कौशल सम्राट माना है। उनके पुत्र मरुत के यज्ञ की कथा भी भागवत में मिलती है।

३—व्यक्तिगत आख्यान मूलक—'देवार्चन' में तुलसी का जीवन वृत्त है जिसका उद्देश्य भारतीयता की पुनः प्रतिष्ठा है। "देवार्चन की रचना की प्रेरणा मुझे तुलसीदास जी के ग्रथों के अध्ययन के द्वारा प्राप्त हुई," कवि ने आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन भी किया है। वे तुलसी के बाल्यकाल का नाम रामवचन और माता-पिता का नाम कमला तथा चिन्तामणि मानते हैं। 'रावण-महाकाव्य' में कवि की दृष्टि प्रधानतः रावण के वृत्त पर रही है—बहुत कुछ 'मेघनाद वध' की तरह।

४—मुगलकालीन कथा का आधार—'नूरजहाँ' में सलीम व मेहरुन्निसा से सम्बद्ध प्रेमकथा को आधार बनाया गया है। 'हल्दीघाटी', 'जौहर' में राजपूत काल के त्याग व शौर्य की झलक दिखाई गई है। पहले में राणा प्रताप व मानसिंह से सम्बद्ध कथानक है, दूसरे में महारानी पद्मिनी व उसके जौहर की विजय गाथा है जो हृत्तंत्री का एक तार झंकृत कर देती है।

इससे स्पष्ट होता है कि कवियों ने भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों से प्रेरणा ली है और उपेक्षित विषयों पर भी ध्यान दिया है। आज का कलाकार नाना क्षेत्रों से जीवन का पूर्ण चित्रण करता है, सबसे अनुप्राणित होता है। गहन व अभेद्य क्षेत्रों को भी वह अछूता नहीं रखना चाहता है। हिन्दी के महाकाव्यकार भी सामयिक

तथ्यों की उपेक्षा नहीं करते।

वर्तमान युग में साहित्य की कसौटी भी बदली है या ऐसा कहें कि विस्तृत हुई है। सिद्धान्त लक्ष्य ग्रन्थों के उपरान्त बनते हैं अतः उन्हें पत्थर की लकीर नहीं माना जा सकता। आधुनिक महाकाव्यों ने शास्त्रीय नियमों का ध्यान तो रखा है किन्तु बन्धन स्वीकार नहीं किया है। पूर्ण पालन तो संस्कृत या हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों में भी नहीं हुआ। 'शिशुपाल वध', 'नैषध चरित' बहुत छोटे हैं। 'मानस' में कुल ७ काण्ड हैं। रामचन्द्रिका छन्दों का ही अजायबघर है! पाश्चात्य देशों में भी अरस्तू के नियमों का पालन 'इलियड', 'ओडेसी' से लेकर 'पैराडाइस लौस्ट' तक नहीं हुआ। कथावस्तु सबकी प्रख्यात है। 'कामायनी' के मनु ऐतिहासिक व्यक्ति तो हैं हीं, श्रद्धा भी परिचित है—"कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका"। इसमें १५ सर्ग हैं, साकेत में १२, प्रिय प्रवास में १७, कुरुक्षेत्र में ७, 'सिद्धान्त समर' 'देवार्चन' में सरस्वती का मङ्गलाचरण है, 'साकेत' में गणेश का। अन्त में छन्द परिवर्तन भी होता है। शृङ्गार, वीर या शान्त रस का प्राधान्य है, शेष गौणतः हैं। वर्णनों में प्रकृति, विवाह आदि के चित्र मिलते हैं। 'हल्दीघाटी', 'जौहर' में आखेट, युद्ध के सजीव वर्णन हैं—

१—"हय रुण्ड कतर, गज मुण्ड पाछ,
अरि व्यूह गले पर फिरती थी...."

२—"क्षण भर छल बल कर लड़ा अड़ा,
दो पैरों पर हो गया खड़ा...."

किन्तु अधिकांश में नियमों के त्याग की प्रवृत्ति ही अधिक मिलती है। कामायिनी के आरम्भ में मङ्गलाचरण नहीं है। 'सिद्धार्थ' का आरम्भ है—"गिरि हिमालय के उपकूल में कपिलवस्तु पुरी अति रम्य थी।" पञ्च संधियों का निश्चित निर्वाह किसी में नहीं मिलता। शीर्षक भी घटनाओं के आधार पर नहीं मिलते। जौहर का वर्णन इक्कीस 'चिनगारियों' में है; कामायनी के सर्ग—चिन्ता, आशा आदि—मनोवृत्तियों के आधार पर हैं। कुछ का नामकरण भी नायक के आधार पर न होकर नायिका के आधार पर हुआ है—'नूरजहाँ'! 'हरिऔध' ने 'प्रिय प्रवास' को 'महाकाव्य' लिखा तो है लेकिन आचार्य शुक्ल का मत है—इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिए भी अपर्याप्त है अतः प्रबन्ध-काव्य के सब अवयव उसमें कहाँ आ सकते.... परम्परा पालन के लिये जो दृश्य वर्णन हैं वे किसी बगीचे में लगे हुए पेड़ पौधों के नाम गिनाने के समान है। यही बात बहुत कुछ 'हल्दीघाटी', 'जौहर', 'सिद्धार्थ' के लिये भी कही जा सकती है। अनावश्यक विस्तार भी महाकाव्यत्व में सहायक नहीं होता।

महाकाव्यकारों ने घटनाओं को देश काल व प्रसंग के अनुकूल परिवर्तित कर लिया है। 'प्रिय प्रवास' के कवि का कथन है—"मैंने श्रीकृष्ण चन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अङ्कित किया है, ब्रह्म करके नहीं।" कृष्ण को मनुष्य तथा समाज-सेवक के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न है जबकि उनका लोक रंजक रूप ही अधिक कवि प्रिय रहा है। दावानल का पान न करके साहसपूर्वक उससे लोगों को बचाने का वर्णन, गोवर्धन पर्वत को उँगली पर उठाने का सांकेतिक वर्णन आदि। 'साकेत' में तो राम की मानव रूप में प्रतिष्ठा है ही—"राम, तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?" स्वयं राम भी कहते हैं—"सन्देश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया!" साथ ही उनमें कवियों की मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं। कल्पना द्वारा कवियों ने विशृङ्खल सूत्र परस्पर संबद्ध किए हैं। कामायनी में ही श्रद्धा के घर की गांधार प्रदेश में कल्पना की गई है। उसके रूप, सौन्दर्य का वर्णन मौलिक है। श्रद्धा-मनु का मिलन दृश्य तथा व्यावहारिक जीवन भी उत्पाद्य है। सूत्रपात्र ऐतिहासिक है और शेष ढाँचा कवि-निर्मित है। इसी प्रकार 'सिद्धान्त-समर' में पौराणिक कथा से अन्तर किया गया है। (१) पुराणों में राजा विशाल का करन्धम द्वारा पराजित होना वर्णित है, यहाँ बिना युद्ध के ही संधि करा दी गई है। (२) काव्य की नायिका 'भामिनि' बन में तपस्या से ऊब कर आत्महत्या करने को उद्यत होती है, इस काव्य में एक भगवद्भक्त यही कार्य करते हैं क्योंकि कवि को ऐसा विशेष स्वाभाविक व लोकोचित प्रतीत हुआ है। (३) मरुत के संवर्त मुनि की खोज की

कथा भागवत से लेकर इसमें रोचकता के लिए सम्मिलित कर ली गई है।

वर्तमान महाकाव्य जीवन को व्यक्त करता है, उसकी व्याख्या नहीं करता। 'सिद्धार्थ' या 'देवार्चन' या 'साकेत' केवल इसीलिए महाकाव्य नहीं हैं कि उनमें प्राकृतिक दृश्यों व ऋतुओं का वर्णन हुआ है, वरन् इसलिए भी कि उनमें मनुष्य जीवन की उन सभी घटनाओं का समावेश है जो उसमें किसी न किसी समय आ उपस्थित होती हैं।

वर्तमान महाकाव्यों की चित्रण प्रणाली प्रायः परम्परागत है। 'साकेत' में उर्मिला का विरह वर्णन, 'सिद्धार्थ' में यशोधरा का विरह वर्णन प्राचीन काव्यों से भिन्न नहीं। नायिका की अन्तर्दशाओं की व्यञ्जना, उन्माद, प्रलाप, गुण श्रवण आदि सभी में उपलब्ध हैं। यशोधरा ने सरोज, कली, भ्रमर, रोहिणी नदी से विरह-व्यथा का निवेदन किया है। हाँ इतना अवश्य हुआ है कि कवियों ने उनकी सहानुभूति का विस्तार प्रकृति की छोटी से छोटी वस्तु तक कर दिया है। उर्मिला को तोता मैना से तो सहानुभूति है ही, जुगनू, मकड़ी से भी उसका अपनत्व है—"सखि, हटा न मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति वश!" भ्रमर या पवन को सम्बोधित कर सन्देश भेजने की प्रथा बहुत प्राचीन है। 'प्रिय-प्रवास' में राधा उसका कतव्य ही निश्चित कर देती है—"जैसे हो, ए भगिनि, बिगड़ी बात मेरी बना दे!" 'सिद्धान्त समर' में गन्धर्व लोक में निशाभिसार के दृश्य हैं—

"कौतुक अञ्जन, रागी रञ्जन, कौशिक व्यञ्जन प्यारी,
विभा विभञ्जन, चौर्य विवर्धन, रति सुखदा निशि न्यारी"

प्रकृति अधिकांश में उद्दीपन या अभीष्ट वातावरण लाने के लिए चित्रित है। 'देवार्चन' में प्रकृति वातावरण निर्माण में सहायक है। कवि सूचना देता है—

"यही निशा बनी अनन्त कष्ट की प्रदायिनी,
यही निशा बनी अनन्त दुःख की विधायिनी।
बनी यही निशा विपत्ति वर्द्धिनी समागता,
यही निशा कराल काल सी प्रकोप कम्पिता।"

कामायनी में प्रकृति का स्वतन्त्र विधान भी है पर कम, जिसमें अर्थ ग्रहण व बिम्ब ग्रहण दोनों हैं—

१—"स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर-दूर तक फैल रहीं......"
२—"धँसती धरा, धधकती-ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास......"

बाल्काल की क्रीड़ाओं का विस्तृत उल्लेख 'प्रिय-प्रवास', 'सिद्धार्थ' और 'देवार्चन' में है। देवार्चन तुलसी का बचपन स्पष्ट करता है। वर्णन की दृष्टि से 'नूरजहाँ' उत्कृष्ट है। प्रकृति चित्रण में भावों के स्पष्टीकरण में, मुद्राङ्कन में कवि बहुत सफल हुआ है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने में कवि की दृष्टि कपास, अरहर तक भी गई है। उसके कथन पात्र का स्वरूप सामने ला रखते हैं—
"यदि नाम जमीला है मेरा, पानी में आग लगा दूँगी!"

इन महाकाव्यों में तत्कालीन देशकाल के अतिरिक्त वर्तमान वस्तु-स्थिति का बहुत प्रभाव पड़ा है। समय ने ही कवियों को उनकी रचना में प्रेरित किया। अतः पिछले ३० वर्षों की भारतीय रीति-नीति, विचारों, सामाजिक, राजनैतिक हलचलों की उनमें झलक है। 'कुरुक्षेत्र' के आरम्भ में ही दिनकर ने लिखा है—"युद्ध एक निन्दित व क्रूर कर्म है किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है, या उस पर जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने पर आतुर है—
"पापी कौन? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला?
या कि न्याय खोजते विघ्न का सीस उड़ाने वाला?"

'कामायनी' के अन्तिम सर्गों में वर्तमान बुद्धिवादी युग पर प्रकाश है—
"वर्गों की खाई बन फैली, कभी नहीं जो जुड़ने की"
वर्तमान वर्ण-जातियों की समस्याओं का उल्लेख है। पारस्परिक द्रोह, द्वेष का प्रकाशन है, विरोध स्पष्ट है—
"यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि,
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि!"

बुद्धि और तर्क द्वारा सत्य की जितनी खोज हो रही है वह उतना ही गहन होता जा रहा है। गुप्तजी ने 'साकेत' के अनेक प्रसङ्ग वर्तमान युग के मेल में रखे हैं। आज अस्वाभाविक प्रतीत होने वाले सभी तत्व हटा दिए गए

हैं। डा० नगेन्द्र 'साकेत' को भारतीय जीवन का प्रतिनिधि ग्रंथ मानते हैं। 'साकेत' और 'कामायनी' महाकाव्य वर्तमान युग की अभिव्यक्ति करते हैं। महाकाव्य देश, जाति, धर्म, साहित्य के लिए लाभप्रद भी होते हैं। "इस सङ्घर्ष काल में आर्य संस्कृति के रक्षकों को 'जौहर' के छन्दों ने मन्त्रों से भी अधिक बल दिया है।" ये महाकाव्य अतीत के गौरव गान के अतिरिक्त सांस्कृतिक पुनरुत्थान का सन्देश भी देते हैं। 'जौहर' की पहली पंक्तियाँ हैं—"फूँक दो उस राष्ट्र को जहाँ स्वाभिमान पर मर मिटने वाले पुरुष नहीं। आग लगादो उस देश में जहाँ पातिव्रत की रक्षा के लिए धधकती आग में अपने को झोंक देने वाली स्त्रियाँ नहीं और पीस दो उस समाज को जो अपना अधिकार दूसरों को सौंपकर बँधे हुये कुत्ते की तरह याचक आँखों से उसकी ओर देखता है।"

इन पर सामयिक प्रभाव भी है। 'साकेत' में गांधीवादी सत्याग्रह की झलक है। "यह कह पथ में लेट गए बहु जन वहाँ।" राम भी सेवा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

१—"मैं यहाँ जोड़ने नहीं काटने आया"
२—"आओ हम कातें बुनें ज्ञान की लय में"

इन महाकाव्यों में जीवन की समस्याओं के साथ कवियों ने उनके समाधान भी प्रस्तुत किए हैं—यह प्रश्न भिन्न है कि वे कहाँ तक संगत हो सकते हैं। सिद्धार्थ ने जीवन मरण की समस्या पर विचार किया। उनके निष्कर्ष हैं—

१—"अनादि क्या ? जन्म; अनन्त मृत्यु है"
२—"रहस्य ? निःश्रेयस लाभ युक्ति है"
३—"यथार्थ क्या ? कर्म प्रधान विश्व है"

'कामायनी' में मनु इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि "समरसता' द्वारा ही जीवन में शांति, सुख व अक्षय आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। हृदय-बुद्धि तत्वों का समन्वय ही एक मात्र उपाय है। 'साकेत' में गुप्तजी ने त्याग, कर्म, मर्यादा और समष्टि पर जोर दिया है तथा समन्वय को ही एक मात्र समाधान माना है—"सखे ! समन्वय करो भक्ति का युक्ति से !"

महाकाव्यों की शैली पर वर्तमान गीति काव्य का स्पष्ट प्रभाव है। अभिव्यञ्जना की नवीन पद्धतियों का भी उन्होंने समाहार किया है। 'हल्दीघाटी' में चित्तौड़, 'चेतक', 'झाला माना' आदि प्रसङ्ग मुक्तक से लगते हैं। कामायनी तो छायावादी कविता की विशेषताओं से युक्त है ही। 'साकेत' में पात्रों के वैयक्तिक पक्ष को उभारने का अधिक प्रयत्न है। संगीतात्मकता का प्राधान्य भी इसका सूचक है। प्रबन्ध के बीच बीच में "होली होली", "विरह संग अभिसार भी" आदि गीतों का सफल विधान हुआ है। इन महाकाव्यों में एक दूसरे को प्रभावित भी किया है। 'प्रियप्रवास' के प्रकृति चित्रण का 'देवार्चन' पर बहुत प्रभाव है, इसमें सर्ग भी १७ हैं। 'साकेत' ने 'साकेत-सन्त' को प्रेरणा दी। गुप्तजी ने लक्ष्मण-उर्मिला के वार्तालाप लिखे तो डा० बल्देवप्रसाद मिश्र ने भरत-माण्डवी का। भरत ने उसकी चाल की तुलना कहीं 'बाल मराल' से की है, उसको "अवनी का प्यार" कहा है। उनकी भी बातों ही बातों में रात्रि व्यतीत हो जाती है। पारिवारिक चित्रण प्रभावित है। अलङ्कारों में प्राचीन अलङ्कारों के साथ मानवीकरण, विशेषण विपर्यय आदि का प्रयोग मिलता है। छन्द प्रायः वर्णिक हैं। मात्रिक छन्दों का प्रयोग 'कृष्णायन' में है।

वर्तमान युग के महाकाव्य खड़ी बोली की पुष्ट अवस्था के सूचक हैं। अब भाषा कोमल, सूक्ष्मतम भावों को व्यक्त करनेमें समर्थ है, वह मँज चुकी है। देशी-विदेशी शब्दों प्रान्तीय प्रयोगों द्वारा भी उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति बढ़ाई गई है। मुहावरे, लोकोक्तियों का प्रयोग 'नूरजहाँ' में बहुत सफल है—"जो कल संग हवा खाती थी आज हवा बतलावे"। हरिऔध ने भी मुहावरों का स्वतन्त्र प्रयोग किया है। महाकाव्यकार अब अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए आरम्भ में विस्तृत भूमिका देते हैं। प्रसाद, हरिऔध, अनूप शर्मा—सभी ने ऐसा किया है। कथानक पर उतना जोर नहीं जितना जीवन पर। आधुनिक कविता में की सभी विशेषताओं के सफल समाहार से उनके उज्वल भविष्य की आशा है; हाँ, अभी तक नवीनयुग की समस्या को लेकर रचित महाकाव्य देखने में नहीं आया।

हिन्दी काव्य में छायावाद

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

छायावाद काव्य-प्रवाह हिन्दी में अपनी सुनिश्चित धारा बना चुका है। अब वह केवल विरोध की वस्तु नहीं है, और न केवल वाचिक अभ्यर्थना का ही विषय रह गया है। अब तो उसकी सम्यक् समीक्षा और परीक्षा भी की जा सकती है। आरम्भ से ही अपनी छायात्मक निगूढ़ अभिव्यक्तियों के कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य कहा जा रहा था। पूर्ववर्त्ती भक्ति-काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत इसकी निराकार पद्धति थी, किन्तु इसका यथार्थ स्वरूप अब तक स्पष्ट नहीं किया जा सका। छायावाद की पद्धति कबीर आदि की निर्गुण निराकार व्यञ्जनाओं से भिन्न तो है ही, सूफियों की पद्धति से भी पृथक है। उक्त दोनों परम्पराएँ प्रमुखतः आध्यात्मिक कही जा सकती हैं, यद्यपि सूफी कवियों ने लौकिक संस्कृति के निर्माण में भी कम सहायता नहीं दी। आधिभौतिक पक्ष में भी देखा जाय तो एक ओर उमरखैयाम और दूसरी ओर शेखसादी तथा भारत के जायसी आदि कवियों में बहुत बड़ा दृष्टिभेद है। इन सभी कवियों ने सामयिक संस्कृति और देशकाल की विचार-धाराओं को भिन्न-भिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए उमर खैयाम की काव्य-धारा अदृष्ट, भाग्य या नियति के कठोर चक्र से भयभीत होकर उससे तटस्थ हो जाने का मानो आमन्त्रण करती है। उनका काव्य ईरान और फारस की एकान्त वाटिकाओं और उपवनों में दो प्राणियों की प्रेम-परिचर्या का ही अटल आदर्श लेकर उपस्थित हुआ। सादी आदि की रचनाएँ उनसे भिन्न वातावरण और विचार-क्रम का द्योतन करती हैं। जायसी आदि भारतीय सूफियों की कविता न तो उमर खैयाम का सा भाग्यवाद प्रवर्तित करती है और न दो प्राणियों के एकान्त जीवन और यौवनिक परिस्थितियों का प्रदर्शन करती है; न वह अरबी सूफियों की तरह इस्लाम की छत्र-छाया में ही विकसित हुई है। व्यापक भारतीय जीवन और सौन्दर्य के अनेकानेक दृश्यों के बीच से होकर यह काव्य-धारा प्रवाहित हुई है। इस प्रकार देश, काल और विचार-क्रम में भेद होते हुए भी सूफी काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक कहा जाता है; क्योंकि उसका लक्ष्य, निराकार प्रेम की अनुभूति, सब में समान रूप से पाया जाता है। उसके लौकिक, देश-काल सापेक्ष्य और सांस्कृतिक पहलू प्रधान स्थान नहीं पा सके हैं, काव्य के प्राण प्रेम, अलौकिक प्रेम में ही अटके हैं।

कबीर आदि ज्ञानमार्गियों की आध्यात्मिकता तो एक दम स्पष्ट है। रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति और मिथ्या संसार की सुदृढ़ धारणा उनके अध्यात्म के अविचल स्तम्भ हैं। आध्यात्मिक काव्य के लिए एक अखण्ड सत्ता का स्वीकार—वह प्रेममय हो, ज्ञानमय हो या आनन्दमय जितना आवश्यक था, सांसारिक सत्ता या व्यावहारिक जीवन का अस्वीकार भी उतना ही अनिवार्य हो गया था। आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी काव्य की यही विशेषता थी। साकारोपासक भक्तों ने भी राम-कृष्ण आदि के चरित्रों को अखण्ड अव्यय लीला, दिव्य और अलौकिक कहकर उसी कसौटी को स्वीकार किया है। संसार की प्राकृतिक किसी सत्ता की आत्यन्तिक स्वीकृति सिद्धान्ततः वे भी नहीं करते। यह अवश्य मानना होगा कि साकारोपासक कवियों ने सांस्कृतिक, नैतिक और जीवन के व्यावहारिक पक्षों का विस्तृत दिग्दर्शन कराया है, किन्तु उनकी दृष्टि अलौकिक 'आदर्श' पर ही रही है। संसार की दृश्यमान वास्तविकता और तज्जन्य प्रगतियों से वे प्रायः दूर ही रहे हैं। तथापि इन कवियों ने जीवन के बहुविध पक्षों का सौन्दर्य दिखाया और तत्कालीन संस्कृति के निर्माण में योग दिया। आदर्श और अलौकिक की भूमि पर वे व्यवहार और प्रत्यक्ष की इतनी चर्चा भी कर गए, यह कम नहीं। कबीर आदि निर्गुणियों ने भी आत्मा की सत्ता घट-घट में दिखाई और उसे पहचानने का आग्रह किया। साधन रूप में उन्होंने त्यागमय जीवन

की शिक्षा दी तथा जाति पाँति के भेदों का निषेध किया। किन्तु उनका लौकिक क्षेत्र साकारोपासक कवियों की अपेक्षा भी सीमित था, क्योंकि उनका अध्यात्म लोक से परे की वस्तु थी, जिसकी साधना तटस्थ और ऐकान्तिक ही हो सकती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन अधिकांश काव्य, वह किसी वाद या सम्प्रदाय से संबद्ध क्यों न हो, अलौकिक वातावरण और आध्यात्मिकता का ही दावा करता रहा। सिद्धान्ततः सूर, तुलसी और मीरा तथा कबीर, दादू आदि सगुण और निर्गुण उपासना के कवि एक-सी ही आध्यात्मिक भूमिका का आग्रह करते हैं। सूर के काव्य में कृष्ण-गोपियों की शृङ्गारिक लीला, तुलसी के काव्य में राम और सीता का मर्यादावादी चरित्र, कबीर की तत्व-निरूपक साखियाँ और अन्योक्तियाँ—विषय, भाव-व्यञ्जना, काव्यशैली तथा साहित्यिक विशेषताओं में एक दूसरे से दूर दीख पड़ती हैं, परन्तु तत्वतः वे सभी अध्यात्म-वादी काव्य की ही शाखा—प्रशाखाएं कही जा सकती हैं।

यहाँ प्रसङ्गवश हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि इस सम्पूर्ण अध्यात्मवादी काव्य की, जो अनेक शताब्दियों तक प्रस्तुत किया जाता रहा, एक-सी प्रेरणा भूमि नहीं है। भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने-अपने मानसिक धरातल से जो काव्य-सृष्टि की है, उसे एक ही 'अध्यात्म-वादी' तुला पर तौलना ठीक न होगा। ऐसा करने पर रचनाकारों की वास्तविक जीवन-दृष्टि, उनकी मनःस्थिति तथा काव्यात्मक क्षमता का आकलन न हो सकेगा। अतएव इन मध्यकालीन कवियों का वास्तविक साहित्यिक मूल्य आँकने के लिए आवश्यक है कि इनमें प्रत्येक के 'अध्यात्मवाद' की उनके दार्शनिक और सामाजिक निरूपणों के प्रकाश में परीक्षा की जाय। उनके द्वारा चित्रित चरित्रों और व्यञ्जित भावनाओं की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आलोचना की जाय और उनकी काव्य-शैली तथा साहित्यिक निर्माण की विशेषताओं को स्वतन्त्र भूमि पर रख कर देखा जाय। 'अध्यात्मवादी' होने के कारण ही किसी कवि को काव्य-गौरव नहीं प्राप्त हो जाता, न केवल साम्प्रदायिक या साधना-विषयक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग ही उसे साहित्यिक उत्कर्ष दे सकता है। आवश्यकता यह समझने की है कि कवि की काव्यानुभूति और उसकी रचना साहित्यिक समीक्षा में स्वतन्त्र सत्ता रखती है, किसी वाद के घेरे में वह घेरी नहीं जा सकती।

अस्तु, यह एक प्रासङ्गिक बात हुई। नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और संस्कृति है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नव प्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्य-शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार-जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप, स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्य-युग का जीवन भक्ति-काव्य में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य में जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी, वहाँ छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन परिस्थितियों से ही अनुप्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्ति काव्य की प्रकृति निरपेक्षता और संसार मिथ्या की सैद्धान्तिक प्रतिक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानव जीवन सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है, उसे अव्यय की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य-जगत्, अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे, जब कि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी। अध्यात्मवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित होते हुये भी मध्यकालीन भक्ति-काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य में कितना बड़ा दृष्टिभेद है, यह अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टिभेद के कारण दोनों युगों की काव्य-सृष्टियों में जो महत्वपूर्ण अन्तर आ गया है, वह साहित्य के विद्यार्थी के अनु-

शीलन की वस्तु है।

मध्यकालीन अधिकांश काव्य जो किसी धार्मिक या साधनात्मक प्रणाली के अन्तर्गत रचा गया, एक विशेष अर्थ में साम्प्रदायिक काव्य कहा जा सकता है। तुलसी की विनय-पत्रिका, सूरदास के विनय के पद, कबीर की साखियाँ, मीरा के भाव-गीत वास्तव में सगुण या निर्गुण उपास्य के प्रति किये गए आत्म-निवेदन, स्तुतियाँ या ऋचायें हैं। राम और सीता सम्बन्धी चरित्र-काव्य में अथवा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में स्थिति कुछ भिन्न अवश्य है, क्योंकि वहाँ काव्य अपनी प्रकृत भाव-भूमि पर है और मनोवेगों का नरूपण नैसर्गिक पद्धति पर किया गया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसङ्ग सर्वथा स्वाधीन हैं और इनका काव्य-सौन्दर्य चरित्र-काव्य या प्रगीत की सामान्य भूमि पर रख कर परखा जा सकता है। समस्या यह हो जाती है कि भक्ति, उपासना या रहस्य-साधना के साम्प्रदायिक आग्रह प्रमुख बन बैठते हैं, और काव्य-भावना की वास्तविक परख नहीं हो पाती। आवश्यकता इस बात की है कि काव्येतर समस्त तत्व, वाद और साधना-क्रम स्वतन्त्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें, परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर उन सबका पर्यवसान रचयिता की मनःस्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका के अन्तर्गत हो जाना चाहिए। ऐसा न होने पर काव्य का वास्तविक आकलन अधूरा ही रह जायगा।

दूसरे शब्दों में हमारा निवेदन यह है कि मध्यकालीन काव्य की समस्त सांप्रदायिक और साधनात्मक प्रेरणाओं को नवीन मनोवैज्ञानिकों और साहित्यिक प्रतिमानों में परिणत करना होगा। ऐसा करने पर ही उक्त काव्य की वास्तविक सीमा-रेखायें निर्धारित हो सकेंगी। नवीन मनोविज्ञान की सहायता से यह कार्य अधिक सुगमतापूर्वक हो सकेगा, क्योंकि साम्प्रदायिक साधना-सरणियों का काव्य के अन्तर्गत प्रयोग करने में कवियों की व्यक्तिगत मानसिक स्थितियों का आवश्यक और महत्वपूर्ण हाथ मानना ही पड़ेगा। 'सूर के श्याम' और 'मीरा के प्रभु', 'विद्यापति की राधा' और 'सूर की राधा' चरित्र के रूप में तो भिन्न हैं ही, उनके निर्माण की मानसिक प्रेरणा भी एक नहीं है। इसी प्रकार कबीर की रहस्य-भावना उसी मानसिक स्तर पर नहीं है जिस पर दूसरे निर्गुणियों की है। अतएव इस साहित्यिक निर्माण का कवियों की मानसिक स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है।

इतना होने पर भी उन कवियों के काव्य की उपयुक्त भूमिका का निर्माण हो सकेगा और उस भूमिका पर रख कर उनका काव्य- सौष्ठव परखा जा सकेगा। वर्तमान स्थिति में यह कार्य प्रायः भ्रामक पद्धति पर किया जाता है। पाठकों के धार्मिक विश्वासों का अनुचित उपयोग कर कुछ समीक्षक कृष्ण-काव्य को अब भी कला और भाव-समीक्षा का वास्तविक विषय नहीं बनने देते, और उनकी अनेकविधि साम्प्रदायिक व्याख्यायें करते रहते हैं। कुछ समीक्षक रहस्यवाद की काव्यभूमि को ही स्वीकार नहीं करते, और कुछ इसके विपरीत, रहस्य-काव्य के दार्शनिक विवेचन में ही सारा पांडित्य खर्च कर देते हैं। ये सभी समीक्षा-प्रकार साहित्यिक आकलन की दृष्टि से एकांगी और अधूरे हैं और साहित्यिक या कलात्मक विवेचन में बाधा उपस्थित करते हैं।

जब तक इस नई पद्धति पर काव्य-विवेचन की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक मध्यकालीन काव्य का कलात्मक और सांस्कृतिक स्थान निर्धारित करना सम्भव नहीं होगा। साथ ही मध्ययुग की सामाजिक परिस्थिति में उक्त काव्य की कितनी और किस प्रकार पैंठ हुई तथा उससे सामाजिक कला-अभिरुचि किस सीमा तक जाग्रत हुई, और सांस्कारिकता कहाँ तक बढ़ी और विकसित हुई, इन प्रासंगिक प्रश्नों को भी इतिहास के आलोक में हल करना होगा। सारांश यह कि इतिहास और सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि पर कवियों की साम्प्रदायिक साधना-विधियों और दार्शनिक निरूपणों का उनकी जीवनी और मानसिक गतिविधि से सम्बन्ध स्थापित करते हुये काव्य की नवीन व्याख्या करनी होगी और इस प्रकार उन मध्यकालीन कवियों की काव्यपीठिका का निर्माण करना होगा। इस पीठिका पर रखकर ही हम उनकी रचनाओं की साहित्यिक विशेषताओं को आँक सकेंगे। तभी हमारा

साहित्यिक इतिहास वास्तविक साहित्यिक भूमि पर स्थापित होगा और हम भिन्न-भिन्न साहित्यिक निर्माणों का यथार्थ स्वरूप समझ सकेंगे।

छायावादी काव्य मध्ययुग की काव्यधारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। अध्यात्मवादी काव्य का अधिष्ठान देशकालातीत परम पवित्र सत्ता हुआ करती है। व्ययशील सांसारिक आदर्शों और स्थितियों आदि से उनका मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह विकास जो समय का आश्रित है, वह विज्ञान जो व्यक्त द्रव्य तथा उसकी परिणतियों पर अधिष्ठित है, मध्यकालीन आध्यात्मिक काव्य के विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष वस्तु का मानवजीवन के सुख दुःख, विकास-ह्रास आदि की अवस्थाओं से जो सम्बन्ध हैं, वह काव्य उसकी उपेक्षा कर गया है। किन्तु आधुनिक छायावादी-काव्य उसकी उपेक्षा नहीं करता। अध्यात्मवादी परम्परा दृश्य मात्र को विनाशी कहकर चुप हो रहती है, अथवा उसे व्यावहारिक बताकर मुँह मोड़ लेती है। छायावादी काव्य में यह परम्परा स्वीकृत नहीं है। दैन्य से पीड़ित और प्रताड़ित तथा भोगैश्वर्य से प्रसक्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टि चक्र के विभेदों में अध्यात्मवाद नहीं जा सका। समय और समाज को आन्दोलित करने वाली शक्तियों का आकलन उसमें कम ही है। वह तो उस शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा संपृक्त है जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं। उस सत्ता का स्वरूप सगुण है या निर्गुण, विश्वमय है या विश्वातीत, ये प्रश्न ही उस अध्यात्म में आते हैं। छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।

आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म पद्धति को लेकर नहीं चलता। नवीन जीवन-प्रगति में ही उसने आत्म-सौन्दर्य की झलक देखी है। परम्परित अध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है—एक चेतन-केन्द्र से नाना चेतना-केन्द्रों की सृष्टि करता है किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर—दृश्य से भाव की ओर होती है। और इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य-वस्तु का चयन करने में छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है।

प्रसाद, जो छायावाद काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं, अपनी आरम्भिक रचनाओं में प्रकृति की रमणीयता से आकृष्ट होकर उसके सौन्दर्य-प्रभावों को व्यक्त करते हैं। उनका आरम्भिक काव्य प्राकृतिक और मानवी सौन्दर्य की भूमि पर अधिष्ठित है। इस व्यक्त सौन्दर्य-वस्तु का प्रभाव कवि के काव्य में एक हल्की रहस्य-भावना की सृष्टि करता है। 'झरना' और 'आँसू' में यह सौन्दर्य-सत्ता क्रमशः विकसित होकर कवि की भावना में और भी गहराई लाती है और कवि प्रेम-तत्व के निरूपण में संलग्न दिखाई देता है। 'लहर' के गीतों में मानव-जीवन के विविध पहलुओं के साथ जीवन-तत्व के समन्वय का प्रयत्न है। 'कामायनी' काव्य में जीवन की अनुभूतियाँ अपनी व्यापकता में प्रदर्शित हैं और उन सबका समाहार कवि के जीवन-दर्शन, आनन्दवाद में किया गया है। प्रसादजी के काव्य के अभिनव भाव-विस्तार को देखते हुए मध्ययुग का धार्मिक और साम्प्रदायिक अध्यात्म-काव्य बहुत कुछ सीमित और परतन्त्र प्रतीत होता है।

केवल एक प्रासङ्गिक उदाहरण लेकर देखना ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। सूरदास का राम कृष्ण-सम्बन्धी शृङ्गारिक काव्य अपनी स्वाभाविक भावभूमि पर भी अत्यधिक विशद और आकर्षक है। वृन्दावन के प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच गोपियों के प्रेम का विकास एक आध्यात्मिक समारोह ही कहा जा सकता है। परन्तु एक सीमा तक ही यह सुन्दर पद्धति देखने को मिलती है। आगे चलकर गोपियों की मानलीला और कृष्ण द्वारा मान-मोचन के प्रयत्नों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह अपनी प्रकृति भूमि पर वैसा भावनामय नहीं हो पाया है। प्रत्येक गोपी के घर बारी-बारी से जाकर उसकी अभिलाषा पूर्ति का प्रयत्न जैसा वह सूरदास के काव्य में चित्रित है,

आध्यात्मिक; रूढ़ि के अनुकूल भले ही हो, काव्य की उदात्त भाव व्यञ्जना में सहायक नहीं है। सम्भव है तत्कालीन काव्य-पद्धति में वैसे चित्रण अपवाद न माने जाते हों, पर आज वे चित्रण—सम्भोग शृङ्गार के वे दृश्य—सुरुचिपूर्ण नहीं कहे जा सकते।

छायावाद की काव्य-शैली में एक नई दिशा का आभास महादेवीजी के काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्राप्त हुआ। उनका काव्य पूर्णतः रहस्योन्मुखी और ऐकान्तिक है। छायावाद की सामान्य काव्य-शैली से उनकी पृथक्ता स्वीकार करनी होगी। इसके पश्चात् बचनजी का नया काव्यवाद हिन्दी के क्षेत्र में आया। इसी समय छायावादी काव्य शैली के कतिपय अनुयायियों ने 'यथार्थवादी' काव्य-प्रयोग आरम्भ किए, जिनमें पन्तजी भी एक प्रमुख प्रयोक्ता थे। चित्रण-शैली और प्रेरणा-भूमि दोनों में पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा इनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई दिया।

नया काव्य परिवर्तन आरम्भ हो चुका है, परन्तु शैली के रूप में उसकी नूतन प्रतिष्ठा में कुछ समय लगेगा। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में नई विचारणा, नई चिन्तन-पद्धति और नवीन जीवन-दृष्टि ही नहीं है, नई कला-शैली की भी सत्ता है। स्वभावतः यह नवीन-निर्माण कल्पना-प्रधान छायावादी काव्य-निर्माण की अपेक्षा अधिक 'यथार्थ' चित्रण-शैली का उपयोग कर रहा है, पर शैली का यह यथार्थ अपने अन्तर्गत कितनी विभिन्न और दूरवर्ती भावना सरणियों को आत्मसात कर सकेगा, यह तो नवीन सांस्कृतिक विकास और भविष्य की सामाजिक प्रगति पर ही अवलम्बित है। अभी इसके सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक मत व्यक्त नहीं किया जा सकता।

(पृष्ठ ३०३ का शेषांश)

उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलङ्कारों का तो प्रयोग किया ही, किन्तु सबसे अधिक अंग्रेजी के तीन नवीन अलङ्कारों का भी प्रयोग किया जिनके कारण भावाभिव्यक्ति में एक मार्मिकता और गहनता आगई और कविता के अन्तर्गत काव्य-सौष्ठव झलक उठा। ये अलङ्कार हैं—(१) मानवीकरण, (२) विशेषण विपर्यय तथा (३) ध्वन्यर्थ व्यञ्जना कामायनी के अन्तर्गत इन तीनों अलङ्कारों का प्रयोग अच्छी प्रकार हुआ है।

(१) मानवीकरण—

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूटपड़ा तेरा अञ्चल,
देख, बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चञ्चल।"

यहाँ 'रात्रि' का एक चञ्चल मत्त नायिका के रूप में वर्णन होने से मानवीकरण है।

(२) विशेषण विपर्यय—

"देखा मनु ने वह अतिरञ्जित विजन विश्व का नव एकान्त,
जैसे कोलाहल सोया हो हिमशीतल जड़ता सा श्रान्त।"

यहाँ कोलाहल को श्रान्त तथा सोता हुआ दिखाया है जिसमें मानवीकरण के साथ साथ हिम-समूह के गुणों का भी ग्रहण दिखलाया है।

(३) ध्वन्यर्थ व्यञ्जना—

"धँसती धरा धधकती ज्वाला" तथा "धू धू करके नाच रहा था अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य" आदि पदों में ध्वन्यात्मकता होने से यह अलङ्कार है।

(ङ) छन्द-विधान—छायावादी कवियों ने कुछ नए-नए छन्दों का भी निर्माण किया, जिनमें अन्त्यानुप्रास के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की संगीतात्मक लय होती थी। ऐसे-ऐसे मिश्रित छन्द प्रयुक्त हुए जिनमें छन्द-शास्त्र के अनुसार प्रयोग न होकर अपनी इच्छानुसार प्रयोग किया गया। कामायनी में भी ऐसे ही मिश्रित छन्दों का स्वरूप 'इड़ा' सर्ग में देखने को मिल जाता है। शेष छन्द तो नियमानुकूल ही हैं।

कामायनी में छायावादी प्रवृत्ति

श्री द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, साहित्य-रत्न

छायावाद एक ऐसी युग-परिवर्तनकारी क्रान्ति लेकर उपस्थित हुआ, जिसने भाव, भाषा, छन्द-विधान आदि काव्य के समस्त अवयवों में पर्याप्त मात्रा में परिवर्तन प्रस्तुत किया। इसने एक कुशल स्वर्णकार की भाँति भाषा, भाव तथा ध्वनि में नवीन कलात्मकता उत्पन्न करते हुये काव्य को भावनाओं का एक कोमलतर कलेवर प्रस्तुत किया और हमारी दृष्टि वासना-मूलक सौन्दर्य से हट कर सूक्ष्म सौन्दर्य की ओर जा पहुँची। दर्शन शास्त्रों एवं उपनिषदों के अध्ययन ने इसमें दार्शनिक नूतनता का सञ्चार किया, जिसके परिणाम-स्वरूप करुणा, विश्व-मैत्री, अहिंसा आदि कितनी ही भावनायें कविता में सजीव हो उठीं। इसने सर्वचेतना की एक ऐसी उत्कट भावना जाग्रत की, जिससे प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के प्रति सहृदयता और सहानुभूति का सञ्चार हुआ और प्रकृति में भी संवेदनशीलता एवं मानवीय रागात्मकता का आभास मिलने लगा। प्रकृति को अभी तक अचेतन ही माना जाता था, किन्तु उसमें मानव हृदय का-सा भी स्पन्दन होता है यह छायावाद ने खोज की। नारी के प्रति भी दृष्टिकोण बदला। वह केवल लोक सेवा की भावना से युक्त जीवन-सङ्घर्ष की प्रमुख पात्री ही न रही अपितु उसमें अनन्त सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा हुई। भारतीय जीवन के परतन्त्र होने के कारण निराशा और विषाद की भावना भी छायावादी कविता में हिलोरें लेने लगी। इतना ही नहीं अभिव्यञ्जना की अनूठी पद्धति द्वारा कविता का कला-पक्ष तो इतना समुन्नत हुआ कि काव्य में कहीं-कहीं दुरूहता एवं अस्पष्टता भी आगई, किन्तु वह अस्पष्टता केवल अतिरञ्जित प्रणाली के कारण ही आई थी। अतः काव्यगत सरसता एवं मधुरता के सामने वह फीकी ही रही। इस प्रकार छायावाद ने हिन्दी-जगत में एक आमूल-चूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। संक्षेप में छायावादी प्रवृत्ति के निम्नलिखित स्वरूप हो सकते हैं—

(१) करुणा की भावना—दुःखवाद या निगूढ़ वेदना।

(२) सौन्दर्य-दर्शन—सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में अनन्त सौन्दर्य की झलक देखना।

(३) परोक्ष सत्ता के प्रति आकुलता—रहस्यवाद।

(४) नीति-विद्रोह—नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण।

(५) प्रकृति प्रेम—प्रकृति में मानव-हृदय का सा स्पंदन।

(६) निराशा की भावना।

(७) अभिव्यञ्जना की अनूठी पद्धति—काव्य शैलीगत परिवर्तन—वैयक्तिकता, लाक्षणिक भंगिमा एवं प्रतीकात्मकता, चित्रभाषा—तथा चित्रराग, नये-नये अलङ्कार और नये-नये छन्दों का प्रयोग।

उपर्युक्त स्वरूपों को गहराई से देखने पर यह स्पष्ट पता चल जाता है कि इनमें से पहले छः स्वरूपों का सम्बन्ध तो काव्य के भावपक्ष से है और सातवाँ स्वरूप कलापक्ष से सम्बन्ध रखता है। अब यदि कामायनी महाकाव्य की ओर दृष्टि डालें तो उपर्युक्त सभी स्वरूपों का उत्कृष्ट प्रयोग इस महाकाव्य में देखने को मिल जायगा। अब क्रमशः हम इन स्वरूपों को कामायनी काव्य में देखने की चेष्टा करेंगे।

(१) *करुणा की भावना*—जिस युग में छायावाद का प्रवर्तन हुआ उस समय मानव जीवन इतना असहाय और निराश्रित था कि इसे देखकर एक भावुक कवि के हृदय में करुणा का संचार हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। उस समय समाज में घोर विषमता दिखाई देती थी। प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन-यापन करना सर्वथा दुष्कर था। यही कारण है कि कामायनी में भी कवि ने इस विषमता के परिणाम को दिखाकर अर्थात् देवों के द्वारा फैलाई गई उस विषमता से ही उनका सर्वनाश दिखाकर एक नई मानवता के विकास की सूचना दी और विषमता-जन्य संवेदना से व्यथित मनु से कहलवाया—

"संवेदना का और हृदय का
यह संघर्ष न हो सकता ।
फिर अभाव असफलताओं की,
गाथा कौन कहाँ बकता ।"

इतना ही नहीं यह दयनीय दशा मानव-जीवन में इतनी गहरी प्रविष्ट हो गई थी कि स्थल स्थल पर इसके लिए कवि संकेत देता गया है। मानव की उस परिस्थिति का सफल चित्रण मनु के जीवन के रूप में कवि ने स्पष्ट रूप से किया है—

"भूलता ही जाता दिनरात
सजल अभिलाषा कलित अतीत,
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य,
दीन जीवन का यह संगीत ।"

तथा

"एक स्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिंब ।
और जड़ता की जीवन राशि,
सफलता का संकलित विलम्ब ।"

इन पंक्तियों में वर्तमान जीवन के प्रति इतना क्षोभ एवं आक्रोश व्यक्त किया गया है कि उससे सहज ही तत्कालीन स्थिति का ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार मानव-जीवन के दुःखवाद एवं उसकी निगूढ़ वेदना की झाँकी प्रस्तुत करते हुए कवि ने तत्कालीन व्यथित जीवन का स्वरूप सफलता के साथ अङ्कित किया है, जिसे पढ़कर करुणा की एक व्यापक भावना हमारे हृदय में आकर हिलोरें लेने लगती है।

(२) *सौन्दर्य-दर्शन*—छायावादी कविताओं में प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य की झलक तो देखी ही किन्तु मानव-जीवन में भी एक अनुपम सौन्दर्य के दर्शन किए। रीतिकाल जैसे स्थूल-सौन्दर्य के चित्रण में अब उन्हें आनन्द नहीं मिलता था। कामायनी के अन्तर्गत इस सूक्ष्म-सौन्दर्य के अनेक चित्र मिलेंगे, जिनमें कवि ने बड़ी बारीकी के साथ शब्दों की काट-छाँट द्वारा सूक्ष्म भावनाओं को मनोरम स्वरूप प्रदान किया है और इसी कारण उन चित्रों में सजीवता एवं मनमोहकता भी अत्यधिक आ गई है। आशा सर्ग में हिमालय का वर्णन करते हुए कवि ने उन्नत श्रेणियों का कितना भव्य चित्र अङ्कित किया है कि जिसमें अनुपम सौन्दर्य की झलक मिल जाती है :—

"सन्ध्या घनमाला की सुन्दर,
ओढ़े रंग विरंगी छींट,
गगन चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ,
पहने हुए तुषार किरीट।"

इसी प्रकार श्रद्धा का रूप-सौन्दर्य वर्णन करते हुए उसमें भी कवि एक अनन्त एवं अनुपम सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है; जिसमें सर्वाधिक भाग प्रकृति के ही रम्य अवयवों ने लिया है :—

"कुसुम कानन अञ्चल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधुरा का मन की साध,
हँसी का वह विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध।

यह सौन्दर्य की वह झाँकी है जो एक कुशल कारीगर द्वारा प्रकृति के अवयवों से निर्माण करके प्रस्तुत की गई है और जिसमें रमणीकता, भव्यता एवं दिव्यता के अतिरिक्त मानव-हृदय को विमुग्ध बना देने की पूर्ण सामग्री हैं।

(३) *परोक्ष सत्ता के प्रति आकुलता*—इस आकुलता का दिग्दर्शन छायावादी कविता में सर्वाधिक हुआ है। यह प्रणाली इतनी व्यापक हो गई थी कि आगे चल कर इसने अपना स्वतंत्र क्षेत्र ही बना लिया और इसे रहस्यवाद या आध्यात्मिक संकेतवाद के नाम से पुकारा गया। अंग्रेजी विद्वान स्पर्जन के मत से यह रहस्यवाद एक प्रकार की मनोदशा ही है, कोई सिद्धान्त नहीं। वह इसे एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण ही मानता है, कोई दर्शन पद्धति स्वीकार नहीं करता।

डा० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ बतलाई हैं—(१) ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए

तत्परता, ईश्वर की विभूतियों को देखकर चकित होना; (२) आत्मा का परमात्मा से प्रेम करने लगना, आत्मा में एक प्रकार का उन्माद या पागलपन होना तथा (३) आत्मा-परमात्मा का एकीकरण। किन्तु कामायनी में रहस्यवाद के ये सभी स्वरूप नहीं मिलते। हाँ, प्रथम रूप तो मिलता है, जिसमें ईश्वर की विभूतियों को देखकर चकित होने तथा अपनी जिज्ञासा को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। इसे यदि जिज्ञासा-मूलक रहस्यवाद कहें तो अधिक समीचीन होगा। इसका आभास कवि ने इस प्रकार दिया है—

"महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते हैं संधान

× × ×

सिर नीचा कर किसको सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?

किन्तु कामायनी में इस जिज्ञासा की आगे चलकर शान्ति भी दिखाई गई है क्योंकि कवि को जब उस अज्ञात के आभास के प्रति विश्वास हो जाता है तो वह पुकार उठता है :—

"हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो, ऐसा होता भान।"

इसके अतिरिक्त अन्य दोनों स्थितियों का स्पष्ट चित्रण तो कामायनी काव्य में नहीं मिलता; हाँ यदि खोज की जाय तो उन दोनों स्थितियों की भी झलक थोड़ी-बहुत अन्तिम 'आनन्द' नामक सर्ग में मिल सकती है।

(४) *नीति-विद्रोह*—छायावादी कविता के द्वारा द्विवेदी-युग की नीति-प्रधान शुष्क उपदेशात्मकता के विरुद्ध एक सजीव प्रतिक्रिया हुई। इन कविताओं में आचार-प्रधान पौराणिक संस्कृति के स्थान पर मानवतावादी स्वस्थ दृष्टिकोण को अपनाया गया। उनमें सुधारवादिता का राग न था, अपितु मानव-जीवन की सफल अभिव्यक्ति थी। उनमें उपदेशात्मकता न थी, अपितु कला के प्रति अटूट श्रद्धा थी। उनमें कोरी इतिवृत्तात्मकता न थी, अपितु भावुकता एवं छाया-चित्रों से रंजित मानव-जीवन की संवेदना के चित्र थे। इतना ही नहीं, पुरुष और नारी के प्रति भी अब दृष्टिकोण बदल गया था। यही कारण है कि मानव-जीवन के अत्यन्त स्वाभाविक चित्र छायावादी कविताओं में अङ्कित हुए। कामायनी में भी यही परिवर्तित दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मिल जाता है। यहाँ मनु यदि विलास-प्रिय हैं तो श्रद्धा भी कोरी उपदेश देने वाली आदर्श नारी नहीं, अपितु सुख-दुख में सदैव हाथ बँटाने वाली मनु की चिर-प्रेयसी है और मनु से रुष्ट होकर भी जब मनु उसकी बात स्वीकार कर लेते हैं तो वह उनके साथ विलास-भावना में बराबर भाग लेती चित्रित की गई है—

"आँखें प्रिय आँखों में, डूबे
अरुण अधर ये रस में,
हृदय काल्पनिक विजय में सुखी
चेतनता नस-नस में।

यही नहीं, वह नारी (श्रद्धा) अत्यन्त महान भी है। वह विलास-वासना की पूरक ही नहीं अपितु मानव को देवता बनाने की भी क्षमता रखती है क्योंकि उसमें जो महानता है उसका कवि दर्शन लज्जा सर्ग में कराता है :—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।

यही वह नारी है जिसने मनु के "जीवन-निशीथ का अन्धकार" एक दिव्य आलोक में परिणत कर दिया था। इस प्रकार नारी को प्रसादजी ने सौन्दर्य की अधिष्ठात्री एवं आकर्षण के कारण के रूप में अङ्गीकार किया है, किन्तु उनकी कामायनी में नारी का एक तीसरा वह महान् रूप भी मिलता है जिसके द्वारा वह भ्रमित मानव को सुमार्ग पर लाने की भी क्षमता रखती है। यही उसका आदर्श रूप भी हो सकता है जो कामायनी की विशेष देन है।

(५) *प्रकृति-प्रेम*—प्रकृति के प्रति छायावादी कवियों की उदार-भावना सबसे अधिक दिखाई देती है। इस उदारता को बढ़ाने का श्रेय अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों को

है; परन्तु प्रकृति में चेतनता का आरोप करना कोई हमारे यहाँ नई बात न थी। नई बात तो यह थी कि छायावादी कवियों ने प्रकृति को एक रमणी के रूप में देखा और उसमें एक स्पन्दित एवं सम्वेदित हृदय की खोज की। इतना ही नहीं, प्रकृति को सुन्दर मनो-व्यापारों से युक्त करके उसके साथ पूर्ण तादात्म्य भी स्थापित किया। वैसे प्रकृति के साधारण चित्र तो थोड़े ही मिलेंगे, किन्तु छायावादी कवियों ने इस विराट सृष्टि में झर-झर करते हुए निर्झरों, कल-कल निनाद करती हुई सरिताओं, लता-वेष्टित हरे-भरे तरु-वृन्दों, कुसुमाच्छादित 'नव नील कुञ्जों' तथा 'तुषार मण्डित शैल श्रेणियों' में प्रकृति के भव्य रूप का दर्शन किया। कामायनी में भी यह प्रकृति-प्रेम सजीवता के साथ प्रस्फुटित हुआ है। यहाँ प्रकृति के रमणीक रूप के अतिरिक्त भयङ्कर रूप का भी सफल चित्रण मिलता है, जैसे—

"हाहाकार हुआ क्रन्दनमय,
कठिन कुलिश होते थे चूर।
हुए दिगन्त बधिर भीषण रव
बार-बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तथ के,
सघन गगन में भीम प्रकम्पन
झंझा के चलते झटके।

और रमणीक चित्रों की तो कामायनी में भरमार है। इन चित्रणों में मानवीकरण के साथ-साथ स्निग्धता एवं सरसता का ही आधिक्य है। इन चित्रों में धरा-बधू का यह सजीव वर्णन कितना मनमोहक है :—

सिन्धु-सेज पर धरा-बधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी, ऐंठी सी।

इसी प्रकार हिमालय का भी सफल चित्रण हुआ है। प्रकृति के साथ कवि ने पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर के उसके भावान्वित स्वरूपों को कामायनी में सर्वत्र स्थान दिया है। 'काम' सर्ग का प्रारम्भिक वर्णन, जिसमें बसन्त एवं यौवन का रूपक प्रस्तुत किया है, ऐसा ही भावाद्विप्त रूप प्रस्तुत करता है।

(६) *निराशा की भावना*—पराधीन देश में यह देखा गया है कि नव-जागृति के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक दासता के बढ़ जाने से एक घोर निराशावादी दृष्टिकोण व्याप्त हो जाता है। प्रायः दासता के कारण फैले हुये दुःखवाद के पीछे-पीछे निराशा और पलायन की प्रवृत्ति जाग्रति हो कर चला करती है। यही दशा छाया-वादी कविता में चित्रित हुई है। कामायनी में भी इस निराशा की घटा को हम यत्र-तत्र घुमड़ते हुये देखते हैं। प्रारम्भ में ही मनु को देवों के दम्भ द्वारा प्राप्त प्रलय के कारण पर्याप्त मात्रा में कष्ट उठाने पड़े और अकेले मारे-मारे फिरने के कारण घोर निराशा ने अपना नीड़ मनु के हृदय में बना लिया। यही कारण है कि श्रद्धा के द्वारा परिचय पूँछने पर मनु अपने को "तरङ्गों से फेंकी मणि एक" बतलाते हैं और बहुत कुछ आश्वासन देने पर भी यही कहते हैं :—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा ही इसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।

इस जीवन में सिवाय निराशा के और कुछ है ही नहीं। बड़ी आशायें लेकर मनु ने अपना गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने की चेष्टा की, परन्तु वहाँ भी हृदय को सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में उस सुखमय जीवन को छोड़ कर भागे और यही अनुभव किया—

"जीवन निशीथ के अन्धकार
तू घूम रहा अभिलाषा के नवज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक चिनगारी सी उठती पुकार

इस प्रकार इस निराशा के कारण मनु जीवन पर भटकते रहे। वैसे आशा और निराशा जीवन के दो पहलू हैं और यह निराशा जीवन के दुःखवाद का ही दूसरा नाम है। भोगवाद की नींव में भी यही निराशा काम करती है। अतः जीवन का सम्यक् चित्र प्रस्तुत करने के लिए इस निराशा का परित्याग नहीं हो सकता। कामायनी में इस

निराशा का सफल चित्रण 'इड़ा' सर्ग में हुआ है।

(७) *अभिव्यञ्जना की अनूठी पद्धति*—छायावादी कवियों ने सबसे अधिक अभिव्यक्ति पक्ष पर जोर दिया। उन्होंने भावाभिव्यञ्जना के लिए अपनी एक निजी अनूठी शैली को अपनाया, जिसमें लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता के साथ-साथ वैयक्तिकता की भी प्रबलता थी और शब्द-चित्रों एवं नए-नए अलङ्कारों द्वारा अपनी अनुभूति को व्यक्त किया। इस शैली की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(क) *वैयक्तिकता*—छायावादी कवि ने अपनी कविताओं में अधिकांश 'स्व' की अभिव्यक्ति की है। यह 'स्व' या 'अहम' उनके सभी आशा-निराशा के चित्रों में सजीव हो उठा है। कामायनी में भी इस 'स्व' की ही अभिव्यक्ति इतनी गहन हो गई है कि कहीं-कहीं कथानक उखड़ा सा जान पड़ता है और प्रबन्ध-काव्य की एक रूपता को आघात पहुँचाता है। कामायनी में कवि मनु के स्वर से स्वर मिलाकर पुकार उठता है:—

"आह कल्पना का सुन्दर यह,
जगत मधुर कितना होता।
सुख स्वप्नों का दल छाया में,
पुलकित हो जगता सोता।"

इतना ही नहीं जब सृष्टि में चारों ओर 'जीवन-जीवन की पुकार' मच उठी है तो मैं भी क्यों न अपने जीवन को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करूँ। मनु कहते हैं:—

"मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में,
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।"

इस प्रकार जहाँ भी वैयक्तिक विचारों के अभिव्यक्त करने का कवि को अवसर मिला है उसने तुरन्त उन्हें स्थान दिया है।

(ख) *लाक्षणिक भङ्गिमा एवं प्रतीकात्मकता*—छायावादी कविताओं में सबसे अधिक लाक्षणिक पदावली का ही प्रयोग किया, जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनागम आदि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल और प्रेमी के स्थान पर मधुप तथा विषाद या अवसाद के लिए पतझड़, संध्या या अँधेरी रात आदि। कामायनी में भी इस लाक्षणिकता के साथ-साथ प्रतीकों की भरमार है। 'काम' सर्ग के आरम्भ में ही—

"मधुमय बसन्त जीवन वन के
वह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।
क्या तुम्हें देख कर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी,
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं।"

यहाँ 'बसन्त' यौवन के लिए, 'रजनी का पिछला पहर' वयसन्धि के लिए, 'कोयल' यौवन-उल्लास के लिए, 'कलियाँ' मधुर भावों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

(ग) *चित्रभाषा तथा चित्रराग*—छायावादी कवियों ने अपनी उर्वर कल्पना शक्ति द्वारा एक ऐसी कविता की सृष्टि की जिसमें रूप-व्यञ्जक शब्दों की प्रधानता रही और और "पार्वती परमेश्वरौ" की भाँति वाणी और अर्थ का भी सफल सामञ्जस्य रहा। इसी रूप व्यञ्जक शब्दावली को चित्रभाषा की तथा वाणी और अर्थ के सामञ्जस्य को चित्रराग कहा गया है। कामायनी के अन्तर्गत ऐसी चित्रभाषा तथा चित्रराग का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य के चित्रण में चित्रभाषा एवं चित्रारागात्मक कला देखिए—

"और इस मुख पर यह मुसक्यान,
रक्त किसलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान,
अधिक अलसाई हो अभिराम।"

ऐसे ही अनेक चित्र कलात्मकता के साथ कामायनी में अङ्कित किये गये हैं, जिनमें भाषागत सौन्दर्य के साथ-साथ अर्थ-गांभीर्य भी भरा हुआ है और वे बिम्बग्रहण कराने में पूर्णतया समर्थ सिद्ध हुए हैं।

(घ) *अलङ्कार*—छायावादी कवियों ने उपमा,

(शेष पृष्ठ २६८ पर देखिए)

महादेवीजी का दुःखवाद

प्रो० यशदेव 'शल्य' एम० ए०

महादेवीजी के काव्य की निरपवाद प्रेरणा करुणा क्यों है ? अथवा निराला के काव्य में एक प्रखरता और प्रचण्डता क्यों है ? या प्रसाद के काव्य में वासनाद्वेग क्यों इतना अधिक है ? ये प्रश्न एक ही जैसे हैं और इनका उत्तर उतना ही कठिन है जितना ऐसे प्रश्नों का हो सकता है कि प्रसाद और निराला में अन्तर के क्या कारण है ? निराला का काव्य प्रसाद के काव्य जैसा क्यों नहीं और प्रसाद का व्यक्तित्व निराला जैसा क्यों नहीं था ?

एक व्यक्ति लगभग ५ वर्ष मेरा प्रगाढ़ मित्र रहा। इन वर्षों में मैं उसके साथ औसत तीन घण्टे प्रतिदिन रहा हूँ और उससे सब विषयों पर सब तरह की बातें की हैं। किन्तु उसके सम्बन्ध में भी मैं कुछ एप्रॉक्सीमेट ही बता सकता हूँ और यह एप्रॉक्सीमेट विचार भी ठीक वैसा ही होगा जैसा महादेवीजी के काव्य के सम्बन्ध में दुःखवाद का है, वह वैसा क्यों है जैसा मैं उसे समझता हूँ, यह मैं नहीं बता सकता। कोई भी नहीं बता सकता। ठीक यही बात महादेवीजी के दुःखवाद के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

एक बार मैं इस प्रस्तुत प्रश्न को लेकर महादेवीजी से व्यक्तिगत रूप में मिला था। मैंने उनसे कहा—"आपको मिलकर कोई भी यह अनुमान नहीं कर सकता कि आप उस काव्य की लेखिका हैं जिसमें निस्तब्ध रात्रि की सी गम्भीर और भारी मूकता तथा एक भावुकता पूर्ण निराशा, उदासी तथा करुणा है। आप बात करते हुए हँसी के स्रोत बहाती हैं, एक भी करुणा-कण इस सम्पूर्ण प्रवाह में दिखाई नहीं देता, जब कि काव्य में एक भी हँसी और उल्लास का कण नहीं होता।"* उन्होंने उत्तर दिया—"यह आपकी अपनी मनःस्थिति का आग्रह भी हो सकता है। सम्भव है इस निराशावाद की कल्पना आप मेरी कविता में अपनी ओर से कर लेते हों !" वास्तव में उन वर्षों में मेरी मनःस्थिति वैसी थी भी। इससे मैंने कहा—"यह भी सम्भव है !" किन्तु आगे फिर एक भेंट में उन्होंने कहा कि उनके काव्य में करुणा का कारण 'विषम युग-स्थिति' भी है। इन भिन्न उत्तरों का कारण सम्भवतः यह है कि वे अपनी करुणा को निराशा और भावुक-उदासी का पर्याय नहीं मानतीं। जो भी हो, आज मैं उनके इन दोनों विचारों से सहमत नहीं हूँ। अपने इस दुःखवाद का कारण उन्होंने यामा में 'सुखातिमात्रा प्राप्ति' दिया है, जिसका उल्लेख कर बहुतों ने उससे अपना मतभेद प्रकट किया है। किन्तु अगले ही वाक्य में एक और कारण उन्होंने दिया है, वे कहती हैं—"बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।

किन्तु इस परिचय का उन पर इतना गम्भीर और ऐसा प्रभाव ही क्यों पड़ा ? श्री राहुल और भदन्त आनन्द कोसल्यायन जी पर बुद्ध-भक्ति का ऐसा प्रभाव क्यों नहीं हुआ ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है और जिसे समझने का प्रयास हम करेंगे।

यह प्रश्न यदि फ्रायड से किया जाए तो वह इसे अन्तश्चेतना में दबी अतृप्त काम चेतना का परिणाम बताएगा, ऐड्लर इसे साथियों के ऊपर उत्तमतम स्थिति (Superiority goal) की सिद्धि की असफलता की उत्पत्ति कहेगा और मार्क्स इस परिचय को ही अन्तिम मान लेगा। किन्तु सम्भवतः ऐसी भिन्नताओं के कुछ और तथा अधिक उलझनपूर्ण कारण हैं, और उनके आधार पर कहा जा सकता है कि फ्रायड का कथन आंशिक रूप से अथवा परिणाम में कुछ व्यक्तियों के लिए सत्य है

* यह विवरण मैं केवल स्मृति के आधार पर ही दे रहा हूँ, इसमें वही शब्द नहीं हो सकते, किन्तु भावना का निर्वाह मैं सचाई से कर रहा हूँ।

और एडलर का कुछ दूसरों के लिए तथा मार्क्स का सबके लिए कुछ ठीक अथवा बहुत गलत है।

यहाँ हम विशेष से सामान्य पर आ गए हैं, महादेवीजी की बजाय केवल 'म' हमारे विश्लेषण का विषय होगया है। सम्भवतः यह आवश्यक भी है और प्रत्येक आलोचक या व्याख्याता इसी प्रकार 'कसी निर्णय पर पहुँचता है, क्योंकि हम प्रत्येक विशेष को नहीं जान सकते और वास्तव में किसी भी विशेष का हम पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त कर सकते, इससे सामान्य के सम्बन्ध में भी हम पूर्ण निर्णयात्मक सम्मति नहीं दे सकते।

तो भी एक सामान्य आधार हो सकता है जिस पर कुछ अनिश्चित् और अस्पष्ट धारणा बनाई जा सके। यहां हम संक्षेप में इस आधार को प्रस्तुत कर आगे बढ़ेंगे।

हम कहेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता रखता है और उस विशिष्टता का किसी प्रकार की परिवृत्ति (फ्रायड और ऐडलर की 'अतृप्ति' भी परिवृत्ति जन्य ही है) से कोई सम्बन्ध नहीं है, इस विशिष्टता का केन्द्र उसका अपना शरीर है। इसलिए इस विशिष्टता को हम व्यक्ति की शरीर रचना अथवा हेरेडिटी (Heredity) की विशिष्टता कहेंगे। परिवृत्ति का इस विशिष्टता से सम्बन्ध सापेक्ष है और इस सापेक्षता की प्रकृति अत्यन्त उलझन-पूर्ण तथा मनोरञ्जक है। बीज मिट्टी, पानी इत्यादि आवश्यक परिवृत्ति पाकर पौधे के रूप में विकसित हो जाता है। इस प्रकार पौधे का अस्तित्व बीज और उसकी परिवृत्ति, दोनों पर निर्भर करता है। न तो अकेला बीज शून्य में पौधा ही बन सकता है और न अकेली परिवृत्ति मिलकर पौधे का निर्माण कर सकती है। किन्तु पौधा बीज और परिवृत्ति का निर्विशिष्ट और निर्जीव समीकरण न होकर बीज का परिवृत्ति के समीकरण (Assimilation) द्वारा अपनी सजीव विशिष्टताओं का उद्घाटन है। इसी से कभी भी गेहूँ का बीज चावल का पौधा नहीं बन सकता फिर चाहे उसे किसी भी प्रकार की परिवृत्ति क्यों न मिले।

बीज जैसे अपने विकास के लिए परिवृत्ति पर निर्भर करता है ठीक उसी प्रकार और उतना ही अधिक जीव-जन्तु भी अपनी परिवृत्ति पर निर्भर करते हैं। रजकण (Eggcell के वपित (Fertilized) हो जाने के पश्चात् बच्चे के रूप में उसका विकास पूर्णतः माता के गर्भ में प्राप्त होने वाली परिवृत्ति पर अवलम्बित होता है। बीज और परिवृत्ति का यह सम्बन्ध बड़ा विचित्र और उलझनपूर्ण है—प्रत्येक प्राणी परिवृत्ति का उपयोग करता है, किन्तु 'एक ही परिवृत्ति' पर अनेक प्राणी होते हैं जिनकी अपनी अपनी सजीव विशिष्टताएँ (Potential Qualities) होती हैं और वे सभी एक ही स्थान पर विभिन्न प्रवृत्तियों का उपयोग करते हैं। क्योंकि प्रत्येक प्राणी की अपने अस्तित्व की एक विशेष शर्त होती है, इससे उसका जीवन अपने "अस्तित्व की शर्त की पूर्ति" पर निर्भर करता है—जिसका अर्थ है कि एक ही परिवृत्ति अनेक सापेक्ष-विशिष्टताओं से युक्त होती है। कभी-कभी तो एक छोटे से प्रदेश में ही प्राणियों की असंख्य विविधता पाई जाती है और इन सभी विविधताओं में प्रत्येक अपनी परिवृत्ति से अपने विशिष्ट अस्तित्व की शर्त-पूर्ति की माँग करती है।[1]

यदि हम यह स्वीकार कर लें तो इसका अभिप्राय होगा कि परिवृत्ति बीज के निर्माण या परिवर्तन में कोई हाथ नहीं रखती। हम यहाँ बिना किसी विवाद में पड़े यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि मन हमारे शरीर यन्त्र की ही एक विशिष्ट प्रक्रिया है।[2] इसलिए हमारी प्रत्येक अनुभूति और प्रत्येक चिन्तन हमारे शरीर के यान्त्रिक सञ्चलन में घटित होता है। मान लीजिए मन कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह सांख्य का 'पुरुष' या न्याय का 'आत्मा' है, तो भी वह अपने प्रत्येक व्यापार के लिए शरीर पर निर्भर करता है, अन्यथा वह कुछ भाव नया धारण नहीं कर सकता। परिणामतः हमारे वह होने का, जो हम हैं उत्तरदायित्व हमारी हेरेडिटी और परिवृत्ति के सापेक्ष सम्बन्ध पर है।

१—यशदेव 'शल्य'—व्यक्ति और समाज (अप्रकाशित)
२—इस सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन के लिये देखें—
• यशदेव 'शल्य' मनस्तत्व का जीव वैज्ञानिक अध्ययन—(प्रेस में)

"इसलिए हम कह सकते हैं कि दो भिन्न व्यक्ति एक जैसी इच्छायें नहीं रख सकते और दो बिल्कुल एक से व्यक्ति बिल्कुल समान परिस्थितियों में भिन्न इच्छा या विचार नहीं रख सकते और एक ही व्यक्ति कभी भी दो भिन्न समयों या दो भिन्न परिवृत्तियों में एक ही सी इच्छायें नहीं रख सकता।"[४]

सामान्यतः हमारी वासनायें हमारे शरीर में किन्हीं रासायनिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होती हैं और उनका ज्ञान हमारे मस्तिष्क का व्यापार है। वासना की सन्तुष्टि भी इन रासायनिक रसों के उचित व्यय में है। किन्तु वासना की उत्पत्ति जहाँ हमारे शरीर का स्वतन्त्र व्यापार है (यद्यपि बाह्य विषय भी इसमें सहायक हो सकते हैं) वहाँ उसकी सन्तुष्टि या व्यय के लिए बाह्य विषय अपेक्षित हैं, उदाहरणतः प्यार की वासना प्रिय के मिलन इत्यादि की अपेक्षा करती है और इस अपेक्षा की सन्तुष्टि इसके विषय की प्राप्ति पर निर्भर है। ये बाह्य विषय सन्तुष्टि के सुख की स्मृति के रूप में प्राणी के मस्तिष्क में निहित हो जाते हैं।[५]

"किन्तु सम्भवतः काव्य हमारे शरीर के रासायनिक आवेगों से सम्बन्ध नहीं रखता—उसका सम्बन्ध आवेगों की सन्तुष्टि-असन्तुष्टि से है, अर्थात् काव्य-विरह—व्यथा अथवा मिलन-सुख या अन्य किसी भी प्रकार के अवसाद-आह्लाद की अभिव्यक्ति है, स्वयं आवेगों की नहीं। यदि यह न हो तो काव्य-सृजन ही सम्भव नहीं। इसका कारण यह है कि हम प्रायः सभी वासनाओं और आवेगों की अनुभूति उनकी सन्तुष्टि-असन्तुष्टि के विषयों के प्रतीकों के साथ ही करते हैं—यद्यपि सदैव नहीं, किन्तु जब ऐसा नहीं होता उस समय व्यथा और आह्लाद का जन्म भी नहीं होता, जो काव्य के आधार हैं। यद्यपि व्यथा और आह्लाद, जो काव्य के कारण बनते हैं, वासनाओं के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते और इस प्रकार काव्य के प्राथमिक कारण आवेग ही हैं, किन्तु काव्य के रूप में ये चरितार्थ केवल तभी होते हैं जब इनका एक छोर परिवृत्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। किन्तु हमारी वासनाओं के उस छोर के साथ, जो सन्तुष्टि से बँधा है, सन्तुष्टि के प्रति हमारे समाज का रवैया भी बँधा है।[६]

हमारी उपर्युक्त व्याख्या मानव-मन की सूक्ष्मताओं को देखते हुए कुछ अधिक स्थूल जान पड़ती है (यद्यपि मुझे सन्देह है कि कोई और अधिक सूक्ष्म व्याख्या भी विद्यमान है) किन्तु यह व्याख्या कुछ आधार प्रस्तुत करती है।[७] इससे हम वासना और उसकी सन्तुष्टि की प्रकृति को कुछ दूर तक समझ सकते हैं।

"मनुष्य में शेष प्राणियों से एक और विशेषता है जिसे हम विचारणा (Intellect) कह सकते हैं। मनुष्य में विचारणा का विकास हो जाने से वह विषय की स्वतन्त्र कल्पना, उसका स्वतन्त्र विचार (Abstract Idia) रख सकता है, यहाँ तक कि वह विचार तक की विषयरूप में कल्पना कर सकता है। इस प्रकार, जैसे पशु में बाह्य विषय प्रक्रियात्मक-सम्बन्ध के अनुसार "भय का विषय, स्नेह का विषय अथवा क्रोध का विषय" इत्यादि में विभक्त हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य में वासनायें और प्रवृत्तियाँ भी प्रक्रियात्मक सम्बन्ध की विषय हो जाती हैं। पशु के लिए वासना केवल एक आन्तरिक धकेल (Internal Push) है जिसकी सन्तुष्टि के बिना उसकी व्याकुलता शान्त नहीं होती, जब तक कि वह थकन से व्यय (Consume) ही न हो जाए; इस वासना के साथ किसी प्रकार का विशेषण नहीं जुड़ा रहता और न यह वासना पशु के लिए किसी प्रकार का 'प्रक्रियात्मक सम्बन्ध जनित अर्थ' ही रखती है। इस प्रकार मनुष्य में मूल प्रेरणा सदैव वासनायें और प्रवृत्तियाँ (Instincts) ही रहती हैं किन्तु अपनी सन्तुष्टि (Realization) या

४—Yash Deo 'Shalya'—On Notion of Cause and Freewill.

५—विस्तृत अध्ययन के लिये देखें—यशदेव 'शल्य' मनस्तत्व का जीव वैज्ञानिक अध्ययन।

६—यशदेव 'शल्य'—व्यक्ति और समाज।

७—अधिक सूक्ष्म व्याख्या के लिए हमारी मनस्तत्व सम्बन्धी पुस्तक का 'प्रवृत्ति और विचारणा' निबन्ध विशेष उपयोगी है।

चरितार्थता में ये स्वतन्त्र नहीं रहतीं,[८] इनके साथ सामाजिक धारणाओं के अनुसार, कुछ विशेषण जम जाते हैं। इसका कारण यह है कि विचारणा हमारी परिवृत्ति का संकलन और सम्बन्ध-स्थापन करती है।

इस प्रकार महादेवीजी के दुःखवाद की व्याख्या कुछ इस तरह से हो सकती है कि महादेवी जी अपने शरीर-निर्माण अथवा मनस्प्रकृति में कुछ ऐसी विशेषतायें रखती थीं कि उन पर उनकी परिवृत्ति का प्रभाव कुछ इस प्रकार पड़ा कि उनका हृदय करुणा-प्रधान होगया। यह उनके इस व्यक्तित्व की ही विशेषता थी कि उन्हें बौद्ध-करुणा ने उस अर्थ में अभिभूत किया जिसमें उनके लिए अनुभूति मात्र का अर्थ एक विशेष प्रकार की सजल करुणा हो गया। उन्होंने यामा की भूमिका में लिखा है—"नीहार के रचना-काल में मेरी अनुभूतियों में वैसी ही कुतूहल मिश्रित वेदना उमड़ आती थी जैसी बालक के मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है।" किन्तु शिशु के किसी कुतूहल में कोई करुणा नहीं होती, महादेवी जी के कुतूहल में करुणा का कारण उनका अपना मानसिक निर्माण है। इसी से वे अपनी इस भावना के प्रति अकारण भावुक रही हैं, वे कहती हैं—

"परन्तु मेरे हृदय के कोने-कोने में सजग-विश्वास जानता है कि जिस विद्युत् के भार से कठोर पृथ्वी फट जाती है उसी को बादल की सजलता अपने प्राणों का आलोक बनाये घूमती है।" यह उन्होंने इस वाक्य के बाद लिखा है—"भौतिकता के कठोर धरातल पर, तर्क से निष्करुण और हिंसा से जर्जरित जीवन में कल युग को देख कर स्वयं कभी-कभी मेरा व्यथित मन भी अपनी करुणा भावना से पूछना चाहता है—'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आगई परदेश री।'" इस सारे में कुछ तर्क-सङ्गति नहीं है और न आभा ही ठीक है, क्योंकि बादल बिजली को वहन कर चाहे आलोकित होता हो करुण-हृदय हिंसा से आलोकित नहीं हो सकता। इसी प्रकार करुणा के प्रति यह भावुकता भी इसमें स्पष्ट है। इसी प्रकार अपनी करुणा के सम्बन्ध में वे आधुनिक कवि की भूमिका में कहती हैं—"अनेक सामाजिक रूढ़ियों में दबे हुए, निर्जीव संस्कारों का भार ढोते हुये और विविध विषमताओं में साँस लेने का भी अवकाश न पाते हुये जीवन के ज्ञान ने मेरे भाव-जगत की वेदना को गहराई और जीवन को क्रिया दी है।" इन सब उद्धरणों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि महादेवीजी अपनी विषम परिस्थितियों और अपने शरीर निर्माण में कुछ ऐसी विशेषताओं के सापेक्ष सम्बन्ध के कारण इस प्रकार करुणाशील हो सकीं। उनकी सारी परिवृत्ति ने उनको इसमें और भी सहायता दी—प्रारम्भ में माता का अधिक भक्त होना, बुद्ध के जीवन का प्रभाव, वैवाहिक जीवन की विषमता तथा छायावादी युग के काव्य की प्रवृत्तियाँ इत्यादि। किन्तु इस सबसे अधिक उनका अनुभूति के साथ ऐसा प्रक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाना है जिससे उनके लिए अनुभूति मात्र का अर्थ करुणा, वेदना और अवसाद हो जाता है। यह प्रवृत्ति बहुत व्यक्तियों में देखी जाती है। महादेवी जी के प्रति हमारे इस कथन की सत्यता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि उन्होंने जितनी भी कविताएँ और स्मृति चित्र लिखे हैं वे सब करुणा प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त उनकी कविताएँ किसी भी 'विषय' अथवा करुणा के उद्देश्य का आभास नहीं देतीं। इसे वे "प्रत्यक्ष के स्थूल रूप को सूक्ष्म चेतना का आभास देना" कहती हैं, किन्तु इसकी भी कोई संगति नहीं है। प्रसाद की 'अशोक की चिन्ता', शेरसिंह का 'शस्त्र समर्पण' तथा पन्त की 'परिवर्तन' इत्यादि कविताएँ किसी 'स्थूल रूप' का चित्रण नहीं करतीं। फिर स्थूल रूप के इस बहिष्कार के आग्रह का भी अर्थ समझ में नहीं आता। इसका कारण भी हमारी समझ में उनकी अनुभूति के प्रति यही 'धारणा' है। वे किसी भी प्रकार की ऐसी घटना से, जो अनुभूति को उत्तेजना देती है एक सूक्ष्म करुणा का वातावरण बुन लेती हैं। उन्हें कभी किसी व्यक्तिगत अभावानुभूति ने प्रेरित किया हो या किसी क्रूर घटना ने अथवा किसी व्यक्तिगत

८—व्यक्ति-समाज सम्बन्धी पुस्तक में 'आत्म-चरित्रता और व्यक्तित्व' निबन्ध देखिये।

आह्लादजनक घटना ने या किसी समष्टिगत आन्दोलन ने, उन्हें किसी बम के विस्फोट से पीड़ा हुई हो, या किसी वैज्ञानिक आविष्कार से आनन्द पहुँचा हो, बरसाती बादल की रिमझिमी रात ने विह्वल किया हो या सर्दियों की धूप में पङ्ख चुंडलाते पक्षियों ने आनन्दित किया हो उनकी कविता का एक ही स्वर होगा और इस एक स्वरता का यही कारण है कि उनका अनुभूति के साथ इस प्रकार का प्रक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। उनके लिए अनुभूति का अर्थ करुणा हो गया है। बाद में उन्होंने इस करुणा के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करने प्रारम्भ किये किन्तु निश्चित् रूप से ये तर्क उनकी इस करुणा की प्रेरणा नहीं है।

उन्होंने अपनी इस अनुभूत या वेदना का आलम्बन भी अरूप ही चुना है। यामा के ७६ और ६५ पृष्ठों पर बने चित्र उनकी इस अरूप और मूक व्यथा के अत्यन्त अभिव्यञ्जक प्रतिबिम्ब हैं। इसका भी वही कारण प्रतीत होता है जो उनके करुणा-प्रेम का है। उनकी विशिष्ट मनस्प्रकृति ने अपनी परिवृत्ति से ऐसी धारणाओं का चुनाव कर लिया कि काम-वासना के प्रति उनका एक प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण बन गया, कामवासना मात्र एक स्थाई विशेषण से आच्छादित हो गई जिससे वह घृणीय और त्याज्य वृत्ति हो गई। इस से एक अत्यन्त शक्तिशाली वासना का तृप्ति की ओर का छोर शून्य में उड़ा दिया गया और इस प्रकार वह स्थायी अतृप्ति में उलझ गया। परिणामतः वे उस ओर अभिसार करने लगीं जिस ओर इस वासना पर कोई 'लौकिक' विशेषण लागू नहीं होता। स्वभावतः ही ऐसे काव्य में कभी भी उल्लास और शक्ति नहीं हो सकती जिस में इतनी अस्वाभाविकतायें हों।

चिर तृप्ति कामनाओं का,
कर जाती निष्फल जीवन।
बुझते ही प्यास हमारी,
पल में अतृप्ति जाती बन।

इसी प्रकार—

मिलन का मत नाम ले,
मैं विरह में चिर हूँ।

इस प्रकार की और भी बहुत सी कवितायें महादेवी जी के काव्य में मिल जायँगी। यह एक और अस्वाभाविकता है जो महादेवी जी के काव्य में सामान्य है। लन सब चाहते हैं, कोई अतृप्ति के लिये अतृप्ति और [illegible] के लिए विरह की साधना नहीं करता। वैसे उर्दू में भी एक प्रसिद्ध शेर है "वे आके कहीं मिटा न दें इन्तज़ार का लुत्फ़" इत्यादि किन्तु यह केवल एक उक्ति भर है, इसका लेखक "साधक कवि की भाँति अपनी आँखें प्यासी"[६] नहीं रखनी चाहता होगा। वैसे महादेवी जी भी मिलन ही चाहती हैं, यह विरह में स्वाभाविक है—

सुख दुख से भर,
आया लघु उर,
मोती से उजले जलकण से
छाये मेरे विस्मित लोचन!
लाये कौन सन्देश नये घन!

इसी प्रकार—

प्रिय क्यों आता इस पार नहीं!

किन्तु अधिकांश कवितायें केवल विरह-व्यथा का ही गायन हैं और वे अतृप्ति से प्रारम्भ होकर अतृप्ति में ही समाप्त हो जाती हैं—

(प्रथम) इन हीरक के तारों को
कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिलाकर,
प्राणों का आसव ढाला।

× × ×

(अन्तिम) होगईं कहाँ अन्तर्हित,
सपने लेकर वे रातें?
जिनका पथ आलोकित कर
बुझने जाती हैं आँखें!

कहीं, और अधिकतर महादेवीजी उपालम्भ देती ही मिलती हैं—

फिर तुमने क्यों शूल बिछाए?

६—लक्ष्मीनारायण सुधांशु—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त (पृ० ३१७)

घेरे लोचन, बाँधे स्पन्दन,
रोमों से उलझाये बन्धन,
लघु तृण से तारों तक बिखरी,
ये साँसें तुम बाँध न पाये !

इन कविताओं में कोई पारलौकिक अनुभूति नहीं है, बौद्ध-दर्शन-जन्य करुणा भी इसे नहीं कह सकते; करुणा का जो सामान्य अर्थ है वह मात्र इन कविताओं की प्रेरणा प्रतीत हो नहीं होता. इन कविताओं में केवल विरहानुभूति है। किन्तु यामा में बहुत अधिक कवितायें ऐसी हैं जिनमें अत्यन्त शिथिल अनुभूति है और जिनके सम्बन्ध में यह कहना थोड़ा सा कठिन हो जाता है कि लेखिका इसे व्यथामय होकर लिख रही है, उदाहरणतः—

सजनि कौन तम में परिचित सा,
सुधि सा, छाया सा आता ?
सूने में सस्मित चितवन से,
जीवन दीप जला जाता !
छू स्मृतियों के बाल जगाता,
मूक वेदनायें दुलराता।
हृत्तंत्री में स्वर भर जाता,
बन्द दृगों में, चूम सजल सपनों के चित्र बना जाता !

ऐसी कुछ कविताएँ दीप शिखा में भी हैं, किन्तु वहाँ प्रायः वातावरण में गम्भीरता और भारीपन हो है। ऐसी कविताएं, जो केवल कविता करने के लिए ही लिखी गई हैं, प्रायः सभी कवि लिखते हैं, इसलिए इसमें महादेवीजी का कोई दोष नहीं है और न उनके काव्य के सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ और कहना ही चाहते हैं; हम यहाँ जो कहना चाहते हैं वह यह है कि महादेवीजी किसी भी कारण अथवा स्रोत से प्रेरित अनुभूति में, उसकी मात्र स्मृति में अथवा उसके अनुकरण में, किसी भी अवस्था में विरह वेदना अथवा करुणा अथवा अवसाद में इसको बदल लेती हैं। उन्होंने आधुनिक कवि की भूमिका में लिखा है कि उनका व्यक्तिगत दुख समष्टिगत गम्भीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा किन्तु नीहार और दीप शिखा के स्वर में हम कोई अन्तर नहीं देखते। "कहदे माँ क्या अब देखूँ" जैसी कविताओं में भी, जिनमें कलियों के वैभव को छोड़ कर प्यासे, सूने अधरों की ओर देखने की 'अनुमति' माँगी गई है, ठीक वैसी ही आत्म-विह्वलता और करुणा है जैसी 'प्रिय सांध्यगगन मेरी जीवन' अथवा 'दिया क्यों जीवन का वरदान' कविता में।

इस विश्लेषण से एक सीमा तक महादेवीजी के इस एकान्त दुखवाद का कारण स्पष्ट हो जाना चाहिए किन्तु इस विश्लेषण में हमने सामान्य से विशेष का निर्णय करने का प्रयास किया है। हम महादेवीजी को इससे अधिक नहीं जानते, जितना हमें उनका काव्य उनसे परिचित करवाता है। इस प्रकार इसमें भूल की सम्भावनाएँ हैं। किन्तु यदि हमारा सामान्य का विश्लेषण ठीक है तो महादेवीजी के सम्बन्ध में भी हमारा विश्लेषण अधिक भ्रान्ति-पूर्ण नहीं हो सकता।

(पृष्ठ ३१८ का शेषांश)

है कि यह अन्तर्मुख है। इस धारा के प्रधान कवि बच्चनजी, भगवतीचरण वर्मा और 'अञ्चल' जी हैं। इनकी कविताओं में 'अहं' और 'व्यक्तिवाद' की प्रधानता है। रोमांटिसिज्म का भी प्रभाव इस धारा की कविता पर है।

इन धाराओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे स्वतन्त्र कवि हैं जिनकी एक स्वतन्त्र धारा है। इस धारा की कविताओं में सुख-दुख, द्वन्द्व-सङ्घर्ष, आशा-निराशा, जिज्ञासा-आश्चर्य, सौन्दर्य-प्रेम, अभाव-उत्साह, सभी तरह की भावनाएँ दिखलाई पड़ती हैं। इनकी भूमि एवं विस्तार-क्षेत्र कहीं व्यक्तिगत और कहीं सामाजिक भी। इस धारा के प्रमुख कवि हैं—'नेपाली', 'हंसकुमार', 'तिवारी', 'त्रिलोचन', 'महेन्द्र' आदि। यह धारा बिलकुल स्वतन्त्र और भावों से ओतप्रोत है।

इन प्रवृत्तियों की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी एक प्रवृत्ति का आधिपत्य काव्य पर वर्तमान समय में नहीं हो सका है। भविष्य ही अब बतलायेगा कि इनमें से कौन-सी प्रवृत्ति अपना आधिपत्य इन सारी प्रवृत्तियों पर कर अपने में सबों को आत्मसात् कर लेगी।

छायावाद और रहस्यवाद : विभिन्न मत

प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, साहित्य-रत्न

हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में रहस्यवादी कविता ने छायावादी कविता से बहुत समय पूर्व अपना आसन जमा दिया था। हमारे विचार से रहस्यवाद के प्रथम कवि कबीर और छायावाद के प्रथम कवि प्रसादजी हैं यद्यपि कुछ वर्तमान साहित्यिक पन्त और माखनलाल चतुर्वेदी को भी छायावाद का आदि कवि मानते हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने तो स्वयं लिखा है—"प्रसादजी को हम हिन्दी में छायावाद का जनक मान सकते हैं।" भाषा और भाव दोनों की छान-बीन एवं विवेचना की जाय और आलोचक 'इन्दु' पत्र की कविताएँ तथा 'कानन-कुसुम' पुस्तक की पंक्तियों का अवलोकन करें तो निश्चित रूप से उन्हें कहना पड़ेगा कि प्रसाद जी ही हिन्दी के प्रथम छायावादी कवि हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, इलाचन्द्रजी जोशी तथा शिवनाथजी आदि का भी यही मत है।

वैदिक संस्कृत-साहित्य में ज्ञान की धारा के दर्शन प्रत्यक्ष रूप में होते हैं। ज्ञान और भक्ति की दो साधना-धाराएँ उत्तरी भारत की धरा पर उपनिषदों के समय से प्रवाहित हो रही थीं। रामानन्द और शिव भक्तों ने भक्ति को ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ समझा था। कबीर भी अप्रत्यक्ष रूप से रामानन्द के शिष्य थे, अतः कबीर ज्ञानी कम और भक्त अधिक थे। भक्त भावुक होता है और ज्ञानी चिन्तक। ज्ञानी का बुद्धि पक्ष प्रबल होता है और भक्त का हृदय बल। अद्वैतवाद का जन्म भी ज्ञान-क्षेत्र में ही हुआ। ज्ञान-क्षेत्र की अद्वैतवादी दार्शनिक विचार-धारा—'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। जीवो ब्रह्मैव ना परः' ने भाव की भूमि पर आकर रहस्यवाद की संज्ञा प्राप्त कर ली।

ईसाई और इस्लाम धर्मों में तत्व चिन्तन के लिए कोई स्थान नहीं है। वहाँ अद्वैतवादी विचारधारा रहस्यवादी भावधारा के रूप में ही ग्रहण की जा सकती थी। इसीलिए रहस्यवाद की परिभाषा हम इन शब्दों में कर सकते हैं—'ज्ञान क्षेत्र का अद्वैतवाद ही भावक्षेत्र में रहस्यवाद कहलाता है और वह भावक्षेत्र है काव्य।" दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि दर्शन-दरी का अद्वैतवाद ही कविता के कमनीय कानन में आकर रहस्यवाद कहलाने लगता है। आत्मा में परमात्मा के प्रति जो आकर्षण और मिलन की अभिलाषा होती है, उसी की अभिव्यञ्जना रहस्यवादी कविता कहलाती है। आत्मा तब परमात्मा से अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करती है—पत्नी पति, पुत्र-पिता, सुत जननी, प्रिया-प्रियतम, सेवक-स्वामी आदि का। कबीर की कविता में यदि पत्नी-पति के सम्बन्ध का प्राधान्य है तो जायसी में पति-पत्नी का अर्थात् कबीर ने ईश्वर को पति रूप में और जायसी ने पत्नी रूप में माना है। कबीर भारतीय भावना से प्रभावित हैं तो जायसी फ़ारिस के सूफ़ीवाद से।

वास्तव में रहस्यवाद में ब्रह्म के लिए आत्मा का प्रेम ही प्रधान है। इस प्रेम की व्यञ्जना रहस्यवादी कवियों ने तीन प्रकार से की है—(१) रहस्यात्मक खोज, (२) रहस्यात्मक विवाह, (३) रहस्यात्मक स्पर्श। रहस्यात्मक खोज वाली भावना हमें पन्त और प्रसाद में अधिक मिलती है। सरिता को लक्ष्य कर के सुमित्रानन्दन पन्त लिखते हैं—

"माँ उसको किसने बतलाया,
उस अनन्त का पथ अज्ञात।
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल॥"

रहस्यात्मक विवाह के अनेक उदाहरण हमें कबीर, मीरां और महादेवी वर्मा में मिल जाते हैं—

"दुलहिनी गावहु मङ्गलचार।
हम घर आये हो राजा राम भरतार॥
तन रत करि मन रत करिहौं पंच तत्त बराती।
राम देव मोरे पाहुन आये मैं जोबन मैं माती॥

सरीर सरोवर वेदी करिहौं ब्रह्मा वेद उचार।
राम देव सँग भाँवरि लैऊँ धनि-धनि भाग हमार॥
सुर तेतीसौ कोटिक आये मुनिवर सहस अठासी।
कह कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी॥"

—कबीर

"बीन हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ॥
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ।
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ॥"

—महादेवी वर्मा

रहस्यात्मक स्पर्श वाले प्रेम की अभिव्यञ्जना लोह तथा पारस पत्थर को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हुए नैपाली आदि कवियों ने की है। यह स्पर्श हमें प्रसादजी में भी दृष्टिगत होता है। लौह और पारस पत्थर के प्रतीक यहाँ द्रष्टव्य हैं:—

"मैं तो पृथ्वी पर पड़ा लोह,
बस बाट तुम्हारी रहा जोह।
तुम पारस ! कर दोगे कञ्चन,
तुम कब समझोगे मेरे मन॥"

—नैपाली

जयशङ्कर प्रसाद की रहस्यवादी कविताओं में रहस्यात्मक दर्शन की छटा के साथ आत्मा के प्रति ब्रह्म का आकर्षण मिलता है। 'प्रसाद' में ब्रह्म स्वयं आत्मा का उद्धार करने के लिए उसके पास आता है। प्रसादजी का रहस्यात्मक मिलन अथवा दर्शन तो एक उर्दू कवि की निम्नाङ्कित भाव-धारा को पूर्णतः चरितार्थ करता है—

जज़्बये इश्क का नतीजा हम तो यह समझते हैं।
वह खुद ही आकर कहे कि तेरी तमन्ना क्या है!"

रहस्यवादी ईसाई सन्तों ने यह स्वीकार किया है कि जब वेदना की रात्रि का घनान्धकार आत्मा को आवृत्त कर लेता है तब ब्रह्म स्वयं क्रियात्मक प्रेमी की भाँति अपनी प्रिया आत्मा के पास आता है और उसे अन्धकार से मुक्त करता है। वेदना ही को गोधूली भी माना जा सकता है। इस गोधूली के अन्धकार में ही प्रियतम प्रिया के पास जाने के लिए अर्थात् अभिसार के लिए अपने को छिपाता भी है। इसी रहस्यात्मक मिलन को 'आँसू' की पंक्तियों में कविवर प्रसादजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"शशि-मुख पर घूँघट डाले,
अन्तर में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये॥"

यहाँ प्रसादजी पर सूफियों का प्रभाव भी लक्षित है। सूफियों का विश्वास है कि खुदा के नूर के आगे बन्दा की आँख एकदम मिच जाती हैं। इसीलिए उस प्रियतम (खुदा) को साधक के आगे आवरण में आना पड़ता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हिन्दी में सर्व-प्रथम रहस्यवाद और छायावाद शब्द का प्रयोग कब और किस प्रकार हुआ ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ही चरण-चिह्नों पर चलने वाले डा० केशरीनारायणजी ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक काव्य-धारा' में प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर इस प्रकार लिखा है:—

"अँगरेजी साहित्य का मिस्टिसिज्म हिन्दी काव्य रहस्यवाद तथा छायावाद के नाम से व्यक्त होता है। रहस्यवाद उस रहस्योन्मुख भावना की ओर संकेत करता है जिसका मिस्टिसिज्म से सतत सम्बन्ध है। छायावाद का तो अपना अलग इतिहास है; इसका मूल बँगला साहित्य के 'छाया दृश्य' पद में मिलता है।.........
उपासना का ढङ्ग रहस्यात्मक है। इसके उपासना के गीतों में उस प्रियतम की झलक का वर्णन है, जिसका आंशिक आभास मात्र उपासक को कभी-कभी हो जाता है।.........
उपासक के लिये प्रतीकों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। ये प्रतीक उस प्रियतम की अपूर्ण प्रतिकृति हैं। इसलिए बँगला में इन प्रतीकों को 'छाया दृश्य' कहा गया और इन प्रतीकों से युक्त कविता को छायावादी कविता या रहस्यवादी कविता कहा गया।.........इस प्रकार हम देखते हैं कि मिस्टिसिज्म के पर्यायवाची शब्द रहस्यवाद और छायावाद में मूलतः कोई तात्त्विक भेद नहीं है। कुछ समालोचक इनमें भेद सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आजकल गड़बड़ी को दूर करने के लिए दोनों प्रकार की कविताओं की सीमा और परिभाषा निश्चित सी करदी है।

प्रतीकात्मक रचनाओं के लिए 'छायावाद' शब्द और मिस्टिसिज्म के लिए 'रहस्यवाद' शब्द प्रयुक्त किया जाता है।''—डा० के० नारायण

छायावाद ही के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल प्रतीकवाद और रहस्यवाद को मानते हैं। शुक्लजी ने छायावाद के जन्म और विकास पर 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस प्रकार लिखा है—

''तृतीय उत्थान काल के प्रारम्भ में गुप्तजी और मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा स्वच्छन्द नूतन धारा चल रही थी, तभी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्यवादी कविताओं की धूम मची। ये प्रायः पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। बङ्गाल में ऐसी कवितायें 'छायावाद' के नाम से पुकारी जाने लगीं जो ईसाई सन्तों के छायाभास (Phantastimate) और योरप के आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाती थीं।'' ....''छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यञ्जना करता है। रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनायें पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को योरुप में छाया (Phantasm) कहते थे। इसी से बङ्गाल में 'ब्रह्म-समाज' के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।''—आचार्य रा० च० शुक्ल।

आचार्य शुक्ल हिन्दी की छायावादी कविता के विकास के मूल में द्विवेदी कालीन स्वच्छन्द नूतन धारा को मानते हैं जिसके प्रवर्तकों में श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधरजी पाण्डेय प्रमुख थे। शुक्लजी का यह भी कहना है कि हिन्दी की छायावादी कविताएँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं से प्रभावमयी प्रेरणा लेकर पल्लवित हुई हैं, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उस भावना और चिन्तना की पृष्ठ-भूमि में स्वच्छन्दतावादी कविता, कलावादी कविता, और प्रतीकवादी कविता की धारा भी शनैः शनैः प्रवाहित हो चुकी थी। ऐसा ही विचार आचार्य शुक्ल ने अपनी पुस्तक चिन्तामणि भाग २, के लेख [यह इन्दौर सम्मेलन में पठित भाषण है ''काव्य में रहस्यवाद''] के अन्दर व्यक्त किया है। श्री इलाचन्द्रजी जोशी आचार्य शुक्लजी के विरोधी हैं। उनका कथन है कि—''छायावाद की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य एक दम भ्रामक, निर्मूल और मन गढ़न्त है। ....बङ्गाल में किसी भी कवि, साहित्यकार या आलोचक ने कभी कहीं भी 'छायावाद' शब्द का उल्लेख नहीं किया। ''छायावाद' शब्द विशुद्ध रूप में हिन्दी का ही है।''

—श्री इलाचन्द्र जोशी

जहाँ तक हिन्दी में 'छायावाद' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, वहाँ हम यह निश्चित रूपेण कह सकते हैं कि इसका सर्वप्रथम प्रयोग किसी द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता के हिमायती ने व्यंग्य और परिहास में किया था। जिस प्रकार गान्धी जी के लिए 'महात्मा' शब्द व्यंग्य, परिहास और कटाक्ष के रूप में सर्व प्रथम प्रयुक्त हुआ, ठीक वैसे ही छायावादी कविता के लिए 'छायावाद' शब्द प्रयोग में आया और बाद में वही एक गौरव का प्रतीक बन गया और फिर विद्वानों ने उसको सार्थक भी सिद्ध किया। किसी ने उन कविताओं को पढ़कर परमात्मा छाया आत्मा में और किसी ने आत्मा की छाया [illegible] देखी।

छायावादी कविता के कलापक्ष सम्बन्धी स्वरूप में तो प्रायः सभी विद्वान एक-सा ही मत रखते हैं। सभी आलोचक इस बात को स्वीकार करते हैं कि छायावाद ने अपनी भाषा में लाक्षणिकता एवं प्रतीकवादी शैली को अपनाया है। प्रकृति प्रेम को अमूर्त उपमानों से व्यक्त करने में वह

शैली बहुत सफल सिद्ध हुई है। छायावादी कवि प्रकृति को मानवी का रूप देकर उसके प्रति अनेक प्रकारों के भावों की अभिव्यञ्जना करता है। सुमित्रानन्दन पन्त ने तो 'आधुनिक कवि भाग २' की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है कि "प्रकृति को मैंने अपने से" अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है।" यद्यपि छायावाद के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं परन्तु मैं यह मानता हूँ कि उसके भाव-पक्ष में प्रकृति को मानवीय रूप प्रदान करते हुए उसके प्रति प्रणय-निवेदन की भावना है। छायावाद को अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं। इसमें प्रायः सूक्ष्म एवं अशरीरी सौन्दर्य का चित्रण है। इसके साथ-साथ इसमें अप्रस्तुत योजना, वैयक्तिक वेदना, कल्पना तथा अहंभाव का आधिक्य भी पाया जाता है। इन कविताओं में सौन्दर्य की छायामयी वर्णना होते हुए भी यत्र-तत्र बौद्धिकता का अभाव और नारी भावना की प्रचुरता है। छायावादी कवियों ने भी गौरमी लक्षणा को अधिक अपनाया है और प्रभाव-साम्य को अधिक लिया है। अमूर्त उपमानों तथा प्रतीकों के प्रयोगों से छायावादी कविताएँ बुद्धिगम्य होने में कठिनाई उपस्थित करती हैं। प्रातःकालीन सूर्य-किरण को सम्बोधित करते हुए प्रसादजी लिखते हैं—

"धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना-दूती सी तुम कौन!"

मैं अपने पाठकों की सेवा में हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वानों के मत प्रस्तुत करना चाहता हूँ जो समय समय पर उन्होंने अपनी कृतियों में व्यक्त किये हैं। आचार्य शुक्ल तथा डा० केसरीनारायणजी के मतों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अब सर्वश्री पन्त, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गंगाप्रसाद पाण्डेय, डा० रामकुमार वर्मा, डा० नगेन्द्र, विश्वम्भर मानव, महादेवी वर्मा और नन्ददुलारे वाजपेयी के मत भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"छायावाद नाम से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। यह तो द्विवेदी-युग के आलोचकों द्वारा नई कविता के उपहास का सूचक है। वैसे छायावाद नाम से जो कविता पुकारी जाती है, वह नये युग की माँग थी। पूर्व में उपनिषदों के दर्शन के जागरण की आभा को पश्चिम की यन्त्र युग की सभ्यता के सौन्दर्य-बोध से दूषित कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने सर्वप्रथम छायावाद की भावना को जन्म दिया, क्योंकि बङ्गाल ही सर्वप्रथम पश्चिमी संस्कृति के गहन सम्पर्क में आया।"

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

"जिस प्रकार मैटर ऑफ फैक्ट (इतिवृत्तात्मकता) के आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है। छायावाद में यदि जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति या आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ सन्निवेश या एकीकरण है। छायावाद में यदि लौकिक अभिव्यक्ति है तो रहस्यवाद में अलौकिक।"

—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

"छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।........रहस्यवाद के विषय आत्मा और परमात्मा हैं। छायावाद परमात्मा को छोड़कर आत्मा और जगत् के प्रदेश में विचरण करता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार छायावाद स्थूल वस्तुवाद के आगे की चीज है, उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की चीज है।

—श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है; और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।........परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में, यही छायावाद है।"

—डा० रामकुमार वर्मा

डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार रहस्यवाद और छायावाद एक ही चीज है।

"द्विवेदी युग की स्थूलोपासक इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया अथवा विद्रोह के रूप में ही छायावाद का जन्म

हुआ है। यह संसार का नियम रहा है कि जब स्थूलोपासना चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो मानव का चिर सुप्त चेतन एक साथ ठेस खाकर विद्रोह कर उठता है।"

—डा० नगेन्द्र

"प्रकृति को चेतना प्रदान करना छायावाद है और ब्रह्म के प्रति प्रणय निवेदन रहस्यवाद है।"

—श्री विश्वम्भर 'मानव'

"सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में उक्त मानव-अनुभूतियों का नाम 'छाया' उपयुक्त ही था और मुझे आज भी उपयुक्त ही लगता है। ....छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उक्त सम्बन्ध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती है।........छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्‌गीथ है।"

—सुश्री महादेवी वर्मा

"अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष ही छायावाद नहीं है, उसमें दर्शन की नियोजना भी है। छायावाद और रहस्यवाद को पृथक-पृथक रखना चाहिए। ....यह भेद व्यष्टि सौन्दर्य दृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौन्दर्य दृष्टि (रहस्यवाद) का है।"

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

उपर्युक्त विद्वानों के भिन्न-भिन्न मतों का अवलोकन करके हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रहस्यवाद को छायावाद के अन्तर्गत ही मानते हैं और डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार रहस्यवाद और छायावाद में कोई अन्तर नहीं। एक ही वस्तु के ये दो नाम हैं। वे दोनों एक ही चीज हैं।

काव्य का आदर्श

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

कविता को मैं भूतल के मानव के लिए स्वर्ग की वाणी मानता हूँ। जहाँ पृथ्वी का कश्मल समाप्त हो जाता है उसी दिव्य लोक की ध्वनि कविता हमारे समीप ले आती है। पृथ्वी के अनृत का जो क्षितिज है उसके ऊर्ध्व लोक में परे हुए स्वच्छ प्राणदायिक प्रकाश की भाँति कविता का आलोक मानवी मन को आनन्द, आशा और नवीन सन्देश प्रदान करता है। विज्ञान की यान्त्रिक जड़ता अथवा पृथ्वी की पाषाणमयी वज्रता से हमारी रक्षा करने वाली भविष्य की शक्ति कविता है। विज्ञान का अर्वाचीन शिशु यदि कविता के शुभ्र अमृत स्तन्य का पान कर सका तो मुझे उसके नाश का भय नहीं। देव की विराट् सृष्टि का सत्य कविता का सत्य है। सृष्टि के उसी छन्द अर्थ और रस से विश्व की कविता का जन्म होगा जिसके लिए प्रत्येक देश में मानव प्रतीक्षा कर रहे हैं। कविता के मानदण्ड उतने ही विशाल हैं जितना कि विश्व। किन्तु उनके उन विराट् वैष्णव रूपों की सफलता तभी है जब वे वासना कृति मानव के जीवन में सच्चे उतरें, उसके दुःख सुख आशा आनन्द को माप सकें कवियों के प्रयास मानव केन्द्रिक हो कर ही सफल हुए हैं, आगे भी कविता का त्रिकाला बाधित सत्य 'मानव' ही रहेगा। "गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरंहि किञ्चित्"—यही वर्तमान कवि और काव्य का आदर्श होना चाहिए।

प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ

प्रो० कृष्णकान्त चौधरी एम० ए०

यह शताब्दी प्रगति का युग समझा जाता है। जीवन की हर दिशा में प्रगति हुई है और हो रही है। साहित्य फिर इस प्रगति में अछूता कैसे रह सकता था। वैसे तो प्रगति किसी न-किसी रूप और अंश में हर एक युग में रहती ही है; लेकिन वर्तमान युग में प्रगति की धारा कुछ अधिक तीव्र है। अतः साहित्य में इस तीव्र प्रगतिशीलता के कारण इसका नाम ही प्रगतिवाद का युग पड़ गया है। इधर बीस वर्षों में साहित्य में बड़ा उत्थान एवं उलट फेर हुई है। आज प्रगतिवाद का स्थान प्रतीकवाद और प्रयोगवाद लेने पर तुल गया है। इतना अवश्य है कि प्रयोगवाद की दिशा अभी साफ नहीं हो सकी है।

हिन्दी कविता की जो नवीनतम प्रवृत्तियाँ और विशेषतायें हैं उनके पीछे बहुत बड़ी प्रेरणायें हैं। इन प्रेरणाओं की पृष्ठभूमि में जो एक बड़ा इतिहास है उसको समझ लेना आवश्यक है। यह इतिहास है—सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उत्थान एवं अभ्युदय का। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रथम विश्व युद्ध से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के बीच के वर्षों में छायावाद का प्राबल्य हिन्दी काव्य में रहा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रगतिवाद की धारा बिल्कुल रुद्ध ही हो गई थी। इसकी क्षीण धारा अपनी धीमी गति में अवश्य प्रवाहित हो रही थी। इतना अवश्य है कि छायावाद के अन्तिम दिनों में इस धीमी गति में एक उबाल आया और प्रगति की धारा तीव्र रूप में प्रवाहित होने लगी। यद्यपि अंग्रेजी राज्य हिन्दुस्तान में स्थापित होने के पश्चात ही हिन्दी खड़ी बोली के काव्य का विकास हुआ, लेकिन इसकी पूर्व पीठिका पहले ही तैयार हो गई थी। अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के पूर्व भी प्रगतिवाद प्रेरणा के रूप में साहित्यिकों को युगानुरूप एवं परिस्थिति के अनुकूल प्रोत्साहित कर रखा था। खड़ी बोली में काव्य का सृजन स्वयं क्रान्ति का प्रतीक है। अतः यह प्रगति मियाँ खुसरो, कबीर, तुलसी और रहीम के काव्य में भी किसी-न-किसी रूप में अवश्य आयी। कहीं इसका रूप रूढ़ियों के प्रति विद्रोह में था, तो कहीं मानवता की पूजा में। परन्तु जिन प्रगतिवादी प्रेरणाओं का क्रमिक विकास हुआ वह अंग्रेजी राज्य के स्थापन और आधुनिक वैज्ञानिक युग के प्रारम्भ ही के पश्चात्।

प्रगतिवाद की इन प्रेरणाओं में पूर्व और पश्चिम दोनों का हाथ है। यद्यपि हिन्दी साहित्य के प्रगतिवाद की परम्परा विदेशी न होकर भारतीय ही है, तथापि इतना अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पश्चिम का भी योग इसमें है। भारतीय काव्य में प्रगतिवाद को सबसे बड़ी देन मिली है मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त से। मार्क्स ने अपने सामाजिक दर्शन में सर्व प्रथम समाज की विवेचना आर्थिक आधार पर की और सारे समाज का उत्थान-पतन आर्थिक आधार पर ही अवलम्बित बताया। इस तरह वर्ग-संघर्ष को ही समाज की प्रगति का कारण समझा। समाज की रीढ़ अर्थ को बताकर कार्ल-मार्क्स ने साहित्य और संस्कृति का मूलाधार अर्थ को ही एक तरह से माना है। मार्क्स ने जिन बातों को सिद्धान्त रूप में कहा लेलिन ने उनको कर्म रूप में ला खड़ा किया। इस तरह कार्ल-मार्क्स के भौतिक दर्शन और रूस की राज्यक्रान्ति ने काव्य में भी सर्वहारा वर्ग या वर्ग-संघर्ष की भावनाओं को उद्घोषित किया। दूसरी ओर फ्रायड के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति और कामशास्त्र ने भी हमारे काव्य पर प्रभाव डाला जिसका परिणाम काव्य में काम सूत्रों की व्याख्या और मानव हृदय के मनोवैज्ञानिक रहस्योद्घाटन हुआ।

पूर्व की प्रेरणाओं में देश की राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। ठीक जिस समय पश्चिम में कार्ल-मार्क्स का भौतिकवादी दर्शन का सृजन हो रहा था, उसी समय या उसके कुछ वर्ष पूर्व ही भारत—

वर्ष में सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान का वातावरण तैयार हो रहा था। बंगाल में राजा राममोहनराय का सामाजिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन जोरों में चल रहा था और इसी समय आस पास पञ्जाब में दयानन्द सरस्वती का सांस्कृतिक आन्दोलन का भी सूत्रपात हो गया था। एक ओर जहाँ बंगाल के आन्दोलन का प्रभाव हिन्दी काव्य और साहित्य पर थोड़े रूप में पड़ा, वहाँ दूसरी ओर आर्य समाज का आन्दोलन हिन्दी साहित्य को पूर्ण रूप में प्रभावित कर सका। इसका एकमात्र कारण हिन्दी में ही इस आन्दोलन का होना था। श्री दयानन्द जी ने वेदों का भी अनुवाद हिन्दी में 'सत्यार्थ प्रकाश' के नाम से किया। यद्यपि रूढ़िवादी भारतीयों ने इसका विरोध किया, तो भी युवकों ने इसका समर्थन किया। मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी पर इसका प्रभाव पड़ा।

राष्ट्रीयता और स्वराज्य की प्रेरणायें उपर्युक्त दोनों आन्दोलनों से मिलीं। सत्यार्थ-प्रकाश में तो स्वराज्य के विषय में दयानन्द जी ने लिखा—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अपनी प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता।"

इतना ही नहीं रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने भी भारतीय सांस्कृतिक उत्थान में योग दिया और वेदान्त दर्शन का नवोत्थान किया जिसके प्रभाव से भी हिन्दी साहित्य अछूता नहीं रह गया। वेदान्त के 'अद्वैत-दर्शन' का व्यावहारिक रूप इन्होंने रखा। इसका भी असर 'पन्त' और 'निराला' जैसे छायावादी कवियों पर पड़ा।

लेकिन प्रगतिवादी प्रेरणाओं में भारतीय राजनैतिक आन्दोलनों का प्रभाव अमिट है। यह राजनैतिक वातावरण देश में १८५७ ई० से ही तैयार होना शुरू होगया था। लेकिन प्रथम विश्व महायुद्ध के पश्चात गांधी के नेतृत्व में यह आन्दोलन और सबल होगया। गांधी के अहिंसावाद ने एक नवीन दिशा की ओर हिन्दी के काव्य को प्रेरित किया। मानवता के लिये प्रेम, विश्वास और श्रद्धा की आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस राजनैतिक उत्थान और प्रेरणा की दो भिन्न शाखाएँ स्पष्ट रूप में लक्षित होने लगीं—एक शुद्ध राष्ट्रीयता की धारा के रूप में और दूसरी वर्ग-संघर्ष की धारा के रूप में। लेकिन राष्ट्रीयता की धारा बहुत ज्यादा तीव्र और वेगवती थी। यह धारा अपनी विशदता के कारण सभी भावों को अपने में समेटे आगे बढ़ रही थी। पहले देश को स्वतन्त्र करने का ही लक्ष्य लोगों का रहा। इसलिए सब प्रथम अङ्गरेजी राज्य के अन्यायों का वर्णन भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र ने किया। इनके शब्दों में—

"अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥"

इसलिए लोगों को इन अन्यायों के विरुद्ध एकताबद्ध होकर लड़ने का आह्वान प्रथम भारतेन्दु जी ने ही किया—

"आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

फिर क्या था देश में क्रान्ति के स्फुलिंग उदित होते गए। कवियों ने भी इस यज्ञ में दिल खोल कर योग दिया। देश की गरीबी और जहालत ने लोगों के हृदय को हिला दिया। राष्ट्रीयता की लहर ने कवियों को एक दफा छायालोक से मर्त्यलोक की ओर खींच लाया। गांधी के रागों में राग मिला कर 'पन्त' ने भी गाँवों की दशा का सजीव चित्र उपस्थित किया।

"यहाँ खर्व नर (वानर ?) रहते युग-युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पङ्क में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।"

इसके पश्चात् 'निराला' और 'महादेवी' को भी इस मिट्टी के लोक की ओर आना पड़ा। निरालाजी के सबल शब्दों में राष्ट्रीय भावनाएँ खूब निखर सकीं।

जहाँ एक ओर गांधीवादी दर्शन में व्यक्ति से समाज की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिली; वहाँ मार्क्सवादी दर्शन में समाज से व्यक्ति की तरफ जाने की अनुप्रेरणा हुई। एक ने मूल से डालियों की ओर जाने को उत्साहित किया तो दूसरे ने शाखाओं से मूल की ओर प्रेरित किया।

गांधीवाद ने अपना मार्ग भी निश्चित कर दिया—प्रेम, सत्य और अहिंसा का। फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता को अपनी ही परम्परा कायम रही। गांधी के ही रास्ते चल कर देश मुक्त हुआ। सूत्र रूप में हिन्दी साहित्य के काव्य, उपन्यास, नाटक और कहानियों की प्रेरणाएँ निम्न रही हैं—

(क) मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्त।

(ख) राजा राममोहनराय और दयानन्द का सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलन।

(ग) रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का वेदान्तवाद।

(घ) भारतीय राजनैतिक उत्थान (१८५७ से १६४८ तक)

(ङ) गांधी और रवीन्द्र के व्यक्तित्व का प्रभाव।

आधुनिक युग में हमारे काव्य के अन्दर प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ उपर्युक्त सिद्धान्त और वाद हैं जो समय-समय पर साहित्य और जन-जीवन की पृष्ठभूमि तैयार करते रहे हैं।

प्रगतिवादी प्रेरणाओं के स्पष्ट होने से इसकी प्रवृत्तियाँ भी मुख्य रूप में स्पष्ट हुई-सी प्रतीत होती हैं। प्रथम महा युद्ध के बाद से लेकर द्वितीय महासमर के प्रारम्भ के कुछ वर्ष पूर्व तक छायावाद का प्रभाव हिन्दी काव्य-जगत पर रहा है। लेकिन परिवर्तन के ये क्षण 'युगांत' से ही परिलक्षित होने लगे थे। इसके पश्चात् १६३६ में 'युगवाणी' का प्रकाशन हुआ। लेकिन इसके पूर्व ही १६३५ में लंदन शहर में अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील संघ कायम हुआ और १६३६ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित हुआ। बस, यही समय की सीमा रेखा है जहाँ से प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ बिलकुल स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती हैं। प्रगतिवादी इन प्रवृत्तियों के पूर्व हिन्दी काव्य में छायावाद की आदर्शवादी प्रवृत्ति काम कर रही थी। अपने आदर्श के कारण छायावाद अन्तर्मुख ही हो सका, बाह्य नहीं। पर क्रमशः प्रगति होते-होते छायावादी वही आदर्श प्रवृत्ति बाह्य हो गई और मुख्य रूप में यथार्थ की ओर उन्मुख हुई। अतः प्रगतिवादी प्रमुख प्रवृत्तियों में इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर निम्न वर्ग हो सकते हैं:—

(क) समाजवादी यथार्थवाद (मार्क्स और गांधी से प्रभावित)

(ख) मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (फ्रायड के मनोविश्लेषण से प्रभावित)

(ग) आदर्शोन्मुख यथार्थवाद (समाजवाद और गांधीवाद का समन्वय)

(घ) भाव-प्रधान यथार्थवाद (स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित)

यद्यपि हिन्दी काव्य की ये प्रमुख धाराएँ हैं, तो भी यह नहीं कहा जा सकता है कि इन सबों को एक में मिला कर कोई ऐसी धारा नाम इसका दिया जाय कि सबों को यह मान्य हो। साथ-साथ यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अमुक कवि किसी एक धारा के कवि हैं। करीब-करीब नवीन काव्य के सभी कवियों में इन प्रवृत्तियों की ये धारायें थोड़े-न-थोड़े रूप में वर्तमान पाई जाती हैं। यथार्थ की प्रमुखता तो सभी कवियों की कविता में वर्तमान है।

(क) थोड़े में इन प्रमुख प्रवृत्तियों की व्याख्या आवश्यक है। सर्व प्रथम हम समाजवादी यथार्थवाद को ही ले लें। इसकी भी दो दिशायें हैं—एक तो कोरा राजनैतिक प्रचार की दिशा है और दूसरी निष्पक्ष रूप से भावनाओं का चित्र खींचना। पहली दिशा में कविता को उपदेशात्मक बना दिया गया है। कविता एक साधन मात्र रह गई है जिससे एक राजनैतिक गिरोह के लोग वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की कामना करते रहे हैं। इस वर्ग की कविता में सिर्फ सर्वहारा लोगों का ही चित्रण है—उनके दुःखों का ही। अतः यह कविता एकाङ्गी रह गई है। इसकी दूसरी दिशा में कविता अपने यथार्थ रूप में आयी है। वस्तु का जो शिष्ट और प्रभावोत्पादक वर्णन चाहिए उसका समावेश इसमें रहता है। मानवता का उद्धार और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना ही इन कवियों का ध्येय रहा है। कला की दृष्टि से भी इन कवियों की रचनायें श्रेष्ठ हैं। कविवर 'पन्त', 'निराला', 'दिनकर'

और 'अञ्चल' इसके प्रमुख कवि हैं। पन्तजी के एक पद्यांश का निरूपण कीजिए।

''गा कोकिल बरसा पावक कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
अग्नि पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन।''

रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों के भस्मसात होने के पश्चात् कवि नई मानवता और नई संस्कृति की सृष्टि की कल्पना करता है।

इस धारा की एक प्रमुख दिशा है राष्ट्रीयता की। जब तक देश में राष्ट्र-मुक्ति के निमित्त राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहा तब तक कुछ कवि ने एकान्त भाव से, स्वच्छन्द होकर स्वस्थ राष्ट्रीय भावों का जय गान करते रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं—माखनलालजी चतुर्वेदी, श्री मैथिलीशरण गुप्त, 'दिनकर' और सुभद्राकुमारी चौहान। इसका एक दृष्टान्त भी रखना अलम् है—

''क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियाँ?
दासता की हाय हथकड़ियाँ पड़ीं।
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी?
कण्ठ में जञ्जीर की लड़ियाँ पड़ीं।
दास्य भावों के हलाहल से हरे!
मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों?
यह पिशाची उच्च शिक्षा-सर्पिणी—
कर रही वर वीरता निःशेष क्यों?
यह सुनो आकाश वाणी हो रही—
''नाश पाता जायगा तब तक विजय!''
वीर? 'ना', धार्मिक? 'नहीं', सत्कवि? 'नहीं'।
देश में पैदा न हो जब तक हृदय।''

(एक भारतीय आत्मा)

देश में जब तक स्वतन्त्रता नहीं आई, तब तक इन्हीं भावों का प्राबल्य काव्य क्षेत्र में रहा।

(ख) द्वितीय धारा के बीच फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र और कामशास्त्र का ही ज्यादा जोर रहा है। इसके प्रमुख कवि हैं 'अज्ञेय'। इस धारा के कवि श्लीलता और अश्लीलता का विचार नहीं करते; बल्कि देश और समाज का जैसा रूप देखते हैं उसी का चित्र ज्यों का त्यों उपस्थित कर देते हैं। इस धारा के कवियों ने अधिकतर प्रयोग ही किया है और विशेष रूप में टेकनीक पर सब से अधिक ध्यान दिया है।

(ग) तृतीय धारा में समाजवाद और गांधीवाद का समन्वय है। यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण मानवता का समर्थक और नर-संहार का विरोधी है। प्रेम और श्रद्धा के द्वारा कवि चाहता है कि इस सङ्घर्षमय विश्व में नवीन मानवता पैदा हो। इस धारा के कवियों में श्री 'पन्त', 'दिनकर', 'सियारामशरण गुप्त' और श्री नरेन्द्र प्रसिद्ध हैं। इस धारा में मार्क्स के भौतिकवाद और गांधी के अध्यात्मवाद का बड़ा ही सुन्दर समन्वय है। इधर 'पन्त' और नरेन्द्र की कविताओं में अरविन्द के अध्यात्मवाद का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। 'दिनकर' जी के 'कुरुक्षेत्र' काव्य की अन्तिम पंक्तियों में इस मानव विश्व की सजीव कल्पना उतर सकी है। यह कल्पना आज के सम्पूर्ण मानव की है जो दुनिया के वर्तमान सङ्घर्ष, नर-संहार और कलह से थक-सा गया है। अतः कवि प्रेरित कर रहा है:—

''आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्ति भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से॥
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और,
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से।
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से॥''

(घ) चौथी प्रवृत्ति भावना प्रधान यथार्थवाद की है। छायावाद युग के अन्तिम समय में इस तरह की कविताओं का श्रीगणेश हुआ और आज भी इसका रूप अधिक अंशों में वर्तमान है। इस तरह की कविताओं में कल्पना की उड़ान नहीं है, बल्कि हृदय के भावों का उचित रूप में चित्रण है। अतः छायावाद की दुरूहता और आध्यात्मिकता इसमें नहीं है। हाँ, इतना अवश्य

(शेष पृष्ठ ३०९ पर देखिए)

आधुनिक हिन्दी कविता में नग्नवाद

श्री गोवर्द्धन शर्मा एम० ए०

प्रवेश—आधुनिक हिन्दी कविता द्वारा अमर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की गुण-गाथा गायी गई तो साथ ही उसमें तीव्र मनोवेगों के मानसिक विकार का भी वर्णन किया गया है। यह वर्णन यथार्थवादिता के फेर में पड़ कर श्लीलता की सीमा भी लाँघ गया है। ऐसा लगता है कि कुछ कवियों ने तो अपनी कविता द्वारा महामुनि वात्स्यायन के काव्य-सूत्रों का भाष्य ही कर दिया है। केवल कविता ही नहीं साहित्य के अन्य अङ्गों में भी अश्लीलता का घोरतम चित्रण किया जा रहा है। 'उग्र', रिषभचरण जैन आदि के साहित्य को लेकर एक आन्दोलन उठा था जिसमें साहित्यिक नग्नवाद की भर्त्सना थी और ऐसा साहित्य हीनता की भावना से 'घासलेटी' साहित्य पुकारा गया था। आज के साहित्यकार तथाकथित 'घासलेटी साहित्य' को भी पीछे छोड़ आये हैं। मैं यहाँ कुशवाहा कान्त, गोविन्दसिंह प्रभृति लेखकों की बात नहीं कर रहा हूँ जिनकी रचनाओं का उपजीव्य कामवासना का चित्रण ही रहता है किन्तु हिन्दी के स्वनामधन्य अनेक लेखकों व कवियों से यहाँ मेरा प्रयोजन है। जैनेन्द्र, यशपाल, अञ्चल, अज्ञेय, द्वारिकाप्रसाद, सर्वदानन्द वर्मा, निराला, पंत, आरसी, नरेन्द्र शर्मा, जैसे प्रसिद्ध व उच्च-श्रेणी के साहित्याकार भी नग्नवाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं।

नग्नवाद की व्याख्या—नग्नचित्रण अथवा अश्लील चित्रण को नग्नवाद के नाम से पुकारा जा सकता है। विचारणीय प्रश्न यह है कि अति अश्लील चित्रण को किसी 'वाद' की संज्ञा देना कहाँ तक उचित है? हम इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार करेंगे। 'नग्नवाद' को ठीक से समझने के लिये हमें नग्न चित्रण के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। 'नग्न चित्रण' कोई नई घटना नहीं है। संसार के सभी देशों में, विभिन्न कलाओं के माध्यम से नग्नता (Nudism) को व्यक्त किया जाता रहा है। नग्नवाद की अभिव्यक्ति साहित्य, चित्र और मूर्तिकला तीनों प्रकार से की जाती रही है।

यदि हम प्राचीन यूनानी देवताओं की मूर्तियाँ देखें तो हमें स्पष्ट विदित होगा कि सभी मूर्तियाँ निरवस्त्र हैं—नङ्गी हैं। यूनानी बुद्धिचेता इसे नवीनता और उन्मेष का परिचायक मानते थे। नग्नता प्रदर्शित करती थी कि जो कुछ भी अपावन है, हीन है वह नष्ट हो गया है। अब निर्मल नवजीवन का युग है। इसी धारणा का एक तर्कसंगत विकास यूरोपीय साहित्य में देखा जा सकता है। नग्नता, पवित्रता, भोलेपन और निर्दोषिता की प्रतीक मानी गई है।*

भारत में भी प्राचीन काल से नग्न चित्रण प्रचलित था। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में ऐसे उदाहरण सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं। नग्न मूर्तियों की परम्परा भी नवीन नहीं है। हमारे यहाँ तो नग्न अथवा निर्वसन करने वाले साधुओं की अलग जमात है। नग्न रहना सर्वथा असामाजिक होते हुये भी धर्मभीरु जनता का विश्वास व श्रद्धा नहीं घटा पाया। शिशु जब जन्म लेता है तो वह नग्न ही होता है। उसमें पूर्ण पवित्रता और भोलापन की मान्यता स्थापित की जाती है। किन्तु साहित्य में, विशेषकर आधुनिक काव्य में जिस प्रकार का नग्न चित्रण हुआ है उसे हमें भिन्न कोटि का ही मानना पड़ेगा। बालक की नग्नता में वासना नहीं होती किन्तु वर्तमान साहित्य में नग्नता कामुकता और वासना की पीठिका बन कर आई है। इस प्रवृत्ति को समझने के लिये हमें मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करना होगा।

नग्नवाद की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि—आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के मन को दो भागों में बाँट दिया है—चेतन और अवचेतन। वह चेतन से अवचेतन को

* देखिये वर्डसवर्थ की एक चतुष्पदी "London 1802" जहाँ मिल्टन को "Pure as the naked heavens" कह कर पुकारा गया है।

अधिक महत्व देता है। "चेतन मन की वासनायें सामाजिक औचित्य-निरीक्षक (Censor) की रोक थाम के कारण दमित हो जाती हैं किन्तु वे चेतन मन को प्रभावित करती रहती हैं। वे स्वप्न में प्रतीकात्मक रूप में प्रकट होती हैं। कभी कभी ये कल्पनाओं और दिवास्वप्नों का रूप धारण कर लेती हैं और कभी ये इतनी प्रबल हो जाती हैं कि मानसिक विकृतियों का रूप धारण कर लेती हैं और तर्क और सामाजिक नियंत्रण (मर्यादा) का बाँध तोड़ कर अनर्गल प्रलाप का रूप धारण कर लेती हैं। इन सब वासनाओं में यौन वासनाएँ बड़ी प्रबल हैं।........ फ्रायड के मत से दमित यौन वासनाएँ ही हमारे जीवन को प्रभावित करती रहती हैं।† वैयक्तिक कुण्ठायें, जो इन दमित और अतृप्त भावनाओं के फल स्वरूप निर्मित होती हैं, साहित्य में नग्नवाद का कारण बनती हैं। क्योंकि मनुष्य की चेतन क्रियाओं के भीतरी तल में अवचेतन की प्रेरणाओं, स्फूर्तियों और क्रियाओं का ही विस्फोट है। अतः कहा जा सकता है कि दमित वासना ही 'नग्नवादी साहित्य' की प्रेरक है।

क्या नग्नवाद असामाजिक है ?—इसके पहले कि हम 'नग्नवाद' की संज्ञा यौन आकर्षण से सिक्त, ऐहिक, अश्लील कविता भूमि को दे दें, इस पर भी विचार कर लें कि इस प्रवृत्ति को 'वाद' विशेष कहना कहाँ तक समीचीन होगा। मैं यहाँ हिन्दी के प्रगतिशील आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान के विचारों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। उन्होंने अपने एक पत्र में चिरञ्जीलाल माथुर 'पङ्कज' को लिखा है—

"साहित्य में नग्न चित्रण तो होता ही है, लेकिन इसे 'वाद' की संज्ञा देना कहाँ तक समीचीन है, यह संदिग्ध है। मेरे विचार में इसे वाद कहना गलत है। 'वाद' तभी कह सकते जब 'नग्नचित्रण' को ही कोई सत् साहित्य का मूल धर्म मान कर इसे एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करता।"

† गुलाबराय : साहित्य संदेश-आलोचना परिशिष्टांक पृष्ठ १७

"नग्न चित्रण साहित्य में अनादि काल से होता आया है। साहित्य में ही नहीं, मूर्तिकला और चित्रकला में तो नग्न चित्रों और मूर्तियों की प्रचुर संख्या है। साहित्य में भी कालिदास और दूसरे संस्कृत कवियों ने—भक्ति-काल के कवियों ने भी विश्व-साहित्य के लेखकों की भाँति स्त्री-पुरुष के प्रणय और आलिङ्गन का जिक्र किया है और किसी ने तो उनकी रतिक्रिया का भी एक मानव-व्यापार (और मानवीय भी) के रूप में। दर्शन और समाज-शास्त्र में 'काम-शास्त्र' का भी काफी महत्व है।"

"........* इसलिए 'नग्नवाद' के नाम पर जो हो-हल्ला मचाया जाता है, उसमें आंशिक सत्य ही है। नग्न-चित्रण अपने आप में न अनैतिक है और न असामाजिक। वह अनैतिक तभी बनता है, जब लेखक चटखारे ले-लेकर, इस प्रकार के चित्रण के द्वारा जीवन के व्यापक यथार्थों से पाठक का मुँह मोड़ना चाहता हो अन्यथा एक अत्यन्त सभ्य मानवीय व्यापार के रूप में चित्रित किया जा सकता है। समाज का हित-अहित इसी कसौटी पर कस कर देखना चाहिये।........नग्न-चित्रण से बौखलाने वाले व्यक्ति को स्वयं देखना चाहिए कि कहीं आत्म-दमन को ही जीवन का चरम लक्ष्य बताने वाले दर्शनों से आक्रान्त आत्मा का यह चीत्कार तो नहीं है। अन्यथा साधारण जीवन में जिस प्रकार अपनी पुत्री का विवाह करते समय कोई कलुषित भावना हमारे मन में नहीं उठती कि उसे किसी अपरिचित की शय्या पर रति-क्रीड़ा के लिए सौंप रहे हैं, उसी तरह 'नग्न चित्रण' से हमें आतङ्कित नहीं होना चाहिए। 'नग्न चित्रण' से आतङ्कित तो तभी होना चाहिये जब जीवन की यथार्थताओं से विमुख करने के लिए 'नग्नता' को आश्रय बनाया गया हो। तब वह जीवन-शक्ति की प्रतीक नहीं, जीवन-द्रोह की प्रतीक बन जाती है। विलासिता भी ऐसी ही असामाजिक होती है, लेकिन स्त्री-पुरुष के साधारण, स्वस्थ प्रेम और रति को हम बुरा नहीं मानते।"

• भाई शिवदानसिंहजी चौहान के इस पत्र से प्रस्तुत

* नवनिर्माण—चिरञ्जीलाल माथुर की रचना से उद्धृत।

विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। श्री देवराज उपाध्याय भी इसी मत के समर्थक हैं—"जो लोग साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न उठाते हैं, उनके मन में शायद यह रहता है कि अमुक विषय का वर्णन अश्लील है। पर मेरे जानते इस प्रश्न को वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से नहीं देख कर पाठक की ओर उस पर पड़े प्रभाव की दृष्टि से देखना चाहिये। लेखक बड़े-बड़े आदर्शों की बातें कर सकता है पर फिर भी उसके वर्णन की रीति ऐसी मजेदार हो सकती है कि पाठक पर अवांछनीय प्रभाव पड़े।.........उग्रजी ने अपनी पुस्तकों में समाज की बुराइयों का पर्दाफाश ही किया था ....किन्तु उनके वर्णन का ढङ्ग ऐसा चटपटा और मजेदार था कि उन बुराइयों के प्रति विरक्ति के स्थान पर अनुरक्ति होने लगती है। अतः ऐसे साहित्य को हम अश्लील और 'नग्नवादी' कहेंगे। दूसरी तरफ अपने देव-मन्दिरों को देखिए, जहाँ पर शिवजी की मूर्ति एक 'अङ्ग-विशेष' के रूप में स्थापित रहती है पर वहाँ का वातावरण ऐसा रहता है कि दर्शकों की उदात्त-वृत्तियों को ही जागने का अवसर रहता है, अनुदात्त को नहीं।........अतः मेरा स्पष्ट मत है कि साहित्य के लिए कोई भी चीज वर्जित नहीं, तो नग्नता क्यों होने लगी? देखना यही है कि कलाकार कहाँ तक उसके विष को निकाल कर पाठकों के सामने रख सका है। वैद्य वही है जो विष को अमृत बना कर रोगी को देता है। साहित्य या कला किसी तरह का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती। प्रतिबन्ध है तो कलाकार के Vision पर और पाठक-हृदय पर कहा गया है—

रम्यं जुगुप्सितं मुदारमथापि नीच—
उग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कवि भावक भाव्यमान
तन्नास्ति यन्नरस भावमुपेति लोके॥

अर्थात् संसार में कोई भी विषय हो, रम्य हो, जुगुप्सित हो, उदार हो, नीच हो, उग्र हो, प्रसादपूर्ण हो, गहन हो, विकृत हो अथवा अवस्तु ही क्यों न हो, पर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो कवि और भावुक की प्रतिभा का स्पर्श पाकर इसकी दीप्ति से उद्भासित न हो जाय।

विवेचना—इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त दोनों साहित्यिक महारथी 'नग्न-चित्रण' को स्वाभाविक और सामाजिक मानते हैं। किन्तु श्री किशोरीदास वाजपेयी की तो निश्चित् धारणा है—

निन्दनीय हैं मित्र, नग्नतावाद।
यही सब तो कर रहे, आज राष्ट्र अवसाद।

वे इस प्रकार के नग्न चित्रण को पूर्ण हानिकर मानते हैं। राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में इन चित्रणों से बड़ी बाधा उत्पन्न होती है। ऐसे ही जायकेदार वर्णन नवयुवकों का सिर फिराने के उपकरण बनते हैं। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ वैसे ही नैतिकता के ह्रास का कारण बन रही हैं। ऐसी दशा में नग्नचित्रण को उचित नहीं ठहराया जा सकता, वह लाभदायक तो किसी भी स्थिति में हो ही नहीं सकता। फ्रायड के सिद्धान्त केवल एकांगी हैं। वे कामवासना के अतिरिक्त किसी को पर्याप्त महत्व नहीं देते। 'फ्रायड ने रोगी मन का विश्लेषण कर जो मनोविज्ञान के तथ्य प्रस्तुत किये, उनसे आत्मप्रेरणा, आत्मानुभव तथा आत्मसाक्षात्कार की गुत्थियाँ हल नहीं होतीं। यदि फ्रायड के तत्वों को मान लिया जाय तो हमारा सारा 'सन्त साहित्य' केवल 'बुद्धि का विलास मात्र रह जाता है।'* ऐसी स्थिति में केवल फ्रायड को आधार बनाकर नग्नता को प्रश्रय देना अनुचित नहीं तो क्या है? फ्रायड मानव मस्तिष्क का सांगोपांग अध्ययन नहीं कर पाये, तभी तो एडलर और युङ्ग ने अन्य सिद्धान्तों से अध्ययन को व्यापक बनाया। अतः गुलाबराय जी के शब्दों में 'कामवासना हमारी वासनाओं में प्रमुख स्थान रखती है, किन्तु यह एकमात्र वासना नहीं है। ऐसा मालूम पड़ता है कि ये लोग (नग्नवादी) अवचेतन की बात को स्पष्ट करने के लिये उसको चेतना की ऊपरी सतह पर ले आते हैं। इन लोगों की शायद यही व्याख्या होगी कि अवचेतना को हमारे पास दिखाने का और कोई साधन नहीं है। मातृग्रन्थि (Oedipus Complex) किन्हीं विरले पुरुषों में होती हो, किन्तु यह सर्वसाधारण की बात नहीं कही जा सकती। उपन्यास की चीज यदि व्यक्ति की होती है तो भी उसमें यह भय रहता है कि लोग व्यापक समझ

* प्रो० विनयमोहन शर्मा—'दृष्टिकोण' पृष्ठ ४०

लें। इसके अतिरिक्त ये लोग जो हैं उसी की ओर ध्यान देते मालूम होते हैं। ये लोग साहित्य को नीति से परे रखना चाहते हैं। मैं इस मत का नहीं हूँ। भारतीय परम्परा भी इसके विरुद्ध है। साहित्य में वस्तुवाद और आदर्शवाद दोनों होने चाहिये।'

ऐसी स्थिति में हमारी राय में नग्नचित्रण को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये। घटनाओं का चित्रण यथार्थ समझ कर किया अवश्य जाय किन्तु संयत भाषा में और संकेत रूप में। अब हम आधुनिक कविता का इस दृष्टि से अध्ययन करेंगे। अनेक कवियों ने नारी का वर्णन कामसूत्र के आधार पर किया है। आश्चर्य तो इस बात का है कि 'कोकशास्त्र' में तो केवल 'चौरासी आसनों' का ही वर्णन है किन्तु इन आधुनिक कवियों ने अनेक ढङ्गों की कल्पना की है।

नरेन्द्र शर्मा की एक कविता है 'फागुन की आधी रात' उसमें—

"है रम्भा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
थन भारी हैं दुखते भी हैं।
आता गजनेरी सांड, मटकता सड़कों पर चलता मठार,
क्या नहीं दर्द उसके भी है।
जा रही किसी घर के झूठे बर्तन मलकर,
बदचलन कहारी थकी हुई।"

यहाँ शर्मा जी ने न जाने किस कारण से कहारी को 'बदचलन' कहा है और 'सांड के दर्द' को आँका है! आरसीप्रसाद सिंह तो नग्नता के पूर्ण हिमायती नजर आते हैं। पन्तजी ने लिखा है—

"तरुणी प्रेम के भुजपाश में
आबद्ध थी आवेशशाली
नेत्र चुम्बित, अधर चुम्बित, भाल चुम्बित
युग कपोलों पर प्रिया के
प्रेमरस की मधुर वर्षा सी हुई।" —'पल्लव' से

रीतिकालीन कविता में दूती नायक और नायिकाओं को देव दर्शन के बहाने मंदिरों में और भ्रमण के बहाने उपवनों में मिला देती थी। पंतजी तो बिहारी की भाँति 'सेहट' या मिलन स्थान के रूप में अरहर के खेत का उपयोग कर लेते हैं। कहना न होगा यह हमारे ग्राम जीवन का अति भ्रष्ट और विकृत रूप है।

पन्त तो वैसे ही कोमल काय हैं, पौरुष के साक्षात रूप निराला का तो क्या कहना—वे एक षोडसी को नहा कर आते देख कर कह उठते हैं—

"आँख पड़ी युवती पर
आयी थी जो नहा कर,
गीली धोती सटी हुई भरी देह में सुधर
उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़ कर
आयत दृगों का मुख खुला हुआ लेता हर........"

अञ्चल, गिरिजाकुमार सभी की रचनाओं में से ऐसे अनेक अंश छाँटे जा सकते हैं जिनके लिये न तो स्थान ही है, न समय ही। यहाँ तो कतिपय उदाहरण मात्र दिये गये हैं। यदि हम रीति-कालीन कविता को जीवन में विलासिता को सब कुछ मान लेने के कारण भर्त्सना की दृष्टि से देखते हैं तो क्या कारण है आधुनिक कवि दोषी नहीं माने जायँ। अपितु इन आधुनिक कविताओं में रीतिकालीन भावनायें तो हैं किन्तु कला-सौष्ठव, पच्चीकारी अथवा रचना-वैशिष्ट्य नहीं है। केवल रीतिकालीन काव्य का यह प्रमुख दोष ही उभर आया है।

उपसंहार—समस्त सैद्धान्तिक विवेचना के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि 'नग्नवाद' की प्रवृत्ति से समाज का लाभ तो किसी प्रकार नहीं होता, हानि अलबत्ता हो सकती है।

सादर सविनय निवेदन है कि गत वर्ष अप्रैल से ही यक्ष्माकेन्द्र (अस्पताल) में रोगशय्या पर पड़ा हुआ हूँ। मैं शय्याग्रस्त हूँ और इस वर्ष के अप्रैल से ही स्थानीय कृपा पत्र के लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। 'साहित्य-सन्देश' उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा है, यह ईश्वर की कृपा है। आधुनिक कविता का अधिकांश मैं ठीक-ठीक नहीं समझता, अतः उस पर कुछ लिखने का अधिकारी नहीं हूँ। आधुनिक यशस्वी कवियों की कविताएँ बहुत ही उच्च कोटि की हैं, इसमें सन्देह नहीं, वे विश्व-साहित्य में आदरणीय स्थान पाने योग्य हैं, हिन्दी का गौरव बढ़ाने वाली हैं। 'साहित्य-सन्देश' की सेवाएँ साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगी। —शिवपूजनसहाय

प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण

श्री शिवदानसिंह चौहान

प्रियवर महेन्द्रजी,

आपके दो पत्र मिले, किन्तु कुछ अपनी अन्य व्यस्तताओं के कारण तो कुछ आपके आदेश की गुरुता के कारण न उत्तर दे सका और न आदेश का पालन ही कर सका।

आपने साहित्य-सन्देश के 'आधुनिक काव्यांक' के लिए 'प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ' पर लिखने को कहा है। यों तो किसी भी शीर्षक के अन्तर्गत बहुत-कुछ लिखा जा सकता है—और जो न लिख सके वह लेखक ही क्या ?—लेकिन शीर्षक का चयन इतना अचिन्तनीय विषय नहीं है। विद्वानों का कहना है कि क्या और कैसे और ? चिह्न लगाकर कोई भी प्रश्न गढ़ लेना तो बहुत आसान है, लेकिन क्या हर प्रश्न वास्तव में सही प्रश्न है, यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। कोई भी प्रश्न तभी सही अर्थों में प्रश्न बनता है, जब उसके द्वारा वस्तुओं, घटनाओं आदि के वास्तविक सम्बन्ध या रिश्ते के बारे में जिज्ञासा प्रकट की जाये या परीक्षण प्रयोग-उद्घाटन किया जाये। इसलिए प्रश्न भी अपने मौलिक रूप में सही या गलत, वास्तविक या काल्पनिक हो सकते हैं। जिस तरह जिज्ञासु को—और हम में से कौन जिज्ञासु नहीं है—अपने अनुभव और अध्ययन-मनन से सही प्रश्न पूछने की शिक्षा मिलनी चाहिए उसी तरह उत्तर देने या शङ्का-समाधान करने वाले व्यक्ति में भी इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह गलत प्रश्न को तुरन्त ताड़ सके और या तो प्रश्न को सही रूप में उठाकर बताये या उसकी आधारभूत गलती को समझाए। यह सब इसलिए कि गलत प्रश्न का हमेशा गलत उत्तर ही दिया जा सकता है, सही नहीं। उदाहरण के लिए यदि कोई पूछे कि भगवान ने इस संसार की कब सृष्टि की, तो अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में प्राचीन काल से प्रचलित अन्ध-विश्वासों के अनुसार यह उत्तर देना सही नहीं है कि जल-प्रलय के बाद भगवान ने सृष्टि रचना की। मैं आस्तिकों की श्रद्धा पर चोट नहीं करना चाहता लेकिन इस प्रश्न के मूल में एक भूल छिपी हुई है, वह यह कि भगवान के अस्तित्व की इसमें अन्ध-स्वीकृति है। इसलिए इस प्रश्न की सच्चाई ही सन्दिग्ध है, और इस प्रश्न में छिपी मान्यताओं को मान लेने के बाद तो अटकलबाजी से चाहे जितने उत्तर दिये जा सकते हैं, जैसा कि प्राचीन काल से होता आया है, लेकिन कोई तर्क सिद्ध, प्रयोग-सिद्ध वैज्ञानिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसलिए सही उत्तर पाने के लिए प्रश्न को सही बनाना अनिवार्य होता है।

"प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" से इस प्रश्न और उत्तर के झमेले से क्या सम्बन्ध है ? सम्बन्ध बहुत सीधा है। आपने जो इस विषय पर लिखने को कहा है तो एक प्रश्न ही तो पूछा है कि "प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" क्या हैं ? इस प्रश्न के मूल में एक मान्यता है जो निराधार और भ्रामक है। वह मान्यता यह है कि अतर्क्य रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'प्रगतिवाद' हिन्दी काव्य की किसी विशेष प्रवृत्ति का नाम है, जब कि सत्य यह है कि प्रगतिवाद एक विशेष जीवन-दर्शन (मार्क्सवाद) या दृष्टिकोण का नाम है। इस जीवन-दर्शन या दृष्टिकोण को मानने-अपनाने वाले अनेक लेखक, कवि, कथाकार, नाटककार और आलोचक हैं लेकिन उनकी रचनाओं में न्यूनाधिक दृष्टि-साम्य पाकर ही उनकी कविता को 'प्रगतिवाद' की कविता कहना भ्रामक होगा। यदि लेखकों या कवियों की व्यक्तिगत आस्थाओं और जीवन-दर्शनों के आधार पर ही आँख मूँद कर काव्य या साहित्य की धाराओं का निरूपण किया जा सकता तो इससे आलोचक का काम चाहे आसान हो जाता, लेकिन साहित्य और कला का अपना कोई सुसम्बद्ध इतिहास न होता। फिर तो धर्म और सम्प्रदाय, विचार-दर्शन और पद्धति, कहने का अर्थ यह कि मनुष्य विभिन्न

देशों में जितने फिरकों में बँटा रहा है और बँटा हुआ है, उन सब के आगे 'वाद' को जोड़कर काव्य और साहित्य की धाराओं का निरूपण कर लिया जाता—शायद तब दार्शनिक और समाज शास्त्री ही सच्चे आलोचक होते। लेकिन यह संकीर्ण दृष्टिकोण है। हम धर्मों के आधार पर ईसाई, हिन्दू, बौद्ध और मुस्लिम काव्य का नाम नहीं लेते, अद्वैतवाद, द्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद के नाम पर, इन साधनाओं के अनुयायी कवियों के काव्य की परिगणना नहीं करते आज भी हमारे देश में मार्क्सवाद या प्रगतिवाद की अपेक्षा गांधीवाद या गांधी जीवन-दर्शन से प्रभावित कवियों की संख्या अधिक है, लेकिन साहित्य की गोष्ठियों में, जहाँ उन कवियों की कविता का विवेचन अभिप्रेत हो, हम "गांधीवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" पर बहस नहीं करते। आप इस शीर्ष से किसी गोष्ठी में चर्चा कर देखें। अधिकतर लोगों के वक्तव्य सत्य और अहिंसा की ऊहापोह करते दिखाई देंगे, कोई वक्ता आधुनिक हिन्दी काव्य की उस प्रवृत्ति का सम्भवतः उल्लेख भी न करेगा, जिसे आप गलती से 'गांधीवाद' की संज्ञा दे बैठे हैं। आप सोचेंगे कि न जाने क्या माजरा है कि सभी वक्ता विषय से हटकर बोल रहे हैं, यद्यपि सच यह है कि वक्ता अपने विषय की निर्दिष्ट सीमा का कहीं अतिक्रमण न कर रहे होंगे। तो मूल गलती प्रश्न में है, उत्तर में नहीं। यही गलती 'प्रगतिवाद' को आधुनिक हिन्दी काव्य की एक प्रवृत्ति मान लेने में है।

कैसी व्यङ्गपूर्ण स्थिति है ! ज़रा सोचिए, कोई गांधीवादी कवि (अर्थात् ऐसा कवि जिसका जीवन-दर्शन गांधीवाद है, न कि जिसकी कविता 'गांधीवादी' है) घोर प्रकृतवादी है—उसकी कविताओं में केवल नीरस चित्रण ही चित्रण रहता है, कोई यथार्थवादी है, कोई प्रतीकवादी है, कोई छायावादी, तो कोई मात्र रुचिवैचित्र्यवादी—कोई प्रेम गीत लिखता है, कोई अतीत के गौरवमय इतिहास से प्रसंग चुनकर आख्यान-काव्य लिखता है, कोई धार्मिक और पौराणिक कथाओं से सामग्री चुनकर महाकाव्य रचता है तो कोई राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं पर उद्बोधनात्मक तुकबन्दियाँ गढ़ता है। अब आप क्या कहेंगे, कि 'गांधीवाद' में प्रकृतवाद, यथार्थवाद, प्रतीकवाद, छायावाद, रुचिवैचित्र्यवाद आदि प्रवृत्तियाँ हैं और गांधीवाद की प्रेरणाओं के स्रोत स्वच्छन्द प्रेम की भावना, असामाजिक व्यक्तिवाद, इतिहास की गौरवमयी कल्पना, धर्म की आस्था और राष्ट्रीय नव-आन्दोलन है ? यह प्रश्न इसलिए संगत है कि 'प्रगतिवाद' (काव्य धारा के अर्थ में) भी ऐसी ही सन्दिग्ध स्थिति है। प्रगतिवाद (मार्क्सवाद) को जीवन-दर्शन के रूप में मानने वाले ऐसे अनेक कवि हैं जिनकी कवितायें शैली-शिल्प और वस्तु की दृष्टि से छायावाद, प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, यथार्थवाद आदि सभी प्रवृत्तियों में बाँटी जा सकती हैं, उनमें व्यक्तिवादी और साम्यवादी दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति मिलती है। तब क्या कहेंगे ? प्रगतिवाद की प्रेरणायें व्यक्तिवाद और साम्यवाद हैं और प्रवृत्तियाँ छायावाद प्रतीकवाद, यथार्थवाद और प्रकृतिवाद हैं। स्पष्ट है कि यह उत्तर हास्यास्पद नहीं तो बेतुका और अप्रत्याशित तो लगता ही है।

मैं यह नहीं कहता कि गांधीवादी या प्रगतिवादी काव्य हो ही नहीं सकता, या हिन्दी में उसकी रचना नहीं हुई। मगर इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा। जैन-काव्य, बौद्ध-काव्य और सिद्ध-काव्य की चर्चा हमने साहित्य के इतिहास में सुनी है। तो गांधीवादी या प्रगतिवादी काव्य भी हो ही सकता है। लेकिन जैन-काव्य या सिद्ध-काव्य को 'काव्य' नहीं माना जाता। किसी विचार-दर्शन को पद्य बद्ध कर देने वाली कविता कविता नहीं पद्य-रचना ही होती है। केवल इतने से ही उसे 'ललित 'काव्य' की श्रेणी में नहीं बिठाया जा सकता। यह बात निर्विवाद है, क्योंकि उसमें सृष्टि नहीं, मात्र अनुकृति होती है। इस तरह गांधीवाद या मार्क्सवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों को पद्य-बद्ध करके गांधीवादी या मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) कविता तो तैयार की जा सकती है, लेकिन तब उसे न काव्य की संज्ञा दी जा सकती है, न साहित्य के इतिहास में कोई अलग स्थान ही। साहित्य के ह्रास और विकास पर ऐसी साम्प्रदायिक पद्य रचना (या तुकबन्दी) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बात साफ है कि ऐसी रचनाओं को लेकर 'प्रवृत्तियों' की बहस तो चल ही नहीं

सकती, क्योंकि भिन्न प्रवृत्तियाँ तो मौलिक रचना में ही हो सकती हैं, अनुकृति या अनुवाद में नहीं। उनकी सफलता तो मूल वस्तु, विचार-दर्शन को अविकल रूप में, बिना तोड़े-मरोड़े, काटे-छाँटे या जोड़े ज्यों का त्यों, केवल आलङ्कारिक भाषा में उपस्थित कर देने मात्र में है। इसलिये काव्य की कसौटी उन पर नहीं लागू होती। पद्यकार ऐसे में स्वतन्त्र कब होता है? वह अपने अनुभव, अपने चिन्तन, अपनी कल्पना और अपनी विषयगत प्रतिक्रियाओं के माध्यम से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित कब करता है कि उसकी रचना नई सृष्टि बन जाय और विश्व-बोध में संवृद्धि करे? वह तो बस जो है उसे ही पद्य-बद्ध करने को बाधित है, नहीं तो मूल दर्शन की तर्जुमानी नहीं हो सकता। ऐसे पद्यकार को न हम व्यक्तिवादी कह सकते हैं, न साम्यवादी, न आशावादी न निराशावादी, न स्वस्थ और न अस्वस्थ। ये सब गुण-अवगुण उसके अपने नहीं होते बल्कि उस जीवन-दर्शन के होते हैं जिसको वह पद्य-बद्ध करता है। एक शब्द में, ऐसा पद्यकार स्रष्टा और कवि नहीं माना जा सकता।

इन बातों का यह अर्थ कदापि नहीं कि वास्तविक काव्य के रचने वाले कवि का अपना जीवन-दर्शन या दृष्टिकोण नहीं होता और उसकी रचना उस दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं होती। आधुनिक हिन्दी-काव्य में पड़े गांधीवाद और मार्क्सवाद के प्रभाव को साहित्य का कोई साधारण विद्यार्थी भी खोज कर बता सकता है। केवल इनका ही नहीं, अनेकानेक दृष्टिकोणों के प्रभाव एक ही कवि की कृतियों में ढूँढ़े जा सकते हैं। इससे खोज करने वाले विद्यार्थी अपनी-अपनी दृष्टि से कवि को इस विचार या उस विचार का मानने वाला सिद्ध करने को कभी सार्थक तो अधिकतर निरर्थक ऐंचातानी कर सकते हैं, लेकिन उसकी कृतियों का मूल स्वर क्या है उसको नहीं पकड़ सकते। यानी उसके काव्य की आत्मा तक नहीं पहुँच सकते। स्पष्ट है कि अनुसन्धानकर्त्ता की दृष्टि और आलोचक की दृष्टि सदा एक ही नहीं होती।

मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नहीं कि प्रगतिवाद (मार्क्सवाद) यदि एक जीवन-दर्शन है, काव्य की धारा के रूप में उसका निरूपण गलत है, तो साहित्य के सम्बन्ध में प्रगतिवाद का कोई विशिष्ट दृष्टिकोण नहीं हो सकता। दुर्बुद्धि से ही ऐसा परिणाम निकाला जा सकता है। मार्क्सवाद यदि एक जीवन-दर्शन है और अपने में सम्पूर्ण है तो सौन्दर्यशास्त्र की समस्याओं, साहित्य और कला की सृजन-प्रक्रिया, विवेचन, मूल्याङ्कन और प्रयोजन के सम्बन्ध में उसका मौन होना ही वास्तव में आश्चर्य की बात हो सकती है। खैरियत है कि इन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मार्क्सवाद मौन नहीं है, बल्कि एक सुसम्बद्ध और सुसङ्गत वस्तुवादी सौन्दर्य-सिद्धान्त के विकास में उसने प्रेरणा दी है। इसे ही प्रगतिवाद की संज्ञा दी जाती है। प्रगतिवाद शब्द मार्क्सवाद का पर्यायवाची तो नहीं है, लेकिन हमारी भाषा में मार्क्सवादी सौन्दर्य-दृष्टि या साहित्य-कला परक वस्तुवादी सिद्धान्तों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस अर्थ में प्रगतिवाद की प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों का निरूपण-विवेचन भी किया जा सकता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं भी। कुछ प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-कला के शैली, रूप विधान और सौन्दर्य-पक्ष पर अधिक जोर देते हैं, कुछ उसकी विषय वस्तु और तात्कालिक प्रयोजनीयता पर। और काफ़ी कुछ ऐसे भी हैं जो अत्यन्त सङ्कीर्ण मनोवृत्ति से प्रगतिवाद को अवसरवादी बनाने पर तुले हैं और उसके मार्क्सवादी दृष्टिकोण को कुत्सित समाज शास्त्री बनाने के निमित्त ही अपनी लौह लेखनी उठाते हैं। किन्तु इन सब प्रवृत्तियों का विवेचन काव्य की किसी धारा का विवेचन न होगा, बल्कि एक विशेष साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना-पद्धति की प्रवृत्तियों का विवेचन होगा। किन्तु ऐसा करना यहाँ विषयान्तर होगा, क्योंकि आप तो काव्य की चर्चा ही चाहते हैं।

सब से ताज्जुब की बात तो यह है कि हमारे कई प्रगतिवादी आलोचक 'प्रगतिवाद' को काव्य की धारा के रूप में मनवाना ही अधिक पसन्द करते हैं। यह सारा भ्रम तो इस कारण भी कुछ अधिक फैल गया है। किन्तु ऐसा 'प्रगतिवादी काव्य' कहाँ है, मैं नहीं जानता। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पन्तजी ने अवश्य 'श्रमिक वर्ग', 'मध्यवर्ग', 'पूँजीपति वर्ग' और 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'

के नाम से कुछ कविताओं की रचना की है जिनमें उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को पद्य-बद्ध किया है। इसे 'प्रगतिवादी काव्य' चाहें तो खुशी से पुकार सकते हैं। लेकिन वे रचनाएँ प्रगतिवादी ही हैं, काव्य नहीं। शङ्कर शैलेन्द्र, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और गोरा-बादल या अन्य छद्म नामों से रामविलास शर्मा ने कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति को यथावसर पद्य-बद्ध करने की जो चेष्टाएँ की हैं, उन्हें भी 'काव्य' के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, यद्यपि वहाँ छन्दों का प्रयोग भी है और व्यङ्ग्य और कटूक्तियों की भरमार भी। इन्हें नारेबाज़ी की कविताएँ ही कह सकते हैं। इन कवियों ने साहित्यिक अर्थ में भी कविताएँ लिखी हैं, लेकिन वे प्रवृत्ति और प्रेरणा की दृष्टि से अलग से विवेच्य चाहे हों, प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं आतीं।

आप कहेंगे कि प्रगतिवाद न सही, प्रगतिशील कह कर सही, इन लोगों की कविताओं का प्रवृत्यात्मक विवेचन तो कीजिए, नाम में क्या धरा है? लेकिन वास्तव में यहाँ नाम ही महत्वपूर्ण है, नहीं तो हम कहीं के कहीं जा पहुँचते हैं। प्रगतिवाद और प्रगतिशील में भेद है, यह स्पष्ट होना ही चाहिए, अन्यथा गलत शब्दों का प्रचलन जारी रहेगा; आप कहेंगे कुछ और लोग समझेंगे कुछ।

प्रगतिशील कविता का जब प्रश्न उठता है तो उसके पीछे किसी विशेष दार्शनिक 'वाद' की मान्यता का आग्रह नहीं किया जा सकता। एक प्रगतिशील कवि गांधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी और द्वैत-अद्वैतवादी भी। मेरा अर्थ है, आज भी। जो साहित्य पाठक को स्वस्थ प्रेरणाएँ देता है, मनोविकृतियों को और उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानव द्रोही नहीं बनाता, जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है, वह सब प्रगतिशील ही तो है। फिर प्रगतिशील हिन्दी कविता का विवेचन केवल नागार्जुन, शङ्करशैलेन्द्र, केदारनाथ अग्रवाल, और गोरा-बादल नामधारी रामविलास शर्मा या इस तरह के दो-चार छोटे-मोटे कवियों की एक विशेष प्रकार की पद्य-रचनाओं और तुकबन्दियों तक ही कैसे सीमित रखा जा सकता है? सम्भव ही नहीं, निश्चित है कि हिन्दी कविता के विकास में ऐसी कोरी नारेबाजी की रचनाओं का मूल्य नगण्य है। इसलिए केवल उनको लेकर प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं की चर्चा करने बैठ जाना निरर्थक है। प्रचार-साहित्य की दृष्टि से उनका प्रचुर मूल्य हो सकता है, लेकिन 'साहित्य में किसी कवि की कीर्ति केवल उनके सहारे एक क्षण को भी नहीं ठहर सकती। यह बात मैं पहले भी कई बार कह चुका हूँ, इसलिए नहीं कि प्रचार-साहित्य या नारेबाजी के साहित्य को महती आवश्यकता नहीं समझता, बल्कि इसलिए कि ऐसी रचनाओं के लिए साहित्य की बहसों में सर्वोच्च जगह माँगने का दावा पेश किया जाता है, जो गलत है।

खैर, प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण न सही, इस पत्र से यदि कुछ भ्रम-निवारण ही हो जाय तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूँगा।

(पृष्ठ ३३० का शेषांश)

कितनी प्रेरणा मिलती है—

मुझको प्रकाश दे दो अपने करुण नयन का
मुझको प्रकाश दे दो।
मैं प्यार माँगता हूँ, मनुहार माँगता हूँ
बस दो युवा हृदय का, संसार माँगता हूँ
अपने किशोर मन का
मुझको निवास दे दो।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर तो वास्तव में वह कवि ही नहीं था जिसने विजयोल्लास एवं राष्ट्रध्वज की वन्दना के गीत न गाए हों। श्री सोहनलाल द्विवेदी राष्ट्रीय भावना के प्रतीक हो गए हैं, उनका राष्ट्र गीत देखिए:—

राष्ट्र ध्वजा की करो नवीन आज अर्चना,
राष्ट्र ध्वजा की करो नवीन आज वन्दना,
यह धरा उठे, उठे गगन, नया वितान हो,
राष्ट्र ध्वजा राष्ट्र का अमर,
विजय निशान हो। —राष्ट्र-ध्वजा

गीति-काव्य की आधुनिक और प्राचीन विधाएं

श्री ओम्प्रकाश अग्रवाल एम० ए०, साहित्य रत्न

गीति-काव्य 'काव्य' का मधुरतम रूप है। यों भरत, वामन, रुय्यक, भामह, रुद्रट आदि काव्य के अनेक आचार्यों ने काव्य की भिन्न-भिन्न परिभाषायें की हैं। चाहे रीति, अलङ्कार, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि को हम काव्य का आधार मान भी लें पर वास्तव में येन-केन प्रकारेण काव्य की सर्वव्यापक आत्मा 'रस' ही है—'रसात्मकं वाक्यं काव्यं'। पर सबसे अधिक रसोद्रेक गीति-काव्य में ही होता है। काव्य को यदि हम रस के आनन्दपरक पारावार की परिधि कहें तो गीति-काव्य मानों उसके अन्तस्तल से उद्वेलित भावावेश की तुरल-तरङ्गों का रसोन्मेष है, उन्हीं तरङ्गों का जिनकी स्निग्ध गति में उसकी आत्मा अगाध रूप से थिरकती रहती है। अतः गीति-काव्य में रस-परिपाक, भावावेष और मधुर-सुकुमार कल्पना के साथ आत्माभिव्यक्ति एवं अन्तर्जगत का लयकारी चित्रण होता है। उसकी लयकारी अभिव्यञ्जना में संगीत का सौन्दर्य मानो अन्तर्जगत को झंकृत कर अमर राग में अनुरञ्जित कर देता है। अतएव गीति-काव्य भावमय सङ्गीत सापेक्ष्य है। "काव्य और सङ्गीत के सहज सामञ्जस्य को ही गीति-काव्य कहते हैं।"* पर गीति-काव्य का यह मापदण्ड आज बदल चुका है। सङ्गीत उसके लिए केवल रूढ़िगत परम्परा मात्र रह गया है। भावावेशगीत का मुख्य अङ्ग माना जाने लगा है पर स्वर-साधना के साथ।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय सङ्गीत की परम पावन धारा है। उसमें गेय और अगेय के बीच रेखा नहीं खींची जा सकती। पर समय के उपक्रम से काव्य में गेय और अगेय दो धारायें स्पष्ट-रूप से प्रवाहित हो चलीं। इतना ही नहीं रूढ़िगत बन्धनों को टूक-टूक करने के प्रयास में गेय पर अगेय को प्रस्थापित किया गया। इसलिए आज हम गीति-काव्य में सङ्गीत की अवहेलना पाते हैं। सङ्गीत से आप्लावित स्तोत्र, स्तवन, स्तुतियाँ, अर्चायें, विनय के पद, सन्तों की वाणियाँ आज रूढ़िगत एवं असामयिक समझी जाने लगी हैं।

भाव, भाषा, शैली, सङ्गीत के आधार पर प्राचीन गीति-काव्य को आधुनिक गीति-काव्य से अलग करने वाले जयशङ्कर प्रसाद हैं। वास्तव में विभाजन की प्रवृत्ति भारतेन्दुजी के पदों से प्रारम्भ होती है पर केवल मात्र जगत ही में—भाषा, शैली तथा भक्ति-भावना पूर्ववत ही रही। और इसी शैली का अनुसरण कविरत्न सत्यनारायण में दृष्टिगोचर होता है। पर प्रसादजी के नाटकीय गीतों ने मानों प्राचीन गीतों पर एकदम पटाक्षेप हा कर डाला। गीति-काव्य की बहिर्मुखी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होगई और बाह्य-प्रकृति से मानव-हृदय का अन्तरङ्ग सम्बन्ध स्थापित होगया। राग-रागिनी की स्वर साधना से समन्वित पद त्याग दिये गये और नवीन लय-स्वर, तथा आकार-छन्द अपना लिए गये। स्वच्छन्दता ने गीति काव्य के तात्विक सिद्धान्तों को भी मुक्त कर डाला। आधुनिक और प्राचीन गीतों के समुचित प्रदर्शन के लिये उनको विभिन्न रूपों में विभक्त करना समीचीन होगा। गीतों के मुख्यतया निम्न प्रकार के भेद प्रचलित हैं:—

(१) मनोरञ्जनकारी—अमीर खुसरु शैली।
(२) रहस्यवादी सन्त पदावली (शान्तरस युक्त)
(३) सगुण भक्ति पदावली (शृङ्गार और शान्त रसयुक्त)
(४) वीर रसयुक्त गीत।
(५) करुणा-सिक्त गीत (विरह वेदना-जनित)
(६) देश प्रेम के गीत।
(७) आधुनिक छायावादी व रहस्यवादी गीत।
(८) निराशा, हीनता, क्षण-भंगुरता के गीत।
(९) जीवन की कठोरता में पले प्रगतिशील गीत।
(१०) स्वातन्त्र्य विजयोल्लास के गीत।
(११) युद्धोत्तरीय गीति-काव्य।

मनोरञ्जनकारी शैली—में बहुत ही कम गीत उप-

* देखिए हिन्दी गीति-काव्य—पृष्ठ १२।

स्रष्ट हैं। अमीर खुसरो से इस प्रकार के गीतों का आरंभ होता है और एक लम्बी निद्रा के बाद आधुनिक युग मनोरञ्जनकारी गीतों की ओर कतिपय कवियों का ध्यान जाता है। ऐसे आधुनिक गीतों में विशेषकर फैशन-परस्ती पश्चिम का अन्धानुकरण, शिक्षित बेकारी तथा परिहास (Parody) गीत हैं। इन प्रकार के गीतों के लिए श्री बेढब बनारसी व श्री गोपालप्रसाद व्यास उल्लेखनीय हैं। प्रसादजी के प्रसिद्ध गीत 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।'' का परिहास गीत देखिए—

"ले चल मुझे बुलाना ले तू
इक्के वाले धीरे धीरे।"

मनोरञ्जनकारी गीतों का क्षेत्र अब बहुत विस्तृत हो गया है और उनमें विस्मय, व्यंग्य, परिहास एवं मार्मिकता का अपूर्व समावेश हुआ है।

रहस्यवादी सन्त पदावली—अपनी प्रवृत्ति में अध्यात्मवादी है। निर्गुण भक्ति के प्रसार में सन्तों की विरह-कातर आत्मा प्रियतम—पति 'राम' के लिये वैसी ही आतुर है जैसी सगुण भक्ति में लीन, मधुर भाव में डूबी, लोक-लाज, कुल-मर्यादा को ठुकरा कर मीरा की अश्रु-सन्तप्त आत्मा गिरधर गोपाल के लिए विह्वल है। अपने 'लाल' की प्रतीक्षा में सन्त कबीर के वियोगी हृदय की चीख कितनी मर्मस्पर्शी है :—

बाल्हा आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोकों यह अदेह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे॥

और मीरां कहती हैं—

दरस बिनु दूखन लागे नैन।
जब तें तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन।
विरह बिथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन॥

महादेवी आधुनिक युग की मीरा कहलाती हैं, उनकी विरह वेदना कितनी तीव्र हो जाती है जब कि वह अभिनव श्रृङ्गार करने पर भी 'उसको' न रिझा सकीं—

शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाये तिमिर केश
गूँथे चुन तारक पारिजात
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष
क्यों आज रिझा पाया 'उसको' मेरा अभिनव श्रृङ्गार नहीं।
क्यों वह आता पार नहीं॥

कबीर, मीरा और महादेवी में प्रेरक शक्ति एक ही है पर आसक्ति में भेद है। कबीर की प्रेमासक्ति आध्यात्मिक है—मधुर भाव की तो उसमें झलक मात्र है पर उसमें प्रियतम के रहस्य की विस्मयकारी अभिव्यक्ति है। एक ओर वे 'राम की बहुरिया' हैं और दूसरी ओर अपने लाल की व्याप्त लाली में रङ्ग कर स्वयं भी लाल हो जाते हैं। मीरा की विरह-वेदना में शुद्ध मधुर भाव है। वे तो प्रेम में दिवानी होकर गिरिधर को अपना पति मान चुकी हैं और उनके आगे नाच-नाच कर अपने हृदय के दरद को केवल उन्हीं को सुनाना चाहती हैं—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी,
मेरा दरद न जाणै कोई।
दरद की मारी बन बन डोलूँ,
बैद मिल्या नहिं कोई।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी,
जब बैद सँवलिया होई॥

महादेवी की वेदना करुणा-सिक्त है, प्रेम-परक है पर मधुर भावयुक्त नहीं। उसका प्रिय कौन है?—यह एक रहस्य का प्रश्न है—क्या वही जिसका आभास संसृति का तृन-तृन दे रहा है? उनके विरह में सान्त्वना नहीं, रुदन है। वे नीरभरी दुख की सन्तप्त बदली हैं—

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा,
तुम में ढूढ़ूँगी पीड़ा।

पर इस करुणा में ही वे उनसे साक्षात्कार की अनुनय करती हैं—

जो तुम आ जाते एक बार!
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
आँसू लेते वे पग पखार।

और उस से एकात्मीयता प्राप्त कर मानों निहाल हो जाती हैं—

प्राण पिक प्रिय नाम रे कह!
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में
वह गया बँध लघु हृदय में
अब विरह की रात को तू
चिर मिलन की रात रे कह।

वे अपने प्रिय के साथ एकात्म भाव ही स्थापित नहीं कर लेतीं वरन् उसको समेट कर अपने लघु हृदय में समा लेती हैं—

क्या पूजा क्या अर्चन रे!
उस विशाल का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!

सन्त कवियों की पदावली में यद्यपि राग-रागिनीयुक्त संगीत है, महान् सन्देश है, आत्माभिव्यक्ति है पर उसमें स्वर-साधना, कल्पना, भाव-चित्र एवं प्रकृति का वह सामञ्जस्य नहीं जो आधुनिक गीतों में मिलता है। विविधता का उसमें अभाव है। वे केवल आध्यात्मिक रहस्यवाद के पद हैं।

सगुण भक्ति पदावली—में शृङ्गार (संयोग, विप्रलम्भ) एवं शान्त-रस प्रधान हैं। यह धारा भारतीय गीति-काव्य की आत्मा है जिसका स्तवन सबसे पहिले मैथिल कवि जयदेव ने किया। उनकी राधाकृष्ण के प्रेम से समन्वित संस्कृत पदावली ने मैथिल कोकिल विद्यापति के लिए एक सुन्दर पृष्ठ भूमि तैयार कर दी। विद्यापति ने उनकी ही भाव-भाषा शैली को अपनाकर अनुपम कोमल-कान्त-पदों की रचना की—

देख देख राधा रूप अपार
अपरुवके विधि आनि मिलाओल,
क्षिति तले नवनिसार।

कहना न होगा कि राधा-कृष्ण की परम-पावन भक्ति के प्रसार में मैथिल कवियों को बड़ा श्रेय है। हिन्दी काव्य के स्वर्णयुग में कृष्ण-भक्तों ने अर्चन-वन्दन में जो रागानुरञ्जित आत्माभिव्यक्ति की वह न केवल गीति-काव्य की मधुरतम कृति है वरन् भारतीय संस्कृति और दर्शन की मानों परम-पावन गङ्गा है। उसमें भी 'भ्रमरगीत' का प्रसङ्ग सङ्गीत और विप्रलम्भ शृङ्गार की मधुरतम भावनाओं का सागर है। विरह-व्यथित गोपियाँ असह्य वेदना में ही मर्म की पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं:—

मधुवन! तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
× × × ×
निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस-ऋतु हम पै जबतैं स्याम सिधारे।
× × × ×
अँखियाँ हरि-दर्शन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस-राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।

इसी प्रकार के पद अष्टछाप के भक्तों एवं रीतिकाल के कतिपय भक्तों के उपलब्ध हैं। पर धीरे-धीरे राधा-कृष्ण के स्वरूप में वासना, अश्लीलता एवं नायक-नायिका के प्रतीक-भाव का प्रदर्शन होने लगा। इससे गीतों का स्तर गिरता चला गया। भारतेन्दुजी ने फिर नई प्रेरणा दी। राधाकृष्ण की भक्ति के साथ उन्होंने देश की दीन-हीन दशा के शोकातुर गीत भी गाए—

कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जागत नाँहि अनेक जतन करि भारतवासी रोए॥

इस काल के ग्रन्थों में 'सूरसागर' गीति-काव्य का ही महासागर है। एक-एक पद मुक्तक है, राग-रागिनीपूर्ण है, अन्तर्जगत का मधुर चित्र है। यदि कथा-प्रसङ्ग को भी व्यक्त करता है तो एक रागात्मक अन्विति के साथ। इस प्रकार की भक्ति के गीत आधुनिक युग में भी रचे गए हैं पर नवीन कलेवर के साथ। प्रवृत्ति में वे भक्तिकालीन हैं पर शैली में एक दम नवीन। न वह संगीत, न वह लय, न वह छन्द, न वह प्रतीक। अब प्रकृति केवल उद्दीपन के रूप में ही नहीं अपनाई जाती वरन् वह अन्तरात्मा के भाव-जगत् में लीन होकर मानवी भावनाओं से एकाकार प्राप्त कर लेती है।

नव-नव रूप धरे चिर सुन्दर, मेरे अङ्ग बसो।
अधरों में मृदु मधुर नाम बन
प्राणों में बनकर नव स्पंदन
रोम-रोम में मृदुल पुलक बन
नव जीवन सरसो॥

—सोहनलाल द्विवेदी।

प्राणधन को स्मरण करते
नयन झरते-नयन-झरते। —निराला

जीवन का श्रम ताप हरो हे!
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्ण से,
सूने जग-गृह-द्वार भरो हे! —पन्त

रहस्यवादी आध्यात्मिकता की एकतान भावना में शुद्ध भक्ति-धारा के नवीन गीत भी इस काल में प्रचुर मात्रा में रचे जा रहे हैं।

वीर रस के गीत—वीर गाथा काल से आरम्भ होते हैं। पर उनमें भावोन्मेष, लय, उत्साह और सङ्गीत का ही समावेश है। न वे मुक्तक हैं और न अन्तर्जगत के चित्र ही। सङ्गीत में भी राग-रागिनियों की उपेक्षा की गई है। युद्ध वर्णनों में वाह्य-उपकरणों का ही वर्णन है, अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण नहीं। आल्हखण्ड, बीसल देवरासो आदि वीर गीति काव्य हैं पर हम उनको शुद्ध गीत नहीं कह सकते। भूषण के कवित्त वीररस समन्वित हैं पर उनमें गीति-काव्य की मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों की उपेक्षा है। अतएव सबसे अधिक सुन्दर वीर रस-युक्त गीत हमको आधुनिक काल ने ही दिये हैं। वियोगी हरि ने पदशैली पर भक्ति से युक्त वीर गीत लिखे हैं। ऐसे गीतों से राष्ट्रीय चेतना मिली है और देश प्रेम विकसित हुआ है:—

आ, जगत्प्राण उठ, जाग-जाग,
धँस भीतर धधका एक आग। —गुप्तजी

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सो चलो,
प्रशस्त पुण्य पथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।—प्रसादजी

आधुनिक युग में गीत-काव्य की प्रतिभा बहुमुखी है। उसके आकार-प्रकार को गिनाना समीचीन न होगा। प्रत्येक कवि के साथ नवीन प्रवृत्ति, नवीन शैली एवं नवीन भावना मिलती है। साधारणतया आधुनिक गीतों में हम छायावाद, रहस्यवाद करुणा, देश-प्रेम, निराशा, हीनता, प्रगति, आशा, भक्ति, विजयोल्लास, ध्वज-स्तवन, नारी-शक्ति आदि के गीत पाते हैं। संक्षिप्तता, सुकुमारता, माधुर्य, अन्वान्वित, आत्माभिव्यक्ति एवं प्रभावशीलता इन गीतों के अपने गुण हैं। प्रकृति नाना प्रतीकों के रूप में अन्तर्जगत का चित्र उपस्थित करती है। उनमें वर्णन-शैली की उपेक्षा है और भाव-व्यञ्जना की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। सौन्दर्यानुभुति उनकी विशेषता है।

करुणा विरह-वेदना, निराशा, क्षणभंगुरता एवं आर्थिक कठिनाइयाँ-जनित है। महादेवी की करुणा विरह-वेदना में पली है, रामकुमार वर्मा की करुणा संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का प्रतीक है:—

करुणा की आई छाया।
यह जीवन तो छाया है केवल सुख-दुख की छाया।
मुझ को निर्मित कर तुमने आँसू का रूप बनाया।

सङ्घर्ष में टूटा हुआ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ,
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं। —बच्चन

देश प्रेम के गीतों की आज भरमार है। 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', सोहनलाल द्विवेदी विशेष उल्लेखनीय हैं:—

अरुण, यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।—प्रसाद

देखो भू को!
जीव प्रसू को,
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुञ्जित गुञ्जित
कुसुमित
भू को! —पन्त

प्रगतिशील गीतों में निराशा, हीनता, सामाजिक कठोरता, शोषण एवं साम्यवादी भावनाओं को पाते हैं—

देह दुर्बल, प्राण जर्जर, खिन्न मन मजदूर हैं हम।
वे महल हमने बनाये जोर नस-नस का लगाकर,
वे महल हमने सजाये रक्त रग-रग का सुखाकर,
किन्तु उनके देखने तक को तरसती आज आँखें,
हाय! खुद अपने बसाये स्वर्ग से भी दूर हैं हम।
इस नए युग के विधाता क्रान्ति के अवतार हैं हम।
क्षार मत समझो हमें, ज्वाला भरे अंगार हैं हम॥

भक्ति भावना के क्षेत्र में 'नेपालीजी' के निम्न गीत से

(शेष पृष्ठ २२६ पर)

आधुनिक हिन्दी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए०

आधुनिक हिन्दी कविता भारतीय परम्परा का ही विकसित रूप है। इसी परम्परा में सामाजिक परिवर्त्तनों ने विकास की नई कड़ियाँ जोड़ी हैं; मूलतः आधुनिक कविता भारतीय स्वभाव, संस्कार और परम्परा का ही नया आकर्षक रूप है। यह हम 'पन्त', 'निराला' और 'महादेवी' के काव्य में स्पष्ट देख सकते हैं।

यह सच है कि इन कवियों ने पाश्चात्य साहित्य और विशेष रूप से अँग्रेजी काव्य का काफी मनन और अध्ययन किया है और इसके फलस्वरूप इनके काव्य के रूप-विधान और अन्तरात्मा पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। शेक्सपियर और रोमैंटिक कवि सभी विश्व-विद्यालयों के पाठ्य-क्रम का महत्वपूर्ण अङ्ग रहे हैं, और इधर इस प्रभाव का विस्तृत अध्ययन अनेक अनुशीलन-निबन्धों में हुआ है; किन्तु भारतीय कविता का नया विकास-क्रम मूलतः भारतीय समाज-व्यवस्था में आधारभूत परिवर्त्तनों का फल है।

'एशियाई समाज' का दीर्घ जीवन नए परिवर्त्तनों के कारण अन्तिम साँस ले रहा था। सदियों से चली आई समाज-व्यवस्था पर विज्ञान के आविष्कारों का गहरा प्रभाव पड़ रहा था। इन आविष्कारों को अँग्रेजी साम्राज्यवाद अनिच्छापूर्वक भारत में लाया। शासन-तन्त्र को मजबूत करने के लिए उसे रेल, तार और यातायात के साधनों आदि की व्यवस्था करनी पड़ी। भारत के दोहन के लिए ब्रिटिश पूँजीवाद ने क्रमशः यहाँ कल-कारखाने भी खोले, किन्तु पुराने सामन्ती अवशेषों को अपने सत्र से महत्वपूर्ण सहायक के रूप में वह कृत्रिम उपायों से जिलाता रहा।

पुराने एशियाई समाज में आमूल परिवर्त्तनों के कारण भारत में एक नए सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ। देश भर में ही नए जीवन का स्पन्दन था, किन्तु विशेषतया प्रेसीडैन्सी इलाकों में इस नवजागरण के लक्षण अपूर्व रूप में उभर आये। बङ्गाल नए विचारों और नई संस्कृति का केन्द्र था और नए बङ्गाली साहित्य और संस्कृति का हिन्दी प्रदेश के जीवन और साहित्य पर भारी प्रभाव पड़ा। हिन्दी की आधुनिक पीढ़ियाँ निरन्तर बँगला साहित्य पर पली हैं और पाश्चात्य प्रभाव को बँगला के माध्यम से ग्रहण करती रही हैं। बङ्किम, डी० एल० राय, रवीन्द्र और शरतचन्द्र हिन्दी प्रदेश के बुद्धिजीवी वर्ग के सर्वप्रिय लेखक रहे हैं।

इस परिवर्त्तन की गहराई को हम आधुनिक हिन्दी कविता से व्रजभाषा काव्य की तुलना कर के अच्छी तरह आँक सकते हैं। एक ही स्रोत का जल होते हुए भी परिवर्तन और विकास-क्रम नई कविता में क्रान्तिकारी गुण उत्पन्न करते रहे थे। एक ओर छायावादी कविता मीरा, सूर और कबीर की परम्परा से सम्बन्धित है, और दूसरी ओर शैली, वर्ड्सवर्थ, बायरन और कीट्स की कविता से।

आधुनिक साहित्य के विचार, भावनाएँ, उद्गार, भाषा-शैली, उपमाएँ, शब्द-चित्र, व्यञ्जना और सङ्गीत सभी एक नये गुणात्मक परिवर्तन की सूचना हैं। जिस सामाजिक व्यवस्था और विचार-धारा के प्रतीक रोमैंटिक कवि थे, उसी प्रकार के गहरे परिवर्तनों के सूचक छायावादी कवि भी थे।

इनके काव्य में व्यक्तित्व की अनुपम प्रतिष्ठा है। रूढ़ि के बन्धन यह झकझोर और तोड़ रहे थे। किसी परिपाटी की लीक में इनकी प्रेरणा का रथ उलझ कर नहीं रह गया। कोकिल के सङ्गीत के समान मानो अनायास ही इनके हृदय का मधु भार काव्य में फूट उठता है।

काव्य में ही नहीं, साहित्य, दर्शन, चिन्तन और संस्कृति के सभी रूपों में हम क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लक्षण पाते हैं। उपन्यास, आलोचना, निबन्ध आदि गद्य-साहित्य के अनेक रूप अब प्रथम बार विकसित और

प्रस्फुटित होते हैं इन सभी पर पाश्चात्य प्रभावों की स्पष्ट छाप है।

छायावाद के उत्तर काल में हिन्दी-काव्य में और भी अनेक नए परिवर्तन हुए। इनका महत्व उतना अधिक नहीं है, जितना खड़ी-बोली के प्राथमिक कवियों और छायावाद का था। आधुनिक हिन्दी के प्रथम और द्वितीय चरण में उदीयमान पूँजीवाद की विचार-धाराओं से हमारा साहित्य प्रभावित हुआ था। पहले महासमर के बाद भारतीय जनता के सङ्घर्ष तीव्रतम् होने लगे और राष्ट्रीय आन्दोलन जन-आन्दोलन बन गया। सन् १९३० के लगभग बलवती किसान सभायें बनीं, जिनमें तीव्र वर्ग-चेतना थी। मजदूर आन्दोलन के अभियान का अभिनन्दन लेनिन पहले ही कर चुके थे। इस वस्तु-स्थिति का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ रहा था। मार्क्स की विचार-धारा प्रेमचन्द, पन्त और राहुल के समान महारथियों के साहित्य को नई दिशा दे रही थी और यशपाल, चौहान, रामविलास शर्मा आदि को प्रेरणा दे रही थी।

कविता के क्षेत्र में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या', 'कुकुरमुत्ता' और 'नए पत्ते', 'प्रभात फेरी', 'पलाश-वन', 'लाल निशान' और 'मिट्टी और फूल', 'सतक' के कवि, केदार, नागार्जुन, शङ्कर शैलेन्द्र, 'शील' और अनेक प्रतिभावान कवियों की रचनायें इसका प्रमाण थीं।

प्रथम महासमर पूँजीवादी व्यवस्था में सङ्कट और ह्रास की सूचना था। इसके फलस्वरूप अनेक पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ यूरोपीय चिन्तन और कला में प्रगट हुईं। इनमें फ्रायड की यौन-सम्बन्धी धारणाओं ने आधुनिक यूरोपीय कला को बहुत प्रभावित किया। फ्रायड काम-भावनाओं को अतिशय महत्व देते हैं। उनके अनुसार काम-भावनायें मानव-चिन्तन के मूल स्रोत में हैं। इस विचार-धारा ने यूरोपीय कला को कोक-शास्त्र की दिशा में बरबस ही मोड़ दिया। जेम्स जॉयस के 'यूलीसीज' में काम-भावनायें निरंतर मनुष्य को प्रभावित करती हैं। इन विचारों को महत्व देने का अर्थ मनुष्य के पशु-रूप को ही स्वीकार करना और उसके देव-रूप को अस्वीकार करना है

कविता के क्षेत्र में रूपवाद का जामा पहिन कर यह प्रवृत्ति आती है। अतृप्त आकांक्षायें और निराशा की भावनायें इस साहित्य में स्वर पाती हैं। उदाहरण के लिए श्री 'अज्ञेय' की कविता में अतृप्त और असफल यौवन का यह क्रन्दन हम सुनते हैं।

अनेक नये वाद ह्रासोन्मुखी यूरोपीय कला में आज प्रगट हो रहे हैं। प्रभाववाद, उत्तर-प्रभाववाद, भविष्यवाद, अस्तित्ववाद, अति यथार्थवाद—उनके नाना मोहक नाम हैं। इनमें कुछ बाह्य रूप-प्रकारों को महत्व देते हैं; कुछ अभिव्यञ्जना के साधनों को ध्येय बनाते हैं; कुछ प्रयोग को ही इष्ट समझते हैं। इस तरह के विचार किस प्रकार कलाकार की प्रतिभा को कुण्ठित करते हैं, यह हम टी० एस० इलियट के काव्य में देख सकते हैं। नग्न कामुकता में किस प्रकार इन वादों की इति होती है, यह हम सार्त्र (Sartri) के उपन्यासों से देख सकते हैं।

नई हिन्दी कविता में इन प्रवृत्तियों का अवतरण प्रयोगवाद के रूप में हो रहा है। प्रयोगशील कवियों में अनेक कवि प्रतिभावान, जनवादी कवि हैं। वे 'अन्वेषी' हैं, किन्तु उनके प्रयोगों ने अभिव्यक्ति के साधनों पर सान नहीं रक्खी है, वरन् उन्हें कुण्ठित ही किया है। आधुनिक कवियों में सब से अधिक प्रयोगशील 'निराला' रहे हैं, किन्तु वे प्रयोगवादी नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह है कि रूप-प्रकारों को महत्व देते हुए भी उन्होंने काव्य के विषय-वस्तु की कभी उपेक्षा नहीं की।

प्रयोगवादी कवि पद्य और गद्य में कोई भेद नहीं देखते। उनके काव्य की पंक्तियाँ मानो गद्य को हाशिये भर से काट देती हैं। किन्तु ऐसे प्रयोगवादी कवि बहुत कम हैं। हिन्दी के बहुसंख्यक प्रतिभावान कवि सच्ची सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत हैं; वे प्रयोगों का मञ्जिल से गुजर कर नेरूदा और अरागों की भाँति सामाजिक कल्याण को अपना ध्येय बना रहे हैं। नरेश मेहता और 'नीरज' के समान तरुण कवियों की नवीनतम् प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है।

हिन्दी के प्रमुख काव्य निर्माता

अपनी अपनी लेखनी से

हिन्दी के प्रमुख काव्य निर्माताओं से इस अङ्क में उनके सम्बन्ध में कुछ प्रकाशित करने के लिए हमने आठ प्रश्न भेजे थे जिनका उत्तर अनेक महानुभावों ने भेजने की कृपा की है, जिन्हें हम नीचे छाप रहे हैं। कुछ कवियों ने बार-बार लिखने पर भी उत्तर भेजने की कृपा नहीं की। ऐसे महानुभावों में से कुछ की प्रकाशित रचनाओं से इन प्रश्नों के उत्तर सङ्कलित कर हम आगे छाप रहे हैं। कुछ ऐसे रह गए हैं जिनके सम्बन्ध में उनकी रचनाओं से भी हम उत्तर नहीं छाँट सके। हमें इसका खेद है।

प्रश्न

१—कविता लिखने की प्रेरणा आपको कब और कैसे हुई ?

२—आप अपनी किस रचना को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं और क्यों ?

३—हिन्दी के आलोचकों ने आपकी रचनाओं के साथ कैसा व्यवहार किया ? उनसे आपको कुछ शिकायत तो नहीं है।

४—आपकी सम्मति में हिन्दी का आधुनिक काव्य-साहित्य प्राचीन हिन्दी काव्य-साहित्य और दूसरी भारतीय भाषाओं के वर्तमान काव्य-साहित्य के मुकाबले में कहाँ तक ठहर सकता है ?

५—वर्तमान काव्य-ग्रन्थों में से आप किस ग्रन्थ को इस समय का युग-काव्य कहेंगे और क्यों ?

६—हिन्दी में आज किस विषय पर कवियों का ध्यान जाना चाहिए, कौनसा क्षेत्र उपेक्षित है ?

७—अपनी कविता के सम्बन्ध में या अपने सम्बन्ध में आप कुछ और लिखना चाहें तो वह भी अवश्य लिखें।

८—काव्य की अब तक की विकसित विधाओं में (महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीति, गद्यकाव्य आदि) किस विधा का भविष्य उज्ज्वल है ?

१—मैं अपनी कविता की प्रथम उद्भावना के वर्ष के सम्बन्ध में स्वतः कुछ नहीं जानता। मेरा जन्म संवत १९६६ है। संवत १९८३ के बाद की घटनायें मुझे ध्यान में आत हैं और तभी से मैं रामचरित मानस की चौपाइयों की ध्वनि में ध्वनि मिलाकर तुकबन्दी जोड़ने लगा था। निश्चय ही उन रचनाओं को कविता नहीं कहा जा सकता, फिर भी मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि उन्हीं तुकबन्दियों की आधार भूमि पर ही मेरी कविता विकसित हुई है।

२—मुझे अनेक ग्रन्थों के रचयिता होने का सौभाग्य सम्भवतः प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि मैं ठहरा "मन्द-कवि-यश प्रार्थी"। मेरी अब तक केवल दो पुस्तकें छपी हैं।

१—देवार्चन (गोस्वामी तुलसीदास जी पर १७ सर्गों में)

२—लोकरीति (खड़ी बोली की काव्य पुस्तक)

मैं देवार्चन को अपनी श्रेष्ठ रचना मानता हूँ।

३—अब तक जिन विद्वानों ने मेरे ग्रन्थों को पढ़ा है, उन्होंने मेरे काव्यों पर मुझे प्रोत्साहित किया है।

४—आधुनिक काव्य साहित्य का मुझ पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है। मुझ पर तुलसी, सूर और कबीर का अधिक प्रभाव है। यद्यपि मेरी भाषा आधुनिक युग की परिमार्जित हिन्दी है, फिर भी उसमें कोमलता और सौष्ठव लाने के लिए मैं वर्तमान की अपेक्षा अतीत के संस्कृत साहित्य का ही अधिक ऋणी हूँ।

५—मैं साकेत को इस युग का प्रतिनिधि काव्य समझता हूँ। प्रियप्रवास और उद्धव-शतक भी मुझे प्रिय हैं। मेरी लालसा है कि हिन्दी को भी एक कालिदास मिले।

६—मैं काव्य को स्वान्तः सुखाय मानता हूँ। निज के सुख में और पर के सुख में काव्य के क्षेत्र में मैं कोई अन्तर नहीं मानता। तुलसीदासजी का अन्तःकरण जिस

प्रकार राम की दैवी विभूतियों की पुनर्स्थापना की कल्पना से आह्लादित होता था, उसी प्रकार अपने काव्य-जगत में हमें उच्चकोटि की मानवीय सद्भावनाओं की स्थापना द्वारा परम रस प्राप्त करना चाहिए।

७—मेरी सम्मति में मानव धर्म और मानवीय संस्कृति का उत्थान ही काव्य के लिए परमोत्कृष्ट क्षेत्र है। यह क्षेत्र इतना विस्तीर्ण और व्यापक है कि इसके द्वारा अनन्त काल तक अनन्त कवियों को अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर प्राप्त होता रहेगा।

८—मैं काव्य को किसी प्रकार के विधि विधानों में बँधा हुआ नहीं मानता। आज की विभिन्न विधायें अपने अपने ढँग से एक ही काव्य पुरुष का स्तवन और कीर्तन करती हैं। काव्य द्वारा हमें सदैव असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, तथा मृत्यु से जीवन की ओर प्रगति करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

—देवीरत्न अवस्थी 'करील'

* * *

१—प्रकृति से मुझे प्रेम जन्म से ही है और प्रकृति और मानव ही मेरी प्रेरणा के कारण हैं।

२—मेरी रचनाओं में बहुत कुछ मेरा अनुभव व जीवन निहित है विशेषकर महाकाव्यों में। रचनाओं में कौन श्रेष्ठ है इस विषय में अपनी सम्मति न देकर मैं प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर अमरनाथ झा की सम्मति उद्धृत करता हूँ—"विक्रमादित्य पढ़ कर बड़ा आनन्द हुआ। 'नूरजहाँ' से भी अच्छा है। बहुत परिश्रम से लिखा गया है। काव्य रचना में तो आप सिद्धहस्त हैं ही, अन्वेषण में भी आपका प्रयास अनुकरणीय है।"

३—मुझे हर्ष है कि हिन्दी संसार ने मेरी रचनाओं का यथोचित आदर किया और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तथा अन्य विद्वानों ने अनेक लेख तथा समीक्षा की पुस्तकें लिख कर हमारी रचनाओं की विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश डाला हैं।

४—हमारा आधुनिक काव्य साहित्य और प्राचीन हिन्दी काव्य साहित्य भारत के किसी भी उन्नत भाषा साहित्य से टक्कर ले सकता है और मेरी राय में तो हमारा आधुनिक हिन्दी काव्य इस समय संसार के किसी भी भाषा के साहित्य के बराबरी में रक्खा जा सकता है। सम्भव है कुछ बातों में वे हम से बड़े हों परन्तु अनेक बातों में हम उनसे बड़े हैं।

५—गीताञ्जलि, कामायनी, नूरजहाँ, साकेत आदि युग काव्य हैं, क्योंकि इनमें प्रकृति व मानव का स्वाभाविक चित्र 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के रूप में अंकित है।

६—भारतीय धर्म पर दृढ़ निष्ठा और भारतीय संस्कृति की महानता ऐसे विषय हैं जिन पर अभी बहुत कम लिखा गया है।

७—स्थायी साहित्य तो महाकाव्य ही रहेगा; वैसे तो क्षणिक मनोविनोद के लिए आजकल का अवकाशहीन मानव गीत के छींटों से ही अपनी प्यास बुझाने का प्रबन्ध करेगा।

—गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

* * *

१—कविता लिखने की प्रेरणा मुझे आप से आप हुई और वह प्रायः सन् १९२४-२५ में।

२—मैं अपनी नव-प्रकाशित रचना 'नन्ददास' को सर्व श्रेष्ठ समझता हूँ, क्योंकि उसमें मेरा जीवन-दर्शन स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है।

३—हिन्दी के आलोचकों से मेरी एक शिकायत है कि वे मेरी रचनाएँ पढ़ते ही नहीं।

४—आधुनिक हिन्दी-काव्य साहित्य अपने प्राचीन काव्य-साहित्य के मुकाबिले में तो नहीं, पर वर्त्तमान सभी भारतीय भाषाओं के काव्य-साहित्य के मुकाबिले में अच्छी तरह ठहर सकता है।

५—वर्त्तमान काव्य-ग्रन्थों में हम इसलिए 'कामायनी' को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं कि उसमें प्रथम बार सर्वाङ्गीण मानव चेतना के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्फुटित हुआ है।

६—आज कवियों का ध्यान प्रकृति की ओर जाना चाहिए। यह क्षेत्र सबसे अधिक उपेक्षित है।

७—अपने या अपनी कविता के सम्बन्ध में इतना ही लिखना है कि लोग मेरी कविता पढ़ते हैं और मुझ में

दिलचस्पी लेते हैं।

८—गीति-काव्य का भविष्य सब से उज्ज्वल है।

—आरसीप्रसादसिंह

* * *

१—चित्रकला का अभ्यास कुछ छूट गया था। १९३८ ई० की बात है। तब ही मैंने कविता लिखना प्रारम्भ किया था। सांध्य-भ्रमण का व्यसन था। एक दिन रङ्गीन आकाश को देख कर कुछ लिखा था—वह सब खोगया। है—और तब से बहुत सङ्कोच से मन ने स्वीकार किया कि मैं कविता कर सकता हूँ। फिर बहुत लिखा पर बच नहीं सका। प्रेरणा कैसे हुई का पृष्ठ लिखना अत्यन्त दुरूह है। इतना ही कह सकता हूँ कि चित्रों से ही कविता प्रारम्भ हुई थी और एक प्रकार की बेचैनी उसका मूल थी।

२—मेरी चार पुस्तकें छपी हैं। 'अजेय खण्डहर' एक खण्ड-काव्य है, वीर काव्य। 'पिघलते पत्थर' में युद्धकालीन कवितायें हैं। 'राह के दीपक' इन दोनों के बीच की वस्तु है, जिसमें व्यक्ति और समाज पक्ष दोनों हैं। इन सबसे पहले मैंने 'मेधावी' लिखा था—पर प्रबंध-काव्य। अच्छा ही होगा क्योंकि हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने मुझे उस पर पुरस्कार भी दिया था। परन्तु सर्वश्रेष्ठ रचनायें सम्भवतः अभी छपी नहीं। 'आर्या' एक प्रबन्ध-काव्य है और 'कामधेनु' में १९३८ से १९५३ तक की चुनी हुई रचनायें हैं और प्रेस में हैं।

३—हिन्दी के आलोचक मेरे विषय में कुछ अलग नहीं हैं। जैसे सबके साथ हैं, वैसे ही मेरे साथ हैं—मेरा मतलब उन लोगों से है—जो किसी प्रकार से भी किसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं हैं। शिकायत मुझे नहीं हैं, भविष्य को हो तो हो, पर वह भी संदिग्ध है।

४—हिन्दी का आधुनिक काव्य प्रगतिशील काव्य माना जाता है। वह दरिद्र है। निश्चय ही प्राचीन, मध्य-कालीन साहित्यों की गहराई इसमें नहीं है, और काव्य के न बिकने का यही एक कारण है। वर्तमान अन्य भाषाओं में बँगला और तमिल में काव्य का प्रचार अधिक बताया जाता है। परन्तु इस ओर मेरी अधिक जानकारी नहीं है।

५—'कामायनी' के बाद युग-काव्य निकला ही नहीं है। महाकवि ही ऐसे काव्य लिखते हैं, और इस समय कोई भी नहीं है। कामायनी युग काव्य है क्योंकि उसने युग को समेट कर रख दिया है। इसका यह अर्थ नहीं कि शेष कवि अच्छे नहीं हैं। अच्छे हैं, पर अन्तर्राष्ट्रीय पद तक पहुँचना उनके लिये अभी कठिन-साध्य है।

६—काव्य विस्तार के नाम पर संकुचित होगया है। वादों ने काव्य को डस लिया है। जीवन के अनन्त क्षेत्र हैं और अभी उन पर नहीं लिखा जा रहा है क्योंकि एक तो पाठक इतना सन्नद्ध नहीं है, दूसरे कवि अपनी सङ्कीर्णता से निकल नहीं पा रहे हैं। विषयों की कमी नहीं है। सारा संसार एक काव्य ही है।

७—अपने बारे में नहीं जानता कि मैं कैसी कविता लिखता हूँ? अच्छाई-बुराई पर न जाकर मैं यही कह सकता हूँ कि उनमें एक चीज है—वह है बुद्धिपक्ष का भावपक्ष से सामञ्जस्य।

८—काव्य का भविष्य निश्चय उज्ज्वल है। काव्य अनुभूति का सौन्दर्य है और वह मनुष्य में सदा रहेगा। लोग कहते हैं कि बुद्धि पक्ष बढ़ने पर भावपक्ष कम हो जायेगा और काव्य नष्ट हो जायेगा। मेरा ऐसा विचार नहीं। मनुष्य का काव्य विभिन्न स्तर रखता है और विभिन्न आयु के कवि विभिन्न रचनायें लिखते हैं। यदि भावपक्ष पर बुद्धिपक्ष बढ़ेगा तो क्या मनुष्य मनुष्य नहीं रहेगा? जब तक मनुष्यत्व होगा कवित्व भी रहेगा। जिस प्रकार दार्शनिक कहता है कि मृत्यु पर रोना व्यर्थ है क्योंकि वह तो प्रकृति का नियम है, परन्तु फिर भी मृत्यु पर मनुष्य रोता है, तो यही प्रकट होता है कि वह रुदन निर्बलता नहीं, वरन् अपनी जाति को रक्षित करने की शक्ति को प्रगट करता है। उसी प्रकार मनुष्य की शक्ति अनाम भले ही रहे, परन्तु विभिन्न रूपों में प्रगट होती है और सौन्दर्य और शक्ति का यह अजस्र स्रोत अपनी अनुभूति के व्यक्ति और समाज को सापेक्ष रख कर सत्य का अवलम्बन लेता है, वही काव्य है, जो बदलने पर भी अपने भीतर की सञ्चित सुरभि को सदा के लिये युगों की वायु पर फहराया करता है।

—रांगेय राघव

१—कविता लिखने की प्रेरणा मुझे सन् १६०३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित श्री मैथिलीशरण गुप्त की तथा 'लक्ष्मी' में प्रकाशित लाला भगवानदीन की कविताओं से मिली।

२—मुझे अपनी प्रथम रचना 'प्रणवीर प्रताप' से अत्यन्त अनुराग है, क्योंकि राणा प्रताप में मैंने सङ्घर्षमय जीवन के आदर्श, देश-प्रेम तथा कर्तव्य-पालन का प्रथम किरण के दर्शन किये। परन्तु, इस समय मैं अपनी आधुनिक रचना 'अशोकवन' को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। उसे लिखकर मुझे आत्मतोष मिला है। मेरा कवि उसमें नव-चेतना से अनुप्राणित हुआ है और जगज्जननी सीता की अतुलनीय छवि में उसने युग-युग व्यापिनी झलक देखी है; राम के चरित्र का प्रतिबिम्ब उसमें आलोकित हुआ है।

३—हिन्दी के आलोचकों ने मेरी रचनाओं के साथ सदैव न्याय किया है। वस्तुतः मेरी प्रथम रचना की जो समालोचना उस समय के 'विजय' पत्र में निकली थी उसने मेरी आशा को ऊँचा उठा दिया था और मेरे आत्म-विश्वास को बल दिया था। मुझे आलोचकों से कोई शिकायत नहीं रही।

४—हिन्दी का आधुनिक काव्य-साहित्य प्राचीन की अपेक्षा कहीं विशाल रूप ले रहा है। विविध क्षेत्रों में उसने पदार्पण किया है। स्वभावतः उसमें से छनकर जो रह जायगा वह मूल्यवान होगा। हाँ, प्राचीन साहित्य के सुमेरु ग्रन्थों को वह अभी नहीं पाता। वैसी साधना अभी आधुनिक काव्य-साहित्य को प्राप्त नहीं हुई है तो भी अभिनव क्षेत्र में उसकी ज्योति धुँधली नहीं।

दूसरी भारतीय भाषाओं के वर्तमान काव्य साहित्य का मेरा मौलिक अध्ययन नहीं। पत्र-पत्रिकाओं द्वारा जो सामने आया है व अनुवादों में जो देखा है उससे मेरा निष्कर्ष यही है कि हिन्दी का आधुनिक काव्य-साहित्य तुलना में किसी से पीछे नहीं।

५—वर्तमान काव्य-ग्रन्थों में मैं 'कामायनी' को इस समय का युग काव्य मानता हूँ। उसकी चिन्तना में शाश्वत सत्य का वास है; कथा में सौन्दर्य प्रस्फुटित हुआ है; वह मानवमात्र की सम्पत्ति है; भारतीयता की भव्य प्रतिमा है!

६—आज हिन्दी के दृश्य काव्य की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है—ऐसा दृश्यकाव्य जो मानव-हृदय की गहराई में उतरे, उसे स्पन्दित करे, उसे ऊँचा उठावे; दृश्यकाव्य, जिसकी पृष्ठभूमि मनुष्यता के धरातल पर हो और जिसके मनोरञ्जन में निर्मल भावना का नृत्य हो। दूसरे, ऐसे सुन्दर खण्डकाव्य, जो समग्र राष्ट्र के व्यस्त जीवन को आन्दोलित कर सकें, उसमें नई रुचि और नये रंग भर सकें, भी अत्यन्त वांछनीय हैं।

७—अपनी कविता के विषय में मुझे और कुछ नहीं कहना; वह तो पाठकों की बात है। हाँ, मेरा आरंभिक प्रवाह ५-७ वर्ष पीछे ही शिथिल पड़ गया था और कभी-कभी फुटकर रचनाओं के रूप में दिखाई पड़ जाता था। लगभग ३० वर्ष योंही बीत गये। अंग्रेजी के अध्ययन में जीवन-धारा बदल गई थी। अब अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् फिर से चेतना जाग्रत हुई है और ईश-प्रेरणा से कुछ लिखने का क्रम चल पड़ा है। गत तीन वर्षों में 'अशोकवन', 'गान्धी-गौरव (पूर्व)' और 'धरती के ध्रुव तारे' खण्डकाव्य प्रकाशित हो चुके हैं। 'अभिनय रामायण' (समस्त तुलसी कृत रामायण का अभिनय में नूतन रूप) और 'जीवन-मंगल' अभी अप्रकाशित हैं।

८—काव्य की विकसित प्रणालियों में इस समय मुझे खण्डकाव्य का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। सरल भाषा में लिखे खण्डकाव्यों का आकर्षण हमें सार्वदेशिकता की ओर ले जायगा और उसकी रमणीयता लोकग्राहिणी होगी। हाँ, वे अपने में सुन्दर हों।

महाकाव्य की साधना यदि किसी कवि से निभ सके तो उसका भविष्य तो सदैव ही उज्ज्वल है वह तो स्वयं भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। मानव-समाज उदार कल्पना का सदैव भूखा है।

—गोकुलचन्द्र शर्मा

* * *

१—कविता की प्रेरणा का स्रोत मुझे अपने पूज्य पिताजी से मिला। ब्रजवासी होने का कारण उन्हें सूरदास, नन्ददास और कबीर के बहुत सेपद याद रहते थे, वे जब-तब अपनी मित्र-मण्डली में उन्हें पढ़ कर सुनाया करते।

मुझे लगता कि क्या मैं ऐसी रचना नहीं कर सकता, यही प्रेरणा निरन्तर मुझ में काम करती रही। मैंने बचपन में स्कूल की शिक्षा के साथ घर पर संस्कृत की शिक्षा भी पाई थी। इसलिए जहाँ तक मुझे याद है, मैंने सब से पहली रचनाएँ संस्कृत के अनुष्टुप् छन्द में की थी। स्वर्गीय श्री बदरीनाथ भट्ट से, जो उन दिनों बाल सखा के सम्पादक थे, मुझे खड़ी बोली में लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इधर मैंने व्रजभाषा में भी अपने प्रारम्भिक काल में रचनायें की थीं, उनमें से आज कुछ भी याद नहीं है।

२—साधारणतया मुझे 'मानसी' जो मेरा मुक्तक खण्ड काव्य है, प्रिय है। उसे मैंने काश्मीर के गुलमर्ग पर बैठ कर लिखा था। वैसे 'युगदीप' के कुछ गीत 'अमृत और विष' की मुक्तक रचनाएँ और 'विजय पथ' काव्य के कुछ अंश विशेष प्रिय हैं। मैं अब भी उन्हें कभी-कभी पढ़ता रहता हूँ।

३—दुर्भाग्य से हिन्दी का आलोचक अपने साथ एक विशेष प्रिय वर्ग को लेकर ही चलता रहा है। मेरे उपेक्षित रहने का एक कारण यह भी हो सकता है, कि मेरा साहित्यिक मध्याह्न सुदूर पञ्जाब में बीता; फिर भी आचार्य रामचंन्द्र शुक्ल जैसे कुछ आलोचकों ने मेरा उल्लेख करके से मुझे कृतार्थ कर दिया। वैसे मेरी कृतियों की आलोचनायें भी हुई हैं और उन पर लेख भी लिखे गये हैं।

४—मेरी सम्मति में हिन्दी का आधुनिक काव्य-साहित्य प्राचीन हिन्दी काव्य-साहित्य से कई दृष्टियों में नवीन और उपादेय है। उसका कारण समाज की आवश्यकता के अनुसार उसका निर्माण है। जहाँ तक काव्य-पक्ष का प्रश्न है यह ठीक बात है कि वह सूर तुलसी और कबीर के मुकाबिले नहीं ठहर सकता। किन्तु वह अपनी जिस उपयोगिता को लेकर चला है उस दृष्टि से उसका अपना महत्व है, उसमें जीवन का संवेदन अपने पूर्ण रूप में प्रतिफलित हुआ है। विषय वैविध्य, रचना के प्रति तन्मयता, अभिव्यञ्जना की प्रौढ़ता हिन्दी काव्य की अपनी चीज है। और इसी दृष्टि से मैं यह भी मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी काव्य सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में श्रेष्ठ है। हिन्दी काव्य साहित्य को सम्पूर्ण रूप में लेकर मैं कह सकता हूँ कि उसका विकास हिन्दी साहित्य की एक बड़ी देन है। क्योंकि हिन्दी काव्य साहित्य की परम्परा के समय इतनी पुष्ट परम्परा और किसी प्रान्तीय भाषा को नहीं मिली।

५—वर्तमान काव्य ग्रन्थों में 'कामायनी' अपने ढङ्ग का अनूठा महाकाव्य है। साकेत और यशोधरा को भी मैं भूल नहीं सकता। वीणा और पल्लव, परिमल और गीतिका आधुनिक काव्य-साहित्य का युगीन कृतियां हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त भी हमारे कवियों की फुटकर रचनायें हैं जिनका अपना विशेष महत्व है। पन्तजी की पूंजि शती, दिनकर का कुरुक्षेत्र, भगवतीचरण वर्मा का कर्ण, और मेरे पचास वर्ष आदि रचनायें उल्लेखनीय हैं।

६—खेद है आज के कवि की रचना का कला-पक्ष पुष्ट नहीं हो रहा है। कविता गद्य बनती जा रही है। रचना का विषय विधान एक दम उच्छृङ्खल हो गया है। प्रयोग और प्रगतिशीलता के पचड़े में, जो सिवा एक विचारधारा के प्रोपेगेण्डा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, या विदेश की नकल है, हिन्दी कविता का स्तर जैसे नीचे गिर रहा है। और वह कविता न होकर विशृङ्खलित गद्य हो गई है। यद्यपि यह समय का प्रभाव है। संसार भर की रचनाओं का यही रूप है, यही शैली है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह अस्वाभाविक है, किन्तु यह लगता है कि हम बलात् ऐसा गद्य लिखने के लिये विवश किये जा रहे हैं। फिर भी जहाँ तक विषय रूप से जीवन को प्रतिबिम्बित करने का प्रश्न है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ, किन्तु उसे किसी वर्ग जाति या राजनीतिक विचारों का प्रचार करने का आधार बनाना कविता की हत्या करना है। कविता को राजनीतिक अखाड़ा बनाना, उसकी सर्वजन प्रियता को, उसकी सुकुमारता को नष्ट करना है।

७—मुझे अपनी कविता या अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। मेरा सम्बन्ध उस सृजन से है जो हृदय से निकलने के लिये विवश हो जाता है, फिर वह मेरी और जिनके लिये मैं लिखता हूँ उन दोनों की बात स्वयं कह देगा। इसके लिए जिस समय की आवश्यकता है, वह

शायद दूर नहीं है।

८—आज के युग में महाकाव्य की अपेक्षा खण्ड काव्य, गद्य काव्य की अपेक्षा गीत काव्य का भविष्य मुझे उज्ज्वल दिखाई देता है। गद्य काव्य को मैं काव्य नहीं मानता। वह सुन्दर गद्य हो सकता है, काव्य नहीं। गीतों का प्राधान्य या उसकी उपयोगिता निरन्तर रहेगी और उस समय तक जब तक कि मनुष्य में रस की भूख समाप्त नहीं हो जाती। इन सबके अतिरिक्त मुझे मुक्तक काव्यों का भविष्य अधिक उज्ज्वल दिखाई देता है, क्यों कि कथा कहने के लिए कहानी या उपन्यास अधिक उपयुक्त साधन हैं इसलिए खण्ड काव्य या महाकाव्य की उपयोगिता मेरे मत में धीरे-धीरे कम होती जायगी और उसका स्थान गीतों और मुक्तक रचनाओं को मिलता रहेगा—ऐसा मेरा विश्वास है। —उदयशंकर भट्ट

* * *

१—मेरी उम्र दस बरस से कुछ कम ही थी। साधारण-हिन्दी-ज्ञान होने लगा था। हमारे गाँव (हरदुआगञ्ज) में एक टाल खुली। इसमें तीन साझी थे। एक बेईमान था वह सारे रुपये चर गया! तीनों में झगड़ा हुआ। पञ्च मेरे पिताजी (स्वर्गीय पं० नाथूरामशङ्कर शर्मा) बनाये गये। कसबे में इस का बड़ा कजिया था कि एक बेईमान दो भले आदमियों का धन हजम कर गया! उस समय मैंने नीचे लिखी तुक लगायी—

एक टाल में तीन थे साजी
दो भोले थे एक था पाजी
बेच बेच कर खा गया बाँस
आओ, उसका खोंसें माँस

इस तुक को मेरे साथी पूरनसिंह ने अपने हाथ से लिख कर मेरे नाम से कई लोगों को देदिया। पूरनसिंह बड़ा नट-खट था, मैं था सीधा-सादा, होते-होते शिकायत पिताजी तक पहुँची। कई आदमी इकट्ठे थे। मुझे बुलाया गया, पूरन भी मौजूद था, पिताजी ने सबके सामने पूछा—"यह तूने लिखा है?" 'हाँ, बाबू'—मैंने बड़े उत्साह और हर्ष से कहा। मानों मुझे उसके कारण कुछ शाबाशी मिलने वाली थी। परन्तु मिले थप्पड़। 'नालायक, अभी से ऐसी खुराफात बकने लगा' बाबू ने बड़े क्रोध से कहा—मेरे पिताजी किसी बच्चे को पीटते न थे परन्तु उस दिन उन्हें बड़ा गुस्सा आया। यह है मेरी सबसे पहली कविता का पुरस्कार और वह टाल का जंजाल है मेरी प्रवृत्ति का प्रेरणा स्रोत। घर आकर पिताजी मेरी माँ से बोले—'देखा, तुम्हारा पोदना-सा लड़का क्या, खुराफात करता है। इसे समझा दो, आगे ऐसी वाहियात बातें न बके।' माँ के पास आकर मैं खूब रोया—'बीबी बाबू ने थप्पड़ ही थप्पड़ मारे हैं', मैंने बिलखते-बिलखते हुए कहा। माँ बड़ी दुखी होकर बोली—'भाड़ में जाय टाल और चूल्हे में झुके कविता-फविता! आने दो उस मरे 'पुन्ना' को, कैसा डाटती हूँ। उसी ने मेरा सीधा-साधा हरों पिटवाया है?' इस घटना को पचास वर्ष बीत गये परन्तु पिताजी के उन थप्पड़ों और माँ के उस वात्सल्यपूर्ण स्नेह की याद अब तक बराबर बनी हुई है।

इस पिटन्त-प्रसंग के कुछ हों महीनों पश्चात् हरदुआ-गञ्ज में, और सारे देश में ही, भयङ्कर प्लेग फैला! हमारे पिताजी अपने अन्य अनेक साथियों समेत निकटवर्ती एक बाग (गुरू का बाग) में फूँस की झोंपड़ियाँ बनवाकर जा बसे। लगभग पचास परिवार और थे। दूसरी बार यहाँ, मेरे दिमाग में कविता का कीड़ा कुलबुलाया, उस समय घोर शीत पड़ रहा था। घड़ों और पोखरों का पानी जम गया था। ईंटें या डण्डा मारने से जमा हुआ पानी कांच की तरह टूटता था। उधर मौतों की चटापट हो रही थी। उस समय मैंने दूसरी तुकबन्दी यह गढ़ डाली—

प्लेग ने प्रकोप कर हाय हम दीनन को
इत उत बाजरे की भाँति पटकारो है।
लहासन के ढेर चारों ओर बिखरे हैं देखो
उनकों न कोऊ कहूँ हूँ उठान हारो है।
छोड़कें नगर-घर आय पड़े जङ्गल में
झौंपड़ीन में ही मिलो सबहूँ सहारो है।
ठण्डक के मारें पानी पोखर को जम गयो
अब तो हमारौ भगवान रखवारो है।

यह 'तुकबन्दी' मेरे बड़े भाई साहब राधावल्लभजी ने पिताजी को सुनाई तो वे बोले—हाँ, इसमें तुकबन्दी का माद्दा तो है, मगर उसे अपना समय पढ़ने लिखने ।

लगाना चाहिए, इन व्यर्थ की बातों में नहीं। मेरी माँ इन पंक्तियों को सुनकर खुश हुई। मेरे पिताजी प्रायः प्रोत्साहन देने में कंजूस थे। वे समझते थे कि नव-सिखुओं को भी उनके माप-दण्ड के अनुसार ही श्रेष्ठ कविताएँ लिखनी चाहिए। आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा ने मुझे गद्य-पद्य लिखने को बहुत प्रोत्साहित किया। वे मेरी अशुद्धियाँ भी बताते थे, और निरन्तर कुछ न कुछ लिखते रहने का आदेश भी देते थे। मैं १६ वर्ष का था तभी से उनका वरद हस्त मेरे ऊपर रहा। वे मेरे पिताजी के अभिन्न मित्र थे, अतः मुझे पुत्रवत् समझते थे।

२—मैंने लगभग तीन दर्जन पुस्तकें लिखी हैं, गद्य में सबसे बड़ी किताब 'रस-रत्नाकर' है। लगभग एक सहस्र पृष्ठों की। पद्य-प्रभा, काव्य-कौमुदी (संकलन) 'घास-पात' 'रामराज्य', 'कृष्ण-सन्देश' 'महर्षि महिमा' आदि पद्यात्मक पुस्तकें हैं। मुझे अपनी सब ही कृतियाँ पसन्द हैं। इसलिए नहीं कि वे कला की 'कलेजी' या साहित्य की सरिताएँ हैं बल्कि इसलिए कि उनके कारण मुझे कुछ पारिश्रमिक प्राप्त हुआ है, जिससे जीवन-निर्वाह और परिवार पालन में सहायता मिली है। फिर भी मुझे अपनी तुकबन्दियों का संग्रह 'घास पात' और भी अधिक पसन्द है, जिसके मिस मुझे अनायास दो हजार नकद का देव पुरस्कार मिल गया। एक कलम के एक साधारण मजदूर के लिये यह द्रव्य राशि कम नहीं है।

३—आलोचक महोदयों के आगे जब-जब मेरी कोई कृति गयी, तब-तब उन्होंने उसके साथ उचित और उपयुक्त व्यवहार किया। मुझे जरा भी शिकायत नहीं।

४—आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य, प्राचीन हिन्दी काव्य साहित्य की तुलना में अभी बहुत पीछे है। बङ्गला, मराठी, उर्दू आदि भारतीय भाषाओं का आधुनिक काव्य साहित्य, हिन्दी के आधुनिक काव्य साहित्य की अपेक्षा उच्चतर समझा जा सकता है। हिन्दी जिस प्रगति से बढ़ रही है वह बहुत ही आशा पूर्ण है।

५—मैं सब ही हिन्दी कवियों और कविताओं का प्रेमी एवम् भक्त हूँ। अपनी तुच्छ गति-मति के अनुसार जहाँ जहाँ मुझे कवित्व और चमत्कार दिखाई देता है, वहाँ-वहाँ मैं उसमें युग की गूंज या परिस्थिति की पुकार पाता हूँ। जिस समय सचमुच कोई 'युग काव्य' बन जायगा, वह रामचरित-मानस की तरह साहित्य संसार को परितृप्त किये बिना नहीं रहेगा। मेरी सम्मति में हिन्दी में सबसे अधिक लोक-प्रिय कृति 'भारत भारती' हुई है। उसने लोक निर्माण का काम भी बहुत किया है। भले ही ही उसमें अपेक्षित कवित्व श्रद्धेय गुप्तजी की अन्य रचनाओं के समान न हो।

६—मानवता या नैतिकता प्रश्न पर ही आज के साहित्यकारों और कवियों का ध्यान जाना चाहिए। इस समय इसी पर लक्ष्य रखने और बल देने की आवश्यकता है।

७—मेरी सम्मति में खण्ड काव्य और गीति काव्य का भविष्य अधिक उज्ज्वल प्रतीत होता है।

—हरिशङ्कर शर्मा

* *

१—१९३० के लगभग ग्रीष्मावकाश में रामायण, प्रिय-प्रवास, जयद्रथ वध और विश्वामित्र आदि काव्यों के निरन्तर पठन से तथा समीपस्थ कविवर ठा० शङ्जादसिंह के सहयोग तथा उनके उत्साहित करने से काव्य प्रणयन की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। कवि सम्राट हरिऔध तथा पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी का अनुग्रह ही मेरे व्यक्तित्व से अलग कवि है किन्तु मेरे कवि पर मेरे व्यक्तित्व की गहरी छाप है।

२—भाषा, काव्यगत सौन्दर्य तथा अनुभूतियों की दृष्टि से 'जौहर' महाकाव्य को मैं अपनी अब तक की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। मेरी समझ से भारतीय नारी पर रचित इतना बड़ा महाकाव्य हिन्दी साहित्य को कदाचित् पहली देन है। नारी का उज्ज्वल चरित्र, पवित्र सौन्दर्य, चतुर्दिक चमकता हुआ लोक-आकर्षक उसका सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार सतीत्व, माया, करुणा, चिन्ता तथा कुल गौरव, जाति और मर्यादा के लिये प्राणों को तृण की तरह बहा देने के आदर्श का वर्णन तो है ही, 'हल्दी घाटी' महाकाव्य के बाद की रचना होने के कारण 'जौहर' में हल्दीघाटी के खटकते हुये अभावों की सम्यक् पूर्ति भी है।

३—हिन्दी में नीर-क्षीर विवेचक आलोचकों का

अभाव है, जो दो एक प्रतिष्ठित आलोचक हैं उन्हें सूर, तुलसी और कबीर की कल्पनाओं में उड़ने से ही फुरसत नहीं है, यदि किसी तरह धरातल पर उतरे तो अनेक विचित्र वादों के जाल में फँस गये। भारतीय पद्धति पर रचित रचनाओं की ओर उन्हें एक बार देखने का भी अवसर नहीं मिलता फिर भी जगत का सबसे बड़ा आश्चर्य है या यों कहिये हिन्दी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उक्त ढङ्ग की रचनाओं की कभी अचानक चर्चा चली तो अपनी सम्मति देने में उनको सङ्कोच नहीं होता। आलोचक की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है।

हिन्दी के कुछ आलोचकों की विचित्र गति है। उनको स्वयं अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है। वे अपने से प्रसिद्ध किसी समालोचक की लेखनी के पद-चिह्नों पर चल कर ही काम चला लेते हैं। भाव व्यञ्जना वही केवल आकर्षक शब्दावली के चमत्कार से ही सत सवारों में सम्मिलित हैं। यही कारण है कि 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' पर आज तक किसी समालोचक की दृष्टि ही नहीं गयी। न किसी ने स्तुति की, न निन्दा। हल्दीघाटी और जौहर आदि मेरी रचनाओं की लोक-प्रियता ने ही उन्हें जीवन दे रखा है। आलोचकों की यह उदासीनता मुझे खलती नहीं बल्कि हँसी आती है क्योंकि गुरु चरणों के प्रसाद से दृश्य को श्रव्य बना कर आँखों की तरह कानों को भी तृप्त करने की कला मुझे मालूम है और वह मेरी रचनाओं में नर्तकी की तरह थिरकती रहती है, लोक का वरदान मिल चुका है, उसके सामने किसी आलोचक की सम्मति की कभी चिन्ता ही नहीं होती।

४—प्राचीन काव्य-साहित्य की रस-सन्तति टूट नहीं सकती। उसमें सदैव रसिक-हृदय रमता रहेगा। जीवन को जाग्रत करने की उसमें अद्‌भुत शक्ति है और उससे निरन्तर दिव्य कर्म करने की प्रेरणा मिलती रहती है।

संयम ही जीवन का रस है। काव्य जब तक विशिष्ट आचार्यों के नियमों की रेशम डोरी से बँधा और सधा हुआ नहीं चलेगा तब तक काव्य निर्जीव और नीरस बना रहेगा। तथाकथित आधुनिक काव्यों में असंयत मनः प्रसूत कल्पनायें विद्यमान हैं। इससे साधारण और विद्वान् पाठकों पर समान प्रभाव डालने वाली रचनाओं का अभाव सा है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि प्राचीन से प्रभावित और दूसरे अर्वाचीन साहित्य की व्यञ्जनाओं से अलंकृत जब तक आधुनिक साहित्य सरस, सुबोध और प्रसाद गुण सम्पन्न नहीं होगा तब तक वह किसी भी साहित्य के सामने गर्वोन्नत नहीं हो सकता।

जिस साहित्य से देश का कल्याण न हो, मानव जीवन का स्तर ऊँचा न उठे और सहृदयों को अलौकिक आनन्द का स्वाद न मिले, वह नीरस और निरर्थक है।

५—वर्तमान काल यदि कुछ नवीन विद्वानों की राय से छायावाद और रहस्यवाद का युग मान लिया जाय तो 'कामायनी' को युग काव्य मानना पड़ेगा, किन्तु युग काव्य में जिन उपकरणों के [illegible] की आवश्यकता होती है 'कामायनी' में उनका सर्वथा अभाव है। 'कामायनी' काल्पनिक कथा के आधार पर उपनिषदों के कुछ विचारों की कलापूर्ण सरस चयनिका मात्र है। युग की उसमें न रहन-सहन सभ्यता है, न राष्ट्रीय विचारों से ओतप्रोत है, न साम्प्रदायिक संघर्ष, न लड़खड़ाती राजनीति, न देश के नैतिक पतन की ही झलक है और न वह गांधीवाद से ही प्रभावित है।

'कामायनी' में जो सब से बड़ा दोष है वह उसकी दुरूहता है। साधारण तथा विशिष्ट विद्वानों के मन पर समान प्रभाव डालने वाली कला का उसमें अभाव है, जो काव्य निम्न वर्ग से उच्च वर्ग तक के व्यक्तियों के हृदय पर एकसा प्रभाव नहीं डालता उसकी मृत्यु निकट भविष्य में निश्चित है!

६—आज देश की इञ्च-इञ्च भूमि पर अपनी सत्ता है, बन्धन टूट गये, मुक्ति मिल गयी और विदेशी सत्ता पत्ते की तरह न जानें कहाँ उड़ गयी फिर भी किसी भी व्यक्ति के मुख पर स्वतन्त्रता की श्री नहीं है, हृदय में उल्लास नहीं है और न स्वतन्त्र होने का गर्व ही है। देश की राजनीति प्रयोगवादिनी और चञ्चल है। स्वाधीन भारत की प्रजा पराधीनता के कठोर पाश से निकल कर भी नहीं निकल सकी बल्कि अपने दुष्कर्मों के कारण स्वयं नरक भोग रही है, परस्पर का व्यवहार दूषित हो गया

है। चतुर्दिक चोरी, घूसखोरी, उच्छृङ्खलता और अन्याय से देश की स्थिति पहले से भी अधिक दयनीय और दुर्बल हो गयी है। बाहर मुखपर कृत्रिम मुसकान किन्तु भीतर नाटकीय हाहाकार।

देश की अनैतिकता को धराशायी करने के लिए कवियों को अपनी रचनाओं में अनुभवी महर्षियों के तप पूत विचारों को नवीन और सरस शब्दावली में स्थान देना चाहिए। यह कितना बड़ा आश्चर्य है कि विश्व-वन्दनीय महात्मा गांधी के विचारों को लेकर उन पर अब तक किसी उत्तम काव्य का निर्माण नहीं हो सका। हिन्दी के कवि गीतों के अनेक विचित्र प्रयोग तथा स्वर-साधना में ही लगे रहे। कवियों की यह उपेक्षा देश और समाज के लिए घातक है।

७—मेरी रचनाओं का लक्ष्य साहित्य, देश, जाति और धर्म की सेवा है। हल्दीघाटी, जौहर, तुमुल, रूपान्तर और आरती आदि मेरे काव्य इसके उदाहरण हैं। शिवाजी और परशुराम काव्य के निर्माण में निरत हूँ। शिवाजी का परिचय देना युक्ति सङ्गत नहीं समझता, इतना ही पर्याप्त है कि आर्य व्यवस्था को निकालते हुए स्वार्थियों के बीच यदि शिवाजी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ होता तो हम और हमारी संस्कृति कहाँ होती, कहा नहीं जा सकता।

भगवान परशुराम संस्कृति का आराध्य प्रकाश है, जिसने अपनी प्रचण्ड शक्ति से उस समय के स्वेच्छाचारी क्षितिपतियों की उच्छृङ्खलता को भूमिसात कर दिया था।

८—मेरी सम्मति में महाकाव्य का सम्मान रहा है और रहेगा। गीत केवल एक भाव देकर पंगु बन जाता है और प्रबन्ध काव्य पाठकों के हृदय में बस कर उसके जीवन को मधुमय सङ्गीत से भर देता है।

—श्री श्यामनारायण पाण्डेय

* * *

१—मेरा बाल्यकाल ऐसे वातावरण में व्यतीत हुआ जिसमें रहते हुए किसी भी मनुष्य में काव्यानुराग उत्पन्न होना स्वाभाविक था। मेरे पिता के पास पण्डितों तथा कवियों का जमघट सा रहता था। वे उन्हें अपनी एवं अन्य कवियों की रचनायें सुनाया करते थे। इसलिए उन्हें सुनने में ५—६ वर्ष की अवस्था से ही मुझे आनन्द मिलने लगा।

कालेज की शिक्षा समाप्त हो जाने पर मैं घर में रह कर अँग्रेजी तथा हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने लगा। उन दिनों बाबू मैथिलीशरण गुप्त एवं अन्य कुछ कवियों की रचनायें 'सरस्वती' में बराबर प्रकाशित होती थीं। मैं उनसे आकर्षित हुआ और गुप्तजी की रचनाओं से विशेष रूप से प्रभावित होकर मैंने भी खड़ी बोली में कविता लिखना आरम्भ कर दिया। सन् १९१२ में 'ग्रन्थ' शीर्षक खड़ी बोली की मेरी प्रथम रचना 'सरस्वती' में छपने के लिए भेज दी गई और वह प्रकाशित भी हो गई। इस से मैं बहुत प्रोत्साहित हुआ और फिर बराबर खड़ी बोली में ही लिखने लगा। सौभाग्य-वश आचार्य पण्डित महावीर-प्रसादजी द्विवेदी की कृपा शीघ्र ही मुझे प्राप्त हो गई और उनके सम्पादन-काल में मेरी कई रचनायें 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। यदि मैं किसी कारण से कुछ काल तक लिखना बन्द कर देता था तो द्विवेदीजी स्वयं पत्र लिख कर कविता मँगा लेते थे। आरम्भ में वे मेरी रचनाओं में आवश्यक संशोधन भी कर देते थे और पत्र-द्वारा समय समय पर काव्य-कला के सम्बन्ध में मुझे उपदेश भी देते रहते थे। इसी से मैं उन्हें अपना काव्य-गुरु मानता हूँ।

कुछ काल के लिए मैं अपने राज्य के मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हो गया था। उसी अवधि में मुझे संयोगवश कृष्णगढ़ (राजस्थान) जाना पड़ा और लगभग एक महीना वहाँ रहना पड़ा। वह स्थान अत्यन्त रमणीय है। वहाँ से एक दिन मोटर द्वारा मैं अजमेर गया और उसी दिन लौट भी आया। आते-जाते समय मार्ग में जो अपूर्व प्राकृतिक दृश्य मैंने देखे वे कभी भुलाये नहीं जा सकते। उनकी छवि हृदय में अङ्कित-सी हो गई। वह यात्रा साहित्यिक दृष्टि से भी मेरे लिए महत्वपूर्ण रही क्योंकि कृष्णगढ़ में ही मेरी दो पुस्तकों (कादम्बिनी तथा मानवी) का श्रीगणेश हुआ। 'कादम्बिनी' लिखने की प्रेरणा बच्चन जी की एक कविता पढ़ते समय मुझे अकस्मात् मिली।

'जगदालोक' का आरम्भ महात्मा गान्धी के निधन के बाद हुआ। इस काव्य का मुख्य ध्येय गान्धी-युग का

प्रतिनिधित्व करना है।

ग्रामवासी होने के कारण अपने प्रदेश के अपूर्व नैसर्गिक सौन्दर्य और उसके सरल ग्राम्य जीवन से मुझे सदैव प्रेरणा मिलती रही है। फलतः मैं समय समय पर ग्राम-सम्बन्धी कवितायें बराबर लिखता रहा। मेरी इस प्रकार की रचनायें 'ग्रामिका' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं, जो प्रकाशित हो गई है।

मेरे लम्बे साहित्यिक जीवन में अनेक कठिन परिस्थितियाँ उपस्थित हुई। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ता था कि मेरी साहित्य-साधना का अन्त हो जायगा। परन्तु मैंने अपने को यह कभी नहीं भूलने दिया कि मेरे जीवन का मुख्य लक्ष्य साहित्य-सेवा है। जो मैं प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलकर और अनेक प्रलोभनों से बचकर अपने निश्चित मार्ग से अभी तक विचलित नहीं हुआ, इस का कारण किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा ही हो सकती है।

—गोपालशरण सिंह

* * *

१—१९२१ से मैंने तुकबंदी लिखना प्रारम्भ किया था, कविताएँ पढ़ना और लिखना मुझे प्रिय लगा, क्यों, यह बताना एक बड़े मनोवैज्ञानिक उत्तर की अपेक्षा रखता है।

२—अभी तक साहित्य समालोचक रस परिपक्वता को ही कविता की अन्तिम कसौटी मानते आए हैं। मैं इससे कुछ और आगे मानता हूँ। मैं प्रभाव को ही कविता की कसौटी मानता हूँ, भले ही उस रचना में अलङ्कार-रस की न्यूनता हो। इस दृष्टि से 'वासवदत्ता' मुझे अपनी एक उत्कृष्ट रचना लगती है, क्योंकि वह हमारे मन से ऊपर उठकर आत्मा को स्पर्श करती है। तन के किवाड़ों को बन्द करके मन की खिड़की खोलती है।

उदात्त भावों में रमना और रमाना मैं एक पुण्य-प्रयास मानता हूँ। इसमें समाज सेवा और मानवता की सेवा भी मानता हूँ। ठीक इसके विपरीत, अनुदात्त भावनाओं का प्रचार एक सामाजिक अपराध मानता हूँ।

३—हिन्दी के आलोचकों ने मुझे अपना आन्तरिक स्नेह, सम्मान और बड़ा प्रोत्साहन दिया। भाई रामविलास शर्मा एवं डा० भगवतशरण उपाध्याय ने 'भैरवी' तथा 'वासवदत्ता' के सम्बन्ध में आलोचनाएँ लिखकर उन्हें 'साहित्य की चर्चा' का विषय बना दिया। उनकी आलोचनाओं के सम्बन्ध में कुछ अपने मान्य मित्रों के पत्रों से मेरे विक्षुब्ध मन को समुचित समाधान प्राप्त हुआ।

श्री जैनेन्द्रजी ने लिखा कि 'कलम में कसरत करने की ताकत थी, लेकिन दाँव ओछे इस्तैमाल किए गए हैं।' भाई हजारीप्रसाद त्रिवेदी ने लिखा कि 'ये आलोचनाएँ पढ़कर मुझे हँसना चाहिए—ध्यान नहीं देना चाहिए न चिन्ता करनी चाहिए।'

किन्तु, मैं मानता हूँ इन दोनों बन्धुओं ने अन्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक उपकार किया है, क्योंकि इससे मेरी कृत्तियों को वह महत्व मिला, जो इनकी आलोचनाओं के अभाव में न मिलता।

आज के आलोचकों से मुझे शिकायत है तो यही कि संतुलित आलोचनाएँ कम करते हैं। भाई नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० सत्येन्द्र इस दृष्टि से मुझे विदग्ध आलोचक लगते हैं। केवल प्रशंसा या केवल निन्दा सन्तुलित समालोचना नहीं हो सकता। श्री निरालाजी ने (पल्लव) की जैसी आलोचना की थी, डा० रामविलास तथा डा० भगवतशरण ने वैसी ही भैरवी तथा वासवदत्ता की आलोचना की है। यह एक तरफ फ़ैसला है। इससे आलोचकों की शक्ति का परिचय तो खूब मिलता है किन्तु, न्याय तो नहीं होता। न ऐसी आलोचनाएँ मन को जँचती हैं। जो बात मन में बैठ जाए, वही ठीक होती है, और सन्तुलित बात ही ऐसी क्षमता रखती है।

५—मैं तो कामायनी ही को आज के युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य मानता हूँ, क्योंकि मेरी मान्यताओं में यही काव्य इस पद का अधिकारी है।

६—आज मैं बड़ी आवश्यकता देखता हूँ ऐतिहासिक खण्डकाव्यों के सृजन की। अच्छे महाकाव्यों के नाम एक दो तीन के बाद समाप्त हो जाते हैं। महाभारत का प्रत्येक पात्र एक खण्डकाव्य या महाकाव्य का विषय है। भीष्म, कर्ण, युधिष्ठिर, दमयन्ती, द्रौपदी, अर्जुन, दुर्योधन, कृष्ण सभी खण्डकाव्य या महाकाव्य के कथानक लिए बैठे हैं। और 'अशोक' पर आज एक महाकाव्य की

नितान्त आवश्यकता है। मेरा 'कुणाल' अशोक पर महा काव्य लिखने की प्रस्तावना सा है।

७—मैं 'साहित्य सेवा' को शौक मानता हूँ, पेशा नहीं। मैं धनार्जन के उद्देश्य से कभी कुछ लिखता नहीं, जब लिखने की इच्छा होती है तभी लिखता हूँ, उससे आर्थिक लाभ होजाए यह मेरे लिए गौण बात है। जहाँ साहित्य सृजन व्यवसायिक रूप धारण कर लेता है मैं मानता हूँ—वहाँ साहित्य स्वयं मानव नहीं बन पाता, और बलात् आकृष्ट साहित्य कैसा होता है लिखना अनावश्यक है।

८—मुक्तक रचनाओं की अपेक्षा अच्छे खण्डकाव्य या महाकाव्य निस्सन्देह अधिक रसात्मक और स्थायी सिद्ध होंगे, अतएव ऐसे ही काव्यों का भविष्य सुनिश्चित है और उज्ज्वल है। उपन्यासों एवं कहानियों ने यद्यपि खण्डकाव्यों तथा महाकाव्यों का स्थान ले लिया है किन्तु जब समर्थ साहित्यकार लिखने बैठता है तब निश्चित ही खण्डकाव्य एवं महाकाव्य अधिक स्थायी सिद्ध होते हैं। प्रसादजी की समस्त कृतियों में कामायनी इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। —सोहनलाल द्विवेदी

* * *

आगे जो उत्तर छापे जा रहे हैं वे इन कवियों की पुस्तकों से सङ्कलित किए गए हैं :—

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

१—"इन गीतों में मैं अपने हाथ से छूट-सा गया हूँ और प्राय: अकर्मण्य आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे पीछे भटकता फिरा हूँ जिसे कल्पना कहते हैं।"

३—"मैंने सुन रक्खा है कि साहित्य में कवि की परीक्षा का अर्थ है या तो उसे आसमान पर चढ़ा देना या फिर उसके टुकड़े-टुकड़े करके पैरों से मसल देना। स्वभाव से ही पत्रकारों के हिस्से में पहला और आलोचकों के हिस्से में दूसरा काम पड़ा है।"

४—"घिसते-घिसते कला इतनी बारीक हो गई है कि आज की श्रेष्ठ रचनायें तभी आनन्द दे सकती हैं जब पाठक ऊँचे से ऊँचे स्तर पर चढ़ कर उनकी ओर मुखातिब हो सकें। पहले की रचनायें ऐसी नहीं थीं। उनके आनन्द के स्तर एक नहीं—अनेक होते थे और प्रत्येक पाठक अपनी योग्यता के अनुसार उनका रस प्राप्त कर सकता था। मेरा अभिप्राय: उस भेद से है जो 'रामचरित मानस' और 'कामायनी' के बीच विद्यमान है।" —रसवन्ती की भूमिका से

* * *

डा० रामकुमार वर्मा

१—"अपने नवयुवक जीवन से लेकर आज तक मैंने जो कवितायें लिखी हैं वे उन क्षणों की रेखायें हैं जिनमें मैंने जीवन की गति अनुभव की है—ऐसे जीवन की जो अत्यन्त पवित्र क्षण से उत्पन्न हुआ है। मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। इसलिए मैंने किसी हलके क्षण में कविता नहीं लिखी। अपने काव्य जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोंक पर आ बैठती है। सम्भवतः यही कारण है कि मैं भौतिक शृङ्गार की कोई कविता नहीं लिख सका या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जो पार्थिव जीवन के क्रोड़ में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती हैं।

........जीवन से अलग हटी हुई कविता साहित्य की की सबसे बड़ी निर्लज्जता है। जीवन के रङ्गीन और वास्तविक स्वप्नों के निर्माण में कविता की प्रेरणा है और जब इन सजीव स्वप्नों से रहित होकर कविता अपना प्रदर्शन करती है तब ऐसी अप्सरा हो जाती है जिसके पास केवल रूप ही रूप है हृदय का उष्ण स्पन्दन नहीं।"

६—"आवश्यकता इस बात की है कि हमारा बुद्धिवाद सृष्टि के कण में व्याप्त स्नेह और पारस्परिक हित की भावना खोजे।.......आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो जाना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है।

........आधुनिक कविता में विलास और निराशा की भावना विशेष रूप से है। हमारा कवि दूध पीने वाले बच्चे की तरह इन्द्रियों की गोद में बैठ कर जल्दी से

गया है।......मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ भौतिकवाद की निराशा का नहीं।"

* * *

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

१—"अपने सम्बन्ध में मैं निःसंकोच यह कहता हूँ कि मुझ में साधना का अभाव है। साहित्य-साधना के लिए, माता सरस्वती की उपासना के लिए जिस एक निष्ठा की आवश्यकता होती है वह मुझ में नहीं रही। जीवन एक प्रकार से उखड़ा उखड़ा-सा रहा है। यदा-कदा, जब कुछ भीतर से खुद-खुद हुई, लिखने बैठ गया। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि व्यर्थ ही मैंने काव्य रचना का प्रयास किया। मेरे पास न शब्द हैं, न कला-कौशल है, न अध्ययन-गाम्भीर्य है और न स्वेद-सामर्थ्य।"

३—"आज के हमारे आलोचक बन्धुओं में से कुछ ऐसे हैं जो साहित्य और कला की कृतियों को एक विशेष प्रकार के मान दण्ड से नापने लगे हैं। मैं उनके अध्यवसाय, परिश्रम, अध्ययन और विशिष्ट सिद्धान्त प्रेम का आदर करता हूँ। पर मैं यह निवेदन अवश्य करना चाहता हूँ कि वे अपने मस्तिष्क को अचलायतन न बना लें, विचारों को मुक्त वातावरण में पलने दें और अपने को निगड-बद्ध न कर लें। यह बात हमें समझ लेनी है कि मानव मानव है—वह केवल सामन्तवाद, पूँजीवाद, वर्गवाद, भौतिकवाद आदि का मुरब्बा-मात्र नहीं है।"

—'अपलक' की भूमिका से

"मेरे एक सम्मान्य मित्र ने अपने हृदय की करुणा और दया की भावना मेरे प्रति व्यक्त करते हुए एक बार कहा था कि प्रगतिशील 'नवीन' तो मर गए, अब बच रहे हैं केवल दार्शनिक नवीन। प्रगतिशील 'नवीन' सम्भव है, या तो मर चुके हैं, या कदाचित वे कभी, उनके अर्थ में, प्रगतिशील रहे ही न हों। हमारी भाषा में इस 'प्रगतिशील' या 'प्रगतिवादी' शब्द की इतनी छीनाथी टीकायें हुई हैं कि वास्तविक रूप से इस शब्द के अर्थ का समझना भी दूभर हो गया है। कभी कोई प्रगतिशील हो जाता है कभी वही परम्परावादी, प्रतिगति युक्त और प्रतिक्रिया विरत बन जाता है।"

६—"इस मानव की मुक्ति का सन्देश देना और इसे—अर्थात अपने को भी—बन्धन-पाश से छुड़ाने का सतत प्रयत्न करते जाना, यही भारतीय साहित्य का चरम, अन्तिम, परम उद्देश्य है। भारतीय साहित्य में यह अन्तर्हित विचारधारा—यह प्रयत्न शीलता—आपको निरन्तर बहती हुई मिलेगी। अपने को, स्वयं को—अपने मानव को—सुसंस्कृत करने का प्रयत्न ही भारतीय-साहित्य का—हिन्दी साहित्य का ध्येय रहा है, और है।"

—'क्वासि' की भूमिका से

७—"अपनी कृतियों को आलोचक की दृष्टि से देख सकना सरल काम नहीं है। इसलिए मैं यह कैसे कहूँ कि मेरा गीत शाश्वत-रूपेण मूल्यवान है? वर्तमान समय में आलोचना के भी अनेक मान-दंड निर्मित हुये हैं। मेरे निकट सत् साहित्य का एक ही मान-दंड है। वह यह कि किस सीमा तक कोई साहित्यिक कृति मानव को उच्चतर, सुन्दरतर, अधिक परिष्कृत एवं समर्थ बनाती है। वही साहित्य सत है, वही साहित्य कल्याणकारी एवं सुन्दर है जो मानव को स्नेहमय, श्रद्धाभरित, विचारवान, तथा चिन्तनशील बनाता है। वही साहित्य सत है जो मानव में निश्छल एवं निस्वार्थ कर्म रति जाग्रत करता है। वही साहित्य सत है जो मानव को सर्वभूत-हित की ओर प्रवृत्त करता है। वही साहित्य सत् है जो मानवीय संकुचित वृत्तियों को अति कर्षित करने तथा मानव 'स्व' को विस्तृत करने में मानव का सहायक होता है। यह भी संभव है कि मैं इस कोटि के सत साहित्य का सृजन नहीं कर सका हूँ। यह भी संभव है कि मेरे गीतों तथा मेरी कविताओं में वासना की गन्ध मिले। पर, मैं इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मेरी कृतियों की 'अनित्य द्रव्यता' के पीछे 'नित्यता' की छाया रही है।"

—'रश्मिरेखा' की भूमिका से

* * *

श्रीमती महादेवी वर्मा

१—अपने सम्बन्ध में क्या कहूँ!

"एक व्यापक विकृति के समय, निर्जीव संस्कारों के बोझ से जड़ीभूत वर्ग में मुझे जन्म मिला है। परन्तु एक ओर साधनापूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी

और सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर और आस्तिकता एक सक्रिय पर किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्वभूमि पर, माँ से पूजा आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के सङ्गीत पर मुग्ध होकर मैंने ब्रजभाषा में पद-रचना आरम्भ की थी। मेरे प्रथम हिन्दी-गुरु भी ब्रजभाषा के समर्थक निकले, अतः उलटी-सीधी पद रचना छोड़कर मैंने समस्या-पूर्त्तियों में मन लगाया। बचपन में जब पहले पहले खड़ी-बोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं द्वारा हुआ तब उसमें बोलने की भाषा में ही लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे अतः छिपा-छिपा कर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न आरम्भ किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छन्दों में वर्णन कर मैंने मानो खण्डकाव्य लिखने की इच्छा भी पूर्ण कर ली। बचपन की वह विचित्र कृति कदाचित खो गई है। उसके उपरान्त ही बाह्य जीवन के दुखों की ओर मेरा विशेष ध्यान जाने लगा था। पड़ोस की एक विधवा वधू के जीवन से प्रभावित होकर मैंने 'अबला', 'विधवा' आदि शीर्षकों से उस जीवन के जो शब्द चित्र दिए थे वे उस समय की पत्रिकाओं में भी स्थान पा सके। पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रङ्गों को छोड़ कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आई तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृङ्गारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारत माता' 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरा कविता-शैशव भी समाप्त हो गया।''

६—''भौतिकता के कठोर धरातल पर, तर्क से निष्करुण और हिंसा से जर्जर जीवन में देखकर स्वयं कभी-कभी मेरा व्यथित मन भी अपनी करुण भावना से पूछना चाहता है, 'अयि मय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री'।''

''—परन्तु मेरे हृदय के कोने कोने में सजग विश्वास जानता है कि जिस विद्युत के भार से कठोर पृथ्वी फट जाती है उसीको बादल की सजलता अपने प्राणों का आलोक बनाये घूमती है। अग्नि को बुझाने के लिए हमें, उसके विरोधी उपादानों में ही शक्तिशाली जल की आवश्यकता होगी, अङ्गारों के पर्वत और लपटों के रेले की नहीं।''

७—''साहित्य मेरे सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं यह स्वीकार करने में मुझे लज्जा नहीं। ...... मेरी कविता यथार्थ की चित्रकर्त्री न हो कर स्थूलतर सृजन की भावुक है अतः उसके उपयोग के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा सुना जा चुका है।'' —'आधुनिक कवि' की भूमिका से

* * *

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

१—''आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ। तब मैं छोटा सा चञ्चल भावुक किशोर था। मेरा काव्य कण्ठ अभी तक फूटा नहीं था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि जीवन के लिये मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी स्वप्नों से भरी हुई, चुप्पी अङ्कित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बस उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने ही गहरे हल्के रङ्गों के और कोयलों में मर्मर ध्वनि मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रङ्गीन सुगन्धित तहें जमा चुका था।''

''मैं बचपन से जरा भीरु और शरमीला था। उधर हिम प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर में मुझे 'मेघदूत', 'शकुन्तला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था जो मेरे मन में भरे हुये अवाक् सौन्दर्य को जैसे वाणी की झंकारों में झनझना उठने के लिए अज्ञात रूप से प्रेरणा देता था। मेरे बड़े भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खड़ी बोली में,

और पहाड़ी में भी, प्रायः कविता लिखते थे। मेरे मन में तभी से लिखने की ओर आकर्षण हो गया, और मेरे प्रारम्भिक प्रयास भी शुरू हो गये थे जिन्हें मुझे किसी को दिखाने का साहस नहीं होता था।

२—"मैं यह विद्या विनम्र होकर नहीं लिख रहा हूँ, कि मुझे अपनी किसी कृति से सन्तोष नहीं है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी भीतरी परिस्थितियों के बीच का असामञ्जस्य है। मैंने परिस्थितियों की चेतना के सत्य को कभी अस्वीकार नहीं किया है, जैसा कि मेरी रचनाओं से प्रकट है। 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' मेरी अस्वस्थता के बाद की रचनायें हैं, जिनमें मेरी 'ज्योत्स्ना' काल की चेतना संभवतः अधिक प्रस्फुटित रूप में निखर आई है। 'ग्राम्या' सन् ४० में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद का काल विशेषकर सन् ४२ के आन्दोलन का समय, जब कि द्वितीय विश्व युद्ध का चक्र चल रहा था, मेरी मनः स्थिति के लिए अत्यन्त ऊहापोह का युग था।

३—"हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्ग-युद्ध की भावनाओं से सम्बद्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं, उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति धारायें प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार जागरणवादी तथा युगमचेतना से पीड़ित दिखाई देती हैं। ये आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त-क्रान्ति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमायें मानता हूँ, जिस की ओर मैं 'आधुनिक कवि' की भूमिका में इङ्गित कर चुका हूँ। अपने प्रगतिशील सहयोगियों की इधर की आलोचनाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे मेरी रचनाओं से अधिक मेरे समर्थकों की विवेचनाओं तथा व्याख्याओं से क्षुब्ध हैं और उनके लिखने के ढङ्ग से स्पष्ट हो जाता है कि वे अभी व्यक्तिगत आक्षेप, तुलनात्मक स्पर्धा तथा साहित्यिक विद्वेष से मुक्त नहीं हो सके हैं जो अवश्य ही चिन्त्य तथा अवांछनीय है।"

५—"प्रसादजी की 'कामायनी' छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है। उनका 'आँसू' छायावादी युग की एक निर्बल सृष्टि। कामायनी में पूर्वी पश्चिमी विचार दर्शन का उनके युग का समन्वय है। इसमें इड़ा (तर्कबुद्धि) पश्चिम के रीजन या रैशनलिज्म की प्रतीक है, श्रद्धा भारतीय अभीप्सा-जनित भावना की। मनु मानव मन का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, कामनिर्वेद आदि प्रवृत्तियों का विकास जैवी विकासवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक विकासवाद के काव्यात्मक प्रयोग का निदर्शन है। इड़ा श्रद्धा का संघर्ष, श्रद्धा की विजय, भक्ति कर्म ज्ञान का समन्वय, अन्त में समरस आनन्द की व्यापक स्थिति, सब अत्यन्त सत्य, सफल और सुन्दर है। प्राचीन पौराणिक कथानक में विकासवाद की सक्रिय चेतना तथा शैवदर्शन की आत्मा प्रतिष्ठित कर उन्होंने युग के अनुरूप अद्भुत काव्य सृष्टि की है।"

"कामायनी हिमालय सी दुर्लंघ्य न हो पर श्रद्धा और मन की समरस तन्मयता की पावन समाधि ताजमहल सी आश्चर्यजनक अवश्य है। यह अपने युग की सर्वाङ्गपूर्ण कृति न हो पर सर्वश्रेष्ठ कृति निश्चयपूर्वक कही जा सकती है।"

६—इस राजनीति तथा अर्थशास्त्र के युग में मुझे एक स्वस्थ सांस्कृतिक जागरण की आवश्यकता और भी अधिक दिखाई देती है।.......

७—मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रांति का पक्षपाती हूँ, जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग-शिखर पर खड़े हैं, जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी का सौन्दर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व सङ्घर्ष युग में सांस्कृतिक सन्तुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत चैतन्य मानव का कर्त्तव्य समझता हूँ, और यदि वह सम्भव न हो सका तो क्रांति का परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य तो भूकम्प, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है—
"कौन रोक सकता उद्वेग भयङ्कर, तत्वों की परवशता, मिटते कटमर!"

—'गद्य-पथ' से सङ्कलित

साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण

पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री हिन्दी-जगत के अप्रतिद्वन्द्वी और विजयी महारथी हैं। काव्य, काव्य-विवेचन, हिन्दी-परिष्कार, भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण में आपने एक से एक बढ़कर उद्भावनायें की हैं और हिन्दी-व्याकरण के तो आप निर्विवाद 'पाणिनि' मान लिये गए हैं।

साहित्य में इतने गहरे पैठकर विविध रत्न खोज लाने वाले वाजपेयी जी देश की राजनैतिक तथा सामाजिक विशेष हलचलों से भी दूर नहीं रहे हैं। यहाँ भी आपने समय-समय पर अपनी जान जोखिम में डालकर भी वे काम किये हैं, जो दूसरों के बस के नहीं।

वाजपेयीजी अपने सिद्धान्त पर अडिग जमे रहने वाले व्यक्ति हैं। इसीलिए आपको अपने साहित्यिक जीवन में लोहे के चने चबाने पड़े हैं। अपने साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण लिखकर आपने अनेक रहस्यों को प्रकट किया है। पुस्तक का मूल्य २) मात्र है।

वाजपेयी जी की कुछ अन्य रचनायें

१—ब्रजभाषा का व्याकरण—अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। पृष्ठ संख्या तीन सौ। मूल्य ३)

२—राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण—विद्वानों के लिए अपूर्व चीज है। उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत। मू० ४)

३—हिन्दी-निरुक्त—भाषा विज्ञान का मौलिक ग्रन्थ। उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत। मूल्य २।)

४—साहित्य-निर्माण—उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत। साहित्य के सभी क्षेत्रों का पथ-प्रदर्शक। मू० २)

५—अच्छी हिन्दी का नमूना—बाबू रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिन्दी' का परिष्कार। मूल्य २॥)।

६—अच्छी हिन्दी—वाजपेयी जी की अपने विषय में सर्वश्रेष्ठ रचना। मूल्य २॥)

७—राष्ट्रभाषा का इतिहास—अपने विषय का एकमात्र ग्रन्थ। मूल्य ३)

८—काव्य में रहस्यवाद—मूल्य ।=)

मँगाने का पता—हिमालय एजेन्सी, कनखल (उत्तर प्रदेश)

गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-वृत्त पर लिखा हुआ

एक उत्कृष्ट महाकाव्य

श्री 'करील' जी लिखित

'देवार्चन' मूल्य ५)

जिसको हाल ही में उत्तर-प्रदेशीय सरकार द्वारा ५००) का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

इसके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत

राष्ट्रभाषा के महारथी और 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादक श्री गुलाबराय एम० ए०

"इसमें तुलसीदासजी के पारिवारिक जीवन की बड़ी सरस झाँकी दी गई है। रत्नावली में सौन्दर्य और सरसता के साथ भक्ति का अन्तःस्रोत बहता हुआ दिखाई देता है।"

हिन्दी के मर्मज्ञ समीक्षक और विद्वान् डा० सुधीन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

"'देवार्चन' में एक सहृदय पाठक को तो रस मिलेगी ही बुद्धिवादी को भी उसमें नवयुग की समस्याओं का आलेखन मिलेगा। भाव, भाषा, छन्द आदि सभी दृष्टियों से 'देवार्चन' एक अभिनन्दनीय कृति है।"

मिलने का पता—

साहित्य-रत्न-भण्डार, ४ गांधी मार्ग, आगरा।

❀ हमारे कुछ साहित्यिक प्रकाशन ❀

१—अंग्रेजी साहित्य परिचय—लेखक पंडित दयाशङ्कर शर्मा एम० ए० तथा प० कृपाशङ्कर शर्मा एम० ए०। आंग्ल भाषा का संक्षिप्त इतिहास लेखकों की आलोचना के साथ रोचक भाषा में दिया है। पृष्ठ संख्या लगभग ३००, मूल्य ३)

२—मराठी साहित्य परिचय—लेखक प्रो० गोडबोले एम० ए०। मराठी साहित्य लेखकों की आलोचना व उनका हिन्दी पर क्या प्रभाव पड़ा है, लेखक ने यह सरलता से समझाया है। पृष्ठ संख्या २५०, मूल्य ३)

३—उर्दू साहित्य परिचय—ले० पं० हरिशङ्कर शर्मा। विद्वान लेखक ने इसमें उर्दू लेखकों का परिचय उनकी हिन्दी-सेवा आदि के साथ-साथ उनकी श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह भी दिया है। पृष्ठ लगभग ५००, सजिल्द मूल्य ६)

४—अभिनव हिन्दी कोष—सम्पादक पं० हरिशङ्कर शर्मा। साहित्य में प्रचलित शब्दों के अर्थ के साथ-साथ पुस्तक के अन्त में संविधान शब्दावली भी दी गई है। पृष्ठ लगभग ६००, आकार डबल क्राउन, मूल्य ८)

५—उर्दू हिन्दी कोष—सम्पादक कविरत्न पं० हरिशङ्कर शर्मा। उर्दू साहित्य के प्रचलित शब्दों (जिनका उपयोग नित्य ही होता है) का अभूतपूर्व संग्रह। विद्यार्थियों एवं वर्ग पहेली भरने वालों के हेतु अद्भुत वस्तु। पृष्ठ संख्या ६१०, आकार क्राउन, मूल्य ६)

६—शङ्कर सर्वस्व—सम्पादक श्री हरिशङ्कर शर्मा कविरत्न। महाकवि स्वर्गीय श्री नाथूराम शङ्कर शर्मा की कविताओं का संग्रह। आकार डिमाई। पृष्ठ संख्या लगभग ५५०, मूल्य १२)

७—आधुनिक कविता की भाषा—लेखक न्यायमूर्ति श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी। आधुनिक हिन्दी के प्रमुख कवियों की काव्य-कृतियों के आधार पर भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट आलोचनात्मक ग्रन्थ। पृष्ठ संख्या ५४०, सजिल्द, मूल्य ६)

८—हिन्दी साहित्य का इतिहास—लेखक प्रेमनारायण टण्डन। हिन्दी साहित्य का इतिहास संक्षिप्त में रोचक शैली में वर्णन किया गया है। पृष्ठ [illegible] मूल्य २)

९—भारत की नदियाँ—लेखक वृजरत्नदास बी० ए०, एल० एल० बी०। भारत की सभी प्रमुख नदियों का खोजपूर्ण वर्णन। पृष्ठ संख्या मूल्य २)

१०—हिन्दी साहित्य में निबन्ध—लेखक श्री ब्रह्मदत्त शर्मा एम० ए०। अपने विषय की अति उत्तम पुस्तक। पृष्ठ संख्या मूल्य २॥)

११—व्रतोत्सव मञ्जरी—लेखक श्री वृजरत्नदास बी० ए०, एल०-एल० बी०। हिन्दू समाज में होने वाले प्रमुख व्रतों एवम् उत्सवों का पूर्ण धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक रूप से वर्णन। पृष्ठ संख्या मूल्य २॥)

१२—हमारे गद्य-निर्माता—ले० प्रेमनारायण टण्डन, एम० ए०। हिन्दी साहित्य के प्रमुख गद्य-लेखकों और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय। मूल्य २)

१३—हिन्दी के प्रतिनिधि कवि—ले० प्रेमनारायण टण्डन, एम० ए०। हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवि एवम् उनकी काव्य-कृतियों का उच्चतम शैली में वर्णन। मूल्य ४)

१४—दो नाटक—ले० सेठ गोविन्ददास। लेखक के दो नाटक 'दलित कुसुम' और 'पतित सुमन' का संग्रह। मूल्य २॥)

१५—दुख क्यों?—ले० सेठ गोविन्ददास। मू० २॥)

१६—आत्म-निर्माण—ले० गुलाबराय एम० ए०। चरित्र निर्माण पर लेखक की अद्वितीय पुस्तक। मूल्य १॥)

१७—गान्धीय मार्ग—ले० गुलाबराय एम० ए०। गान्धी दर्शन पर लिखे गये लेखों का संग्रह। सर्वोदय पर एकदम नवीन व्याख्या। मूल्य २)

१८—स्वप्न और सत्य—ले० भगवन्तशरण जौहरी एम० ए०। लेखक के द्वारा लिखी गई कविताओं का नवीन संग्रह। मूल्य ३)

१९—तारों के गीत—ले० महेन्द्र भटनागर। कवि द्वारा तारों पर लिखी गई प्रेरणात्मक कविताओं का संग्रह। मूल्य १)

गयाप्रसाद एण्ड संस, पुस्तक प्रकाशक व विक्रेता

आगरा ❀ कानपुर ❀ जयपुर ❀ ग्वालियर

हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए—

अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण पुस्तकें

इस सूची की पुस्तकों के आर्डर के साथ २) अग्रिम आना आवश्यक है। २५) की पुस्तकें एक साथ लेने पर १२½% कमीशन दिया जाएगा।

कोष

हिन्दी मुहावरा कोष—भोलानाथ तिवारी— ७॥)
वृहत् पर्यायवाची कोष—भोलानाथ तिवारी······ ७॥)
संक्षिप्त हिन्दी कोष—भोलानाथ तिवारी······· ३)

संदर्भ ग्रंथ

हिन्दी साहित्य की अंतर्कथाएँ—भो० नाथ तिवारी २॥)

निबन्ध

सङ्गम और सङ्घर्ष—रांगेय राघव······· २॥)
प्रगति और परम्परा—डॉ० रामविलास शर्मा २।)
संस्कृति और साहित्य—डॉ० रामविलास शर्मा······· ३॥)
साहित्य निबंधावली—राहुल······· ३॥)
निबंध प्रबोध—रामरतन भटनागर (प्रथमा) २।)
प्रबंध पूर्णिमा ,, ,, (मध्यमा, उत्तमा) ३)
निबंध प्रदीप—रामयतनसिंह (प्रथमा) ३)
मीमांसिका—शिवनाथ······· २॥)

काव्य-शास्त्र

भाषा-भारती—डॉ० त्रिलोकीनाथ······· २॥)

आलोचना, साहित्यिक इतिहास और संग्रह ग्रंथ

हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह-परशुराम चतुर्वेदी ३॥)
सन्त काव्य— ,, ६)
मानस में रामकथा— ,, ३॥)
सुन्दर दर्शन—डॉ० त्रिलोकीनाथ······· ५)
महाकवि देव—भोलानाथ तिवारी······· २॥)
हिन्दी-साहित्य की जनवादी परम्परा-प्रकाशचन्द्र गुप्त २॥)
हमारे कवि—मानव······· १)
हिन्दी काव्य-धारा—राहुल······· ८)
सुमित्रानन्दन पन्त—मानव······· ५)
कामायनी की टीका—,, ५)
पन्त की काव्य-चेतना में गुञ्जन—वासुदेवनन्दन ३)
आधुनिक गीतिकाव्य—सच्चिदानन्द······· २॥)
हिन्दी नाटकों का विकास—शिवनाथ······· २॥)
महादेवी—मानव······· २॥)
हिन्दी भक्ति-काव्य—डॉ० भटनागर १॥)
हिन्दी गद्य— ,, १॥)
हिन्दी कविता— ,, १॥)
साहित्य समीक्षा— ,, १॥)
कामायनी ,, १॥
छायावाद ,, १॥
रहस्यवाद ,, १॥)
विद्यापति ,, १॥)
जायसी ,, १॥)
तुलसीदास ,, १॥)
सूरदास ,, १॥)
नन्ददास ,, १॥)
केशवदास ,, १॥)
बिहारी ,, १॥)
भारतेन्दु हरिश्चन्द ,, १॥)
मैथिलीशरण गुप्त ,, १॥)
कवि निराला ,, १॥)
प्रेमचन्द ,, १॥)
कवि प्रसाद ,, २)
हिन्दी साहित्य ,,
रामचन्द्रिका—पुरुषोत्तमदास······· २॥)
ध्रुवस्वामिनी—सिद्धनाथ······· १॥)
गुप्तजी की कृतियाँ—श्यामनन्दनप्रसाद······· १॥)
चन्द्रगुप्त—फूलचन्द पाण्डेय······· १॥)
एकांकी कला—रामयतनसिंह······· २॥)

भाषा-विज्ञान

भाषा-विज्ञान—भोलानाथ तिवारी······· ५)

किताब महल (डिपो ५) ज़ीरो रोड, इलाहाबाद।

हमारे महत्वपूर्ण उपयोगी प्रकाशन

शचीरानी गुर्टू
सुमित्रानन्दन पन्त ६)
महादेवी वर्मा ६)

नन्ददुलारे वाजपेयी
महाकवि सूरदास ४)

गुलाबराय
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ६)
काव्य के रूप ४।।।)
सिद्धान्त और अध्ययन ६)
हिन्दी-काव्य-विमर्श ३।।)
साहित्य समीक्षा १।।।)
मन की बात २।।)

डा० सुधीन्द्र
हिन्दी कविता में युगान्तर ८)

देवराज उपाध्याय
रोमांटिक साहित्य-शास्त्र ३।।।)

कन्हैयालाल सहल
समीक्षायण ३)
वाद-समीक्षा ।।।)
दृष्टिकोण १।।)
कामायनी-दर्शन ४)

क्षेमचन्द्र सुमन
साहित्य-विवेचन ७)
जीवन-स्मृतियाँ ६)
हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति ३)

डा० राजेन्द्रप्रसाद
साहित्य-शिक्षा और संस्कृति ५)
भारतीय-शिक्षा २)

रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख
कला और सौन्दर्य ३।।।)

जयनाथ नलिन
हिन्दी के नाटककार ५)
हिन्दी के निबन्धकार ६)

मोहनलाल जिज्ञासु
कहानी और कहानीकार ३)

विजयेन्द्र स्नातक
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ६)
हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति ३)
कामायनी-दर्शन ४)

हंसराज रहबर
प्रेमचन्द ६।।)

कृष्णचन्द्र शर्मा

देवीशरण रस्तोगी
भाषा-विज्ञान-दर्शन १।।)
तुलनात्मक अध्ययन ३)

मन्मथनाथ गुप्त
प्रगतिवाद की रूपरेखा ७)

अशोककुमार सिंह
उद्धवशतक-परिशीलन १।।)

यज्ञदत्त शर्मा
प्रबन्ध-सागर ५।।)
आदर्श पत्र-लेखन ७।।)
कबीर साहित्य और सिद्धान्त २।।)

डा० सावित्रीदेवी सिन्हा
मध्यकालीन हिन्दी कवियित्रियाँ ८)

सुरेशचन्द्र गुप्त
प्राचीन कवियों की काव्य-भावना १।।)
आधुनिक कवियों की काव्य-भावना १।।)

ललिताप्रसाद शुक्ल
साहित्य-जिज्ञासा ३)

प्रभाकर माचवे
सन्तुलन ४)

पद्मसिंह शर्मा कमलेश
मैं इनसे मिला (भाग १) २।।)
मैं इनसे मिला (भाग २) ३।।)

गोपालप्रसाद व्यास
मैंने कहा ३)

रांगेय राघव
प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास १२)

रामनरेश त्रिपाठी
हिन्दी मुहावरे १)
ग्राम साहित्य (भाग १) ४)
ग्राम-साहित्य (भाग ३) ६)

हरिदत्त वेदालंकार
भारत का सांस्कृतिक इतिहास ६)
भारत की सांस्कृतिक दिग्विजय १)
भारत का सांस्कृतिक इतिहास (प्रश्नोत्तरी १।।)

भगवतदत्त
भारतवर्ष का बृहद इतिहास १६)

देवेशचन्द्र दास
यूरोपा ३)
रजवाड़ा ५)

गुरुमुख निहालसिंह
भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास १०)

रामस्वरूप वशिष्ठ
भूगोल के भौतिक आधार ६)

नरहरि विष्णु गाडगिल
सभा शास्त्र ६)

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह
रूसी क्रान्ति के अग्रदूत ४)

जी० एस० पथिक
अगले पाँच साल ५)

भगवत स्वरूप मिश्र
हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास १२)

एम० पी० कर्नल
बालक का भाव-विकास ५)

सावित्रीदेवी वर्मा
आपका मुन्ना (पहला भाग) ३।।)
आपका मुन्ना (दूसरा भाग) ५)
आपका मुन्ना (तीसरा भाग) ५)

आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, देहली।

आलोचनात्मक पत्रों में

सर्वश्रेष्ठ

साहित्य-सन्देश आगरा के १४ वें वर्ष

जुलाई ५२ से जून ५३ तक की पूरा फाइल

जिसमें

कहानी विशेषांक भी सम्मिलित है

इस फाइल में आलोचनात्मक ११४ निबन्ध हैं, जो प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, विदुषी, सरस्वती, रत्न, भूषण, प्रभाकर, प्रवेशिका, भूषण, साहित्यालङ्कार, विद्यालङ्कार, इएटर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि के परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी हैं। इसमें सभी लेख हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं।

इसके अतिरिक्त—

आपको विभिन्न सम्पादकीय विचारधारायें, पुस्तकों की आलोचना तथा पूरे वर्ष में नवीन प्रकाशित पुस्तकों की सूची भी इसमें मिलेगी, जिससे आपको विविध ज्ञान प्राप्त होगा।

फाइल के सम्बन्ध में—

हम इतना और निवेदन करदें कि इसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त ५०० पृष्ठ तो ठोस और उपादेय सामग्री के हैं जिनको यदि पुस्तकाकार में छपवाया जाय तो १००० पृष्ठ से अधिक मोटी पुस्तक हो जाये जिसका मूल्य औसत दर्जे १०) और ठाठ-बाट के साथ छापने पर १५—२०) हो जाता है। इस फाइल में मोटी वसली की जिल्द लगा कर उसके ऊपर कवर तथा विषय-सूची छाप कर उसका मूल्य लागत मात्र ५) रखा है। डाक-व्यय पृथक।

१३ वें वर्ष की फाइल भी उपलब्ध है पर इससे पहले की अब एक भी फाइल नहीं है, अतः उसका आर्डर भेजने का कष्ट न करें।

दोनों फाइलें रेल द्वारा भेजने से व्यय कम पड़ेगा, अतः अपने रेलवे स्टेशन का नाम लिखते हुए ५) पेशगी भी भेजने की कृपा करें।

विषय-सूची मुफ्त मँगायें

साहित्य-सन्देश कार्यालय, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

REGD. No. A 263 JANUARY-FEBRUARY 1954. LICENSE No. 16
Sahitya Sandesh, AGRA. Licensed to p st without Prepayment.

परीक्षार्थी प्रबोध भाग ४

प्रकाशित होगया

इस भाग में हमने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है कि एम० ए०, साहित्य-रत्न, प्रभाकर, साहित्यालङ्कार आदि उच्च श्रेणी के परीक्षार्थी इससे विशेष लाभ उठा सकें। अत: इसमें इन परीक्षाओं के सम्बन्ध के कुछ आवश्यकीय लेख जो अभी तक साहित्य-सन्देश अथवा अन्य किसी भी पुस्तक में नहीं छपे हैं, विद्वानों से लिखवा कर इसमें सम्मिलित किए गए हैं जिससे इस भाग में ठोस एवं पठनीय सामग्री हो गई है। यही कारण है कि इस खण्ड की सम्भावित सूची के निकालने पर पुस्तक छपने से पहले ही सैकड़ों आर्डर आ चुके थे और छप जाने पर तो इसकी बराबर मांग आ रही है। इस भाग में भी लगभग ३०० पृष्ठ हैं। कागज इसमें बढ़िया लगाया गया है जिससे पुराने तीनों भागों की अपेक्षा यह भाग दूना मोटा है। और मोटे कागज पर छपाई भी अच्छी हुई है—मूल्य ३) पोस्टेज पृथक्।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य में

चारों भाग एक साथ लेने पर पोस्टेज की रियायत जो ३१ दिसम्बर तक थी पर पुस्तक उस समय तक तैयार न हो सकी अतः यह मियाद ३१ मार्च ५४ तक बढ़ा दी गई है। अतः ३१ मार्च तक जो ग्राहक ६) का मनीआर्डर पहले भेज देंगे उन्हें पोस्टेज खर्चा न देना पड़ेगा और चारों भाग रजिस्ट्री से भेज दिए जायगे।

चारों भागों की विषय सूची मुफ्त मँगायें।

साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा।

साहित्य सन्देश

वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क ६

परिशिष्टांक

विषय-सूची

'साहित्य-सन्देश' के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।
३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।
६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।
७. साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : फरवरी १९५४

आलोचना

हिन्दी महाकाव्य एवं महाकाव्यकार—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए० २)
रीतिकालीन कविता एवं शृङ्गार रस का विवेचन—प्रो० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ६॥)
प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड—डा० रांगेय राघव ४)
महाकवि निराला : काव्य कला और कृतियाँ—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ३।)
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—सावित्री सिन्हा ८)
तामिल और उसका साहित्य—श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् २)
उर्दू और उसका साहित्य—गोपीनाथ अमन २)

कविता

मुकुल गीत—राजेन्द्र शर्मा २)

कहानी

कहानी से मनोरञ्जक सच्ची घटनायें—श्री शङ्कर १।)
प्यार के चार—कमल जोशी २॥)

ऐतिहासिक

भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय ६)
प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—डा० रांगेय १२)
राष्ट्रीय संस्कृति—सोने गुरुजी ३॥)

प्रौढ़ साहित्य

स्वास्थ्य रक्षा—सत्यपाल आयुर्वेदाचार्य ॥)
भारत के तीर्थ स्थान—सन्तराम विचित्र ॥)

राजनीति

विनोबा भूदान—सुरेश रामभाई ।=)

भाषा-विज्ञान

शब्दों का जीवन—भोलानाथ तिवारी २)

स्वास्थ्य

कब्ज—महावीरप्रसाद पोद्दार १॥)

मनोविज्ञान

आपका मुन्ना भाग ३—सावित्रीदेवी वर्मा ५)

निबन्ध

द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य—गङ्गाबख्शसिंह एम० ए० ३)

दर्शन

पातञ्जलि योग दर्शन—भगीरथ मिश्र एम० ए० ६)

स्फुट

पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ— ३०)

बाल साहित्य

पञ्च तन्त्र की कहानियाँ भाग ३— १)
शिवि और दधीचि— ।=)
शकुन्तला— ।=)
शिष्टाचार— ॥=)
ध्रुवोपाख्यान— ।)

स्त्रियोपयोगी

शिशु-पालन—राजगोपालाचार्य ॥)

अंग्रेजी काव्य की आधुनिकतम प्रवृत्तियाँ

प्रो० नागरमल सहल, एम० ए०

अँग्रेजी में वर्तमान काव्य का प्रारम्भ सन् १८६० से माना जा सकता है। १८९० से १९०० तक का दशक उद्धतकाल (Naughty Nineties) के नाम से अभिहित किया गया है। इन दस वर्षों में इतना काम हुआ जितना शताब्दियों में नहीं हुआ होगा। विक्टोरियन आदर्शों की जी भर कर खिल्ली उड़ाई गई। बड़े बूढ़े जिसको बुरा समझते थे जवान लोग केवल उसी का शान के साथ प्रदर्शन करने लगे। उद्दाम यौवन की अनियन्त्रित बाढ़ आ पड़ी—जवानी का नशा बहुरूपिया बन कर सवत्र बेरोक-टोक छा गया। युवतियाँ लन्दन शहर की सड़कों पर साइकिल चलाती दिखाई पड़ने लगीं। कला के नये आदर्श बनने लगे। कला कला के लिए अथवा जीवन कला के लिए—इस प्रकार की आवाजें बुलन्द हुईं। उनकी दृष्टि में कला जीवन का अनुकरण नहीं करती वरन् जीवन को कला से जीना सीखना चाहिए। कला के अभाव में जीवन पाषाण हो गया था। नैतिकता के आडम्बर में विडम्बना और पाखण्ड बन गया था। ऊर्जस्वित वक्रता, आत्यन्तिक कृत्रमता, धृष्ट अहंता, मदमात्री आत्मचेतना, अभूतपूर्व औत्सुक्य और बाँकी नागरिकता इन लेखकों की देखते ही बनती थी। ऑस्कर वाइल्ड, स्टीफन फिलिप्स, मैक्स Beerbohm, बीयर्डसले आदि अनेकानेक इस दशक के लेखक अवतरित हुए। फ्रान्स का अँग्रेजी लेखकों पर इस समय गहरा प्रभाव पड़ा। यौवन स्वर्ग बना—'There is nothing like youth. The middle-aged are mortgaged to life. The old are in life's lumber-room,' स्त्री मनुष्य की बन कर क्यों रहे। स्त्री ऐसी हो कि मनुष्य उसका क्रीत दास बन जाय। पातिव्रत का कोई अर्थ नहीं रहा। वाइल्ड के नाटकों में इस तरह के वाक्यों की छटा देखिए—'My husband is a sort of promissory note; I'm tired of meeting him' कर्त्तव्य की नई परिभाषा बनी जो आज भी व्यवहार-जगत् में सत्य है। 'Duty is what one expects from others; it is not what one does oneself.' कर्त्तव्य अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए होता है। स्त्री चित्र है; मनुष्य पहेली है। स्त्री को तो बस निहारते रहो, उसकी बात सुनो नहीं। स्त्री के विवाह को अगर दस पन्द्रह वर्ष हो गए तो वह स्त्री नहीं रह जाती, एक इमारत (Public Building) बन जाती है। पुराने आदर्शों का विकृततम रूप उपस्थित किया गया। इस बहाने समाज की आलोचना भी सुकर हुई। विक्टोरियन काव्यकार अपने को सर्वज्ञ समझते थे। वे कहते थे—इदमित्थम् (It is so) नवत्यन्तदशक वाले बोले—न इदमित्थम् (It is not so) तत्पश्चात् एडवर्डियन कवियों ने जैसे चकित हो कर कहा—किमिदम् (Is it so) वे अनिर्णीत अवस्था में ही रहे। पश्चाद्वर्ती जार्जियन कवियों का भी बहुत कुछ यही हाल रहा। 'देखें तो सही क्या है' 'परीक्ष्य प्रस्तुवान' (Let us find out) यह उनका आदर्श बना। काल परिवर्तन के फलस्वरूप कई चीजें बनी बिगड़ीं। आधुनिक काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है वैज्ञानिक अन्वेषणों का। काव्य भी इसलिए संश्लेषणात्मक न होकर विघटनशील होने लगा। हृदय मस्तिष्क सबका वैज्ञानिक विश्लेषण सा होने लगा। डार्विन, फ्रायड और मार्क्स की त्रिमूर्ति ब्रह्मा विष्णु-महेश के रूप में पूज्य हुई। आधुनिक काव्य सस्ती, थोथी भावुकता का परित्याग कर बौद्धिक, दार्शनिक, मनोविश्लेषणात्मक तथा साम्यवादी बन चुका है। पूँजीवाद और साम्यवाद का संघर्ष काव्य-वस्तु के रूप में सामने आया है। आज का युग विश्रान्ति का नहीं, गति का है। काव्य-स्वर में विद्रोह और जिज्ञासा भरी है। चेतन से कहीं अधिक अवचेतन और अचेतन मन को समझने के सतत प्रयत्न काव्य-जगत में प्रसरित

है। विक्टोरियन कवियों के समक्ष निश्चित पाठक-समुदाय था। आज का मानव इतना बिखर गया है कि कवि को पता नहीं वह किसके लिए लिख रहा है। इससे आधुनिक काव्य में प्रेषणीयता का गुण कम हो गया है तथा कविता अनिवार्यतः दुरूह हो चली है। काव्यार्थ को समझने के लिए पूरा व्यायाम करना पड़ता है। अर्थ हृदयङ्गम होने पर भी हृदय उद्वेलित नहीं होता है। कविता में भी आज बुद्धि ने जैसे अपना आधिपत्य जमा लिया है। आज के कवि किसी भ्रम में नहीं हैं; आशाओं की मृग-मरीचिका से वे बाहर निकल आये हैं; वे हाँ कम ना ही ज्यादा कहते हैं। विक्टोरियन कवि बहिर्जगत् के द्रष्टा थे तो आज के कवि अन्तर्जगत् के। आज के कवि पाठक की कम अपेक्षा रखते हैं इसलिए पाठक भी उनकी उपेक्षा करने लगे हैं। आदर्श प्रतिनिधि विक्टोरियन टेनीसन की कविता अत्यन्त सुघड़ एवं स्पष्ट होती थी। आज की कविता विशृङ्खलित एवं अत्यन्त अस्पष्ट होने लगी है। आज के कवि को अपनी दुरूहता का दर्प है। विक्टोरियन कवि सामाजिक थे, आज के कवि ऐकान्तिक, अहंवादी तथा समाज-निरपेक्ष प्रतीत होने लगे हैं। इससे कविता की व्यापकता एवं प्रभाव को बड़ी ठेस पहुँची है। बुद्धि के भार से कविता के सुकुमार तन्तु मुश्किल से अपना ताना-बाना बटोर पाते हैं।

इस लेख में हमें आधुनिकतम काव्य की ही चर्चा करनी है इसलिए टी० एस० ईलियट से प्रारम्भ कर हम द्वितीय महायुद्धोत्तर काल के कवियों तक की चर्चा यहाँ करेंगे। वर्तमान कविता के सहज प्रतिनिधि ईलियट हैं जो, कवि ही नहीं, नूतन ढङ्ग के आलोचक भी हैं। उनकी दृष्टि में कविता का प्रभाव वर्तमान तथा भविष्यत् काल में ही नहीं पड़ता, भूतकाल भी आज की कविता से प्रभावित होता है, क्योंकि काव्य का यह एक सतत अविच्छिन्न सूत्र या स्रोत है। इसके ओर छोर चाहे दीखें नहीं, विद्यमान तो हैं ही 'The conscious present is an awareness of the past'. अमेरिकन एजरा-पाउण्ड का ईलियट पर प्रभाव स्पष्ट है। कविता की शैली, कविता के उपादान उनकी दृष्टि में सब जीर्ण-शीर्ण हो चले। कवि को आत्म-चेतना से काम लेना चाहिए, घिसी-घिसाई उपमाओं से नहीं। इसीलिए वे सन्ध्या का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

When the evening is spread out
against the sky
Like a patient etherised
upon a table.

सन्ध्या ऐसे फैल रही है जैसे डाक्टर की मेज पर कोई मरीज जिसको ईथर सुँघा कर बेहोश कर दिया गया है। कवि की भावनाओं से ओत-प्रोत ईलियट मुख्यतः विचारक है। आज का विश्व उन्हें अत्यन्त चलित और विचलित दिखाई पड़ता है—

You are not the same people who
left that station
Or who will arrive at any terminus
While the narrowing rails slide
together behind you.

भूत की भाषा में वर्तमान व्यक्त नहीं हो सकता तथा, वर्तमान की साज-सज्जा भविष्य के लिए उपयुक्त नहीं रह सकती—

For last year's words
belong to last year's language,
And next year's words
await another voice.

ईलियट को केवल प्रतीक्षा है पर बिना आशा के। आज का विश्व आशावर्द्धक नहीं, निराशाजनक ही है फिर भी मानव को अन्धकार चीरते हुये चले चलना है—

"I said to my soul, be still,
and wait without hope,
For hope would be hope for the
wrong thing, wait without love,
For love would be the love of the
wrong thing, there is yet faith,
But the faith and the love and the
hope are all in the waiting-

आज न आशा का, न विश्वास का, न प्रेम का कोई आधार है। आधार है तो एकमात्र अनन्त प्रतीक्षा का। सारे जीवन भर घूमते-घामते हम पहुँचते वहीं हैं जहाँ से चले थे 'Arrive where we started' जिन्दा रहने के लिए बस यही एक बहाना है कि इससे मरने का अवसर मिलता है। ईलियट की भाषा में नया ओज और प्रवाह है। ईलियट में शब्द कम, विचार अधिक; छन्द नये, लचकीले; विचार प्रौढ़ और वयस्क तथा वह कल्पना है जिसको वर्तमान जीवन की गम्भीरता का पूरा भान है। आधुनिकतम कवियों में मुख्य हैं आडेन, विलियम एम्प्सन, स्टीफन स्पेंडर, एडिथ सिटवेल, एडविन म्यूयिर, रुथ पिटर, क्रिस्टोफर फ्राइ आदि जिनमें से सभी ईलियट से प्रभावित हुये हैं। पर उन पर प्रभाव ईलियट के अलावा दूसरों का भी पड़ा है। इन कवियों ने पाउण्ड, लारेंस, जायस, यीट्स, विलफ्रिड, ओवेन आदि अन्य लेखकों का भी पूरा अध्ययन किया है। सत्रहवीं शताब्दी के अध्यात्मवादी जॉनडन तथा ब्लेक का भी इन पर प्रभाव है। ईलियट ने सफलतापूर्वक प्रथम वार कविता को आज का बाना पहनाया। विचार जो कभी एक साथ संयुक्त नहीं दिखाई पड़े, ईलियट की कविता में आकर्षक रूप में व्यक्त हुये। ईलियट के अनुयायी कवि वर्तमान समाज से ईलियट से कहीं अधिक क्षुब्ध हैं। ईलियट को शरण मिली धर्म में, पर इनको आश्रय मिला साम्यवाद (Communism) में। Michael Roberts (१९०२-१९४८) ने 1930 के कवियों को एकत्रित करने में योग दिया। Cecil Day Lewis का जन्म हुआ १९०४ में; एम्प्सन का ५ में, John Lehmann का ७ में, Louis Mac Neice का भी ७ में, W. H. Auden का भी ७ में तथा स्टीफन स्पेंडर का १९०९ में एवं चार्ल्स मैज का १२ में, जार्ज बार्कर का १३ में तथा Dylan Thomas का १९१४ में। ये सब मध्यवर्ग के बौद्धिक परिवार के हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा आक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज में हुई। धन के कारण कोई बड़ा नहीं है; पुराने नैतिक मान आज लागू नहीं हो सकते इत्यादि इनकी मान्यतायें हैं। युद्ध तथा युद्ध के अनिवार्य परिणामों से उनको विरक्ति हुई। जो साहित्य ऐसी स्थिति को सहन करता है अथवा वास्तविक स्थिति से संत्रस्त हो भूत या भावुकता की क्रोड़ में जा बैठता है, जो जीर्ण विचार और शीर्ण शैली को प्रश्रय देता है ऐसा साहित्य इनकी दृष्टि में हेय है। इन कवियों की शैली तथा विचार धारा बहुत कुछ समान है जिससे ये आपस में एक दूसरे की कविता तो आसानी से समझ सकते हैं पर इनसे अपरिचित पाठकों के लिए कई जगह इनका काव्य पहेली ही बना रहता है। वर्तमान जगत की विभीषिकाओं को इन्होंने आँख खोल कर देखा है तथा शब्द-माध्यम से उनका नग्न-चित्र उपस्थित किया है। स्पेंडर की ये पंक्तियाँ देखिए—

There is
A net work of railways, money
words, words, words.
Meals, Papers, exchanges, debates,
Cinema, wireless; the worst is
marriage.
We cannot sleep.

इतने जाल बिछे हुए हैं जिनमें सबसे बुरा जाल है विवाह का। Mac Neice को अच्छी दीखने वाली वस्तुओं के भी दुष्परिणाम दीखते हैं।

'The good things wich in the end turn to poison and pus' पर्ड्स तथा Day Lewis ने मार्क्स का गहरा अध्ययन किया है। गरीबों पर दया दिखाने मात्र से अब देश का निस्तार नहीं। मार्क्सवाद को उन्होंने रूसी न रखकर कुछ अंग्रेजियत देनी शुरू की। 'Buttercup lyricism' का अर्थ है कवियों का अधःपतन। सफेद कॉलर वालों का नवीन अर्थ काव्य में अनावश्यक चर्वित-चर्वण मात्र है। साम्यवाद का इन्होंने अर्थ लिया—व्यक्तित्व और चेतना का विस्तार, व्यक्तित्व का निर्दय दमन नहीं। वर्तमान स्थिति से इन सबका घोर विद्रोह है 'They are up against the whole brute force of things-as-they-are' धार्मिक भावना को लेकर जैसे

रोमन कैथोलिक चर्च की ओर उन्मुख होते हैं उससे भी अधिक भावना और विश्वास को लेकर विश्व को नया रूप देने के लिए साम्यवादी होना वे आवश्यक समझते हैं। आडेन इन सबको विश्वास दिलाते हैं कि संसार अब करवट लेने वाला है—

Those who in every country town
For centuries have done you brown,
But you shall see them tumble down
Both horse and rider.

चार्ल्स मैज इक्कीस वर्ष की अवस्था में कह उठे—

Lenin, would you were
living at this hour
England has need of you.........
'Milton, thou shouldst be living at
this hour.'

के अनुकरण पर लेनिनवाद के प्रति इसमें गहरी आस्था व्यञ्जित हुई है। ईलियट को समस्या का कोई समाधान नजर नहीं आया पर इन कवियों ने जैसे समझ लिया है कि विश्व की इस भयावह स्थिति से कहीं त्राण सम्भव है तो एकमात्र कम्यूनिज्म में। ईलियट तो निराश हो ऐंग्लो-कैथोलिक चर्च की शरण में चले गये पर समाज का उद्धार इन कवियों की दृष्टि में धर्म से कदापि संभव नहीं है। स्पेन के विद्रोह में वे जूझ पड़े। आडेन, मैकनीस और स्पेण्डर स्पेन पहुँचे। रैल्फ फॉक्स, गूलियन-बेल, क्रिस्टोफर काडवेल तथा जॉन कार्नफोर्ड अन्तर्राष्ट्रीय पलटन में लड़ते हुए वीरगति को भी प्राप्त हुए। ये कवि भी अब समझने लगे हैं कि साम्यवाद भी मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक व्यक्तियों की कोई स्थायी, सफल चिकित्सा नहीं है।

इन कवियों में Auden अत्यन्त प्रतिभाशाली हैं। विनोद में गाम्भीर्य और गाम्भीर्य में विनोद इनकी विशेषता है। मनुष्य को असफलताओं का दर्दभरा वर्णन उनकी लेखनी से हुआ है—

'Sing of human unsuccess
In a rapture of distress.'

बड़े होकर वे फिर युवक होने की अभिलाषा नहीं रखते।

I am very glad I shall never
Be twenty and have to go through
that-business again,
The hours of fuss and fury,
the conceit, the expense.

एम्प्सन की कविता अत्यन्त दुरूह है। एम्प्सन इन सबसे अधिक बौद्धिक हैं। स्पेण्डर की वैयक्तिक भावनाएँ उमड़ कर सामने आती हैं। उनका दया का भाव कई कविताओं में फूट पड़ता है। उपमायें सर्वथा नवीन हैं—

शान्त व्यक्ति का चद्दर पर हाथ ऐसे लगता है जैसे कोई चूहा हो! १९४९ में वेनिस में डेलेविस. आडेन और स्पेंडर त्रयी का मिलन हुआ जो अपने ढङ्ग के सर्वश्रेष्ठ कवियों में थे। दो कवयित्रियों का उल्लेख भी आवश्यक है। प्रथम हैं Lilian Bowes-Lyon जिनका प्रकृति से अगाध प्रेम है तथा द्वितीय हैं Kathleen Raine जिनकी कवितायें वर्णनात्मक, वैयक्तिक या धार्मिक पुट लिए हुये है। Dylan Thomas का रोमानी काव्य से प्रेम रहा।

इन सब कवियों का ब्यौरा दे सकना सम्भव नहीं। इन लोगों के पहले कविता बहुत हल्की चीज समझी जाने लगी थी। 'Personality in Literature' में Scott James लिखते हैं—

I have heard literary critics speak of romantic or highly imaginative novels, saying : It is all delicate fancy and imagination; it is not concerned with realities; it is sheer poetry' as if poetry were not concerned with realities! ....as if nonsense becomes less nonsensical by means of metre or rhyme!

इन कवियों ने काव्य का स्तर उठाया है। कविता अब केवल अस्पष्ट पर आकर्षक सी ध्वनि नहीं है, न है यह भावनाहीन थोथी निष्प्राण अनुकरणात्मक भावुकता।

इन्होंने काव्य को शक्ति और मस्तिष्क दिया है। हाँ; यह सही है कि उनका काव्य सुगम नहीं। उसमें कई तरह की उलझनें हैं क्योंकि कवि स्वयं सुलझे हुए नहीं हैं। उलझन वालों की उलझन पाठक के लिए भी उलझन ही बनी रहती है, पर ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ है। उनकी कविताओं में क्रोध है, निराशा है, राजनीतिक वाद का आग्रह दुराग्रह भी है पर उनकी कविता सशक्त है। उनके बनाये हुए सोच चाहे इस रूप में रहें या न रहें, पर उनका आधार-शिला निर्बल नहीं है।

कुछ आधुनिक कवि अलग रह कर लिखते रहे हैं। एडिथ सिटवेल इनमें मुख्य हैं। Three poems of the Atomic Bomb उनको बड़ी प्रभावोत्पादक रचना है। Edwin Muir अपने को बिना घरबार का 'Homeless' जैसा देख पाते हैं। यह दुनिया एक गोरखधन्धा है। उनकी एक कविता है The Labyrinth देखिए इसकी बानगी—

Friend, I have lost the way.
The way leads on.
Is there another way?
The way is one,
I must retrace the track.
It's lost and gone.
Back I must travel back!
None goes there, none इत्यादि।

Ruth Pitter की The Rude Potato अच्छी हास्यप्रधान रचना है। Ray Campbell साहसी योद्धा हैं, डर कर भागने वाले नहीं। Christopher Fry के काव्य प्रधान नाटक कविता को नई दिशा और प्रेरणा देने वाले हैं। वे जीवन में विषाद नहीं, हर्ष देखना चाहते हैं।

'So you can make marry with the world, Rosabel' बीसवीं शताब्दी में अँग्रेजी कविता में अनेकानेक परिवर्तन हुए हैं। Dadaism, Surrealism, Futurism, Existentialism, Imagism, Symbolism, Experimentalism, Frendianism, Marxism, Impressionism आदि अनेक वाद आये गये हैं। आज की कविता ने इन सब से कुछ ग्रहण किया है और कविता जैसे रङ्ग-बिरङ्गी हो गई है। यह सच है कि आज का युग कविता का नहीं, नाटक-उपन्यास-कहानी का अधिक है। इसी कारण हमें आज कोई महाकाव्य नहीं दिखाई पड़ रहा है पर अलग-अलग कविताएँ जरूर अनेक महान हैं। आज के कवि के जैसे 'मूड' हैं—काव्यक्षण हैं जो अधिक ठहरते नहीं। आज की अंग्रेजी कविता में अंग्रेजी जीवन की बड़ी मार्मिक झाँकी मिलती है। जैसे आचार्य शुक्लजी ने लिखा था कि विलायत में जो वाद कूड़ा-करकट करके फेंक दिये जाते हैं वे भारतवर्ष में गमलों में सजाये जाते हैं। प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद से प्रेरणा ग्रहण करने वाली हिन्दी में भी अनेक अच्छी कविताएँ लिखी गई हैं। अज्ञेय पण्डित हैं, सहृदय हैं, विचारक हैं पर प्रयोगवाद के नाम से कई आधुनिकतम स्वयंभू कवि कविता की ओट में अपनी वैयक्तिक वासनाओं को समाज में प्रसारित कर रहे हैं जो स्थिति अत्यन्त शोच्य है। अंग्रेजी के आधुनिकतम कवियों का विस्तृत अध्ययन है पर हिन्दी के कुछ आधुनिकतम कवियों का ज्ञान और अध्ययन से कोई सम्बन्ध नहीं। कवि की बाह्य वेशभूषा धारण कर (जिसमें Effeminacy बहुत अधिक है) प्रशंसा-लोलुप जो केवल कुछ चुटचुले शब्दों तथा गलेबाजी से जिन्दा रहना चाहते हैं, वे लिपटन की चाय की वाञ्छा लिये कवि सम्मेलनों में चाहे 'विटामिन' खाते रहें, पर उनको यह भूलना नहीं चाहिए कि कविता ऐसी हल्की, छिछली न कभी थी, न कभी होगी। स्काट-जेम्स के ये शब्द स्मरणीय हैं—'This easy-going view of the function of the poetic art has borne an ample harvest of nonsense'. They 'consider that any sort of fancy or feeling is good enough for poetry so long as it be prettily or gracefully handled.' ऐसी कविताएँ केवल दो दिन के लिए कुतूहल पैदा कर सकती हैं—वे कभी कवि को जिन्दा नहीं रख सकतीं।

आधुनिक अंग्रेजी काव्य की समकालीन प्रवृत्तियाँ

श्री अनन्तकुमार 'पाषाण' एम० ए०

पंचम जार्ज के युग की कविता में अँग्रेजी आलोचकों ने प्राणनिष्ठता की बहुत कमी महसूस की है। रूपर्ट ब्रूक की स्वप्न दृष्टि और सीगफ्रिड ससून का उछलता हुआ उत्साह सब उन्हें बनावटी प्रतीत हुए हैं और विलफ्रेड ओवन के युद्धजन्य यथार्थवाद को लेकर समीक्षकों ने महसूस किया है कि रक्तस्नात वातावरण में गांव के झरनों के गीत गानेवाले यह तरुण कवि सत्य को ठीक अपनी नाक के नीचे देख कर भी अनदेखा कर जाना चाहते थे।

रूपर्ट ब्रूक का व्यक्तित्व एक समस्या है। उसे प्राणनिष्ठता से हीन बनाना दुस्साहस है। फिर भी यह सत्य है कि ब्रूक जिन ऊँचाइयों पर अपनी दो-चार कविताओं में पहुँचा था, फिर उन ऊँचाइयों पर नहीं पहुँच सका।

जार्ज युग की कविता युद्ध के धूमाच्छादित वातावरण में लिखी जाने पर भी केवल धूमाग्नि-विस्फोट की कविता नहीं है। उसमें प्रयास है जीवन के उस तत्व को खोजने का जिसके बल पर राष्ट्र की आस्था खड़ी की जा सके। विलफ्रेड ओवन तक आते-आते उस आस्था के पैर उखड़ चले हैं। नृशंस युद्ध की वास्तविकता की स्वीकृति के साथ हवा के इस गुब्बारे का दम निकल गया।

खोज नये सिरे से शुरू हो गयी। इङ्गलैण्ड पर युद्ध का जो प्रभाव पड़ा था उसने जीवन को बहुत अधिक यांत्रिक बना दिया। यह यांत्रिकता निराशा के अन्धकार में मनुष्य को क्रूरता से घसीटती रही। समस्त यूरुप पर एक बादल सा छा गया और कुण्ठा के नये-नये रूप सामने आने लगे।

तब झुंझलाहट और विद्रोह से प्रेरित होकर एजरा पाउण्ड ने एक विनाशवादी दर्शन की स्थापना की।

मगर पाउण्ड के काव्य में तर्क कम था, केवल जुनून ही था। जो सुलझाव उसने सामने रखा था वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं था। जन-साधारण उस सुलझाव से शतशः सहमत नहीं हो सकता था क्योंकि उसमें बुद्धिवादी आत्म-चेतनता तो थी पर बुद्धिवाद की तटस्थता नहीं थी। फिर जिन साहित्यिक तत्वों को पाउण्ड लाना चाहता था उनमें इङ्गलैण्ड की जनता को विदेशी गन्ध आ रही थी।

सन् १९२२! पाउण्ड ने एक द्वार खोला था! उस द्वार के बाद नये मार्ग का दर्शन करा सकना उसके बल-बूते के बाहर की बात थी। वह तोड़ना ज्यादा पसन्द करता था और जोड़ सकने वाली व्यवहार कुशलता से कोरा था। नये पथ को प्रशस्त किया 'दि वेस्ट लैण्ड' नामक कविता ने सन् १९२२ में।

'ऊजड़ देश'—'दि वेस्ट लैण्ड' का लेखक था टी० एस० इलियट जिसका नाम हिन्दी में 'अज्ञेय' जी बड़े प्यार से लेते हैं। टी० एस० इलियट की पुकार थी कि संस्कृति का प्रश्न ही प्रधान प्रश्न है क्योंकि वही सबसे ज्यादा खतरे में है। इलियट एक महान् कवि है और संस्कृति का प्रश्न उठाकर उसने एक नवीन प्रकार के संस्कृतिवाद की नींव डाली जिसमें परम्परा के रक्षण को ही सबसे बड़ा कर्तव्य माना गया। दूसरे छोटे-मोटे कवि भी संस्कृति-संस्कृति चिल्लाने लगे। इसलिये नहीं कि खतरा उन्हें भी दीख गया था बल्कि इसलिए कि उनके देश का महानतम कवि इस आन्दोलन का अगुआ था।

पाउंड और इलियट दोनों ने जनता और संस्कृति को विरोधी तत्व माना और आवाज उठायी कि साधारण जनता संस्कृति की अधिकारी नहीं हो सकती। एक शताब्दी पूर्व तोकेविल ने जनवाद में संस्कृति का पतन देखा था। संस्कृति को समाज की गतिविधि से काट कर देखने में सदा ऐसा होने का खतरा रहता है।

सन् १९२९ में डे लेविस की 'ट्रान्ज़ीशनल पोयम्स' निकलीं। फिर डब्ल्यू० एच० ऑडेन की कविताएँ सन् १९३० और स्टीवन स्पेंडर की कविताएँ सन् १९३२ में प्रकाशित हुईं। शनैः शनैः एक नया आन्दोलन पनपता रहा और सन १९३२ तक आते-आते डे लेविस के 'दि

मैग्नेटिक माउंटेन" के प्रकाशन के साथ यह स्पष्ट हो गया कि एक नयी गति चाहिये ही। इलियट की स्थापनाएँ अन्तिम निष्कर्ष नहीं हैं।

'दि मैग्नेटिक माउंटेन' में धूम-धड़ाका बहुत है और शायद साहित्यिक संयम किसी हद तक कम! फलतः काव्य के स्थायी तत्व वहाँ नहीं हैं मगर सामाजिक और राजनैतिक समस्या को जनवादी तरीके से डे लेविस ने पेश किया है। जनता इस प्रतीक्षा में थी ही! इलियट की चिकनी चुपड़ी सभ्यता से असन्तुष्ट जनता ने सामाजिक सत्यों का आकलन करने वाले इन उत्साही कवियों को तत्क्षण स्वीकार कर लिया।

मगर जिस प्रकार हिन्दी में प्रगतिशील कविता से ईमानदार आदमियों को सहानुभूति तो है पर एक शिकायत भी है, वैसा ही सामाजिक तत्वों के इन कवियों के साथ है। शिकायत यह है कि दिशा ठीक है पर तरीका असाहित्यिक है। शोषण का चित्र खींचना बहुत सुन्दर बात है पर अपने खींचे हुए चित्र को पहिले दर्जे के साहित्य की कोटि में बिठा देना जरा कठिन! साहित्य-रसिकों ने यही बात सन् ३० के आस-पास के कवियों के बारे में कही! सामाजिक तत्व की वृद्धि के साथ-साथ साहित्यिक तत्व की हानि उन्हें मंजूर नहीं थी।

फलतः सन् १६४० के आस-पास नयी-नयी आवाजें उठने लगीं। साहित्य सामाजिक तत्वों का हल करे या न करे पर साहित्य उसे होना ही चाहिए। यदि वह साहित्य नहीं है तो अपने धर्म से गिर गया है। साहित्य में व्यक्तिगत तत्व छोड़ा जाये तो कहाँ तक और लिया जाये तो कहाँ तक, इसका फैसला कौन करेगा?

हृदय की भाषा से हीन कुछ भी हमें नहीं चाहिए। साहित्य की अपनी मान्यताएँ और वर्जनाएँ हैं। उन्हें अस्वीकार कर दें तो फिर साहित्य ही क्यों लिखें!

व्यक्ति के बाहर सिद्धान्त रूप से जो समाज है वह सत्य नहीं है। कवि के लिए द्वैत नहीं रहना चाहिए। केन्द्र बिना परिधि असम्भव है और केन्द्र अपने रक्षण के लिए परिधि की दरकार रखता है।

यह प्रतिक्रिया डिलन टॉमस (Dylan Thomas) और 'जॉर्ज बार्कर' के काव्य में प्रस्फुटित हुई। यदि स्पैंडर, मार्क्स और फ्रायड का गठबन्धन करना चाहता था तो डिलन टॉमस ने यहूदी दर्शन और फ्रायड का मेल बिठा लिया। हिब्रू रहस्यवाद के मूल तत्वों को आत्मसात कर लेने के कारण डिलन टॉमस में एक प्रकार की मसीहाई अस्पष्टता आ गयी। पहले दर्जे का कवि होने के कारण टॉमस में आत्म-चेतना कम थी मगर बार्कर मानो अपने से ही उलझता रहा।

हाल ही में लगभग ३६ वर्ष की आयु में टॉमस ने अपनी संसार-यात्रा समाप्त कर दी। किसी सीमा तक जॉन कीट्स की स्मृति तरोताजा हो जाती है— वही शारीरिक सौन्दर्य, वही दैहिक सुख की खोज, वही भाषा का अधिकार। जो काम डिलन टॉमस करना चाहता था वह असम्भव था— शैशवजन्य भोलेपन में वह यौवन सुलभ सम्भावनाओं के बीज बोने का प्रयास कर रहा था।

इलियट को छोड़ दें तो आधुनिक अंग्रेजी काव्य में डिलेन टॉमस की सी शक्ति और किसी में नहीं है। वह सृष्टि के क्रम में कल्पना के क्रम को देखता था— पञ्चतत्वों के विश्व-व्यापी विस्तार में रक्त का आवेग आरोपित कर सकता था।

फलतः डिलन टॉमस के व्यक्तित्व से प्रभावित सन् १६३६ में एक नया आन्दोलन चल पड़ा जो अपने को New Apccalrpse या नवीन दृष्टा के नाम से पुकारता है। समालोचना की जिन मान्यताओं पर यह नवीन आन्दोलन चला वह हर्बर्ट रीड के सिद्धान्तों पर आश्रित थीं। इन लोगों ने आत्म-चेतनता के बुद्धिजन्य तर्क को अलग फेंक दिया और पौराणिक सत्यों की इन्द्र-धनुषी मीनारें खड़ी कीं। ऑडेन का तरीका इन्हें पसन्द नहीं था। भाषा को शराब की तरह पीकर वह उसके नशे में मस्त हो गये और इसीलिए इनकी शुरू की रचनाओं में शब्द जरूरत से ज्यादा बोलते हैं। टॉमस की सी प्रतिभावाला दूसरा कवि इनके पास नहीं था और इस आन्दोलन का महत्व इस रूप में अधिक है कि सांस्कृतिक दृष्टिकोण के नये परिवर्तन इन कवियों की रचनाओं में प्रतिबिम्बित हैं।*

* यह कवि यन्त्र के विरुद्ध थे या कहें, कि इस नष्ट के

ज्यादा मतलब नहीं रखते थे कि यन्त्र-युग है या जनयुग। एक प्रकार का अराजवाद इन्हें अभीष्ट था। हो सकता है कि हर्बर्ट रीड का प्रभाव भी इसके लिये उत्तरदायी हो। राजनैतिक प्रचारवाद का थोथापन स्पष्ट होने लगा, जब युद्धवाद और अणुवाद के लोमहर्षक स्वरूप सामने आये। रूस की विदेशी नीति से कुछ मानवतावादी मान्यताएँ बिलकुल हिल गयीं। नौकरशाही और अभाव-जन्य कुण्ठा ने कल्पना के शत-शत हर्म्य भस्म कर डाले। कुछ लोग इलियट की नवीन रचनाओं में ईसाई आशावाद को अधिकाधिक उपयोगी बताया जाता देख कर सन्तुष्ट हो गये और गिरजाघर की घण्टियाँ बजा कर समझने लगे कि पानी की नालियों में दूध ही दूध हो जायेगा। एक नये प्रकार का वैचित्र्यवाद पनपने लगा। एन रिड्लर, कैथलीन रेन और नॉरमन निकल्सन के नाम ऐसे ही लोगों में आते हैं। डेविड गैसकॉय ने ईसाई धर्म से प्रेरणा लेकर एक नवीन प्रकार के अतियथार्थवाद (Surrealism) की सृष्टि करने लगा जिस पर पिकासो की चित्रकला का प्रभाव भी स्पष्ट था।

पिकासो का नाम यहाँ ठीक आ गया है। लोक कला के विचित्र तत्वों की खोज में पिकासो हब्शी संस्कृति की छानबीन करने लगा था और अफ्रीका की आदिकला (Primitive Art) की अनगढ़ विद्रोह वृत्ति को उसने नवीन स्वरूपों में ढाला। एक तो जिस अबीसीनियन संस्कृति की परम्परा में अफ्रीका की कला पनपी है वह उत्कट रूप से दैहिक होकर भी शिशु-सुलभ सरलता से आवेष्टित है! दूसरे सामाजिक चेतना के प्रतिनिधिरूप व्यक्ति के नये नये प्रतीकों का उसमें प्रयोग है। यह प्रवृत्ति रक्त की ऊष्मा और धर्म की सुषमा दोनों से परिचालित होकर भी व्यक्तिगत विकास की सम्भावनाओं से संयुक्त हैं। सामाजिक धर्म के वैयक्तिक व्यक्तीकरण का सन्तुलन इनमें है और इसीलिये नवीन से नवीन होकर भी पिकासो प्राचीन से प्राचीन है।

साल्वेडोर डाली जीवन की मूल प्रवृत्तियों से उलझने वाला दूसरा कलाकार है। डाली के कैन्वेस समय से अतीत हैं। उनमें कल्पना की विकृति से यथार्थ की आकृति की ओर इंगित किया गया है। विकृति की भाषा को समझने की कुञ्जी है। चित्त-विश्लेषण-शास्त्र और अवचेतन मस्तिष्क के घात प्रतिघातों का मनन! डिलन टॉमस की भावभूमि और साल्वेडोर डाली की भावभूमि में आश्चर्य जनक साम्य है।

चित्रकला और काव्यकला की इन समानान्तर प्रवृत्तियों का एक कारण स्पष्ट है—यन्त्र-युग की जड़ता के विरुद्ध कलाकार की प्रतिक्रिया। लड़ सकने के बाह्य-साधनों के अभाव में स्वप्न-सृष्टि में ही सत्य सृष्टि दिखायी गयी! साहित्य उन सिद्धान्तों पर पुनः सोचने लगा जिन्हें लगभग एक शताब्दी पूर्व कोलरिज ने पेश किया था।

कोलरिज का कहना था कि भाषा के हिमवत गुम्बद में घुसकर पर्यवीक्षण के आइने में वह समस्त सृष्टि को उतार लेता है। भाषा की अभिव्यक्ति को जितना अधिक उत्कट बनाया जायेगा उतना ही पलायन वास्तविक होगा क्योंकि यथार्थ को उसकी अभिव्यक्ति के बाहर कवि स्वीकार ही नहीं करता। अभिव्यक्ति की सम्भावनाओं से परे का सारा यथार्थ समाजशास्त्री के अध्ययन का विषय है।

डिलन टॉमस की अस्पष्टता के लिये प्रसिद्ध यह पंक्तियाँ देखिये—

रात निकट है,
तेजस्वी आकृति जो उसको निगल रही है,
समय और तेजाब!
मैं उससे कहता हूँ : रविकुक्कुट ने अपनी हड्डी
जब फैंकी थी तीक्ष्ण अग्नि में, उसके पहले!
अपनी मृतक चेतना उसको पी जाने दो—
बीज-ठोस में से वे खींचे
अपने सागर,
उसके हाथ बन्द कर दें उन संजीदा औ'
अपने नयनों से, खानाबदोश नयनों से दोनों,
बन्द और उसकी मुट्ठी भी हो जाने दो!

बहुत अधिक प्रयास करके सोचा जाये तो इन पंक्तियों का अर्थ निकल सकता है। मगर प्रत्येक पाठक अपनी-अपनी मनस्थिति के अनुरूप अर्थ निकालेगा। यह भी हो सकता है कि वह सब अर्थ कवि के अपने आशय से,

सर्वथा भिन्न हों। यह टॉमस की अच्छी कविताओं में से नहीं है मगर मैं सिर्फ इस बात का उदाहरण देने को उत्सुक था कि डाली की तरह ही टॉमस भी मस्तिष्क की विकृति में यथार्थ की आकृति दिखाना चाहता है और अस्पष्ट हो जाता है। 'खानाबदोश आँखें' इत्यादि में भाषा की अभिव्यक्ति को चरम सीमा तक पहुँचा देने का प्रयास है। डिलन टॉमस की कविता मुक्तकण्ठ से सराही गयी है। हर्बर्ट रीड ने कहा—"हमारे युग की सर्वोत्कृष्ट कविता!" एडिथ सिटवेल ने कहा—"एक नये कवि का उदय हुआ है जो हर अर्थ में महान् है! उसकी कविता का विषय व शिल्प-विन्यास दोनों का विस्तार प्रशस्त है!" स्वयं स्पेंडर ने उसकी महानता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया और 'जीनियस' कह कर उसका सम्मान किया!

फिर भी डिलन टॉमस की कई कविताएँ अस्पष्ट हैं। आज का पाठक बुद्धि से परे भाव-भूमि में भी बुद्धि के विमान पर बैठ कर ही जा सकता है। इन अस्पष्ट कविताओं को छोड़ दें तो टॉमस का व्यक्तित्व वास्तव में एक नवीन आन्दोलन का विधायक रूप प्रतीत होता है।

'दि हचबैक इन पार्क' (बगीचे में कुबड़ा) और 'पोयम इन ऑक्टोबर' (अक्तूबर की कविता) अँग्रेजी साहित्य की महानतम रचनाओं के साथ रखी जा सकती हैं।

अपनी छोटी-सी पुस्तिका 'The Portrait of the Artist as a Young Dog' (छोटे से कुत्ते के रूप में कलाकार का चित्र) में टॉमस ने अपने व्यक्तिगत संस्मरण दे कर कई समस्याएँ अपने काव्य की भी हल कर दी हैं। वेल्स में स्वान्जी ग्रामर स्कूल से निकल कर लन्दन के साहित्यिक समाज में घुसने तक जो अतुल सङ्घर्ष उन्हें करना पड़ा है और वातावरण की जिन बहुरङ्गी भङ्गिमाओं का दर्शन करना पड़ा है, उसका आभास पूर्णरूपेण यहाँ हो जाता है।

डिलन टॉमस की शिल्प-परम्परा में उन्हीं की मातृ-भूमि वेल्स का एक दूसरा कवि लिख रहा है—वरनॉन वॉटकिन्स! वॉटकिन्स में भी वेल्स के सीधे-सादे जीवन की उत्कटता के साथ जीवन की अस्पष्ट पीड़ाओं का सङ्कलन है। कुण्ठा के जिन स्तरों को चीर कर उनका एक कविता संग्रह प्रकाशित हुआ है उनमें सेक्स के अस्वीकृत तत्वों की गन्ध है। मैं उनके 'The Lamp and the Veil,' (प्रदीप और घूँघट) नामक कविता संग्रह का उल्लेख कर रहा हूँ। कई वर्ष तक वाटकिन्स ने अपनी कविताएँ प्रकाशित नहीं कीं। हो सकता है कि इङ्गलैण्ड की साहित्य-गोष्ठियों में वेल्स की अवहेलना के भय से ऐसा हुआ हो। पर जिस प्रकार की भाव-गरिमा वॉटकिन्स में है वह इङ्गलैण्ड के किसी भी कवि में दुर्लभ है। साहित्यिक अध्ययन से काव्य-विषय का विस्तार करने की परम्परा इलियट चला ही चुके हैं। वॉटकिन्स पर भी उसका प्रभाव पड़ा है, पर क्योंकि वॉटकिन्स भावावेश के संयमित सम्पुटन के कवि हैं इसलिये तर्कवाद उनके काव्य में ज्यादा दखलन्दाजी नहीं कर पाता और अध्ययन-जन्य रुक्षता को छोड़ सकना उनके लिये सरल होता है।

महान् आधुनिक आलोचक ज्योफ्रे ग्रिगसन इस नवीन वैचित्र्यवाद के भाग्य-विधायकों में से थे। डिलन टॉमस के शुरू के प्रयासों को भी उन्होंने ही प्रोत्साहित किया था। पर अब स्वयं वह इस नये आन्दोलन से असन्तुष्ट प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—"जिस रोमांस की ओर हम वापिस जा रहे हैं वह तर्क-हीन है। वह आत्मकेन्द्रित और तरल है।" तर्कहीनता के जिस तत्व को लेकर ग्रिगसन महोदय खफा हो रहे हैं वह इन कवियों को मूलतः अभीष्ट है। जिसे कीट्स ने 'Holiday from Thinking' (सोच-विचार से छुट्टी) कहा था, वही यह लोग भी चाह रहे हैं। जिस सीमा तक बुद्धिवाद के अभाव को कीट्स में एक कमजोरी समझा जा सकता है उसी सीमा तक उसे डिलन टॉमस के काव्य में भी दुर्बलता कहा जा सकता है। अस्पष्टता का प्रश्न भिन्न है और तर्क से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। मगर फिर भी यह सत्य है कि इन नये रोमैंटिक कवियों में मर्यादा की कमी काफी अखरती है। सन् ३० के आस-पास लेखक और पाठक के सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण वह कमी नहीं आ पायी थी। इन लोगों ने आत्म विकास को ही कविता का ध्येय बना लिया है और फलतः एक तरह की तरतीब की इन्हें जरूरत है—

वरनॉन वाटकिन्स ने उस तरतीब को काफी हद तक हासिल किया है। किन्तु दूसरे कई कवि हैं जिनकी कविता में कई स्थानों पर बुखार की-सी बड़बड़ाहट का आभास होता है।

स्वयं डिलन टॉमस के विकास का क्रम आत्म-विकास के आदर्शों से चल कर समष्टि विकास तक आ गया था। अपने कविता-संग्रह 'Deaths and Entrances' (मृत्यु और प्रवेशद्वार) में टॉमस स्पष्ट ही जन-साधारण के अधिक निकट आ गये हैं।

ऑडन आदि कवियों ने जिस उत्कट रूप से हर वस्तु पर सामाजिक उपयोगितावाद का आरोप कर डाला था वह स्वयं एक प्रकार का स्वप्नवाद था, ठीक वैसे ही जैसे पन्तजी की 'ग्राम्या' में भारतीय ग्रामों पर पन्तजी ने अपना स्वयं का व्यक्तित्व लाद दिया है। इस प्रकार का स्वप्नवाद यथार्थ की मर्यादा को किसी सीमा तक अस्वीकार ही करता है—आदर्श को ही मात्र यथार्थ बता कर महान् विचारक एञ्जिल्स ने एक स्थान पर कटे-छँटे आपित ऐतिहासिक दृष्टिकोण (Tailored view of history) को बहुत खतरनाक बताया है। यदि परोक्ष रूप से देखें तो ऑडन आदि कवियों ने सामाजिक आदर्शवाद को साहित्यिक यथार्थवाद बनाया। जोला आदि प्राकृतिक यथार्थवादियों की कमजोरियों से बच कर भी यह कवि समाचार-पत्रों के से लहजे में सतयुग के प्रारम्भ और कलियुग के अन्त की घोषणा करने लगे। अन्तर केवल इतना था कि सतयुगी निष्ठा के स्थान पर सामाजिक विकास को पेश किया गया और कहा गया कि मसीहाई ताकतों को शुरूआत हो गई है। घबराओ नहीं, सब ठीक हो जायेगा।

यदि सब ठीक ही जाता तो बात ही क्या थी। दुर्भाग्यवश सब ठीक नहीं हो सका और केवल भड़ास निकाल निकाल कर लोग सोच में पड़ गये। स्वयं ऑडन, स्पैंडर आदि कवि अपनी सामाजिक स्थापनाओं को सन्देह से देखने लगे। स्वयं अपने जीवन काल में ही स्पैंडर का स्थान काफी नीचे गिर गया है। ऑडन अपनी मान्यताओं के लिए सोच में पड़े हैं और समस्या को सुलझाते हुए हकलाने लगते हैं।

तब यह स्वाभाविक ही था कि जिन पथों का अनुसरण किया जा चुका था, नये कवि उन्हें छोड़ दें! सामाजिक समस्या के सुलझाव के सिलसिले में कविता की काव्यात्मकता कम हो गयी थी। भाषा को जन-सुलभ बनाने के उत्साह में भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति कम हो गयी थी। कविता में बुद्धि-तत्त्व की स्थापना के साथ भाव-तत्व दुर्बल पड़ गया था। तब नये कवियों का काव्यात्मक शक्ति के प्रति अत्यधिक मोह स्वाभाविक ही है क्योंकि कविता को समाज-शास्त्र से अलग कुछ होना था।

अभिव्यक्ति की उत्कटता को तीव्रातितीव्र करने वालों में चित्रकार मर्विन पीक भी हैं। काव्य का नवीन अर्थ उन्होंने ग्रहण किया है। अपने प्रकाशित संग्रह में जिसका नाम 'The Glass blowers' है उन्होंने शीशा फूँक कर शीशे की नलियाँ बनाने वाले श्रमजीवियों के बीच कविता लिखी है। यह बात दूसरी है कि वह कविता श्रमजीवियों के आत्म-प्रदेशों में बहने वाली लू के प्रति अधिक सजग है बनिस्बत कि उनके बाह्य जीवन के।

पीक का 'ग्लास ब्लोअर्स' काव्य के क्षेत्र में नये राजद्वार खोलता है। जीवन की नग्न पीड़ा और उस पीड़ा के क्रोड़ में सुबकने वाली मानवता की विवशता की उसमें चीत्कार है। सामाजिक उत्पीड़न के चित्रण के बावजूद पीक की कला मात्र रिपोर्टिङ्ग नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति में शब्द-शक्ति का उन्मत्त उच्चार है:—

वह शिर, वह आँखें, अधरहीन मुख,
जमे हुए जबड़े, अदय हथेली—
मार्ग बन्द हैं, एक मार्ग केवल उसको है—
अपने संगी और साथियों को पीड़ा देने का,
और पुनः वापिस अपनी पीड़ा लेने का!
उसकी हड्डी चूस रहा है जो कि दरिन्दा
उसको आगे जाना ही है…………
उसके हाथ और शिर का निर्माण हुआ है
केवल पाप किये जाने को!

ऑडन की सामाजिक चेतना का बुद्धिजन्य विद्रोह और टॉमस की कला-वृत्ति का अपूर्व संयोग पीक में है।

बुद्धि और भावना उसके काव्य में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। चित्रकार होने के नाते मर्विन पीक की चित्र-रचना में अभङ्ग-सौष्ठव है। सामाजिक कुण्ठा की घुप-घुप और एक सशक्त कलाकार की निर्मम तटस्थता दोनों गुण उसमें हैं। अधिक कहा जाने का समय अभी नहीं आया है पर इतने अल्पकाल में ही पीक की शक्ति को मुक्तकंठ से स्वीकार कर लिया गया है।

युद्धजन्य विभीषिका की पृष्ठभूमि में पनपनेवाली जीवनशक्ति की अच्छी अभिव्यक्ति एक नये कलाकार में है। दक्षिण अफ्रीका में शैशव बिताकर बड़े होने वाले एफ० टी० प्रिंस अभी तक कवियश: प्रार्थी ही हैं, हालांकि स्टीवन स्पेंडर ने अपनी पुस्तिका 'सन् १९३९ के बाद का काव्य' में उनका विशेष उल्लेख किया। 'नहाते हुए फौजी' में फौजी जीवन के निर्मम बाह्य में घुसकर उसके अन्तराल में धधकने वाले सत्य का अन्वेषण है। निश्चय ही यह कविता बहुत उच्चकोटि की है। जिस प्रकार भगवती चरण वर्मा ने 'भैंसागाड़ी' के बाद फिर कभी उस ऊँचाई को नहीं छुआ उसी प्रकार एफ० टी० प्रिन्स ने 'सोल्जर्स बेदिंग' जैसी रचना फिर नहीं लिखी।

स्वप्नवाद का जो एक स्वर डिलन टॉमस के अनुकरण में फूट रहा था वह अब शान्त हो चला है। फ्रान्स के अतियथार्थवादियों से प्रभावित डेविड गैसकोयने चुप हैं। हेनरी ट्रीस का प्रतीकवाद भी विस्मृत हो चला है। जार्ज बार्कर रहस्यवाद और राजनैतिक विद्रोहवाद की विरोधी शक्तियों से विभाजित हो गये हैं। नार्मन निकल्सन ईसाई धर्म के नवीन अर्थों की स्थापना के हेतु नाटक की ओर खिंच गए हैं। रूथवेन टॉड एक प्रकार के अप्राकृतिक ओज से आक्रान्त हैं। इस ओज में प्रसाद-गुण अवश्य हैं पर उसमें सहज भावावेश नहीं है। हेनरी रीड में पाउंड और इलियट की परम्परा का ही नवीन रूप से ही प्रसार हुआ है। उनमें कुशाग्र बुद्धि है और फलतः है एक तरह का तीखापन। लॉरी ली समकालीन तत्वों की अवहेलना में ही चिरकालीन तत्वों का विकास देखते हैं। एलेन लेविस का उल्लेख अंग्रेजी के काव्यालोचकों ने पर्याप्त किया है। सन् १९४४ में अराकान में एक दुर्घटना से उनकी मृत्यु हो गई। मुझे लगता है कि यदि वह जीवित रहते तो गद्य की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिक जाती। जो भी हो पर उनकी कुछेक कविताओं में जीवन-शक्ति का आह्लादकारी व्यक्तीकरण हुआ है। एक उल्लेखनीय नाम है जान हीथ स्टब्स का। रोमैंटिक चेतना का आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुसार उन्होंने अच्छा विकास किया है। गीतिकाव्य में कैथलीन रेन की नारी-सुलभ कोमलता ने कुछ नया ही रङ्ग पैदा किया है। उनके कुछ लिरिक अंग्रेजी काव्य में चिरस्मरणीय रहेंगे।

अंग्रेजी काव्य के मूल्याङ्कन में टी० एस० इलियट का उल्लेख तो होना ही चाहिये। हालांकि इलियट द्वारा चलाया आन्दोलन अब नवीन नहीं कहलाया जा सकता पर उनका प्रभाव सम्पूर्ण रूप से बहुत अधिक पड़ा है। उसमें पतनोन्मुख संस्कृति के भय और पीड़ा का सुन्दर चित्रण किया है।

इलियट की शुद्ध साहित्यिकता उसे जनता के बीच पहुँचने से रोक न सकी, क्योंकि जिस सड़े हुये समाज का छिलका उसने उतारा है उसे मध्यवर्गीय संस्कृति का हिमायती पाठक पहिचानता है। अपने नवीन नाटक 'दि कॉकटेल पार्टी' में विवाहित जीवन की मानसिक विडम्बना और छलना का पर्दाफाश करने के बावजूद भी इलियट ने संस्कृति सम्बन्धी कुछ बुनियादी प्रश्न उठाये हैं। खतरा सिर्फ यह है कि जो सुझाव उन्होंने पेश किया है वह शायद आखिरी सुझाव नहीं है।

एक दूसरा महत्वपूर्ण नाम है काव्यात्मक नाटककार क्रिस्टोफर फ्राय का। फ्राय में हास-रुदन का जो परिणय है, वेदना और उल्लास का जो धूप-छाँव मेल है वह एक मौलिक भाव-शक्ति का आग्रह व्यक्त करता है। व्यंग्य का इतना काव्यात्मक प्रयोग पहिले कम ही हुआ है हालांकि लारेंस डुरेल ने इस दिशा में अच्छा प्रयास किया था। फ्राय अतिभावुकतावाद पर हँसता है, रोमैंटिक स्वप्नवाद पर हँसता है, सामाजिक श्रेणीवाद पर हँसता है, स्त्री पर हँसता है, पुरुष पर हँसता है पर उसकी हँसी में स्वीकृति है। मानवता ऐसी ही है, क्या किया जा सकता

(शेष पृष्ठ ३६७ पर देखिए)

सोवियट काव्य की प्रवृत्ति

प्रो० दामोदर झा एम० ए०

सोवियट साहित्य के क्षेत्र में १९३२ ई० का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके पूर्व सोवियट साहित्य के क्षेत्र में एक विशिष्ट मान्यता का, एक निश्चित दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव लक्षित होता है। १९३२ ई० में 'रूसी लेखकों का सङ्घ' का प्रादुर्भाव हुआ जिसका लक्ष्य रूस के साहित्यकारों को सङ्गठित कर, उन्हें साहित्य के निश्चित लक्ष्य की ओर अनुप्राणित कर, उनकी कृतियों पर कड़ी निगरानी रख, साहित्य को जीवन की अनुभूतियों से संश्लिष्ट कर, सोवियट साहित्य को विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख करना हुआ। अतः सोवियट काव्य की प्रवृत्तियों का विवेचन सोवियट साहित्य के समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर ही हो सकता है। १९३२ ई० के बाद, रूस के साहित्यिकों का—चाहे वे कवि हों अथवा उपन्यासकार, साहित्य का मानदण्ड स्थिर हुआ 'समाजवादी यथार्थवाद'। समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत करने का यहाँ स्थान नहीं है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार, साहित्य का उद्देश्य समाज की स्थूल, ऐतिहासिक यथार्थता की समाजवादी क्रान्ति के सिद्धान्तों की दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत करना है। कतिपय समीक्षकों का सोवियट साहित्य पर यह आरोप है कि साहित्य का लक्ष्य एक निश्चित दर्शन से आबद्ध कर साहित्य को संकीर्ण तथा गतिहीन बना डाला गया है। यह आरोप मेरी समझ में समाजवादी यथार्थवाद के निगूढ़ तथा गतिशील सिद्धान्तों के एक-पक्षीय अध्ययन के कारण है। समाजवादी यथार्थवाद के अन्दर भी साहित्यिक विविधता तथा कल्पना के लिये यथेष्ट स्थान निहित है। यह निर्भर करता है समाजवादी यथार्थवाद की व्याख्या पर। विशिष्ट अर्थ में समाजवादी यथार्थवाद का अर्थ किया गया है साहित्य को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन से सम्बद्ध करना। साधारण अर्थ में इस सिद्धान्त की इतनी ही मान्यता की गई कि लेखक अपनी कृति में समाज की स्थूल, ऐतिहासिक यथार्थता की व्याख्या क्रान्तिकारी दर्शन की दृष्टि से करे। कहने का तात्पर्य यह है कि १९३२ ई० के पश्चात् सोवियट काव्य का लक्ष्य समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने की ओर उन्मुख हुआ।

आधुनिक सोवियट साहित्य में काव्य का स्थान उपन्यास और नाटक के पश्चात् है। सोवियट संस्कृति की पूर्णाभिव्यक्ति इसके उपन्यासों, कहानियों में हुई है। प्रत्येक जाति की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है और उस विशिष्ट संस्कृति का सफल अभिव्यक्ति कला के विशिष्ट माध्यम के द्वारा होती है। रूस के साहित्य में, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक कारणों के कारण उपन्यास तथा छोटी कहानी-कला का जितना विकास हुआ, वैसा न काव्य का हुआ और न नाटक का। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि रूस में काव्य का प्रस्फुटन नहीं हुआ है। पुश्किन, लरमंतोव तथा नेक्रासोव जैसे कवियों का अवतरण १९ वीं शताब्दी में हुआ। आधुनिक शताब्दी के प्रारम्भ से १९३० ई० तक रूस के साहित्य में काव्य की प्रमुखता प्रतीत होती है। १९३० ई० तक रूसी काव्य में प्रतीकवाद, चित्रवाद (इमैजिज्म) भविष्यवाद आदि विभिन्न वादों की तूती बोलती रही। मालूम पड़ता था कि रूस के साहित्य में द्वितीय काव्य युग (प्रथम काव्य-युग पुश्किन-युग माना जाता है) का प्रस्फुटन हुआ है। लेकिन काव्य की यह अग्रसरता अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी। इसका एक कारण यह है कि आधुनिक काव्य के विभिन्न वादों की प्रेरणा फ्रांस तथा इटली से प्राप्त हुई है किन्तु आन्दोलनों के मूलभूत सिद्धान्तों का मेल रूसी साहित्य की आत्मा से न था। ब्लाक, पास्तरनाक तथा मायामेविस्की के काव्यों के अध्ययन से यूरोपियन साहित्यिक धाराओं की छाप स्पष्ट हो जाती है। अतः आधुनिक सोवियट साहित्य में काव्य का गौण स्थान साहित्य की अग्रो-

प्रवृत्ति का लक्षण नहीं है, वरन् राष्ट्रीय, जातीय परम्परा के अनुकूल ही है।

आधुनिक सोवियट काव्य की मनोदिशा राष्ट्रीय तथा यूरोपीय महाकवियों से प्रेरणा प्राप्त कर, समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार काव्य-सृजन करने की ओर है। आधुनिक रूस में पुश्किन, लरमतोव तथा नेक्रासोव जैसे राष्ट्रीय कवियों के काव्यों की विशेषताओं का विशेष अध्ययन होता है। शेक्सपियर के सौनेट तथा नाटकों का अनुवाद रूसी भाषा में धड़ाधड़ हो रहा है। वर्ड्सवर्थ तथा कीट्स की कविताओं के अनुवाद अधिक हुये हैं। बर्नस की सरल काव्य-धारा की पूछ अधिक हो रही है। आज का सोवियट काव्य प्रतीकवादी गुत्थियों, रहस्यवादी ऐन्द्रजालों तथा सौन्दर्यवादी शाब्दिक सुषमा से उन्मुक्त होकर भाषा की सरलता की ओर उन्मुख है। इसका ध्येय सौन्दर्यदेवी की आराधना न होकर गतिशील सत्य का सतत शोधन है। आधुनिक काव्य का यह लक्ष्य रूसी साहित्य की परम्परा के अनुकूल है। रूस के महान समीक्षा-पण्डितों ने—बेलिंस्की तथा टालस्टाय-कला में सौन्दर्य-बोध को कला-सृजन की प्रेरणा न मान कर, जीवनानुभूति तथा सत्य-शोधन स्वीकार किया है। १९४३ ई० में सिशविन ने सोवियट यथार्थवाद की सबल अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—"कला कृति में सौन्दर्य सौन्दर्य है, पर इसकी शक्ति निहित है सत्य में; सौन्दर्य शक्तिहीन (सौन्दर्यवाद) हो सकता है; पर सत्य कभी भी पुरुषार्थहीन नहीं हो सकता। रूस में शक्तिशाली, दुस्साहसी महान कलाकार तथा महान चित्रकार हुये हैं, लेकिन रूसी मानव की आत्मा सत्य में निहित है।" आज का सोवियट कवि सौन्दर्य से अधिक सत्य की, शब्द-सुषमा से अधिक भावानुभूति की सत्यता की प्रमुखता स्वीकार करता है। आज वह प्रेम, मृत्यु, शत्रु के प्रति घृणा, देश के प्रति प्रेम तथा त्याग तथा विनष्ट हुए पदार्थों के लिए आह का गान करता है।

सोवियट काव्य की एक आश्चर्यजनक विशेषता इसकी आशावादिता में है। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त यूरोप के साहित्य की मनोदिशा निराशावाद की ओर उन्मुख है। अंग्रेजी काव्य में इस निराशावाद की सफलाभिव्यक्ति टी० एस० इलियट के प्रतीक काव्य 'द वेस्ट लैंड' तथा जेम्स जॉयस के उपन्यास 'यूलिसिस' में हुई है। हिन्दी-साहित्य में भी वह युग 'विरत और वेदना गान' का हो रहा है। सोवियट काव्य में निराशा और वेदना के स्थान पर आशा, उल्लास और आस्था की अभिव्यक्ति हुई है। सोवियट काव्य का यह आशावाद व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक चिन्तन के परिणाम-स्वरूप नहीं है, इसका प्रेरणा-स्रोत नूतन समाज-निर्माण के प्रति आस्था तथा नये समाज-सृजन के लिए हृदयोल्लास है। यही कारण है कि सोवियट काव्य में आशावाद की स्वरलहरी प्रफुल्ल यौवन का सङ्गीत है, जो विघ्न-बाधाओं एवं जीवन की कठिन घड़ियों में भी नूतन आशा का सञ्चार करता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तर्गत, जब कि युद्ध लग्न राष्ट्रों के काव्यों में यथार्थवाद चरम रूप को प्राप्त कर रहा था, सोवियट काव्य में यथार्थवाद तथा आशावाद का समन्वयित स्वर सुनाई पड़ता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तर्गत सोवियट काव्य में स्वभावतः युद्ध विषयक काव्यों की सर्वाधिक प्रमुखता लक्षित होती है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सोवियट युद्ध-काव्य में युद्ध का भीषण, वीभत्स, कुत्सित चित्र उपस्थित किया गया है, शत्रु के प्रति घृणा तथा व्यंग्य के भाव व्यक्त किये गये हैं, फिर भी इसका प्रधान स्वर उल्लास तथा उमङ्ग का है। यह सोवियट काव्य की विशेष देन है। आधुनिक सोवियट काव्य में आशावाद त्वार्दोविस्की के युद्ध-काव्य 'वेसिली त्वारकिन' के किसान-सिपाही के निम्नलिखित उद्‌गार में व्यक्त होता है—

"इस युद्ध की अपेक्षा जीवन में अधिक मिठास है। युद्ध समुद्र की तरह क्रूर है।" 'लेकिन जब तक मेरा देश फिर लहलहा नहीं उठता, जब तक एक बार फिर उसके खेत स्वतन्त्र नहीं होते, मैं शान्ति और प्रेम का गीत गा नहीं सकता जब कि युद्ध में युद्ध-गीत गाता हूँ।'

सोवियट काव्य अन्य देशों के आधुनिक काव्य की तरह प्रधानतः गीतात्मक है। सोवियट समालोचना-क्षेत्र में गीत-काव्य के स्वरूप तथा इसके भविष्य के सम्बन्ध में

बड़ी छानबीन हुई है। क्रान्ति के पश्चात् चन्द वर्षों तक गीत-काव्य को तूती बोलती रही। मायाकोविस्की, एसेनिन, पास्टरनाक के गीतों में नये-युग की स्वर लहरी फूट पड़ी है। पर साथ ही इन कवियों के गीत-काव्य का कलेवर परम्परागत गीत-काव्य से सर्वथा भिन्न है। यही कारण है कि गीत-काव्य के इन उपासकों की दृष्टि में सोवियट रूस में गीत-काव्य का भविष्य उज्ज्वल नहीं था। एसेनिन को इस बात पर गौरव था कि वह सोवियट का अन्तिम गेय कवि है। इस पक्ष के कवियों तथा समालोचकों की धारणा थी कि गीत-काव्य मानव के अन्तस्तल के भावों का गान है, जब कि सोवियट साहित्य का लक्ष्य दृश्यगत तथ्यों की व्याख्या करना है। प्रसिद्ध साहित्य ममज्ञ हिगेल के अनुसार गीत-काव्य 'आत्मा की सूक्ष्म दुनिया, उसके भावों तथा उमङ्गों, दुःख तथा सुख' की अभिव्यक्ति है। रूस के साहित्य का लक्ष्य नूतन समाज-निर्माण स्थिर हुआ। ऐसा मालूम होता था कि सोवियट रूस के गीत-काव्य का भविष्य कुण्ठित है। मायाकोविस्की ने उस धारणा की अभिव्यक्ति १९३० ई० में इन शब्दों में की—

"लेकिन मैंने अपने भावावेग पर नियन्त्रण किया तथा पैरों तले कुचल दिया अपने गीतों की ध्वनि को।"

१९३२ ई० के पश्चात् सोवियट काव्य में गीत-काव्य की प्रमुखता फिर स्थापित की गई। समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्त के अनुसार गीतकाव्य का लक्ष्य नूतन मानव के भावावेश की अभिव्यक्ति स्थिर हुआ। मार्क्स और लेनिन के उन वाक्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया, जिनमें समाजवादी समाज व्यवस्था में ही स्वाभाविक भाव-जगत् की प्रतिष्ठा की घोषणा की गई है। पुश्किन के गीतकाव्य का प्रचार बढ़ गया।

द्वितीय युद्ध के अन्तर्गत तथा १९४५ ई० के पश्चात् गीत-काव्य की प्रमुखता निश्चित रूप से लक्षित होती है। पास्टरनाक के गीतों की संख्या अत्यधिक है। नये कवियों में सिमोनोव, एनतोलोस्की के गीतों की प्रसिद्धि अधिक हुई है। इन कवियों ने युद्ध, प्रेम तथा देशभक्ति विषयक गान किये हैं।

आधुनिक सोवियट काव्य में बच्चों के उपयुक्त काव्य का प्रणयन अधिक संख्या में हो रहा है। अँगरेजी नरसरी बाल पद्यों का अनुवाद रूसी भाषा में धड़ाधड़ हो हो रहा है। इस बालोपयोगी कविताओं में यथार्थ और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है तथा नैतिक उपदेश स्पष्ट रूप में विद्यमान रहता है। बच्चों को चरित्रवान तथा देशभक्त बनने की प्रेरणा दी जाती हैं। विज्ञापन-पद्य युद्ध के समय अधिक प्रचलित हुआ। यह एक व्यंग्य-प्रधान छोटा पद है जिसमें राजनीतिक तथा सामाजिक व्यंग्य के छींटे रहते हैं। अधिकांश पोस्टर-काव्य में जर्मन सेना तथा नाजियों की खिल्ली उड़ाई गई है। बालोपयोगी काव्य प्रणेताओं में 'मारशाक' अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ है। फेबुल (दृष्टान्त कथा) की रचना भी अधिक संख्या में हो रही है। सोवियट फेबुल में सामाजिक दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है।

इस छोटे से लेख में सोवियट काव्य की प्रवृत्तियों का सविस्तार विवेचन सम्भव नहीं है। फिर भी यह स्पष्ट है कि आधुनिक सोवियट काव्य, सोवियट साहित्य-समीक्षा-सिद्धान्त की सुनिश्चित रेखा पर अग्रसर हो रहा है। समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्त से आबद्ध रहने पर भी सोवियट काव्य सरल तथा जीवन के अधिक समीप है। यह अधिकांश आधुनिक काव्यों की दुरूहता तथा अस्पष्टता के दोष से मुक्त है तथा काव्य का सृजन एक समीक्षा-सिद्धान्त की सीमा के अन्दर लेने पर भी इसमें आधुनिक पाश्चात्य काव्यों से अधिक सरलता तथा स्वाभाविकता है।

———

आधुनिक मराठी काव्य का क्रमिक विकास

श्री बलवन्त वदनव कोतमिरे एम० ए०, साहित्यरत्न

आधुनिक मराठी काव्य की आयु सत्तर वर्ष की है। उसका विकास "शाहिरी (वीर) काव्य" की शृङ्गारिक पृष्ठभूमि पर हुआ है। अंग्रेजी शासन की नींव दृढ़ होने के बाद सन् १८८५ में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' का जन्म हुआ और भारत में राष्ट्रजागृति का शंखनाद बजने लगा। इस समय मराठी के युग कवि केशवसुत ने अपनी 'तुतारी' (तुरही) नामक काव्य-कृति के द्वारा मराठी साहित्य में राष्ट्रीयता और स्वातंत्र्य प्रेम की गर्जना करके आधुनिक मराठी काव्य के नये युग की घोषणा की। केशवसुत ने भारत की अधीनता, आर्थिकदशा और लोगों का अज्ञान देखकर अपने एक सुन्दर स्वप्न की रचना की और अपने काव्य का निर्माण किया।

भारत में अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण अंग्रेजी, फ्रेञ्च आदि यूरोपीय काव्य-कृतियों का प्रभाव मराठी काव्य पर पड़ा है और मराठी काव्य को एक नयी दिशा तथा वेग मिला है। मराठी भाषा के अनेक कवियों ने अंग्रेजी काव्य का अध्ययन करके अपनी मातृभाषा में अनेक रचनाएँ की हैं। आधुनिक मराठी काव्य को आज इतना आदर का स्थान मिलने का कारण इन कवियों का श्रम ही है। आधुनिक मराठी काव्य पाश्चात्य काव्य के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने विकास की सीढ़ियाँ चढ़ते समय भारतीय परम्परा को साथ लेकर विश्व-साहित्य के साथ अपनी उन्नति कर रहा है। मराठी-काव्य के इस विशाल रूप का अध्ययन करने के लिए उसके निम्नलिखित चार काल खण्ड माने जा सकते हैं—

१. प्रारम्भिक काल : सन् १८८५ से सन् १९०० तक,
२. विकासकाल : सन् १९०० से सन् १९२० तक,
३. विस्तार काल : सन् १९२० से सन् १९४० तक,
४. उत्कर्ष काल : सन् १९४० से आगे.........

प्राचीन मराठी कविता प्रायः व्याकरण और काव्य-शास्त्रों के अनेक नियमों के अधीन थी। उसका स्वरूप दीर्घ था और वह जीवन की वास्तविकता से दूर रहने का प्रयत्न करती थी। परन्तु युग निर्माता कवि केशवसुत ने स्वयं स्फूर्ति से 'हृदयांतून न जे बोल निघती, ते सारे फोल' यह आधुनिक काव्य की परिभाषा करके नये कवियों को यह सन्देश दिया कि थोड़ी सी पंक्तियों में भी हृदय के सच्चे और उत्कट भाव व्यक्त हो सकते हैं और उनके लिए कविता का दीर्घकाय होना आवश्यक नहीं है।

आधुनिक मराठी काव्य के प्राथमिक काल के कवि केशवसुत जी हैं। अंग्रेजी काव्य का प्रभाव जिन कवियों पर दिखाई पड़ता है उनमें केशवसुत जी प्रथम कवि हैं। केशवसुत जी के काव्य में भारतीय परम्परा और भविष्य का स्वप्न मिलता है। इसलिए वे मराठी काव्य में एक नए युग का प्रारम्भ कर सके। प्रकृति का सुन्दर चित्रण उनके काव्य में मिलता है। प्रकृति से सम्पर्क रखने से कवि के हृदय में जो भाव निर्माण होते हैं उनकी अभिव्यक्ति हमें पहली बार केशवसुत जी के काव्य में मिलती है। प्रेम-गीतों के सम्बन्ध में भी केशवसुत जी ने मराठी काव्य में एक नयी परिपाटी चलाई है। उन्होंने पाश्चात्य-पद्धति पर प्रेम गीत लिखते हुए युवक युवतियों में प्रणय के भावों को निःसंकोच रूप में व्यक्त किया है। वे रहस्य-वाद की ओर भी झुके थे लेकिन उनको रहस्यवादी काव्य के प्रवर्तक कहना उचित नहीं है।

केशवसुत जी के युग में रेवरेण्ड ना० वा. तिलक जी, चन्द्रशेखर, विनायक, गोविन्द और भास्कर रामचन्द्र तांबे मुख्य हैं। तिलकजी को—"फुला-मुलांचे (बच्चों के) कवि" कहा जाता है। उनकी कविता में अधिक भावुकता है। परन्तु केशवसुत जी के काव्य में उच्छृङ्खलता और चञ्चलता की छाया मिलती है वह तिलकजी के काव्य में नहीं मिलती। तिलकजी एक दृष्टि से आधुनिक तथा पुरानी कविता की मर्यादा के बीच में खड़े हैं।

चन्द्रशेखर जी के 'काव्य हो चमत्कार (वह क्या

चमत्कार)' और उनाड गुपित (आवारा गोपन) खण्ड-काव्यों ने महाराष्ट्र के ग्रामीण-काव्य की नींव डाली है। उनके काव्य में ग्रामीण शब्द और देहाती वातावरण निर्माण करने की कलात्मक शैली का चमत्कार विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। उनकी कविता में पाण्डित्य की झलक, विचारों का गाम्भीर्य और शैली का प्रौढ़त्व मिलता है।

मराठी काव्य में गेयता निर्माण करने का श्रेय श्री भा. रा. तांबेजी को है। तांबेजी के काव्य पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ब्राउनिंग, टेनिसन आदि कवियों का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस तन्मयता और गाम्भीर्य से तांबेजी 'मरणांत खरोखर जग जगतें' जैसी गम्भीर कविता लिखते हैं वैसी ही सरसता और माधुर्य उनकी 'रुणु झुणु ये दुडु दुडु ये' की कविता में बालक्रीड़ा के वर्णन मिलते हैं। तांबेजी के प्रेम-काव्य की सृष्टि बड़ी आकर्षक है। उनके प्रेमगीतों की गुलाबी लाली ने भारतीय परम्परा और नैतिक बन्धनों की रक्षा की है।

केशवसुतजी की राष्ट्रीय परम्परा को शक्तिमान् और सजीव रूप देने का कार्य विनायक जनार्दन करंदीकरजी ने किया है। राष्ट्रीय काव्य के वे युग-निर्माता हैं। "या पुढें (इसके बाद)", 'हतभागिनी' शिवराज दर्शन आदि कविताएँ उनके दुःखदग्ध अन्तःकरण के अन्तिम उच्छ्वास हैं। भारतीय राष्ट्र-आन्दोलन का इतिहास लिखते समय उनका नाम हम भूल नहीं सकते।

आधुनिक मराठी काव्य के विकास काल में केशवसुत की परम्परा को एक निश्चित दृष्टिकोण मिल जाता है। इस काल के प्रमुख कवियों में रामगणेश गडकरीजी, एकनाथ पांडुरंग रेंदालकरजी, त्र्यंबक बापूजी ठोंबरेजी 'बालकवि' और नारायण मुरलीधर गुप्तेजी 'बी' मुख्य हैं। प्राचीन कविता में परिवर्तन कर के केशवसुतजी ने जो परम्परा मराठी काव्य में प्रचलित की थी वह बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इन कवियों के काव्य में दृढ़ होगयी।

इस काल की विशेषता यह है कि रामगणेश गडकरीजी 'गोविन्दाग्रज' जैसे प्रतिभावान कवि ने केशवसुत को अपना गुरु मान कर उनका शिष्यत्व प्रकट किया। गोविन्दाग्रजजी की प्रतिभा केशवसुतजी की अपेक्षा अधिक प्रभावी, सजीव, प्रबल, गतिमान् और आकर्षक थी। उनका भाषा पर प्रभुत्व भी अधिक था। उसी प्रकार उनकी कविता में कल्पकता, मनोरञ्जकता और कृत्रिमता भी मिलती है। लेकिन केशवसुत की प्रेम-गीतों की परम्परा को दृढ़ करने वाले ये अकेले ही कवि हैं।

रेंदालकरजी ने केशवसुतजी का अनुकरण गोविन्दाग्रजजी की अपेक्षा अधिक किया है। रेंदालकरजी प्रेम-काव्य में नये पथ पर चलना चाहते थे। निर्विकार प्रेम की पाश्चात्य कल्पना मराठी कविता के लिए अनोखी थी। रेंदालकरजी ने उसे मराठी-काव्य में प्रचलित करने का उद्योग किया। केशवसुत के काव्य की भावनाओं का सुन्दर आविष्कार रेंदालकरजी के काव्य में मिलता है। रेंदालकरजी ने अपनी यथार्थ भावनाओं को सामने रखने का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो रेंदालकरजी का काव्य अभी तक कवियों के काव्य से अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

त्र्यंबक बापूजी ठोंबरेजी मराठी काव्य के वर्ड्सवर्थ हैं। उनको प्रकृति देवी के गायक कहा जा सकता है। प्रकृति के सान्निध्य में ही बालकवि को चिरन्तन शान्ति का आनन्द होता था। वे प्रकृति के चेतन रूप से एक रूप हो गये थे। प्रकृति के कोमल भावों का चित्रण करते समय उनकी कविता की पदावली में एक विशेष कोमल-कान्त पदलालित्य का प्रवाह मिलता है। इसलिए उनके गीतों में एक विशेष माधुर्य और आकर्षण शक्ति है। जब वे प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन करने लगते हैं तो ऐसा लगता है कि वे प्रकृति के साथी या सहचर हैं। कविता को प्रेयसी समझ कर उस पर कविता लिखने की उनकी पद्धति केशवसुतजी में की कला का विकास स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

इस काल के रणदिवेजी, अनन्ततनयजी, साधुदासजी उपाध्यायजी, तिवारीजी आदि कवियों पर केशवसुतजी के युग का परिणाम दिखाई पड़ता है। कोल्हापुर के सुमन्तजी ने गीताञ्जली की शैली पर अनेक गीतों की रचना की है। केशवसुतजी और गोविन्दाग्रजजी की एक

दो कविताओं में छायावाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। केशवसुतजी के बाद हिंलकजी, तांबेजी, गुप्तेजी, भालचन्द्र जी, बालकवि आदि कवियों ने प्रणय और भक्ति पर छायावादी कविता लिखी हैं। श्री रा० बोबडेजी, ग० ह० देशपांडेजी, आ० रा० देशपांडेजी, पु० य० देशपांडेजी, वा० ना० देशपांडेजी आदि कवियों ने छायावादी रचना की है।

मानसिक पारतन्त्र्य के समय में गत वैभव के प्रति तीव्र दुःख और हृदय में ज्वलित दीपक की स्वातन्त्र्य-ज्योति को व्यक्त करने वाले कवियों में वि० सावरकरजी, अज्ञातवासीजी, य० न० केलकरजी, सोमानदेव चौधरीजी, ग० ह० पाटीलजी मुख्य हैं। महायुद्ध के काल में जो कवि राष्ट्रीय कविताओं का निर्माण करते थे, उनकी प्रतिभा का मूल बाल-गङ्गाधर तिलकजी की स्वराज्य की माँग में था।

आधुनिक काव्य के विस्तार-काल में रविमण्डल की स्थापना हुई। इस मण्डल के शङ्करकेशव कानेटकरजी, 'गिरीश' माधव ज्यूलियनजी, यशवन्त दिनकर पेंढारकर जो 'यशवन्त' आदि कवियों ने अपनी प्रभावी शैली द्वारा इस काल की कविता में परिवर्तन किया है।

गिरीशजी की कविताओं पर तांबेजी, गोविन्दाग्रजजी, बालकविजी आदि कवियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनके काव्य में प्रकृति और प्रेम का प्राधान्य मिलता है। प्रकृति के वास्तविक तथा आकर्षक रूप ग्रामीण जीवन में उन्होंने देखा है। उनके 'आम्बराई' एवं 'अभागी कमल' ये दो खण्डकाव्य प्रकृति की पृष्ठभूमि पर अधिष्ठित हैं। उनके काव्य में रहस्यवाद की छाया अस्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

माधव ज्यूलियन के काव्य में प्रणय और पांडित्य का मधुर सङ्गम दिखाई पड़ता है। यौवन-सुलभ आकर्षण, प्रेम की वेदना, प्रणयानुभूति और यौवन की स्मृतियों का प्रभावी चित्रण आपके काव्य में मिलता है। फारसी और अंग्रेजी काव्य की प्रणय-पद्धति को आत्मसात् करके उसको स्वानुभूति की कोमलता देकर आपने अपनी कविता का निर्माण किया। किन्तु आपकी यह विशेषता है कि प्रणय-गीतों में यथार्थवाद की ओर उनका झुकाव होते हुये भी आप अश्लीलता की ओर उन्मुख नहीं हुए हैं।

भावगीत ही 'यशवन्तजी' का अपना क्षेत्र है। ओज और कल्पना का सुन्दर समन्वय आपके काव्य में मिलता है। 'जय मङ्गला' और 'बन्दिशाला' नामक दो दीर्घ काव्य लिखे हैं। यशोधन, यशोगन्ध आदि मुक्तक गीत-संग्रह ही विशेष लोकप्रिय हैं। चिरपरिचित सृष्टि में आपकी प्रतिभा विहार करती है। आपके गीत अत्यन्त सुन्दर और हृदयस्पर्शी होते हैं। गोविन्दाग्रजजी के बाद इनके समान कल्पक तथा भावकवि महाराष्ट्र में नहीं हुआ।

इस काल के कवियों पर स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता है। गत शताब्दी से मराठी कविता मुक्तक छन्द और रहस्यवाद की ओर विशेष उन्मुख हो रही है। इस नवीन प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कवि श्री आत्माराम रावजी देशपांडेजी हैं। मराठी काव्य रहस्यवाद से अपरिचित नहीं था। किन्तु प्राचीन मराठी रहस्यवाद का झुकाव व्यक्ति की ओर अधिक था। आधुनिक कवियों की प्रवृत्ति प्रतीक द्वारा अज्ञेय और अव्यक्त की खोज करने की ओर विशेष है। श्री आत्माराम रावजी देशपांडेजी का अनुकरण श्री मर्ढेकर और पु० य० देशपांडेजी ने किया है।

सन् १९३५ के बाद समाजवादी दृष्टिकोण का प्रभाव मराठी कविता पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। केशवसुतजी, विनायकजी और वि० सावरकरजी की राष्ट्रीय परम्परा को एक नयी दिशा देने का कार्य श्री अनिलजी और श्री कुसुमाग्रजजी ने किया। अनिलजी के काव्य में यथार्थ का सजीव तथा प्रभावी चित्रण मिलता है। वे पुरानी परम्परा को छोड़ कर नहीं जा सके। उन्होंने अगली पीढ़ी पर अपनी कल्पना का बोझा डालकर केवल सन्देश देने का कार्य किया है। इसलिये उनको पुरानी और नवीन काव्य के बीच का आधार माना जाता है। कुसुमाग्रजजी राष्ट्रवादी कवि हैं और उनकी विशेषता उनकी राजनीतिक अनुभूति में मिलती है। स्पन्दन, संग्राम और शक्ति के वे उपासक हैं। उनकी कविता में राजनीतिक दासता के प्रति तिरस्कार, स्वातन्त्र्य के प्रति निष्ठा, आन्दोलन के

प्रति आकर्षण और क्रान्ति के प्रति विश्वास है। वे देश-काल के अनुसार चले हैं। जिस क्रान्ति के प्रति उनकी प्रतिभा में ललकार थी उसकी सफलता १५ अगस्त, १९४७ के भारतीय राजनीतिक परिवर्तन में मिलती है।

मराठी काव्य के उत्कर्षकाल में नवीन कविता का युग आरम्भ होता है। श्री बालकृष्ण सीताराम मर्ढेकरजी, शरच्चन्द्रजी, पु० शि० रेगेजी, इन्दिरा सन्तजी, कान्तजी, पोवलेजी, माडगुलकरजी आदि कवियों ने इस काल में अपनी प्रतिभा द्वारा मराठी काव्य को शक्तिमान् बनाया है। इस काल के काव्य को कोई निश्चित दिशा नहीं मिली है, फिर भी उसका भविष्य वैभवशाली दिखाई पड़ता है।

श्री मर्ढेकरजी इस काल के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। उनकी आत्मा सुसंस्कृत कलाकार की है। लेकिन वे यान्त्रिक और कृत्रिम जीवन से ऊब गये हैं। स्वार्थान्ध, सत्तालोलुप और दाम्भिक जीवन से वे घृणा करते हैं। आज के समाज की आर्त पुकार उनके काव्य में मिलती हैं। उनके काव्य में अभाव का चित्रण अधिक हुआ है। उनका विश्वास किसी पर, जीवन पर, संसार पर, और खुद अपने पर भी नहीं है। वे एक भयङ्कर वैचारिक विप्लव में फँसे हैं, उन्हें बाहर जाने का मार्ग नहीं मिलता।

शरच्चन्द्र मुक्तिबोधजी के काव्य में जीवन की अनुभूति का सजीव दर्शन मिलता है। जीवन को उसके स्थायी और यथार्थ रूप को लेकर चलने का उनका इरादा है। श्री पु० शि० रेगेजी में मुक्तिबोधजी की प्रवृत्ति मिलती है। उनके काव्य में स्वैर, शृङ्गार और काम-वासना का चित्र मिलता है। उनके काव्य में काम की अतृप्ति कण-कण में मिलती है, लेकिन यह अतृप्ति निरोगी है। मर्ढेकरजी के समान उनके मन में विकृति नहीं है। रेगेजी मनुष्य समाज और उसके भविष्य के प्रति आशा और विश्वास रखते हैं। इन्दिरा सन्तजी की कविता में प्रेम-निष्ठा को प्राधान्य मिलता है। उनके काव्य में तालबद्धता के साथ कोमल तथा सजीव भावनाओं की लहरें उछलती रहती है। कान्त और पोवलेजी कुसुमाग्रज की परम्परा में आते हैं। कान्तजी की कविता में क्रान्ति के लिए चुनौती है। पोवलेजी के काव्य में नवतारुण्य-प्रवाह आन्दोलन करता है। माडगुलकरजी के काव्य में ग्रामीण जीवन का साक्षात् दर्शन मिलता है। ग्रामीण जीवन की सरसता, सीधापन, भोलापन, धूर्तता आदि का चमत्कारिक मिश्रण यथार्थ रूप में उनके काव्य में मिलता है।

इस काल के और कवियों में य० द० भावेजी, अनन्त काणेकरजी, शान्ता ज० शेलकेजी, सञ्जीवनी मराठे जी, सदानन्द रेगेजी, प्रभाकार माचवेजी, सूर्यकान्त खांडेकरजी, म० सी० करमकरजी मुख्य हैं। वास्तविक रूप में इन कवियों की प्रतिभा को जितना उत्साह मिलना चाहिये था उतना न मिल सका। फिर भी इन कवियों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल तथा वैभवशाली है।

(पृष्ठ ३६१ का शेषांश)

है। 'फीनीक्स टू फ्रीक्वेंट' नामक अपने नाटक में स्त्रियों के भावुक प्रेमवाद पर इतनी करारी चोट है कि हँसी आना चाहती है पर आ नहीं पाती।

अंग्रेजी कविता न तो उस गर्त में गिर गयी है जिसमें कई आलोचक उसे देख रहे हैं, और न ऐसी अभूतपूर्व सफलता से दीप्त हो उठी है जैसा कि उसके कुछ उत्साही समर्थक उसे पाते हैं। उसमें प्रशंसनीय वैविध्य है और व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण स्थान है। कठमुल्लापन उनमें नहीं है। गुटबन्दवाद भी उनमें नहीं है। प्रत्येक कवि के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को विकसित होने का पूरा अवसर है। ब्रिटिश स्वतन्त्रता प्रेम इस अर्थ में काफी सार्थक है।

छोटे बच्चों की भोली बातें मीठी और सुन्दर होती हैं। पूर्ण विकसित तारुण्य की शक्ति और वयोवृद्ध अनुभव तो समय के साथ आयेगा ही।

आधुनिक गुजराती कविता

श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', एम० ए०, सा० र०

जिस प्रकार हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र माने जाते हैं उसी प्रकार गुजराती साहित्य में नर्मद को आधुनिक युग का निर्माता माना जाता है। भारतेन्दु की भाँति नर्मद ने गुजराती गद्य-पद्य, नाटक, निबन्ध, कोश, समाचार पत्र आदि सभी साहित्यिक क्षेत्रों में क्रान्ति की। कविता उनसे पहले धर्म और भक्ति की अभिव्यक्ति का साधनमात्र थी। उन्होंने उसे देश प्रेम और समाज सुधार की भावनाओं से परिपूर्ण बनाया। इनके समकालीन कवि दलपतिराम ने ठीक ही कहा है—"यह कवि स्वदेशाभिमान, साहस, विद्वत्ता और देशभक्ति की दृष्टि से बड़ा ही उपयोगी था।"

नर्मद के समकालीन दलपति काव्य के क्षेत्र में परस्पर प्रतिद्वन्द्वी माने जाते थे। उद्देश्य दोनों का समाज सुधार और देशोन्नति था परन्तु नर्मद जहाँ क्रान्ति और उग्रता के हामी थे वहाँ दलपति शान्ति और सौम्य जीवन के पक्षपाती थे। इसका कारण यह था कि नर्मद स्वतन्त्र साहित्यकार थे और दलपतिराम एक शिक्षक। दोनों की स्थिति के अनुसार उनमें भेद होना स्वाभाविक था। नर्मद में विद्रोह का तत्व अधिक प्रबल रहा तो दलपति में उपदेश का। परन्तु काव्य गुणों की दृष्टि से दलपति का काव्य नर्मद से अधिक श्रेष्ठ है। यदि यह कहा जाय कि नर्मद और दलपति ने हिन्दी की भारतेन्दु और द्विवेदी युग की काव्य प्रवृत्ति को महत्व दिया तो अत्युक्ति न होगी।

परन्तु जिसे आधुनिक कविता कहते हैं उसका सूत्रपात करने वाले हैं—श्री नरसिंह राव। हिन्दी में छायावादी कवि पन्त और निराला का जैसा विरोध हुआ वैसा ही गुजराती में नरसिंह राव का हुआ। जिस समय उनकी 'कुसुम माला' निकली उस समय किसी ने तो उसे पालग्रेव की 'गोल्डन ट्रेजरी' के चौथे भाग का रूपान्तर कहा और किसी ने 'रसगन्धहीन पाश्चात्य कुसुम' बताया। 'कुसुम माला' के अतिरिक्त 'हृदयवीणा', 'नूपुर झंकार' इनके कविता-संग्रह हैं। इनकी कविता प्रगीत मुक्तक है। वर्ड्सवर्थ की भाँति वे प्रकृति दर्शन से मुग्ध हो जाते हैं। उनकी कविता का एक नमूना यह है—

कुसुमो तो थया म्लान वीणाना तार तूटिया
नूपुरे किंकिणी सर्वेनो छे खामी हवा
रह्यो मात्र हवे गूढ़ करुणा रस तेवडे
चले उरनी भूमि भीजाती सर्वदा रहे
आबाध ने करुणा गान विशेष भरवे

एक कविता में बादल और हिमालय एकीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है—

झरणा उजलां जल नीतरतां,
कई श्वेत ज सर्व समा सरतां।
गिरि एहवी मौक्तिकमाल वहे,
घन ते रम तो करमांही गहे।
गिरिराज अने घनराज तणो अहीं,
खेल अलौकिक आज बन्यो।
गिरिवृन्द अहो! घनराज अहो!
मुजने तम खेल विशेष अहो।

प्रकृति चित्रण और कल्पना वैभव का जो नवीन रूप नरसिंह राव ने अपनी कविता में प्रस्तुत किया उससे गुजराती कविता का स्वरूप ही बदल गया। उनके द्वारा प्रभावित कवियों में सर्व श्री मणिशंकर रत्नजी, भट्टकान्त, बलवंतराय कल्याणराय ठाकोर, कलापी, नानालाल आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। श्री कान्त कवि की छोटी-छोटी स्फुट कविताओं में कल्पना का विलास अत्यन्त सुन्दरता से समाविष्ट है। कविताएँ कम लिखी हैं पर वे भाषा-मात्र और छन्द-अलङ्कार तथा रचना सौन्दर्य से खिल उठी हैं। संगीतात्मकता और कोमलकान्त पदावली इनकी कविता के विशेष गुण हैं। बलवंतराय कल्याणराय ठाकोर भी इसी धारा के कवि हैं लेकिन उनमें भावों और कल्पना की कोमलता के अतिरिक्त पाण्डित्य और

बौद्धिकता विशेष है इसलिए कविता उच्चकोटि की होती हुई भी लोकप्रिय कम है। नये प्रयोग द्वारा उन्होंने गुजराती कविता में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। सोनेट को गुजराती में लाने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं को है। कलापी ने सीधी सादी भाषा में तरुणाई के गीत गाये हैं। श्री हरिलाल हर्षदराय ध्रुव के 'चन्द्र' मासिक से कलापी प्रकाश में आये। कलापी ने यद्यपि यूनीवर्सिटी की शिक्षा नहीं पाई थी फिर भी स्वाध्याय से उन्होंने इस भाषा के साहित्य के तत्वों को हृदयङ्गम कर लिया था। दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों पर ऐसी सफलता से उन्होंने काव्य-रचना की थी कि पाठक उन्हें पढ़ते ही मुग्ध हो जाता है। भाषा के माधुर्य के साथ सरल छन्दों का प्रयोग उनकी विशेषता है। बाटोदकर 'गुजराती पाठशाला' में जीवन भर शिक्षक रहे और अंग्रेजी साहित्य से परिचित नहीं थे फिर भी गुजराती साहित्य की गतिविधि के प्रति जागरूक रहने से इनकी कविता शुद्ध और सामयिक है। नारी जीवन के यथार्थ और मोहक चित्र खींचने के लिए ये विशेष प्रसिद्ध हैं। महाकवि मैथलीशरण गुप्त की भाँति इन्होंने उपेक्षिता 'उर्मल' के विषय में 'उर्मिला' नामक ग्रन्थ की रचना की है। आपने संस्कृत वृत्तों का विशेष प्रयोग किया है।

आधुनिक गुजराती काव्य को नरसिंहराव ने नया स्वरूप दिया, उसको नई दिशा दी परन्तु उसको सामूहिक रूप से परिष्कृत और सुसज्जित करके पूर्ण बनाने का श्रेय श्री नानालाल दलपतराय को है। इन्होंने अपनी कविता में प्रेम को ऊँचा स्थान दिया। प्रेम के सम्बन्ध में इनका कथन है कि विवाह का अर्थ है दिव्यता में पद-सञ्चरण करना। लेकिन साथ ही उनका कहना है कि "मन माने ते वर अने बीजा ते पर (जिसे मन चाहे वह अपना पति और शेष दूसरे) उनकी दृष्टि में विवाह सौदा नहीं, कोरा संस्कार नहीं, दिव्य प्रेम से आकर्षित मनुष्यों के हृदयों का समर्पण है। कविता द्वारा लग्न की इस पवित्र भावना का प्रचार करने के कारण नानालाल को प्रेम का पैगम्बर तक कहा गया है। नानालाल की रचनाओं की संख्या सब मिलाकर ६०-७० होगी। प्रथम काव्य संग्रह 'केटलॉक काव्यों' था। उसके बाद महाकाव्य, गीतिकाव्य, रास, गरबा आदि सब विषयों पर अनेक रचनायें उनकी निकलीं। उनकी हर एक रचना में नवीनता है। विषयों के चुनाव में विशाल दृष्टि का परिचय दिया गया है। 'वसन्तोत्सव' और 'जया जयन्त' 'इन्द्रकुमार' और 'महाभारत', 'नूरजहाँ' और 'अकबर शाह', 'विश्वगीता' और 'सारथि' आदि में बिना साम्प्रदायिक भेद-भाव के उन्होंने काव्यामृत प्रवाहित किया है।

हिन्दी के महाकवि निराला की भाँति नानालाल ने गुजराती में छन्दों के बन्धन तोड़े हैं। 'वसन्तोत्सव' उनकी ऐसी ही रचना है। उनकी यह शैली डोलन शैली कहलाती है। 'ऊषा' नामक उनका गद्य-काव्य भी बड़ा ही सुन्दर है। गीत तो घर-घर गाये जाते हैं। वे ऐसे स्वाभाविक हैं कि सुनते ही हृदय में घर कर लेते हैं। नरसिंह की प्रभाती, मीरा के भजन और दयाराम के गरबों की तरह नानालाल के गीत अपूर्व शक्ति से युक्त हैं।

नानालाल के छन्द और अलङ्कारों में नवीन दृष्टि रही है। उनमें खूब ही स्वतन्त्रता उन्होंने बरती है पर कहीं भी रस बोध में बाधा नहीं पड़ी। कल्पना के तो वे धनी हैं इस कारण अलङ्कारों में नवीनता होते हुए भी वह आकर्षक हैं। अभिप्राय यह है कि नानालाल गुजराती के आधुनिक कवियों के सिरमौर हैं।

नानालाल के अतिरिक्त आधुनिक कवियों में श्री खबरदार (अरदेशर फरामजी) ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। जन्म से पारसी होने पर भी इनके संस्कार पूर्णतया भारतीय हैं। इनके काव्यों में स्वदेशाभिमान, प्रकृति-प्रेम और आध्यात्मिक अनुभव तीनों की छटा है। 'विलासिका' में देशाभिमान व्यक्त हुआ है तो 'काव्य रसिका' में प्रकृति प्रेम और 'कलिका' और 'दार्शनिक' में प्रेम तथा दर्शन की अभिव्यक्ति है। 'रासचन्द्रिका' में नानालाल की शैली पर लिखे रासों का संग्रह है और 'भजनिका तथा कल्याणिका' में भक्ति की भावना है। यों सब प्रकार की रचनायें उन्होंने की हैं। वीरतापूर्ण भावनाओं के प्रकाशन के लिए वे गुजरात में सबसे आगे हैं।

ललित नामक एक दूसरे कवि ने भी आधुनिक गुज-

राती काव्य को समृद्ध बनाया है। आरम्भ में उनका जीवन बड़ा ही सङ्घर्षमय रहा, इसलिए उन्होंने विषाद, ग्लानि, असन्तोष आदि विषयों पर काव्य रचना की, परन्तु पीछे चल कर जब जीवन में आनन्द का समावेश हुआ तब कविता का स्वर भी बदल गया। ललित पारिवारिक जीवन के कवि हैं। नारी के जीवन की त्यागमयता, उनके द्वारा पुरुषों को मिलने वाली प्रेरणा, उनके प्रेम के स्वर्गीय आदर्श आदि द्वारा उन्होंने नारी पूजा की भावनाओं को बड़े कौशल से व्यक्त किया है। 'नारी तू नारायणी' कह कर उन्होंने उसका महत्त्व बढ़ाया है। 'जन्म भूमि नु जय मङ्गल' और 'जातने स्वदेश काज कां न होमिये' जैसे गीत गुजरात में जनता के कण्ठ में निवास कर चुके हैं।

वर्तमान गुजराती कवियों में सर्व श्री सुन्दरम्, पूजालाल, सुन्दरजी बटोही, मेघाणी, स्नेहरश्मि, उमाशङ्कर जोशी, आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुन्दरम् की कविता का मुख्य विषय देश-प्रेम और समाज विद्रोह है। 'काव्य-मङ्गला' और 'वसुधा' कविता-संग्रह बहुत प्रसिद्ध हैं। 'पूजालाल' पर अरविन्द का प्रभाव है। इनका 'पारिजात' अरविन्द दर्शन से प्रभावित कविताओं की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। सुन्दरजी बटोही ने 'ज्योति रेखा' और 'इन्द्र धनुष' नामक संग्रहों में आदर्शवादी कविताओं का संग्रह है। इन पर एक ओर नरसिंहराव का प्रभाव है और दूसरी ओर नानालाल का। मेघाणी ने लोकगीतों में देश और समाज की वर्तमान भावनाओं को चित्रित किया है। 'सोरठी बहार वाटिया' और 'सौराष्ट्र-नी सिधार' में सौराष्ट्र की वीर कथाओं का संग्रह दिया गया है। श्री स्नेह-रश्मि गुजरात विद्यापीठ के स्नातक हैं। इनकी कविताओं का मुख्य विषय देश-प्रेम है। अर्घ्य नाम का इनका कविता-संग्रह बहुत प्रसिद्ध है। उमाशङ्कर जोशी वर्तमान कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये गांधीवादी हैं और दो बार जेल यात्रा भी कर चुके हैं। महात्मा गांधी के सन्देश को घर-घर पहुँचाने वाले ये एकमात्र कवि हैं। उनकी 'विश्व शान्ति', 'गंगोत्री', 'निशीथ' और 'प्राचीना' नामक रचनाएँ अमर कही जा सकती हैं। उन्होंने 'घूरे' और 'धोबी' जैसे विषयों पर वैसे ही कविताएँ लिखी हैं जैसे हिन्दी में पन्तजी ने, पर वे प्रगतिवाद के विरोधी हैं।

सूफी काव्य का भी गुजराती काव्य पर प्रभाव पड़ा है। आधुनिक कवियों में सर्वश्री बालाशङ्कर उल्लास राय, त्रिभुवन प्रेमशङ्कर, मणिलाल नथुभाई कलापी, सागर आदि ने ऐसी कविताएँ लिखी हैं। 'पतील' और 'शैदा' ने उर्दू परम्परा की गजलों से गुजराती साहित्य का भण्डार भरा है।

अन्य कवियों में सर्वश्री इन्द्रलाल गांधी, कालेकपारा शर्मा, प्रह्लाद पारेख, प्रह्लाद पाठक, नन्दकुमार पाठक, रतुभाई, मानुशङ्कर व्यास, रमणीक अरालवाला, मुरली ठाकुर के नाम उल्लेखनीय हैं।

गुजरात की आधुनिक कविता में छायावाद और प्रगतिवाद का कोई प्रभाव नहीं है। अंग्रेजी काव्य का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है परन्तु हिन्दी की भाँति वहाँ वादों का घटाटोप नहीं है। इसका कारण यह है कि गांधीजी का साहित्य-दर्शन गुजराती कवियों का प्रेरक रहा है। यदि गांधीजी के बाद किसी का प्रभाव पड़ा है तो अरविंद का। वह भी कम। साम्यवादी भावनाओं का समावेश भी हुआ है पर वह गांधीवादी दृष्टि से ही अधिक हुआ है। संस्कृत काव्य परम्परा और अंग्रेजी काव्य शैली का सफल समन्वय आधुनिक गुजराती काव्य में हुआ है पर उसमें हिन्दी की छायावादी कविता की भाँति अस्पष्टता नहीं आने पाई है। हृदय पर उसका प्रभाव सीधा और स्थायी पड़ता है। सङ्गीत और माधुर्य उसमें अपेक्षाकृत अधिक हैं। गुजरात की संस्कृति और प्रकृति के अनुकूल यह स्वाभाविक ही है।

आधुनिक पंजाबी कविता

डॉ० हरदेव बाहरी एम० ए०, डी० लिट०

पञ्जाबी साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के कुछ वर्ष उपरान्त अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना (१८४६ ई०) से ही जाता है; किन्तु निर्माणात्मक शक्तियों के अभाव के कारण साहित्यिक गति कुछ स्थगित सी रही। सन् १६०० तक प्रभाव तो अनेक दिशाओं से पड़ते रहे, साहित्य की माँग भी बढ़ने लगी, शिक्षा का प्रसार हुआ, छापेखाने लगाये गये, कई सभा-सम्मेलन सङ्गठित किये गये, कुछ पाठ्य पुस्तकें भी पञ्जाबी में प्रकाशित हुईं, लेकिन ललित साहित्य का सृजन नगण्य रहा।

इस बीच में कई परिस्थितियाँ ऐसी उपस्थित हुईं जिनके कारण पञ्जाबी भाषा धीरे-धीरे एक तङ्ग घेरे में घिर गई। अंग्रेज़ों ने उर्दू को प्रश्रय दिया। बच्चों को प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य रूप से उर्दू में दी जाने लगी। कचहरी की भाषा उर्दू हुई। मुसलमानों पर मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद तथा सर सैयद अहमदखां की लहर का विशेष प्रभाव पड़ा और उन्होंने पञ्जाबी साहित्य-सृजन का कार्य छोड़ सा दिया। हिन्दुओं में आर्य समाज की प्रेरणा से और राष्ट्रीय जाग्रति के कारण हिन्दी का प्रचार बढ़ा। सिखों की राजनैतिक उलझनों ने और सिंह-सभा-आन्दोलन ने हिन्दू सिख का भेद उपस्थित कर दिया जो पहले कभी नहीं था। पञ्जाबी सिखों की विशेष और साम्प्रदायिक भाषा बनकर रह गई। लिपि के सम्बन्ध में उनके आग्रह ने इस खाई को और भी चौड़ा कर दिया। पहले लौकिक साहित्य पंजाबी में लिखा जाता था और सिख धार्मिक साहित्य मुख्यतः हिन्दी में। कुछ इस्लामी साहित्य भी पञ्जाबी में था। लौकिक साहित्य में अधिकतर किस्से थे जिनके लेखक प्रायः मुसलमान या हिन्दू थे—सिख कवियों की संख्या बहुत कम थी।

आधुनिक पञ्जाबी साहित्य पर सिखों का एकाधिकार सा हो गया है। कुश्ता, शरफ, हमदम आदि जो हमारी सीमा के उस पार हैं इने-गिने मुसलमान कवियों में हैं जिन्हें पञ्जाबी से प्यार है। जोशुआ फजलदीन एक मात्र ईसाई हैं जिन्होंने पञ्जाबी में कुछ लिखा है। हिन्दुओं में कृपासागर और सुन्दरदास आसी का देहान्त हो गया है; धनीराम चात्रिक (जन्म १८७६ ई०) बूढ़े हो गये हैं। नन्दलाल नूरपुरी, ज्ञानचन्द धवन, केदारनाथ तिवाड़ी और बरकतराम 'बरकत' पञ्जाबी कविता लिखते तो हैं पर इन्हें न तो पर्याप्त सुविधायें प्राप्त हैं न आदर। पञ्जाबी के कवि हैं भाई वीरसिंह, स्वर्गीय प्रो० पूरनसिंह, डॉ० मोहनसिंह, प्रो० मोहनसिंह, डॉ० गोपालसिंह दरदी, चन्नसिंह जेठूवालिया, हीरासिंह 'दरद', विधातासिंह 'तीर', गुरमुखसिंह मुसाफिर, तेजासिंह साबर, मुनशासिंह दुःखी, हरदयालसिंह, सौदागरसिंह भिखारी, केसरसिंह 'कँवल', ईशरसिंह 'ईशर', हरनामसिंह दुःखी, अवतारसिंह 'दिलेर', अवतार सिंह आज़ाद, हरिन्दसिंह 'रूप', करतार-सिंह दुग्गल, प्रीतमसिंह सफीर, प्यारासिंह सहराई, सुजानसिंह और महिलाओं में अमृतकौर, अमृता प्रीतम, हरनामकौर, अमरकौर, प्रभजोत कौर आदि आदि।

यह ठीक है कि इन कवियों ने सब कुछ धार्मिक और साम्प्रदायिक ही नहीं लिखा। कुछ तो शुद्ध लौकिक काव्य की रचना करते हैं और कुछ रूढ़ि-विरोधी हैं।

आधुनिक कवियों में भाई वीरसिंह (जन्म १८७२) प्रमुख हैं। कुछ एक पंजाबी आलोचकों ने इन्हें 'पञ्जाबी का टैगौर' कहा है! इन्हीं से पञ्जाबी काव्य में आधुनिकता का आरम्भ होता है। सिंहसभा के सिखसुधार के आन्दोलन और अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव को लेकर वे सन् १६०० के लगभग साहित्य-क्षेत्र में उतरे। इनके काव्यों में 'राणा सूरतसिंह' (१६०४), 'लैहरां दे हार' (१६२१), 'जीवन की है' (१६२२), 'मटक हुलारे' (१६५५), 'बिजलियां दे हार' (१६२७), 'प्रीति-वीणा' (१६२६)

तथा 'कंवदी कलाई' (१९३३) प्रकाशित हैं। 'राणा सूरत-सिंह' में सिखमत की व्याख्या कथा के माध्यम से की गई है। रानी राजकौर एक राजपूत राणा की इकलौती पुत्री है। उसका विवाह सूरतसिंह से होता है जो राणा की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठता है, परन्तु सिख सरदारों की सहायता करता हुआ रण में काम आता है। विधवा रानी (बिछुड़ी आत्मा) अपने प्रियतम के वियोग में तड़पती है। उसे एक कुमार फुसलाना भी चाहता है, परन्तु वह अपने व्रत में दृढ़ रहती है। वह अनेक धार्मिक मार्गों का अनुसरण करती है, पर उसे शान्ति-लाभ नहीं होता। अन्त में वह सत्सङ्ग के प्रभाव से सिख मत पर चलने लगती है और परम-पद को प्राप्त करती है।

इस काव्य में फरीद का रहस्यवाद, 'गुरुओं का आध्यात्मवाद, सूफियों का संयम और किस्सा-नवीसों का प्रबन्ध कौशल—सब एक जगह होकर आये हैं। आधुनिकता के अनेक लक्षण पहली बार प्रकट हुए हैं। कथांश बहुत कम है। दार्शनिक, प्राकृतिक और आन्तरिक अनुभवों का विशद वर्णन किया गया है। प्रकृति-चित्रण काव्यात्मक ढङ्ग से किया गया है जिसमें छायावादी उद्भावनाएँ और प्रतीक-योजनायें भी व्यवहृत हुई हैं। (पञ्जाबी में छायावादी कविता का आरम्भ हिन्दी बहुत पहले हुआ है)। कविता अतुकान्त है। सिरखण्डी छन्द का प्रयोग किया गया है जो इस से पहले केवल वीर-रस की रचनाओं में प्रयुक्त होता था। इससे पहले प्रबन्ध-काव्यों में बैत या दवैया छन्द का ही व्यवहार हुआ है। भाषा भी साहित्यिक है। नये मुहावरों और अलङ्कारों का प्रयोग भी हुआ है। इस काव्य के साथ ही पुरानी परम्परा से भिन्न एक नई दिशा का प्रदर्शन होता है।

दूसरे काव्य-ग्रन्थों में विषय तो अधिकतर वही हैं जिन्हें लौकिक प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। परन्तु धीरे-धीरे कवि की धार्मिक भावना भी उदार होती गई है। सिखधर्म की जगह मानव-धर्म ने ले ली है। 'बिजलियाँ दे हार' में उन्होंने मानव प्रेम को ईश्वर-प्रेम की प्रतिच्छाया कहा है। साधारणतया उन्होंने भक्ति-योग की महत्ता प्रतिष्ठित की है। सामाजिक तत्व उनकी कविताओं में कम है। प्रेम की महिमा गाई गई है। जीवन की व्याख्या रहस्यवादी ढङ्ग से हुई है। परम आत्मा की प्राप्ति ही उनका ध्येय है। तोता, मोर, बुलबुल, कोयल, सब इसी के लिए व्याकुल हैं। नरगस तो आँख रूप ही हो गया है।

मुक्तक लिखने में वीरसिंह ने ही पहल की है। ईश्वर-भक्ति, प्रेम की मानसिक व्याख्या, देश-भक्ति, प्रकृति-चित्रण इनकी कविताओं की विशेषतायें हैं।

दूसरे प्रमुख कवि हैं प्रो० पूरनसिंह (१८८१—१९३१) जिनके निबन्धों से हिन्दी जगत पहले ही परिचित है। वे बौद्ध भी हैं, वेदान्ती भी और सिख हैं। वीरसिंह हृदय के कवि हैं, पूरनसिंह बुद्धि के। इसीलिए वीर सह अधिक लोकप्रिय हैं। पूरनसिंह उदार भी बहुत अधिक हैं। अतः उनकी कविता में लौकिकता प्रधान है। उनकी रचनायें धरती के अधिक निकट हैं। कश्मीर के वन, तड़ाग, झीलें, झरने, पर्वत, नाले, दाऊदी और बिनफशा के फूल उन्हें विह्वल कर देते हैं। सादगी से कवि को विशेष प्रेम है, इसलिए ग्रामीण जीवन उन्हें बहुत प्यारा लगता है। जाट और मजदूर कवि को अच्छे लगते हैं। उन्हें कुम्हारिन से ब्रह्म की सुधि का और हिमालय की चोटियों से पूर्णता का सन्देश मिलता है। उनके दो कविता-संग्रह प्राप्त हैं—'खुले घुंड' और 'खुले मैदान'। इनमें 'पूरननाथ जोगी' और 'इक जंगली फुल्ल' खण्ड-काव्य हैं। प्रथम में हठयोग पर टिप्पणी करते हुए प्रेम-योग की महत्ता प्रकट की गई है। दूसरी कविता छायावादी भी है यथार्थवादी भी। 'देश प्यार', 'भनां दियां लहरां' बड़ी प्रसिद्ध कवितायें हैं। पूरनसिंह की ख्याति 'सैलानी' छन्द के कारण भी है। यह छन्द उन्होंने अमरीकन कवि वाल्ट ह्विटमेन से लिया है। इसमें न छन्द है न तुक न लय न तौल।

आधुनिक पञ्जाबी कविता के तीसरे नेता हैं लाला धनीराम चात्रिक (जन्म १८८६)। इनमें न छायावाद है, न रहस्यवाद। सामाजिक अंश इनमें सबसे अधिक है। इन की प्रारम्भिक रचनायें तो पुरानी परम्परा के अन्तर्गत आती हैं जिनमें किस्सा-कहानी हैं। 'भरथरी हरि', और

'नज़-दमयन्ती' ऐसे ही काव्य हैं। छन्द भी वही पुराना है। मुक्तक कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हैं—'चन्दन-वाड़ी' (१९३२) और 'केसर-क्यारी' (१९४१)। बहुत सी कवितायें सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विकृतियों को सुधारने के लिए लिखी गई हैं। आर्य समाज का प्रभाव उन पर अधिक है। शहर के दूषित जीवन ने कई चित्र उपस्थित करके अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की है। महिलाओं और विशेषतः विधवाओं के जीवन का चित्रण बहुत प्रभावोत्पादक बन पाया है। गरीब पर ढाये जाने वाले अनाथ के अत्याचार का भी बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। इनको कुछ यथार्थवादी कविताओं में सामयिकता आ गई है। प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में 'सृष्टि दा आरम्भ', 'हिमालय', 'अटक', 'झरना' और 'सतयुग' उल्लेखनीय हैं। शृङ्गारी कविताओं में 'दिल', 'सीता-सन्देश', 'राधा-सन्देश' आदि सुन्दर हैं। इनकी दो और कवितायें 'नूरजहाँ' और 'सूफ़ीखाना' अत्यन्त लोकप्रिय हैं। चात्रिकजी की भाषा ठेठ और मुहावरेदार है, कविता पिंगल-सम्मत है, उर्दू और हिन्दी के छन्दों का भी सफल प्रयोग किया है।

प्रो० मोहनसिंह (जन्म १९०४) एक और ऐसे कवि हैं जिनका अपना विशिष्ट स्थान है। 'चार हंझू', 'सावे पत्तर', 'कुसुंभड़ा', 'कच सच' और 'अधवाटे' इनकी कविताओं के प्रसिद्ध संग्रह हैं। इनमें 'सावे पत्तर' की कविताएँ सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं। मोहनसिंह की अभिव्यञ्जना-शक्ति अद्भुत और मनोहर है। उनका कहना है कि परमात्मा एक गोरखधन्धा है जिसने संसार को चक्कर में डाल रखा है। 'रब्ब', 'भाक' और 'नवां रब्ब' में उन्होंने परमात्मा पर व्यंग्य भी किये हैं। उन्हें लौकिक सौन्दर्य परमात्मा से अधिक प्रिय लगता है। कवि को डूबता सूरज, उठती लहर, काली रात, टमटमाते जुगनू, चलता रहट, लहलहाती खेती, अलबेली पोठोहारिन आदि से इतना प्यार है कि वह स्वर्ग नहीं चाहता, भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं समझता। अन्ध-विश्वास का विरोधी होता हुआ भी वह समाधि पर दिया जलाती हुई एक कन्या से उसका विश्वास मांगता है। लोक में स्त्री पुरुष की अपेक्षा अपने प्रेम में अधिक दृढ़ है। पुरुष भौंरा है जो कली-कली का रस चूसना चाहता है। मोहनसिंह प्रेम-कवि है। परन्तु वह अधूरा प्यार चाहता है जो चाँद की तरह घटता-बढ़ता रहे। उसके प्रेम की सन्तुष्टि नहीं हुई, पर वह अगले जन्म में संयोग की आशा रखता है जब यह समाज बदल जायगा और उनके मेल में रुकावट न रहेगी। आगे चलकर वह समाजवादी हो जाता है और कहता है कि 'भावें प्यार है उच्ची वस्तु, पर जिउणा होर चंगेरा।'

चात्रिक को छोड़ सबसे अधिक और सुन्दर गीत मोहनसिंह ने लिखे हैं। भाव की तीव्रता, वर्णन की निश्छलता, बोली की सरलता और कला की मौलिकता इन गीतों की विशेषतायें हैं।

इन चार कवियों के अतिरिक्त जिन्होंने आधुनिक पंजाबी कवि-समाज पर एवं जनसाधारण पर गहरा प्रभाव डाला है, फीरोजदीन शरफ भी हैं। शरफ (जन्म १८९८) की रचनाओं में 'नूरी दर्शन', 'शरफ निशानी', 'सुनहरी कलियाँ' और 'जोगन के गीत' प्रसिद्ध हैं। ये पुरानी रीति शैली के कवि हैं। सी-हरफी, बारह-माह लिखते हैं। कुछ एक नए छन्दों को फैशन के तौर पर अपनाया है। हीरासिंह दरद, विधातासिंह तीर, गुरमुखसिंह मुसाफिर, नन्दलाल नूरपुरी, तेजासिंह साबर, सुन्दरदास आसी, ज्ञानचन्द धर्वन, ईशरसिंह ईशर, हरनामसिंह दुःखी, आदि अनेक कवि इसी धारा के हैं। इन्हें सम्मेलनी (कवि दरबारी) या स्टेजी कवि कहा जाता है। इनकी अधिकतर कवितायें सामयिक विषयों पर हैं। उर्दू का इन पर बहुत असर है। इन कवियों में विधातासिंह तीर, अवतारसिंह दिलेर, बचन और कुन्दन बड़े लोकप्रिय हैं।

साहित्यिक कोटि के कवियों पर भाई वीरसिंह, प्रो० पूरनसिंह, लाला धनीराम चात्रिक तथा प्रो० मोहनसिंह का प्रभाव है। डा० मोहनसिंह (रचयिता 'मस्ती', धुप-छांह') सूफी कवि हैं। वे उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी और फारसी के विद्वान् हैं। उमर खय्याम, सादी और हाफ़िज़ का इन पर प्रत्यक्ष प्रभाव है। कवि चरणसिंह ने सन्

(शेष पृष्ठ ३७७ पर देखिए)

उर्दू काव्य की नयी प्रवृत्तियाँ

श्री कैलाशबिहारी 'मौज'

उर्दू काव्य में नयी चेतना के अध्ययन से पूर्व यह आवश्यक है कि विगत उर्दू काव्य पर भी एक सरसरी दृष्टिपात कर लिया जाय ताकि अभीष्ट विषय की एक सङ्गत पीठिका प्रस्तुत हो सके।

उर्दू के गत काव्य ने जिस वातावरण में आँखें खोलीं वह नितान्त प्रतिक्रियावादी था। सामन्तो निज़ाम का सारी इन्सानियत पर प्रभुत्व था और शायरी (कविता) बादशाहों और सामन्तों के मनोरञ्जन का एक साधन बन कर रह गई थी। यही वह दौर था जो हिन्दी में रीतिकाल का था। शायरी की हैसियत अफ़ीम की गोलियों से ज्यादा न थी, जिनके प्रयोग से जीवन, सङ्घर्ष से विमुख हो जाता था और दरबारों के वातावरण पर एक स्नायुविक खुमारी और शिथिलता व्याप्त हो जाती थी। बादशाही वर्ग की परम्परा सारी प्रजा के लिए जीवन स्तर का आदर्श बन गई थी और उस समय के सारे दिमाग़ इन्हीं परम्पराओं के साँचे में ढल कर निष्प्राण से हो गये थे। इस काल के कवियों के दिलों में न आगे बढ़ने की कोई लगन थी और न उनके सम्मुख जीवन के लिए कोई उपयोगी मसाला था। इस समय भाग्य विजयी था और तदबीर पराजित।

१८५७ के खूनी ड्रामे के बाद अलबत्ता लोगों को जीवन की घुटन और रुकावट का अनुभव हुआ और समाजी जीवन ने अपनी राह बदली। हिन्दुस्तान की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन आया जिसके कारण हमारे काव्य में जागृति और देश-भक्ति की किरणें फूटीं। वास्तव में जागीरदारी को सरमायादारी ने शिकस्त देकर अपना कदम जमाया था। इस इन्कलाब के कुछ धुँधले विचार हमें गालिब और मोमिन के यहाँ मिलते हैं। यह भी हो सकता है कि मुसलमान कौम इस समय सब से ज्यादा शक की निगाहों से देखी जाती थी, इस कारण यह कवि दिल खोल कर इन्कलाब की बात न कह सके हों और उनके राजनैतिक विचार पुष्टि न पा सके हों। इन्कलाब का वास्तविक रङ्ग हाली की शायरी (काव्य) में हमें मिलता है। वास्तव में उन्होंने ही सब से पहले सियासी नज़्में लिखीं जिनके कारण उर्दू काव्य में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ, और उनके ऐतिहासिक महत्व से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। लगभग यह वह दौर था जब हिन्दी साहित्य भी भारतेन्दु के नेतृत्व में नयी चेतना की करवट ले रहा था। आज के बदले हुए काव्य-साहित्य की दृष्टि से यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि हाली का काव्य इन्कलाबी न था केवल सुधारवादी था, किन्तु इक़बाल के काव्य पर और उनके बाद और भी कवियों पर हाली ने एक स्पष्ट प्रभाव छोड़ा था। इक़बाल ने काव्य के द्वारा एक नवीन दृष्टि दी और राजनैतिक समस्याओं को जी भर कर हल करने की कोशिश की। शायरी को उन्होंने नयी प्रेरणा और नयी शक्ति और गहराई दी। इक़बाल की शुरू की शायरी में हमें दर्शन की कमी नज़र आती है और केवल रिवायती यानी परम्परा और आन्तरिक विचारों से उत्पन्न सांस्कृतिक भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं। किन्तु थोड़े ही दिनों में वह एक नयी दुनियां में दाखिल होगए, जिसकी उनकी आवश्यकता थी। सारे देश खास तौर पर मुसलमान जाति की बुरी हालत से प्रभावित हो कर उन्होंने देश-भक्ति के गीत बड़े जोश और उत्साह से अलापे। लेकिन उनका जीवन-दृष्टिकोण सर्वव्यापी न हो सका। विशेषकर मुसलमान जाति और इस्लाम के उत्थान को ही उन्होंने अपनी शायरी की आत्मा बनाया था। इस्लाम को वह एक आदर्श धर्म बना कर सारी दुनियां के सामने पेश करना चाहते थे।

इक़बाल के बाद जोश हैं, जिनको इन्कलाबी शायरी का बाबा-ए-आदम माना जाता है और वह शायरे-इन्क़लाब के नाम से प्रसिद्ध हैं। सन् १९२१ के बाद जोश

की कविता का इन्कलाबी रुख शुरू हुआ, जिससे सारा भारतवर्ष उनकी ओर आकर्षित हो गया। उन्होंने इकबाल की तरह दर्शन और मज़हब पर अपनी कविता की बुनियाद नहीं रखी, बल्कि उनका काव्य जोशो-खरोश और असाधारण हिम्मत और पौरुष का आइनादार है। वह अपनी घन-गरज से इन्कलाब लाना चाहते हैं जो एक व्यक्ति की कोशिश से आना असम्भव है। सामूहिक इन्कलाब की मिसालें उनकी कविता में कम मिलती हैं। जैसे—

''अल्लाह! अल्लाह! बज्मे हस्ती में मेरी गुलबारियाँ,
टुकड़े टुकड़े दस्तोबाज़ू, रेज़ा रेज़ा अस्तख़्वाँ।
अल्लमा नो अल हज़र मेरी कड़क मेरा जलाल,
खून-सफ्फाकियाँ गरज तूफ़ान बरबादी कताल।''

जोश का यह इन्कलाबी दृष्टिकोण कितना डरावना है और तोड़-फोड़ के कितने भयङ्कर नज़ारे पेश करता है। यह वह जमाना था जब देश में आतङ्कवादी आन्दोलन चल रहा था और भगतसिंह व आज़ाद जैसे देश-भक्त अपने अकेले होने से साम्राजी निज़ाम की बुनियादों को ढहा देने पर तुले थे। हिन्दी की कविता भी उससे प्रभावित हुई थी। गान्धीजी के आन्दोलन ने भी हिन्दी कविता को जिस तरह प्रभावित किया था उसी तरह जोश की कविता को भी। पर वह प्रभाव अधिक गहरा न था।

इन्कलाबी कविता के सम्बन्ध में यहाँ उन काव्य-धाराओं का वर्णन अनुपयुक्त न होगा, जिनके कारण हमारे काव्य में नवीन कला-रूपों के नवीन-प्रयोग आरम्भ हुए। 'राशिद' ने 'नज़्मे आज़ाद' को उर्दू में प्रसिद्ध किया। लेकिन अपनी वासना की लिप्सा और जीवन की कशमकश के विमुखता के कारण उनकी शायरी की कोई समाजी-उपयोगिता नहीं है। इसी तरह 'मीराजी' भी प्रतीकों और वासना के वर्णनों से आगे न बढ़ सके। यह वह जमाना था जो हिन्दी में तो छायावाद और रहस्यवाद का था। पर हिन्दी में लौकिक-प्रेम और वासना-लिप्सा प्रतीकों के सहारे ईश्वरोन्मुख हो गई, पर उर्दू की यह शायरी अपना लौकिक धरातल न छोड़ सकी और उसकी इश्को मुहब्बत शख्सी ही रही।

''सुबह जब बाग में रस लेने को जन्बूर[१] आए,
उसके बोसों से हों मद होश समन और गुलाब।
शबनमी घास पर दो पैकरे रुखबस्ता मिलें,
और खुदा है तो पशेमाँ[२] हो जाय।''
(राशिद)

'अली सरदार जाफ़री' से उर्दू की इन्कलाबी शायरी एक नये मोड़ पर आ जाती है और उनके साथ हमें और भी अनेक नये कलाकार नजर आते हैं जो संयुक्त होकर हिन्दुस्तान के समाजी ढाँचे को बदल देना चाहते हैं। उनके सम्मुख भारतवर्ष की भूख है, बेकारी है, जिन्सी घुटन हैं और वह इन मसलों को एक वैज्ञानिक आधार पर सुलझाने में दत्त-चित्त नजर आते हैं। 'अली सरदार जाफरी' ने जनता के समीप पहुँचकर उसके दुखदर्द को अपने काव्य में समेट कर रख दिया। उनकी नज़्म 'नई दुनियाँ को सलाम' इन्कलाबी शायरी का एक कारनामा है, जिसमें एक आने वाले इन्सान का नज़रिया पेश किया गया है—

''वह आदमी की गुजरगाह शाहराहे हयात,
हजारों साल का बारेगतें उठाए हुए,
नये उफक से नये काफिलों की आमद है,
तिगे वक्त की रङ्गीन लौं बढ़ाए हुए,
× × × ×
उठो और उठके इन्हीं काफ़िलों में मिल जाओ,
जो मंजिलों की है गर्दे सफर बनाए हुए,
कदम बढ़ाए हुए ए मुजाहिदाने वतन,
मुजाहिदाने वतन हों कदम बढ़ाए हुए।''

चूँकि जाफरी की नज़्मों से हमें समाजी यथार्थ की सच्ची चेतना मिलती है, इसी कारण वह इन्कलाबी शायरी के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

'फिराक़' गजलगो शायर हैं और उन्होंने फिलासफी और सांस्कृतिक विचारों को एक नये अन्दाज से संवारा है; लेकिन सामूहिक इन्कलाब की अच्छी मिसालें भी उनके काव्य में मिल जाती हैं। उनके इन्कलाब का नजरिया बहुत साफ है—

१—शहद की मक्खी। २—शर्मिन्दा।

"देख रफ्तारे इन्कलाब ऐ दोस्त,
कितनी आहिस्ता और कितनी तेज़।"
"मानिए इन्कलाब मुझ से पूछ
एक नई जिन्दगी नया आदम"

इस नई जिन्दगी और नये आदम का स्वप्न हमारे दूसरे शायरों ने भी देखा है 'मखदूम' ने कितना आत्म-विश्वास से कहा है—

"वक्त की छागल से हम-आवाज़ है साज़े हयात,
अब कोई चाहे न चाहे इन्कलाब आ ही गया।

'फ़ैज़' की शायरी में भी भविष्य के प्रति आस्था जगह-ब-जगह प्रगट हुई है और आज के अन्धेरों के बाद नया सुबह के आसार उनके काव्य में भी झलक उठे हैं—

"सबा ने फिर दरे जिन्दां पै आके दी दस्तक,
सहर करीब है दिल से कहो न घबराए।"

उर्दू के आधुनिक काव्य में हुस्न और इश्क की दास्तानें भी एक नये अन्दाज़ से सुनाई जा रही हैं। हुस्न और मुहब्बत को कर्तव्य के आधीन कर दिया गया है। जैसे 'फ़ैज़' की नज्म है—

"मुझ से पहली सी मुहब्बत मेरे महबूब न मांग।"

इसके अलावा अहमद नदीम कासमी, साहिर लुधियानवी, कैफी आज़मी, गुलाम रब्बानी, ताबाँ, नकवी और मजाज, वामिक, वगैरह ने भी इंकलाबी शायरी को बड़ा फैलाव दिया है, और इन्हीं के हाथों नयी चेतना पैदा हो रही है और इस तरह इन सबने अपनी जिन्दगी का ज़माने की रफ्तार से पूरी तरह मिला लिया है। राजनैतिक तहरीकों में बङ्गाल के अकाल से लेकर तेलङ्गाना तक उर्दू में हर तहरीक पर नज्मे लिखी गईं और बाद को विश्व शान्ति के विषय पर भी बड़ी उपयोगी नज्मों का निर्माण हुआ। खलीलुल रहमान आज़मी ने अपनी नज्म अम्न में कलाकारों को इस तरह सम्बोधित किया है—

"आज तो अम्न की खातिर हमें लड़ना होगा,
अम्न नज़मों के लिए, रस भरे गीतों के लिए,
अम्न गुलज़ार पे खिलते हुए फूलों के लिए,
अम्न मजदूर के फौलाद से हाथों की हिफ़ाज़त के लिए,
अम्न बच्चों के ठुमकते हुए नाज़ के लिए।"

इसके अलावा वामिक जौनपुरी, गुलमान रब्बानी ताबाँ और आलम फतहपुरी ने आज़मी अम्न पर अच्छी नज्मे लिखी हैं जिनमें बड़ी गहराई और रचाव है।

आज का उर्दू काव्य अपनी पूरी शान के साथ वक्त के तकाज़ों के साथ है और आगे बढ़ रहा है॥

(पृष्ठ ३७४ का शेषांश)

१९४१ में ६४ वर्ष की अवस्था में 'मन आइयां' काव्य-संग्रह प्रकाशित कराया है। इनमें अनुभूति की गहराई है। गोपालसिंह दरदी की रचना (झनां) में तीन गुण हैं—विचार की गहराई, बोली की मिठास और रोमांस की तीव्रता। इन्होंने छोटे-छोटे छन्दों का सफल प्रयोग किया है। प्रीतमसिंह सफीर आत्मवादी भी हैं क्रान्तिवादी भी। दीवानसिंह कालेपानी भविष्य की ओर देखता है। प्रगतिवादी कवियों में हरिन्दरसिंह 'रूप' (रचयिता 'रूपरेखा' और 'डूंघे वहण') और करतारसिंह दुग्गल विख्यात कवि हैं। बाबा बलवन्त (रचयिता 'अमरगीत', 'ज्वालामुखी') क्रान्तिवादी हैं।

पंजाबी में हास्यरस की कविता करने वालों में एस० एस० चरनसिंह (१८९१-१९३५) और ईशरसिंह ईशर बहुत प्रसिद्ध हैं। ईशर में व्यंग्य का तीखापन बहुत है।

कवयित्रियों में अमृतकौर (रचनायें 'अमृत लहर' और 'श्री गीतां वाल्या'), अमृता प्रीतम ('लमियां वाटां', 'पत्थर गीटे', 'सरघी वेला') और प्रभजोतकौर प्रमुख हैं। अमृता प्रीतम की बँटवारे और पंजाब-काण्ड पर व्यंग्यपूर्ण कवितायें हैं। उनका शान्ति गीत बहुत लोकप्रिय है।

हिन्दी काव्य में आधुनिकता के जो गुण पाए जाते हैं वे सभी पंजाबी काव्य में विद्यमान हैं। अन्तर यह है कि पंजाबी में 'छायावादी युग', 'प्रगतिवादी युग' आदि नहीं हैं। वाद में बँधकर किसी ने कविता की सृष्टि नहीं की।

आधुनिक असमिया काव्य : एक झाँकी

श्री गोपालचन्द महन्त

सन् १८२६ के २४ फरवरी में असम ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में आया। उसी समय बङ्गाली भाषा ने असमिया भाषा को बुरी तरह दबा लिया। नेथन ब्राउन, माइलस ब्रनसन, लेवी, आनन्दराम ढेकियाल फुकन, हरकान्त बरुआ, हेमचन्द्र बरुवा, गुणाभी राम बरुवा आदि के यत्न से असमिया भाषा का पुनजन्म हुआ।

आधुनिक काव्य रीति का अभ्युदयः—आधुनिक शब्द का अर्थ केवल कालवाचक ही नहीं देश वाचक भी है। संक्षेप में कहा जाय तो अन्ध विश्वास, संकीर्ण अनुभव, प्रादेशिक संकीर्णता आदि से मानव को मुक्त करना इसका उद्देश्य है। कवि रत्नाकान्त, भोलानाथ, कमलाकान्त आदि की असीम चेष्टा से असमवासी उस संकीर्णता से मुक्त हुआ, देश-देशान्तर के लोगों के हाव भाव, रीति-नीति से परिचित हुआ।

असमिया कविता में नवन्यास का क्रम विकास—चन्द्रकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ, और हेमचन्द्र बरुवा को १६ वीं ई० के अंग्रेज 'विल', 'वड्सवर्थ' और 'शादि' की तरह असमिया कविता के नवन्यास के त्रिमूर्ति और 'जोनाकी' (१८८६) को नवन्यास की प्रथम प्रमाण पंजी कहा जाता है। चन्द्रकुमार की 'वन कुंवरी', 'जलकुंवरी', 'नियर' 'फुला सरियह डरा' आदि लक्ष्मीनाथ की 'प्रियत्तमार सौन्दर्य', 'भ्रम', 'कदम कली', आदि और हेमचन्द्र की 'प्रियत्तमार चिठि', आदि नवन्यास की उषा-स्वरूप हैं। इनके पूर्ववर्ती साहित्यिक रमाकान्त, कमलाकान्त, भोलानाथ, सत्यनाथ आदि और परवर्ती वेनुधर, पद्मनाथ, आनन्दचन्द्र, हितेश्वर आदि को इस नवन्यास के परिपूरक कवि माना जाता है। असमिया जन साहित्य की आलोचना और पुनर्प्रचार ने भी इस नवन्यास को अनुप्रेरणा दी। चन्द्रकुमार की 'तेजीमाला', 'वीणबरागी' आदि और लक्ष्मीनाथ की 'वीणा और वरागी', 'धन बर-रतनी', 'बदन चन्द्रर गीत' आदि इस श्रेणी के गीति काव्य हैं। इसके उपरान्त आनन्दचन्द्र अग्रवाल की 'फुल कुँवर', 'पानेशै' आदि कविता माला में जन-गीत काव्य का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रसंग में शिवनाथ आदि की प्रकाशित और भद्रसेन आदि की संग्रहित 'जोजोना-फकरा' (कहावट), 'आइनाम', 'वियानाम' के ग्रन्थ के उपरान्त योगेशचन्द्र की 'नचुकर्नि', सूर्यकुमार बरुआ की 'बरफुकनर गीत', डिम्बेश्वर की 'आकुल पथिक', भूवनमोहिनी की 'वियानाम', नकुलचन्द्र की 'बहागी', महेश्वर की 'जनागामरर गीत', डिम्बेश्वर की 'भोगजरा', नीलमणि की 'गुटिमाली' आदि का प्रचार उल्लेखनीय है।

असमिया स्वर्गीय कवियों में से गोपालचन्द्र देवेन्द्र नाथ, पद्मनाथ, उमेशचन्द्र, सिहदत्त, भवनाथ, गणेशगगै, आनन्द अग्रवाल आदि और वर्तमान के कवियों में से रघुनाथ, दुर्गेश्वर, यतीन्द्र, अम्बिका, पद्मधर, सूर्यकुमार, दण्डिनाथ, शैलधर, डिम्बेश्वर, देवचन्द्र, विनन्दचन्द्र, कमलेश्वर, अतुलचन्द्र, देवकान्त, नीलमणि आदि और कवियित्रियों में से यमुनेश्वरी, धर्मेश्वरी, नलिनी बाला, आजलीतरा, प्रतिभा आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं।

बेजबरुवा की कदमकली—स्व० लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा आधुनिक असमिया साहित्याकाश के उज्ज्वल तारा हैं। आप गद्य साहित्य के भी लेखक हैं। इनकी रचनाओं में रसिकता की भरमार है। प्रत्येक पंक्ति पाठकों को आनन्द देने के लिए उत्सुक रहती है। पंक्ति पर आँखें चलते ही होठों पर हँसी की रेखा आ जाती है। किन्तु यह समझना गलत है कि उन्होंने जितनी कवितायें अथवा रचनायें की हैं सभी हास्य रस के लिये ही लिखी गयी हैं। प्रत्येक पंक्ति उपदेशपूर्ण और समाज के सुधार के लिए लिखी गयी है। इनका प्रथम और मुख्य उद्देश्य है समाज-सुधार तथा जातीय जागरण और दूसरा है असमिया जाति को अपने कर्तव्य की याद दिला कर प्रगति की ओर ले चलना।

उठ असमीया नुशुबि आरु
कानिया बुलिब लोके।
कर्मनया सोरोपा बुलिब लागिले
मइ मरिजम शोके॥

(ओ असमिया! उठ, जाग। आलसी बन कर मत सो। अगर दूसरे लोग तुझे आलसी कहें तो मैं शर्म के मारे मर जाऊँगा।)

आदि कविता इसका प्रमाण है—

"शोवा ए शावा ए भारत सन्तान।
होवा दुइ मन होवा दुइ प्राण॥"

(ए असमिया, सो जाओ। तुम्हारे मन में एकता की भावना न हो, अलग अलग हो। यह कविता साधारण दृष्टि से देखने से जागरण का उल्टा मालूम होती है। किन्तु बेजबरूवा ने व्यंग्य अङ्कों से जाति की निन्दा की है। इनके बारे में डा० विरञ्चिकुमार बरुवा ने कहा है कि "बेजबरुवा की प्रति कविता तथा रचना में एक अलौकिक अर्थ के उपरान्त एक असाधारण अर्थ भी निहित रहता है। इसी के कारण ही उनकी रचनाएँ तथा कविताएँ सवदा जीवन्त हो रही हैं।" इनके 'कदम कलि' उपदेशपूर्ण है। नीचे के उद्धरण देखिए—

"जय लक्ष्मी आजियेइ आगत तोमार।
कालि बुलि वहि थाकि नहबा असार॥"

(तुम्हारे सामने जय लक्ष्मी विद्यमान है। अतः आलस्य से बैठे मत रहना।)

"स्व इच्छात यि भाव आहिव,
सेइ भावे श्रेष्ठ ठाइ लव।"

(स्वइच्छा से जिस भाव का जन्म होता है उसका स्थान मनोजगत में श्रेष्ठ होता है।)

"चिन्ता यदि परिणत नकरा कार्यत।
स्वप्नर निचिना ताक जानिबा मनत॥"

(जो चिन्ता कार्य में परिणत नहीं की जाती है वह स्वप्न के समान है।)

"मवे गढ़ा आदर्श नोपोवा, पृथिवीत यिमान विचरा।
यदि तुम आदर्शर अनुरूप करि निजक नगढ़ा॥"

(जब तक तुम अपने को आदर्शवान नहीं बना पाओगे तब तक कल्पित आदर्श जगत में कहीं नहीं पाओगे।)

आदि उपदेशों से भरपूर 'कदम कलि' आधुनिक असमीया साहित्य की अपूर्व रचना है। इनकी शैली विशुद्ध असमीया है। प्रायः सभी रचनायें तद्भव शब्दों से की हैं। कभी कभी पाठकों को हँसाने के लिये कुछ अंग्रेजी और हिन्दी (हिन्दुस्तानी) शब्दों को बेढङ्ग से अपनी कविता में स्थान दिया है। उदाहरण के लिये—

"Now look here Brinda बाइ,
go tell him, go:—
मइ राधा नहउ, बाँहि बाइ नचुवाव मोक So।
Let him go to Radha's Bowr,
here no चालाकि,
इनान शतल नहय चन्द्रा, मालर बोयारी नहय कि?"
"पेयार करके तोम कु गोद लेगा।
कोइ भी तकलिप् तोम नाहि पायेगा॥"

नीलमणि की "गुटिमाली"—कवि नीलमणि फुकन ने समाज के उपेक्षित जनों की भावनाओं का चित्रण किया है। कवि का मुख्य उद्देश्य है समाज में शिक्षित-अशिक्षित, नगरवासी-देहाती आदि के विचार में मानबीय अन्तःकरण के गुण सम्बन्धी तारतम्य का विशेष भेद नहीं है। इसका आधिक्य केवल अहंकारी लोगों के मन की प्रतिक्रिया में ही पाया जाता है। आदमी को मन ही चिरकाल से प्रवंचित करता आया है। मन के कारण ही लोग मोहान्ध होते हैं। जिसका अन्तः करण पवित्र है उसका यह अस्थिर मन नाश नहीं कर सकता। मोहांध स्वार्थी, शिक्षाभिमानी समाज के शीर्ष स्थान में बैठने से शुद्ध चित्त देहाती व्यक्ति के काय-कलाप अत्यन्त प्रशंसनीय और सुखदायक हैं। उसे दिखाने का प्रयत्न 'गुटिमाली' में किया गया है।

"जाने दुखियाइ दुखियारे बेली,
रादि येपरते उलाय।
सन्धिया लागिले तारो पाछत है,
दुखीयारे बेली मार जाय॥"

अर्थात् गरीब जानता है कि उसका निर्वाह कष्टों के बीच में ही होता है। सुख की नींद सोना उसके भाग्य में

नहीं बदा है। इसलिए यह दुख से नहीं डरता।

रघुनाथ चौधरी का 'कविता कुंज'—श्री रघुनाथ चौधरी असमीया काव्य-जगत के एक असाधारण कवि हैं। इनकी शैली, भावधारा और शब्द योजना के अनुसार हिन्दी कवि गुप्तजी की श्रेणी में इनको रख सकते हैं। विहगी कवि के नाम से आप प्रसिद्ध हैं। इनकी लिखी हुई कविताओं में से 'कविता कुञ्ज' सर्व श्रेष्ठ हैं। कविता कुञ्ज की सारी कवितायें मोहक हैं। इनकी कविताओं में प्रकृति-वर्णन अति सुन्दर है। "अयि अनव गुंथिता फुल्ल-शिखरिणी" आदि कविता में प्रकृति की छटा ही नहीं भावावेग की भरमार है। इनकी कविता में कोई रोक थाम नहीं है। भावों के क्रम विकास के साथ कला का भी क्रम विकास होता जाता है। इनका स्थान रहस्यवादी कवियों में माना जाता है।

श्री दण्डि कलिता का 'असम सन्ध्या महाकाव्य' आधुनिक असमीया महाकाव्य 'असम सन्ध्या' असमीया काव्य कानन का एक नव प्रस्फुटित पुष्प है। आहोम राजाओं ने सन् १२२८ से १८२६ तक असम पर शासन किया जिनके नामानुसार प्राचीन कामरूप का नाम असम पड़ा। इस ग्रन्थ में आहोम राजा चन्द्रकान्तसिंह के राजत्वकाल में ब्रह्मदेश के सामन्त मिमिहा तिलोवा ने अजस्र मान सैन्य लेकर असम आक्रमण किया। उस आक्रमण से घटित प्रसिद्ध घटनाओं का सम्पूर्ण विवरण इस काव्य में दिया गया है। गुप्तजी ने अपने साकेत को जहां-जहां नाटकीय ढंग से लिखा है वहां पाठकों को प्रायः भ्रम होता है कि यह युक्ति किसकी है। इसके अलावा साकेत में छन्द दोष भी पाए जाते हैं। लेकिन 'असम-सन्ध्या' में उक्ति के विषय में ऐसा भ्रम नहीं होता है। द्वादश सर्ग के अन्त में उन्होंने लिखा है—

"केतिया प्रभात हब सि महादिनर
यिदिना उथिब जागिलुप्त जातीयता।
असमे बन्धन छिडि पर दाशत्वर,
उद्धारिब लुप्त कीर्ति, लुप्त स्वाधीनता।"

इससे उन्होंने भविष्य का परिणाम बताया। परिणाम यह हुआ कि असम की स्वाधीनता छीनी गई और दासत्व शृङ्खल में जकड़ा गया। प्रथम सर्ग में अतीत की घटना का आरम्भ किया। प्रधान मन्त्री पूर्णानन्दबुढ़ा गोहाय और राजमाता नुमली के कथोपकथन में यह स्पष्ट हुआ कि आहोम राज परिवार में सिंहासन के लिए किस प्रकार अन्तर्द्वन्द्वाग्नि प्रज्ज्वलित हुआ था। उदाहरण के लिए नीचे की पंक्तियाँ देखिए—

"दिन पति एकेराहे करि परिश्रम,
भाविछिलों भला राज्य गढ़िम पुनर,
किन्तु तात बाधाबहु, पथत कंटक।
स्वर्ग देवे ईष्टानिष्ठ नुबुजे निजर,
नुबुजिले काल स्वार्थ रक्षार कारणे,
युजिछो इदरे मइ नलइ विश्राम।

युद्ध का वर्णन भी बड़ा ओजपूर्ण है—

"बाजिल रणर बाद्य गगैर कोठात,
सघने कंपाइ वायु तुलि जय ध्वनी।
उठिल भीषण यवनी गुरुम गुरुम,
उठिल शोणित नाचि सेनार शिरत,
ततालिके खलाचिये मारिले हिलइ,
धुप धाप मान सेना परिल बागरि।"

इनका प्रकृति-वर्णन सुन्दर नहीं माना जा सकता है किन्तु यह कहना गलत होगा कि आप प्रकृति-वर्णन में अकुशल हैं। नीचे लिखे उद्धरण से ही इसका पता चलेगा। आपने अपने काव्य के प्रारम्भ में प्रकृति का वर्णन इसी तरह किया है—

"दिक्करवासिनी यार पूब सीमा रेखा,
पश्चिमत पुण्यतोया करतोया नइ
गिरिमाला विभूषित उत्तर दक्षिण,
बुकुतेदि बय यार स्तन्य धारा ढालि
महानन्द ब्रह्मपुत्र अजस्र धारेरे,
प्रकृतिर काम्य भूमि सेये कामरूप,
विधातार आदि सृष्टि, कृष्टिर प्रसूति।"

आधुनिक मणिपुरी काव्यों पर विहंगावलोकन

श्री मणिस्ना शर्मा, शास्त्री, राष्ट्रभाषा-रत्न

आधुनिक काल का प्रारम्भ सन् १९१३ से माना जाता है। श्री डा० कमलसिंह की कविताओं में देश-प्रेम, कोमल हृदय का परिचय, ऊँचे विचार, सत्य में निर्भीकता आदि के भाव पाये जाते हैं। इन्होंने अधिकतया मुक्तक रचनाएँ कीं। "नैपरें" मुक्तक कविताओं का संग्रह है; उसकी कविता "मैतैचनु" में साहित्य की बड़ी सुन्दर कल्पना की है—

पुक्नि लैफोन्दरशातया लैरां हेक्तुना—
लिंजेल मान्नबा लंखाना लैंदुना—
खांबा कनब्गी चेन्दा इदां हाप्तुना,
कत्खुसि ऐमागी खुयादा

अर्थ—हृदय-रूपी उद्यान में विकसित पुष्प को (या हृदयोद्भासित काव्य को) तोड़ कर (उपहार योग्य बनाकर) एकता रूपी सूत्र में बाँधकर (या एक ही मार्गगामी होकर) सहनशील—पुष्पदानी में भरकर उस हृदय-रूपी पुष्प को हम सब मिलकर माता के चरण में समर्पण करें।

आपकी "विश्वप्रेम" कविता में विश्व-प्रेम के उच्च आदर्श को संक्षिप्त वर्णन में समझाया गया है। संसार में प्रेमी के लिए प्रेमिका ही सर्वस्व है। उसके कठिन से कठिन कामों से लेकर सरल से सरल चेष्टा तक प्रेमी को प्रिय है—

शनरीक परें नंशिबगी, हुक्कोक्तुनानु शिबगीङ्कशमदगी
चेकवदा शिबिबा ङम्लबा, प्रेमिक कौइ नुपादु अशेंबा :

जो प्रेमिक अपनी उस प्रेमिका के गले से (प्रेमरूपी) स्वर्णमाला उतार कर अपने शत्रु के गले में पहना सकता है, वही सच्चा प्रेमिक (विश्व-प्रेमिक) कहलाता है।

"हौजिक्की……साहित्य" (आधुनिक-साहित्य) में कवि अपनी मातृ-भाषा साहित्य से परे किसी साहित्य के पीछे पड़ना "माया मरीचिका" पाने का प्रयास बताते हैं।

येंउ, इमा अपंबा नचाशिंना, ईशिंचाइद्दुना नंगी नखोंदा
लाकरि पूरबी तौबा मरुभूमिदा ! तान्नरि फाग दबगी
माया मरीचिका।

माँ, तुम्हारे कितने ही अबोध बच्चे तेरे पेरों में पानी न डालकर (मातृ-भाषा की उन्नति न करके) पराई भूमि रूपी मरुभूमि में तालाब खोद रहे हैं; यह तो जैसे—माया मरीचिका पाने का व्यर्थ प्रयास करना ही है।

आपका 'माधवी' सामाजिक उपन्यास, उच्चकोटि के उपन्यासों में एक है। इसमें—प्रेम में त्याग, तथा नारियों के—वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि—हृदय का सुन्दर चित्रण किया गया है।

कविरत्न श्री हिजम अङाहलसिंह—आप बड़े भावुक कवि हैं। मानवों के अन्तःकरण तथा वाह्य-प्रकृति के चित्रण करने में आपको पूर्ण सफलता मिली। आपने अनेक महाकाव्य तथा खण्ड-काव्य लिखे। 'याइथी कोनु' आपका प्राचीन ऐतिहासिक खण्ड-काव्य है। 'लम्बाल' आपका सुन्दर गद्य-काव्य है। इसमें मणिपुरी गद्य-भाषा की सुन्दर शैली का नमूना मिलता है।

'मोइरां योइबी' आपका ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् की छाया दीख पड़ती है—

इस महाकाव्य में प्रायः सभी रसों का परिपाक हुआ, विशेषतः शृङ्गार, वीर, करुण, भयानक, वात्सल्य रसों का अच्छा परिपाक हुआ।

इन्होंने कई गम्भीर भावपूर्ण कवितायें भी लिखीं—

'मिचत् थिबा' (यशोऽन्वेषण) कविता में गीता के चारों चरणों में कर्मयोग की चतुः सूत्री श्लोक—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्म फलहेतु र्भुर्मा ते सङ्गोस्त्व कर्मणि।

के भावों को कविता के रूप में व्यक्त किया। यशोकामी क्या नहीं करता? संसार के सभी काम यशोहेतु किये जाते हैं पर आसानी से पाते नहीं। कविता के अन्त में यशोधिकारियों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

नंबु फंगे निबना नंबु फंन हौनद्रा
नंबु फंगाइ. निबना नंबु फंन हौनद्रा

हे यश ! तुझे पानेच्छुक आसानी से नहीं पा सकते और जो तेरी अभिलाषा मात्र से काम नहीं करता, वही तुझे पाने का अधिकारी है।

यशः प्रार्थी से निष्काम-कर्म करने को कहते हैं—

मिचत् पाम्बा निराओ नंगी शरुक खाकपरा।
ताउजङ मागी-महैदो नंना चागे खनबरा॥

हे यशःप्राथि ! तुम जितने काम करते हो, उनके फलों का अपना हिस्सा मत रखो, उस फल को भोगने की इच्छा मत करो, अर्थात् निष्कामी होकर कर्म करो न कि यश के लोभ से।

'अरेम्ब नत्ते' (निरर्थक नहीं है) आपकी मई १९३३ वीं में रचित रहस्यवाद की उच्च कविता है। इसमें इसी संसार से ही उस परमात्मा की ओर जाने का मार्ग मिल सकता है और संसार में आने की मानव-जीवन की सार्थकता सांसारिक दुःख भोगना ही है आदि भाव संचित वाक्यों में व्यक्त किये गये हैं।

कवि सांसारिक गति को नदी-धारा और मुमुक्षु को किनारे खड़े होकर सतृष्ण दृष्टि से देखने वाला बताते हैं—

इचेल तां थक लेतबा, अमृत इचेल ओइरबा,
पुन्सि तुरेल मयान्दा, कनानो हन्नायेंलिबा ?

इस स्वच्छन्द गति से बहने वाली अमृतमय मानव-जीवन की नदी के तट पर खड़े होकर त्याज्यमान: संसार की ओर दुःखपूर्ण दृष्टि से देखने वाले (पार करने के अभिलाषी) तुम कौन ?

ज्ञान या आनन्द अपने अन्तःकरण में ही विराजमान है, बाहर से नहीं। कवि यही सन्देश सुनाते हैं—

लोंका तारबा मणिगुम लैबनि नंगी लक्यानुंदा,
मणिगी थांमै पायदुँना-लम्बी अदोमदा कुम्मकउ।

जिस प्रकार किसी बड़े जलाशय में पड़ी हुई मणि शान्त भाव से रहती है उसी प्रकार तुम्हारे हृदय में मणि-मय ज्ञान-दीपक विद्यमान है उस मणि को लेकर उसी ज्ञान मार्ग पर (ईश्वर प्राप्ति मार्ग पर) आओ।

श्री हवाइ व नवद्वीप चन्द्रसिंह—आप बड़े प्रतिभाशाली कवि हैं। 'तोनुलाइबी लेम्बी' आपका ऐतिहासिक काव्य है। इसमें आपकी कवित्व-शक्ति का परिचय पाते हैं। 'साहित्य अहान्बा' में अनेक चरित्र गठन-मूलक उपदेशात्मक विषयों को लेखबद्ध किया गया है। बङ्ग कवि माइकेल मधुसूदन के 'मेघनाद-वध' काव्य का इन्होंने योग्य ओजस्विनी मणिपुरी भाषा में ऐसा रूपान्तरित किया है कि पाठक को मौलिक रचना-पाठ का-सा आनन्द मिल सकता है। इन्होंने कई मुक्त-कवितायें भी लिखीं।

'मतम गी इचेल'—(समय का प्रवाह अर्थात् जमाने की हवा) इस कविता में जल-स्रोत से समय के प्रवाह का रूपक बाँध कर उसमें बाँध लगाने को असम्भव बताया है।

चिंजिल्ल अङ्कपा पाम्बैना; नमखायनि इचेला,
हैन्दोकनाङ्कपा पाम्बैना, पाङ्गल्लगा इचेला॥

समय के प्रवाह अर्थात् जमाने की हवा को यदि कड़ी बाँध देकर बाँधना चाहें तो—उसको भी मात करने वाला आश्चर्यजनक तेजी स्रोत द्वारा वह बाँध तोड़दी जायगी अतः जमाने की हवा को रोकना केवल आश्चर्यजनक नहीं अपितु असम्भव है।

श्री रुनाइ राकयम चाओबसिंह साहित्य-रत्न (सन् १८६५–१९५०)—आप सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली कवि हैं। इन्होंने कई मणिपुरी-सङ्गीत-रचना तथा कई पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन करके साहित्य की स्तुत्य सेवा की।

इन्होंने कोई महाकाव्य न लिख कर विविध प्रकार की शिक्षाप्रद, गद्य-पद्य की पाठ्य-पुस्तकें लिख कर कई अभावों को पूर्ण किया—'फिदम', 'वाखल', 'छात्रमथा' 'कान्नबाबा', 'वाखलगी इचले', 'थाइनगी लैरां', 'साहित्य अहान्बा' आदि। इनके कई संस्करण निकल चुके हैं।

'लवङ्गलता' आपका उच्चकोटि का एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें वीर रस तथा शृंगार रस का अच्छा परिपाक हुआ है, और एक आदर्श भाई का आदर्श चरित्र और एक संकीर्ण मनवाले भाई का कुत्सित चरित्र सफलता से चित्रित किया गया है। इनकी कविताओं में रहस्यवाद के भाव फूट पड़ते हैं। कमल से मानव जीवन की उपमा अपने ढङ्ग की निराली है—

थम्बाल कौबो लैनुंशी एखोयसुनखोय गुम्बानि
ताइब इपाक थकसिंदा, केन्नबा शात्पनि।

हे कमल, हमारे जीवन भी तुम्हारी तरह ही हैं हम भी इस संसार-सरोवर में मर-मिटने के लिए ही विकसित हैं।

विदेशी भाषा-साहित्य पढ़ने से अपने देश के लोग विदेशीपन के रङ्ग में रङ्ग जाने का कवि को डर है—जो 'निंखाइरे' (फूटपड़ा) कविता में व्यक्त है—

मेल्लो लाओ मेल्लो लाओ, लेइन निंखाईरे।
साहित्य पनयाइमक्तं हानना नमखाइरे ॥

(सबसे पहले) हमारे देशीय साहित्य-रूपी बाँध के बीचों बीच फूट पड़ी, विदेशी साहित्य की बाढ़ से सब बहे चले गये। आओ इस छेद को भर दो।

"थोंद्रे इमा ऐमी बीणा से"—(माँ मेरी वीणा निनादित नहीं हुई) कवि के जीवन सन्ध्या के करीब की कविता है। जीवन भर कवि के वाद्य-वीणा के संगीत-गान मात्र से वह अपनी हृत्तंत्री न हिला सका, न तृप्ति मिली—

पीवियु इमा अमेंबा मिजराब
खचगे थम्मोइगी तारदा !
थोकसनु नामिबा मलया
ताजगे नाकोंसि पेबा !

मैंने अपने साधारण कर से वीणा बजाने का कई बार प्रयत्न किया, पर अब तक मन-माफिक ध्वनि नहीं ध्वनित हुई, अतएव हृत्तंत्री से ध्वनित कर सकने वाला कोई मिजराब दीजिये; मैं उसी से हृत्तार में निनादित करूँगा, तब असाधारण कर्णमधुर-ध्वनि निकलेगी, उसी से अपने कानों को सार्थक करूँगा।

(पृष्ठ ३८८ का शेषांश)

नवीन सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति कराना चाहते हैं। वे केवल क्रान्ति से ही सन्तुष्ट नहीं।

इस तरह हम देखते हैं कि तेलुगु में नवीन कविता की प्रगति दिन-दूनी रात चौगुनी हो रही है। इसका साहित्य भण्डार अमूल्य काव्यरत्नों से भरता जा रहा है। विषयों की गम्भीरता, अलङ्कार, भाषा एवं छन्द आदि विविध बातों में तेलुगु साहित्य की नवीन कविता किसी भाषा से कम नहीं।

श्री पापय्य शास्त्री हिन्दी के पण्डित होने के कारण हिन्दी के कवियों से प्रभावित हैं। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय का गुलाब का फूल नामक कविता को आधार मान कर इन्होंने तेलुगु में 'पुष्पविलापमु' नामक कविता लिखी। उसमें एक पद्य इस प्रकार है :—भगवद्भक्त सवेरे गङ्गा में स्नान करके भगवान की पूजा करने के लिए फूल लेने एक फुलवाड़ी में पहुँचा। उसने फूल तोड़ने के लिए डाल पर हाथ डाला ही था कि उससे फूल ने कहा—

बुद्धदेवुनि भूमिलो पुट्टिनावु,
सहमगु प्रेम नीलोन चच्चेनेमि।
अंदमुनु हत्यचेसेडि हतकुण्ड,
मैलपडिपोयेनोयिनी मनुज जन्म ॥

अर्थात् हे मानव तुमने ऐसी पृथ्वी पर जन्म लिया जिसमें बुद्ध भगवान ने अपने प्रेम व अहिंसा का सन्देश सुनाया था। आज तुममें वह स्वाभाविक प्रेम लेशमात्र भी नहीं है ? क्या वह प्रेम मर गया ? हे सुन्दरता को मिटाने वाले मानव तुम जल्लाद हो। तुम्हारी मनुष्यता कलङ्कित है।

(पृष्ठ ३८५ का शेषांश)

सङ्घर्ष, पीड़ित, लांछित जनता की करुण आवाज, क्रान्ति का सन्देश मुख्य हैं। इसके कवि राधानाथ गड़नायक, सचीराउत राय, मनमोहन मिश्र, कुञ्जबिहारीदास आदि हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ लेखक ऐसे हैं जो कि भाव-पक्ष आधुनिक युग के होते हुए भी कला-पक्ष को रीतिकालीन परम्परा के अनुसार अपनाये हुए हैं। जिनमें विछन्दा चरण पट्टनायक प्रधान हैं।

इस समय गद्य साहित्य की भी काफी प्रगति हुई है। इसमें भी प्रगतिवाद की भावधारा प्रभावित हो रही है। इनका मुख्य विषय धनी, गरीब की समस्या तथा वर्ग-सङ्घर्ष है। आज उड़िया साहित्य में उपन्यास तथा कहानी के लेखकों की बाढ़ आ रही है। इसमें सुप्रसिद्ध लेखक ये हैं—गोदावरीश महापात्र, कान्हुचरण, कालिन्दीचरण पाणिग्राही, गोपीनाथ महान्ति, नित्यानन्द-महापात्र, राजकिशोर राय, अनन्तप्रसाद पण्डा, लक्ष्मीधर साहु, हरेकृष्ण महाताब आदि।

आधुनिक उड़िया साहित्य की एक झलक

श्री वनमाली दास

उड़िया भाषा की उत्पत्ति तब हुई जब कि हिन्दी तथा बङ्गला भाषा की उत्पत्ति हुई थी। पर इनके विकास मार्ग में कुछ भिन्नता पाई जाती है। यह भी स्वाभाविक ही है। क्योंकि प्रत्येक भाषा तथा साहित्य की अपनी परम्परा होती है और उसी परम्परा के अनुसार वह आगे बढ़ता है। उड़िया देश-काल तथा वातावरण के अनुरूप जनता की चित्त-वृत्ति का प्रतिबिम्ब उड़िया साहित्य में आरम्भ से मिलता है। समाज की धारणा जब-जब बदली है, साहित्य में भी परिवर्तन हुआ है।

आधुनिक काल को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रारम्भिक काल और नवीन काल।

प्रारम्भिक काल:—भाषा, भाव तथा शैली की समन्वित दृष्टि से देखने पर आधुनिक उड़िया साहित्य का प्रारम्भिक काल राधानाथ के रचनाकाल अर्थात् १८६० ई० से ही माना जायेगा। उस काल में उड़िया-साहित्य की दिशा का परिवर्तन हुआ। पहले के कवियों ने रीति-कालीन कुरीतियों का दासत्व स्वीकार कर उड़िया-साहित्य को बेड़ियाँ पहना रखी थीं। नायिकाओं का नख-शिख वर्णन, नायिका भेद, संयोग-वियोग, शृङ्गार का चित्रण, अलङ्कारों की भरमार तथा भाषा की कठिनता ने कविताओं की दुनिया पर अपना आसन जमा लिया था। मौलिकता का एक प्रकार से तिरोभाव हो गया था। बहुधा पिटी हुई उक्तियाँ, प्रायः वही छन्द और सदा एक ही विषय पर रचना होने लगी थी। जिससे पाठकों के साथ ही साथ कवि भी स्वयं ऊबने लगे थे।

समय ऐसा आया कि जिसमें अंग्रेजी शासन देश में कायम हो गया। सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में परिवर्तन होने लगा। अंग्रेजी-भाषा को शिक्षा के प्रति लोगों की अभिरुचि क्रमशः बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी भाषा, भाव तथा शैली का प्रभाव अधिक रूप में हमारे साहित्य पर पड़ा। साथ ही साथ राष्ट्र में एक नयी चेतना का उत्थान हुआ तथा जनता में राष्ट्रीय-भावना की जागृति हुई। कवि लोग भी इस भाव से प्रभावित होकर रचना करने लगे। इसका प्रमाण राधानाथ राय की 'बारबाटी' और गङ्गाधर मेहर की 'भारत भारती' देती हैं। इस समय उड़िया साहित्य में प्रतिनिधि कवि राधानाथ राय थे। इनके सिवाय मधुसूदन राव, भक्त मधु, पल्लिकवि नन्दकिशोर, गङ्गाधर मेहर, फकिर मोहन सेनापति, कुन्तल-कुमारी तथा गोपबन्धु आदि।

राधानाथ राय—एक उच्च कलाकार थे। इनका साहित्य देश के लिये दर्द से भरा हुआ है। समाज की कुरीतियों पर व्यंग्य करता है, और मर्म-स्थलों पर कोमलता तथा सहृदयता से स्पर्श करता है। साहित्य की जो परम्परा चली आ रही थी, उसके पथ निरोधक तथा नवीन पथ-प्रदर्शक यही थे।

राधानाथ प्रकृति के कवि थे। ये सूक्ष्म द्रष्टा थे। इन्होंने प्रकृति और मानव जीवन के पारस्परिक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। इन्होंने बहुत काव्य लिखे। जिनमें 'महायात्रा', चिल्किा, पार्वती, उषा, बारबाटी आदि प्रसिद्ध हैं। इनके काव्यों में जो स्थान नारी को मिलना चाहिये था वह नहीं मिला। इनकी नारी उड़िया जाति की कुल वधू नहीं हो सकी। इसका एकमात्र कारण, इन पर अंग्रेजी का काफी प्रभाव पड़ा था। यहाँ की गृहिणी को ये अंग्रेजी चश्मा लगाकर देखते थे। इनके अतिरिक्त इनके काव्य सर्व गुणों से परिपूर्ण हैं। इनकी 'महायात्रा' में रहस्यवाद की झलक पायी जाती है। उनका यह काव्य महाकाव्य ही है।

मधुसूदन राव—की रचनाएँ देश-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। इनकी यह उक्ति कितनी मार्मिक है! देखिये—

तुहिमा जन्म-भूमि, पवित्र भारत भूमि,
तोहर सन्तान आमे अंटु सखे,

तोर श्रीचरणे सेवा पांइमन प्राण देवा
गाइवा तोहर नाम आनन्दले,
तो आनन्द होइवा सुखी
कान्दिवा दुःखरे तोर होइण दुःखी।

अर्थ—हे पवित्र जन्म-भूमि भारत! तेरी हम सब सन्तान हैं। हम सब अपने मन तथा प्राण को तेरी चरण सेवा में लगा लेंगे और पुलकित होकर तेरी कीर्ति गान करेंगे। सर्वदा तेरे सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होंगे।

गङ्गाधर मेहर—इनकी रचनाओं में गहरी अनुभूति के अतिरिक्त उड़िया जाति की संस्कृति-सभ्यता तथा आचार-विचार आदि प्रतिबिम्बित होते हैं। राष्ट्र भाव से कवि का हृदय भरा हुआ था। जिससे प्रेरित होकर उन्होंने 'भारत भारती' नामक एक सुन्दर काव्य लिखा। वह ऐसे ढङ्ग से लिखा गया है जिसके प्रत्येक शब्द के दो-दो अर्थ होते हैं। विशेष रूप से इसमें अंग्रेजों के प्रति व्यंग्य किया गया है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'तपस्विनी' और 'प्रणय वल्लरी' हैं। इसके अलावा 'कीचक वध, 'अर्घ्य-थाली' आदि बहुत से काव्य लिखे हैं। इन्होंने अपने काव्यों में नारी को बहुत उच्च स्थान दे रखा है। इनकी नारी अपना आद्योपान्त व्यक्ति कल्याण समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिये हैं। उनमें चरम आदर्शों की स्थापना करके भी पूर्ण लौकिक, पूर्ण सांसारिक और पूर्ण ममतामयी बनाये हुये हैं। उनकी नारी घर और समाज दोनों में उपयोगी तथा विश्व-कल्याण-कारिणी है। इनके मुख्य विषय ईश्वर, जाति तथा प्रकृति हैं। तपस्विनी में उषा का मानवीकरण कितने सुन्दर ढङ्ग से किया है। देखिये—

"मङ्गले आँउला[1] उषा विकच राजीवदृशा,
सतींक नयन तृषा अंगर[2] वही"
कर पल्लवे नीहार सखी धरि[3] उपहार,
सतींक वास वाहार प्रांगणे रही[4]।
कल कण्ठ कण्ठे कहिल[5]।
उठ[6] सती राज राणी राति[7] पाहिला[8]।

इसमें छायावाद की झलक भी पायी जाती है।

१ आयी, २ अङ्क में लेकर, ३ उपहार लेकर ४ आँगन में रहकर, ५ कहा, ६ उठो, ७ रात, ८ बीती।

'अर्घ्य-थाली' में छायावाद की प्रवृत्ति कुछ अंश में मिलती है। इनकी कुछ ऐसी रचनाएँ हैं, जिन पर गांधीजी का भी असर है। इनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ होते हुये भी सरल है।

गोपबन्धु—ये नेता थे, राष्ट्र के सच्चे सेवक थे। स्वाधीनता आन्दोलन के अग्रदूत थे। उड़ीसा में अगर कोई जन-सेवी तथा जन-मन के पहचानने वाला हुआ है तो गोपबन्धु ही। उनका हृदय कवि का हृदय था। कारावास में रहकर 'कारा कविता', 'बन्धीर आत्मकथा' आदि लिखे। उड़ीसा के प्रधान पत्र 'समाज' का प्रतिष्ठाता हैं।

इस समय गद्य-साहित्य का पूर्ण विकास हुआ। आधुनिक उड़िया साहित्य में गद्य काव्य का जन्म-दाता 'फकिर मोहन सेनापति' ही हैं। इनके साथ ही साथ गोपाल चन्द्रप्रहराजभी। इनकी रचनाओं में जाति के जातीय जीवन के सारे चित्र खींचे गये हैं। उनके लेख मुट्ठी भर उच्च शिक्षितों के लिये ही नहीं अपितु सारी जनता के लिये हैं। इन्होंने लगभग १० उपन्यास लिखे हैं।

प्रहराज जा ने उड़िया साहित्य को एक अमर दान दिया है। उनका 'पूर्ण चन्द्र उड़िया भाषा कोष' शब्दों का एक वृहत् भण्डार है। इसको सात खण्डों में बाँट दिया गया है। जिसमें भारत की प्रायः सारी भाषाओं के शब्द पाये जाते हैं। इसके सिवा उपन्यास आदि लिखे हैं।

लगभग १६४० ई० से नवीन युग का सूत्रपात हो जाता है। इस समय यथार्थवाद को अधिक महत्व दिया गया। परम्परा से आती हुई स्थूलता, कथात्मकता, रीति-बद्धता, नीरस तुक (मित्राक्षर) तथा छन्द नियम आदि के विरुद्ध कल्पना, व्यक्तिवाद, मुक्तक छन्द (अमित्राक्षर) आदि का प्रचलन हुआ। इन कवियों की कविताओं में स्वाभाविक रूप से लाक्षणिक प्रयोग, मूर्तिमता, सजीवता तथा सुकुमार कल्पना और सूक्ष्मता पायी जाती है। इस युग के कवि कालिन्दी चरण पाणीग्राही, मानधर मानसिंह, पद्मचरण पट्टनायक, गोदावरीश मिश्र, निलकण्ठदास, कुञ्जविहारीदास, कालिचरण पट्टनायक, जानकी वल्लभ पट्टनायक आदि हैं।

इसके साथ प्रगतिवाद का भी जन्म हुआ। इसमें वर्ग

(शेष पृष्ठ ३८३ पर देखिए)

तेलुगु काव्य की आधुनिक धारा

श्री वि० थल० नारायणचारी

तेलुगु साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १६०० ई० से माना जाता है। इस युग में तथा इसके पहले देश में कई राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, एवं साहित्यक क्रान्तियाँ हुईं, जिनका प्रभाव तेलुगु साहित्य पर प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रूपों से पड़ा है। इन प्रभावों के कारण तेलुगु कविता की काया पलट-सी होगई। क्या भाषा, क्या भाव, क्या व्यंजना सब में नवीनता का दर्शन होने लगा।

नवीन धारा अथवा नवीन कविता को तीन भागों में बाँट सकते हैं:—

(१) प्रथम युग (१६०० से १६२० ई० तक)
(२) द्वितीय युग (१६२० से १६३० ई० तक)
(३) तृतीय युग (१६३० से अब तक)

बीसवीं सदी के पहले भाग में ही आधुनिक युग की कविता में नवीनता के दर्शन होने लगते हैं। जो कविता इसके पहले राजाश्रित थी, जो केवल राजदरबारों में ही सुनी जाती थी, आज शहर-शहर और गाँव-गाँव में सुनी जाने लगी। साधारण जनता की पहुँच में कविता आगई। 'तिरुपति वेंकटेश्वर कवुलु' (तिरुपति शास्त्री और वेंकट शास्त्री) नामक दो कविरत्न ऐसे थे जिन्होंने तेलुगु कविता को प्राचीन बन्धन से मुक्त करके साधारण जनता के दिलों तक पहुँचाया। ये कविद्वय संस्कृत एवं तेलुगु के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे। भाषा उनकी चेरी थी तथा भाव उनका अनुचर। कविता करना उनके लिए बाएँ हाथ का खेल था। उनकी कविता की विशेषता यह थी कि भाषा व भाव दोनों सरस एवं सरल थे। प्राचीन तथा नवीन युग के सन्धिकाल में जन्म लेने के कारण नई एवं पुरानी शैली का गङ्गा-यमुना प्रयोग हम उनकी कविता में पाते हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि इनमें संस्कृत एवं तेलुगु दोनों भाषाओं के अन्दर समान गति थी:—

संस्कृत— यत्कारुण्या जगत्यधिपतिर्जीयते गर्भ रिक्तो
यस्याः कोपान्निध मनुजो जायते राज तुल्यः
यस्याः पुत्रैस्सकल जगती भ्राम्यते दैवतां तां
त्यक्त्वा त्रातुं निरतमपिमां ज्येष्ठ लक्ष्मी नमामि।

तेलुगु—करुणदलिप जूचिन नखण्ड रिरोत्तमुडैन रिक्तुडौ
मुरुतर कोप दृष्टिगन नोकतलन्चुन रिक्तुडैन क
वरुड्गु नेमहाजननि पवि जगमु परिभ्रमिंचुना
सार दधिराजु पेद्दसुत चय्यन नन्विडनाड प्रोवुतन्।

(शतावधानसार पूर्वार्ध पृष्ठ २६)

उपर्युक्त दोनों पदों का अर्थ एक ही है। ऐसी उनकी हजारों कविताएँ हैं जिनके बारे में यहाँ हम स्थानाभाव के कारण वर्णन नहीं कर सकते। इनके काव्यों में शतावधानसार, नानाराजसंदर्शन, काव्यकुसुमावली एवं बुद्धचरित्र आदि प्रसिद्ध हैं। इन्हीं कविद्वय के शिष्य तथा प्रशिष्य आगे चलकर सरस एवं मधुर कवि बने।

नवीन धारा की कविता दो रूपों में व्यक्त हुई—कुछ गीतों में और कुछ खण्ड-काव्यों के रूप में। यद्यपि गीत एवं खण्ड काव्य तेलुगु साहित्य के लिए नए नहीं थे फिर भी उतने व्यापक नहीं थे। इन गीतों की भाषा, भाव तथा व्यञ्जना सबमें हमें नवीनता दिखाई पड़ती है। गीत-पद्धति में नवीनता लानेवालों में श्री गुरजाड अप्पाराव का अग्रस्थान है। इनके गीतों में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। श्री प्रेमचन्द्र जी की तरह इन्होंने भी भाव-क्षेत्र में गागर में सागर भर दिया है। आन्ध्रदेश में जो राष्ट्रीय चेतना आज गाँव-गाँव में दिखाई देती है इसका श्रेय नवीन धारा के कवियों को ही मिलना चाहिये।

उनके प्रसिद्ध गीतों में एक गीत यह है:—

देशमन्ते मट्टिकादोय देशमन्ते मनुजुलोय।
देशभिमानम् नाकु कद्दनि ओहि गोप्पलु चेप्पुकोकोय।
पनि येदैनानु ओकमेल कूर्चि जनुलकु चूपवोय।

स्वन्तलाभं कोंत मानुकु पोरुगुवाटिकि सायपडवोय ।
॥ देशमन्ते ॥

अर्थात्—देश का मतलब मिट्टी से नहीं, देश का मतलब उसके निवासियों से है। तुम ऐसी डींग मारते हो कि मैं भी देशभक्त हूँ। किन्तु यह उचित नहीं, जब तुम दत्तचित्त होकर किसी न किसी तरह देश की भलाई करके दिखाओगे तभी तुम देशभक्त कहलाओगे और तुम्हें डींग मारने की आवश्यकता ही न होगी। अतः तुम अपने लाभ का खयाल थोड़ा सा कम करके दूसरों की भी सहायता करो।

इनके 'मुत्याल सरुलु' और नीलगिरि पटालु' नामक गीत संग्रह बहुत लोकप्रिय हैं।

जैसे अप्पाराव जी के गीतों द्वारा नवीन कविता की अभिव्यक्ति दिखाई देती है वैसे ही 'रायप्रोलु सुब्बारावजी' के खण्ड-काव्यों में भी नवीनता भरी हुई है। आप संस्कृत, तेलुगु और अँग्रेजी भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित एवं भावुक कवि हैं। आपके 'तृणकङ्कण', 'ललिता', अनुमति', 'स्वप्नकुमारी', स्नेहलता' एवं 'मधुशाला' आदि खण्ड-काव्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

तृतीय युग में नवीन-धारा की कविता प्रौढ़ बन गई। इस युग के कवियों पर बङ्गला, अँग्रेजी साहित्य का भी प्रभाव पड़ा और कवियों ने रहस्यवाद, छायावाद एवं सौन्दर्यवाद आदि वादों में भी रचना की। इनकी कविता में मनुष्यों के विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति, भावुकता, संगीतात्मकता तथा अलङ्कारों की प्रधानता रही। नाद-सौन्दर्य के विशेष पक्षपाती होने के कारण इनके काव्य प्रायः गेय रहे।

यद्यपि इस युग के कुछ कवियों की काव्य वस्तु राष्ट्रीय विचारधारा रही। फिर भी कुछ कवियों ने सौन्दर्य, प्रेम तथा करुणा को अपने काव्य की आधार-शिला बनाया। इन कवियों ने प्रकृति के अन्तर से अपने अन्तर को मिलाकर देखा और प्रकृति में आत्मीयता का अनुभव किया जैसा कि हिन्दी साहित्य में पन्त जी ने किया है।

इस युग के कवियों में देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री एक प्रसिद्ध लेखक, कवि और समालोचक थे। हिन्दी साहित्य में रामचन्द्र शुक्ल जी का स्थान जितना ऊँचा है उतना तेलुगु साहित्य में श्री शास्त्री जी का है। शास्त्री जी ने तेलुगु साहित्यिक वृद्धि के लिए अथक परिश्रम किया। उन्होंने एक नवीन समिति बनाई जिसे 'साहिती समिति' कहते हैं। उनके 'कृष्णपक्षमु' का तेलुगु साहित्य में उतना ही ऊँचा स्थान है जितना कि हिन्दी-साहित्य में 'कामायनी' का। 'कृष्णपक्षमु' में कवि मानव के उस बाह्य जीवन को प्रदर्शित करता है जो इस संसार में व्यक्त है। उसकी विषमस्थिति एवं विवशता आदि का हृदयस्पर्शी ढङ्ग से वर्णन किया गया है। उनकी कविता में हिन्दी के प्रसाद जी की ही भाँति जितना ओज है वाणी में उतना ही तेज और भावों में उतना ही गांभीर्य भी है।

इसके उपरान्त इस युग के कवियों में श्री शिवशङ्कर शास्त्री, श्री अडिवि बापिराजु, श्री नंडूरि सुब्बाराव, श्री विश्वनाथ सत्यनारायण, श्री काटूरि वेंकटेश्वरराव, श्री पिंगलि लक्ष्मीकान्तम्, श्री वेदुल सत्यनारायण आदि अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोक-प्रिय कवि हो गये हैं।

इनमें शिवशङ्कर शास्त्रीजी की कविता अन्तर्मुखी होकर रहस्यवादी कविताओं को लेकर चलती है। विश्वनाथ सत्यनारायणजी के 'किन्नरसान पाटलु' एवं 'वेणी संहार' नंडूरि सुब्बाराव जी के 'येंकि पाटलु' आन्ध्र देश में प्रसिद्ध हैं और दुव्वूरु रामिरेड्डिजी की कवितायें रहस्यवाद से भरी हुई हैं।

'काटूरि वेंकटेश्वर राव' तथा 'पिंगलि लक्ष्मीकान्तमु' ये दोनों इस युग के अमूल्य रत्न हैं। इनका 'सौंदरनन्दम्' भाषा, शैली, भाव, अलङ्कार एवं मौलिकता आदि सभी दृष्टियों से एक सुन्दर काव्य है जिसमें अनिर्वचनीय प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है। इस काव्य में नन्द और सुन्दरी का प्रणय, बुद्धदेव का उपदेश नन्द का संसार-त्याग, सुन्दरी का विरह एवं कुटुम्ब त्याग का सजीव वर्णन मिलता है। नन्द एवं सुन्दरी का प्रेम विश्व-प्रेम के रूप में परिणत होता हुआ दिखाया गया है। इसमें एक पद्य इस प्रकार आया है:—

अंकमुन बुद्दु रत्नमु नवधरिंचि,
मुट्टियु बंगारमुनु वेरुपरचि पुटमु

वेदि तन्मणि मान वैवेदि;
यद् लोरपु चुदि वेभूष नेयुदुओ कानि।

उधर बुद्धदेव अपने साथ नन्द को ले जा कर धर्मोपदेश करने लगे। इधर सुन्दरी विरहाग्नि में जल रही थी। इस अवस्था में कवि अपनी ओर से कहता है कि हे बुद्धदेव तुमने क्या किया ? वह सोना जो अपने बीच की मणि के कारण चमक रहा था उसको अलग करके तुम सोने को विरह रूपी अग्नि में तपा रहे हो और मणि को उपदेश रूपी कसौटी पर कस कर देख रहे हो। अभी तक पता भी नहीं लगता कि तुम कौनसा आभूषण बनाने में तत्पर हो ? किन्तु इतना तो स्पष्ट होता है कि तुम ऐसा अमूल्य एवं सुन्दर आभूषण तैयार करोगे जिसके कारण विश्व-कल्याण होगा।

अब हम तीसरे युग में प्रवेश करते हैं। इसके प्रारम्भ तक कवियों की अनवरत साधना के फलस्वरूप नवीन-धारा की कविता लोकप्रिय बन चुकी थी। इस युग के कितने ही कवियों ने अपने पूर्व कवियों का अनुकरण किया। किन्तु कुछ कवियों ने अपनी मधुर कविता-धारा को यथार्थवाद की नई दिशा में बहाने की कोशिश की है। इनमें श्री गुरजाड अप्पाराव, श्री रायप्रोलु सुब्बाराव, श्री जाषुआ, एवं श्री जंध्याल पापय्य शास्त्री आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता बड़ी मधुर एवं मनोरञ्जक है। कविता में भाषा तथा भाव की होड़ सी लगी रहती है इन यथार्थवादियों की कविताएँ हिन्दी साहित्य की प्रगतिवादी कविताओं के बराबर हैं। नवीन कविता के लिए आवश्यक उपकरणों का उल्लेख वे इस प्रकार करते हैं—

सिंदूरम्, रक्तचन्दनम्, बंधूकम्, संध्यारागम्।
पुलिचंपिन लेडिनेत्तुरु, डँगरेसिन एँरँनि जंडा,
रुद्रालिक नयन ज्वालिक, कलकत्ता कालीनालुक,
कावालोय नवकवनानिकि।

अर्थात् नवीन कविता की रचना के लिए सिन्दूर, लाल चन्दन, बंधूक पुष्प, सन्ध्याराग, बाघ के मारने से प्राप्त हिरण का गरम खून आदि चाहिए।

हिन्दी में 'नवीन' जी के विप्लव गायन के साथ इस कविता को मिलाया जाय तो विचार साम्य स्पष्ट हो जायगा।

किन्तु यह न समझा जाय कि कवि बिलकुल क्रान्ति को प्रोत्साहन देने वाली कविता ही करना चाहता है। वह कहता है—

कदलेदि कदलिंचेदि, मारेदि मार्पिंचेदि, पाडेदि पाडिंचेदि
पूर्णनिद्रा बदलिंचेदि, परिपूर्ण व्रतिकिंचेदि कावलोय
नवकवनानिकि।

अर्थात् कविता ऐसी हो जो खुद द्रवीभूत हो और साथ-साथ दूसरों को भी द्रवीभूत करे, खुद बदल कर दूसरों में बदल लावे एवं खुद गावे तथा दूसरों को गाने के लिए विवश करे। हमारी सुस्ती को मिटा कर पूर्ण जीवन प्राप्त कराये।

'श्री जाषुवा' आधुनिक तेलुगु कवियों में एक प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी 'फिरदौसी' एवं 'गब्बिलमु' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा क्लिष्ट एवं गूढ़ार्थों से भरी हुई है। इन्होंने छायावाद, रहस्यवाद एवं प्रगतिवाद आदि सभी वादों में अपनी कविताएँ लिखी हैं। इनकी कविता में अलङ्कारों की भरमार है।

आधुनिक कवियों में श्री माधवपेद्दि बुचिसुन्दर रामशास्त्री भी एक सुप्रसिद्ध कवि हैं जो 'पञ्चवटी' आदि के लेखक हैं।

इन कवियों में श्री गुडिपाटिवेंकटाचलम भी एक योग्य कवि हैं। इनकी 'शशिलेखा' एक अमूल्य काव्य है जिसमें उन्होंने अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट किया है कि स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देना ठीक नहीं। 'सारंगधर', 'एंकिपाटलु' आदि भी इनके प्रसिद्ध हैं।

श्री जंध्याल पापय्य शास्त्री जी इस युग के एक प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी कविताएँ ऐसे भावों को उत्तेजित करने वाली हैं जिनके कारण सुनने वाले अपने को भी भूल जाते हैं। ये हिन्दी भाषा के पण्डित हैं। इनके 'करुणश्री', 'विजयश्री' एवं 'पुष्पविलापमु' आदि अनेक काव्य पढ़ने योग्य हैं। उनका भाव इतना गहरा है जिस का पता भी हमें नहीं लगता।

उपर्युक्त सभी कविताओं से यह स्पष्ट है कि नवीन युग के सभी कवि अपनी अपनी कविताओं के द्वारा एक

(शेष पृष्ठ ३८३ पर देखिये)

आधुनिक तमिल काव्य-धारा

श्री मी० बालसुन्दरम्

आधुनिक तमिल साहित्य व काव्यधारा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ होती है। प्राचीन तमिल काव्यधारा जिस वेग से विकसित हुई, उसी वेग से आधुनिक तमिल काव्यधारा का विकास न हो सका। अँग्रेजों की शासन व्यवस्था से भारतीय भाषाओं को जितना आघात पहुँचा, विकास के मार्ग में जितनी बाधायें पड़ीं, तमिल भाषा भी उस बाधा से मुक्त नहीं हो सकी। अतः इस गुलामी के अवसर पर साहित्य के विकास में तमिल जनता का उतना हाथ नहीं रहा क्योंकि वे अँग्रेजों के शासन को उखाड़ फेंकने में लगे हुए थे।

आधुनिक तमिल साहित्य का विभाजन इयल' (यथार्थ वर्णन), 'इसै' (गीत कविता), 'नाटकम' (नाटक) आदि तीन रूपों में हुआ है। अतः इन्हीं तीनों रूपों में आधुनिक तमिल-साहित्य विकसित हुआ है।

इस युग के साहित्यिक विकास में कुछ अँग्रेजों का भी हाथ रहा जिन्होंने धर्म प्रचार के लिए तमिल भाषा को सीखा था। इन लोगों ने तमिल भाषा में कुछ रचनायें भी की थी। इनमें काल्डवेल, फादरबैस्की, और डा० पोप आदि प्रसिद्ध हैं। डा० पोप को तमिल में 'वीरमा मुनिवर' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन्होंने प्राचीन तमिल साहित्य ग्रन्थों का अँग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है।

इस युग के सबसे महान् कवि श्री सुब्रह्मण्य भारती हैं। इनको 'अमर कवि' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं की अनेक सुन्दर कवितायें लिखीं, जिनसे जनता जाग्रत हुई। जीवन के विभिन्न पहलुओं पर भी इनकी कई कवितायें मिलती हैं। बालकृष्ण का बाल्य-काल वर्णन तथा 'पञ्चाली शपथम' आदि इनकी सुन्दर कृतियाँ हैं। इनकी सारी कवितायें बहुत ही लोकप्रिय हैं। आज भी प्रत्येक जलसे में इनकी सुन्दर कवितायें गायी जाती हैं इनकी कवितायें प्रायः मुक्तक हैं। इन्होंने गद्य में भी लिखा है। मदरास से निकलने वाली दैनिक पत्रिका 'सुदेशमित्रन्' के भी ये कुछ समय तक सम्पादक रहे। 'स्वाधीनता' के बारे में उनकी कविता के कुछ उदाहरण देखिये। गुलामी के अवसर में ही स्वाधीनता की कल्पना करना कवि की दूरदर्शिता है—

"आडुओमे पल्लुपाडुओमे
आनन्द सुदन्दिरम अडैन्दु विट्टोमेन्दु"
"उलउक्कुम तोलिलुक्कुम वन्दनै सेय्वोम
वीणिल उण्डुकलित्तिरुपोरै निन्दनै सेय्वोम"
"नामिरुक्कुम नाडु नमतेन्पद रिन्दोम्
इदु नमक्के उरिमैयाम् एन्पद रिन्दोम
पूमियिल एवरक्कुम इनि अडिमै सेय्योम
परिपूरणनुक्के अडिमै सेन्दु वाल वोम"

इसका अर्थ है—"हमें स्वतन्त्रता मिल गयी है। इस आनन्द में हम सब मिलकर नाचें, गावें। कृषि व कुटीरधन्धों का स्वागत करें। खाकर घूमने वाले निकम्मों की निन्दा करें। यह देश जिस पर हम रहते हैं हमारा है। इस पर हमारा ही पूर्णाधिकार है। इस भू के किसी के भी हम गुलाम नहीं बनेंगे, परिपूर्ण शक्तिवान भगवान के ही गुलाम हो कर जीवन निर्वाह करेंगे।"

इसके बाद 'मनोन्मुणियम्' श्री सुन्दरम्पिल्लै का नाम आता है। ये ट्रिवेन्ड्रम महाराजा कालेज के दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक थे। इनकी रचनाओं में 'मनोन्मणियम्' एक सुन्दर काव्य है। इनकी यह रचना भाषा की दृष्टि से सर्वोत्तम मानी जाती है। लेकिन जन-साधारण के लिए 'भारती' की कविताएँ जितनी प्रभावशाली हुई, उतनी इनकी नहीं हो सकीं।

इसके बाद तमिलनाडु के भूतपूर्व राज्य-कवि श्री नामकल रामलिंगम पिल्लै का नाम आता है। इनकी कविताएँ सरल, सुन्दर तथा लोकप्रिय हुई हैं। 'भारती' की तरह इनकी रचनाएँ फुटकर होती हैं।

श्री टी० के० सिदम्बरनाद मुदलियार एक सुप्रसिद्ध कवि हैं। इन्होंने कम्ब-रामायण के आधार पर रामायण लिखी है।

श्री देशिक विनायकम पिल्लै, श्री शुद्धानन्द भारती, श्री भारती दासन आदि कवियों ने श्री सुब्रह्मण्य भारती का अनुकरण करते हुए अनेक कविताएँ लिखी हैं जिसके कारण तमिल साहित्य की काव्य की श्रीवृद्धि हुई है।

श्री सूर्यनारायण शास्त्री, श्री राववय्यङ्गार, श्रीसुब्रह्मण्य मुदलियार, श्री कम्बदासन, श्रीपापनासम शिवन आदि ने बहुत कुछ फुटकर कविताओं से तमिल साहित्य को सुशोभित किया है।

आधुनिक कवियों में कुछ लोग सिनेमा के लिए और कुछ पार्टी विशेष के लिए भी समय समय पर कविताएँ लिखा करते हैं।

फादर बेस्की जिनको तमिल लोग 'वीरमामुनि' कहते हैं, एक कहानीकार थे। इन्होंने 'परमार्थगुरु' नामक हास्यरस प्रधान गद्य काव्य की रचना की है। श्रीवेदनाय कम पिल्लै का नाम तमिल साहित्य में बड़े आदर से लिया जाता है। श्री वडुउर दुरैस्वामी अय्यङ्गार, श्री आरणि कुप्पुस्वामी मुदलियार, श्री राजम अय्यर, श्री अकिलन श्री रङ्गनाथन, श्री कि० वा० जगन्नाथन, श्री कलिक कृष्णमूर्ति, श्री देवन, श्री पुदुमैपित्तन, श्रीमती कोदैनाथकी अम्माल, श्रीमती राजम रामनूर्ति, श्रीमती सरोजा राममूर्ति, श्रीमती लक्ष्मी, श्री चाण्डिलयन, श्री त० ना० कुमारस्वामी आदि लोगों ने सुन्दर कहानियाँ और नाटक लिखे हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में बराबर प्रकाशित होते रहते हैं। श्री उ० वे० स्वामीनाथ अय्यर जिन्हें 'तमिल-ताता' (तमिल के अनुभवी दादा) कहा जाता है, एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति हैं। ये मदरास विश्व विद्यालय के तमिल विभाग के प्रधान थे। इन्होंने तमिल साहित्य पर कई आलोचनात्मक लेख तथा सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं जो इनकी प्रतिभा को प्रदर्शित करती हैं। इनके अनुभव के कारण इनको आज भी 'तमिल ताता' के नाम से पुकारते हैं।

श्री आर० पी० सेदुपिल्लै की, जो आजकल मदरास विश्व विद्यालय में तमिल के प्रधान हैं, सेवा तमिल के प्रति अकथनीय है। इनकी ही श्रेणी के लेखकों में निम्नलिखित सज्जनों के नाम आते हैं—श्री कलिक कृष्णमूर्ति, श्री शिवध्यान ग्रामणि, डा० मु० वरदराजन, श्री पेरियस्वामीतूरन, श्री सिन्न अण्णामलै, श्री अण्णात्तुरै, श्री टी० पी मीनाक्षि सुन्दरनार, श्री तिरिकूड सुदरमपिल्लै आदि। कलिक कृष्ण मूर्ति ने 'कलिक' नामक साप्ताहिक पत्रिका में अपनी कई धारावाहिक कहानियों को प्रकाशित किया है।

इस युग के वयोवृद्ध तथा अनुभवी लेखकों व कहानीकारों में श्री टी० के० सिदम्बरनाद मुदलियार, श्री मरैमलै अडिगल, तिरु० वि० कल्याणसुन्दर मुदलियार, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य (मुख्य मन्त्री,) आदि मुख्य हैं।

इस युग के नाटक लेखकों में सर्वप्रथम व्यक्ति श्री सम्बन्ध मुदलियार हैं जिन्होंने अनेक नाटक लिखे हैं। सामाजिक तथा ऐतिहासिक नाटक काफी मात्रा में इन्होंने लिखे हैं जो सब कहीं चाव के साथ खेले जाते हैं। इनके नाटकों में जनता को चेतन करने की शक्ति है। श्री करुणानिधि, श्री अण्णाचुरै आदि ने भी नाटकों के द्वारा तमिल लोगों में जागरण उत्पन्न किया है। इन दोनों के नाटक किसी एक विशेष दल के प्रचारार्थ होते हैं। लोगों के जाग्रत करने में इस युग के नाटक कम्पनियों का बड़ा हाथ रहा है। कला के प्रचारार्थ दो-तीन प्रमुख नाटक कम्पनियाँ काम करती आ रही हैं जिन में टि० के० एस० ब्रदर्स कम्पनी और नवाब राजमाणिक्कम कम्पनी प्रसिद्ध हैं।

कुछ आलोचक व निर्बन्धकार—श्री उ० वे० स्वामी नाथय्यर ने संघकालीन साहित्य की खोज की है। श्री अण्णात्तुरै ने 'कम्ब-रामायण' की आलोचना करके किताब लिखी है। इस क्षेत्र में प्रोफेसर श्री निवासराघवन, श्री वेंकट स्वामी नाट्टार, श्री मुत्तुशिवम, श्री राजमाणिक्कम, डा० मु० वरदराजन आदि प्रसिद्ध हैं।

तमिल काव्य तथा साहित्य के विकास में 'कल्कि', 'आनन्द विकटन', 'कलैमकल' आदि साप्ताहिक पत्रिकाएँ तथा 'दिनमणि', 'सुदेशमित्रन' आदि दैनिक पत्रिकाओं ने बहुत कुछ सेवा की है और अब कर रही हैं। आधुनिक तमिल साहित्य की धारा सर्वसाधारण को दृष्टि में रखकर सरल और सुन्दर रूप में बह रही है। अर्थ की पुष्टि तथा भाव-गाम्भीर्य इस युग की मुख्य विशेषताएँ हैं।

मलयालम कविता का संक्रान्ति-काल

श्री के० एस० वि० शेणाई एम० ए०, एम० एस-सी०

मलयालम कविता के इतिहास में नाटक-महाकाव्य-काल और आधुनिक काल के बीच में एक संक्रान्ति-काल माना जाता है। इस काल की प्रमुख विशेषतायें हैं:—

१—मलयालम संस्कृत की अधीनता से सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गई। अपनी स्वतन्त्र रचना-शैली और अपने स्वतन्त्र द्राविड़ छन्दों के सहारे भाषा-काव्य स्वच्छन्द विहार करने लगा।

२—कथावस्तु के चुनाव और प्रतिपादन की रीति के क्षेत्र विस्तृत होगये। यह अंग्रेजी और बङ्गाली साहित्य के सम्पर्क और प्रभाव का फल था। इतिहास और कल्पना से सब कहीं कथावस्तु का आस्तरण हुआ। सामाजिक और राष्ट्रीय प्रश्नों का प्रतिपादन हुआ।

३—खण्डकाव्य ने महाकाव्य को स्थानापन्न किया। इस संक्रान्ति-काल में भाषा में खण्डकाव्यों का एक प्रवाह सा आ गया। कविता का परतन्त्रता की ओर से स्वच्छन्दता की ओर प्रयाण और कवियों के हाथ से निकल कर जन-साधारण की सम्पत्ति हो जाना, इतिहास और कल्पना से कथावस्तु का चुनाव, सामाजिक प्रश्नों का स्वतन्त्र प्रतिपादन, भाषा की प्रकृति से मिलने वाले द्राविड़ छन्दों का समुचित उपयोग आदि परिस्थितियाँ खण्ड-काव्य रचना के बहुत अनुकूल थीं। सन्देश काव्य-धारा क्षीण और विलाप काव्य-धारा प्रबल होती गई।

४—कला की रचना 'कला के लिए' नहीं, 'जीवन के लिए' अधिकाधिक होती गई।

५—ललित शैली में भाव-प्रधान कविता लिखी जाने लगी। प्रकृतिवाद, यथार्थवाद और प्रतीकवाद का श्रीगणेश हुआ। गीति काव्यों की धारा प्रबल हो गई।

६—पराजयवाद के प्रथम चिह्न अङ्कित हुए। हास्य-रस का ह्रास हो गया।

इस काल के प्रमुख कवि—प्रायः बीसवीं सदी के आरम्भ से संक्रान्ति-काल माना जाता है। इस समय मलयालम कविता वीर-रस सम्पूर्ण गाथाओं, भक्ति-रस सम्पूर्ण महाकाव्यों, अभिनयात्मक नाटकों, आट्टकथाओं और तुल्लल कथाओं तथा मणि-प्रवाल शैली के उत्तम चम्पू-ग्रन्थों से काफी सम्पन्न थी। लेकिन इस काल के तीन महाकवियों ने केरल कविता को नित्य धनी बना दिया। ये तीन महाकवि हैं कुमारन आशान, वल्लत्तोल और उल्लूर।

ये तीनों महाकवि भावगायक थे और अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण महाकवि थे। मलयालम कविता की स्वच्छन्द धारा को, जिसे एलुत्तच्छन और नंबियार ने प्रवाहित और परिपुष्ट किया था, इन महाकवियों ने सधैर्य बहुत आगे बढ़ाया और इस योग्य सुशक्त किया कि पीछे के युवक कवि इसी प्रबल धारा की सहायता से अपनी कविता-नौका अनायास बढ़ा सकें।

इस संक्रान्ति-काल में भाषा-काव्य पर इसी महाकवि-त्रय का सर्वत्र राज था। हाँ, दो-एक अन्य कवि भी हुए थे। के० सी० केशव पिल्लै 'केशवीयम्' (महाकाव्य) और 'आसन्नमरण चिन्ता शतकम्' लिख कर प्रतिष्ठित हो गये थे। और केरल के एक प्रतिभावान् होनहार महाकवि 'बालकृष्ण पाणिक्कर' अपने 'विश्वरूप' के दर्शन दिला कर और अपना 'विलाप' रोकर छब्बीस बरस की अवस्था में ही चल बसे। 'विश्वरूप' केवल छप्पन छन्दों की एक लघुकृति है और प्रकृति को आलम्बन बना कर लिखी गई है। भाषा का यह अमूल्य रत्न कवि के यश को अमर रखेगा।

महाकवि कुमारन आशान (१८७१–१९२४)—'केरल कवि-गुरु' कुमारन आशान के साथ मलयालम कविता ने एक नवीन युग में प्रवेश किया। इनका जन्म एक नीच जाति में हुआ था और बचपन से ही सामाजिक असमानताओं का काफी कड़ुआ अनुभव इनको हुआ था। आरम्भ-काल में जीवन की क्षणभंगुरता और मरण-का माधुर्य कवि के प्रिय विषय थे। 'वीण पूव' (गरती

पर गिरा फूल), 'नलिनी', 'लीला', 'प्ररोदन', 'करुणा' आदि इस काल की रचनाएँ हैं। आशान केरल के विख्यात तत्व-चिन्तक श्री नारायण गुरु के प्रिय शिष्य थे। "एक जाति, एक धर्म और एक दैव मनुष्य का" धर्म चाहे जो हो, मनुष्य अच्छा बने: आदि उपदेशों से प्रभावित कवि अपने वीणपूव-नलिनी—लीला चलने में धीरे-धीरे लौकिकता की ओर मुड़े।

'वीणपूव' आशानजी की एक अति प्रशस्त रचना है। 'नलिनी' और 'लीला' इस वीणपूव के दो-एक भावों की विस्तृत व्याख्या सी लगती है। 'करुणा' की कथावस्तु बौद्धधर्म-ग्रन्थों से ली गई है। इसमें वासवदत्ता (एक वेश्या) का उद्धार होता है। कवि बौद्धधर्म के तत्वों से बहुत प्रभावित थे। 'श्री बुद्ध चरितम्' कवि की अलग एक रचना है।

'दुरवस्था' और 'चण्डाल भिक्षुकी' में हम समाज-सुधारक आशान को देखते हैं। जाति भेद, छुआछूत आदि के विरुद्ध कवि विप्लव-गान करते हैं। 'दुरवस्था' आशान का सर्वोत्तम खण्ड-काव्य है। इसमें मलबार के प्रसिद्ध मुस्लिम विद्रोह (mutiny) के कराल दंष्ट्रों से बचने वाली एक ब्राह्मण युवती (सावित्री) और एक चण्डाल (चात्तन) का प्रणयबद्ध होना चित्रित है। 'दुरवस्था' में जो कुछ आशान को कहना अभीष्ट था, वे कह बैठे।

अपने जीवन की कुछ दुखद घटनाओं से चिंताविष्ट कवि ने 'चिंताविष्ट सीता' की रचना की। आधुनिक युग की नीति की दूरबीन लेकर कवि ने हिन्दू समाज और रामायण का जो निरीक्षण किया उसके फल हैं यथाक्रम 'दुरवस्था' और 'चिंताविष्ट सीता'। 'सीता' एक भावात्मक रचना है।

आशान की कविता भावना और बुद्धि का एक सुखद सम्मिश्रण है। उनके शब्द-चित्र केरल के प्रसिद्ध चित्रकार रविवर्मा के चित्रों से कम रङ्गीन नहीं। पीछे के प्रकृतिवाद, यथार्थवाद और प्रतीकवाद की सूचनाएँ आशान में प्रचुर मात्रा में मिलती हैं।

'प्ररोदन' एक उत्तम विलाप-काव्य है। भाषा में 'अश्रुबिन्दु' (नालप्पाट नारायणमेनोन) के बाद इसका स्थान है। प्रसिद्ध साहित्यकार केरलपाणिनी रामराज वर्मा के निधन पर यह लिखा गया था।

आशान कैरली के 'स्नेह-गायक' हैं। उन्होंने को कामिनी कामुकों के शारीरिक सुखानुभव और लौकिक शृङ्गार के सङ्कीर्ण रास्ते से बाहर निकाल कर एक विशाल क्षेत्र में भक्ति-रस की पहली सीढ़ी तक पहुँचाया। 'स्नेह है अखिल सार विश्व का' गाकर आध्यात्मिक और शाश्वत उस कालकर्मातीन विशुद्ध विश्व-प्रेम का परिचय दिलाया।

बाल रामायण, सौन्दर्य लहरी, मणिमाला, वनमाला आदि कृतियाँ भी आशान ने कैरली को समर्पित की हैं।

महाकवि उल्लूर परमेश्वर अय्यर—(१८७७—१९४९ ई०) वाल्मीकि से टागोर तक आर्य-संस्कार-सम्पन्न जो एक दीर्घ परम्परा भारत भूमि में रही थी, उसी परम्परा में केरल की अन्तिम सन्तान है महाकवि उल्लूर। उल्लूर एक कवि ही नहीं थे। कवि उल्लूर से भी अधिक विख्यात हैं गद्य लेखक, समालोचक, इतिहास-पुराणों के गवेषक और भाषाण श्री उल्लूर। लेकिन यहाँ 'कवि उल्लूर' से ही हमारा सम्बन्ध है।

उल्लूर केरल के पण्डित-कवि (Scholar poet of Kerala) हैं। उनकी भावना-सम्पत्ति अतुल और वाक्-माधुरी अजय थी। अँग्रेजी भाषा का ज्ञान अपार और संस्कृत भाषा में पाण्डित्य अगाध था। भाषा के 'मयूर सन्देश' के अँग्रेजी अनुवाद (Peacock Messenger) की प्रशंसा रमेशचन्द्रदत्त जैसे महानों ने की है।

उल्लूर का काव्य-जीवन साठ वर्ष तक रहा। इस लम्बी अवधि में कवि ने केरल-काव्य के प्रायः सभी अङ्गों में उत्तम कविता की। 'सुजातो ब्राह्मण' चम्पूकार ने वर्ग सङ्घर्ष (Class-war) पर लिखे हुए 'लोहे का नैराश्य' तक लम्बी यात्रा की। 'उमाकेरलम्' महाकाव्यकार अन्त में पहुँच गए तो टागोर की श्रेणी में 'एक्व गाथा' के रचयिता बनकर। शुद्ध मलयालम में 'एक प्रार्थना' लिखने वाले इस कलाकार ने आखिर लिखा विश्व-महाकवियों का भी अनुमोदनाई 'प्रेम सङ्गीत'। लम्बे से लम्बे

वृत्तों में विशेषक तक लिखने में सिद्धहस्त इस भावगायक ने छोटे से छोटे अनुष्टुप में गहने भावों को सजाने में सम्पूर्ण सफलता प्राप्त की।

कवि की आरम्भ-काल की कृतियां हैं, 'एक प्रार्थना', 'अरुणोदय', 'मङ्गल मञ्जरी', 'सुजातो द्वाहम्' (चम्पू) और 'उमाकेरलम्' (महाकाव्य) काव्य-यात्रा की प्रथम मञ्जिल थी, उमाकेरलम। चम्पू और महाकाव्य के लिए ऐतिहासिक कथावस्तु लेकर कवि भाषा में एक नया परिवर्तन लाया।

प्रारम्भिक कविताओं से काव्य-क्षेत्र में कवि का अच्छा स्वागत हुआ और अब कवि का ध्यान खण्ड-काव्य की ओर गया। परिस्थितियां भी खण्ड-काव्य रचना के अनुकूल थीं। उल्लूर के प्रमुख खण्ड-काव्य हैं 'कर्ण भूषण' और 'पिङ्गला'। 'कर्ण भूषण' की रचना कवि की कवित्व शक्ति के उच्च काल में हुई। कथा पौराणिक है; प्राचीन भारतीय गौरव इसमें कूट-कूट कर भरा है। पढ़ने के बाद भी इसकी पंक्तियाँ कानों में गूंजती रहेंगी। इसमें ग्रीक नाटकों के 'संकलनत्रय' का भी निर्वाह हुआ है। रस, अलंकार आदि की दृष्टि से भी उत्तम रचना है।

'पिङ्गला' में आशान की 'करुणा' की तरह एक वेश्या (मिथिला की पिङ्गला) का उद्धार दिखाया गया है। इस कृति में कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिकता है।

'किरणावली', 'तारहारम्', 'विचारधारा' और 'मणि मंजुषा' इनकी कविताओं के संग्रह हैं। मणि मंजुषा में अनेक भावगीत हैं।

वृद्धावस्था में कवि ने 'भक्ति दीपिका' और 'चित्रशाला' लिखीं। एक में उन्होंने साफ साबित किया कि वे सभी शैलियों में सिद्धहस्त हैं और दूसरे में इस प्राचीन गौरव-गायक ने मिस मेयो (Miss Catherine Mayo) की भारत पर लिखी हुई कुप्रसिद्ध कृति को उचित उत्तर दिया।

'तप्तहृदय' उल्लूर की कविताओं का अन्तिम संग्रह है। एटम बम का निर्माण और उसका प्रयोग, गांधीजी की हत्या आदि दुखद घटनाओं से तप्त कवि के हृदय के उद्‌गार हमें इस संग्रह में मिलते हैं।

कवि ने एक गद्य-नाटक 'अम्बा' लिख कर 'नाटकान्तम् कवित्वम्' को सार्थक बनाया। इस नाटक की मुक्तकण्ठ प्रशंसा सर्वत्र हुई। इसका गद्य मलयालम का गौरव है। 'अम्बा' को एक गद्य-काव्य ही समझना ठीक होगा। अगर किसी को मलयालम के गद्य का आस्वादन करना है, तो एक बार 'अम्बा' को पढ़ना पर्याप्त होगा।

महाकवि वल्लत्तोल नारायण मेनोन (१८७८ ई०)—केरल में ऐसे दो ही महाकवि हुए जिनकी प्रशस्ति सारे भारत-खण्ड में फैल गई, आदिशङ्कर और वल्लत्तोल। वल्लत्तोल की प्रशस्ति का कारण उनकी कविता मात्र नहीं है। केरल के बाहर सब कहीं आप कलाओं के उद्धारक की हैसियत से ही विश्रुत हैं। कवित्व-शक्ति, कला-प्रेम और व्यक्ति-वैभव ने मिल कर आपको केरल का एक आराध्य पुरुष बना दिया है। केरल के 'राष्ट्रीय कवि' और 'स्वातन्त्र्य गायक' वल्लत्तोल मलयालम कविता और कथाकली के साक्षात्कार हैं।

पाश्चात्य और पौरस्त्य चिन्तागतियों और रीति-वैचित्र्यों के समुचित सम्मिश्रण से एक नया पंथ निकाल कर उसमें स्वच्छन्द विचरने वाले एक स्वतन्त्र कवि हैं वल्लत्तोल। आप के लिए 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' आदर्श है। आशय सौकुमार्य, शब्दों की अन्योन्य मैत्री और लालित्य आपकी विशेषताएँ हैं।

द्राविड़ छन्दों का उद्धार और परिष्कार करके उनको भाषा के योग्य बनाने में वल्लत्तोल का श्रेय सर्वोपरि है।

विद्याध्ययन और पत्र साहित्य से निकट सम्बन्ध दोनों ने मिल कर कवि की आँखें खोल दीं, चारों ओर सोते हुए देशीयता-बोध को कवि ने देखा; कवि ने अपनी वाणी में उसे भी जगाया और सजग किया।

इस 'केरल वाल्मीकि' की प्रारम्भिक रचनाएँ हैं 'वाल्मीकि रामायण' (अनुवाद) और चित्रयोग (महाकाव्य) रामायण के अनुवाद ने कवि की लेखनी को लाघव दिया, सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण की शक्ति दी और भावगीत लिखने की सामग्री एकत्रित करदी।

कवि ने वामनपुराण, मत्स्यपुराण, पद्मपुराण आदि का भी अनुवाद किया है।

कवि का व्यक्ति-माहात्म्य सबसे पहले प्रकाशित हुआ 'बधिर विलाप' और 'बन्धनस्थ अनिरुद्धन्' में। 'बधिर-विलाप' में कवि की जो आंशिक रूप से स्वयं बधिर हैं, आत्मकथा की झलक मिलती है। 'अनिरुद्धन' कवि की सत् काव्य परम्परा का श्रीगणेश है। पौराणिक कथावस्तु में नवीन भावों का प्रतिपादन यहाँ कवि ने बड़ी सचाई के साथ किया। इस खण्डकाव्य शृङ्खला की अन्तिम कड़ी है "पिता और पुत्री"।

महाकवि टागोर से प्रभावित होने पर कवि में देश-प्रेम के चिह्न दिखाई देने लगे। केरल, कैरली और भारत से इतना प्रेम करने वाला अन्य कवि केरल में नहीं हुआ। पीछे चलकर देशीयता-बोध और केरल-कवि-सम्राट एलुत्तच्छन के गाम्भीर्य का सङ्कलन जब इस देश-प्रेम से हुआ तो कवि आशय सम्पत्ति और प्रतिपादन रीति में सम्पूर्ण बन गया।

'नरेन्द्र की प्रार्थना', 'चक्र को घुमाओ' 'वन्दिप्पन माताविने' (माता की वन्दना करो), 'प्रभातगीत', 'एन्ते-गुरुनाथन्' (मेरे गुरुनाथ) 'कर्मभूमियुते पिञ्चुकाल' (कर्म-भूमि का नन्हा पाँव) 'इनड्ययुटं करच्चिल' (भारत की पुकार) आदि इस देशीयता-बोध और देश-प्रेम के उद्गार हैं। वल्लत्तोल परम्परागत कवियों में अन्तिम कवि थे और साथ साथ स्वच्छन्द कवियों में भी अगुआ रहे, यही इनकी एक विशेषता है।

'एन्ते गुरुनाथन्' में कवि अपने गुरुनाथ गांधीजी का यश गाते हैं:—

जग सारा ही अपना है घर, तृण-कीड़े भी प्रिय परिवार,
विनय बड़ाई, त्याग कमाई, जयते ! मेरे गुरु गोसाई।
शस्त्र बिना ही धर्मायोधन शास्त्र बिना ही पुण्याध्यापन,
बिना दवा के रोग निवारण करते हिंसा वर्जित याजन।
कार्य समीक्षा करते उनको कानन तक भी कनक समा है;
ध्यानावस्थित होते उनको नगरमध्य भी शैल-गुहा है।

[अनुवादक; श्री वि० के० मूत्तन]

और भी सुनिए, जब आशान और उल्लूर ने भारत के पारतन्त्र्य को विधिकल्पित समझा और गाया—

"क्यों रोती है तू भारत-धरे, पारतन्त्र्य तेरे लिए विधिकल्पित है"।

"ब्रिटेन को अब तक हम अधीन हैं, हे माता" (उल्लूर)

तब स्वतन्त्र्य-गायक वल्लत्तोल कालीनाग रूपी विदेशीराज को चेतावनी और ललकार देते हैं:—

हे दुष्ट, तू अपना सिर चाहे कितना ही ऊपर उठा, उसे झट अपने आघात से धंसाने के लिए इस कर्म-भूमि का नन्हा पाँव काफी है"।

'करुणा' और 'पिंगला' की तरह इस महाकवि ने भी अपने मग्दलन मरियम् (Mary Magdeline) में वेश्या का उद्धार दिखाया है। आशान की 'करुणा' में यह उद्धार हुआ नया अङ्ग-भङ्ग और तज्जन्य पश्चात्ताप के कारण, उल्लूर की 'पिंगला' में राम-सीता की तस्वीर के नीचे गिरकर अचानक फूट जाने की एक मामूली घटना और तज्जन्य मानसिक प्रभाव के कारण जो वल्लत्तोल की 'मेरी' में यह उद्धार हुआ। ईश्वर-दर्शन के कारण।

वल्लत्तोल की छोटी कविताएँ 'साहित्य मञ्जरी' के नाम से आठ भागों में प्रकाशित हुई हैं। हाल ही में रूस के पर्यटन के बाद आपने 'रूस में' लिखा है।

आज का युग है नया युग। सर्वत्र नवीनता है। स्वतन्त्र रूप से नये वादों का आविष्कार हो रहा है। आज 'वादों' का ही नहीं उनके 'प्रयोगों' का भी काल है। कितने ही नये वाद काव्य-क्षेत्र में आ जायें और चले जायें, केरल कविता को एक सुवर्ण-काल प्रदान करने वाले इन तीन महाकवियों का—केरल कवि-गुरु स्नेह-गायक आशान, केरल के पण्डित कवि प्राचीन-गौरव-गायक उल्लूर और केरल के राष्ट्रीय कवि स्वातन्त्र्य-गायक वल्लत्तोल का यश हमेशा के लिए मलयालम साहित्य में उज्ज्वल रहेगा।

आधुनिक राजस्थानी काव्य-धारा

श्री गोवर्द्धन शर्मा, एम० ए०, साहित्य रत्न

एक बार श्री रामदेव चोखानी ने कवि रवीन्द्र को राजस्थानी के महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की कुछ कवितायें सुनाईं। उन्हें सुनकर कवीन्द्र गद्‌गद् हो उठे। इन्होंने कहा—"मैं खुद कवि हूँ और उच्चकोटि की कवितायें देखी सुनी हैं, पर यह कविता बड़ी आह्लाददायक और प्रेरणास्पद है। राजस्थान के कवियों का नाम बड़ा अमर है। भक्ति-रस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी कोटि का पाया जाता है, किन्तु राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य निर्मित किया है, उसके जोड़ का साहित्य और कहीं नहीं पाया जाता। राजस्थानी भाषा के साहित्य में जो एक भाव है, उद्वेग है, वह राजस्थान का खास अपना है। वह केवल राजस्थान के लिए ही नहीं, सारे भारतवर्ष के लिए गौरव की वस्तु है।"

लेकिन राजस्थानी साहित्य केवल वीर रस में ही बहा हो, ऐसी बात नहीं है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य में भी वे सभी प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं, जो वर्तमान हिन्दी साहित्य में हैं। राजस्थानी का गौरवमय अतीत आज भी सरस्वती के अनेक वरद पुत्रों को आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। यद्यपि आज भारतीय संविधान द्वारा राजस्थानी को मान्यता नहीं दी गई है, तथापि इससे इसके लाड़ले निराश नहीं हैं। राजस्थानी के विकास और उद्धार के लिए वे आज भी प्रयत्नशील हैं। राजस्थान के अनेक कवि आज भी इसी भाषा में अपने स्वरों का सन्धान कर रहे हैं।

राजस्थानी की नई धारा के प्रथम कवि ठा० रामसिंह हैं जो प्रथम अखिल भारतीय राजस्थानी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे। इन्होंने राजस्थानी के पुनरुत्थान का नेतृत्व किया। इनके अतिरिक्त राजस्थानी के वर्तमान कवियों में सर्वश्री रेंवतदान चारण 'कल्पित', मेघराज 'मुकुल', कन्हैयालाल सेठिया, नारायणसिंह भाटी, मोतीसिंह, दुर्गादत्त शास्त्री, चन्द्रसिंह, नानूराम संस्कर्ता, भरत व्यास, गणपति स्वामी 'शलभ', उदयराज उज्ज्वल, श्रीमन्तकुमार व्यास, मुन्नालाल पुरोहित 'निरंकुश' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रायः सभी कवि काव्य-वस्तु शैली और अभिव्यक्ति की दृष्टि से आधुनिक कहे जा सकते हैं। वे आधुनिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्तमान युग की समस्याओं, सङ्घर्ष और जीवनप्रणाली से ये सभी अधिक या अल्पांश में प्रभावित हैं। अभिव्यञ्जनाप्रणाली, टेकनीक, नूतनछन्द प्रयोग, विषय की नवीनता सभी की दृष्टि से इन्होंने राजस्थानी को नये स्तर पर ला खड़ा किया है।

इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि राजस्थान मृत्यु को पैरों के नीचे रख कर जीता है और जीवन को सिर पर रख कर मरता है। यहाँ मरण एक त्यौहार रहा है, जौहर की भीषण अग्नि कपूर से भी शीतल लगी है और वीरता पालने में झूलकर बड़ी हुई है। अतः यदि इसी धारा में बहता हुआ 'मुकुल', 'सेनाणी' और कोड़मदे' जैसी वीर रस से पूर्ण ओजस्वी काव्य भेंट कर सका, तो सहज स्वाभाविक ही था। इससे अन्यथा होना आश्चर्यजनक होता। अस्तु! जनसाधारण ऐसी ओजपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये राजस्थानी को सक्षम, सशक्त और सार्थक मानता है, किन्तु इसमें भावों की कोमलता के साथ मसृणता और प्राञ्जलता भी है। इसमें हास्य और व्यंग के साथ ही करुणा का सरस स्रोत भी है। रीति-अनुगामिता के साथ ही प्रगति का आह्वान भी है। चित्रोपमता के साथ ही उदात्त कल्पना भी है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी का आधुनिक काव्य एक जीवित साहित्य का अङ्ग है, उसमें युग की मांग को अनुभव करने की सामर्थ्य है और अभिव्यक्त करने की शक्ति भी।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल में राजस्थानी भाषा वीररस की वाहिका रही है अतः उसमें ओज की प्रधानता होना आवश्यक हो जाता है। 'डिंगल' को 'ड' कार बहुल या कर्ण कटु भी कहा जाता है, किन्तु छायावाद की समस्त

विशेषताओं को आत्मसात करके राजस्थानी के अनेक कवि इसे ब्रजभाषा से भी अधिक मधुर और 'पन्त' की 'कोमलकान्त पदावली' से भी अधिक कोमल सिद्ध कर चुके हैं। बीकानेर के श्री चन्द्रसिंह की प्रथमकृति 'बादली' में इस प्रवृति के दर्शन किये जा सकते हैं। उनकी दूसरी कृति, जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है—'लू' में इसके विकास की कड़ियाँ देखी जा सकती हैं। चन्द्रसिंह प्रकृति का कवि है। उसकी 'बादली' और 'लू' क्रमशः वर्षा और गरमी का अपूर्व चित्रण है। उसने कालिदास के 'रघुवंश' का सफल अनुवाद किया है। नानूराम संस्कर्ता के 'कलायण' में भी ऋतुओं के अनूठे और भावपूर्ण वर्णन में ओज और माधुर्य दोनों गुणों की उपलब्धि की जा सकती है। राजस्थान का ग्रामीण जीवन 'कलायण' में मुखर हो उठा है। उनका दूसरा प्रसिद्ध काव्य 'मुरधर रा दस देव' है। रेंवत दान चरण के कुछ शृङ्गार गीत मधुरता में अपनी सानी नहीं रखते। 'विरखा बीनणी', 'बायरियो', हँसे गगन में चाँदड़ल्यों' आदि गीत ऐसे ही हैं। इनमें हम कवि की सूक्ष्म भाव-प्रवणता, उदात्त कल्पना, वाग्वैदग्ध्य, चित्रोपमता और अनोखी आत्म-प्रसूत अभिव्यञ्जना पाते हैं। रेंवतदान ने 'प्रसाद' की अमरकृति 'कामायनी' का राजस्थानी पद्य में सफल अनुवाद कर लिया है। पर यदि हम छायावादी युग की समस्त विशेषताओं का एक ही स्थान पर सुन्दरतम रूप में अपनी चरम-सीमा पर अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें नारायणसिंह की 'सांझ' को देखना चाहिये। ऊपर से थोपा गया किसी भी प्रकार का बुद्धिवादी प्रतिबन्ध न रहने से नारायणसिंह की कविता का विकास स्वच्छन्द गति से और बहुमुखी प्रवृतियों में हो पाया है। अतः उसका साहित्य प्राणमय और उदात्त हो गया है। सन्ध्या के आधे घण्टे के समय को लेकर इतना लिख देना, और ऐसा लिख देना सहज और साधारण काम नहीं है। 'सांझ' स्थानीय रङ्ग (Local colour) से परिपूर्ण है। उसकी उपमाएँ, उत्प्रेक्षायें, कल्पना, विषयवस्तु, शैली सभी नवीन होते हुये भी बाह्य प्रभावों से अछूती जान पड़ती हैं। यही कवि के निस्सङ्ग व्यक्तित्व की सूचक है देखियेः—

थूं आई थेट धरा आगूँच
पलकती राखड़ियाँ भर थाल,
रातरी ए नेनकड़ी बेन
उड़े है कूँकूँ थाल सँभाल।

पृथ्वी पर संन्ध्या का आगमन रात से पहले होता है और रात्रि की यह छोटी बहिन त्यौहार-पर्व के दिन (सूर्यास्त के समय) चमकती राखियों से भरा थाल लेकर चल पड़ी है, परन्तु बाल-सुलभ चञ्चलता में उसके थाल का कुंकुम उड़ कर सारे आसमान पर छा गया है।

पलकें सोना रा चिलरिया
बँधगी वा रूपाली पाल,
कूँपलो किणरो ढुलियो आंज-
गुदलती उण आसमानी ढाल।

अर्थात् छोटे छोटे मेघखण्ड सान्ध्यवर्ण में स्वर्ण के समान दृष्टिगत हो रहे हैं, मानों नभ में छोटे-छोटे सोने के सरोवर चमक रहे हों जिनकी 'पाल' चाँदी से बँधी हो। नभ के गहरे ढाल में उतावलेपन और लापरवाही से उतरती हुई किस सुन्दरी की काजलदानी लुढ़क गई है। संन्ध्या का घना होता अन्धकार शायद उस सुन्दरी के 'कूँपलों' से बिखरा हुआ काजल है।

मेरी मान्यता के समर्थन में ये दो उदाहरण पर्याप्त हैं। 'कूंपला' राजस्थानी नारी का आवश्यक शृङ्गार-उपादान है। उससे काजल का बिखरना कवि की नवीन और मौलिक कल्पना है। संन्ध्या का मानवीकरण 'साँझ' को आधुनिक हिन्दी काव्य के समकक्ष ले आता है। नारायणसिंह द्वारा किया गया 'मेघदूत' का अनुवाद राजस्थानी की आधुनिक काव्य-धारा का प्रकाश स्थल है। गणपतिचन्द्र भण्डारी ने राजस्थानी में प्रतीकवादी प्रणाली का आश्रय लेकर 'मिनख पणे री काल' लिखा है। इस प्रकार कवि ने छायावाद से शरीर लेकर प्रगतिवाद की आत्मा भरी है।

मातृभूमि प्रेम, मानवता के प्रति आस्था और प्रकृति-प्रेम का पूर्ण और मूर्त उदाहरण ठाकुर रामसिंह का काव्य है। 'मरु मयङ्क', 'मेह और धरा' उनके सर्वोत्तम काव्य हैं। प्राचीन गौरव की पृष्ठभूमि पर वर्तमान के प्रति

तीखा व्यङ्ग भरत व्यास की विशेषता है। 'घणया मिढारे छंद' और 'तीनूं एके ढाल' में प्रगति का स्वर मुखर हो उठा है। इसमें ऐसे तीखे व्यङ्ग हैं कि हम उन्हें देख व्याकुल हो उठते हैं, पीड़ा से तड़पते हैं और लज्जा से मस्तक झुका लेते हैं। यथा—

जोधा राण प्रताप रा टाबरिया री टोल।
फाट्योड़ी है जूतियाँ, बिगड्योड़ा है डोल॥

जोधा और राणा प्रताप जैसे वीर योद्धाओं की संतान आज बेहाल है, दरिद्रता ने घर कर लिया है—यहाँ तक कि जूतियाँ भी पैरों में ठीक नहीं।

दाल-भात, बूरो, घिरत खासी सेठ जरूर।
पण घींसूड़े से रेवे, लूण-मिरच भी दूर॥

सेठ दाल, भात, घृत और शक्कर अवश्य खायेगा, किन्तु घीसू किसान नमक मिर्च भी नहीं पा सकता! शोषण का कितना करुण चित्र है यह!

कन्हैयालाल सेठिया का नये कवियों में एक विशेष स्थान है। इसका 'पातल और पीथल' (प्रताप और पृथ्वीराज) पृथ्वीराज द्वारा महाराणा प्रताप को दिये गये पत्र और उसके उत्तर की अनूठी अभिव्यक्ति है। इसे व्यापक दृष्टि से प्रगतिशील कवियों में गिना जा सकता है। 'मुकुल' की 'लोरी' और 'बधाओ' व्यंग और गीति काव्य की दृष्टि से बेजोड़ है। वह एक ओर तो वर्तमान समस्याओं पर चोट करता है, दूसरी ओर लोक गीतों की परम्परा पर आधारित है। गणपति स्वामी के गीतों में भी लोक काव्य की विशेषता परिलक्षित होती है। अलवर के दीनू मियाँ बीजू भाई की 'पोल' स्पष्टोक्ति की दृष्टि से महत्व रखती है। वर्तमान सामाजिक, आर्थिक विषमताओं, और राजनैतिक स्थिति से उत्पन्न तीव्र असंतोष सबसे अधिक रेंवतदान की कविताओं में व्यक्त हुआ है। स्पष्टतः रेंवतदान चारण 'कल्पित' में प्रगति का स्वर सबसे मुखर है। उस की कविता लोक गीतों से शरीर और जन-भावना से प्राण ग्रहण करती है। बौद्धिक चेतना ने उसमें प्रभावोत्पादकता उत्पन्न की है। 'तीड़', 'ओलम्बो', 'साँसों, नदी रो हेलो' 'फरग', 'माटी रो मोसो' आदि कवितायें मेरे इस कथन की साक्षी हैं। उसकी कविता में विद्रोह है। उसके गीतों में धरती के बोल, जनता की भाषा और लोक मनसा की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। तभी तो उसके अनेक गीत जनता द्वारा लोक-गीतों के रूप में अपनाये जा चुके हैं। उसका काव्य आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। वैयक्तिकता के उद्दाम विस्फोट के फलस्वरूप उसकी भाषा में सशक्तता, विचारों में उग्रता और भावना में अखण्ड मानवता ने स्थान लिया है। यथा—यह उद्बोधन गीत—

खेत खड़ण ने हल ले हाली, जद करसां री टोली,
कितरा दिन तक सबर करेला, माटी हँसने बोली।
—रे बंदा चेत, मानखाँ चेत
जमानो चेतण रो आयो!

खेत जोतने के लिये जाने वाले किसानों के समूह को धरती चेतने के लिये प्रबोध करती है। कवि भाग्यवादी नहीं। आकाश की ओर टकटकी लगाकर अपने उद्धार की कामना उसे प्रिय नहीं। वह क्रांति का गायक है। निष्क्रियता का ठीक इलाज क्रांति ही है। बेबसी और विषमता का अन्त उसी से होगा।

इण माटी में सो सो पीढ़ी, मरगी भूखी प्यासी,
आग भरोसे रह्यो बावला, पीत करी आकाशी।
× × × ×
लोही बिना रङ्ग नीं आवें, धरती पड़गी धोली,
कितरा दिन तांई सबर करेला, माटी हँसने बोली।

इस प्रकार हम पाते हैं कि राजस्थानी की आधुनिक कविता में सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ दीखें पड़ती हैं। जहाँ भोजराज और मुरलीधर व्यास के दोहे लोकप्रियता प्राप्त कर लेते हैं, वहाँ उदयराज उज्ज्वल की प्राचीन परम्परानुगत कविता भी अपना विशेष स्थान रखती है। शास्त्रीय छन्दों की भाँति ही इसमें मुक्तक छन्दों का भी सफल प्रयोग किया गया है। जहाँ रेंवत की उग्रता है, वहाँ प्रेमशङ्कर 'रावल' की सांकुश कविता भी है। थोड़े में कहा जा सकता है कि आधुनिक राजस्थानी कविता में जीवन है। वह केवल बँधी लीक पर ही नहीं चलती, अन्य भाषाओं के साहित्य की भाँति उसमें भी विभिन्न प्रक्रियायें देखी जा सकती हैं। कहा जा सकता है कि राजस्थानी को अपनी नई पीढ़ी से बहुत कुछ पाने की आशा है।

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड

यहाँ है

हमने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को हर महीने पौने मूल्य में पुस्तकें देने की योजना सन् १९५१ के दिसम्बर मास से निकाली थी और अब तक हमारे ग्राहक उससे लाभ उठाते रहे।

अब डाकखाने के नये कानूनों के अनुसार हम जवाबी कार्ड को साहित्य-सन्देश के अङ्क में नहीं रख सकते। अतः हम उस कार्ड को इसी पृष्ठ पर नीचे छाप रहे हैं, आप लाइन पर से काट कर उसे हमारे पास भेज दें। इस पर आपको टिकट लगाने की आवश्यकता नहीं। जो ग्राहक किसी भी कारण से पुस्तकों की वी० पी० वापस कर देंगे तो पोस्टेज के खर्चे के वे जिम्मेदार होंगे।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

(यहाँ से काटिये)

(यहाँ से काटिये)

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड नं० २२

नाम..............................

पता..............................

ग्राहक सं०..............................

—हिन्दी कवियों की काव्य साधना–आलोचना		मिश्र	४)
—हिन्दी के गौरव ग्रन्थ–	,,	मनमोहन गौतम	३)
—टूटे सपने–	कहानी	श्रीकृपाल द्विवेदी	२)
—चगताई की कहानियाँ–	,,	चगताई	१॥)
—शरीर की बीवी–	,,	,,	१।।।)
—कोलतार–	उपन्यास	,,	२॥)
—फुलझड़ी–	,,	,,	१॥)
—लेफ्टीनेन्ट–	,,	,,	१॥)
—श्रेणिक बिम्बसार–	,,	चन्द्रशेखर शास्त्री	५)
—स्वास्थ्य और व्यायाम–	स्वास्थ्य	डा० केशवकुमार	२)
—हम सौ वर्ष कैसे जीवें–	,,	केदारनाथ गुप्त	२)
—ब्रह्मचर्य ही जीवन है–	,,	शिवानन्द	१॥)
—सफलता कुञ्जी	जीवन सुधार	स्वामी रामतीर्थ	।=)
—ईश्वरीय बोध–	,,	रामकृष्ण परमहंस	१।)
—मन की अपार शक्ति	,,	लिलि एलेन	।।=)
—विचारों का प्रभाव–	,,	जेम्स एलेन	॥)
—मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता है–		,,	॥=)
—गौरवशाली जीवन–		,,	॥)
—विवाह कराई शिक्षा–		सुभाषिनी देवी	२)
—डं० रामचरित मानस	धार्मिक		१।)

—जो पुस्तक [illegible]

REGD. No. 26? MARCH, 1954 LICENSE No. 16
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment

Postage will be paid by Addressee

BUSINESS REPLY CARD

No Postage Stamp necessary if Posted in India

AGRA G. P. O.
Permit No. 1136

Book Post

To—
श्री संचालक,
साहित्य-रत्न-भण्डार,
४, गांधी मार्ग,
आगरा।

मैं निश्चय लिखता हूँ कि वी० पी० अवश्य छुड़ा लूँगा।
२—एक साथ ... कम की वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

साहित्य सन्देश

वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क १०



[वा]र्षिक मूल्य ४)] आगरा—अप्रैल १९५४ [एक अङ्क का ।=

इस अङ्क के लेख

'साहित्य-सन्देश' के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा-जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक सख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।॥) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : मार्च १९५४

आलोचना

बीसलदेव रासो—डा० माताप्रसाद गुप्त ३॥)

कबीर साहित्य और सिद्धान्त—यज्ञदत्त शर्मा २॥)

हिन्दी साहित्य—भोलानाथ तिवारी ८)

आधुनिक कवियों की काव्य भावना—प्रो० सुरेशचन्द गुप्ता १॥)

हिन्दी साहित्य में विविध वाद—प्रेमनारायण शुक्ल ६)

तुलनात्मक अध्ययन—कृष्णचन्द्र शर्मा ३)

हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास—डा० भगवतस्वरूप मिश्र १०)

सूर मीमांसा—डा० व्रजेश्वर वर्मा ४।)

कविता

बिहारी वैभव—कमलादेवी गर्ग १)

कहानी

[illegible] और काँटे—शुसमा भारती— ३)

वीर सिपाही—सन्तराम विचित्र ३)

उपन्यास

धरती के लाल—वीरेन्द्र त्रिपाठी २)

पुनरुद्धार—कञ्चनलता सब्बरलाल ४)

श्रेणिक बिम्बसार—चन्द्रशेखर शास्त्री ५)

सांस्कृतिक

मेघदूत—वासुदेवशरण अग्रवाल ४)

शिक्षा मनोविज्ञान

आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान— ५)

भारतीय शिक्षा—राजेन्द्रप्रसाद ३)

जीवन साहित्य

हम करें क्या—टाल्स्टाय ३॥)

संस्मरण

मानवता के झरने—ग० वा० मावलङ्कर १॥)

गांधीजी की देन—डा० राजेन्द्रप्रसाद १॥)

स्फुट

गो सेवा संघ की विचार-धारा—राधाकृष्ण बजाज ॥)

समस्त भारतीय पुस्तकालयों को सूचना!

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा का संग्रहालय

पुस्तकालय और पारितोषिक के लिए पुस्तकों का अपूर्व संग्रह

साहित्य-रत्न-भण्डार आगरा में हिन्दी-पुस्तकों का संग्रह इतना विशद, इतना उत्तम और इनता उपयोगी है कि भारत के सभी बड़े-बड़े पुस्तकालय यहीं से अपनी मांग पूरी करते हैं। नई-से-नई पुस्तकें जल्द-से-जल्द यहां आ जाती हैं और काफी स्टाक में रहती हैं। जिन लोगों ने एक बार भी यह भण्डार देखा है, वे इसकी व्यवस्था और पुस्तकों का संचय देख कर दंग रह गये हैं। हमारी अपील है कि आप जब कभी आगरा पधारें इस भण्डार का निरीक्षण अवश्य करें और जब भी हिन्दी पुस्तकों की आवश्यकता हो, इसी को अपना आर्डर भेजें। सभी बड़े-बड़े लेखकों की रचनाएँ और सभी श्रेष्ठ प्रकाशकों के प्रकाशन तथा समस्त हिन्दी परीक्षाओं की पुस्तकें यहां हर समय तैयार मिलती हैं। हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वानों और अध्यापकों ने इस भण्डार के व्यवहार और संग्रह की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आप भी हिन्दी पुस्तकों के लिए इसे याद कीजिए।

छोटे बच्चों का ज्ञान बढ़ाने वाली पुस्तकें

बच्चों के बापू—डा० सत्येन्द्र	॥)	दिमागी खेल (भाग १ गणित)— ,,	।=)
बुद्धि परीक्षा (भाग १ पहेली)—राममूर्ति मेहरोत्रा	।=)	,, ,, (भाग २ विज्ञान)— ,,	।=)
,, ,, (भाग २ भाषा तथा साहित्य) ,,	।=)	,, ,, (भाग ३ नेचर स्टडी)— ,,	।=)
समझ के खेल (भाग १ हिसाब) ,,	।=)	,, ,, (भाग ४ भूगोल)— ,,	।=)
,, ,, (भाग २ विज्ञान) ,,	।=)	,, ,, (भाग ५ इतिहास)— ,,	।=)
		सप्त वैज्ञानिक—कृष्णमूर्ति मेहरोत्रा—	॥=)

आज ही अपने बच्चों के लिए पूरा सेट मँगालें

साहित्य रत्न भंडार, आगरा।

हिन्दी के नवीन कोश

हिन्दी मुहावरा कोश— भोलानाथ तिवारी ७॥)
हिन्दी पर्यायवाची कोश— ,, ,, ७॥)
संक्षिप्त हिन्दी कोश— भोलानाथ तिवारी ३)
बृहद हिन्दी कोश— मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव २०)
पारिभाषिक शब्द कोश ,, ,, ४)
ब्रजभाषा सूर कोश भाग ४—
सं० दीनदयाल गुप्त, प्रत्येक ३)
तुलसी शब्द सागर— १)
हिन्दी राष्ट्र-भाषा कोश— इन्डियन प्रेस १४)
प्रामाणिक हिन्दी कोश— रामचन्द्र वर्मा १२॥)
भाषा शब्द कोश—रसाल १२)
शब्दार्थ पारिजात— द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ६)
नारायण हिन्दी शब्द सागर—
श्यामसुन्दरलाल दीक्षित एम० ए० ५।)
हिन्दी मुहावरा कोश— आर० जे० सरहिन्दी ३)

उर्दू हिन्दी कोश— रामचन्द्र वर्मा ४॥)
बाल हिन्दी शब्द सागर— पाठक ३)
शासन शब्द कोश— राहुल १५)
शासक शब्द संग्रह— हरिहर निवास द्विवेदी १॥)
समाचार पत्र शब्द कोश—सत्यप्रकाश १॥)
राजकीय कोश—गोरखनाथ चौबे— १॥)
हिन्दी पर्यायवाची कोश— कृष्ण शुक्ल ४॥)
ज्योतिष विज्ञान— सुखदेव पाण्डेय ॥
विविध ज्ञान कोश— रामेश्वरप्रसाद झा १०)
अमरकोश— रघुनाथप्रसाद शास्त्री २)
रामायण कोश— केदारनाथ भट्ट ४)
टुएन्टी एन्थ सेन्चुअरी ५ भाग ६२॥)
भार्गव डिक्शनरी अंग्रेजी से हिन्दी ६)
,, ,, ,, ,, (संक्षिप्त) ४)
,, ,, हिन्दी से अंग्रेजी ६)
,, ,, ,, ,, ,, ४)

ग्रामोपयोगी पुस्तकें

गाँव की बोली— रमेश वर्मा ।॥)
गाँव की बातें— ,, ।॥)
ढोरों का इलाज— ,, ॥=)
घरेलू इलाज— ,, ॥)
गाँव के गीत (स्त्रियों के)— ,, ॥)
गाँव के गीत (पुरुषों के)— ,, ॥)
गाँव की सेहत— ,, ॥)
गाँव का जीवन— ,, ॥)
गाँव [illegible]नियाँ— ,, ॥)
खेती और घरेलू धन्धे— ,, ॥)
[illegible]ली का डोला— ,, ॥)

गाँव स्वर्ग बन सकता है— ॥=)
पशुओं के रोग उनकी चिकित्सा— ॥)
वृक्ष विज्ञान—प्रवासीलाल वर्मा मालवीय ४)
दूध पिलाने वाले जन्तु—शुकदेव नारायण ३)
नवीन खेलों की पुस्तक—रोनकीराम अग्रवाल २॥)
फलों की खेती और व्यवसाय—
डा० नारायण दुलीचन्द २॥=)
फल संरक्षण—गोरखप्रसाद चौबे २॥)
मवेशियों की बीमारियाँ— ≡)
संयुक्त प्रान्त की बेकार जमीनें— =)
साग सब्जी—पं० कार्तिकेयचरण १॥)

सभी विषयों की पुस्तकें हमसे मँगायें:—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।



भाग १५] आगरा—अप्रैल, १९५४ [अङ्क १०

हमारी विचार-धारा

संसद में हिन्दी की चर्चा—

केन्द्रीय सरकार के बजट अधिवेशन में जब शिक्षा मंत्रालय की माँग पेश की गई तो संसद सदस्यों ने हिन्दी प्रचार के विषय को लेकर मंत्रालय की बड़ी आलोचना की। अनेक आक्षेप किए, कितने ही आरोप लगाए और वातावरण मंत्रालय के बहुत विरुद्ध दिखाई दिया। यह शिकायतें और आरोप किसी से छुपे नहीं हैं और उन पर समय समय पर हम भी प्रकाश डाल चुके हैं। सितम्बर १९५३ के अङ्क में तो हमने इस विषय की आलोचना पूरे तीन पृष्ठ में की थी और अनेक उदाहरण देकर मंत्रालय की हिन्दी के प्रति उपेक्षा नीति का उद्घाटन किया था। सितम्बर के बाद और अनेक उदाहरण ऐसे ही मिले परन्तु इस बीच में एक बार भी मंत्रालय की ओर से किसी बात का स्पष्टीकरण प्रकट हुआ हो—यह हमने नहीं देखा। बजट अधिवेशन में ऐसा अवसर था जब मंत्रालय की ओर से इन आक्षेपों और आरोपों पर सम्यक प्रकाश डाला जा सकता था और यदि वे आरोप ठीक नहीं थे तो उनका निराकरण भी किया जा सकता था। सभी संसद सदस्य और भारत की सारी जनता इसकी प्रतीक्षा कर रही थी और यह आशा करती थी कि शिक्षा मंत्री अपने भाषण में इस विषय पर उठी हुई जनता की शङ्काओं का निराकरण अवश्य करेंगे। परन्तु

मौलाना का उत्तर—

हमें आश्चर्य और खेद के साथ कहना है कि शिक्षा मन्त्री मौलाना आजाद ने हमारी इस उचित आशा को सफल नहीं किया। उन्होंने हिन्दी के सम्बन्ध में जो भाषण दिया उसमें उग्रता और कटाक्ष अधिक थे—तथ्य प्रदर्शन बहुत कम। जो आक्षेप उन पर किए जाते हैं उनमें से किसी का उचित उत्तर उन्होंने नहीं दिया। उलटे उन्होंने हिन्दी की हिमायत लेने वालों पर अनुचित आक्षेप और कर दिए। श्रद्धेय टण्डन जी को 'पुर फरेब' कहकर तो उन्होंने अपने हृदय के भाव पूरे तौर पर जाहर कर दिए। जब इस शब्द पर बहुत शोर मचा और उपाध्यक्ष महोदय ने भी उसे अनुचित कहा तब मौलाना को यह

शब्द वापस लेना पड़ा। हमारी समझ में मौलाना का यह कार्य शोभा जनक नहीं रहा। मौलाना का त्याग और देश के प्रति उनकी सेवाएँ इतनी ज्यादा हैं कि सभी लोग उनका आदर करते हैं। उनके आधुनिक शिक्षा विज्ञान से दूर रहते हुए भी पं० जवाहरलाल नेहरू उसी आदर और श्रद्धा के भाव से उन्हें शिक्षा मन्त्री बनाए हुए हैं और जनता और संसद सदस्यों के अनेक आक्षेपों को भी इसी कारण सह लेते हैं। ऐसी दशा में मौलाना साहब से आशा की जाती थी कि वे अधिक सुलझा हुआ और तसल्ली-बख्श वक्तव्य देकर जनता को शान्त करेंगे। परन्तु मौलाना साहब ने वैसा न कर जनता को बहुत निराश किया।

मौलाना की घोषणा—

परन्तु मौलाना साहब राजनीति के बड़े खिलाड़ी हैं और वक्तृत्व द्वारा जनता को इधर से उधर ले जाने की कला जानते हैं। इस भाषण में भी उन्होंने संसद सदस्यों को एक घूँट ऐसा पिलाया कि सदस्यों का सारा जोश ठंडा कर दिया और वातावरण अपने माफिक कर लिया: इस अवसर पर मौलाना साहब ने जो घोषणा की वह यदि पूरी की जा सके तो बड़ी महत्वपूर्ण है। आपने कहा "शिक्षा मन्त्रालय हिन्दी का पूर्ण विकास करना और उसे उचित स्थान दिलाना अपना कर्तव्य समझता है और इसमें देरी बर्दाश्त करने को कदापि तैयार नहीं।" मौलाना की इस घोषणा का सबने स्वागत किया पर प्रश्न यह है कि यह घोषणा, घोषणा ही रहेगी या इसके अनुसार कुछ काम भी होगा। जो लोग शिक्षा मन्त्रालय पर आक्षेप करते हैं चाहते तो वे भी यही हैं—पर उनका कहना यह है कि मौलाना कहते तो यह हैं पर उनके मन में शायद कुछ और है। यदि नहीं तो वे हिन्दी के प्रचार को तेज करने में क्यों झिझकते हैं। हिन्दी प्रचार के काम को क्यों वे ऐसे हाथों में सौंपते हैं जिन्हें उसका कोई अनुभव नहीं, ज्ञान नहीं। उन्होंने लाखों रुपया हिन्दी प्रचार के लिए जामिया मिल्लिया को दिया। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों किया गया? उन्होंने अपने उत्तर में बताया कि उन्होंने तमिल भाषा में एक विश्व-कोश बनाने के लिए दक्षिण की किसी तमिल संस्था को ८० हजार रुपया दिया है। बड़ी खुशी की बात है। पर हिन्दी का विश्वकोश बनाने के लिए जो रुपया दिया गया वह किसी हिन्दी संस्था को क्यों नहीं दिया गया—उर्दू संस्था को क्यों दिया गया। इस प्रश्न का उत्तर मौलाना को देना जरूरी था—पर वे इस मामले में चुप रहे। उन्होंने उत्तर दिया शिबली एकाडेमी आजमगढ़ के बारे में—

शिबली एकाडेमी—

आजमगढ़ में उर्दू-फारसी का प्रचार करने के लिए एक संस्था शिबली एकाडेमी के नाम से खुली हुई है। अच्छी प्रतिष्ठित पुरानी संस्था है। इसे मौलाना साहब ने ६० हजार रुपया अनुदान में दिया है। किसी सदस्य ने इस पर कुछ कहा था, उसका उत्तर देते हुए आपने पं० जवाहरलाल नेहरू का दामन पकड़ लिया और कहा कि उनके बहुत लिखने पर ऐसा किया गया है। हम इसे बुरा नहीं कहते पर इसी एकाडेमी के सम्बन्ध में जो चर्चा सुनी जा रही है वह यदि सत्य है तो बड़े दुःख की बात है क्योंकि उससे बड़ी भारी राष्ट्रीय हानि हुई। घटना इस प्रकार बताई जाती है—इस एकाडेमी में फारसी के सैकड़ों हजारों बहुमूल्य ग्रन्थों का संग्रह था। कहा यह जाता है कि इसका बहुत बड़ा भाग हाल ही में पाकिस्तान भेज दिया गया। कहा यह भी जाता है कि आजमगढ़ के कलक्टर को जब यह मालूम हुआ कि यह मूल्यवान संग्रह यहाँ से जाने वाला है तो उन्होंने एकाडेमी पर सख्त पहरा बैठा दिया और पहरा कुछ दिन रहा भी, परन्तु पीछे केन्द्रीय सरकार के इशारे पर कलक्टर को पहरा हटा देना पड़ा और उसके बाद यह संग्रह आजमगढ़ से पाकिस्तान चला गया। हम चाहते हैं यह खबर गलत हो और हम आशा करते हैं कि सरकार इसकी जाँच करके ऐसा प्रकट करेगी। परन्तु यदि यह सत्य है और अनुदान इससे पहले दिया गया है तो क्या वह अनुदान इस संग्रह को बाहर भेजने की खातिर ही दिया गया था, या यदि वह अनुदान पीछे दिया गया है तो क्या यह उसका इनाम था? क्या है—सची बात प्रकट कर दी जाय तो अच्छा ही होगा। हम इसे स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि

हमें शिवली एकाडेमी को ५० हजार रुपया देना बुरा नहीं लगता, बुरा लगता है अ० भा० हिन्दी परिषद जैसी संस्था को पचास हजार रुपया मन्जूर करके २५ हजार देना।

अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी—

शिक्षा मन्त्री महोदय ने जो कार्य ग्यारहवीं वर्ष में प्रारम्भ करने को कहा है अर्थात् अंग्रेजी और हिन्दी दोनों को साथ-साथ सरकारी कार्य-विभाग में लाने का जो वचन दिया है उससे किसी को सन्तोष नहीं। यह कार्य तो तुरन्त नहीं तो अगली साल शुरू हो जाना चाहिए। यह शिक्षा-मन्त्री के विभाग पर एक लाञ्छन की बात है कि उन्होंने सरकारी कारबार करने के लिए कोई पुस्तकें नहीं बनवाई न ऐसे विद्यालय खोले जिनमें सरकारी लिखा-पढ़ी करने की शिक्षा दी जाय। इस दिशा में तुरन्त ही कदम उठाया जाना चाहिए जिससे कि अगले साल काम शुरू हो सके। ग्यारहवें वर्ष तो हिन्दी में पूरी तौर से काम शुरू होजावे। अन्तर्राष्ट्रीय काम में चाहे अँग्रेजी चले किन्तु अन्तर्प्रान्तीय लिखापढ़ी बिल्कुल हिन्दी में हो। तभी हम पन्द्रह वर्ष पूरे होने पर अपना काम अच्छी तरह सम्हाल सकेंगे। पाँच वर्ष में प्रयोगावस्था पूरी हो जायगी। पन्द्रह वर्ष के बाद हमें ऐसी अवस्था लानी चाहिए जिसमें निश्चय के साथ काम किया जा सके।

कुछ और सुझाव—

मौलाना ने यह शिकायत भी अपने भाषण में की है कि उन्हें कोई सुझाव नहीं दिए जाते। हमारा ख्याल है कि यह मौलाना का भ्रम है। शिक्षा मन्त्रालय को सुझाव तो बहुत दिए जाते हैं पर मौलाना का ध्यान उस तरफ जाता नहीं। तभी उन्हें यह शिकायत करने का अवसर मिला है। खैर अब हम एक सुझाव भी पेश करते हैं:— उच्च शिक्षा के लिए साहित्य निर्माण का कार्य एक निश्चित योजना के अनुसार कराया जाय। अभी जो कार्य हो रहा है वह निजी उद्योग से ही हो रहा है सरकार का प्रोत्साहन बहुत थोड़ा है। पञ्च वर्षीय योजना की भाँति साहित्य की उन्नति की भी पञ्चवर्षीय योजना बनाई जाय। सरकार को यह कार्य उत्साह के साथ करना चाहिए। अभी तक हाई स्कूल तक की शब्दावली बनी है सो भी उसको अन्तिम रूप नहीं दिया गया है। सरकार इस योजना के निर्माण में हिन्दी के प्रति उत्साह रखने वाले कार्यकर्ताओं से काम लें। हम दूसरे प्रान्त वालों का भी सहयोग इसमें चाहते हैं। उसका हम स्वागत करेंगे किन्तु वे ऐसे ही लोग हों जिन्हें हिन्दी का ज्ञान हो और उसके प्रति लगन भी हो। विपरीत पूर्वग्राहों से पीड़ित न हों और ऐसे हों जो हिन्दी की सम्भावनाओं में विश्वास रखते हों और उनको चरितार्थ करने का उत्साह रखते हों।

हमारा यह भी सुझाव है कि सरकार जो पुरस्कार देना चाहती है वे किसी निश्चित लक्ष्य को लेकर दिए जायँ। ४०-५० पृष्ठ की साधारण पुस्तकों पर हजार-हजार रुपया पुरस्कार स्वरूप देना किसी तरह ठीक नहीं।

साहित्य-अकादमी—

शिक्षा मन्त्री महोदय ने भारतीय भाषाओं के साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए सङ्गीत और कला की एकाडेमी के अनुसार एक 'साहित्य अकादमी' की भी स्थापना की है। इस एकाडेमी के नाम और उसके स्वरूप दोनों से यह मालूम होता है कि शिक्षा मन्त्री की निगाह में हिन्दी भी एक प्रान्तीय भाषा है—उसका न तो कोई राष्ट्रीय महत्व है और न वह राष्ट्रभाषा है। तभी तो उसे वही स्थान इस एकाडेमी में दिया गया है जो दूसरी छोटी-से-छोटी भाषाओं को। उसका नाम भी बड़ा आश्चर्यजनक है। उस देश की एकाडेमी को जिसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी घोषित हो चुकी है और संविधान के अनुसार जो संस्कृत-निष्ठ होगी उस देश के साहित्य की जो महान संस्था मौलाना बना रहे हैं—उसका नाम ऐसा रखना जो देश की किसी भाषा के शब्द-कोश में न हो—यह मौलाना की सूझ बूझ और उनके उर्दू प्रेम का ही परिचायक है। निश्चय ही 'अकादमी' शब्द न फारसी में है न उर्दू में—किसी भी भाषा में 'अकादमी' जैसा कोई शब्द नहीं है पर चूँकि उर्दू वाले अंग्रेजी 'एकाडेमी' को 'अकादमी' लिखने लगे हैं इसलिए मौलाना ने भी उसे भारत की इस महान संस्था के सिर पर थोपा है। ~~हमें खेद है कि~~ हम इस एकाडेमी के रङ्ग और रूप से सर्वथा असन्तुष्ट हैं और उससे कोई अच्छी आशा नहीं कर सकते।

हमारा क्षोभ—

हमें मौलाना के कार्य और व्यवहार पर तो क्षोभ है ही पर उससे भी ज्यादा क्षोभ अपने उन मित्रों पर है जो हिन्दी के नाम पर संसद के महल में विराजमान हैं और जो शिक्षा-मन्त्रालय के कार्यों की सम्यक् आलोचना करने में हिचकिचाते हैं। हम पं० बनारसीदास चतुर्वेदी से पूछना चाहते हैं कि उनकी कलम में शिक्षा मन्त्रालय की आलोचना करने के लिए क्यों स्याही सूख गई है। वे तो बड़े निस्पृही और सरकार के विरोधी रहे हैं फिर आज वे ऐसे कड़वे घूँटों को क्यों चुपचाप पी जा रहे हैं। उनके और भी मित्र इसी कोटि में आते हैं। हमारा विश्वास है कि वे जब तक शोर न मचावेंगे तब तक न तो मौलाना की नींद ही खुलेगी और न पं० जवाहरलालजी ही इधर ध्यान देंगे। जरूरत है अच्छी तरह झकझोरने की, और यह काम संसद सदस्य ही कर सकते हैं। क्या हम आशा करें कि वे अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे ?

सूचना मन्त्रालय का प्रशंसनीय प्रयत्न—

केन्द्रीय सरकार के सूचना मन्त्रालय का कार्य जब से डा० केशकर महोदय ने ग्रहण किया है—इस विभाग में प्रशंसनीय परिवर्तन हुए हैं। आकाशवाणी का सञ्चालन इसी विभाग के द्वारा होता है। सब जानते हैं कि आकाशवाणी द्वारा ऐसे भद्दे फिल्मी गानों का प्रसार होता था, जिससे सुनने वालों पर बड़ा अस्वस्थ प्रभाव पड़ता था। डा० केशकर ने इन गानों को प्रायः बन्द कर दिया है। इनके स्थान पर शास्त्रीय सङ्गीत का प्रसार किया जा रहा है। इस परिवर्तन को सभी विचारवानों ने पसन्द किया है और सभी इस मामले में डा० केशकर की प्रशंसा कर रहे हैं। एक मनचले मेम्बर ने संसद में इसका विरोध किया था। अधिकांश सदस्यों ने उन्हें मुँहतोड़ उत्तर देकर निरुत्तर कर दिया। केशकर महोदय ने भी इस अवसर पर दृढ़ता का प्रदर्शन कर उपयुक्त उत्तर दिया।

आवश्यकता इस बात की है कि सूचना मन्त्रालय सिनेमा फिल्मों की ओर भी इसी दृढ़ता से ध्यान देकर उसका और सुधार करें। आज गन्दी फिल्मों और उनके गन्दे गानों के ही कारण हमारे देश की जनता अवनति की ओर जा रही है।

स्व० पं० रघुवरदयालु मिश्र—

युक्त प्रान्त के वासी श्री मिश्रजी ने अपने जीवन के सम्पूर्ण वर्ष—सन् १९१८ के बाद जब महात्मा गांधी की प्रेरणा से दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का जन्म हुआ—मद्रास में बिता दिए और वहीं अपनी इह लोक-लीला को समाप्त कर फरवरी के अन्त में स्वर्ग सिधार गए। शुद्ध कर्त्तव्य की प्रेरणा से इस प्रकार अपने घर से इतने दूर रह कर अपना जीवन खपा देने वाले कितने राष्ट्र-सेवक आपको इस देश में मिलेंगे ? मिश्रजी का जीवन सात्विक-सेवा का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करता है। उन्होंने दक्षिण में हिन्दी के प्रचार में जो काम किया है वह स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। द० भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रधान मन्त्री श्री सत्यनारायणजी के वे दाहिने हाथ थे। मिश्रजी के निधन से वे आज दुखी हैं। हम उनके और मिश्रजी के परिवार के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि मिश्रजी की मूक सेवाओं का आदर करने के लिए कोई स्थायी कार्य ऐसा किया जायगा जो दूसरे व्यक्तियों को इसी प्रकार सेवा-पथ में अग्रसर करने के लिए प्रेरणा प्रदान कर सके।

पं० द्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी का निधन—

द्विवेदी काल से हिन्दी की अनवरत सेवा करने वाले प्रयाग के श्री पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी का ७८ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया। चतुर्वेदीजी ने उस समय—जब हिन्दी लेखकों का अभाव था और गिनी चुनी हिन्दी की पुस्तकें प्रकाशित होती थीं—विभिन्न विषयों पर पचासों पुस्तकें लिखकर हिन्दी की श्रीवृद्धि की थी। आपने हिन्दी प्रचार का काम भी बड़ी लगन और मनोयोग से किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वे सृष्टाओं में से थे। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी भी हिन्दी के बड़े सेवक, सहायक और समर्थक तथा शिक्षा के विशेषज्ञ और अनवरत प्रसारक हैं। हम उनके इस पितृ वियोग पर समवेदना प्रकट करते हुए दिवंगत चतुर्वेदी जी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं।

काव्य में सौन्दर्य बोध

श्री केदारनाथ लाभ, बी० ए० (ऑनर्स)

सृष्टि में जो प्रकृति और जीव है, पुष्प में जो पराग है, प्रभाकर में जो प्रकाश है, चन्द्र में जो शीतलता है वही साहित्य में सौन्दर्य है : सृष्टि जीव विहीन शून्य है, पुष्प-पराग विहीन व्यर्थ है, प्रभाकर और चन्द्र प्रकाश शीतलता विहीन निस्सार हैं उसी भाँति साहित्य सौन्दर्य-विहीन होकर निर्जीव सा है। मेरे जानते पुष्प का सौन्दर्य केवल उसके पर्यङ्क की लाली में नहीं है बल्कि उसके सौरभ में है। केवल शतदल की लाली पर मुग्ध होने वाला कवि साहित्य सरिता के कगारे पर विचरण करने वाले उस नाविक सा है जो महज डूब जाने के भय से किनारे पर बैठ जाता है अथवा उस विलासी सा है जो नारी का सौन्दर्य केवल उसके कच कुचों में मानता है और उसकी प्राप्ति के लिए अपना जीवन न्यौछावर करता है। जिस प्रकार संस्कृति आचरण की सुन्दरता का पर्याय है, संगीत स्वर एवं ही सुन्दरता का नाम है तथा चित्र रङ्ग और दृश्य के सौन्दर्य की सृष्टि है उसी प्रकार साहित्य विचारों एवं भावनाओं की सुन्दरता का दूसरा नाम है। यही कारण है कि साहित्य में सत्यं शिवं के प्रश्न पर मतान्तर होने पर भी सुन्दरम् में कोई विरोध नहीं है। सभी साहित्य मनीषी इस प्रश्न पर एक मत हैं कि साहित्य में सुन्दरम् एक अनिवार्य गुण है। हिन्दी साहित्य के सुधी साधक श्री जानकी वल्लभ शास्त्री तो यहाँ तक कहते हैं कि···"सुस्पष्ट शब्दों में, साहित्य (कला) की आत्मा, साहित्य (कला) का प्राण सौन्दर्य ही है।''

यह सौन्दर्य आदि काल से ही साहित्य में किसी न किसी रूप से अभिव्यक्त होता ही रहा है। हाँ, ऐसा अवश्य हुआ है कि जब भी हम इस सौन्दर्य का रूप विकृत कर देते हैं तो उससे साहित्य का ही नहीं सृष्टि का भी अनिष्ट होता है। तब ऐसे ही अवसर पर, प्रतिक्रिया स्वरूप, सौन्दर्य पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है जो सौन्दर्य को विकृत होने से बचा लेता है।

रीतिकालीन कविता (जिसे रति काल भी कहते हैं) स्थूल सौन्दर्य के विशिष्ट उदाहरण हैं। नारी के 'अस्थि चर्ममय देह' से जब लोगों की निर्लज्ज प्रीति होने लगी तो उसके 'उभरे उरोज' और 'नयन सरोज' ही साहित्य में हर कहीं दिखाई देने लगे। पुरुषों (कवियों) की इस कामुक वासना और निर्लज्ज अर्चना से नारी (कविता) स्वयं लज्जित हो गई। तिरस्कार, दुत्कार एवं फटकार स्वाभाविक हो गया। और 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' तो 'धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' की तरह साहित्य में भी जब जब सौन्दर्य का रूप विकृत हो जाता है तो उसकी संस्थापना करने के लिए साहित्यिक कृष्ण अवतरित होते ही हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी का अवतरण इसी रूप में हुआ। लेकिन क्रिया की प्रतिक्रिया जब प्रबल वेग से होती है तो लोग मानसिक संतुलन खो देते हैं। उसी तरह द्विवेदीजी ने निमल, अम्लान और अनिन्द्य सौन्दर्य की सृष्टि के लिए ऐसे कड़े नियम बनाये कि उसमें सौन्दर्य बना ही नहीं पाता था। जिसके लिए भवन विनिर्मित हुआ वह इतना संकीर्ण सिद्ध हुआ कि उसमें वह समा ही नहीं पाया।

पर जैसे हम ओठों की मुस्कान पर नियन्त्रण नहीं लगा सकते, भावों के उच्छ्वास को रोक नहीं सकते, उसी भाँति उनका चित्रण भी नहीं रोक सकते। औरंगजेब जैसा शुष्क हृदय शासक जब साहित्य, संगीत, नृत्य और चित्र पर प्रतिबन्ध लगाकर भी उसे नहीं रोक पाया तो और कोई क्या उस अन्तर के वेग की बाढ़ को रोक सकता है ? हिन्दी साहित्य में छायावाद का अवतरण ऐसे बहते मानव हृदय का असीमित, अनन्त सौन्दर्य की ओर बढ़ने का विकल वेग है।

मैं कुछ बहक सा गया किन्तु, यह इस पुष्टि के लिए कि साहित्य का सौन्दर्य आवश्यक गुण है जो युग के भावानुकूल कम बेश रूप में अवश्य रहा करता है। मेरे

कहने का यही तात्पर्य है कि वाल्मीकि और व्यास, होमर और दांते, कालिदास, भवभूति, तुलसी, शेक्सपियर सब के सब सौन्दर्य के समर्थक थे और आज भी साहित्य सौन्दर्य विहीन होकर उसी प्रकार नहीं रह सकता जैसे सरिता सलिल विहीन होकर नहीं रह सकती।

अब मैं यह बताऊँ कि साहित्य का यह सौन्दर्य है क्या ? सौन्दर्य अगर सच्चा सौन्दर्य है तो वह ईश्वर की वह विभूति है जिसे पा लेने पर और कुछ पाना बाकी ही नहीं रहता।

"If you get simple beauty, and nought else, you get about the best thing God invents" —Browning.

इस प्रजापति की सृष्टि में जो कुछ है वह सहज सुन्दर है। और सृष्टि चाहे स्वयं सत्य हो या नहीं, उसके अणु-अणु में जो सुन्दरता है उसकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि असत्य सृष्टि को भी इस भौतिकवाद और विज्ञानवाद के युग में बिना सत्य माने कार्य ही नहीं चल सकता। मार्क्स और हिगेल के समर्थक तो इस सृष्टि के सिवा किसी वस्तु को, जो उनकी दृष्टि, चर्म-चक्षु से परे है, सत्य मानने को तैयार ही नहीं होते। उनकी दृष्टि में केवल यह संसृति सत्य है और सत्य है हमारा जीवन चाहे हम जब तक ही क्यों न जियें ! इस प्रकार हम वृक्ष लताओं में, पुष्प वृन्तों में, सैकत समुद्रों के यत्र तत्र सर्वत्र एक सौन्दर्य का आभास पाते हैं जो हमारी ... चारों ओर फैला है। इसी से अँग्रेज कवि 'कीट्स' का कथन है कि "सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है।"

"Beauty is Truth,
Truth Beauty
That is all ye know,
and all ye need to know"
—Keats

सौन्दर्य की सत्यता जहाँ सृष्टि के साथ ही जीवन की सत्यता का आभास देती है वहाँ ध्यान देने की यह बात है कि यह सत्यता वैज्ञानिक सत्यता नहीं है। विज्ञान की सत्यता वहीं तक गई है जो जहाँ तक इन्द्रिय गोचर दृश्य फैला है। लेकिन साहित्यकार अपनी कल्पना की आँखों से, अन्तर्दृष्टि से एक ऐसे संसार से भी सम्बन्ध स्थापित कर लेता है जो अतीन्द्रिय है और सृष्टि के सौन्दर्य में उसी परोक्ष सत्ता का आभास पाता है। पन्त उसी को "दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झङ्कार" में उसका प्यार देखते हैं और उसका स्वर सुनते हैं, तथा महादेवी 'उसी' का रूप हर जगह देखती हैं।

"तेरी आभा का कण नभ को
देता अगणित दीपक दान।
दिन को कनक राशि पहनाता
विधु को चाँदी का परिधान।"

और उसे उस पति से दृढ़ आस्था भी हो गई है।

"कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास।।"

उसी सत्य के सौन्दर्य पर तो 'मीरा' भी रीझ कर 'लोक लाज खोई' थी। अतः पूर्ण सत्य वही सौन्दर्य है, जो ईश्वर है, जो चिरन्तन है और जो है सत्य।

यही सौन्दर्य का सत्य पूर्ण सत्य है जो ईश्वर का प्रति रूप है। जिसे "Truth is God and God is truth" कहा है। यह सहज स्वाभाविक सुन्दरता अपने में एक ऐसा चमत्कार लिए रहती है जिसका रूप नित नवीन ही रहता है। उसमें मलिनता नहीं आती या अर्थशास्त्र के 'क्रमागत ह्रास का नियम' उसमें लागू नहीं होता। यह सौन्दर्य तो वह वस्तु है जिसका उपभोग आप जीवन भर करते रहें फिर भी तुष्टि नहीं होती, सन्तोष नहीं होता। सौन्दर्य सलिल का आप जितना अधिक पान करते जायँ आपकी तृष्णा, आपकी प्यास उतनी ही बढ़ती चली जायगी। इसी से विद्यापति ने कहा "जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल" और कीट्स कहता है—A thing of beauty is a joy for ever. सच्चा सौन्दर्य तो वह है जो पद-पद पर नवीनता का दिग्दर्शन कराता रहता है, 'नूतनं नूतनं पदे पदे' का बोधक होता है। विद्यापति ने इसे ही लक्ष्य कर

कहा था—"से हे पिरित अनुराग बखानिय तिल तिल नूतन होय" यह उनकी प्रीति और अनुराग, सौन्दर्य सम्भूत वस्तु है। इसके सम्मुख विश्व का सम्पूर्ण वैभव और ऐश्वर्य, सृष्टि की सारी विभूतियाँ कोई कीमत नहीं रखतीं। अमर अनुपम सौन्दर्य का एक बार साक्षात्कार हो गया फिर जीवन में बाकी ही क्या रहा? पन्त कहते हैं—

"अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान"

लेकिन कहा है कि "सुन्दरता वस्तु विषय में नहीं बसती दर्शक की दृष्टि में बसती है" नहीं तो मजनू काली कलूटी लैला से क्यों प्यार करता, नहीं नहीं, उसकी खातिर अपनी कब्र खोदने को सदा तैयार क्यों रहता? एक बार ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर में उसने कहा था कि "कोई मजनू की नजर से देखे तो पता चले कि लैला कितनी सुन्दरी है" और खुदा को भी वह लैला के रूप में ही देखना चाहता था। यह सौन्दर्य की असीमित शक्ति की पराकाष्ठा है। निर्विकार प्रेम निर्विकार सौन्दर्य के बिना असम्भव है। यूँ यह अलग बात है कि लोग स्वच्छ एवं पूत सौन्दर्य में भी अपने विकृत भावों के अनुकूल विकार ढूँढ लें। वस्तुतः विकृत एवं दूषित विचारों वाला व्यक्ति हर सुन्दर वस्तु में वासना का आरोप कर देता है। तभी तो राम की शील, शक्ति एवं सुन्दरता से भरी मूर्ति को भी देख कर कोई आकर्षित हो जाता था, कोई मुग्ध और कोई भयभीत।

"जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी"

लेओनार्डो डा विन्सी का वह विश्व विख्यात चित्र भी लोगों में कभी-कभी वासनात्मक भाव की सृष्टि कर देता है जिसमें एक वात्सल्यमयी नारी का चित्रण है जो अपने उन्नत पयोधर से दुग्ध पान अपनी सन्तान को कराती है। लेकिन वह चित्र माँ के वात्सल्य भाव का वस्तुतः दिग्दर्शन कराता है। तो कारण यह है कि दूषित आँखें, गन्दी नजर हर दिव्य वस्तु में भी दूषित रूप ही देख लेती हैं। टाल्सटाय का उपन्यास 'ऐना करीना' कुछ दूसरे ही भाव की अभिव्यक्ति करता है लेकिन दूषित विचार के लोग उसमें दूषित भाव ढूँढ़ सकते हैं। वस्तुतः कलाकार की तभी हत्या हो जाती है जब उसके सौन्दर्य-भाव को लोग न समझ पाकर बुरा अर्थ लगा लेते हैं। कलाकार ऐसे पर्यवेक्षकों से बचना चाहता है और अमूल्य कृति को वैसे लोगों के आगे To cast pearls before swine की तरह समझता है।

कला में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति दो प्रकार की हो सकती है, एक बहिरङ्ग सौन्दर्य की, दूसरी अन्तरङ्ग सौन्दर्य की। विद्यापति, सूर और रीतिकाल के प्रायः सभी कवि ऐसे सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। सूर का एक पद लीजिए—

स्याम कर भामिनि मुख सँवारेउ
बसन तन दूर करि सकल मुज अङ्क भरि
कामरिस वाम पर निदरि मारेउ
अधर दसननि भरे, कठिन कुच उरलरे
परे सुख सेज मन एक दोऊ।

ऐसे ही 'कुच कलश' और 'कनक कटोरा' का कितनी जगहों पर विद्यापति ने भी वर्णन किया है। किन्तु कहीं-कहीं नारी के अन्तरतम की भावनाओं का जैसा सहज वर्णन उन्होंने किया है वे उससे एक नवीन सौन्दर्य का उदय हो जाता है। जैसे राधा कृष्ण के बीच कुछ दुराव हो जाने पर राधा जब कहती है—

"एते दिन छल नव रीति रे
जल मीन जेहन पिरीत रे।"

किन्तु अब—

"एकहि पलङ्ग पर कान्ह रे
मोर लेख दुर देस मान रे।"

तो एक नारी के हृदय की वेदना का उच्छ्वास स्वाभाविक सा मालूम पड़ने लगता है। ऐसे ही वियोगिनी राधा कहती है—

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे
यौवन बिनु तन तन बिनु यौवन
की यौवन पिय दूरे

और भादव में तो उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि वह विकल हो उठती है—

सखि हे हमर दुःख के नहिं ओर !
ई भर बादर माह भादर, सून मन्दिर मोर ।
सघन घन गरजन्ति झम्पित भुवन भरि बरसन्तिया,
कन्त पाहुँन काम दारुन, फाटि जायत छातियाँ⋯

पन्त ने भी इस तरह सौन्दर्य वर्णन अनेक स्थलों पर किया है।

किन्तु आज का युग विज्ञान का युग है, बौद्धिक (Rational) युग है। कल्पना का सहारा लेकर जिस सौन्दर्य का सृजन कलाकार करता है उससे कहीं-कहीं हमारा मन इन्कलाब कर देता है और वह सौन्दर्य झूठा मालूम पड़ने लगता है। 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त को युग मानने को तय्यार है। क्रोचे के उस सिद्धान्त को कि 'काव्य में सौन्दर्य का वर्णन सुन्दर ढङ्ग से हो गया तो कलाकार का काम समाप्त होगया'—आज का युग नहीं मानता। साहित्य चूँकि जन-चित्त वृत्ति और युग का मुकुर है अतः साहित्यकार को उसमें आज की समस्या का दिग्दर्शन कराना होगा। आज का युग फ्रायड के युग से बिल्कुल आगे नहीं बढ़ गया है तो कुछ आगे बढ़ गया है अवश्य। फ्रायड का यह सिद्धान्त कि मानव के हर कार्य की जड़ में उसकी सुप्त-भावना और वासना काम करती है उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। मीरा का प्रेम वासनात्मक प्रेम था इसे लोग स्वप्न में भी नहीं मान सकते। फ्रायड के सिद्धान्त नग्न सौन्दर्य के प्रचारक हैं। साहित्य में नग्नवाद कभी अपेक्षित नहीं है। नारी का सौन्दर्य साड़ी के आवरण से खिल उठता है, कविता का सौन्दर्य भी नैतिकता या पवित्रता का आवरण चाहता है। इस नग्नवाद ने जो योरोपीय साहित्य में तथा हमारे साहित्य में भी संक्रामक रोग की तरह घर कर लिया है उसके विरुद्ध नारा बुलन्द करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

साथ ही आज का सौन्दर्य आर्थिक दृष्टि से आँका जाने लगा है। मानव रोजी और रोटी के सङ्घर्ष में इस तरह उलझा है कि उसे 'हर साँझ एक नई वेदना और हर भोर एक नया प्रश्न' का सामना करना पड़ता है। इस आर्थिक चिन्ता के युग में हमारी दृष्टि भी सङ्कीर्ण हो गई है। मार्क्सवाद का अनुयायी होकर हम माँ के स्नेह में भी आर्थिक भावना की अभिव्यक्ति ढूँढ़ने लगे हैं, जो सर्वथा निन्दनीय है। एक ओर फ्रायड बच्चे के स्तनपान में भी वासना पाता है तो दूसरी ओर मार्क्सवाद के पंडे माँ के स्नेह लाड़ प्यार में भी आर्थिक मनोभावना पाते हैं। यह रोटी और सैक्स, रूप और रुपया, कामिनी और कांचन हमारे सौन्दर्य बोध को सङ्कीर्ण करते जा रहे हैं।

मैंने पहले ही बताया है कि सौन्दर्य केवल रूप में ही नहीं गुण में भी बसता है। और अनिन्द्य सौन्दर्य, पवित्र सौन्दर्य तो गुण में ही है। इसी कारण अमेरिका की 'पर्लबक' ने अपने एक उपन्यास की नायिका एक कुरूपा हब्सी को चुना जिसे उसके गुण के कारण उसने महान् सौन्दर्यवती सिद्ध किया। यही सौन्दर्य पुष्प के पराग का सौन्दर्य है।

हम यदि दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय में सामन्तवाद का पुट ढूँढ़ने लगे, राधा के रूप में कामुकता का भाव देखने लगे तो यह हमारी गन्दी मनोवृत्ति के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?

इस उपयोगितावाद के युग में हम सौन्दर्य में भी उपयोगिता ढूँढ़ने लग गये हैं। किन्तु कला की उच्चता काव्य की निरी उपयोगिता में ही नहीं है। सौन्दर्य की सार्थकता केवल यौन भाव की तुष्टि में ही नहीं है। सौन्दर्यानुभूति की क्षमता का विकास उसकी व्यापकता में हम देख सकते हैं। तुलसी ने ऐसा ही सौन्दर्य वर्णन अनुभूति पूर्ण ढङ्ग से किया है। उसका सौन्दर्य जड़ को चेतन कर देता है—

"जहँ-जहँ राम लषण-सिय जाहीं।
करहि मेघ तहँ तहँ परिछाहीं॥"

स्वयं राम के सौन्दर्य को देखने लङ्का के सागर तट के सारे जल-जीव बाहर आ जाते हैं।

"देखन कहँ प्रभु करुना कन्दा।
प्रगट भए सब जलचर वृन्दा॥
मकर नक्र नाना झष व्याला।
सत जोजन तन परम बिसाला॥

प्रभुहिं विलोकहिं टरहिं न टारे।
मन हरषित सब भए सुखारे॥''

यहाँ तक कि शत्रु असुर भी इनके अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए थे—

''प्रभु विलोकि सर सकहिं न डारी।
थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खर दूषण।
यह कोउ नृप बालक नर भूषण॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते।
देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जनम सुनहु सब भाई।
देखी नहिं अस सुन्दरताई॥
यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥''

मैं राम का सौन्दर्य राम के चेहरे में ही नहीं मानता। राम का वास्तविक सौन्दर्य उनके शील में है, उनकी शक्ति में है। सीता का सौन्दर्य सीता की सहिष्णुता एवं पतिव्रत धर्म में है। यही कारण है कि राधा और कृष्ण का सौन्दर्य हमारे मन में रोमांस पैदा करता है और सीताराम का सौन्दर्य श्रद्धा को उभारता है। अपने इसी सौन्दर्य के कारण (वस्तुतः इसमें कवि की सूझ की सफलता है) सीता राम लोकनायक ही नहीं, श्रद्धा और आदर की पात्रा तथा पात्र हैं और राधा-कृष्ण (कवि वर्णन के कारण ही) रस-विलास को बढ़ाने वाले हैं।

आज के साहित्य को सीता का सौन्दर्य चाहिए राधा का नहीं, राम का सौन्दर्य चाहिए कृष्ण का (जो जयदेव या विद्यापति द्वारा वर्णित है) नहीं।

मगर सौन्दर्य जो विशुद्ध सौन्दर्य है—Beauty for beauty' sake की हम अवहेलना नहीं कर सकते। साहित्य यदि वह धारा है जो उन्मुक्त और स्वच्छन्द गति से बहती है, उसे हम सीमाओं की रेखा में बाँध नहीं सकते तो सौन्दर्य वह तरङ्ग है—सहज स्वाभाविक, जिसे हम रोक नहीं सकते, छेक नहीं सकते। पन्त का 'पनघट' की पनहारिन का स्वाभाविक सौन्दर्य कम आनन्द नहीं देता। निराला की ये पंक्तियाँ कैसी स्वाभाविक उतरी हैं?—सौन्दर्य का कैसा यथार्थ पर विमुग्धकारी वर्णन है—

सखि वसन्त आया।
किसलय वसना नव वय लतिका
मिली मधुर-प्रिय-उर-तरु पतिका
मधुप वृन्द बंदी, पिक स्वर नभ सरसाया
सखि वसन्त आया।

और—

खुले केश अशेष शोभा भर रहे
पृष्ठ-ग्रीवा बाहु उर पर तर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे
ज्योति की तन्वी, तड़ित-द्युति ने क्षमा माँगी
यामिनी जागी

सौन्दर्य की परिभाषा में सामान्यतया यही कहा जाता है कि यह वस्तु का एक गुण विशेष है जो मन को खींचता और मुग्ध करता है तथा जिसमें यह चित्ताकर्षकता एवं मनो-मुग्धकारिता है, वही सुन्दर है। वास्तव में सौन्दर्य एक विशिष्ट बोध है, जिसके पीछे ज्ञान, आनन्द, क्रियात्मक वृत्ति आदि का सामञ्जस्य है। इसीलिए इसका कोई सर्वमान्य लक्षण देना सम्भव भी नहीं। इस सौन्दर्य का आनन्द भी एक स्वतन्त्र कोटि का है, जो कि अनुभववेद्य है—न तो वह प्रत्यक्ष अनुमित हो सकता है न प्रमाणित। लेकिन सौन्दर्य की उपलब्धि होती है इसमें किसी प्रकार के सन्देह की गुञ्जाइश नहीं। यह उपलब्धि आन्तरिकता से होती है या बाहरी कारणों से या दोनों ही के मेल से, इस पर भी विचारक सन्दिग्ध हैं। न तो सब समय सभी वस्तुओं में और न सब समय किसी एक ही वस्तु में सुन्दरता का अनुभव होता है, इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य बोध का कोई कारण जरूर है। इस कारण-विचार में विचारकों में बहुत बड़ा मतभेद है।

—हंसकुमार तिवारी (कला से)

कवि साधक का लक्ष्य आनन्द

श्री त्रिलोचन पाण्डेय एम० ए०

प्रत्येक कवि की अनुभूतियों के दो पक्ष होते हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। अर्थात् दो रूपों में वह निरन्तर अपनी अनुभूति को प्रकट करता है। और दोनों क्षेत्रों में ही अन्ततः वह साधक ही होता है। कार्य-रूप तो उसका समाज सापेक्ष होता है जबकि साधक-रूप में इस तत्व की उपस्थिति अनिवार्य नहीं होती। तुलसी इसी कारण कवि हैं जबकि सरहपा या गोरखनाथ साधक अधिक हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उनके दूसरे रूप का अस्तित्व ही न हो! फिर भी कवि के द्विविध रूपों का लक्ष्य समान होता है। दोनों के निर्माण-सूत्र एक विशेष स्थिति की स्थापना करते हैं। यह लक्ष्य होता है आनन्द की प्राप्ति। आरम्भ में दोनों का प्रतिपादन भिन्न चाहे लगे लेकिन जहाँ पर दोनों के प्रतिपादन की चरमस्थिति होती है वहाँ दोनों अभेद रूप से एक हो जाते हैं। अन्त में एक विन्दु पर मिल जाने वाले दो पहलुओं से आते हुए ये दो मार्ग हैं। कीट्स का स्वप्न-जगत् और यूटोपिया का आदर्श जगत अलग-अलग प्रतीत होते हैं जबकि दोनों की स्थापना का चरमलक्ष्य एक ही है—निरन्तर सुख—आनन्दपूर्ण जीवन की स्थिति।

साधक वस्तु जगत् के ऊपर उठते-उठते स्वयं प्रत्येक भाव की एकसी अनुभूति वाले स्तर तक पहुँचने की चेष्टा करता है जहाँ उसके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रसार हो जाय। कवि सारे समाज को विभिन्न राग-विरागों की स्थिति से ऊपर उठाकर एक भावभूमि पर लाने का प्रयत्न करता है जहाँ देश-काल की सीमाओं से हट कर प्रत्येक सदस्य मानव-मात्र की एकता को अनुभव करने लगे। साधक के व्यक्तित्व की इतनी व्यापकता और समाज की यह समान भाव-भूमि जहाँ एक दूसरे में मिल जायँ—एकाकार हो जायँ—वहीं पर तो दोनों स्तरों की चरम परिणति मानी जायगी, यहीं पर आनन्द की चरम कोटि भी है जो एक है। इस स्तर पर कवि के आनन्द और साधक के आनन्द में कोई भेद नहीं। सामाजिकता व व्यक्तित्व का तो यहाँ पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता। अतः जब तक दोनों लक्ष्य परस्पर मिल नहीं जाते—आगे बढ़ते हुए फैलते-फैलते एक रूप नहीं हो जाते तब तक उनसे उत्पन्न आनन्द के स्वरूप भी अपनी चरम-सीमा तक नहीं पहुँचते—उनकी पूर्ण व्याप्ति नहीं होती। इसलिए उनमें अन्तर भी दिखाई पड़ना स्वाभाविक है।

कवि निरन्तर सुख की कल्पना ही नहीं करता, दुःख की भी कामना करता है; बल्कि कहना चाहिए सुख की उपेक्षा अधिक करता है। काव्यों में करुणा की प्रधानता इसका प्रमाण है। वह झंझावात सहने के लिए छाती तान कर खड़ा है, मौत का आलिङ्गन करना उसके लिए मामूली बात है। और कभी-कभी तो उसे सुख प्राप्ति की इच्छा ही नहीं रह जाती, दुःख-मात्र ही काव्य हो जाता है—

१—"Darkling I listen and
for many a time
I have been half in love
with easeful death……" —कीट्स

२—Fear Death ?……… I was
ever a fighter
So one fight more:
the best and the last……"ब्राउनिंग

३—"चिर ध्येय यही जलने का ठंडी विभूत बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह चिर दुःख का सुख हो जाना।"
—महादेवी

यह इसलिए कि ये कवि-साधक अनुभूति के उस स्तर से बोल रहे हैं जहाँ दुःख भी सुख व आनन्द का कारण बन जाता है। इस प्रकार घुमा-फिरा कर भी प्रत्येक की साधना का लक्ष्य आनन्द प्राप्ति ही है।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सन्त कवि-साधकों का

महत्व साधनागत ही है। अटपटी वाणी सुनाकर अपने धुन में, दीन-दुनिया से बेखबर, मस्त रहना तो उनका उद्देश्य नहीं था। ध्यान तो उनका निरन्तर लोक-पक्ष तथा समन्वय वृत्ति पर ही रहा—फिर भी कुछ कारणों से उनकी वैयक्तिक अनुभूति अधिक प्रखर होकर सामने आई। इससे प्रेरित उद्गार ही उनकी वाणी का आश्रय लेकर फूट पड़े। साधन के किसी भी रूप से अपने प्रकाशन का उचित मार्ग बना लिया। उन्होंने सामाजिक रीति-नीतियों, धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन किया, हिन्दू पर व्यंग्य किया तो मुसलमान को भी झकझोर दिया। कहीं उपदेश हो रहा है, कहीं ताने-बाने की चर्चा है, तो कहीं जल-कुम्भ का रूपक बांधे चले हैं। "जल बिच मीन पियासी।" इन सब का अर्थ क्या है, संकेत किस ओर है? शायद वे ऐसा निर्माण चाहते हैं जहाँ मनुष्य मनुष्य होने के नाते एक हो। फिर भी यहीं पर उनकी साधना समाप्त नहीं हो जाती। यह तो एक मञ्जिल है जिससे और आगे बढ़कर हमें इस एकत्व की भी चरम-स्थिति तक पहुँचना है। दूसरी ओर वैयक्तिक साधना के आधार पर, अनेक पारिभाषिक क्रियाओं का आधार लेकर भी वे मनुष्य की आत्मा को इसी चरम स्थिति तक पहुँचा देना चाहते हैं। दोनों ही स्थितियों में शाश्वत आनन्द उनका लक्ष्य है। मैं यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि वे निराले आत्म-जगत में मस्त रहते थे—कभी-कभी मौज में आकर उपदेश भी कर देते थे। भले ही उनकी वैयक्तिक साधना प्रधान हो। उनकी यही विशेषता एक ओर तो उन्हें तत्कालीन अन्य कवियों से अलग करती है, दूसरी ओर एक दीर्घ व सुदृढ़ परम्परा से मिला देती है।

सन्त कवि ने एक मानसिक सृष्टि की है जिसे सामान्यतया वह 'सहजावस्था' का नाम देता है। इस अवस्था में दुःख, क्लेश का कोई स्थान नहीं। यहाँ उसकी साधना सफल हो गई है। वह चरमलक्ष्य की प्राप्ति कर चुका है। मन भक्ति रूपी मदिरा पीकर ब्रह्म की अनुभूति में मस्त हो गया है। वहाँ पृथ्वी बरसती है, गगन भींजता है, सूर्य-चन्द्र का मेल हो जाता है। वहाँ अनहद नाद होता है, अमृत झरता है और सोहं ओहं संकार की ध्वनियाँ होती हैं। आनन्द विभोर वह नाच उठता है—

नाचै ताना, नाचै बाना, नाचै कूँच पुराना।
करमहि बैठ कबीरा नाचै, चूहा काट्या ताना॥

नानक को इस अवस्था में और सभी स्वाद फीके लगते हैं। दादू इसी अवस्था में अपने को निमंज्ज पाकर भवसागर के पार हो जाने की घोषणा कर देते हैं। चारों ओर एक तेज-पुञ्ज बिखरा हुआ है, झिलमिल-झिलमिल हो रही है। उधर सन्त धरमदास प्रेम-वर्षा में स्नान कर रहे हैं—"सुन्न महल तै अमृत बरसै, प्रेम अनन्द होइ साधु नहाय खुली किवरिया, मिटी अँधरिया……………"

इस अवस्था में प्राप्त आनन्द के सामने उसको संसार का आनन्द प्रतीत कैसे हो? वह तो "जग जुलमी की खान" से ऊपर उठ चुका है। सारा सन्त साहित्य लक्ष्य-रूप से 'सहजावस्था', 'सुन्नमहलया', 'उन्मुनि रहनी' से भरा पड़ा है। कबीर से लेकर यारी-पलटू साहब तक एक ही स्वर मिलेगा—"चल हंसा वा देस जँह पिया बसै चितचोर।"

ठीक यही लक्ष्य सिद्ध-नाथ कवियों का भी रहा है। सन्तों की साधना पद्धति, क्रियाएँ आदि चाहे वही हों जो इन कवि-साधकों की हैं लेकिन इसी आधार पर यह कह देना कि इन्हीं के प्रतिपाद्य लक्ष्य को ही उसी रूप में सन्तों ने भी अपना लिया—मुझे युक्ति-युक्त नहीं लगता। इनकी यह स्थापना बिल्कुल अपनी है और स्वतन्त्र रूप से है। इन लोगों ने भी स्थान स्थान पर आनन्द की स्थापना की है। उसका नाम रखा है—'चरम सुख', 'शिव वास' आदि। जिस स्थिति में यह मिलता है उसे ये कहते हैं 'समरस होना' या 'सहजावस्था'। पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग कर के 'शून्य में संगम करना' आदि कह कर वे इसका संकेत कर देते हैं। सहज अवस्था में प्राप्त जो अमृत-रस है वह किससे कहा जाय और कैसे कहा जाय? न तो वाणी द्वारा गुरु ही उसे कह सकता है, न शिष्य ही उसे समझ सकता है।

"गाउ तं वाअइ गुरु कहइ, गाउ तं बुज्झइ सीस
सहजा वत्थो अमिअ रस, कासु कहिज्जइ कीस"
—सरहपा

जिसने अपने मन रूपी राजा को समरस में सहज रूप से निश्चल कर लिया, वह पुनः उसी क्षण से सिद्ध है, उसे जरा-मरण का भाव नहीं होता!—

"सहजे णिच्चल जेण किअ, समरसें णिअ मणराअ
सिद्ध सो पुण तक्खणों, णउ जरा मरणह भाअ"

—कण्हपा

इसकी प्राप्ति के लिए भीतर-बाहर की शुद्धि—हृदय की निष्कपटता पहली सीढ़ी है। तब शनैः शनैः भेदत्व का लोप होता जाता है, अभेदत्व की प्राप्ति होती जाती है। वहाँ किसी का भी पृथक् अस्तित्व नहीं है। "भाव विशुद्धि के उपरान्त फिर जीव कहीं जाय, कुछ भी करे—वह निःशंक है। अतः उसमें विकार उत्पन्न नहीं होते। "वहाँ जो परमात्मा है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है"—

"जो परमप्पा सो जि हउँ, जो हउँ सो परमप्पु
इउ जाणेवि णु जोइया, अण्णु म करहु वियप्पु"

और आगे बढ़कर वही कहता है—"मन परमेश्वर में मिल गया है, परमेश्वर मन में, दोनों समरस हो रहे हैं, फिर पूजा किसे चढ़ाऊँ?—

"मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसुर जि मणस्स
बिहिं वि समरस हुइ रहिय, पुज्ज चढ़ावउँ कस्स?"

—जोइन्दु

एक सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी ने भी भावना के इसी स्तर से घोषणा की थी—My spirit is mingled with thine spirit as water is mingled with pure wine. If any thing touches thee, it touches me. Lo, in every case thou art I." ये सूफी कवि जर्रे-जर्रे में उसी एक तत्व की झलक इसी अनुभूति स्तर से देखते हैं। "ओही देखहुँ ठाँवहि ठाँऊँ!"

सूरदास को हम सगुण भक्ति के क्षेत्र में वैयक्तिक साधना का प्रचारक कह सकते हैं। इनकी भी स्थापना है परम प्रेममय एकान्त भक्ति जो 'पुष्टिमार्ग' के अन्तर्गत है। 'पुष्टिमार्ग' का लक्ष्य है 'गोलोक विहार' जहाँ निरन्तर रस-आनन्द है। कभी-कभी संसार को 'सरोवर' तथा मुक्त जीवात्मा के 'हंस' का रूपक देकर उनकी वाणी कह उठती है—

"चल सखि तिहि सरोवर जाँहि
जिहि सरोवर कमल-कमला, रवि बिना बिकसाँहि
हंस उज्वल, पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाँहि"

जिसे आलोचक 'सगुण रहस्यवाद' भी कह देते हैं। तो सूर की स्थापना भी शाश्वत आनन्द है जिसकी निरन्तर झलक वे अपने बन्द नेत्रों से देखते रहे। यही उनकी मानसिक भाव-भूमि थी, वीणा बजाते हुए जिसमें वे तन्मय रहते थे।

तुलसी के काव्य में सामाजिक पक्ष प्रधान है। अतः हो सकता है व्यक्तिगत साधना के रूप में लक्ष्य-निर्देश उसमें न मिले, फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से उसका दर्शन होता है। एक धर्म का दूसरे धर्म से, एक पद्धति का दूसरी पद्धति से, इस व्यवस्था का उस व्यवस्था से समन्वय कर के उन्होंने भी एक निर्माण का संकेत किया। वह था 'रामराज्य' जहाँ उन्हीं के शब्दों में "दैहिक, दैविक, भौतिक तापा" में किसी की भी व्याप्ति नहीं थी। इस बीसवीं सदी में गांधी द्वारा 'रामराज्य' की कल्पना कोई अनर्गल, बिना आधार के हवा पर नहीं खड़ी है। आनन्द उसका भी लक्ष्य है।

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य ने हमें एक महाकाव्य दिया जो वस्तुतः में 'महाकाव्य' है—प्रसाद की 'कामायनी'। इसका प्रतिपाद्य क्या है? वही समरसताजन्य आनन्दवाद, जिसका प्रमाण है श्रद्धा, जो उसी स्तर से घोषणा करती है—

"मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ, मैं गाती हूँ खो देती हूँ
इससे ले उसको देती हूँ, मैं दुख को सुख कर लेती हूँ"

मनु जब देव सृष्टि का ध्वंस अपने नेत्रों से देख चुके, फिर चिन्तित क्यों न हों? सब कुछ क्षण भंगुर है। यहाँ तक कि वे अपने जीवन से भी निराश हो जाते हैं। इसी कारण अपने को कहीं "वायु की भटकी एक तरङ्ग" कहते हैं तो कहीं "शून्यता का उजड़ा सा राज्य।" वे कामना करते हैं सब कुछ विस्मरण हो जाय, अवसाद आकर उन्हें घेर ले और नीरवता चुप करदे। क्योंकि उन्हें चारों ओर

"मौन, नाश, विध्वंस, अँधेरा" ही दिखाई पड़ता है। महामृत्यु का जाल चारों ओर फैला है, जीवन उसी का क्षुद्र अंश है जो घनमाला में सौदामिनी की चमक की भाँति क्षण भर उजाले में व्यक्त होता है। और जीवन ?—

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय, लिया है देख नहीं सन्देह
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का यह कल्पित गेह"

मनु की यह सारी निराशा, अस्थिरता श्रद्धा द्वारा नष्ट हो जाती है जो आनन्दवाद का प्रतीक है। वह उन्हें साधना पथ पर अग्रसर करती है, नाना स्तरों को पार करते हुए मनु धीरे-धीरे 'मनोमय कोश' की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस प्रगति का लक्ष्य है 'शिवदर्शन'। मनु नटराज शिव का रूप देख कर श्रद्धा से उनके चरणों तक ले चलने की प्रार्थना करते हैं। यही तो मनु के जीवन की साधना का लक्ष्य है। उस शाश्वत भूमि पर—

"मिटते असत्य से ज्ञान लेश, समरस अखण्ड आनन्द वेश"

वहाँ केवल एक ही चेतना है, अखण्ड आनन्द है। वस्तुतः 'दर्शन', 'रहस्य', 'आनन्द'—तीनों सर्गों का विधान ही इस आनन्दवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए हुआ है। इसी अनुभूति में मनु कह उठते हैं—

"तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है"

प्रसाद का काम्य भी यही आनन्द है।

और यह उपलब्ध किस प्रकार होता है ? नर-नारी की समरसता से, व्यक्ति-समाज की समरसता से, मनुष्य प्रकृति की समरसता से और मनुष्य की स्वयं अपनी विभिन्न अंतः प्रवृत्तियों की समरसता से। इसी कारण इच्छा, ज्ञान, कर्म का समन्वय किया गया। प्रसाद भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार की समरसता चाहते हैं। यह सामञ्जस्य का ही दूसरा नाम है।

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके,
यही विडम्बना है जीवन की।"

'शिव दर्शन' का कामायनी में बड़ा महत्व है। शिव स्वयं कल्याण रूप आनन्दमय हैं। उनका दर्शन आनन्द तत्व की स्थापना करता है। दूसरी ओर यही तत्व उसकी एक पूर्व-परम्परा की ओर भी संकेत करता है जिसके मूल में शैवागमों का प्रत्यभिज्ञा दर्शन था। मुझको प्रसाद की 'समरसता' और सिद्ध नाथों द्वारा प्रतिपादित 'सहजावस्था' का सिद्धान्त एक सा लगता है। और 'समरस', 'शिव' आदि शब्द भी अपनी सही-सही अभिव्यक्ति में वहाँ प्रयुक्त हैं जैसा ऊपर संकेत हो चुका है। और इसका लक्ष्य है आनन्द। 'सहजावस्था', 'समरसता' दोनों से ही आनन्द प्राप्त होता है। शैवागमों में शिव तथा शक्ति की समरसता से उत्पन्न आनन्द का वर्णन किया गया, सिद्ध नाथों ने वैयक्तिक साधना के चरम लक्ष्य के रूप में उसका निरूपण किया और कामानी में मनु ने श्रद्धा की सहायता से उसी आनन्द की प्राप्ति की। 'शिवत्व' इन तीनों को एक सूत्र में जोड़ने की कड़ी है और मनु एक साधक ही तो हैं जो देव सृष्टि के ध्वंश के उपरान्त शिवदर्शन तक लगातार साधना करते रहे !

यह मैं मानता हूँ कि शैवागमों द्वारा वर्णित आनन्द का स्वरूप आध्यात्मिक है और सिद्ध नाथों द्वारा निरूपित स्वरूप में भी बहुत कुछ साम्प्रदायिक आधार खोजा जा सकता है जबकि प्रसाद ने उस आनन्द को बिल्कुल व्यावहारिक रूप दे दिया है। और यही विशेषता तो कामायनी की है:—

तो प्रस्तुत निबन्ध में तीन स्थापनायें हैं—(१) कवि-साधक का लक्ष्य अन्ततः, आनन्द की स्थापना होना है, (२) इसका साधन अभी तक 'समरसता' या सामञ्जस्य' है, (३) कामायनी में 'आनन्दवाद'–'समरसता' के सिद्धान्त सिद्ध-नाथ कवियों द्वारा निरूपित 'आनन्द' 'समरसता' से भिन्न नहीं हैं।

एडलर और स्वान्तःसुखाय लेखन

श्री राजमल जैन, एम० ए०, साहित्य-रत्न

फ्रॉयडवादी लेखक होते हुए भी श्री 'अज्ञेय' ने स्वान्तःसुखाय लेखन के प्रति एडलरवादी दृष्टिकोण को बड़ा स्पष्ट कर दिया है जब वे कहते हैं—"मैं स्वान्तःसुखाय नहीं लिखता। कोई भी कवि केवल 'स्वान्तःसुखाय' लिखता है या लिख सकता है यह स्वीकार करने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है......अपनी अभिव्यक्ति—किन्तु किस पर अभिव्यक्ति ? इसीलिए अभिव्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ और परिणामस्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दिखा।" (पहिला तारसप्तक पृ० ७५)। कला या साहित्य के प्रति एडलर का भी यही दृष्टिकोण है। कवि के विकास के लिए जहाँ एक ओर समाज आवश्यक है वहाँ दूसरी ओर उसकी कृति एक समाजोपयोगी वस्तु भी है। यह नहीं हो सकता कि किसी कवि का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं हो। यदि कोई कवि यह दावा भी करता है कि उसकी रचना उसके केवल 'स्व' के लिए है तो यह एक बेमाने बात होगी। कविता या अन्य लेखन ही क्यों विश्व की अन्य वस्तुएँ भी वहीं तक अर्थपूर्ण हैं जहाँ तक कि वे मानव समाज से सम्बन्धित हैं। एडलर का दिया हुआ एक उदाहरण ही लीजिए—'लकड़ी' का अर्थ "ऐसी लकड़ी जो कि मनुष्य के काम में आती है।" केवल यही है। इसी प्रकार जो कृति समाज से सम्बन्धित न हो, उसके लिए उपयोगी न हो वह कुछ अर्थ नहीं रखती, क्योंकि "Human beings live in the realm of meanings." (Adler : What life should mean to you.)

कवि, लेखक या कलाकार सामान्यतया प्रतिभावान् व्यक्ति माने जाते हैं। कहा जाता है कि उनका मस्तिष्क कुछ अद्भुत चमत्कार दिखाता है, "प्रकृति का वरदान" उन्हें प्राप्त होता है या कोई प्रतिभाशाली वंशपरम्परा में वे उत्पन्न हुए होते हैं। और भी न जाने कितने 'अद्भुतों' का आरोप उनमें किया जाता है और सामूहिक रूप से उसी को प्रतिभा कहते हैं। एडलर का मत है कि किसी भी व्यक्ति को इस तरह का मानना एक बहुत बड़ी भूल है। वास्तव में 'प्रतिभा' जैसी अगर कोई वस्तु है तो वह केवल इतना ही अर्थ रखती है कि ऐसी प्रतिभा वाला व्यक्ति अपने में जो खामी पाता है उसकी पूर्ति में सफल रहा है। (He has successfully compensated for his deficiency) लेखन इसी प्रकार की क्षतिपूर्ति है। अपने में किसी प्रकार की हीनता की पूर्ति सफल या असफल या अच्छी या बुरी हो सकती है किन्तु समाज से असम्बन्धित वह नहीं हो सकती। यदि कोई 'प्रतिभा'वान् व्यक्ति कुछ लिखे और कहे कि "यह तो सिर्फ मेरे लिए है" तो यह बात मानने में नहीं आती। समाज-सम्बन्ध से इन्कार करने पर भी समाज से उसका सम्बन्ध होगा ही। और अगर ऐसे व्यक्ति को समाज 'प्रतिभा' के रूप में स्वीकार कर लेता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी कृति को समाज ने अपने लिए उपयोगी समझा। एडलर का स्पष्ट मत है—"Mankind only calls those individuals' geniuses who have contributed much to the common welfare." इस प्रकार भी किसी कृति का 'स्वान्तःसुखाय' न होकर उसका समाज-सम्बन्ध सिद्ध होता है।

सभी प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्ति या कला का मूल स्रोत हीन-भावना है ऐसा एडलर का मत है। यह हीन-भावना जीवन की तीन समस्याओं—समाज, जीविका और काम-जीवन से उत्थित होती हैं। इनके समाधान में लगभग हर व्यक्ति अपने आपको हीन पाता है किन्तु अपने जीवन के पहिले पाँच वर्षों की समाप्ति तक मानसिक तैयारी कर लेता है। यह तैयारी भी बालक की परिवार

में स्थिति पर निर्भर है। हीन-भावना बचपन की इसी सुख, सुविधा और सुरक्षा को जीवन में हर स्थिति में ढूँढ़ने का ही नाम है। उसका प्रकाश भले ही किसी छद्मवेश में क्यों न हो। जो भी हो, जो व्यक्ति हीन-भावना का सामना साहस, आत्म विश्वास, सहयोग एवं अपनी सामाजिक रुचि का विस्तार कर करते हैं वे सही मार्ग अपनाते हैं। कलाकार या साहित्यकार ऐसा ही व्यक्ति है। दूसरे शब्दों में, कला या साहित्य-सृष्टि एक समाजोपयोगी आचरण है जिसकी प्रेरणा मानव-कल्याण में योगदान कर अपनी हीन-भावना पर विजय पाने की कांक्षा है। इस दृष्टि से केवल 'अपने' लिए ही लिखने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण ही स्वस्थ नहीं है। उस व्यक्ति के जीवन में कहीं अटकाव है। और यह अटकाव बचपन में उसकी पारिवारिक स्थिति से सम्बन्धित होता है।

जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति सफल होने के साथ, समाजोपयोगी भी होगा। उसका जीवन अर्थपूर्ण होगा (एडलर के अनुसार जीवन का अर्थ मानव-कल्याण में योगदान करना है)। उसकी कोई भी चीज समाज के बेमतलब की नहीं होगी। उसके क्रिया-कलाप 'परहिताय' होंगे। ऐसी हालत में 'स्वान्तःसुखाय' लिखने वाले व्यक्ति का उद्देश्य ही गलत है। वास्तव में इस प्रकार का ध्येय निश्चित कर वह अपनी हीन-भावना का अवास्तविक हल निकालता है। ऐसे व्यक्ति के इस प्रकार एकाङ्गी दृष्टिकोण को एडलेरियन मनोविज्ञान की शब्दावली में यों कहेंगे कि उसका ध्येय ही "Merely a goal of mere fictitious personal superiority" है। और यह ध्येय तो उस बालक का है जिसे हम 'बिगड़ा बालक' (Pampered child) कहते हैं। किसी भी चीज से सन्तुष्ट न होने वाले, धन संग्रह करने वाले आदि लोगों के साथ जो कि 'बिगड़े बालक' के वर्ग के ही हैं, 'स्वान्तःसुखाय' लेखन का दावा करने वाले को भी रखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि 'स्वान्तःसुखाय' लेखन का ध्येय एक बिगड़े बालक का दृष्टिकोण है न कि एक सफल सामाजिक व्यक्तित्व का।

———

(पृष्ठ ४१९ का शेषांश)

अतिरिक्त नाटकों के समर्पण इत्यादि में उनकी विचारधारा स्पष्ट होती है। जिससे उनके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का पता चलता है। नीलदेवी की भूमिका में भारतेन्दु सुधारक रूप में प्रकट होते हैं।

जीवन के इतने पार्श्ववर्ती तटों का दर्शन करने पर भी हमारी जिज्ञासा अधूरी ही रह जाती है यदि हम उस सरस जलधारा में मज्जन न करें जिसकी हीरक हार सी सोहने वाली नव उज्ज्वल वीचियां अपनी छहरती बूँदों से मुक्तामनि पोहती रहती है। यह धारा उस प्रेम की है जिसकी पूर्ण प्रतीति में माहात्म्य के ज्ञान को भुला देना पड़ता है। यह भावना जायसी और कबीर की सीख उतारने वाली भावना से अपृथक् है। इस प्रकार उनके अन्तःसाक्ष्य द्वारा उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का भी परिचय मिलता है। उनके व्यक्तित्व में यह विशेषता है कि उन्होंने जो कुछ जहाँ भी किया वहां समाज का सूर्य प्रकाशित था। यह उनकी स्पष्टता और सत्यता का प्रतीक है और इस प्रकार जो उन पर हँसे उन पर उन्होंने हँसा, जो उन पर रोये उन पर वे रोये और जो उनसे भागा उससे तो वे कोसों भाग गये। किन्तु यह सब हुआ प्रेम के झोंके में; इसीलिए उनके आत्मनिवेदनों में हमें यह जान पड़ता है मानो वे अपनी बुराई की गांठ खोल रहे हों। उनके व्यक्तित्व को पहचानने के लिए हमें उस चौराहे पर खड़ा होना होगा जहाँ से आस्तिकता निकल जाती है। नास्तिकता का नाम नहीं रहता जहाँ धर्म का जल भी है और प्रेम की शीतलता भी।

———

कबीर का भावलोक

श्री विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०

कविता के मुख्य तत्त्व तीन होते हैं—भाव, विचार और कल्पना। भाव का सम्बन्ध हृदय से और विचार का बुद्धि से रहता है। कविता का मुख्य काम भावनाओं को आन्दोलित करना ही है। जो कविता पाठकों के हृदय को जितना अधिक छू पाती है, वह उतनी ही अधिक सफल होती है। विचारों के प्रयोग से किसी रचना में गम्भीरता आती है। कविता का प्रयोजन मानवीय भावनाओं का चित्र खींचने के साथ व्यक्ति के स्वभाव को उदात्त बनाना भी है। यही कारण है कि भावनाओं की गहराई के साथ विचारों की प्रौढ़ता भी श्रेष्ठ कविता का एक लक्षण है। हिन्दी के उच्चकोटि के कवियों में भावनाओं की कोमलता के साथ विचारों की यह प्रौढ़ता बराबर पाई जाती है। हृदय की मम-ध्वनियों को सुनने के साथ जीवन के गम्भीर प्रश्नों पर भी वे बराबर विचार करते पाये जाते हैं। कल्पना भी काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है। यों तो कल्पना भाव और विचार के मूल में रहती है, क्योंकि कैसा ही भावुक या विचारवान व्यक्ति हो, यदि वह कल्पनाशील नहीं है तो कलाकार या कवि नहीं बन सकता। पर कल्पना का मुख्य काम भावों और विचारों को स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करना तथा काव्य-वस्तु को प्रेषणीय बना कर पाठकों के हृदय तक पहुँचाना है।

हिन्दी के भावनाशील कवियों में मीरा, विचार-प्रधान कवियों में कबीर, कल्पना-प्रधान कवियों में केशव-दास का नाम हम ले सकते हैं। जिसमें भाव, विचार और कल्पना तीनों अपने प्रौढ़तम रूप में पाए जाते हैं, ऐसे कवि तो एक मात्र तुलसीदास थे। कबीर की ख्याति कवि से अधिक सुधारक के रूप में है। जिस सत्य की उपलब्धि उन्हें अपने जीवन में हुई थी, उसका प्रचार उन्होंने जीवन भर किया। कबीरदास के वचनों में कहीं-कहीं तीखापन आ गया है। व्यंग्य भी उन्होंने कम नहीं किये। फिर भी समाज के दोषों को अनदेखा कर जाना उनके लिए सम्भव नहीं था। वे जो इतना कह पाए उसका कारण यह था कि उनकी आत्मा बड़ी सबल थी और वे इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि जो कुछ वे कह या कर रहे हैं वह लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही। स्पष्ट है कि ऐसे निस्पृह व्यक्ति की अपराजेय आत्मा से जो वचन निकलते हैं वे अपनी छाप युग और काल के वक्ष पर छोड़ कर ही जाते हैं।

कबीर जैसे सुधारक और त्यागी महात्मा के जीवन में भाव का भी कोई स्थान हो सकता है, ऐसा संशय सामान्यतया उठ सकता है। इसी आधार पर कुछ लोगों ने यहाँ तक कहने में संकोच नहीं किया कि कबीर कवि ही नहीं थे। इससे बड़ा साहित्यिक अन्याय उनके व्यक्तित्व के प्रति और क्या हो सकता है? कबीर की गणना भक्ति-काल के प्रमुख कवियों तुलसी, सूर, जायसी के साथ होती है। निर्गुण सम्प्रदाय के तो वे सबसे बड़े कवि हैं। हिन्दी के वे पहले महान रहस्यवादी हैं। रहस्यवाद का अर्थ है परमात्मा के प्रति आत्मा का प्रणय निवेदन। यह प्रणय-निवेदन भाव की गहराई के बिना चल ही नहीं सकता।

कबीर की सुधारवादी रचनाओं में जैसी उनकी बुद्धि की प्रखरता पाई जाती है, उनकी रहस्यवादी रचनाओं में वैसी ही भावना की कोमलता भी। भावना की यह कोमलता प्रेम के क्षेत्र की है। यद्यपि कबीर ने विवाह किया था और उनके सन्तान भी हुई थी; फिर भी सांसारिक प्रेम की चर्चा उनकी रचनाओं में कहीं नहीं पाई जाती। सांसारिक प्रेम को तो माया और मोह के अन्तर्गत लेकर उन्होंने उसकी निन्दा की है और ईश्वरीय प्रेम में उसे बाधक बतलाया है। जिस प्रेम का वर्णन उन्होंने किया है, वह है एक प्रकार का पवित्र प्रेम। इस प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम कहते हैं।

कबीर की भावना निर्गुण ब्रह्म के प्रति है; पर जब यह भावना प्रेम का रूप धारण करती है तो ब्रह्म का भी

एक स्वरूप हो जाता है और आत्मा को उससे कोई सम्बन्ध स्थापित करके चलना पड़ता है। कबीर ने यद्यपि ईश्वर को कहीं मा, कहीं पिता और कहीं मित्र कहकर पुकारा है; पर अधिकतर उन्होंने उसे प्रेमी ही माना है। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में आत्मा सभी कहीं नारी और परमात्मा पुरुष के रूप में है। कबीर का विश्वास था कि भगवान से मिलन ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है और जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक व्यक्ति की आत्मा बहुत व्याकुल रहती है। अपने मन की कामना प्रकट करते हुए इसी से एक स्थान पर वे कहते हैं—

वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी हैं, मिलिबो अंग लगाइ॥
यह अरदास दास की सुनिये, तन की तपनि बुझाइ।
कहै कबीर मिलैं जे साईं, मिलि करि मंगल गाइ॥

कबीर ने शरीर और संसार को कोई महत्व नहीं दिया; अतः स्पष्ट है कि उन्होंने जो कुछ कहा है, वह आत्मा को लेकर ही। ऐसी दशा में पुरुष होकर यदि वे अपने को परमपुरुष की प्रियतमा या पत्नी बतलाते हैं तो यह बात अस्वाभाविक नहीं लगनी चाहिए। आत्मा का अपना कोई स्वरूप नहीं होता; अतः साधक की भावना के अनुकूल उसे स्त्री या पुरुष कुछ भी माना जा सकता है। सूफी लोग ईश्वर को स्त्री मानकर अपने को पुरुष मानते ही हैं। जायसी इसके उदाहरण हैं। लेकिन सन्तों की धारणा इसके बिलकुल विपरीत है। वे ईश्वर को पुरुष और आत्मा को स्त्री के रूप में देखते हैं। कबीर के भाव-जगत के सम्बन्ध में दूसरी स्पष्ट करने योग्य बात यह है कि यद्यपि उनका प्रेम तो आध्यात्मिक ही है; पर उसे प्रकट किया है उन्होंने लौकिक सम्बन्धों के द्वारा। यदि वे ऐसा न करते तो उनके पाठकों की समझ में उनकी बात ही न आती। तीसरी बात यह कि बहुत-सी बातें स्पष्ट न कहकर उन्होंने संकेत में कही हैं। आध्यात्मिक अनुभूति को ज्यों का त्यों व्यक्त करना बहुत कठिन काम है, इसी से काव्य में बहुत-से प्रतीकों और संकेतों का सहारा कवि को लेना पड़ता है। इससे कहीं-कहीं उनकी बातें दुरूह भी हो गई हैं। इसी से मिलती-जुलती कला सम्बन्धी एक चौथी बात है और वह यह कि उन्होंने अपनी भावना को व्यक्त करते समय हठयोग के बहुत से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। जो व्यक्ति हठयोग में प्रयुक्त होने वाले ऐसे शब्दों जैसे सुन्न महल, अनहद, सुरति-निरति, सबद, हंस, मानसरोवर आदि का अर्थ नहीं जानता, वह कबीर की भावना को पूरी तरह समझ ही नहीं पायेगा। कबीर के इस प्रसिद्ध पद को ही लीजिए जो उनकी भावना को उनकी परिचित शैली में व्यक्त करता है—

तो को पीव मिलेंगे, घूंघट के पट खोल रे!
सुन्न महल में दियना बार ले, आसा सों मत डोल रे।
जोग-जुगत सों रङ्ग-महल में, पिय पाई अनमोल रे।
कहैं कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

परन्तु बहुत से स्थानों पर भावना अत्यन्त सरल और स्पष्ट होकर भी आई है। उससे पता चलता है कि कबीर को प्रेम-भाव का बहुत अच्छा ज्ञान था और उसकी अनुभूति वे अत्यन्त तीव्रता से करते थे। एक स्थान पर वे प्रिय-दर्शन की प्यास से बावले-से घूम रहे हैं। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने बतलाया है कि प्रेमियों का संसार बहुत सीमित होता है और उसका सुख एकान्त में ही लिया जा सकता है। एक तीसरे स्थान पर उन्होंने एक मार्मिक स्वप्न की चर्चा की है और अत्यन्त विदग्ध वाणी में मन के आकर्षण को व्यक्त करके दिखलाया है—

(१) विरह कमण्डल कर लिए, बैरागी दो नैन।
मांगें दरस मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥
(२) नैना अन्दर आव तू, ज्यों हीं नयन झपेउं।
ना हौं देखौं और कौं, ना तोहि देखन देउं॥
(३) सपने में साईं मिले, सोते लिया जगाइ।
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सपनो है जाइ॥

सांसारिक प्रेम की प्रथा तो यह रही है कि पहले हम किसी को देखते हैं। देखते ही आकर्षण होता है। परिचय बढ़ता है और घनिष्ठता होने पर प्रेम एक दिन विरह या मिलन में समाप्त हो जाता है। पर संतों के आध्यात्मिक प्रेम में दर्शन की बात प्रारम्भ में नहीं उठती। उनका ऐसा विश्वास है कि आत्मा का वास्तविक निवास-स्थान किसी ऐसे लोक में है जहां सूर्य, चन्द्र प्रकाश नहीं

करते, पवन जहाँ पहुँच नहीं पाता। उसी लोक में उनका प्रेमी रहता है। उससे बिछुड़ कर आत्मा यहाँ आगई है; पर लौट कर उसे वहीं जाना है। अतः प्रारम्भ होता है इस चेतना से कि आत्मा अपने प्रियतम से वियुक्त है। इस चेतना को जगाने वाला कोई सतगुरु होता है। यही कारण है कि सन्त-साहित्य में गुरू की बड़ी भारी महिमा बतलाई गई है। वियोग का ध्यान आते ही वियोग-व्यथा जग पड़ती है। मिलन प्रायः अन्त में होता है। इस अन्त का नाम मृत्यु है। कबीर ने मृत्यु की भयंकरता स्वीकार नहीं की। वे उसे उस दूती के रूप में देखते हैं जो आत्मा को परमात्मा से मिलाती है। मिलन से पूर्व जैसे लौकिक प्रेम में कई अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही आध्यात्मिक प्रेम में भी। विवाह और सीढ़ियाँ चढ़कर रङ्ग-कक्ष में पहुँचने की चर्चा कबीर ने अपने पदों में की है।

एक स्थिति यह है—

सतगुरु सोइ दया कर दीन्हा।
ताते अन-चिन्हार मैं चीन्हा॥
चन्द न सूर, दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्त अमृत रस भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।
जहँ हरख तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासों कहना।
कह कबीर बलि-बलि सतगुरू की, धन्य शिष्य का लहना॥

दूसरी यह—

दुलहिनी गावहु मङ्गलचार।
हमारे आए हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करि हौं, पञ्चतत्व बराती।
रामदेव मोरे पांहुने आये, मैं जोबन में माती॥
सरीर सरोवर वेंदी करि हौं, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भाँवरि लैहौं, धनि धनि भाग हमार॥

और तीसरी यह—

निस दिन खेलत रही सखियन संग,
मोहि बड़ा डर लागे।
मोरे साइब की ऊँची अटरिया,
चढ़त में जियरा काँपे।
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे,
पिया से हिलमिल लागे।
घूंघट खोल अङ्ग भर भेंटे,
नैन आरती साजे॥

परन्तु जब साक्षात्कार होता है, तब बड़ी लाज लगती है। यह ठीक है कि जन्म-जन्मान्तर की साध आज पूरी होने जारही है, परन्तु जब प्रियतम की महानता और अपने छोटेपन का ध्यान आता है तो इच्छा होती है लज्जा से कहीं गढ़ जायँ। कहाँ वह आलोकमय और कहाँ दोषों से भरे हम!

जा कारन मैं ढूँढ़ता, सोई मिलिया आइ।
धनि मैली पिय ऊजरे, कैसे लागूँ पाइ॥

कबीरदास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखण्ड अविचलित विश्वास था उसी ने उनकी कविता में असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते वह व्यर्थ ही पाण्डित्य दर्शन से पाठकों का समय नष्ट करते हैं। प्रेम भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारापात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल भेदी अन्तस्तल से अपना रस सञ्चय करता है न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं, पर कठोरता है। असयम नहीं पर मौज है, उच्छृङ्खलता नहीं, पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं, पर विश्वास है, उजड्डता नहीं, अक्खड़ता है,—इस की प्रचण्डता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है। यह प्रेम वज्र से भी कठोर है, कुसुम से भी कोमल इसमें हार भी जीत है, जीत भी जीत है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी (कबीर से)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अन्तःसाक्ष्य

श्री देवेशचन्द्र, रिसर्च स्कालर

किसी साहित्यकार की कृति से अधिक महत्वपूर्ण उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में जीवन में आनेवाले सभी प्रकार के पात्र मिलते हैं अतः उनके नाटक समाज के रूपक हैं। इन नाटकों में मिलने वाले अन्तःसाक्ष्य द्वारा अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है उन्होंने अपने जीवन को किस प्रकार देखा और उनका अन्य के प्रति क्या दृष्टिकोण था आदि महत्व के प्रश्न हैं। इसलिए बहिर्साक्ष्य की अपेक्षा अन्तःसाक्ष्य द्वारा उपलब्ध सामग्री कम उपयोगी नहीं होती। समस्या दी जाती है कि नाटक क्या अन्तःसाक्ष्य प्रस्तुत करने के उपयोगी साधन हैं? कविता में अपने विषय में कुछ कहने की परिपाटी को भारतेन्दु ने अधिक नहीं अपनाया, नाटक को इसलिए चुना क्योंकि जीवन की समष्टि को अङ्कित करने का इससे सफल साधन और नहीं। अन्तःसाक्ष्य प्ररोचना[१] का ही एक रूप है जो प्रस्तावनान्तर्गत है। एक अँग्रेजी समालोचक ने प्रस्तावना की आवश्यकता लिखते हुए कहा था कि आज कल रङ्गमञ्च का सबसे बड़ा दोष यह है कि लेखक सामान्य जनता से छिप जाता है।[२]

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पहला मौलिक नाटक (प्रहसन) है जिसके निर्माण के सम्बन्ध में मल्लिका और माधवी की चर्चा की जाती है। इस नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु विनोदी जीव थे किन्तु वह अपने विनोद को व्यंग्य की भावभूमि पर ले जाकर उससे तथाकथित धर्म के ठेकेदारों और समाज के उच्च वर्गीय व्यक्तियों को अछूता नहीं रखना चाहते थे।

यमराज—प्रतिष्ठा कैसी, धर्म और प्रतिष्ठा से क्या सम्बन्ध?

चित्रगुप्त—महाराज, सरकार अँग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको स्टार आफ इण्डिया की पदवी मिलती है।

'सत्यहरिश्चन्द्र नाटक' में सूत्रधार और नटी के कथन में भारतेन्दु का स्वाभिमान झाँकता सा मिलता है। इसके अतिरिक्त नाटकों के श्रीगणेश के समय की स्थिति भी स्पष्ट होती है।

"धन्य है विद्या का प्रकाश कि जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है इतना भी नहीं जानते थे, भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई। परन्तु हा! शोच की बात है कि जो बड़े बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ हो सकता है वे ऐसी अन्धपरम्परा में फंसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों की कहीं पूँछ ही नहीं है। केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है जिन्हें झूठी खैरख्वाही दिखाना व लम्बा चौड़ा गाल बजाना आता है।....क्या हुआ, ढङ्ग पर चला जायगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है, धीरे-धीरे सब आप ही कर देगा।"

इसी नाटक में कवि अपने को सब 'लोगों का एक मात्र जीवन' प्रस्तुत कर नटी और सूत्रधार के वार्तालाप में अपनी दुखद स्थिति का चित्र उपस्थित कर रहा है:

नटी—हा! प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा! क्या हुआ "कहैंगे सबै नयन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जायगी।"

---

[१] निवेदनं प्रयोक्तृस्य निर्देशो देशकालयोः
काव्यार्थ सूचकैः शब्दैः सभायाश्चित्तरञ्जनम्
कविकाव्यनटादीनां प्रशंसा च प्ररोचना।

[२] One of the puzzles of our theatre is the comparative obscurity of the author as far as the general public is concerned.

सूत्रधार—इसमें क्या सन्देह है। काशी के पण्डितों ने कहा है—

सब सज्जन के मान को, कारन इक हरिचन्द।
जिमि सुभाव दिन रैन को, कारन नित हरिचन्द॥

नटी—और फिर उनके मित्र पण्डित शीतलाप्रसादजी ने इस नाटक के नायक से उनकी समता भी की है।

'प्रेम योगिनी' में यही भाव पुनः प्रकाशित होते हैं—

क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परमबन्धु पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, ... की एकमात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिन्दी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चन्द्र ही दुखी हो।....हा सज्जन शिरोमणे! कुछ चिन्ता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना'। लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया और जगत से विपरीत गति चल के तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अङ्क में रख कर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निन्दा करते हैं और तू संसारी वैभव से सुचित नहीं है। तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन-सहन की पद्धति को अपनी जीवन-पद्धति समझेंगे।....मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो; तुम्हें इनकी निन्दा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक बहिष्कृत हो कर भी इनके सिर पर पैर रख कर विहार करोगे। क्या तुम अपना वह कवित्त भूल गए—"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायगी।" मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ हैं, हा! बड़ा विपरीत समय है। "इस उद्धरण में हरिश्चन्द्र की जीवन-पद्धति स्पष्ट हो रही है और कदाचित् यह कहना अनुचित नहीं समझा गया कि यह जीवन अनुकरणीय है इन पंक्तियों में क्या कोरा अभिमान ही है?

चन्द्रावली में प्रस्तुत किया गया वंश परिचय उनके प्रेमी व्यक्तित्व का परिचय देता है—

परम प्रेम निधि रसिक वर अति उदार गुन खान।
जग जन रञ्जन आशु कवि को हरिचन्द समान॥
जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रन्थ चालीस।
ता सुत श्री हरिचन्द को, को न नवावै सीस॥
जग जिन तृन सम करि तज्यो अपने प्रेम प्रभाव।
करि गुलाब को आचमन, लीजत वाको नाव॥
चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत के नेम।
यह दृढ़ श्री हरिचन्द को, टरै न अविचल प्रेम॥

'प्रेम योगिनी' में पहले अङ्क के पहले गर्भाङ्क में रामचन्द्र नाम का पात्र हरिश्चन्द्र का प्रतीक है, माखनदास और छक्कूजी की वार्ता में देखिए—

माखनदास—हाँ जौन तौन आप जनतै हो, दिन दूना रात चौगुना। अमईं कल्हईं हम ओ रस्ते रात के आवत रहे तो तबला ठनकत रहा। बस रात दिन हा-हा ठी-ठी, बहुत भवा दुइ-चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।

छक्कूजी—अरे कवित्त तो इनके बापौ बनावत रहे। कवित्त बनावै से का होथै और कवित्त बनावना कुछ अपने लोगन का काम थोरै हय, ई भाँटन का काम है।

माखनदास—ई तो हई पर उन्हैं तो एसी सेखी हैं कि सारा जमाना मूरख है औ मैं पंडित। थोड़ा सा कुछ पढ़ वढ़ लिहिन है।

छक्कूजी—पढ़िन का है, पढ़ा वढ़ा कुछ भी नहिनी, पहर ओहर की दुइ चार बात सीखि लिहिन, किरिस्तानी मते की। अपने मते की बात तो कुछ जनतौ नाहीं कतैं, अंगरेजी के लड़का हैं।"

इसी गर्भाङ्क में भारतेन्दु के धार्मिक जीवन पर भी लोगों द्वारा किया गया व्यंग्य उस समय की स्थिति का चित्र भी प्रस्तुत करता है—

बालमुकुन्द—क्यों जाते क्यों नहीं? अब की दोनों भाई जाते हैं, कभी दोनो साथ, कभी आगे पीछे, कभी इनके साथ मसाल, कभी उनके, मुझको अवसर करके

जब मैं जाता हूँ तब वह नहाकर आते रहते हैं।

छक्कूजी—मसाल काहे को ले जावैं मेहरारुन का मुख देखे के ?

'मलजी' के कथन में इनके और इनके छोटे भाई गोपालचन्द्र के चरित्र की चर्चा सुनिए—

मलजी—बोलचाल तो है पर अब वह बात नहीं है। आगे तो दर्शन करने का सब उत्सवों पर बुलावा आता था अब नहीं आता, तिसमें बड़े साहब तो ठीक ठीक, छोटे चित्त के बड़े खोटे हैं।

प्रेमयोगिनी नाटक में नाटककार के रूप में अपने व्यक्तित्व पर भी इन्होंने टिप्पणी की है, सुनिए—

पारिपार्श्वक—वह उनके और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है उसे खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और वह नाटक भी नई और पुरानी दोनों रीति से मिल के बना है।

विषस्य विषमौषधम् में दो स्थलों पर इनके वैयक्तिक और पत्रकार-व्यक्तित्व की झलक मिलती है—

(१) भंडाचार्य—हम बड़े कलङ्कित सही पर हमीं इस नगर की शोभा हैं।

(२) भंडाचार्य—हमारा तो सुनकर जी जल गया कि कवि वचन सुधा नाम का कोई अखबार सोने के और लाल टाइप में उस दिन छपा था जिस दिन महाराज उतारे गये। वाह रे सिफारशियो ! अरे खुशामद की भी कुछ हद होती है।

यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि महाराज मल्हारराव को गद्दी से उतारना अत्याचार था या नहीं किन्तु भारतेन्दु को यह इसलिए उचित जान पड़ा क्योंकि वह हिन्दू था। यहाँ 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार संयत अर्थ में किया गया है जिसकी व्याख्या फिर कभी की जायगी। पत्रकारिता में सफल वही होता है जो देश की गतिविधि का सच्चा ज्ञाता होता है। इस क्षेत्र में भारतेन्दु गणित ज्योतिषज्ञ थे। इनके राजनीतिक जीवन के विषय में परिचय तो प्रायः सर्वत्र ही मिलता है किन्तु भारत-दुर्दशा में वह स्पष्ट है—

भारत दुर्दैव—हा हा हा ! कुछ पढ़े लिखे मिल कर देश को सुधारना चाहते हैं। ह हा हा हा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने के लिए मैं जिले के हाकिमों को हुक्म न दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो।

इसी नाटक में इन पर किए गए ब्रिटिश सरकार के कोप की सूचना भी मिलती है—

डिसलायल्टी—कवि वचन सुधा नामक पत्र में गवर्नमेन्ट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गये ?

उनके राजनीतिक जीवन के विषय में कुछ का मत है कि उन्होंने अंग्रेजों की स्तुति उनकी चाटुकारिता के रूप में की तत्वतः यह मान्य नहीं किया जाता है। उन्हें अंग्रेजी राज्य ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रिय था। उनके मत में उस समय अँग्रेजों का जाना देश में अराजकता का स्वागत था। इस प्रकार उन्हें अपने देश का ध्यान सर्वदा रहा। अन्धेर नगरी में पाचक वाला के द्वारा भारतेन्दु की 'फाकामस्ती' व्यक्त है।

इस प्रकार उनका अन्तःसाक्ष्य दो रूपों में प्राप्त है पहली रीति का निर्वाह सत्यहरिश्चन्द्र, प्रेमयोगिनी और चन्द्रावली में हुआ है। दूसरी रीति के दर्शन (पहली रीति से भिन्न) नाटकान्तर्गत मिलते हैं यथा प्रेमयोगिनी में रामचन्द्र का चरित्र, माखनदास, छक्कूजी और बालमुकुन्द की वार्ता में और मुरलिसिंह का गीत इनके आनरेरी मजिस्ट्रेट की स्मृति दिलाता है। कर्पूर मञ्जरी में विदूषक द्वारा इनके कवि जीवन की झाँकी मिलती है।[१]

इनके नाटकों में भरत वाक्य भी महत्वपूर्ण है। संस्कृत से अनुवादित नाटकों में प्ररोचना यथोद्देश्य है तथापि भरत वाक्यों में विपदा की उठती आँधी को शान्त करने के लिए नवीन बलद के आवाहन का सङ्केत है। इनके

(शेष पृष्ठ ४२३ पर देखिये)

१ विदूषक—तो साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि हरिश्चन्द्र और पद्माकर इसके आगे कुछ नहीं हैं ! -कर्पूरमञ्जरी

हिन्दी साहित्य के इतिहास की समस्या

श्री तिलकराज चोपड़ा एम० ए०

आज हिन्दी साहित्य के पास अपने विकास का निर्देश करने वाली लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष की दीर्घ परम्परा है। यह दीर्घ परम्परा उसकी आज की बहुमुखी प्रगति का मूल कारण और आधार है। हमारा प्राचीन साहित्य पूरे का पूरा उपेक्षणीय और निन्दनीय ही नहीं है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण प्रगतिशील समालोचकों की इस साहित्य के प्रति प्रबल आस्था है। सच तो यह है कि हमने अपने साहित्य के उन कल्याणकारी तत्वों का अभी उद्घाटन ही नहीं किया जो मानवता को एक महान सन्देश के रूप में हिन्दी साहित्य दे सकता है। इस दिशा में प्रयत्न अवश्य हुए किन्तु वे कार्य की महानता को ध्यान में रखते हुए बहुत ही लघु जान पड़ते हैं। इस ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० रामविलास शर्मा के फुटकर प्रयत्नों को छोड़ कर कोई सुसंघटित प्रयत्न नहीं हो पाया। यदि हम हिन्दी साहित्य की दीर्घ परम्परा का समुचित लेखा-जोखा भी लेना चाहें तो कदाचित् निराश ही होना पड़ेगा। प्रयत्न इस ओर पर्याप्त हुए हैं। लगभग डेढ़ दर्जन तथाकथित हिन्दी साहित्य के इतिहास प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु क्या किसी ने कवियों और उनके आश्रयदाताओं की चर्चा या नाम मात्र के लिये कुछ थोड़ा-बहुत भ्रान्ति-मूलक ऐतिहासिक विश्लेषण करने के अतिरिक्त भी कुछ किया है? क्या किसी इतिहासकार ने किसी युग के साहित्य के माध्यम से उस युग के मानव का अध्ययन करने का प्रयास किया है? इस प्रश्न का बहुत स्पष्ट उत्तर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने 'आलोचना का स्वतन्त्र मान' शीर्षक निबन्ध में प्रस्तुत करते हैं—"मैं जानता हूँ कि आप मेरे साथ निश्चय ही सहमत होंगे कि हिन्दी साहित्य को इस रूप में अध्ययन करने की चेष्टा बहुत कम हुई है।"

उपर्युक्त वक्तव्य के स्पष्टीकरण के लिये हमें पहले अभी तक के प्रकाशित हिन्दी साहित्य के इतिहासों पर सामान्य दृष्टिपात करना पड़ेगा।

हिन्दी साहित्य की प्रगति में साहित्य के इतिहास का आगमन बहुत बाद में हुआ। हिन्दी में सर्वप्रथम साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन् १९२९ में लिखा। इसके पहले ऐतिहासिक विश्लेषण के साथ कोई भी ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुआ। जिसे प्रायः हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास कहा जाता है, वह वास्तव में कुछ प्राचीन कवियों की नामावली मात्र है, उसको इतिहास की संज्ञा प्रदान करना अनुचित है। इस प्रकार की कवियों की नामावलियों या विवरणावलियों में 'शिवसिंह सरोज' (शिवसिंह सेंगर, १८८३ ई०), 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' (श्यामसुन्दरदास, दो भाग, १९०९-१९१४), 'मिश्रबन्धु विनोद' (मिश्रबन्धु, चार भाग, १९१३-१९३४), 'हिन्दी नव रत्न' (मिश्रबन्धु' १९१०) और कविता कौमुदी (रामनरेश त्रिपाठी, दो भाग, १९१७-१९२९) की परिगणना की जा सकती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के बाद इन महत्वपूर्ण इतिहासों की रचना हुई—'हिन्दी भाषा और साहित्य' (श्यामसुन्दरदास १९३०), 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (सूर्यकान्त शास्त्री १९३०), 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' (अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' १९३०), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (रामशंकर शुक्ल 'रसाल' १९३१), 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (रामकुमार वर्मा, पूर्वार्द्ध १९३८) और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (हजारीप्रसाद द्विवेदी १९४०)

आचार्य शुक्ल का इतिहास 'साहित्य के इतिहास' की परिभाषा से आरम्भ होता है। "जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का सञ्चित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परि-

वर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। इसी के आगे आचार्यजी कहते हैं—"जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किञ्चित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है"

एक साहित्य का इतिहास लिखने के लिए उपर्युक्त वक्तव्य सिद्धान्त रूप में अत्यन्त उपयुक्त है किन्तु शुक्लजी इस सिद्धान्त का प्रयोग उचित ढङ्ग से कर नहीं पाये। अपने इतिहास में साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन के जो कारण शुक्लजी ने बतलाये हैं वे मूलतः एक भ्रान्त धारणा पर आधारित है। उदाहरण के लिए मध्ययुग की भक्ति प्रधानता का जो कारण शुक्लजी ने दिया है, उसकी भ्रांति मूलकता का स्पष्ट दिग्दर्शन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी भूमिका में कराया है। वीरगाथा काल का अध्ययन भी जिस रूप में शुक्लजी द्वारा हुआ है वह अत्यन्त असन्तोषजनक है। पहले तो काल का नामकरण ही अनुचित है। दूसरे उसकाल के सम्बन्ध में यह कहना कि "जिस समय से हमारे हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था और सब बातें पीछे पड़ गयी थीं," इतिहास के गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन को भले ही सूचित करता हो किन्तु साहित्य के गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन को सूचित नहीं करता। रीतिकाल के सम्बन्ध में शुक्लजी "राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक" परिपार्श्व देना बिल्कुल भूल ही गये। आधुनिक काल का विवेचन तो बिल्कुल सन्तोषप्रद नहीं है। एक तो आधुनिक साहित्य आचार्य की सहानुभूति से सुतरां वञ्चित रहा, दूसरे इस साहित्य का विवेचन आचार्य को "बला मोल लेना ही समझ पड़ता था।" इन सब दोषों के साथ साहित्य के इतिहास-लेखक में जो सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक अन्तर्दृष्टि होती है, उसका शुक्लजी में कदाचित् एकान्त अभाव था। वास्तव में यह अन्तर्दृष्टि आज भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त शायद ही किसी समालोचक में हो। यही अन्तर्दृष्टि यथार्थतः साहित्य के इतिहास को साहित्य का इतिहास बनाती है।

बाबू श्यामसुन्दरदास के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का 'साहित्य' पर लिखा गया अंश आकार की दृष्टि से ही एक 'साहित्य के इतिहास' के अनुकूल न था। इसमें भी वही अभाव एवं दोष हैं जो शुक्लजी के इतिहास में दिखाये जा चुके हैं। इनके अतिरिक्त विस्तार की कमी इस इतिहास का सबसे बड़ा दोष है।

"हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास" पूर्णतः अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजों के प्रभाव में लिखा गया है। कोई पाश्चात्य विद्वान किसी ग्रन्थ या कवि के सम्बन्ध में क्या कहता है, इसको लेखक ने अत्यधिक महत्व दिया है और व्यर्थ के लिए इन विद्वानों के लम्बे-लम्बे उद्धरण उपस्थित किये गये हैं। वास्तव में यह 'इतिहास' की संज्ञा से विभूषित होने योग्य ग्रन्थ नहीं, वरन् यह हिन्दी साहित्य का केवल एक रूप-रेखात्मक विवेचन मात्र है। लेखक की भावुकता और गद्य-काव्य-प्रेम ने तो ग्रन्थ को पूर्णतः एक 'साहित्य के इतिहास' के अयोग्य ही बना दिया है।

'हरिऔध' और 'रसाल' के इतिहासों में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं, वास्तव में ये विवरणात्मक इतिहास हैं। इनकी सिद्धान्तगत मौलिक मान्यताएँ सम्भवतः कुछ भी नहीं हैं।

डा० रामकुमार वर्मा का "आलोचनात्मक इतिहास" शुक्लजी के इतिहास के सभी अभाव तो रखता ही है। इसके अतिरिक्त इसमें सिद्धान्त रूप में भी जो कुछ अपनाया गया है उसमें आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव है। हिन्दी साहित्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए लेखक का कथन है—"हमारे साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता दर्शन और धर्म के उच्च आदर्श के रूप में है॥..........दर्शन और धर्म हमारे साहित्य के निर्माता हैं।" इस मान्यता को लेकर लेखक जब रीति-काल की परीक्षा करने बैठता है तो असफलता ही उपलब्ध होती है किन्तु लेखक कह चलता है—

"जो हो हम धर्म का अधिकारपूर्ण प्रभाव साहित्य में देखते हैं।" राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को विशेष चिन्ता लेखक ने साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिखने में नहीं की। धर्म का अधिकारपूर्ण प्रभाव मानकर चलने वाला लेखक कवियों के सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से मङ्गलकारी तत्त्वों को पूर्णतः विस्मृत कर देता है और कहता है— "राष्ट्र-निर्माण की भावना अथवा सम्मिलित सङ्गठन का दृष्टिकोण तो हमारे कवियों के सामने था ही नहीं। प्रत्येक कवि व्यक्तित्व की परिधि में सीमित होकर परमात्मा की प्रार्थना में ही अपने को भुला देना चाहता था।" यह कथन हिन्दी साहित्य के उन कल्याणकारी तत्त्वों से स्पष्ट इन्कार है जो कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास जैसे महान कवियों ने भारतीय जनता को प्रदान किये हैं। कदाचित् रहस्य-वादी दर्शन और धर्म का अधिकारपूर्ण प्रभाव मानकर चलने वाला इतिहासकार इन्हीं मान्यताओं को जन्म दे सकता है। भक्तिकाल के सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य को जन-मन से पृथक करके लेखक एक धार्मिक प्रतिक्रिया के रूप में देखता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को इतिहास न देकर एक लघु भूमिका प्रदान की है। यह भूमिका उपरिनिर्दिष्ट सभी इतिहासकारों से अधिक स्वस्थ और सबल दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इसकी मान्यताएँ जनमन को प्रभावित करने वाली दीर्घ काल से चली आती हुई परम्परानुगत साहित्य सम्पत्ति के आधार पर निर्मित हुई हैं। हिन्दी साहित्य के लोक-मङ्गलकारी और क्रान्तिकारी तत्त्वों का उद्घाटन हुआ है। इस भूमिका को पढ़ लेने पर अपने साहित्य के प्रति हमारे मन में जो अभी तक के इतिहासों ने एक हीनता की भावना उत्पन्न कर दी थी वह नष्ट हो जाती है। हम भी अपने साहित्य को विश्व के किसी भी महान् साहित्य से टक्कर लेने की क्षमता रखने वाला साहित्य समझने लगते हैं। जिस साहित्य में रामानन्द जैसे क्रान्तिकारी महात्माओं की प्रेरणा का दान हो, जिसमें कबीर जैसे विद्रोही व्यक्तित्व का आविर्भाव हुआ हो, जिसने तुलसी जैसे लोक-हितकारी कलाकार ने जन्म लिया हो, वह साहित्य कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकता। वास्तव में एक साहित्य के इतिहास को इन्हीं तत्वों का उद्घाटन करना चाहिये।

यहाँ एक शङ्का की गुञ्जायश है। जब हम इतिहास लिखने बैठते हैं तो हमें किसी दृष्टिकोण-विशेष को अपनाने की क्या आवश्यकता है? इतिहास में तो जो तथ्य उपलब्ध होते हैं केवल उन्हीं का दिग्दर्शन मात्र होना चाहिए। इतिहासकार को इससे क्या यदि उसका इतिहास साहित्य के अकल्याणकारी, अमङ्गलकारी और प्रतिक्रिया-वादी तत्वों का उद्घाटन करता है। उसे तो एक तटस्थ दर्शक के रूप में होना चाहिए।

यह शङ्का एक बिल्कुल भ्रान्तिमूलक सिद्धान्त की उपज है। शङ्का करने वाला यह मानकर चलता है कि इतिहास घटनाओं या साहित्यिक प्रवृत्तियों का कालक्रमानुसार लिखा गया विवरण मात्र है। वह इतिहास और कालक्रमानुसार एक विवरण (क्रॉनिकल) को अभिन्न समझने की बहुत भारी भूल करता है। क्रिस्टॉफर लॉयड के अनुसार "इतिहासकार तथ्यों का अन्वेषण करने और उनका प्रामाणिक विवरण रखने वाले वैज्ञानिक तथा उन तथ्यों को सजाने और उनकी व्याख्या करने वाले कलाकार की समन्वयात्मक सृष्टि है।"

गत तथ्यों को क्रमानुसार सजाने वाला प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ पूर्वग्रह रखता है। भूतकाल की घटनाओं को हम एक तटस्थ दर्शक के रूप में कदापि नहीं देख सकते, उनको हम अनिवार्यतः अपने दृष्टिकोण के प्रकाश में देखेंगे। घटनाओं को सजाने में उनके परस्पर सम्बन्ध को निर्धारित करते हुए हम अवश्य ही अपने दृष्टिकोण को प्रश्रय देंगे। दृष्टिकोण स्वस्थ और मङ्गलकर भी हो सकता है तथा रूढ़ि ग्रस्त और अकल्याणकर भी। दूसरे शब्दों में जिन सिद्धान्तों पर आप गत साहित्यिक प्रवृत्तियों की परीक्षा करना चाहेंगे वे शुभ प्रभाव को जन्म दे सकते हैं और अशुभ प्रभाव को भी। किन्तु शुभ प्रभाव और अपने सिद्धान्तों के चक्कर में, इतिहासकार को यह न भूल जाना चाहिए कि वह इतिहासकार भी है (जैसा कि डा० रामविलास शर्मा ने तुलसी-विषयक अपने एक लेख में

किया है)। वास्तव में उपर्युक्त विधेयात्मक नियमों की सृष्टि उन इतिहासकारों के लिये करनी पड़ी जो साहित्य के मङ्गलकारी तत्वों को या तो आवृत्त कर देते हैं अथवा उपेक्षणीय रूप से उनको अपने इतिहास में स्थान देते हैं और साहित्य के अशुभ प्रभाव को जन्म देने वाले नगण्य तत्वों का विस्तार-पूर्वक उद्घाटन करते हुए अपने उत्तर-दायित्व को विस्मृत कर देते हैं।

अब साहित्य के इतिहास का निर्माण करने में आधार रूप से प्रयोग में लाये जाने वाले सिद्धान्त पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। ऊपर हिन्दी साहित्य के मुख्य मुख्य इतिहासों की संक्षिप्त परीक्षा की जा चुकी है। इन इतिहासों पर भी किसी वाद या सिद्धान्त का लेबिल लगा देना जितना ही सरल कार्य है उतना ही मूर्खतापूर्ण भी है। उपर्युक्त इतिहास-लेखकों के विचारों और वादों से पाठक अपरिचित नहीं हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को बहुत अंशों तक इन वादों से बरी कहा जा सकता है (किन्तु व्यक्तित्व और व्यक्ति के प्रभाव से यहाँ भी इन्कार नहीं किया जा सकता)

सिद्धान्त की दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य के इतिहास की परिभाषा पर्याप्त सन्तोषप्रद है, किन्तु इसमें 'सामञ्जस्य' शब्द कुछ भ्रान्त धारणाओं को जन्म देने वाला है। जैसा कि आज के अधिकांश 'थीसिस' लेखक करते हैं कि प्रथम कुछ परिच्छेदों में तो वे "राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक" परिस्थितियों का 'दिग्दर्शन" करा देते हैं और अन्तिम परिच्छेदों में साहित्यिक परिस्थितियों से उनका ऊपरी 'सामञ्जस्य', और बस यहाँ पर उनके कार्य की इति हो जाती है। यह मनोवृत्ति साहित्यिक प्रवृत्तियों और राजनीतिक, सामाजिक इत्यादि परिस्थितियों को पूर्णतः पृथक कर देती है जिसका परिणाम यह होता है कि साहित्य के इतिहास का सामान्य विद्यार्थी प्रारम्भिक परिच्छेदों को पूर्णतः छोड़ देता है और अन्तिम (साहित्य सम्बन्धी) परिच्छेदों को उपयोगी समझकर पढ़ लेता है। इस प्रकार थीसिस-लेखक महोदय शुक्लजी के या वैज्ञानिकता के आग्रह से जिस उद्देश्य को लेकर चलना चाहते हैं उसमें पूर्णतः असफल होते हैं।

वास्तव में इन दोनों प्रकार की परिस्थितियों में 'सामञ्जस्य' स्थापित करने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है साहित्य के माध्यम से जनमन का अध्ययन करने की। हमारा लक्ष्य है मानव का अध्ययन करना। साहित्य के इतिहास का अध्ययन, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "जीवन्त मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस के प्रवाह" का अध्ययन होना चाहिए, वह "कुछ बड़े बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे जोखे का नाम नहीं है।" एक दूसरे स्थान पर आचार्य ने कहा है—"साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एक मात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं।"

उपर्युक्त कसौटी लेकर जब हम अपने विगत साहित्य को परखने का प्रयास करेंगे तो अवश्य ही हम इस साहित्य को बहुतर श्रद्धा की दृष्टि से देखने के लिए बाध्य हो जायेंगे।

साहित्य के इतिहास में जनमन और आलोच्य साहित्यकार को अभिन्न करके देखने की प्राथमिक आवश्यकता है। इतिहासकार इस बात की खोज करे कि प्रस्तुत कवि समाज के किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वर्ग प्रतिनिधित्व के विषय में साहित्यकार के व्यक्तिगत विचारों या उसकी निजी सामाजिक स्थिति के आधार पर निर्णय दे देना सुतरां अनुचित है। 'महारानी' मीराँबाई को साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि कहना उतना ही गलत है जितना कबीर को राजवंशोत्पन्न मानना। वास्तव में प्रत्येक कलाकार की सृष्टि के लिए उसके अपने विचार और परिस्थितियाँ अवश्य उत्तरदायी होती हैं किन्तु वह अपने युग को, अपने समाज को नहीं भुला सकता। महाकवि बिहारीलाल कुछ मजबूरियों के कारण यद्यपि अभिजात वर्ग के ही प्रतिनिधि रहे किन्तु उन्होंने भी प्रजा पर 'दुसह दुराज" की निन्दा की है। साहित्यकारों की इन जनवादी मान्यताओं और विचारों को हमारे इतिहासकारों को उभार कर सामने रखने की आवश्यकता है।

सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का साहि-

(शेष पृष्ठ ४३६ पर देखिए)

विस्मृत उपन्यासकार राजा साहब

प्रो० वासुदेव एम० ए०

देश की बदकिस्मती कहिए या ज़माने की गर्दिश कि आज इल्म और हुनर की कहीं पूछ नहीं होती। जिसे चमकना चाहिए, वह खिलने के पहले ही मुरझा जाता है, जिसे मुरझाना चाहिए, वह सिर्फ खिलता ही नहीं, निखरता भी है, बहार भी लाता है। ऐसा है यह वक्त कि कुछ न पूछिए। गरीब तो गरीब, राजे महाराजे भी इस चक्र-जाल से अलग नहीं रहे। वे भी फँसे और खूब फँसे। देखिये न, इस देश के सौभाग्य से बिहार-प्रान्त के एक कोने में 'राजा' उपाधि से अलंकृत एक इन्सान (जिसे देश के साहित्यकार 'राधिकारमण प्रसाद सिंह' के नाम से पुकारते हैं और जानते हैं) का जन्म भी हुआ तो उनकी इज्ज़त करने वाले कहीं खिसक गये और लगे उनकी उपासना करने, जो दिमाग तो रखते हैं, दिल नहीं रखते; विचार तो रखते हैं, अनुभूति नहीं रखते। ज़माने की रविश ही कुछ ऐसी है कि आज दिल वालों की कहीं पूछ नहीं होती, इज्ज़त नहीं होती। बिहार में दिल का दरिया बहाने वालों की कमी नहीं, लेकिन किसे पड़ी है कि उनके द्वार पर जा कर अपने दिल के दिव्रालिएपन का परिचय दे। राजा राधिकारमणप्रसाद बिहार के एक ऐसे ही दिल-दार साहित्यकार हैं, जो लक्ष्मी की गोद में बैठकर भी सरस्वती की आराधना से कभी वञ्चित नहीं रहे। हमारे देश में 'राजा' उस परम्परा का सूचक है, जो अपनी दरियादिली के लिए काफी मशहूर होता आया है। बिहार के इस पुराने साहित्यकार, लक्ष्मी के लाल की उपेक्षा अब हम कब तक करते रहेंगे, समझ में नहीं आता। ऐसा इन्सान जो महलों में रह कर भी झोंपड़ों का सपना देखता रहा, वैभव के रहते हुए भी विलासिता की विभूति पर संयम की चौकसी करता रहा, उसके प्रति इस तरह की उदासीनता अब कब तक? सुनते थे कि आज़ाद हिन्दुस्तान में साहित्यकारों की पूजा होगी, लेकिन अफ़सोस और खेद होता है यह देखकर कि आज जिन लोगों को अभिनन्दन-पत्र और डॉक्टर की मुफ्त डिग्रियाँ दी जाती हैं, उनमें हमारे साहित्यकार नहीं, दिल वाले नहीं, बल्कि वे हैं, जो सही माने में आज़ादी का इनाम पाना चाहते हैं। आज़ाद भारतवर्ष से बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं—हमें और हमारे साहित्यकारों को। लेकिन हमारे अरमानों की पंखुड़ियाँ सिमट रही हैं, सिकुड़ रहीं हैं और सूखकर झड़ने ही वाली हैं।

तो, आज मेरी कलम राजा साहब के साहित्यिक व्यक्तित्व पर कुछ लिखने के लिए मचल उठी है; सबेरे-सबेरे! आखिर क्यों न हो! दिल को दिल से राहत होती है। हिन्दी कथा साहित्य में अनूठी भाषा-शैली के धनी राजा साहब का स्थान चोटी के हिन्दी उपन्यासकारों में है। बिहार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार तो हैं ही, हिन्दी उपन्यास-साहित्य की प्रगति में उन्होंने जितना योग दिया है, वह किसी भी अन्य उपन्यासकार की सेवा से कम नहीं। बिहार का यह दुर्भाग्य है कि इस प्रान्त के अन्य उपेक्षित साहित्यकारों की तरह ये भी अब तक उपेक्षित ही रहे। राजा साहब की साहित्यिक मित्रों की बड़ी जमात होते हुए भी उनमें से किसी ने उन पर कुछ लिखने की आवश्यकता महसूस नहीं की। ताज्जुब है। स्कूल और कालेजों में उनकी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ाये तो जाते हैं लेकिन आलोचनात्मक कृतियों के अभाव में हमारे शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों अन्धकार में पड़े टटोलते रह जाते हैं। नतीजा यह होता है कि वे राजा साहब के सही व्यक्तित्व को जानने की चेष्टा करते हुए भी नहीं जान पाते और भ्रमवश काँच को चाँदी और चाँदी को काँच समझ बैठते हैं। खैर, यहाँ संक्षेप में मैं उनके साहित्य की कुछ खास बातों का संकेत कर देना चाहता हूँ।

राजा साहब का साहित्य, वास्तव में, समाज का दर्पण, काल का प्रतिबिम्ब और वर्त्तमान की प्रतिच्छाया है। अपने उपन्यासों में उन्होंने भारतीय समाज के उन

व्यक्तियों का चित्रण किया है, जो हमारे समाज में बहिष्कृत हैं, जो वन्य फूल की तरह संसार के किसी कोने में खिलकर आप-ही मुरझा जाते हैं। इसके साथ ही, उन्होंने आधुनिक भारत के आचार, युग के विचार और उसकी पुकार को भी अपने साहित्य में प्रस्फुटित किया है। इसमें कोई अत्युक्ति न होगी कि राजा साहब ने प्रेमचन्द के अधूरे सपनों को साकार कर दिखाया है। आज यदि प्रेमचन्द जीवित होते तो राजा साहब के हाथ पैर अधिक मजबूत होते। फिर ये दोनों मिलकर आज के 'वादों' के बवण्डर का सामना खुलकर करते। लेकिन यह भी विधि का विधान है कि इतना बड़ा बोझ इस ६३ वर्षीय बूढ़े साहित्यकार को ही ढोना पड़ रहा है बिल्कुल अकेला। आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य और राजा साहब के व्यक्तित्व की स्थिति उस नाव-नाविक जैसी है जो घोर अँधेरी रात में, वर्षा और तूफान में, पाल उठाये, हाथ में पतवार थामे चञ्चल लहरों के साथ खेलता हुआ धैर्य, साहस, और विश्वास के साथ आगे बढ़ता हुआ, किनारे को छू लेने के लिये उद्यत है।

राजा साहब यथार्थवाद और आदर्शवाद की मध्यम कड़ी हैं। प्रेमचन्द ने आदर्श और यथार्थ के गठबन्धन पर जितनी वकालत की थी, उसी का स्वस्थ परिणाम राजा साहब का कथा-साहित्य है। जीवन की कुरूपता और नग्न वास्तविकता को उन्होंने आंखें खोलकर देखा है और उनका निकट से अध्ययन तथा निरीक्षण किया है। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'राम-रहीम' की भूमिका में यह स्पष्ट लिख दिया है कि उन्होंने रोजमर्रे की दिलचस्प कहानी को लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की है। उनके कथा-साहित्य का यही मूल उद्देश्य है। लेकिन जहाँ उन्होंने समाज की कुरूपताओं के दर्शन कराये हैं, वहाँ अपने पाठकों को आदर्श जीवन का प्रकाश भी दिया है। राजा साहब 'उग्र-स्कूल' के कथाकार नहीं हैं, जो समाज के काले चिट्ठे तो खोल देते हैं, लेकिन अपने पाठकों को मूल भुलैया में गुमराह छोड़ देते हैं। राजा साहब ने जहाँ यथार्थ जीवन की वास्तविकता और मानव-मन की दुर्बलताओं को अभिव्यक्त किया है, वहाँ उचित दिशा का संकेत भी कर दिया है। 'यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के छींटे' भी उनके साहित्य में देखने को मिलते हैं। अतएव, राजा साहब का कथा-साहित्य परम्परा की पुकार और वर्तमान की गुहार को साथ लेकर चलता है। आज के प्रगतिवादी आलोचक उनके उपन्यासों को पढ़कर भले ही नाक-भौं सिकोड़ लिया करें, लेकिन इतना तो अवश्य है कि उन्होंने भारतीय साहित्य की परम्परा की डोर को एक झटका देकर तोड़ा नहीं, बल्कि उसे काफी मजबूत बनाया है। इसीलिए उनके कथा-साहित्य का प्रारम्भ प्रायः यथार्थ जीवन की कुरूपताओं से होता है और अन्त आदर्श की सुखद तथा शीतल छाया में।

हिन्दी साहित्य-संसार में राजा साहब अपनी रङ्गीन भाषा शैली की सजधज के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भाषा की जिन्दादिली और उसकी ताज़गी देखते ही बनती है। उनका गद्य अपने ढङ्ग का बेजोड़ है। इस क्षेत्र में इनकी समता रखने वाला कोई भी दूसरा हिन्दी लेखक नजर नहीं आता। संस्कृत के तत्सम और हिन्दी के तद्भव शब्दों के साथ उर्दू और फारसी के शब्दों को ये इस खूबी से फिट कर देते हैं कि कहीं जोड़ मालूम नहीं होता। इन्हें न तो अँगरेजी के प्रचलित शब्दों से दुराव-छिपाव है, न उर्दू-फारसी के चलते शब्दों से परहेज और न संस्कृत के तत्सम शब्दों से घृणा ही। उनका शब्द-भण्डार भाषा-कोष का काम करता है। और मुहावरों तथा कहावतों की झड़ी का क्या कहना? राजा साहब का वह कौन सा वाक्य है, जिसमें एकाध मुहावरा या कहावत न आई हो। उनका कथा साहित्य हिन्दी मुहावरों का एक वृहद कोश है। इस दिशा में प्रेमचन्द और आचार्य शिवपूजन सहाय ही उनकी समता कर सकते हैं। हिन्दी गद्य को राजा साहब ने लचीला और व्यावहारिक बनाया है। प्रवाह और प्रभाव, सरलता और सरसता उनकी भाषा की मुख्य विशेषता है। इन दोनों की एक-साथ रक्षा करना प्रतिभाशाली लेखकों के वश की बात है। चमक और अनुप्रास का जमघट तो देखते ही बनता है।



आलोचना

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य (१५००-१७००)—लेखक-डा० कमल कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक-चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर। पृष्ठ ४२७, मूल्य ७॥)

प्रस्तुत पुस्तक इलाहाबाद विश्व-विद्यालय की डी० फिल उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध है। इसमें हिन्दी के प्रेमाख्यान काव्य का ऐतिहासिक, विचारात्मक, भावात्मक, कलात्मक आदि पक्षों का, कुछ स्थानों में तो शुष्क गणनात्मक विश्लेषण के साथ और कुछ में भाषा के सरस प्रवाह के साथ विवेचन हुआ है।

लेखक ने विषय-प्रवेश कराने के लिए एक काल-विभाजन किया है जो प्रचलित विभाजनों से कुछ भिन्न है। आदि काल को लेखक ने अन्धकार काल कहा है, यह किसी अंश में ठीक है। यद्यपि आदि काल भी बुरा न था। दूसरे अर्थात् भक्तिकाल को कलात्मक उत्कर्ष-काल कहा है इसमें कबीर और तुलसी दोनों ही हुए हैं। कबीर ने अज्ञानवश कला की परवाह नहीं की और सूर और तुलसी ने ज्ञान के होते हुए भी उसको महत्त्व नहीं दिया। कला की अपेक्षा विषय का अधिक महत्व है और भक्तिकाल पर्याप्त रूप से व्यंजक शब्द था। कलात्मक उत्कर्ष नाम यदि दिया ही जाता तो रीतिकाल को जिसको डाक्टर साहब ने साहित्यशास्त्रीय विकास काल कहा है। यह नाम अनुपयुक्त नहीं है किन्तु रीतिकाल के ग्रन्थों को शास्त्र का गौरवान्वित पद देना उनको उचित से अधिक महत्त्व देना है। मैं रीतिकाल की उपलब्धियों की अवमानना नहीं करना चाहता किन्तु उनको शास्त्र का पद देने में कुछ सङ्कोच होता है। चौथे काल को साहित्यिक काल कहा है। इसको ही साहित्यिक कहना अन्य कालों के साथ अन्याय है।

सूफी धर्म की उत्पत्ति तथा विकास में बहुत सी ज्ञातव्य सामग्री है विशेषकर मुस्लिम इतिहास की। फारसी मसनवी का विकास भी हमारे ज्ञान में वृद्धि करेगा। लेखक ने भाव पक्ष को भी काव्य-कला में ले लिया है। कला के व्यापक अर्थ में भाव भी आ सकते हैं, किन्तु यदि भाव-पक्ष अलग रखा जाता तो अधिक अच्छा होता।

लेखक महोदय इन प्रेमाख्यानक काव्यों के आध्यात्मिक पक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं। यह बात ठीक है कि लौकिक प्रेम कोई बुरी चीज नहीं जिससे बचकर आध्यात्मिक पक्ष लिया जाय, किन्तु जब आध्यात्मिक पक्ष है और जायसी ने अपने काव्य का रूपकत्व स्वयं स्वीकार किया है तो उसे इस गुण से वञ्चित करना उचित नहीं।

प्रेम आख्यान काव्य की देन उपेक्षिता नारी को महत्व देना माना है। यह बात बहुत अंश में ठीक है किन्तु वैसा महत्त्व वीर गाथा काल में भी दिया गया था और कुछ कुछ रीतिकाल में भी। किन्तु इन कालों में प्रेम को साधना रूप से नहीं स्वीकार किया गया था। प्रेमाख्यानक काव्य की यही विशेषता है कि उसको साधना

का रूप दिया गया है। पुस्तक के लिखने में पर्याप्त अध्यवसाय किया गया है और उसमें बहुत सी ज्ञातव्य सामग्री है।

गद्य-पथ—लेखक—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, प्रकाशक—साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद। पृष्ठ २१५, मू० ३)

वैसे तो बिगड़ा हुआ कवि आलोचक बनता है किन्तु पन्तजी सफल कवि होते हुए भी सफल आलोचक हैं। गद्य पथ में पन्तजी की कुछ तो आलोचनात्मक भूमिकाएँ और कुछ रेडियो भाषण और निबन्ध संग्रहीत हैं। वे गद्य मय व्याख्याएँ उनकी पद्यात्मक रचनाओं की अन्तः प्रेरणा और उन पर पड़े युग प्रभावों से हमारा परिचय कराती हैं और कवि की प्रतिमा को समझने में सहायक होती हैं। कवि ने काव्य की रसात्मकता और रमणीयार्थ-प्रतिपादकता को स्वीकार करते हुए कवि के मन पर पड़े हुए अन्तः प्रभावों को जिन्हें उसने अपनी कविता में व्यक्त किया है; अधिक महत्व दिया है। इस प्रकार कविता कवि के मन के माध्यम से निकली हुई जनता के हृदय की पुकार बन जाती है। पन्तजी पर वाह्य प्रकृति और मानव प्रकृति तथा साहित्यिक अध्ययन का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी कविता इन्हीं प्रभावों का प्रतिस्पन्दन है। वैसे तो उन्होंने प्रकृति की विस्तृत पुस्तक से अधिक पढ़ा है तथापि उन पर ईसाइयों की बाइबिल, उपनिषद और टाल्सटाय की 'माई रिलीजन' (मेरा धर्म) नाम की पुस्तक का अधिक प्रभाव है। उन्होंने युग की चेतना को रेडियो के ग्राहक यन्त्र की भाँति पकड़ा है और उसको मुखरित किया है।

पन्तजी समन्वयवादी है उन्होंने इन निबन्धों में बतलाया है कि किस प्रकार उन्होंने अन्तर और वाह्य ऊर्ध्व और समदिक् व्यापकता, अध्यात्म और भौतिकता तथा गांधीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय किया है। यद्यपि इस समन्वय की वास्तविकता में लोगों को सन्देह है तथापि यह प्रयत्न की एक स्वस्थ दिशा है। कवि ने छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के सार तत्वों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं:—

'अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म की वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता को।' पुस्तक की पूर्वार्द्ध की सामग्री में तो उनकी पुस्तकों की भूमिकाएँ ही हैं, उत्तरार्द्ध की सामग्री पाठकों के लिए नई होगी। पन्तजी के व्यक्तित्व और कला को समझने के लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

बरवा (बरवै) रामायण 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी कृत'—सम्पादक और प्रकाशक—श्री यादवेन्दुदत्त राजा जौनपुर, परिचय लेखक—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी। पृष्ठ ४२, मूल्य १)

जो बरवै रामायणें आजकल मिलती हैं उनमें ६९ बरवै मिलते हैं किन्तु इसमें ४०५ छन्द हैं। यह जौनपुर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित एक प्रति के आधार पर सम्पादित हुई है। काशी-नरेश के पुस्तकालय में भी एक ऐसी प्रति है। प्रचलित संस्करण जो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली में सम्मिलित है, अधिक अलङ्कार-प्रधान और कुछ कुछ शृङ्गारिक है। उस प्रति के केवल तेरह बरवै इसमें मिलते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि शेष बरवै क्या जाली हैं? यदि नहीं तो उनका इस पुस्तक से क्या सम्बन्ध है? डाक्टर हजारीप्रसाद ने इसके प्रामाणिक होने की छाप लगादी है क्योंकि खोज रिपोर्टों में इसके कुछ बरवों का आभास मिलता है। इसकी प्रामाणिकता पर विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है किन्तु इसकी कथा में ऐसे बहुत से स्थल अवश्य हैं जिनकी शब्दावली भी तुलसी के अन्य ग्रन्थों से मिलती है इससे इसके प्रामाणिक होने की कुछ-कुछ पुष्टि होती है। उन स्थलों में से कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। विश्वामित्रजी के साथ जाते हुए राम-लक्ष्मण द्वारा की हुई क्रीड़ाओं का वर्णन देखिए—

बैठत सिलन विटप तर बन्धु समेत।
पैठत सरनि सोहावन, सीतल सेत॥

गीतावली बालकाण्ड छन्द संख्या ५० देखिए—

पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि।

नीचे के स्थल रामचरितमानस से मिलते-जुलते हैं—

'मुनुत्र मारि मारीचहि बिनु फर बान'

'गौर श्याम ए सखि को आहि तुम्हार'
'तिन्हहिं बताएउ नाहु नैन की सैन'.

इसमें कथा अधिक पूर्णता और सरलता से कही गई है। विद्वानों को इस ग्रन्थ की परीक्षा करनी चाहिए।

हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास—लेखक–डा० लक्ष्मीनारायणलाल प्रकाशक–साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृ० ३६२, मूल्य १०)

हिन्दी कहानी का जितना बहुशाखामय विकास हुआ है उतना उसका साहित्यिक और आलोचनात्मक विवेचन नहीं हुआ। डा० लक्ष्मीनारायणलाल को कहानी कला का केवल आलोचकीय अनुभव नहीं वरन् एक स्रष्टा का भी अनुभव है। इसलिए उसकी रचना के उपकरणों को वे अच्छी तरह प्रकाश में ला सके हैं। कहानी को लेखक महोदय ने व्यापक रूप से लिया है। उपनिषदों की कहानियों से लगा कर संस्कृत के कथा सरित सागर आदि की कहानियों और प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य का पर्यवेक्षण करते हुए भारतेन्दु युग से आधुनिक युग तक के बदलते हुए शिल्प-विधान का दिग्दर्शन कराया है और वर्तमान युग की विभिन्न प्रेरणाओं और स्रोतों पर भी प्रकाश डाला है। लेखक इन प्रभावों का अध्ययन कर वर्तमान कहानी की भावी गति-विधि की दिशाओं का भी दिग्दर्शन कराता है। उसके साथ यह भी अपील करता है कि वर्तमान कहानी को जो बौद्धिक अधिक होती जाती है भावात्मकता से अपना सन्तुलन करना चाहिए। हिन्दी कहानी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की ओर लेखक का ध्यान है और उसने उसका अस्तित्व भी स्वीकार किया है किन्तु उसका कुछ विशेष विश्लेषण हो जाता तो अधिक अच्छा था। हिन्दी की कहानियाँ अपने ऋण को कितना और किस प्रकार चुका सकी हैं इसके जानने की हम लेखक से अपेक्षा रखते हैं।

—गुलाबराय

संक्षिप्त सेवा सदन–एक सरल अध्ययन—लेखक–श्री रामुलु गुप्त, प्रकाशक लोकमान्य हिन्दी मन्दिर गवर्नर पेठ, विजयवाड़ा। पृष्ठ १३४, मूल्य १॥)

उपन्यास सम्राट श्री प्रेमचन्द जी के 'सेवा-सदन' पर पुस्तक की रचना की गई है। आरम्भ में सेवा सदन का कथानक लेखक ने अपनी भाषा में दिया है, फिर सेवा-सदन के पात्रों का चरित्र चित्रण किया है और अन्त में अपनी मौलिक टीका दी है।

सेवा सदन की समीक्षा—लेखक–श्री विश्वनाथ अय्यर एम० ए०, प्रकाशक–साहित्य निकेतन श्री वराहम त्रिवेन्द्रम। पृष्ठ ८३, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में सेवा सदन उपन्यास पर लेखक के अध्ययन और दृष्टिकोण का परिचय है। पहले छोटे शीर्षकों में उपन्यास का कथानक बतलाया है फिर क्रमशः पात्रों का चरित्र चित्रण है। अन्त में थोड़े में लेखक ने सेवा सदन को कला की कसौटी पर भी परखा है।

श्री चन्द्रावली नाटिका—सम्पादक–श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रकाशक–विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर पृष्ठ १३०, मूल्य १॥)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत चन्द्रावली नाटिका का यह सुन्दर और सुसम्पादित संस्करण है। इसमें विद्वान सम्पादक ने ४५ पृष्ठ की भूमिका में नाट्य साहित्य की उत्पत्ति और विकास का परिचय देते हुए हिन्दी नाट्य साहित्य और भारतेन्दुजी के जीवन और साहित्य का विवरण दिया है तथा चन्द्रावली नाटिका की विस्तृत आलोचना की गई है। मूलपाठ शुद्ध है। अन्त में लगभग ३० पृष्ठ में टिप्पणियाँ दी गई हैं जो विद्यार्थियों के बड़े मतलब की हैं।

निबन्ध

साहित्य सुधा—लेखक–श्री सत्यपाल गुप्त, प्रकाशक–भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली ५। पृष्ठ १८६, मू० ३)

प्रस्तुत पुस्तक सत्यपालजी के मनन तथा चिन्तनपूर्ण १२ निबन्धों का संग्रह है—१ सत्यं शिवं सुन्दरम्; २—यथार्थवाद और आदर्शवाद; ३—साहित्य और राजनीति; ४—प्रगतिवाद; ५—प्राचीन वीर काव्य; ६—आधुनिककालीन वीर काव्य; ७—भक्ति काल–हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग; ८—रीतिकाल–आविर्भाव के कारण तथा विशेषताएँ; ९—हिन्दी उपन्यास का विकास; १०—हिन्दी समालोचना का विकास; ११—हिन्दी नाटक का विकास; १२—गुप्तजी की नारी भावना। समी

निबन्धों में विषयों की गम्भीर व्याख्या है और यद्यपि विषय सभी घिसे-पिटे हैं पर विचारों में तथा प्रतिपादन में कुछ नयापन सा है। विषयों में विविधता है, भाषा शैली में सौष्ठव है, चिन्तन में गहनता है और उनमें पाठक के हृदय में विचार-उद्बोधन की शक्ति है।

कविता

मरुभारती (प्रथम खण्ड)—लेखक माँगीलाल चतुर्वेदी, प्रकाशक—भारती निकेतन, मुकुन्दगढ़, राजस्थान। पृष्ठ ११२, मूल्य १॥)

'मरुभारती' ४०० दोहों में राजस्थानी कविता का सुन्दर सग्रह है। इसमें विभिन्न विषयों पर दोहे हैं। इनकी विशेषता यह है कि सामयिक विषयों यथा रिश्वत, नेतागिरी, सत्याग्रह, जातिभेद, आदि पर भी चुभते हुये दोहे कहे गये हैं। कुल मिलाकर इन दोहों से नीति-विषयक प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। राजस्थानी भाषा का अत्यन्त सरल और स्वाभाविक रूप प्रस्तुत किया गया है। आज हिन्दी भाषा में अनेक प्रान्तीय भाषाओं के काव्य, नाटक, कहानी, आदि की अवतारणा की अत्यधिक आवश्यकता है। हम आजकल उर्दू के साहित्य को भी हिन्दी लिपि में नहीं ला सके। अब कुछ कार्य हो रहा है। श्री माँगीलाल चतुर्वेदी जैसे कवियों की प्रत्येक भाषा में आवश्यकता है जो सरल भाषा में जनता की भावनाओं को अभिव्यक्त कर सकें। हिन्दी भाषा भाषी केवल खड़ी बोलीमें लिखी कविताओं को पढ़ कर कृतार्थ नहीं हो सकते। जब तक कि वे 'मरुभारती' जैसे काव्यों को पढ़ने का प्रयत्न नहीं करते-तब तक राष्ट्र भाषा की अन्य बोलियों उपबोलियों प्रान्तीय भाषाओं तथा उनकी बोलियों की अपने अपने आनन्ददायिनी शक्ति से परिचित नहीं हो सकते।

जञ्जीरें टूटती हैं—सम्पादक—रघुपति सहाय 'फिराक' प्रकाशक—लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ २५४, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक में जोश, जाफ़री, मखमूर, जज्बी, अख्तर, फ़िक्र, फिराक आदि कवियों की कुछ चुनी हुई कविताओं का संग्रह किया गया है, 'संग्रह का स्वर प्रगतिवादी कहा जा सकता है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का समर्थन, जन क्रान्ति की सम्भावनाओं से कवितायें ओत-प्रोत हैं। उर्दू साहित्य अपने गुल, बुलबुल, चमन, आशियाना, शराब, खुमार के लिए प्रसिद्ध रहा है परन्तु इस संग्रह में जनवादी परम्परा के आधार पर दुनियाँ के "दो अरब आदमियों की तकदीर को चमका देना" ही उद्देश्य है अतः इस संग्रह का विषय है "मानववाद"। जोश की कविता में साहित्यिकता व जोश, मखमूर, जज्बी, अख्तर, मसऊद हुसैन, फ़िक्र में भारत की प्राप्त आजादी के प्रति तीखी घृणा, फिराक में व्यंग्यपूर्ण प्रयोगवाद झलकता है, अन्य कवियों में भी केवल बङ्गाल के अकाल या झूँठी आजादी के मातम और हाय हाय" ही नहीं है बल्कि "राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के अनगिनत पहलू हमारी युगान्तर की बदलती हुई संस्कृति और प्राचीन काल से आज तक मनुष्य जाति की संस्कृति और उस इतिहास के मर्म और सन्देश इन सबको" वाणी दी गई है। 'संग्रह' पठनीय और संग्रहणीय है।

नजीर की बानी—सम्पादक—श्री रघुपतिसहाय 'फिराक' प्रकाशक—लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ २३६ मू० २॥)

उर्दू हिन्दी का ही एक रूप है, उर्दू की सुन्दर रचनाओं को देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करने की आज बहुत बड़ी आवश्यकता है, 'फिराक' साहब ने, अत्यन्त योग्यता के साथ प्रारम्भ किया है, प्रस्तुत पुस्तक आगरा के प्रसिद्ध जनकवि 'नजीर' की चुनी हुई कविताओं का पठनीय संग्रह है। सरल उर्दू में सामान्य विषयों पर लिखी हुई कवितायें अत्यन्त मनोरञ्जक हैं। 'नजीर की बानी' से सारे हिन्दी जगत को परिचित कराने के लिए सम्पादक महोदय बधाई के पात्र हैं :—वि० ना० उपाध्याय

सन्धि-सन्देश (खण्ड काव्य)—लेखक—स्वर्गीय श्री दामोदरसिंह "कवि किंकर", प्रकाशक—हिन्दी मन्दिर शीतलपुर बंजा, सारन (बिहार)। पृष्ठ १००, मूल्य १॥)

श्री जगन्नाथप्रसादसिंह पाण्डेय के स्वर्गीय पिता के द्वारा लिखित यह काव्य पुस्तक पाण्डवों की ओर से कृष्ण द्वारा कौरवों को सन्धि-सन्देश है। इसमें किंकरजी ने

बहुत ही सरल और सीधे शब्दों में महाभारत के इस सन्धि प्रयत्न को रखा है जो अत्यन्त स्वाभाविक, प्रसादयुक्त और मुग्धकारी है। पाँच सर्गों का यह छोटा खण्डकाव्य अपनी सरलता और प्रसाद के कारण सभी हिन्दी प्रेमियों को विशेष रुचिकर होगा। —दयाप्रकाश

रवीन्द्र साहित्य, भाग २०—प्रकाशक-धन्यकुमार जैन, पी १५, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता ७। पृष्ठ १२६, मूल्य २)

प्रस्तुत संग्रह में रवीन्द्र के शेष जीवन की कविताओं का हिन्दी अनुवाद है जो चार शीर्षकों के अन्तर्गत हैं १—'रोगशय्या पर' ३६ कविताएँ, २—'शेष वाणी' के अन्तर्गत १५, ३—आरोग्य के अन्तर्गत ३३, ४—'जीवन के जन्म दिन' शीर्षक से २६ कविताएँ। कुछ कविताएँ उनकी रुग्णावस्था में लिखी गईं—कलिङ्ग पाङ्ग' में अधिकांश 'शान्ति निकेतन' के 'उदयन' में। कविताओं का रचना-समय भी दिया है—प्रभात 'सायाह्न' आदि मुक्तक छन्द हैं जिसमें क्रम विधान और लय-तुक का बन्धन नहीं है। अन्त में बीस भागों की विषय सूची भी दी है जिनमें रवीन्द्र साहित्य का विभाजन किया गया है। —त्रिलोचन पांडे

पैरोड्यावली—लेखक-मिस्टर चुकन्दर। प्रकाशक-शिवलाल अग्रवाल एन्ड कम्पनी लि० आगरा। पृष्ठ ५८, मूल्य ॥)

हास्य रस के लेखक श्री चुकन्दर की कुछ कविताओं का इस पुस्तक में संग्रह है। कविताएँ अधिकतर दूसरे प्रसिद्ध लेखकों की कविताओं की पैरोडी है। मनोरञ्जन की अच्छी सामग्री है।

संस्मरण

साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण—लेखक-श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री। प्रकाशक-हिमालय एजेन्सी, कनखल। पृष्ठ-१३६, मूल्य २)

वाजपेयीजी पुराने साहित्य सेवी और राष्ट्रीय कार्यों में सक्रिय भाग लेने वाले हैं। इस दृष्टि से उनके संस्मरणों में पुराने आन्दोलनों और विवादों की झलक आ जाती है। कुछ दिनों द्विवेदी जी के लिफाफे की बड़ी चर्चा रही थी उसका भी इसमें रहस्योद्घाटन है। वाजपेयी जी में सत्य के लिए आग्रह अवश्य है और वे बड़े निर्भीक भी हैं किन्तु वह सत्य दूसरे पक्ष को कम देखता मालुम पड़ता है। नेताजी के वे अनन्य भक्त हैं। हरिगुरु निन्दा की भाँति वे उनकी भी निन्दा नहीं सुन सकते। टण्डनजी के भी वे अनन्य भक्त हैं किन्तु व्याकरण के सम्बन्ध में वे उनकी बात का भी आदर नहीं करते। वाजपेयी जी ने बड़े गर्व के साथ लिखा है 'तद्दन्तं यत्र केनचित्' ऐसी बात संसार में बहुत थोड़े ही आदमी कह सकते हैं। वाजपेयीजी ने अपने अहं को महत्व देने की बात स्वीकार करते हुए पण्डित राज जगन्नाथ और गोस्वामीजी की शरण ली है। गोस्वामी जी में तो यह दोष यदि था तो नगण्य मात्रा में किन्तु पण्डितराज में अवश्य था। उनका जमाना अब चला गया। अब भारतेन्दुजी का भी जमाना नहीं रहा। अस्तु इस अहं दोष के होते हुये भी वाजपेयी जी में अपनी असफलता की चेतना है और अपने दोषों के कहने की ईमानदारी है। वह सराहनीय है। वाजपेयीजी से निवेदन है कि वे साहित्य से सन्यास न लें। उनके कारण मुझ जैसे खलों को कुछ मनोरञ्जन की सामग्री मिल जाती है और गोस्वामीजी के शब्दों में उनका भी उपकार होगा।

खल उपहास होहिं हित मोरा।
काक कहहिं कल कण्ठ कठोरा।

—गुलाबराय

उपन्यास

श्रेणिक बिम्बसार—लेखक-आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री, प्रकाशक-रीगल बुक डिपो, नई सड़क-दिल्ली। पृष्ठ ३५८, मूल्य ५)

जैन और बौद्ध साहित्य में विशेषकर पुराण ग्रन्थों में श्रेणिक का नाम बहुत आता है। वह भगवान महावीर और गौतमबुद्ध के समकालीन राजा था। भगवान महावीर के जीवन और प्रचार से सम्बन्धित सैकड़ों घटनाओं का सम्बन्ध श्रेणिक से रहा है। उनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में कोई सन्देह नहीं, भले ही अभी तक इतिहासज्ञों का ध्यान उस ओर न जाने के कारण उनको ऐतिहासिक व्यक्ति न माना जाता हो।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रेणिक के जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाओं का वर्णन कथानक रूप में है। महावीर, बुद्ध और अन्य सम सामयिक अनेक व्यक्तियों का भी वर्णन पुस्तक में स्थान स्थान पर आता है। इन्हें पढ़कर उस समय की परिस्थिति पर बहुत प्रकाश पड़ता है और तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था आदि का बहुत कुछ ज्ञान होता है। इस दृष्टि से पुस्तक बहुत उपयोगी और पठनीय है।

परन्तु इसे उपन्यास नाम क्यों दिया गया—यह हमारी समझ में नहीं आता। उपन्यास के कोई लक्षण इसमें नहीं हैं। वास्तव में यह इतिहास भी नहीं है क्योंकि ऐतिहासिक होते हुए भी इसे इतिहास की दृष्टि से नहीं लिखा गया है। जीवनी भी इसे नहीं कह सकते। हाँ कथा-साहित्य में इसकी गणना अवश्य हो सकती है। रोचकता इसमें अवश्य है। कुछ भी हो पुस्तक अच्छी है।

शैवालिनी—लेखक—श्री कोमलसिंह सोलङ्की, प्रकाशक—भोज प्रकाशन, धार, मध्यभारत। पृष्ठ १६०, मू० २)

प्रस्तुत पुस्तक की कथा में कोई नयापन नहीं और न उसे जीवन की किसी गहन समस्या का उद्घाटन ही होता है। पर इस सामान्य कथा का उपन्यास रूप में निर्वाह सुन्दर हुआ है। भाषा में प्रवाह है। लेखक ने प्रकाश को राजनीतिक कार्यकर्त्ता और लेखक का रूप देकर उसे एक व्यक्तित्व प्रदान करने का प्रयास किया है। पर उसका कोई व्यक्तित्व नहीं बन पाया है। शैवालिनी की समाज-सेवा की सामाजिक पीठिका नहीं विकसित हो पाई। बस प्रकाश के प्रति अपने प्रेम के लिए ही वह अपना बलिदान करती है और अपने जीवन में असफल प्रेम की कटुता से बचने के लिए ही व्यस्तता लाने के हेतु अपने प्रेम के प्रतीक रूप में प्रकाश उद्योग का निर्माण करती है। अस्तु उसका प्रेम व्यक्तिगत सीमा से ऊपर नहीं उठने पाया।

परेड ग्राउण्ड—लेखक—श्री हंसराज 'रहबर'; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृ० १६२, मू० १॥)

प्रस्तुत पुस्तक में दिल्ली के एक प्रसिद्ध मैदान में बसने वाले फकीरों और फकीरनियों की आत्मकथा है। इसे उपन्यास कहा गया है; पर उपन्यास के लिए जीवन की जैसी समग्रता के चित्रण की अपेक्षा होती है वह इसमें नहीं है। वस्तुतः यह फकीर फकीरनियों के जीवन की बिखरी हुई कहानियों का समूह है—ऐसा समूह जिसमें कोई तारतम्य नहीं है। सारी कहानियाँ ईंट-रोड़ों के बिखरे ढेर के समान हैं जो उपन्यास-महल तो क्या उसकी नींव भी नहीं प्रस्तुत करतीं। अस्तु इसे उपन्यास न कह कर फकीर फकीरनियों के जीवन की कहानियाँ कहना ही अधिक सङ्गत होगा। जिन्हें कौशल नाम का एक युवक नजदीक से देखने का प्रयास करता है। पर उसका यह प्रयास निरुद्देश्य ही रह जाता है, इसीलिए वह अन्त तक तटस्थ दर्शक ही बना रहता है और फकीर फकीरनियाँ के अपने राह पर चले जाते जीवन में कोई भी मोड़ नहीं पैदा कर पाता, कोई उद्वेलन नहीं पैदा कर पाता। सारा चित्रण प्रकृत यथार्थ बन कर रह गया है जो जीवन की गन्दगी का तो चित्रण करता है पर उसमें छिपे इन्सान का चित्रण नहीं कर पाता, जो इन्सान अवसर पाकर अपने जीवन से सङ्घर्ष कर नए पथ का पथिक बन सकता है।

अच्छा होता यदि इस पुस्तक में वर्णित अनेक फकीरों में से किसी एक की कहानी को उपन्यास का मूल-आधार बनाकर जो अपने फकीरी जीवन से सङ्घर्ष करता हुआ अपने हाथ पैरों की कमाई पर स्वाभिमान का जीवन व्यतीत करने के लिए जूझ रहा है और वर्तमान राज तथा समाज व्यवस्था जन्य परिस्थितियाँ किस प्रकार उसकी टाँग पकड़ कर उसी दलदल में उसे घसीट रही हैं, उपन्यास का महल खड़ा किया होता तो निःसन्देह यह उपन्यास बन जाता। —रामगोपालसिंह चौहान

कहानी

आटसेर चावल—लेखक—श्री के० सन्तानम्, अनुवादक श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल एम० ए०, प्रकाशक—श्री रामनारायण लाल अग्रवाल—इलाहाबाद। पृष्ठ १३९, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक में श्री के० सन्तानम् उत्तरप्रदेश के (भूतपूर्व?) मद्रास... [illegible] तमिल भाषा में लिखी हुई बारह कहानियों का अनुवाद है। ये कहानियाँ जेल जीवन के अवकाश

में लिखी गई थीं। संग्रह का नामकरण 'आठ सेर चावल' शीर्षक कहानी पर हुआ है। इसका सम्बन्ध १९४३ के बङ्गाल के अकाल को भुखमरी की वास्तविक घटना से है और इसमें नायिका दयामयी की त्यागवृत्ति का सुन्दर चित्रण हुआ है। अधिकाँश कहानियाँ मध्य वर्ग के पारिवारिक जीवन और उसकी समस्याओं से सम्बन्धित हैं। इसमें उस संस्कृति का चित्रण है जो विदेशी संस्कृति के संघर्ष से क्षीण और लुप्त प्रायः होती जाती है। दूसरी कहानी 'बनजाती' में अपूर्व त्याग की झांकी है जो अपनी मांजी के बचाने के लिए अपनी एक सन्तान की बलि होजाने तक के लिए तैयार हो गई थी किन्तु यह देवताओं द्वारा की हुई मानव हृदय की परीक्षा मात्र थी। सावित्री में ज्योतिष के विश्वास के साथ अविश्वास का सङ्घर्ष है। भुतहा बरगद में भी विश्वास और अविश्वास की टकराहट। सावित्री में जहाँ विश्वास की जीत का पलड़ा भारी है भुतहा बरगद में अविश्वास का पक्ष प्रबल रहता है। चन्द्रमती में हिन्दूनारी की सहिष्णुता और पति की विगत बेवफादारी के साथ समझौता है। इकलौता बेटा तथा अन्य कई कहानियों, जैसे सन्यासी, कुमारी का स्वप्न और मातृ भूमि की सेवा में पति-पत्नी के बीच के मत-भेद और वाक्-चातुर्य के दर्शन होते हैं किन्तु कहीं भी बिगाड़ की नौबत नहीं आती है। यही हिन्दू पारिवारिक जीवन की विशेषता है। लेखक महोदय इकलौता बेटा नाम की कहानी में लिखते हैं 'हिन्दू परिवार' भी एक बैलगाड़ी के समान। पति-पत्नी में खूब लड़ाई होते देखकर कोई बाहरी आदमी यह समझेगा कि उनकी गाड़ी अवश्य टुकड़े-टुकड़े हो जायगी लेकिन वास्तव में हजारों में एक भी नहीं टूटती'। मातृ भूमि की भी यही बात है। इसके साथ ही गांधीवादी अपरिग्रह की भावना को बड़े सुन्दर ढङ्ग से पुष्ट किया गया है। तीन कहानियाँ जेल-जीवन से सम्बन्धित हैं। जेल-जीवन शीर्षक कहानी में बीमार कैदी के प्रभात जीवन की कठिनाई को गोली के सामना करने से भी कठिन बतलाया गया है। प्रायः सभी कहानियाँ मतभेदपूर्ण आत्म-समर्पण, देश-भक्ति उदारता और संयमित स्वतन्त्रता के भावों से अनुप्राणित हैं। —गुलाबराय

संघर्ष के बाद—लेखक—श्री विष्णु प्रभाकर; प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, काशी। पृष्ठ २४८, मूल्य ३)

प्रस्तुत कहानी संग्रह में लेखक की १९३४ से १९५३ तक की समय-समय पर लिखी गई २१ कहानियों का संग्रह है। लेखक के कहानीकार का भी जन्म सन् १९३४ में ही 'स्नेह' जो इस कहानी संग्रह की एक कहानी है तथा कुछ अन्य कहानियों से हुआ था। तब से अब तक लेखक के कहानीकार ने जीवन के विविध क्षेत्र देखे, उसकी कला ने अनेक रूप सँवारे और वह क्रमिक विकास करता रहा है। १९३४ से अब तक देश सामाजिक, राजनीतिक एवं चेतना की दृष्टि से अनेक मोड़ ले चुका है और लेखक उन मोड़ों पर देश जीवन का सक्रिय हमराही रहा है। उसने जीवन को नजदीक से देखा है—यह उसकी कहानियों से स्पष्ट झलकता है। तभी वे सजीव हैं और हमारे मन-प्राण को छूती हैं। उसकी कहानियों से जीवन के सत्य सङ्घर्षों और प्रबल प्रत्याघातों के आधार पर पाठक के हृदय में वह हूक और 'ऐंठन' उठती है जिससे वह 'खुदा से भी लोहा' लेने को कटिबद्ध होता है।

—रामगोपालसिंह चौहान

जीवन के दाने—लेखक—श्री रांगेयराघव, प्रकाशक—कारवाँ प्रकाशन बड़ा सराफा इन्दौर। पृष्ठ १००, मूल्य १)

श्री रांगेयराघव जी की लेखनी से प्रसूत छः कहानियाँ इसमें संग्रहीत हैं। पेड़, कमीन, नारी का विक्षोभ, सांझ के शिकारी, ऐयाश मुर्दे और धर्म का दान। इन सभी कहानियों में एक विशेष उद्देश्य छिपा हुआ है—समाज की गड़बड़ झाला में नर का नङ्गा रूप। पहली कहानी मृत-जमीदारों के कारनामों की एक याद है। दूसरी कहानी में समाज के हीन वर्ग का एक चित्रण है। तीसरी कहानी, जो आवश्यकता से अधिक लम्बी हो गई है, नारी के अनमेल सम्बन्ध और निश्चय को प्रगट करती है। चौथी-पाँचवीं कहानियाँ भी नारी की विवशता का चित्र हैं। अन्तिम कहानी में जुआबाजी का एक चित्रण है। भाव चित्रण और लेखनशैली में कहानीकार की प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं। कहानियाँ आकर्षक हैं।

—रमेश वर्मा

नाटक

नाट्य-किरण—लेखक-श्री रामचन्द्र गौड़, प्रकाशक—हरिश्चन्द्र ६/१८५ बाग बरियासिंह, बनारस। पृष्ठ २१०, मूल्य १।=)

प्रस्तुत पुस्तक बालोपयोगी शिक्षापूर्ण छः नाटकों का संग्रह है। इसमें रवीन्द्र, गोपालकृष्ण गोखले, सर सैयद अहमदखाँ, तिलक तथा गांधीजी के बचपन की बच्चों के लिये आदर्श घटनाओं को चयन कर नाट्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन नाटकों में बच्चों के लिए स्वच्छता, सत्यप्रियता, कर्त्तव्य निष्ठा, गुरु सम्मान, संयम, अध्ययन-निष्ठा आदि के आदर्श अत्यन्त रोचक और हृदयग्राही ढङ्ग से तथा कलात्मक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

पुरुष का पाप (एकाङ्की संग्रह)—लेखक-विनोद रस्तोगी, कमला प्रकाशन ७/१४० स्वरूपनगर, कानपुर। मू० १॥)

प्रस्तुत पुस्तक में ९ एकाङ्की नाटक हैं। प्रथम एकाङ्की का सूचना-वाक्य ही इन एकाङ्कियों के प्रणयन का उद्देश्य है। "पुरुष का पाप ही नारी के लिए अभिशाप है। पुरुष तो पाप करके छूट जाता है किन्तु उसका दण्ड मिलता है नारी को"।

इन नौ एकाङ्कियों में 'सुहागरात' और 'सौन्दर्य का प्रायश्चित' ये दो सबसे सुन्दर हैं। किन्तु 'आकाश पाताल' नामक एकाङ्की इस सङ्कलन में न होता तो अच्छा था। उसमें पुरुष का पाप है ही नहीं, स्त्री का पाप है। स्त्री ने ही पति, देश एवं अपनी पुत्री से विश्वासघात करके पाप का घड़ा भरा है, पत्नी का पाप प्रदर्शित हुआ है पुरुष के प्रति। 'पत्नि-परित्याग' में लेखनी यदि थोड़ी थाम के साथ मर्यादित हो जाती तो अच्छा होता। 'एकाङ्की संग्रह' सुन्दर एवं सफल बन सका है। हिन्दी संसार में इन एकाङ्कियों का मान होगा। —गोपीनाथ तिवारी

जीवनी

स्तालिन (एक जीवनी)—लेखक-राहुल सांकृत्यायन प्रकाशक—पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, बम्बई, ४। पृष्ठ २७२, मूल्य ३)

हिन्दी में जीवनी साहित्य की श्री-वृद्धि अभी उतनी नहीं हो पाई, जितनी वह अपेक्षित है। महापण्डित राहुल जी० ने हिन्दी को बहुत सा पूरक साहित्य दिया है, इसी दिशा में प्रस्तुत पुस्तक एक महत्वपूर्ण देन है। इसमें मार्शल स्तालिन की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। जीवनी एक व्यक्ति का उसका व्यक्तिगत निरपेक्ष इतिहास नहीं होता, यह तथ्य इस जीवनी से चरितार्थ हो जाता है। इसमें स्तालिन के जीवन से तो परिचय होता ही है परन्तु यह जीवनी स्तालिन के निजी जीवन की दस्तावेज मात्र न होकर रूसी जन-क्रांति तथा वहाँ के अब तक के रचनात्मक कार्यों की रोचक रूप-रेखा भी प्रस्तुत करती है। निजी जीवन सम्बन्धी सामिग्री का अभाव स्वयं लेखक को भी खटका है। इस जीवनी की दो विशेषतायें हैं—

१—रूस के प्रति किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया गया है, परिस्थितियों की विश्लेषण-पद्धति पर स्तालिन, लेनिन की राजनैतिक कार्यवाइयों का समर्थन किया गया है।

२—जीवनी के लिए सबसे अधिक आवश्यक तत्त्व है 'श्रद्धा' जो इस जीवनी में आवश्यकता से अधिक उपलब्ध है। किन्तु यहाँ श्रद्धा का भी एक विशेष रूप है, इसीलिये इस जीवनी में लेखक का अपना व्यक्तित्व भी झलकता है। उसने रूस के निर्माण कार्यों का वर्णन करते समय भारत की वर्तमान दशा, रचनात्मक कार्य, नेताओं की नीति की ओर भी संकेत किये हैं।

स्तालिन की जीवन सम्बन्धी सभी सामग्री के प्रयोग द्वारा यह जीवनी जहाँ खोजपूर्ण सूचनाओं व अनेक विवरणों से ओत-प्रोत है वहाँ इसमें भावनात्मक स्पर्श का अभाव अवश्य है, शायद उसका कारण स्तालिन के निजी जीवन सम्बन्धी सामग्री की अनुपलब्धि है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हमारे जवाहर—लेखक-श्री फूलचन्द्र जैन सारङ्ग बी० ए०; प्रकाशक-शिवलाल अग्रवाल एन्ड कम्पनी लि० आगरा। पृष्ठ १०८ मूल्य १)

पं० जवाहरलाल नेहरू की संक्षिप्त जीवनी रोचक ढङ्ग से लिखी गई है।

नये भारत निर्माता—लेखक-श्री फूलचन्द्र जैन सारङ्ग एम० ए०, प्रकाशक-गोरधनदास जैन एण्ड संस, आगरा। पृष्ठ १०२, मूल्य १)

महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, सरदार पटेल और राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद की जीवनियाँ इसमें रोचक ढङ्ग से दी गई हैं।

इतिहास

रजवाड़ा—लेखक-श्री देवेशदास, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १४६, मूल्य ५)

प्रस्तुत पुस्तक को राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास कहा जा सकता है। जब एक ओर देश से बृटिश-सत्ता का सूर्य अस्त हो रहा था, और दूसरी ओर भारत की लोक तान्त्रिक सरकार भारत की सारी रियासतों के एकीकरण तथा विलीनीकरण में संलग्न थी—ऐसे 'युग सन्धि समय' लेखक ने इस युगान्तरकारी रूपान्तर की पृष्ठ-भूमि में राजस्थान के गौरवशाली अतीत की झाँकी देखी है। इस झाँकी का वर्णन उसने उस रोचक भाषा तथा शैली में किया है कि पुस्तक के पढ़ने में उपन्यास का सा आनन्द आता है। पुस्तक अभिनन्दनीय है।

खण्डहरों का वैभव—ले०-मुनि श्री कान्तिसागर, प्रकाशक-भारतीय ज्ञान पीठ काशी। पृ० ४३६, मूल्य ६।)

प्रस्तुत पुस्तक के नाम 'खण्डहरों का वैभव' से ही स्पष्ट हो जाता है कि पुस्तक भारत की प्राचीन वास्तु कला का उद्घाटन करती है। भारत की वास्तु-कला निःसन्देह विश्व में अपनी सानी नहीं रखती थी। आज भी जो अवशेष प्राप्त होते हैं वे विगत वैभव के साक्षी हैं। देश का विगत वैभव अनेक अर्थों में राष्ट्र के भावी विकास की पीठिका प्रस्तुत करता है। इसलिए विगत वैभव की खोज राष्ट्रीय महत्व की वस्तु हो जाती है। मुनिजी की यह पुस्तक देश भर में फैले खण्डहरों के वैभव को एक स्थान में संग्रह रूप में उपस्थित करती है, जिससे पाठक अपने देश का गत वैभव देख सके, और राष्ट्र की भावी वास्तु कला विकास के पथ पर पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ अग्रसर हो सके। आज जब हमारा देश वर्षों से खोये आत्म-विश्वास को पुनः प्राप्त कर उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए जूझ रहा है तब ऐसी पुस्तकों का जो देश के अतीत वैभव की गाथा से जन जन को परिचित कराकर उसमें आगे बढ़ने का और गत वैभव को पुनः प्राप्त करने का आत्म-विश्वास जगा सके, बड़ा महत्व है।

पुस्तक पुरातत्व विषय से सम्बन्ध रखती है; जिसमें प्राचीन इमारतों और मूर्तियों की शिल्प-स्थापत्य-कला और मूर्तिकला का विश्लेषण है, उनमें निहित कला रूपों का वर्गीकरण; उनके कला सौन्दर्य और उनके विकास-इतिहास और गौरव का उद्घाटन है। भारतीय वास्तु-कला में जैन, बौद्ध और हिन्दू वास्तुकला का महत्वपूर्ण स्थान है। इस पुस्तक में जैन पुरातत्व, मध्य-प्रदेश के जैन पुरातत्व, महाकौशल के जैन पुरातत्व, प्रयाग संग्रहालय की जैन मूर्तियों, विन्ध्यभूमि की जैन मूर्तियों, मध्य-प्रदेश के बौद्ध पुरातत्व, महाकौशल की हिन्दू-मूर्तियों का विभिन्न दृष्टियों से सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत है। भारतीय वास्तुकला के विकास में मुस्लिम वास्तु कला का भी बड़ा महत्व है। उसके अध्ययन के बिना भारतीय खण्डहरों के वैभव की गाथा पूरी नहीं होती। इस पुस्तक में इस पहलू को नहीं छुआ गया है। यही इसकी कमी है।

पुस्तक राष्ट्रीय तथा पुरातत्व दोनों ही दृष्टियों से पठनीय और संग्रहणीय है। अन्त में विभिन्न कला की मूर्तियों के आर्ट पेपर पर सुन्दर चित्र हैं जिससे पुस्तक का मूल्य और भी बढ़ गया है। छपाई सुन्दर और साफ है।

—रामगोपालसिंह चौहान

भारत का वृहत् इतिहास—लेखक-श्री नेत्र पाण्डे, प्रकाशक-स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स, प्रयाग। पृष्ठ ५४५, मूल्य ६)

इतिहास के ४६ अध्यायों में लेखक ने हिन्दू सभ्यता से सम्बद्ध सामग्री का विस्तृत विवेचन किया है। आरम्भिक ८ अध्यायों में भूगोल इतिहास का सम्बन्ध, मौलिक एकता, इतिहास के साधन, व भिन्न जातियों का वर्णन किया है तब मूल वस्तु का विवेचन है। सिंधु सभ्यता के पहले भी यहाँ कोल, द्रविड़ सभ्यताएँ थीं। जैन बौद्ध धर्मों को लेखक ने 'धार्मिक क्रान्ति का युग' शीर्षक से अभिहित किया है। राजपूत युग के वर्णन के उपरान्त

दक्षिणी हिन्दू राज्यों का उल्लेख है। वृहत्तर भारत पर भी प्रकाश डाला है। अन्तिम ६ अध्यायों में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों का विचार किया है। प्राचीन भारत के प्रसिद्ध स्मारक चिन्हों का भी वर्णन है।

अभी तक की प्रकाशित इतिहास-सामग्री के अध्ययन से लिखी जाने पर उपादेयता बढ़ गई है। विद्यार्थियों को हिन्दी माध्यम से इतिहास की शिक्षा देने में पुस्तक बहुत सहायक होगी। अन्त में आवश्यक प्रश्नों एवं उपयोगी ग्रन्थों की सूची भी है जो पुस्तक का महत्त्व बढ़ाती है।

—त्रिलोचन पांडे

भूगोल

हिमालय परिचय (१)—गढ़वाल—लेखक—राहुलजी, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ५६६, मूल्य १०)

हिमालय सदैव से ही मानव जिज्ञासा का विषय रहा है। उसे जितना ही जानने का प्रयास किया गया उतना उतना ही और जानने की इच्छा होती है। प्रस्तुत पुस्तक हिमालय के प्रति मानव कौतूहल को बहुत हद तक शान्त करने में समर्थ है।

राहुलजी ने अनेक बार हिमालय को खोजने का प्रयास किया है। उसके प्रति उनका आकर्षण १९१० ई० से ही हुआ और पिछले तैंतालीस वर्षों में उसके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ, कि 'स्वान्तः सुखाय' भी (उन्हें) लेखनी चलाने की जरूरत महसूस होने लगी।

हिमालय इतना विशाल और लम्बा-चौड़ा है कि उसका पूरी तौर पर ज्ञान सकना आसान नहीं है। और न उसका सारा ज्ञान एक ही पुस्तक में समा सकता है। राहुलजी ने 'हिमालय परिचय' तीन भागों में प्रस्तुत किया है—गढ़वाल, कुमाँऊ और नैपाल। प्रस्तुत पुस्तक हिमालय के केवल उस प्रदेश का परिचय देती है जो गढ़वाल राज्य की सीमा में आता है। उस प्रदेश की प्रायः समस्त बातों—निवासी, निवासियों की सभ्यता, संस्कृति, रीति रिवाज, भाषा बोल-चाल, वनस्पति, खनिज पदार्थ, नदियाँ, चोटियाँ तथा राजवंश का इतिहास आदि आदि का विस्तृत खोजपूर्ण अध्ययन यह पुस्तक प्रस्तुत करती है। सामान्य पाठकों के लिए, पुस्तकालयों, तथा इतिहास, पुरातत्व, भूतत्ववेत्ता आदि अनेक क्षेत्रों के विद्वानों के लिए यह पुस्तक उपयोगी और संग्रहणीय है।

माओ के चीन में—लेखक—श्री देवव्रत (प्रधान सम्पादक नवराष्ट्र पटना), प्रकाशक—हिमालय प्रकाशन, 'नवराष्ट्र' भवन, राजेन्द्र पथ, पटना। पृष्ठ २३०, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक नये चीन की आँखों देखी सजीव और सच्ची तस्वीर उपस्थित करती है। लेखक पेकिंग शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए बिहार से भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के एक सदस्य के रूप में गया था। उसने
: ये

निर्माण की जो जुझारू प्रयत्नशीलता और कर्मठता देखी, उससे उसके मन पर 'गहरा प्रभाव पड़ा है'। उसीकी अभिव्यक्ति यह पुस्तक है।

विश्व में चीन ही एक ऐसा विशाल और महान देश है जो अपने अतीत गौरव से भारत की समता कर सकता है। दोनों ने ही विदेशी साम्राज्यवाद से अपार संघर्ष और कुर्बानियों के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त की है और दोनों ही अब नये जीवन के निर्माण के लिए जुट रहे हैं। चीन निःसन्देह थोड़े से समय में ही अनेक क्षेत्रों में भारी उन्नति कर गया है। यही अनुभव प्रस्तुत पुस्तक के लेखक का है। निःसन्देह दोनों ही देश एक दूसरे के नवजीवन निर्माण-प्रयोगों से शिक्षा और प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। दोनों ही देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध की पुनर्स्थापना का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से बड़ा महत्व है।

'माओ के चीन में' पुस्तक नये चीन को समझने में बड़ी सहायक होगी। नये चीन के जन-समारोहों तथा मण्डल के स्वागतार्थ संयोजित समारोहों और नये जीवन के निर्माण में चीनी जनता के उत्साह का लेखक ने बड़ी भावुकता के साथ वर्णन किया है। पुस्तक की भाषा नये चीन के अनेक आँखों देखे चित्रों को पाठकों के लिए सजीव बनाने में समर्थ है। —रामगोपालसिंह चौहान

महावीर-वाणी—संपादक—बेचरदास जोशी, प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल वर्धा। मूल्य २)

जैन धर्म के विभिन्न सूत्रों से महावीर-वाणी का सङ्कलन किया गया है। मूल प्राकृत के साथ साथ हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है तथा सबके अन्त में श्री विनोबाजी के सुझाव पर प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया भी दी गई है। पारिभाषिक शब्दों के अर्थ और महावीर-वाणी के पद्यों की अक्षरानुक्रमणिका भी है। सम्पादक ने पुस्तक को यथाशक्ति उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है।

भौतिक समन्वयवाद, (मैं कवि बन गया, सात निबन्ध और पन्द्रह गीत)—लेखक—गोविन्दप्रसाद त्रिपाठी 'अनल' राष्ट्र-भाषा प्रकाशन, मंधना (कानपुर)

लेखक की दृष्टि में भारतवर्ष समन्वयवाद की जन्मभूमि है, जहाँ भाषा, वेश-भूषा, धर्म, राजनीति और समाज—सब में समन्वय की चेष्टा झलकती है। व्यास बुद्ध, कबीर, नानक, अकबर और आधुनिक युग के गांधी सभी समन्वयवादी थे। पाश्चात्य समन्वयवादी विचारकों में ईसामसीह, बर्ट्रेण्ड रसल, राल्फ़बुंश आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वार्थी राजनीतिज्ञ तथा युद्ध एवं हिंसा के समर्थक व्यक्ति समन्वयवाद का विरोध करते हुए देखे जाते हैं। 'भौतिक समन्वयवाद' का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि लेखक ने वाद के रूप में उसका सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है। 'मैं कवि बन गया' में लेखक के मनोरञ्जक संस्मरण हैं। इसके अतिरिक्त उनके सात निबन्ध व पन्द्रह गीत भी यहाँ संगृहीत हैं। किन्तु यह कुछ अजीब-सा लगता है कि इन सबका समावेश एक ही पुस्तक में क्यों कर दिया गया !

—कन्हैयालाल सहल

इतिहास और कल्पना—सम्पादक—श्री प्रियदर्शन एम० ए०। प्रकाशक—शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी लि० आगरा। पृष्ठ १३५, मूल्य २)

भारतीय साहित्य के तीन ऐतिहासिक उपन्यास—पाटन का प्रभुत्व (गुजराती) उग्र काल (मराठी) और आनन्दमठ (बङ्गाली) का यह संक्षिप्त रूपान्तर है। इतिहास के आवरण में कल्पना की उड़ान देखने लायक है।

...त्यिक प्रवृत्तियों से पृथक्करण साहित्य के इतिहास में कुछ न सुलझने वाली समस्याओं की सृष्टि कर देता है। उदाहरण के लिये तुलसी साहित्य में एक ओर तो नारी को 'ताड़न का अधिकारी' बतलाया गया, किन्तु दूसरी ओर महाकवि नारी की पराधीनता पर तीव्र क्षोभ प्रकट करता है। यह असंगति तुलसी साहित्य में एक स्थान पर नहीं, कई स्थलों और विषयों के सम्बन्ध में पाई जाती है। अन्य साहित्यकारों में भी इस प्रकार की पर्याप्त असंगतियाँ उपलब्ध होती हैं। इनका विश्लेषण ऐतिहासिक परिपार्श्व में होना चाहिए। लेनिन ने रूस के महान उपन्यासकार टाल्स्टाय के साहित्य में पाई जाने वाली इसी प्रकार की असङ्गतियों की अत्यन्त सन्तोषप्रद ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत की है। किसी कलाकार के साहित्य में उसके निजी व्यक्तित्व का कितना दान है और उसकी परम्परा तथा समाज का कितना दान है, यह निर्धारित करना इतिहासकार का प्राथमिक कर्तव्य है। टाल्स्टाय के सम्बन्ध में लेनिन ने कहा था कि टाल्स्टाय रूसी क्रान्ति का दर्पण है। क्रान्ति अपनी समस्त दुर्बलताओं और सबलताओं के साथ टाल्स्टाय के साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई है, इसीलिये टाल्स्टाय के साहित्य में असंगतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इन असङ्गतियों में साहित्यकार स्वयं इतना नहीं झलकता जितना उसका युग और समाज।

अन्त में अपने प्राचीन साहित्य के पाठ-भेद के सम्बन्ध में भी एक बात कह देना आवश्यक है। प्रभाकर माचवे के अनुसार किन्हीं दो प्रान्तों की टेक्स्ट बुकों में संकलित मीराँबाई या कबीरदास के पदों के पाठ में एक विचारणीय अन्तर दिखलाई पड़ेगा। इस पाठान्तर के कारण इतिहास-लेखक के सामने काफी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पाठ संशोधन का कार्य इतिहास-लेखन-कार्य का पूरक है। हिन्दी में इस ओर डा० माताप्रसाद गुप्त का कार्य सराहनीय है किन्तु वह अत्यन्त अल्प है। अभी इस दिशा में पर्याप्त कार्य की अपेक्षा है। तभी हिन्दी साहित्य का वास्तविक और साङ्गोपाङ्ग इतिहास लिखा जा सकेगा।

शङ्का-समाधान

१—"कुणाल महाकाव्य है या खण्ड काव्य ?"

—हरीशङ्कर शर्मा, हाथरस

——कुणाल खण्ड काव्य ही माना जाता है।

२—"विद्यापति किस वाद के कवि थे ?"

—अनन्तनारायण शर्मा, दरभंगा

——'वाद' आधुनिक काल के विवाद की वस्तु है विद्यापति के समय 'वाद' का विवाद नहीं था।

३—"क्या अनुस्वार और चन्द्रविन्दु दोनों के लिए शब्द पर एक बिन्दी लगा देना शुद्ध है जैसा आजकल प्रायः लोग करते हैं ?"

—अनिरुद्ध प्रसाद, [illegible]

——यह दो पृथक् चिन्ह और दोनों के उच्चारण भी भिन्न हैं। दोनों के लिए एक ही चिन्ह का प्रयोग निःसन्देह अशुद्ध है।

४—"छायावादी और रहस्यवादी हिन्दी की कविताएँ हिन्दी के प्रसार में बाधक हैं या नहीं ?"

—कान्तलाल याज्ञिक, पेटलाद

——आपके प्रश्न का उत्तर तो प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि की छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं की प्रसिद्धि और उनके प्रसार से मिल जायगा।

५—"निज जननी के एक कुमारा" में 'निज जननी' का तात्पर्य किस से है ?"

—श्रीकान्त अवस्थी, सीतापुर

——इस पर बड़ा विवाद है। हमारी सम्मति में इसका तात्पर्य सुमित्रा से ही है और 'एक कुमारा' का व्यंग्यार्थ अद्वितीय कुमार लेना उचित होगा।

६—"समस्या और एकाङ्की नाटक में तात्विक अन्तर क्या है ?"

—छोटेलाल सिंह, रायबरेली

——समस्या नाटक की विषय वस्तु से सम्बन्ध रखती है जिसे एकाङ्की द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है और पूर्ण नाटक के द्वारा भी। एकाङ्की नाटकों की तो एक विशिष्ट शैली है जिसमें एक ही अङ्क होता है।

७—"भारतीय रहस्यवादी साधना में यह महान् अन्तर क्यों है कि भारतीय उस रहस्यमय को प्रियतम कहते हैं और सूफी उसे प्रियतमा ?"

—श्रीमन्नारायण द्विवेदी, बलिया

——सूफी रहस्य भावना फारस की है और वहाँ प्रेम में पुरुष अधिक सक्रिय होता है। उसी प्रेम ने सूफी रहस्य भावना में रहस्यमय को प्रियतमा का रूप प्रदान किया।

८—"पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कुछ वेद न पढ़ाइहै ?"

—(तुलसीदास)

में 'सहरी शब्द का क्या अर्थ है ?"

—मदनलाल केड़िया, हुगली

——'सहरी' शब्द का अर्थ मछली है किन्तु यहाँ वह नौका के अर्थ में आया है।

९—"भ्रमर गीत सार" पद संख्या ३६० की चतुर्थ पंक्ति का मूल पाठ शुक्लजी ने 'भूले मृगा चौंकि चरनन तें, हुतो जो जिय बिसरायो' दिया, पर भगवान-दीनजी ने 'सूर पञ्च रत्न', में पद संख्या-६३ में यह पाठ 'फूले मिरगा चौंकि चरनन तें, हुते जो बन बिसरायो' दिया है। इसमें कौन सा पाठ ठीक है ?"

—योगेश्वर शर्मा, मेरठ

——हमारी सम्मति में भगवानदीनजी वाला पाठ ही अधिक ठीक है।

१०—"साकेत में राम-सीता के सम्मुख नायक-नायिका लक्ष्मण-उर्मिला का चरित्र उभर नहीं पाया है और न अन्य पात्रों पर अपना कोई प्रभाव ही डालते हैं। यह कहाँ तक सत्य है ?" —नन्दकुमार, लक्ष्मणगढ़, सीकर

——साकेत की सारी कथा उर्मिला को केन्द्र बनाकर विन्यस्त हुई है और यह विन्यास सफल हुआ है। उर्मिला का चरित्र वर्णन ही मुख्य उद्देश्य है जो खूब उभरा है

और सारे पात्र उसके चरित्र से प्रभावित हैं, यहाँ तक कि राम-सीता, दशरथ और कैकेयी भी।

११—"जायसी के नागमती विरह शीर्षक में एक स्थल पर नागमती ने कहा है:—

'पुष्प नखत सिर ऊपर आवा, हो विनु नाँह, मंदिर को छावा" नागमती रानी थी तो उसे छप्पर से क्या प्रयोजन ? या इसका कुछ दूसरा अर्थ है ?"

—अवनीकान्त मिश्र, भागलपुर

——कवि ने नागमती के विरह में सामान्य नारी के विरह विदग्ध हृदय का चित्रण किया है। वहाँ रानी सामान्य नारी के रूप में चित्रित है। और फिर 'छावा' का श्लेषार्थ 'आश्रय' लेना सङ्गत होगा।

१२—"क्या रङ्गमञ्चीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर नाटक कला-विहीन हो जाता है, और उसका लेखक बड़ा कलाकार नहीं कहा जा सकता है ?"

—लखनदेवसिंह, मुंगेर

——नाटक रङ्गमञ्च के लिये ही होते हैं और जो नाटक रङ्गमञ्च पर नहीं सफल हो सके वस्तुतः रङ्गमञ्चीय कला की दृष्टि से वे ही निम्नकोटि के होते हैं, भले ही उनमें साहित्यिकता कैसी भी हो। वे साहित्य की निधि हो सकते हैं पर रङ्गमञ्च की दृष्टि से उन्हें असफल ही कहेंगे। प्रसाद जी के नाटकों की यही कमी है। नाटक और रङ्गमञ्च का चोलीदामन का साथ है।

१३—"दीप सी युग युग जलूँ—लिख कर महादेवी जलने की कामना क्यों करती हैं ?"

—मोहिनी रानी, गोड्डा, संथाल परगना

——प्रश्न व्यक्तिगत है जो महादेवी जी से ही पूछने की अपेक्षा रखता है। महादेवी रहस्यवादी कवित्री हैं और अनन्त ईश्वर को उन्होंने अपना प्रियतम माना है जिससे इस जीवन में मिलन तो सम्भव ही नहीं। इस जीवन के बाद कौन जाने ! अतः चिर विरह उसमें युग युग जलूँ की कामना स्वाभाविक ही है और विरह में मिलन की आशा-युक्त आकांक्षा बनी रहती है, अन्तु चिर विरह से उसे राग हो जाता है।

१४—"क्या राम सीता आभूषण साथ लाए थे ? यदि नहीं तो रावण हरण के अवसर पर सीता ने जो आभूषण मार्ग में फेंके वे कहाँ से आए ?"

—रामस्वरूप 'प्रभाकर', नाभा

——बन गमन के समय राम-सीता के पास कुछ आभूषण अवश्य थे। कुछ आभूषण नारी के लिए सौभाग्य चिह्न माने जाते हैं जिन्हें सीता धारण किए हुए थीं। रामायण में निषाद को पार उतराई में 'मणि मुद्रिका' रावण हरण के समय सीता द्वारा आभूषण फेंकने का, रामद्वारा हनुमान के हाथों अशोक वाटिका में सीता के पास मुद्रिका भेजने का तथा सीता द्वारा अपना चन्द्रहार भेजने आदि का प्रसंग आता है। सीता के पास आभूषण होने से राम के बनवासी चरित्र में कहीं विरोध नहीं उत्पन्न होता।

१५—"राधा शब्द की व्युत्पत्ति किस साहित्य से हुई, तथा उसका इतिहास क्या है ?"

—हरिकृष्ण पुरोहित, जोधपुर

—— राधा शब्द का उल्लेख साहित्य में उतना प्राचीन तो नहीं है जितना कृष्ण का है। कृष्ण का उल्लेख तो वैदिक साहित्य में भी अङ्गिरस ऋषि के रूप में मिलता है। राधा का नाम सर्वप्रथम हरिवंशपुराण में आता है। उसमें "हा राधे !........" कह कर कृष्ण ने राधा के प्रति विरह प्रकट किया है। इसके बाद ब्रह्म वैवर्तपुराण में राधा का नाम आता है। यद्यपि भागवत में राधा का नामोल्लेख नहीं हुआ है तथापि उसमें एक गोपी का उल्लेख हुआ है जो विशेष रूप से कृष्ण को प्रिय थी। कहा जाता है वह गोपी राधा ही थी। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम राधा है। गाथा सप्तशती में, जो कि पाँचवीं सदी का ग्रन्थ है, राधा का उल्लेख है। ध्वन्यालोक के दो श्लोकों में भी राधा का उल्लेख है। वैष्णव साहित्य में निम्बार्काचार्य ने राधा का उल्लेख किया है। साहित्य में सर्वप्रथम जयदेव ने गीत गोविन्द में राधा कृष्ण की प्रेम-विरह लीलाओं का वर्णन किया है और फिर विद्यापति के द्वारा राधा हिन्दी में आई और हिन्दी के कृष्ण साहित्य का अभिन्न अङ्ग बन गयी।

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड

यहाँ है

हमने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को हर महीने पौने मूल्य में पुस्तकें देने की योजना सन् १९५१ के दिसम्बर मास से निकाली थी और अब तक हमारे ग्राहक उससे लाभ उठाते रहे।

अब डाकखाने के नये कानूनों के अनुसार हम जवाबी कार्ड को साहित्य-सन्देश के अङ्क में नहीं रख सकते। अतः हम उस कार्ड को इसी पृष्ठ पर नीचे छाप रहे हैं, आप लाइन पर से काट कर उसे हमारे पास भेज दें। इस पर आपको टिकट लगाने की आवश्यकता नहीं। जो ग्राहक किसी भी कारण से पुस्तकों की वी० पी० वापस कर देंगे तो पोस्टेज के खर्चे के वे जिम्मेदार होंगे।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

(यहाँ से काटिये)

(यहाँ से काटिये)

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड नं० २३

नाम ....

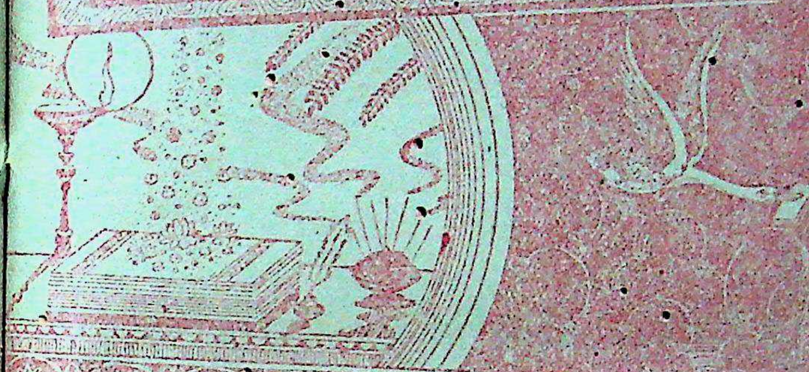
पता ....

ग्राहक सं० ....

१—आधुनिक कवि पन्त— आलोचना कृष्णकुमार सिन्हा ४॥)
२—राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान—कन्हैयालाल सहल ३)
३—रीतिकाल और रत्नाकर—कृष्णकुमार सिन्हा २॥)
४—हिन्दी साहित्य और उसके अङ्ग—श्यामप्रसाद शुक्ल १॥)
५—कहानी कला और विकास—छविनाथ त्रिपाठी ३)
६—भाषा विज्ञान गाइड— मनमोहन गौतम २॥)
७—हिन्दी साहित्य का इतिहास— प्रश्न और उत्तर ३)
८—गुरुदेव— उपन्यास महावीरशरण अग्रवाल १।)
९—व्यथा— ,, ,, ,, २॥)
१०—शेष प्रश्न— ,, शरतचन्द्र ४)
११—फुलबूट— ,, मिर्जा अजीमबेग चगताई १॥)
१२—टाम काका की कुटिया—,, अनु० कमल बी० ए० ५॥)
१३—धरती और आकाश—नाटक शम्भूनाथसिंह १।)
१४—शाहजहाँ— ,, डी० एल० राय १॥)
१५—हिमाञ्चला— कविता रामेश्वरलाल खंडेलवाल २॥)
१६—प्यार के क्षण— ,, श्री इन्दु १।)
१७—दूब के आँसू— ,, कमलेश २)
१८—प्रेरणा— ,, दानबहादुर पाठक १।)
१९—केवड़े के फूल— कहानी श्री इन्दु १।)
२०—वेदान्त धर्म— विवेकानन्द २)

नोट—जो पुस्तक आप न लेना चाहें उसे काट दें। नियम पीछे देखें।

REGD. No. 263. APRIL, 1954. LICENSE No. 16.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.



भाग १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क ११

[वार्षिक मूल्य ४)] आगरा—मई १९५४ [एक अङ्क का

इस अङ्क के लेख

'साहित्य-सन्देश' के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : अप्रैल १९५४

आलोचना

महादेवी विचार और व्यक्तित्व—शिवचन्द्र नागर ४)
सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ५)
वैदिक साहित्य परिशीलन—रजनीकान्त शास्त्री ३)
आधुनिक कवि पन्त—श्री कृष्णकुमार सिन्हा ४)

कहानी

सत्य विज्ञान की कहानी—जगपति चतुर्वेदी २)
तत्वों की खोज में— " " २)

उपन्यास

दिव्य जीवन—अनु० सरस्वती सरन २)
नई पौध—नागार्जुन २॥)
साइकिल चोर—लूइजि बार्तोलिनि ३)
नानी की माँ—रमला जला १॥)
कञ्चन—अमृतधर ३)
आलमगीर—चतुरसेन शास्त्री ५॥।=)
आधा इन्सान—ख्वाजा अहमद अब्बास २।)
आग और पानी—तेजबहादुर चौधरी २।)

नाटक

धरती और आकाश—शम्भूनाथसिंह १॥)

मनोविज्ञान

बालक के प्रति निर्दयता—स्वर्णलता अग्रवाल २॥)

कोश

संक्षिप्त हिन्दी कोश—भोलानाथ तिवारी ३)
हिन्दी पर्यायवाची कोश— " " ७॥)
तुलसी शब्द सागर— " " १२)

साहित्यिक निबन्ध

हिन्दी साहित्य की अनवादी परम्परा—प्रकाशचन्द्र गुप्त २॥)
सङ्गम और सङ्घर्ष—डा० रांगेय राघव २॥)

स्फुट

आधुनिक पत्रकार कला—रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर ३॥)
रश्मिमाला अथवा जीवन सन्देश गीताञ्जलि—डा० मङ्गलदेव शास्त्री ३॥।)
अपने बच्चे से कैसे कहूँ—द्वारिकाप्रसाद १॥)

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मँगाने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

हमारा आलोचनात्मक प्रकाशन

सुमित्रानन्दन पन्त—शचीरानी गुर्टू [पन्तजी के काव्य और जीवन पर समालोचनात्मक लेखों का संग्रह] ६)

महादेवी वर्मा—शचीरानी गुर्टू [महादेवी वर्मा के काव्य पर प्रतिनिधि लेखों का सङ्कलन] ६)

महाकवि सूरदास—नन्ददुलारे वाजपेयी [सूर के काव्य-जीवन और भक्ति का गम्भीर विवेचन] ४)

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक [आचार्य शुक्ल के जीवन, कृतित्व और समीक्षा-शैली का मार्मिक विश्लेषण] ६)

काव्य के रूप—गुलाबराय [काव्य के विभिन्न रूपों का शास्त्रीय विवेचन] ४।।)

सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाबराय [भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा शैली का मार्मिक विवेचन] ६)

हिन्दी काव्य-विमर्श—गुलाबराय [हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों का आलोचनात्मक परिचय] ३।।)

हिन्दी कविता में युगान्तर—डा० सुधीन्द्र [द्विवेदी युग की हिन्दी कविता के विकास का विशुद्ध और गम्भीर अध्ययन] ८)

रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र—देवराज उपाध्याय [रोमांटिक साहित्य का शास्त्रीय एवं आलोचनात्मक अध्ययन] ३।।।)

कामायनी-दर्शन—कन्हैयालाल सहल तथा विजयेन्द्र स्नातक [कामायनी के प्रारम्भ छः सर्गों का भाष्य तथा मार्मिक विवेचन एवं विश्लेषण] ४)

साहित्य-विवेचन—क्षेमचन्द्र सुमन, योगेन्द्रकुमार मल्लिक [हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अङ्गों का सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण] ७)

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति—डा० राजेन्द्रप्रसाद [साहित्य, शिक्षा और संस्कृति पर गम्भीर विचारपूर्ण भाषणों का सङ्कलन] ५)

हिन्दी नाटककार—जयनाथ 'नलिन' [हिन्दी-नाटक और उसके उन्नायकों की कला तथा कृतियों का गम्भीर विश्लेषण] ५)

कहानी और कहानीकार—मोहनलाल जिज्ञासु [हिन्दी कहानी और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का मार्मिक विवेचन] ३)

हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति—स्नातक तथा सुमन [हिन्दी साहित्य और उसकी विविध धाराओं का सूक्ष्म अध्ययन] ३)

वाद-समीक्षा—कन्हैयालाल सहल [हिन्दी साहित्य के पाँच प्रमुख वादों का मार्मिक विवेचन] ।।।)

तुलनात्मक अध्ययन—कृष्णचन्द्र शर्मा तथा देवीचरण रस्तोगी [हिन्दी के प्राचीन कवियों की काव्यधारा का तुलनात्मक अध्ययन] ३)

मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डा० सावित्री देवी सिन्हा [मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियों की आत्मानुभूति की भावनापूर्ण व्याख्या] ८)

हिन्दी निबन्धकार—जयनाथ नलिन [हिन्दी निबन्ध-कला और हिन्दी के प्रमुख निबन्धकारों की शैली पर विवेचनात्मक अध्ययन] ६)

कबीर—साहित्य और सिद्धान्त—यज्ञदत्त शर्मा [कबीर की कृतियों और सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परिचय] २।।)

हमारे अन्य प्रकाशनों की जानकारी के लिए सूचीपत्र मँगाइए।

आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

हमारा नवीन आलोचनात्मक साहित्य

रीतिकालीन कविता एवं शृङ्गार रस का विवेचन—(थीसिस)—डॉ० राजेश्वरप्रसाद ६॥)

कविवर सेनापति उनका कवित्त रत्नाकर—डॉ० राजेश्वरप्रसाद १॥)

प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड—डॉ० रांगेय राघव एम० ए०, पी-एच० डी० ४)
[प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा धर्म-ईश्वर, काव्य-शास्त्र, आधुनिक साहित्य का मूल्याङ्कन, भाषा प्रश्न, साहित्य और संस्कृति आदि विषयों का विवेचन]

हिन्दी महाकाव्य एवं महाकाव्यकार—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए० २)
[पृथ्वीराज रासो, रामचरित मानस, जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्रिका, साकेत, कामायनी, प्रियप्रवास, कुरुक्षेत्र आदि दस महाकाव्यों का विवेचन]

महाकवि निराला—काव्यकला कृतियां—प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए० ३)

हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद और उनके प्रवर्तक—[रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, हालावाद, यथार्थवाद, प्रयोगवाद, मांसलवाद आदि वादों का विवेचन]—प्रो० विश्वम्भरनाथ उपा० एम० ए० १॥)

सूर का भ्रमरगीत साहित्य—[भ्रमरगीत सार की समीक्षा]—प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त, एम० ए० १॥)

हिन्दी एकाङ्की और एकाङ्कीकार—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए० १॥)

वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास कला—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए० १॥)

हमारे आगामी प्रकाशन एवं सम्मेलन की सभी परीक्षाओं का नवीन सूची-पत्र मुफ्त मँगाएँ।

हिन्दी की पुस्तकों का मिलने का पता :—**सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा।**

साहित्य-रत्न, एम० ए० तथा अन्य उच्च हिन्दी परीक्षाओं के लिए

सहायक आलोचनात्मक पुस्तकें

साहित्य-रत्न पथ दर्शिका—(गाइड) प्रथम खंड (सं० २०११ संस्करण)-प्रो० सरोज एम० ए० व प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए० १०)

आधुनिक कवि—महादेवी वर्मा की टीका एवं आलोचनात्मक अध्ययन-रामकुमार सांख्यधर सा. र. ३)

हिन्दी के गौरव-ग्रन्थ—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०, सा० रत्न (स्वर्ण पदक विजेता) ३)

नाटक की रूपरेखा—प्रो० दशरथ झा ३)

हिन्दी साहित्य का इतिहास—(प्रश्नोत्तर रूप में)-प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए० ३)

काव्य विवेचन—प्रो० दशरथ झा १॥)

भाषा-विज्ञान गाइड पञ्चम संस्करण—प्रो० मनमोहन गौतम एम. ए., सा. रत्न (स्व. प. विजेता) २॥)

साहित्यालोचन सिद्धान्त— " " १)

सूर एक सरल अध्ययन— " " २)

तुलसी का विवेचनात्मक अध्ययन—प्रो० दशरथ झा २)

साहित्य-रत्न निबन्धमाला—प्रो० भारत भूषण 'सरोज' एम. ए., सा. रत्न (श्रीधर स्व. प. प्राप्त) ४॥)

साहित्य-रत्न पथ दर्शिका (द्वितीय खण्ड) सं० २०११ संस्करण—प्रो० सरोज एम० ए०, प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए० तथा प्रो० लक्ष्मणदत्त पाठक १०)

इनके अतिरिक्त हिन्दी की सभी पाठ्य तथा आलोचनात्मक पुस्तकों के लिए हमें लिखिए। सूचीपत्र मुफ्त मँगावें।

हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली।



भाग १५] • आगरा—मई, १९५४ [अङ्क ११

हमारी विचार-धारा

हिन्दी साम्राज्यवाद—

हमको बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है। अभी फिर एक प्रस्ताव के ऊपर वाद-विवाद के सम्बन्ध में हिन्दी साम्राज्यवाद की गूँज उठी। लोग अँग्रेजों के साम्राज्यवाद से इतने आक्रान्त हैं कि जहाँ साम्राज्यवाद की गन्ध नहीं वहाँ भी उन्हें साम्राज्यवाद की विभीषिका दिखाई पड़ती है। हमारे देश ने अँग्रेजी का साम्राज्यवाद सहर्ष सहा। अँग्रेजी की अनिवार्यता के वे आज भी स्वप्न देखते हैं किन्तु देश को एक भाषा और एकता के सूत्र मे बाँधने के प्रेम-पूर्वक प्रयत्नों को साम्राज्यवाद की आशङ्का से देखा जाता है। हिन्दी अपनी व्यापकता शक्ति के बल पर नहीं वरन् प्रेम और एक राष्ट्रीयता के नाते चाहती है। हिन्दी का देश के अधिकांश भाग में प्रचार है शेष भाग में इसी लिए प्रचार चाहते हैं कि देश के अन्तर्प्रान्तीय कार्यों में और यातायात के व्यवहार में एक सूत्रता आ जाय। इस से बढ़कर हमारे लिए कोई लज्जा की बात नहीं है कि हम आपस में एक विदेशी भाषा के माध्यम से बात करें। अपने घर के पत्र-व्यवहार और वार्तालाप में स्थानीय भाषा का प्रयोग हो। इसमें हिन्दी वालों को प्रसन्नता ही है। अपने प्रान्त के मोह के साथ राष्ट्रीयता को भी मान देना आवश्यक है। राष्ट्रीयता के नाते हम हिन्दी का प्रचार और प्रसार चाहते हैं। हिन्दी ने अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को अधिक से अधिक अपनाया है। उसमें किसी भाषा से द्वेष नहीं है। उसके घर सबका स्वागत होता है। अँग्रेजी के प्रचार ने हमारी संस्कृति पर कुठाराघात किया था और उसके द्वारा हमारी चिन्तन प्रणाली पर भी पड़ा। हिन्दी में भारतीय संस्कृति सुरक्षित है हिन्दी के कवि और लेखक इसलिए नहीं कि हिन्दी उनकी भाषा है वरन् राष्ट्र की भाषा है उसका प्रचार चाहते हैं। हम दक्षिण के कृतज्ञ हैं कि वे राष्ट्रीयता के नाते हिन्दी को अपनाते जाते हैं। भाषा का पार्थक्य एक प्रकार के पूर्व ग्रह (Prejudices) उत्पन्न कर देता है जो राष्ट्रीयता के लिए घातक हैं। धर्म ने उत्तर दक्षिण को एक किया था। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि

ये सब आचार्य जिन्होंने उत्तर की विचारधारा और उसके काव्य को प्रभावित किया था दक्षिण के ही थे। हम चाहते हैं कि राष्ट्रभाषा के सूत्र से भी उत्तर दक्षिण एक हों। यह एकता प्रेम की ही अधिकारिनी नहीं। हृदयों का मिलन चाहते हैं, वह भाषा के द्वारा ही हो सकता है। हृदय की एकता के सम्बन्ध में साकेत सन्त के कवि कहते हैं :—

बनेंगे दक्षिण उत्तर एक,
उरों का जब हो उर से मेल।

भाषा की एकता पार्थक्य को दूर करने में सहायक होती है। जो लोग हिन्दी के साम्राज्यवाद का नारा लगा कर उसके प्रसार में बाधा डालना चाहते, वे अज्ञात रूप से पार्थक्य भावना का पोषण करते हैं। साम्राज्यवाद की चर्चा करना हिन्दी को बदनाम करने का प्रयत्न है। इस बदनामी से उनकी अँग्रेजी की मानसिक दासता को पोषण मिलेगा। हम अंग्रेजी प्रेमियों से निवेदन करते हैं कि वे राष्ट्रीयता के बदले हिन्दी को अपनावें। कम से कम उसकी उन्नति के पथ में रोड़े न अटकावें। हिन्दी के आगे बहुत काम पड़ा है यदि हिन्दी वाले अधीर हो उठते हैं तो उनका दोष नहीं। दोष उनका है जो इस प्रश्न को सहृदयता की दृष्टि से नहीं देखते हैं। हमारी संसद के सदस्यों को राष्ट्रीयता के नाते और भारतीय संस्कृति के नाते, प्रेम और एकता के नाते हिन्दी को पोषण देना चाहिए।

हिन्दी विश्व कोश—

हमारी राष्ट्रभाषा की कई आवश्यकताएँ हैं। उनमें दो बड़ी आवश्यकताएँ हैं–हिन्दी विश्व कोश और पारिभाषिक शब्दावली कोश। अभी तक इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हुई इसका दोष हिन्दी पर नहीं है वरन् उन लोगों पर है जिनके ऊपर राष्ट्रभाषा की उन्नति और उसके सम्पन्न बनाने का भार है। पारिभाषिक शब्दावली का कार्य चाहे वह चींटी की चाल से ही क्यों न चल रहा हो। लेकिन जो मनुष्य चल पड़ा है वह यदि कछुए की चाल से भी चलेगा तो मञ्जिल तक पहुँच ही जायगा। किन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी-विश्व-कोश के सम्बन्ध में क्या हो रहा है इस विषय में जनता घोर अन्धकार में है। जब कभी कोई प्रकाश की रेखा आती है वह अन्धकार से भी अन्धकारमय और निराशाजनक होती है। दो एक बार यह अवश्य सुना गया कि शिक्षा मन्त्री महोदय ने उसका कार्य भार जामिया मिल्लिया को सौंपा है। यदि हमने कुछ ऐसी हिन्दी पुस्तकें न देखी होतीं जो सरकारी रुपये से जामिया मिल्लिया द्वारा छपी हैं, तो इस खबर को गप्प निर्धारित कर इस कान से सुनते और उस कान से निकाल देते और कहने वाले को भी फटकार देते कि शिक्षा मन्त्री महोदय को बदनाम करने को ऐसी बात जबान पर भी लाना पाप है।

साम्प्रदायिकता का प्रश्न हम न उठायेंगे। हम किसी पर कोई आरोप नहीं करना चाहते किन्तु हम विनम्रता पूर्वक जानना चाहेंगे कि विश्वकोश का काम सरकार ने हाथ में लिया है या नहीं। यदि लिया है तो उसके निर्माण का कार्य किसको सौंपा है? जामिया मिल्लिया को अथवा दूसरी किसी संस्था को। यदि नहीं तो इस पर कब ध्यान दिया जायगा? यदि यह कार्य जमिया मिल्लिया को सौंपा गया है तो इसको साम्प्रदायिक पक्षपात चाहे न कहें किन्तु यह अवश्य कहना होगा कि यह काम इतना ही हास्यास्पद है जितना कि अरबी का इतिहास लिखवाना साहित्य सम्मेलन या काशी नागरी प्रचारिणी सभा को सौंपा जाय।

प्रायः तीस वर्ष हुए एक हिन्दी विश्व-कोश नगेन्द्रनाथ वसु द्वारा सम्पादित चौदह जिल्दों में निकल चुका था और दूसरा विश्व भारती के नाम से लखनऊ से निकल रहा है किन्तु इस दिशा में सरकार का प्रयत्न अपेक्षित है क्योंकि सरकार की प्रामाणिकता की छाप के बिना किसी वस्तु को अखिल भारतवर्षीय मान्यता मिलना कठिन है। यह मान्यता केवल औपचारिक हो यह वाञ्छनीय नहीं, वरन् उसका वास्तविक होना अभीष्ट है। उसमें सब प्रान्तों के विद्वानों का सहयोग अपेक्षित है। इस के अतिरिक्त उसका पारिभाषिक शब्दावली की कमेटी से भी ताल-मेल होना आवश्यक है।। उसमें उन्हीं शब्दों का प्रयोग हो

को परिनिष्ठित और प्रामाणिक समझे जावें। उसमें अधिकारी विद्वानों से मौलिक लेख लिखाये जायँ तभी वह अखिल भारतवर्षीय मान्यता प्राप्त कर सकेगी। यह काम कष्ट-साध्य और व्यय-साध्य है। इसमें समय भी लगेगा किन्तु यदि यह काम सुव्यवस्था के साथ प्रारम्भ हो तो पाँच या सात साल में समाप्त हो सकेगा।

सही रास्ते पर—

यह बड़े सन्तोष और सुख की बात है कि हिन्दी के अनेक विश्व विद्यालय हिन्दी प्रचार के सही रास्ते पर अग्रसर हो रहे हैं। आगरा विश्व विद्यालय ने सबसे पहले अपनी डिग्रियाँ हिन्दी में देना प्रारम्भ कर दिया है। उसके द्वारा जो हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हुई है वह तो सचमुच एक महान कार्य है। दिल्ली विश्व विद्यालय ने इस वर्ष से प्रत्येक छात्र और छात्रा के लिए डिग्री प्राप्त करने से पूर्व हिन्दी की परीक्षा उत्तीर्ण करना अनिवार्य कर दिया है। राजपूताना विश्व विद्यालय ने यह योजना पहले से ही प्रारम्भ कर दी थी और वड़ी सफल सिद्ध हुई है। बिहार विश्व विद्यालय ने निश्चित किया है कि उनकी शासकीय भाषा हिन्दी होगी और इसके लिए वहाँ फार्म आदि हिन्दी में छापे जा रहे हैं। आगे से प्रमाण-पत्र और उपाधि-पत्र भी हिन्दी में दिये जायँगे। नागपुर विश्व विद्यालय भी हिन्दी की ओर सजग है। उसके कुलपति श्री कुञ्जीलाल दुबे ने केन्द्रीय सरकार पर जोर डाला है कि वह अपनी प्रतियोगिता परीक्षाओं में हिन्दी को ऐच्छिक माध्यम के रूप में स्वीकार करे। हम इन सब कार्यों का स्वागत और उनके संयोजकों का अभिनन्दन करते हैं।

दर्शन के पत्र की आवश्यकता—

फरीदकोट से हिन्दी के विद्वान् समालोचक श्री यशदेव 'शल्य' ने दो लम्बे पत्र भेज कर साहित्य-सन्देश के द्वारा हिन्दी के विद्वानों का ध्यान हिन्दी साहित्य की एक कमी की ओर आकर्षित किया है। आपका लिखना है कि हिन्दी में दर्शन पर कोई अच्छा पत्र या पत्रिका नहीं है। आपने दर्शन के विषय की एक उच्चकोटि की त्रैमासिक-पत्रिका निकालने की योजना बनाई है। हिन्दी के कोई समर्थ प्रकाशक शल्यजी का सहयोग प्राप्त करना चाहें तो वे बड़े हर्ष के साथ इस काम में बहुत कुछ करने को तैयार हैं। उनका पता है—लाइन बाजार, फरीदकोट।

उत्तर प्रदेश की भाषा—

१९५१ की जन गणना के आधार पर उत्तर प्रदेश की भाषा के सम्बन्ध में एक पुस्तक अभी सरकार ने प्रकाशित की है जिससे विदित होता है कि उत्तर प्रदेश की ९९ प्रतिशत जनता हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू या पहाड़ी बोलती है। इन ९९ में से ८० प्रतिशत हिन्दी, १०.७ प्रतिशत हिन्दुस्तानी, ६.८ प्रतिशत उर्दू और १.७ प्रतिशत पहाड़ी बोलते हैं। जो लोग उर्दू को उत्तर प्रदेश की भाषा मानते हैं उनके लिए यह आँकड़े आँख खोलने वाले सिद्ध होंगे।

डालमिया पुरस्कार—

इस वर्ष २१००) का श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार हिन्दी के यशस्वी लेखक डा० रांगेय राघव को भेंट किया गया है। यह पुरस्कार डा० साहब के प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' पर दिया गया है। इस ग्रन्थ की चर्चा साहित्य-सन्देश के इसी अङ्क में साहित्य परिचय शीर्षक में पाठक देखेंगे। हम रांगेयजी को इस उपलक्ष में हार्दिक बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि वे द्विगुणित उत्साह से ऐसी ही मूल्यवान पुस्तकें लिख कर हिन्दी साहित्य का भण्डार भरेंगे।

दो बड़े पुस्तकालय—

यह बड़े हर्ष की बात है कि आगरा और नागपुर के विश्वविद्यालय अपने-अपने स्थान पर एक-एक बहुत बड़े पुस्तकालयों की स्थापना कर रहे हैं। आगरा विश्वविद्यालय ने इसके लिए जो विशाल भवन बनाना निश्चित किया था वह आधे से अधिक बन चुका है और शीघ्र ही पूरा होने वाला है। यह भवन ६ लाख की पूँजी से बन रहा है। लगभग इसी मूल्य पर नागपुर विश्वविद्यालय ने भी भवन निर्माण करने का निश्चय किया है। इन कार्यों

में जो पुस्तकालय होंगे वह निश्चय ही बहुत बड़े होंगे। हम इस निश्चय पर दोनों विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को बधाई देते हैं।

राजस्थान सरकार की आज्ञा—

राजस्थान सरकार ने हाल ही में यह निश्चय किया है कि स्वायत्त शासन विभाग, शिक्षा विभाग, देवस्थान विभाग, एसेम्बली विभाग, न्याय विभाग तथा पञ्चायत विभाग—छः विभागों में दफ्तर का सब काम लाजमी तौर पर हिन्दी में किया जाय। राजस्थान सरकार के इस निर्णय की प्रशंसा करते हुये हम इस बात पर खेद प्रकाशित करते हैं कि हमारी उत्तर-प्रदेशीय सरकार का कार्य अभी तक हिन्दी में नहीं हो रहा है—यद्यपि एक बार नहीं अनेक बार उसकी ओर से हिन्दी में काम करने की घोषणायें हो चुकी हैं। क्या हम आशा करें कि हमारी सरकार इस ओर कोई सक्रिय कदम उठावेगी ?

साहित्यिकों का सम्मान—

पिछले दिनों हिन्दी के कई साहित्यकारों का विभिन्न स्थानों पर स्वागत सम्मान हुआ। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा ने अपने वार्षिक समारोह पर डा० राजेन्द्र प्रसाद (राष्ट्रपति)—जो हिन्दी के एक समृद्ध लेखक और महान् सेवक रहे हैं—का स्वागत किया। ग्वालियर में साहित्य साधना संसद की ओर से प्रसिद्ध कलाकार श्री जैनेन्द्र जी का सम्मान किया गया। आगरा नागरी प्रचारिणी सभा ने वर्तमान सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा के स्वागत में उत्सव किया। दिल्ली में डा० रांगेय राघव को २१००) रु० के पुरस्कार पाने के सम्मान में एक वृहद भोज दिया गया। दिल्ली के हिन्दी भवन में श्री गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, पं० हरिशङ्कर शर्मा, पं० केदारनाथ भट्ट आदि कई विद्वानों का स्वागत किया गया। हम इस प्रवृत्ति का अधिकाधिक प्रचार अपेक्षित समझते हैं।

हीरक जयन्ती—

काशी ना० प्र० सभा की हीरक जयन्ती हुये अब कई महीने होगये। हमें खेद है कि हम इस अवसर पर इस समारोह के अनुरूप चर्चा अपने पत्र में नहीं कर सके। ना० प्र० सभा नागरी लिपि और हिन्दी प्रचार की सूत्रधारिणी रही है। उसके द्वारा जो कार्य हुआ है उसका मूल्याङ्कन इन थोड़ी पंक्तियों में नहीं किया जा सकता। वास्तव में सभा का जीवन और उसका कार्य हिन्दी प्रचार के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। हीरक जयन्ती के अवसर पर जो भव्य समारोह काशी में हुआ वह अत्यन्त सराहनीय और सभा के अनुरूप था। सभा के कार्यकर्त्ताओं को इस अवसर पर बधाई देने के साथ ही हम यह भी आशा करते हैं कि वे सभा के भावी कार्यक्रम की रूपरेखा ऐसी बनावेंगे और उसे कार्य रूप में परिणत करने का ऐसी चेष्टा करेंगे जो सभा के अतीत के अनुरूप होगी।

निराला जी का स्वास्थ्य—

हमें यह जानकर खेद है कि हिन्दी के यशस्वी कलाकार महाकवि निराला बहुत दिन से अस्वस्थ हैं। इधर कुछ दिन से उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पत्रों में काफी चर्चा भी हो रही है। साहित्यकार संसद की संचालिका श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रयत्न से उनके इलाज का प्रयत्न हो रहा है और इसा निमित्त १५०) महीना प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार ने देना स्वीकार किया है। यह रकम मिलना प्रारम्भ हुआ या नहीं यह अभी ज्ञात नहीं हो सका किन्तु इस विषय को लेकर इलाहाबाद के कुछ लोगों के द्वारा जो अप्रिय टीका टिप्पणी समाचार पत्रों में हो रही है उसे पढ़कर किस हिन्दी प्रेमी को खेद न होगा। यह बात बड़े ही लज्जा की है कि ऐसे गम्भीर विषय पर भी हम लोग अपने दलबन्दी के भावों को एक ओर नहीं रख सकते और सब मिलकर उस महान् व्यक्ति के अनुरूप कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं कर सकते जिस पर उँगली न उठाई जा सके। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि निरालाजी शीघ्र ही स्वस्थ हों और उनके सम्बन्ध का विवाद शीघ्र ही समाप्त हो जाय।

काव्य और जीवन

प्रो० रमाशङ्कर तिवारी, एम० ए०, डि० एड०

काव्य मानवीय चित्तवृत्तियों का संयमित प्रतिफलन है। मानव के सुदीर्घ इतिहास में उसे जो विविध अनुभूतियाँ हुईं, जिन आशा-निराशाओं और स्वप्न-कल्पनाओं ने उसके मनोराज्य को चमत्कृत एवं आलोकित किया उन सभी प्रेरणाओं ने उसके विकास-पथ को प्रशस्त किया है। मानवी प्रगति और कला में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण, साहित्य के रमणीय 'म्यूज़ियम' से चित्र-विचित्र वर्णों से अलंकृत इन्द्रधनुषीय 'मनुष्यता' विकसित हुई है जो उसकी, जीवन और जगत् के प्रति वैचित्र्य-मूलक प्रतिक्रियाओं एवं दृष्टियों का मनोरम साक्ष्य प्रस्तुत करता है। अतएव काव्य से कभी हमारी चित्तवृत्तियों का रमण होता है; कभी हमारी कल्पना मधुर स्मृतियों से झनझना उठती है; कभी सौन्दर्य की अलौकिक प्रभा हमें अमानवीय धरातल पर खींच ले जाती है; गार्हस्थिक परिधि में दाम्पत्य प्रणय की इन्द्रजाली लीला के रस-प्रवाह में हम पूर्णतया बह जाते हैं; कभी जीवन की पीड़ाओं और छलनाओं के जाल से निकल कर किसी अलौकिक गन्धर्व-लोक में पलायन कर जाते हैं; कभी किसी नवीन चेतना से छटपटा कर हमारे प्राण नव्य प्रेरणाओं से परिपूर्ण हो उठते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य हमें जीवन की विविध भूमियों पर, विविध अवस्थाओं में, विविध रूपों में प्रभावित करता है। अपने इसी गुण के कारण काव्य सार्वभौम एवं सार्वयुगीन बनता है। सृष्टि के प्रथम सुवर्णाभ प्रत्यूष ने नर और नारी के प्रथम आकस्मिक संस्पर्श ने, नव-जात शिशु के प्रथम कुतूहलजनक क्रन्दन ने तथा पितृत्व एवं मातृत्व की प्रथम आनन्दपूर्ण प्रतीति ने मनुष्य को एक नवीन चेतना प्रदान की—उसे ऐसा आभास हुआ कि बाह्य दृश्यमान पदार्थों एवं घटनाओं के अतिरिक्त उसके भीतर भी एक अतीव विस्मयपूर्ण रहस्य लोक है जो संभवतः बहिरंग वास्तविकताओं से अधिक मार्मिक अधिक महत्व-गर्भित है। उसी समय भौतिक सत्यों के ऊपर उसकी दृष्टि में आभ्यन्तरिक सत्य की महत्ता प्रतिष्ठित हुई। उसी समय उसे बोध पड़ा कि उसका पार्थिव अस्तित्व भौतिक आवेष्टनों की अपेक्षा उसकी आन्तरिक 'हलचलों' से अधिक शासित होता है। एक शब्द में, मनुष्य को अपने 'भावात्मक अस्तित्व' का बोध हुआ। उसी पावन मुहूर्त में काव्य का जन्म हुआ तथा मानव विकास के साथ-साथ काव्य का मर्म प्रवाह भी अद्यावधि, अविच्छिन्न गति से, मनुष्य को किसी अज्ञात लक्ष्य की ओर अग्रसर किए प्रवाहित हो रहा है। मनुष्य को सम्पूर्ण मार्मिक अनुभवों का प्रमाणिक इतिवृत्त यदि कहीं उपलब्ध हो सकता है तो वह काव्य में ही। "झीनें पट में झुलमुली, झलकति ओर अपार" से लेकर "रितु फागुन नियरानी हो कोउ पिया से मिलावे" तक का समग्र आध्यात्मिक मर्म विश्व की काव्य-मंजूषा में ही सन्निहित है। इसी लिए पुनः कहा जा रहा है कि काव्य सार्वभौम एवं सार्वकालीन है।

काव्य-कला के विषय में विचार करते समय एक मनोरञ्जक तथ्य यह दृष्टि गोचर होता है कि सभ्यता के इतिहास के आदिम काल से ही मनुष्य ने "हृदय के संवेदनों की पवित्रता" (Holiness of heart's affections'—Keats") पर सन्देह किया है। तथा उन्हें नियन्त्रित करने का सफल-असफल प्रयत्न किया है। पुरा-कालिक ग्रीस में यद्यपि कवि को स्वप्न-दर्शी महत्तर मानव समझा जाता था, कविता का उद्देश्य आनन्दोद्रेक के साथ ही उपदेश-दान भी स्वीकृत किया गया था। सुप्रसिद्ध ग्रीक काव्यकार अरिष्टफेन यह प्रश्न करता है कि किस आधार पर कवि की प्रशंसा होनी चाहिये और स्वतः यह उत्तर देता है—"यदि उसकी कला सच्ची है और उसका उपदेश सारपूर्ण है तथा वह नागरिकों को किसी प्रकार भद्रतर बनाकर राष्ट्र की सहायता करता है, (तो उसकी

प्रशंसा होनी चाहिये)।''+ कला की उपदेश निष्ठता के विषय में लगभग समस्त प्राचीन यूनानी मनीषियों में एकमत था। वे सभी राष्ट्रानुरागी महानुभाव थे और अच्छे नागरिक निर्माण करने की प्रेरणा से प्रेरित थे क्योंकि 'आदर्श राज्य' की स्थापना उनका उद्देश्य था। इस प्रकार कवियों के निकट भी कला के विशुद्ध, निरपेक्ष मूल्य का महत्व स्वीकृत नहीं था। अतएव, यदि कठोर दार्शनिक चिन्तक प्लैटो ने अपने 'जनतन्त्र' ('रिपब्लिक') से कवियों को निष्कासित कर दिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं माननी चाहिए। सुप्रसिद्ध राष्ट्रकवि होमर के प्रति एक प्रकार का "प्यार-पूर्ण आदर भाव," रखते हुए भी, प्लैटो कठोर 'सत्य' की वेदी पर मनोरम 'सौन्दर्य' की बलि चढ़ा देता है। अ ने सुविख्यात ग्रन्थ 'Republic'' के दसवें अध्याय में काव्य पर वह अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण प्रहार करता है। उसकी तर्कना का सार यों है—'सरस्वती' (The Muse) सम्पूर्ण महान् कवियों की वाणी एवं मानस पर अधिकार कर लेती है। फलतः अपने सुन्दर पद्यों की रचना करते समय वे विक्षिप्त से बन जाते हैं तथा उस 'अनुप्रेरित' अवस्था में उन हलके, पवित्र, जीवों में मस्तिष्क का तिरोभाव हो जाता है; अन्य किसी दशा में वे अपने आत्म-विस्मृति शील उद्गारों की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते।'' 'आदर्श मनुष्य' एवं 'आदर्श राज्य' का निर्माण प्लैटो का चरम लक्ष्य है। सुतरां, 'राज्य' में व्यापक व समष्टिरूप से प्रतिफलित 'न्याय' का वह परीक्षण करता तथा 'व्यक्ति' में उसके स्रोत का अन्वेषण करता है। यहां स्मरणीय यह है कि वह 'न्याय' को 'अच्छाई' या 'साधुता' का पर्याय मानता है। अतएव सामाजिक दृष्टि-कोण से वह कला को, जैसा कि प्रत्येक वस्तु को, नैतिकता का सेवक और वैयक्तिक दृष्टि से, कला को व प्रत्येक वस्तु को, 'दार्शनिक आदर्श' अर्थात् सत्य की साधना एवं परिशीलन (Pursuit and realisation of truth) का पोषक समझता है। होमर तथा उसका अनुसरण करने वाले अन्य कवियों की वह भर्त्सना इसलिए करता है कि उन्होंने देवताओं को निष्करुण, विलास-प्रिय, प्रतिशोध-शील तथा द्वन्द्वपूर्ण चित्रित किया है; क्योंकि उन्होंने नेक परमात्मा को बुराई का जनक निरूपित किया है; क्योंकि 'अकीज' (Achilles) अथवा 'प्रियम्' (Priam) जैसे सम्मानित वीरों को उन्होंने दुर्बल या निम्न-स्तरीय मनोभावों से अभिग्रस्त दिखलाया है। सुखान्त एवं दुःखान्त नाट्यकार दण्डाई इसलिए हैं कि वे अनुचित वस्तुओं की नकल करते हैं। इस प्रकार नीतिवादी होने की दृष्टि से प्लैटो काव्य को अनैतिकता-मूलक मानता है। इतने से ही सन्तुष्ट न होकर दार्शनिक के नाते वह कलाओं को मिथ्या एवं भ्रान्ति का प्रचारक भी समझता है। विश्व में एक ही निरपेक्ष सत्य का सौन्दर्य (Absolute Truth or Absolute Beauty) की अवस्थिति है तथा संसार के यावत् पदार्थ केवल उस निरपेक्ष सत्ता की प्रतिकृति मात्र हैं। कलाकार उन 'प्रतीतियों' (Appearances जो केवल 'नकल' हैं) की 'नकल' करता है। इस प्रकार वह 'नकल' की 'नकल' की सृष्टि करता है तथा तर्क-बुद्धि को स्पर्श न कर वह हृदय के रागों व आवेगों को उद्बुद्ध एवं प्रोत्तेजित करता है जो 'आत्मा' के निम्नतम या निकृष्ट अंश हैं। इस प्रकार प्लैटो कला या काव्य को अनाचार तथा मिथ्या का प्रचारक प्रतिपादित करता है।

प्लैटो के पश्चात् अरस्तू ने यद्यपि काव्य के प्रति न्याय करने का स्तुत्य उद्योग किया तथापि किसी न किसी रूप में कला की प्रयोजनीयता नैतिक, अथवा लौकिक आधार पर स्वीकृत होती ही रही। अर्वाचीन काल में 'काव्यगत सत्य'

+ "If his art be true, and his counsel sound; and if he brings help to the nation, By making men better in some respec.

—R. A. Scott james:
(The making of Literature)

एवं 'काव्यगत सौन्दर्य' की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए भी सुप्रसिद्ध समीक्षक मैथ्यू आर्नल्ड काव्य की उपदेश-निष्ठता का अतीव स्पष्ट प्रतिपादन करता है : "नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोहशील काव्य जीवन के विरुद्ध विद्रोह करता है; नैतिक धारणाओं के प्रति उदासीन काव्य जीवन के प्रति उदासीन होता है।" + आधुनिक युग में ऐतिहासिक भौतिकवाद के आविर्भाव के फलस्वरूप अब काव्य आर्थिक अवस्थाओं व 'आर्थिक शक्तियों'—Economic factors—की उपज माना जाने लगा है तथा वर्ग संघर्ष की भित्ति पर 'सर्वहारा समुदाय' के अभ्युत्थान एवं अभिजात वर्ग (बुर्जुआ) के निर्मूलन की दिशा में एक शक्तिपूर्ण अस्त्र का सामाजिक गौरव इसे प्रदान किया जा रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'नीतिवादी' और प्रगतिवादी' दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोण एवं मान्यताओं के आधार पर काव्य से वह कार्य सम्पन्न करवाना चाहते हैं जो उसका प्रकृत धर्म नहीं है; दोनों उसे अपने सिद्धान्तों की शृङ्खला में जकड़ने का प्रयास करते हैं। यदि एक कला को आचार-शास्त्र की सेविका बनाने का उद्योग करता है तो दूसरा, राजनीति की। वस्तुतः दोनों आग्रहों का मूल प्लैटो की 'रिपब्लिक' ही है। उसके असन्तुलित प्रहार का परिमार्जन करते हुए, आर्नल्ड के अनन्तर सुप्रसिद्ध नीतिवादी रस्किन ने काव्य का अनुमोदन इस आधार पर किया कि कला परमेश्वर की गरिमा की साक्षी (Witness of the glory of god) है। सौन्दर्य-भावना, उसके मतानुसार, न इन्द्रियों पर आश्रित, न बुद्धि पर, अपितु हृदय की "उन्मुक्त, पवित्र एवं निष्कलुष दशा" पर अवलम्बित है जिसके लिए आवश्यक है कि प्रकृति की वस्तुओं में दृष्टिगोचर होने वाली परमेश्वर की कला-कारिता के सक्रिय अनुभव के फलस्वरूप मनुष्य में श्रद्धा, कृतज्ञता एवं प्रसन्नता का भाव स्फुरित हो। प्लैटो के प्रहार के दूसरे पक्ष—आदर्श नागरिक एवं आदर्श राज्य का निर्माण से प्रेरणा ग्रहण कर विशुद्धतम मार्क्सवादी समीक्षक गुलाब के फूल और निरीह शिशु की मुस्कान में सौन्दर्य देखने से तब तक इनकार करेंगे जब तक उनसे किसी सामाजिक शिव का साधन न हो अथवा उनकी कोई सामाजिक उपयोगिता न हो। मानव हृदय पर यह 'सेन्सर' बिठा देना सर्वथा संकीर्ण दृष्टिपरता का परिचायक है।

+ "A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life, a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards Life"

—M. Arnold : Essays in Criticism.

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि मैं कला को किसी अतीन्द्रिय अथवा अनासक्त स्वप्न-लोक की वस्तु समझता हूँ यद्यपि मैं यह भी मानता हूँ कि कला स्वप्न भी रचती है और कोलाहल—मय धरित्री से पलायन करने की मधुर कल्पना भी करती है।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर-लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेमकथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।"

—'प्रसाद'

वास्तविकता यह है कि काव्य जीवन के प्रति कवि का अपना 'अध्ययन' प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन की विशेषता यह है कि इसमें तर्क और बुद्धि का अंश न्यून तथा उसकी संवेदना का अंश अत्यधिक होता है। कभी-कभी अनुचित हस्तक्षेप करने वाली प्रज्ञा का अंश तिरोभूत भी हो सकता है किन्तु अनेकों की क्रियाशीलता अनिवार्य है। वस्तुस्थिति यह है कि काव्य में प्रतिष्ठित होने वाला प्रत्येक 'विचार' अपने रागात्मक प्रसङ्ग से समन्वित होता है। ऐसे 'विचार' जिनके सम्बन्ध में हृदय का कोई आवेग जाग्रत नहीं होता, काव्य दृष्टि से कोई मूल्य नहीं रखते। यह भी सम्भव है कि कोई विचार एक व्यक्ति की दृष्टि में किसी प्रकार के 'भावात्मक क्षेत्र' से रहित प्रतीत हो तथा दूसरे व्यक्ति उसी एक पर

करण की क्षमता विद्यमान हो। अतएव "काव्य वे शब्द हैं जो कोई विचार तथा उससे उद्बुद्ध रागात्मक क्षेत्र कवि के मस्तिष्क से पाठक के मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं।"* इस प्रकार विशुद्ध विचार-विमर्श 'दर्शन' हो सकता है, 'काव्य' नहीं। इसीलिए कबीर का अधिकांश काव्य 'काव्य' नहीं कहा जा सकता; 'आध्यात्मिक रस की गगरी' से छलक कर 'काव्य की कटोरी' में भले कभी-कभी सहृदयों के लिए प्रचुर रस उपलब्ध हो जाय।

हाँ, तो यह कहा जा रहा था कि कवि अपनी संवेदना के माध्यम से जीवन का अध्ययन करता है। यह अध्ययन सच्चा एवं विश्वसनीय होता है क्योंकि उसकी संवेदनाएँ कभी मिथ्या नहीं हो सकतीं। मिडलटन मुरी का कथन है कि विशुद्ध कवि बुरा कदापि नहीं हो सकता—यद्यपि उसकी क्षमता में परिमाण का अन्तर किया जा सकता है। नैतिकता की तुला पर कवि का अनुभव ग्राह्य हो या त्याज्य, किन्तु हमारे लिए वह एक जागरण है, एक नवीन चेतना है। हमें उसका स्मरण होता है जिसे हम भूल गए रहते हैं, कभी-कभी उसका अनुभव होता है जिसका हमने कभी पहले अनुभव नहीं किया था। हम अपने से 'गिफ्टेड' व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संपर्क में आते हैं क्योंकि वह अपने अनुभवों को उनकी सम्पूर्णता में अनुभूत करता है तथा अपनी गहरी एवं प्रखर संवेदना के रक्त-मांस से युक्त कर उन्हें हमारे अन्तर तक पहुँचाने का कार्य सम्पन्न करता है। हृदय की सम्पन्नता से प्रसूत मर्म-वाणी के मूल्य-विवेचन के लिए हृदय के अतिरिक्त अन्य कोई कसौटी प्रयुक्त नहीं हो सकती। जीवन की घिस-घिस में हमारे अन्तःकरण के ऊपर सामान्यता का इतना मोटा पर्दा पड़ा रहता है कि काव्य के अन्तर्भेदी अणुवीक्षण-यन्त्र के बिना हमारी मनुष्यता सुषुमावस्था में या मृतप्राय पड़ी रहती है। इस समग्र सृष्टि का अनुवचन कवि करता है अथच "जीवन और जगत के विषय में जो 'रिपोर्ट' वह प्रस्तुत करता है उसी की सत्यता पर संसार—जहाँ तक वह सुन्दर तथा रहने के योग्य है—अवलम्बित रहता है। हमारे लिए और उसके लिए इस सत्यता का प्रमाण वह स्वयं है।"*

"सामान्यता के इस पर्दे" से उन्मुक्तीकरण का एक पावन उपाय वर्ड्सवर्थ ने बताया था—मनुष्य की अपनी इन्द्रियाँ तथा उनसे गृहीत सत्य या सौन्दर्य की सच्चाई पर पूर्ण विश्वास। प्रकृति की सुरम्य वनस्थली में दिन प्रतिदिन ध्यान-स्तवन में निमग्न रहने वाले महर्षि वाल्मीकि ने व्याध की नृशंस हत्या की जो तीव्र भर्त्सना की उसमें उनका समग्र संवेदनात्मक अस्तित्व हिल उठा था, वह हिंसा-कृत्य उनके लिए एक 'चैलेंज' था जिसके प्रति विद्रोह करने के लिए न उन्हें 'सोशल सैंक्शन' (Social-Sanction) की आवश्यकता पड़ी, न आर्थिक या राजनीतिक, और न नैतिक भी। कहने वाले कह लें कि आदि कवि की विद्रोह-वाणी में प्रचुर नैतिकता विद्यमान है किन्तु स्वयं उन्हें इसकी रंचमात्र भी अनुभूति नहीं हुई होगी कि उसका उनकी अन्तुष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई मूल्य निर्वाचित होगा। एक पाश्चात्य समीक्षक के शब्दों में 'संसार सर्वदा अपने कवि की प्रतीक्षा किया करता है।' निस्सन्देह वे कवि ऐसे ही होंगे जो जीवन और जगत् के विषय में अपनी संवेदनशील अन्तरात्मा के गहन गह्वर से ऐसा ही कोई मर्म-संदेश प्रदान करेंगे।

काव्य और जीवन के सम्बन्ध में तनिक और विचार कर लेना विषय को अधिक सुस्पष्ट बनाने में सहायक होगा।

* "Poetry will therefore be words which do communicate a 'thought' and the 'emotional field' which it excites from the mind of the poet to the mind of the reader."
—J. Middleton Murry: "Pure Poetry"

* "Upon the veracity of his report of the world, the world, so far as it is beautiful and fit to live in, depends and the guarantee of his veracity, to him and to us, is himself."—
H. W. Garrod: "The Profession of Poetry."

मैथ्यू आर्नल्ड का सुपरिचित सिद्धान्त है कि काव्य जीवन की समीक्षा है। यह समीक्षा काव्यात्मक सत्य एवं काव्यात्मक सौन्दर्य' के नियमों के अनुरूप होनी चाहिये। काव्य की महत्ता के निर्धारण के लिए उसकी वस्तु और शैली, दोनों का उच्चकोटीय होना आवश्यक है। प्रतिपाद्य वस्तु में उच्चकोटि का सत्य और गम्भीरता होनी चाहिए। अन्यत्र आर्नल्ड कहता है कि काव्य मनुष्य की 'नितान्त पूर्ण वाणी' है जिसमें वह 'सत्य' को अभिव्यक्त करने की क्षमता के अत्यन्त निकट आ जाता है। साहित्य-समीक्षण में यह 'सत्य' प्रचुर विवाद का आस्पद बना है। यद्यपि आर्नल्ड ने इसे 'काव्यात्मक' विशेषण से सीमित कर दिया है तथापि आलोचकों की सम्मति है कि व्यावहारिक मीमांसा में नैतिक मूल्यों के प्रति उसके स्वभावगत पक्षपात ने यत्र-तत्र उसकी समीक्षा को विकृत कर दिया है। इस सम्बन्ध में निरन्तर स्मरण रखने की की वस्तु यह है कि साहित्यकार जीवन और जगत् से उन तथ्यों का संचयन करता है जिन्होंने उसकी संवेदना पर गहरा आघात किया है। इस दृष्टि से पारमार्थिक अनुभूति भी काव्य का प्रतिपाद्य हो सकती है—शर्त केवल यही है कि इस अनुभूति में कलाकार के हृदय-रस का पर्याप्त मिश्रण हुआ हो अथवा उस अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुँचाने में वह सफल हुआ हो। दूसरी ओर, यह भी स्मरणीय है कि काव्य जीवन की अनुकृति नहीं है। जीवन में प्रायः घटनाओं का घटन बिना किसी क्रम के, बिना किसी 'आर्गेनिक' सम्बन्ध के होता है। सामान्य जीवन में साधारणतया कोई आकर्षण, कोई मर्मग्राहिता, कोई 'मैजिक' नहीं रहती। किन्तु काव्य में चित्रित जीवन एक निश्चित सम्बन्ध सूत्र में अनुस्यूत मिलता है। असंबद्ध घटनाओं के जमघट की सृष्टि करने तथा जीवन के एक अधिकांश भाग के दोषों की पुनरावृत्ति करने से काव्य का महत्व अत्यन्त क्षीण हो जाता है। काव्य वह कार्य सम्पन्न करता है जो जीवन सम्पन्न नहीं कर सकता। वह समस्त अनावश्यक एवं असंबद्ध तत्वों को बहिष्कृत कर देता है तथा उन्हीं तत्वों एवं तथ्यों का संकलन करता है जो परस्पर सहयोग-सूत्र में संग्रथित दीख पड़ते हैं। इस प्रकार का चित्रित चित्र ही जीवन की व्याख्या अथवा समीक्षा है। इसी कारण जीवन से वह तृप्ति नहीं मिलती जो काव्य से मिला करती है। लैसेल्स ऐबरक्राम्बी ने काव्य की इस शैली को दो शब्दों में व्यक्त किया है—Simplification और Exaggeration प्रथम का कार्य है साधारण जीवन की घटनाओं के जमघट को कला-दृष्टि से सुलझा कर मर्म स्पर्शी तथ्यों का आकलन और अनाकांक्षित तथ्यों का उपेक्षण एवं परित्याग, दूसरे का कार्य है चुने तथ्यों का 'अतिरञ्जित' रूप में चित्रण जिससे सम्पूर्ण काव्य रचना हमारी अन्तरात्मा को स्पर्श कर सके। काव्य की इसी 'टेकनीक' के कारण हमें अपनी 'रागात्मक वास्तविकता' का परिज्ञान होता है। जो जीवित रहने की इच्छा की 'केन्द्रीय अग्नि' की निकटतम 'लपट' है। ऐबरक्राम्बी ने जो 'काव्यात्मक नाटक'—के विषय में कहा है वह सम्पूर्ण काव्य के लिए कहा जा सकता है—काव्य में चित्रित जीवन से हमें अपने अन्तर की प्रतीति होती है, अपने 'व्यक्तित्व' का बोध होता है, अपनी ही गुप्त वासनाओं का परिज्ञान होता है। जीवन से जीवन की हमारी भूख परितृप्त नहीं होती, किन्तु काव्य यही कार्य सम्पन्न करता है। इसी कारण जीवन से यह अधिक वास्तविक है। +

काव्य और जीवन के सम्बन्ध स्वरूप का विवेचन करते समय एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या काव्य जीवन की आलोचना मात्र है अथवा और कुछ भी; क्या कवि किंवा साहित्यकार जीवन की वास्तविकताओं का विश्लेषण कर ही संतोष कर बैठता है अथवा अपनी ओर से कोई नवीन दृष्टि भी प्रस्तुत कर सकता है? काव्य कवि की संवेदनात्मक हलचलों का मूर्त विधान है* जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व के सार्वजनीनीकरण की चेष्टा करता है।* भावेष्टन से प्रभावित होते हुए भी यह आव-

---

+ Lascelled Abercrombie 'The Function of poetry in the Drama'

* देखिये—अगस्त १९५२, के "साहित्य-संदेश" में प्रकाशित लेखक का "काव्य का मूल" शीर्षक लेख।

... नहीं कि साहित्यकार की प्रतिक्रिया वही हो जो सामान्य जीवन-समीक्षक की। उलटे, अधिक सत्य यह है कि प्रथम की प्रतिक्रिया दूसरे की प्रतिक्रिया से भिन्न एवं निराली होवे। वस्तुतः कवि की नव सृजनाशील प्रतिभा के ऊपर संवेदनात्मक निष्ठा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। और, यदि उसकी जीवन-दृष्टि गहरी है, उस पर किसी पूर्वासक्ति का गाढ़ा रङ्ग नहीं चढ़ा है तो उसकी कलाकृति मनुष्यता के लिए स्वास्थ्यकर अवश्य होगी। साहित्य का सत्य जीवन की भूमिका में प्रतिफलित सत्य है जो मानव की मानवता का उद्बोधक है, पोषक है। इसीलिए जैसा पूर्व संकेतित है, काव्य का सत्य जीवन के सत्य का पर्याय नहीं है। जीवन के सत्य से कभी कभी हम न केवल शारीरिक अपितु मानसिक एवं आत्मिक क्लान्ति से अभिग्रस्त होकर, या तो गहन नैराश्य के अंध-कूप में पतित होकर सर्वथा निष्क्रिय बन जाते हैं, या मानवीय उदात्त वृत्तियों की उपादेयता में उत्कट रूप से संदेह ग्रस्त होकर दानवी पथ में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार जीवन का सत्य कभी-कभी हमारी निसर्ग-सिद्ध मानवीयता का उन्मूलन कर बैठता है। साहित्य में प्रतिष्ठित सत्य निश्चित रूपेण लौकिक सत्य से महत्तर होता है। वह "मनुष्यता से उद्भूत होता हुआ भी मनुष्यता की नवीन व्याख्या करता है, अथच कभी-भी शक्तिशालिनी प्रतिभा के पावस से संयुक्त होकर लौकिक सत्य को आमूलचूल परिवर्तित कर देता है। सूर और तुलसी का सत्य इसी कोटि का है। काव्य के इस महत्त्वमय धर्म को विस्मृत कर दोनों तथा "कलात्मक संवेदना का मुख्य कार्य मानवता के सुख और दुःख, कष्ट और आनन्द के स्तोत्रों का निर्देश करना" + मान लेने से प्रखर-बुद्धि-सम्पन्न आलोचक भी ऐसी-ऐसी नवीन उद्भावनाएँ कर बैठते हैं जिनमें रीति काव्य एवं भक्ति-काव्य दोनों पर "नैतिक-सामाजिक जीवन से तटस्थ अतएव अपूर्ण" दोनों का अपराध साथ-साथ मढ़ा जाता है। सूर और तुलसी के काव्य, 'मेघदूत' तथा 'इन्दुमती स्वयंवर' के गायक एवं द्रौपदी जैसे पात्रों के स्रष्टा कवियों की स्पिरिट के सर्वथा प्रतिकूल है—यह अवश्य सत्य है, किन्तु उनको 'पलायन-प्रवृत्त' हर आश्रित बताना जीवन की समग्रता की अवहेलना करना है तथा समीक्षा-दृष्टि की एकाङ्गिता का द्योतक है। वास्तव में, 'रामचरित मानस' से "अपने प्रयत्नों द्वारा जीवन को पूर्ण बनाने की प्रेरणा" जिस परिमाण में उपलब्ध होती है उतनी 'इन्दुमती स्वयंवर' से नहीं; इसी प्रकार "जीवन-सम्भोग" की जितनी गाढ़ी लालसा कृष्ण-काव्य के शृङ्गार-मूलक चित्रणों से उत्पन्न होती है उतनी 'मेघदूत' से नहीं। 'जीवन निषेध' का 'चार्ज' एक विशिष्ट कोटि की रचनाओं पर ही आरोपित किया जा सकता है। अतएव, सूर और तुलसी ने 'हिन्दुओं की दुरवस्था के जो निदान' प्रस्तुत किए वे 'अयथार्थ और असाहित्यिक +' नहीं थे। प्रत्युत पूर्णतः काव्यात्मक एवं मानव-प्रकृति-सम्मत थे तथा उनमें जीवन के कटु यथार्थ के प्रति नैराश्य मूलक आत्म समर्पण की भावना नहीं थी अपितु लोक मानस को, एक महत्तर एवं पूर्णतर सौन्दर्य के उद्घाटन द्वारा, 'जीवन-संभोग' के लिए अनुप्राणित करने की मदनीय भावना थी। इसी कारण सूर और तुलसी का सत्य मनुष्यता का पोषक एवं उन्नायक है। +

जीवन को अपनी विचारणा का केन्द्र बनाने के कारण हमने अब तक 'सत्य' शब्द का ही अधिक प्रयोग किया है। किन्तु काव्य वा राग-मूलक साहित्य के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त शब्द 'सुन्दर' है। वास्तव में, मनुष्य के संवेदनात्मक अस्तित्व को झकझोर देने वाली भावना सुन्दर ही होगी। काव्य असुन्दर हो नहीं सकता। सौन्दर्य की वीथिका ही साहित्य की प्रकृत सञ्चरण-भूमि है। इस 'सुन्दर' की कसौटी होगी जीवन-सम्बन्धिनी एक नवीन-चेतना जो हमारे प्राण-कलश को आकण्ठ परिपूर्ण कर देगी तथा जिसका चरम परिणाम मानसिक उद्विग्नता कथमपि नहीं होगा। डा० रिचर्ड्स ने काव्य को अन्तर्वृत्तियों का समञ्जस सङ्गठन' कह कर काव्य-व्यवसायियों का उपकार ही किया है। आचार्य मम्मट ने 'कान्ता सम्मित-तयोपदेशयुजे' की व्यवस्था कर काव्य के अविच्छेद्य धर्म सौन्दर्य की ही प्रतिष्ठा की है। डा० देवराज को सन्देह है

+ डा० देवराज की पुस्तक 'साहित्य-चिन्ता' में 'साहित्य और संस्कृति' शीर्षक निबन्ध द्रष्टव्य।

कि डा० रिचउस के 'किसी विशिष्ट अर्थ में'—की भाँति आचार्य मम्मट भी काव्य की मानव-हित-साधन-प्रणाली के विषय में, अपने चिन्तन में सुस्पष्ट एवं सुनिर्णीत नहीं थे।‡ किन्तु, तथ्य इसके विपरीत है। साहित्य की नवीन चेतना सुन्दर बनकर ही लोक ग्राह्य हो सकती है।*

तथापि, 'कान्ता सम्मित सौन्दर्य के चयन में साहित्यकार का व्यक्तित्व, उसकी योग्यता विचारणीय बन जाती है। वर्तमान जागरण-काल की युग-सत्य वा युग-धर्म के नाम पर जो साहित्यिकता पनप रही है उसका अधिकांश प्रतिक्रियामूलक है तथा ऐसे अनधिकारी व्यक्तियों द्वारा सृष्ट हो रहा है जिन्होंने जीवन की विशाल गङ्गा के पुष्कल प्रवाह में डुबकी न लगा कर उसकी एक दो क्षुद्र उद्वेगजनक ऊर्म्मियों के ही प्रसारण-प्रचारण को अपना चरम कृतित्व समझ लिया है। वास्तविकता यह है कि साहित्यकार पृथ्वी पर भगवान शङ्कर का प्रतिनिधि है। लोक-कल्याण की महनीय भावना से अनुप्राणित होकर शङ्कर ने भयङ्कर कालकूट का पान कर लिया क्योंकि विष को ग्रहण करने की किसी अन्य देव में न कामना थी न सामर्थ्य। इसी प्रकार साहित्यकार अपने अनुभव समुद्र से प्राप्त कटुता, विषाद, क्षोभ, ग्लानि प्रभृति उद्वेगजनक तत्वों को पी जाता है, पचा लेता है तथा उसके अमृतांश को अपनी रचनाओं के माध्यम से 'सामान्य जीवन की मरुभूमि को अभिसिञ्चित करने के लिए शत शत धाराओं में प्रवाहित कर देता है। ऐसी रचनाओं से जो तृप्ति उपलब्ध होती है वह स्थायी होती है क्योंकि वह हमारे मर्म को स्पर्श करती है। सचाई तो यह है कि हम काव्य की शरण में जाते हैं इसलिए कि हमें कुछ अधिक ठोस, अधिक सारपूर्ण, अधिक मूल्यवान—एक शब्द में अधिक सुन्दर वस्तु प्राप्त हो सके। यदि सच्ची भावुकता और उद्विग्नता ही हमारा लक्ष्य हो तो फिर राजनीति या आधुनिक अर्थवाद के क्षेत्र ही हमारे उपसेव्य होने चाहिए।

अतएव हमारा मन्तव्य है कि नीर-क्षीर-विवेक साहित्य धर्मियों का प्रधान गुण होना चाहिए। युग-धर्म में भी सौन्दय का अन्वेषण किया जाता है, किया जाना चाहिए। किन्तु वह रहे सौन्दर्य ही। जीवन की अनुकृति, जीवन का प्रतिबिम्ब, साहित्य नहीं है, कृष्णता की अपेक्षा शुक्लता उसका अधिक धर्म है। 'प्रसाद' जी के राक्षस (चन्द्रगुप्त) की 'दुष्ट प्रतिभा' सरस्वती मन्दिर में पूजनीय नहीं बन सकती।

अतएव 'सुन्दर' बन कर आया हुआ 'सत्य' ही साहित्य में मानवता का शिव-विधायक हो सकता है। और इस शिव का स्वरूप होगा मनुष्य की उसकी अन्तर्निहित 'मनुष्यता' का दर्शन करा देना—अद्यावधि आदिकाल से काव्य इसी उद्देश्य की साधना करता चला आया है।

‡ उक्त पुस्तक में 'साहित्य का प्रयोजन' शीर्ष निबंध द्रष्टव्य।

* 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' में काव्य के अभिव्यक्तिगत का कलागत सौन्दर्य की भावना भी अन्तर्निहित है; किन्तु कोरी कला निपुणता प्रभविष्णु नहीं हो सकती, अतएव मम्मट का संकेत अनुभूति के सौन्दर्य की ही ओर अधिक मानना चाहिए। —लेखक

(पृष्ठ ४५६ का शेषांश)

का पञ्चम वर्ण रहता है उदाहरणार्थ क, ख, ग, घ के साथ ङ का संयोग होता है। परुषा वृत्ति में संयुक्त वर्णों का आधिक्य रहता है और ट वर्ग, र, श, ष और स वर्णों वाले शब्द अधिक होते हैं'।

प्रत्येक अर्थ-वृत्ति किसी न किसी विशिष्ट गुण, रीति और रस से अवश्य सम्बद्ध होती है। वृत्तियों के सहयोगी प्रायः इस प्रकार होते हैं—(१) भारती-वृत्ति में सब गुण, सब रीतियां और सब रस। (२) सात्वती-वृत्ति में ओज गुण, गौड़ी रीति और वीर रस। (३) आरभटी वृत्ति में ओज गुण, गौड़ी रीति और रौद्र-भयानक रस। (४) कैशिकी वृत्ति में माधुर्य गुण, वैदर्भी रीति और शृङ्गार रस।

अतः वृत्तियों की विवेचना में भरत मुनि की दृष्टि यदि काव्यात्मा की ओर है तो उद्भट की काव्य के शरीर की ओर। इन दोनों में यही मौलिक अन्तर है। इस अन्तर के स्पष्टकर्त्ता हैं आचार्य आनन्द वर्धन।

मानव समाज में काव्य का उदय

प्रो० हरिमोहन मिश्र, एम० ए०, साहित्याचार्य

काव्य का उदय क्यों और कब—यही यहाँ विवेच्य है। आगे बढ़ने के पहले काव्य क्या है यह स्थिर कर लेना मैं दो कारणों से आवश्यक नहीं समझता हूँ। पहला तो यह कि इसके लिए एक पृथक लेख की ही आवश्यकता है और दूसरा यह कि काव्य के एक सर्वमान्य लक्षण के अभाव में भी काव्य क्या है यह सामान्यतः सभी समझते रहे हैं। सुललित पद्यों में होने के कारण ही किसी ने लीलावती को काव्य नहीं माना और न गद्य में होने के कारण दशकुमारचरित को इतिहास। यहाँ मैं इतना ही कहकर आगे बढ़ता हूँ कि काव्य से मेरा तात्पर्य गीत, मुक्तक, खण्डकाव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास और कहानियों से है।

यद्यपि अरिस्टाटल के काल से ही काव्य पर सोचा-विचारा जा रहा है तथापि काव्य क्यों रचा जाता है इस प्रश्न पर आधुनिक युग में ही आकर मनोविज्ञान, मानव-विज्ञान और विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के नए-नए अन्वेषणों के कारण कुछ अधिक प्रकाश पड़ सका है। आधुनिक काल से पहले तक अरिस्टाटल का यह मत ही मान्य था कि काव्य और कला मानव की अनुकरण-प्रवृत्ति का परिणाम है। किन्तु उत्कृष्ट कोटि के काव्य का जन्म अनुकरण-प्रवृत्ति मात्र से ही संभव नहीं है।

विकास की आदिम अवस्था में पाए जाने वाले मानव-समूहों के सामाजिक सङ्गठन, भाषा, कथा, गीत और नाना प्रकार के विधि-निषेध आदि का अध्ययन कर कुछ मानव-विज्ञानी और समाज विज्ञानी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कला और काव्य का जन्म आदि मानवों की अभिचार क्रिया से ही हुआ है। ('मैजिक' के लिए मेरी समझ में अभिचार शब्द बिलकुल उपयुक्त है। 'जादू' शब्द 'मैजिक' के बहुत अंशों को अछूता छोड़ देता है।) उत्तरी और पूर्वी स्पेन की गुफाओं में जो विभिन्न जन्तुओं के चित्र पाये गए उनके अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि इन चित्रों के अङ्कन में आदि मानवों का यह विश्वास काम कर रहा होगा कि वे जिन जन्तुओं के चित्र खींचेंगे उनका शिकार अच्छी तरह से हो सकेगा अथवा वे किसी और तरह से उनके [आदिमानवों के] वशीभूत हो जायँगे। यही बात उनके गीतों और प्रार्थनाओं के सम्बन्ध में भी है। ये गीत एक प्रकार के अभिचार मन्त्र ही हैं जो रचे और गाए जाते थे कार्य विशेष की सिद्धि के लिए ही। अथर्ववेद के अभिचार-कल्प के मन्त्र ऐसे ही हैं। किन्तु ऋग्वेद के ऋषियों ने जो उषा आदि पर सुन्दर-सुन्दर कवितायें कीं उनकी सृष्टि में अभिचार क्रिया का हाथ किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध नासदीयसूक्त की रचना के पीछे अभिचार-प्रवृत्ति की खोज कहाँ तक सङ्गत है? आर० जी० कॉलिङ्गवुड ने अपनी पुस्तक 'द प्रिंसिपुल्स ऑफ आर्ट' में अभिचार कला और शुद्ध कला में भेद दिखाते हुए कहा है—ये विचारित उद्देश्य के साधन मात्र हैं, अतः शुद्ध कला नहीं अपितु शिल्प हैं। They are means to a preconceived end and are therefore not art proper but craft. [पृ० ६५] तो फिर यह कहना असङ्गत नहीं होगा कि अभिचार कलायें तथा शुद्ध कलायें दोनों दो हैं और दोनों की प्रेरणायें भी दो हैं।

मार्क्स द्वारा मानव समाज के इतिहास की आर्थिक व्याख्या करने पर मार्क्सवादी आलोचकों ने कला और काव्य के उद्गमस्थान की खोज अर्थ की कड़ी चट्टानों में शुरू की। क्रिस्टाफर काडवेल ने वेदान्तियों की नेति-नेति की पद्धति का अवलम्बन करते हुए यह कह कर ही दम लिया कि तो फिर काव्य न तो जातीय समझा जाना चाहिये और न राष्ट्रीय, नवांशुक और न मौलिक रूप से एक विशिष्ट वस्तु; किन्तु आर्थिक Poetry is to be regarded then, not as anything

racial, national, genetic or specific in its essence, but as something econo-mic. [इल्यूज़न एण्ड रियलिटी पृ० १६] । मार्क्सवादी आलोचकों का कहना है कि आदिम साम्यवाद के काल में मानव को आहार प्राप्ति के लिए प्रकृति से अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता था। प्रकृति से सङ्घर्ष सामूहिक रूप से ही सफलता पूर्वक हो सकता था। सामूहिक जीवन के सङ्गठन में सर्वाधिक हाथ भाषा का विशेषतः लययुक्त भाषा का ही है क्योंकि लययुक्त भाषा सामूहिक रूप से गेय होने के कारण सामूहिक रूप से कर्म करने को प्रेरित कर सकती है और सामूहिक भाव जगा सकती है। इस प्रकार प्रकृति से सङ्घर्ष करने के लिए सामूहिक साधन विशेष के रूप में ही काव्य का जन्म हुआ। इस मत में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि आर्थिक प्रेरणायें ही जीवन की एक मात्र मूल प्रेरणा नहीं है—यह मनोविज्ञान ने आज प्रमाणित कर दिया है। फिर मार्क्सवादियों का यह उपर्युक्त सिद्धान्त आदिम साम्यवाद कालीन मानव समाज के विश्लेषण पर ही आधारित है जिसके अस्तित्व का ही एच० जी० वेल्स ने विरोध किया है। उनका कहना है कि समाज विज्ञान में आदिम साम्यवाद शब्द से बढ़कर निरर्थक शब्द और दूसरा कोई नहीं है No more nonsensical exprssion is conceivable in sociology then the term 'Primitive communism'. [ए शोर्ट हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड पृ० २५.९]। हाँ, इतना अवश्य है कि कुछ लोक गीत विशेषतः धनकटनी आदि के गीत उपर्युक्त सिद्धान्त के सहारे अच्छी तरह से समझे जा सकते हैं।

काम-वृत्ति को ही जीवन की एकमात्र मूल-प्रेरणा मानने वाले फ्रायडवादी आलोचकों के अनुसार आनन्द-प्राप्त करने की मानव की शाश्वत अभिलाषा और जीवन की कठोर वास्तविकता में बाल्यावस्था से ही विरोध प्रारम्भ हो जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे Polarity of the pleasure principles and the Reality Principles कहते हैं। जो इच्छाएँ जीवन की वास्तविकता की चट्टान से टकरा कर लौट आती हैं वे मिटती नहीं किन्तु अवचेतन मन में छिपी रहती हैं और निकास खोजती रहती हैं। काव्य, कला तथा स्वप्न आदि कुछ ऐसे ही निकास हैं। कामवृत्ति को आज मनोविज्ञानियों की दृष्टि में आज एक मात्र प्रेरक शक्ति नहीं रही है, विलियम मैकडूगल ने स्नेह के विस्तृत क्षेत्र के एक मात्र अधिकारी के पद से भी इसे हटा दिया है। फिर भी इतना मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कुछ कलायें और काव्य इस सिद्धान्त के सहारे अच्छी तरह से समझे जा सकते हैं। 'निशा निमन्त्रण' जैसी कविताओं के नैश अन्धकार को फाड़ने में यह सर्चलाइट का काम देगा। विलियम मैकडूगल ने अपनी पुस्तक 'सोशल साइकोलॉजी' में Literary compositions which are used more or less deliberately in courtship (पृष्ठ ३४१) कह कर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

इस प्रकार हमने देखा कि उपर्युक्त सिद्धान्तों के द्वारा 'क्यों' का पूरा समाधान नहीं हो सका। काव्यकार के काव्य-रचना क्षणों के सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा भी इस प्रश्न का पूरा समाधान नहीं हो सकता। आइ० ए० रिचर्ड्स की यह चेतावनी कुछ अर्थ रखती है कि केवल रचनाओं के आधार पर कलाकारों के मन की अन्तः प्रक्रिया के अध्ययन का प्रयास खतरे से खाली नहीं है। ....the attempt to display the inner working of the artist's mind by the evidence of his work alone must be subject to the gravest dangers. [प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म पृ० २९] बात यह है कि कला-सृष्टि के क्षणों में कलाकार के मन में न केवल अनेक अनुभूतियाँ अपितु अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ काम करती रहती हैं। इनमें से किसी एक को चुनकर सिद्धान्त का भवन खड़ा करना खतरनाक तो है ही, साथ ही अनुभूतियों का यह चुनाव कलाकार के मानसिक पूर्वग्रह से अधिक समीक्षक के पूर्वग्रह को अभिव्यक्त करेगा। किन्तु काव्यकार यदि अपने रचना-क्षणों की अनुभूतियों के संबंध में कुछ कहे तो क्या उससे किसी तथ्य का पता

नहीं लग सकता है ? हिन्दी के मान्य कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है। ....मैं घण्टों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" [आधुनिक कवि -पृ० १]। इस उद्धरण के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से कोई एक ऐसी चीज हाथ नहीं आती जिसके सहारे यह तुरन्त बतला दिया जाए कि लीजिए यही काव्य सृष्टि का सिद्धान्त है। किन्तु किसी एक चीज का पकड़ में नहीं आना ही मेरी समझ में प्रश्न के समाधान का संकेत देता है। काव्य किसी एक ही प्रेरणा से उद्भूत हो सकता है, इस पूर्वग्रह के साथ प्रश्न का उत्तर ढूंढने वाला व्यक्ति एक विशेष प्रकार के काव्य के उद्भव का पता लगा सकता सकता है, किन्तु विश्व काव्य के उद्भव का पता नहीं। जीवन की जो भी प्रेरणाएँ हैं वे काव्य की प्रेरणाएँ हैं। काव्य को जीवन से पृथक करके नहीं देखा जा सकता है। परिस्थिति के प्रति चाहे वह प्राकृतिक हो या सामाजिक व भावात्मक प्रतिक्रिया होती है और उस भावात्मक प्रतिक्रिया की सफल अभिव्यक्ति होती है तब काव्य जन्म लेता है। भावात्मक प्रतिक्रियाओं के पीछे जो मनोवृत्तियाँ प्रेरक का कार्य करती हैं वे एक नहीं अनेक हैं तो फिर काव्य के पीछे किसी एक ही प्रेरणा की खोज असङ्गत नहीं तो और क्या है ? 'घण्टों ... एकान्त में बैठकर प्राकृतिक दृश्यों को एकटक' देखने वाला व्यक्ति यदि नक्षत्रों से मौन निमन्त्रण प्राप्त करे तो कौन बड़ी बात है और उस मौन निमन्त्रण की भाषा द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्ति करने में समर्थ होने के कारण—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में
जब संसार,
चकित रहता शिशु सा नादान।
विश्व के पलकों पर सुकुमार,
विचरते हैं जब स्वप्न अजान।
न जाने नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन।

कह कर अभिव्यक्त करे तो कोई बड़ी बात हो चाहे न हो, किन्तु वह कुछ ऐसा हो जाता है कि हम उसे 'कवि' कह कर पुकारने लगते हैं।

सर्वप्रथम काव्य-रचना कब हुई ? निश्चय ही भाषा के विकास के बाद। नीन्डरथल मानव के जिसका काल भू विज्ञानियों के अनुसार लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व है, अस्थिशेष के आधार पर मानव विज्ञानियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वह बोल नहीं सकता था। यह कहना असङ्गत नहीं होगा कि भाषा के विकास के पहले प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त किसी प्रकार की विचार पद्धति नाममात्र को ही रही होगी। आज से लगभग पच्चीस हजार वर्ष पूर्व से पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व तक भूमध्यसागर के निमग्न भू भागों में और उसके आसपास क्रोमैगनन मानव रहा करता था। इस समय तक भाषा का विकास हो चुका था, किन्तु तत्कालीन शब्दकोष में केवल संज्ञाएँ ही संज्ञाएँ रही होंगी और क्रो मैगनन मानव अपनी भाषा का उपयोग देखी-सुनी बातों के कथन से अधिक नहीं कर सकते थे। ये हड्डियों, सींगों और गुफा की दीवालों पर रेखाचित्र खींचते थे। कहा जाता है कि रेखा-चित्रण का विकास बच्चे की चुपचाप बैठे खरोंचते रहने की आदत से हुआ है। ये भी चट्टान पर चकमक से रेखायें खींचते होंगे और उन रेखाओं को किसी न किसी तरह का संकेत मानते होंगे। इनकी एक शाखा मैगडेलिनियन मानव ही विश्व के प्रथम कलाकार कहे जाते हैं। इस काल में उत्तरी स्पेन की अल्टामीरा गुफा में बैल, घोड़े मृग तथा जङ्गली सुअर के रङ्गीन चित्र पाये गए हैं जिनमें कुछ पूर्ण मान life size के हैं और अधिक स्पष्ट हैं। पूरबी स्पेन की गुफाओं में मानव चित्र भी पाये गये हैं।

आज से लगभग दस या पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व नवीन पाषाण युग के प्रारम्भ होने पर जो मानव थे वे क्रो मैगनन मानवों से और किसी अंश में भिन्न रहे हों चाहे नहीं किन्तु इनमें मैगडेलिनियन मानवों की कलात्मक प्रवृत्ति का एक दम अभाव था। हाँ, भाषा कुछ और विकसित हुई। संज्ञाओं के अतिरिक्त क्रियाओं का भी प्रयोग होने लगा। फलस्वरूप अभिव्यञ्जना शक्ति भी कुछ बढ़ी।

वृद्ध पुरुष, हिंसक पशु तथा भीषण प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिभय, माँ के प्रति स्नेह, प्रकृति के मोहक दृश्यों के प्रति आकर्षण; स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति आवेग पूर्ण दृष्टिकोण, संक्रामक रोग आदि से बचने के लिए अनेक प्रकार के निषेध और अभिचार क्रिया द्वारा शक्ति और सफलता प्राप्त करने की अभिलाषा का भाषा द्वारा विनिमय प्रारंभ हुआ और फलस्वरूप इन सबों की एक सुदृढ़ परम्परा भी स्थापित हो गई। इस काल में लोगों ने धनुष बाण बनाना जान लिया था, अतः यह अनुमान किया जाता है कि तार के वाद्य यन्त्र (वीणा आदि) भी रहे होंगे। चमड़े से मढ़े मिट्टी के ढोल तो थे ही। बाँसुरी भी थी। कुछ लोग गाना बजाने और गाने भी लगे थे। आरम्भ में उनका गाना गुनगुनाहट के रूप में ही रहा होगा। इन गीतों में कुछ तो अभिचार मन्त्र, कुछ मेघ, पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक शक्तियों की स्तुतियाँ और कुछ एक कुलवालों की दूसरे कुलवालों के साथ युद्ध में प्रदर्शित वीरता की गाथाएँ ही होती थीं। सामाजिक उत्सव के अवसर पर वाद्य और नृत्य के साथ ये गीत गाए जाते थे। बस यहीं काव्य का उदय मानना चाहिए। परन्तु लिपि के अभाव में आज तत्कालीन काव्य निरविशेष ही है।

ज्ञात अवशेषों में सबसे प्राचीन मिस्रियों द्वारा रची गई नील नदी की वह स्तुति है जो लगभग ३००० ई० पू० की है और इस समय ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है। यहाँ उसका कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है—"हे हापी (नील नदी के देवता) हम तेरी स्तुति करते हैं। तू इस भूमि में प्रकट होती हो और मिश्र को जीवन देने के लिए यहाँ शान्ति पूर्वक आती हो। रा (सूर्यदेव) द्वारा [illegible] को तू सींचती हो, सभी जन्तुओं को जीवन [illegible] देती हो, स्वर्ग से उतरकर तू भूमि को अनन्त जल राशि प्रदान करती हो।" ऐसा कहा जाता है कि Abydos passion play नाम का एक नाटक लगभग दो हजार ई० पू० मिस्र में रचा गया था। इस नाटक की कथा वस्तु यह है कि किस प्रकार ओसिरिस के अंग काट दिए गए थे और ये पुनः किस प्रकार उसकी बहन तथा पत्नी आइसिस द्वारा जोड़ दिए गए थे। किन्तु यह नाटक प्राप्त नहीं है। (वर्ल्ड ड्रामा—पृ० १)

भारत में आर्य ऋषियों ने जो स्तुतियाँ, गाथाएँ तथा कविताएँ रचीं वे १५०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक की हैं और उनका सुन्दर संग्रह ऋग्वेद में है। कक्षीवान् ऋषि उषा की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

> किसी छविमयी की छाती-सी उषा दिखाई देती है,
> नूतन स्तुतियों के गायक सी मानस को हर लेती है।
> सोने वालों को गृहिणी सी प्रात जगाती जाती है,
> आगामिनी उषाओं में वह शाश्वत है, अब आती है।
> देखो विस्तृत अन्तरिक्ष के अर्ध भाग में पूरब में,
> लहराई है बड़ी पताका गायों की जननी ने,
> दूर, दूरतर और दूरतम खूब फैलती जाती है,
> माता और पिता दोनों की गोद पूरती आती है।
> (ऋग्वेद १-१२४, लेखक द्वारा अनूदित)

पहली बार हमें सच्चे अर्थ में यहीं कविता के दर्शन होते हैं।

जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन अथवा नवीन पाषाण युग में भी व्यक्तिगत वीरता का अवकाश अच्छी तरह से था। एक कुल का कोई न कोई नायक होता या जिसके पीछे सभी चलते थे। वह नायक अवश्य सर्वाधिक शारीरिक शक्ति रखता होगा, अन्यथा उचित नेतृत्व नहीं कर सकने के कारण अपदस्थ हो सकता था। उसके शौर्य की पद्य बद्ध कथाएँ सामाजिक उत्सव के अवसर पर गाई जाती थीं। ऋग्वेद के सप्तमण्डल के अठा[illegible] [illegible] सूक्त का दाशराज्ञ युद्ध एक इसी प्रकार की गाथा है। इन नाराशंसी गाथाओं में से ही आगे चलकर कुछेक पर महाकाव्य रचे गए। वाल्मीकि रामायण, व्यास के महाभारत, होमर के इलियड तथा ओडिसी का निर्माण इसी प्रकार हुआ।

हम काव्य-वृत्तियाँ किन्हें मानें ?

प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, साहित्य-रत्न

काव्य कवि की भाव मयी वीणा है। कवि की भाँति ही काव्य को भी सप्राण माना गया है। इसलिए साहित्य-शास्त्रियों ने उसमें रस, गुण और वृत्तियों का अधिष्ठान मानव की भाँति माना है। प्रत्येक प्राणी की कोई विशेष वृत्ति हुआ करती है। 'वृत्ति' शब्द के मूल में 'वृत्' धातु है। इसमें 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'वृत्ति' शब्द की सिद्धि होती है, जिसके अर्थ स्वभाव, प्रकृति, जीविका, व्यवहार आदि हैं। एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखकर भौंकने लगता है। साँप पाँव से दबने पर काट लेता है। बन्दर अपना काम बनाने के लिए घुड़की दिया करता है। कुत्ते का भौंकना, साँप का काटना, और बन्दर की घुड़की स्वभावजनित क्रियायें हैं, अतः ये उनकी वृत्तियाँ मानी जायँगी। ठीक इसी तरह काव्य की भी वृत्तियाँ होती हैं।

काव्य के अन्तर्गत दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्य आजाते हैं। संस्कृत के आलोचकों ने दृश्य काव्य की उत्कृष्टता वर्णन करते हुए लिखा भी था—'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। श्रव्य काव्य को तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रबन्ध काव्य (२) निबन्ध काव्य (३) निबन्ध काव्य। प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत सभी महाकाव्य, खण्डकाव्य और एकार्थ काव्य भी हैं। निबन्ध काव्य का दूसरा नाम मुक्तक काव्य भी है। उपर्युक्त वर्गीकरण में निबन्ध काव्य और एकार्थ काव्य नाम नये-से हैं। ये अधिक व्यापकता प्राप्त नहीं कर पाये हैं। निबन्धकाव्य प्रबन्ध और मुक्तक का मध्यवर्ती है। महात्मा तुलसीदासजी की 'कवितावली' और जगन्नाथदास रत्नाकर का 'उद्धव शतक' हिन्दी में प्रसिद्ध निबन्धकाव्य है। गुप्तजी का 'साकेत' महाकाव्य तो नहीं कहा जा सकता, हाँ उसे हम कथानक और रचना-शैली की दृष्टि से एकार्थ काव्य नाम से अभिहित करें तो अधिक युक्ति-युक्त होगा।

चाहे दृश्यकाव्य हो चाहे श्रव्यकाव्य, वृत्तियाँ तो सभी में पाई जाती हैं। संस्कृत-साहित्य के आलोचकों एवं साहित्य शास्त्रियों में सर्व प्रथम भरतमुनि माने जाते हैं। उन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' में वृत्तियों का वर्णन किया है और उन्हें नाटक की मातायें माना है—'वृत्तयो नाट्यमातरः'। नाट्यशास्त्र और अलङ्कारशास्त्र में कौन प्रधान है? इसका उत्तर आचार्य भरत मुनि के अनुसार यही दिया जा सकता है कि नाट्यशास्त्र प्रधान है। आचार्य भरतमुनि नें अलङ्कारों का वर्णन अपने 'नाट्य-शास्त्र' में गौण रूप में ही किया है। अभिनय के चार (आङ्गिक, सात्विक, वाचिक और आहार्य) प्रकारों में अलङ्कारों को वाचिक अभिनय के अन्तर्गत मानकर लिखा गया है कि उपमा, रूपक, दीपक और यमक नाम के चार अलङ्कार नाटक के अङ्गभूत हैं। आगे चलकर ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी ने संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में अलङ्कार शास्त्र ने अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित कर लिया। उन अलङ्कार शास्त्रियों में भामह, दण्डी, उद्भट प्रसिद्ध हैं।

विष्णु को हम वैदिक देवता भी लें, तो यह हम निश्चित रूपेण कह सकते हैं कि शिव वैदिक देवता नहीं हैं। शिव अनार्य संस्कृति की देन हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति तो आर्य-अनार्य संस्कृतियों का समन्वयात्मक स्वरूप है। कालिदास (ईसा पूर्व प्रथम शतक में) के काव्यों में शिव की पूजा-आराधना का प्राधान्य है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र की रचना भी ईसा पूर्व २०० वर्ष से लेकर २०० ई० तक ही विभिन्न विद्वानों द्वारा पृथक-पृथक समय में मानी गई है।

भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में यह लिखा है कि वृत्तियाँ वेदों से उद्भूत हैं। उनका कथन है कि भारती वृत्ति का जन्म ऋग्वेद से है और इसके भेद प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख हैं। सात्वती वृत्ति का उद्गम यजुर्वेद से है। इसके भेद हैं—उत्थापक, परिवर्तक, संलापक और सङ्घात। अथर्ववेद से उत्पन्न आरभटी वृत्ति के भेद हैं संक्षिप्तक अवपात, वस्तूत्थापन

और स्फोट । सामवेद से उत्पन्न कैशकी वृत्ति के भेद नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्म स्फोट और नर्म गर्म हैं । आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय के १७ वें श्लोक मे यह व्यक्त किया है कि ब्रह्माजी ने चारों वेदों से मूलतत्त्व लेकर 'नाट्यवेद' की रचना की—

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"*

जब 'नाट्यवेद' चारों वेदों का सार है, तब नाट्य-मात्र वृत्तियों का उद्‌गम वेदों से ही माना जाना चाहिये । इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने वृत्तियों का उत्थान एवं उद्‌गम शङ्कर और विष्णु से भी माना है । भरतमुनि यदि वैष्णव मत को वृत्तिजन्म में प्रधान मानते हैं तो शैवमत की भी मान्यता उनकी दृष्टि में कम नहीं है । कैशिकीवृत्ति के दर्शन के सम्बन्ध में आचार्य भरतमुनि ने लिखा है:—

मृदङ्गहार सम्पन्ना रस भावक्रियात्मिका ।
दृष्टा मया भगवतः नीलकण्ठस्य नृत्यतः ॥"
—नाट्यशास्त्र अध्या १—४५

वृत्ति-जन्म के सम्बन्ध में आचार्य भरतमुनि का वैष्णवमत इस प्रकार है—बल-दर्प-उन्मत्त मधु और कैटभ नाम के असुरों ने शेष शय्या पर सोये हुए विष्णु को युद्ध के लिए आमन्त्रित किया । विष्णु नाभि पद्मस्थ ब्रह्मा जी ने विष्णु भगवान् को जगाया । तब भगवान् ने युद्ध-भावना से प्रेरित होकर जो-जो चेष्टायें कीं, उन्हीं से चारों वृत्तियों का जन्म हुआ ।

भगवान् विष्णु ने असुरों को मारने के लिए चलते समय जो पृथ्वी पर भार के साथ चरण रक्खा, उससे भारतीवृत्ति का जन्म हुआ । 'भारती' शब्द के मूल में 'भार' अन्तर्निहित है । जब उन्होंने बलपूर्वक बाहु-विक्षेप किया तब सात्वती की उत्पत्ति हुई । 'सत्व' का अर्थ बल है । जब अङ्ग सञ्चालन के साथ भगवान् ने अपने केश बाँधे तब कैशिकीवृत्ति उत्पन्न हुई । 'केश' में 'ठक्' प्रत्यय के योग से स्त्रीलिंग रूप में 'कैशिकी' शब्द बनता है । जब दोनों असुरों का वध करने के लिए पदान्तर के साथ उन्होंने वीरतापूर्ण प्रहार किये और अपना योद्धा-रूप पूर्णतः व्यक्त किया तब आरभटीवृत्ति का जन्म हुआ । 'आरभट' का अर्थ युद्ध ही है ।

भारतीवृत्ति+ का सम्बन्ध भरतमुनि करुण और अद्‌भुत रसों से मानते हुए भी दूसरे रूप में उसका सम्बन्ध रौद्र और भयानक रसों से भी स्थापित कर देते हैं । उनका कथन है कि 'भारती' वाणी का पर्याय है । भगवान् ने जब मधु-कैटभ का संहार किया तो प्रारम्भ के समय उन्होंने अद्‌भुत करुणाजनक वाणी द्वारा चीत्कार किया । अतः भारतवृत्ति में अद्‌भुत और करुण रस ही सन्निहित है । फिर आचार्य भरतमुनि यह भी कह देते हैं कि भगवान् विष्णु ने अपने पाँव का जो भार पृथ्वी पर डाला, उससे भारतीवृत्ति का जन्म हुआ । इसमें रौद्र और भयानक रस निहित हैं । इस तरह भरतमुनि की भारती-वृत्ति करुण, अद्‌भुत, रौद्र और भयानक चारों रसों से ही सम्बन्ध रखती है । दशरूपककार धनञ्जय 'भारती' में सब रस मानता है —'वृत्तिः सर्वत्र भारती" ।

भरत मुनि के मतानुसार सात्वती का सम्बन्ध शान्त और वीर से, कैशिकी का शृङ्गार और हास्य से तथा आरभटी का अद्‌भुत और रौद्र से है । रसों के विषय में भारती और आरभटी कुछ कुछ मिल जाती हैं ।

ईसा की दशवीं शती के धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक'

---

* 'जग्राह पाठ्यम् । में आये हुये 'पाठ्य' शब्द का अर्थ कीथ के अनुसार Recitation है । स्वर्गीय पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने 'संस्कृत साहित्य की रूप रेखा' पुस्तक में पाठ्य का अर्थ 'संवाद' किया है । कुछ विद्वान पाठ्य का अर्थ 'कथानक' करते हैं । ऋग्वेद में अनेक मन्त्र संवाद के रूप में हैं । यम-यमी और पुरुरवा-उर्वशी के संवाद बहुत प्रसिद्ध हैं । 'पाठ्य' का अर्थ 'संवाद' ही अधिक समीचीन है ।

+ धनञ्जय ने दशरूपक में भारतीवृत्ति का सम्बन्ध संस्कृत भाषा और नटों से बताया है—

"भारती संस्कृत प्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।"
१ प्रकाश ३—५

साहित्य दर्पणकार ने भारतीवृत्ति को 'नटाश्रय' के स्थान पर उसे 'नराश्रय' बतलाया है ।

में रस और वृत्तियों का सम्बन्ध इस प्रकार दिखाया है—

"शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥"

—दशरूपके प्रकाश २-६२

ईसा की १३ वी शताब्दी में शारदा तनय ने अपने ग्रन्थ 'भाव प्रकाशन' में वृत्तियों का सम्बन्ध श्रव्य काव्यों से स्थापित करते हुए लिखा है कि—जब चतुरानन ब्रह्मा ने शिव पार्वती को नृत्य करते हुए देखा तब उनके चारों मुखों से पृथक-पृथक रूप में चार वृत्तियाँ उत्पन्न हुई— (१) शृङ्गार-रस पूर्ण कैशिकी वृत्ति पूर्व के मुख से (२) रौद्ररस पूर्ण आरभटी पश्चिम के मुख से (३) बीभत्स रस-पूर्ण भारती उत्तर के मुख से (४) वीर रस पूर्ण सात्वती दक्षिण के मुख से। अतएव हम कह सकते हैं कि शारदा-तनय वृत्ति-जन्म के सम्बन्ध में पूर्णतः शैवमत के अनुयायी हैं।

ईसा की ८ वीं शताब्दी में आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार-सग्रह' में उपनागरिका, परुषा और ग्राम्या (कोमला) नाम की तीन वृत्तियाँ बताई थीं। फिर वामन ने 'काव्यालङ्कार सूत्र' में वृत्तियों के स्थान पर समासान्त पदावली की दृष्टि वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली नाम की रीतियों का उल्लेख किया। जब उद्भट और वामन में नाम करण का भेद देखा गया, तब सन् १०५० ई० में मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में वृत्तियों और रीतियों का नाम-रूप विवाद मिटाने के लिए लिखा कि—"वामन ने उपनागरिका, परुषा और कोमला को ही क्रमशः वैदर्भी गौड़ी और पाञ्चाली कहा है"। इस तरह मम्मट ने उद्भट की वृत्तियों और वामन की रीतियों को मूल में एक हा सिद्ध कर दिया है।

साहित्य-दर्पणकार पंडित विश्वनाथ के मतानुसार हम कह सकते हैं कि गुण, रीति, अलङ्कार आदि का मूलतः रसों से ही सम्बन्ध है। गुण रस के ही धर्म हैं—"रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः"—(साहित्य-दर्पणे—नवमः परिच्छेदः) रीतियाँ काव्य में शोभा तो उत्पन्न कर देती हैं परन्तु उसे बढ़ाती नहीं हैं। किन्तु अलङ्कार उत्पन्न शोभा को वृद्ध किया करते हैं। रस न होने पर अलङ्कार अलङ्कार नहीं कहे जा सकते। वे केवल वैचित्र्यमात्र हैं। जिस छन्द या वाक्य में रस नहीं वहाँ गुण, रीति और अलङ्कार व्यर्थ हैं। उनका वहाँ कोई मूल्य नहीं। विश्वनाथ के पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन का भी यही कथन है कि शब्द वृत्ति, अर्थवृत्ति, रीति आदि सब रसों पर ही निर्भर हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि काव्य की वृत्तियों के नाम भरत मुनि के अनुसार भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी माने जाने चाहिए अथवा उद्भट के अनुसार उपनागरिका, परुषा और कोमला।

इसका एक सुगम-सा उत्तर यह है कि भरत-मुनि के द्वारा लिखित चार वृत्तियाँ तो नाट्य-वृत्तियाँ हैं और उद्भट के द्वारा वर्णित तीन वृत्तियाँ श्रव्य-काव्य-वृत्तियाँ हैं। परन्तु इस उत्तर में एक त्रुटि यह रह जाती है कि भरत-मुनि द्वारा वर्णित वृत्तियाँ भी तो श्रव्य काव्य में हो सकती हैं।

वृत्तियों के इस विवाद को ध्वन्यालोककार आनन्द वर्द्धनाचार्य ने बहुत कुछ मिटा दिया है। उनका कहना है कि भारती, सात्वती कैशिकी और आरभटी काव्य के रस और अर्थ से सम्बन्ध रखती हैं, अतः ये अर्थवृत्तियाँ हैं। उपनागरिका परुषा और ग्राम्या (कोमला) शब्द तथा वर्णों से सम्बन्ध रखती हैं, अतः ये शब्द वृत्तियाँ हैं।

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत के ४८ वें श्लोक में आनन्द वर्द्धनाचार्य ने भरत की चारों वृत्तियों को 'अर्थाश्रितवृत्ति' कहा है और उद्भट की उपनागरिका आदि को 'शब्दाश्रित वृत्ति बतलाया है:—

"शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थ तत्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे॥"

—ध्वन्या—३-४८

इस तरह ध्वन्यालोककार ने दोनों प्रकार की वृत्तियों को बताते हुए उन्हें 'ध्वनि' के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया है।

उद्भट ने जिसे ग्राम्या वृत्ति कहा है उसे अन्य आचार्यों ने 'कोमला' भी बताया है। उद्भट का कथन है कि ग्राम्या वृत्ति में ल, क, और र वर्णों का बाहुल्य होता है। उपनागरिका में प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक वर्ग के साथ उस वर्ग

(शेष पृष्ठ ४८६ पर देखिए)

घनआनन्द और उनका काव्य

श्री रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०

हिन्दी साहित्य के इतिहास में घनआनन्द का स्थान रीतिकाल में आता है। इस काल में थोड़े-बहुत अन्तर से इस नाम के तीन कवि हुए हैं; और तीनों को एक ही समझे जाने का भ्रम काफी समय तक रहा है। पर वास्तव में यह तीनों नामराशी कवि पृथक पृथक व्यक्ति थे। पहले घन आनन्द नन्दगाँव वासी थे और उनका काल सोलहवीं शती का उत्तरार्ध था, दूसरे घनआनन्द जैन थे और उनका काल सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध था और तीसरे घनआनन्द वृन्दावन वासी थे और उनका काल अठारहवीं शती का उत्तरार्ध था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान प्राप्त करने वाले रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि घनआनन्द वृन्दावन वासी घनआनन्द ही थे। इनका जन्म संवत १७४६ के लगभग हुआ था। शुक्लजी के अनुसार ये संवत १७९६ में नादिरशाही में मारे गये थे पर अब जो इधर नवीन सामिग्री प्राप्त हुई है उससे उसकी पुष्टि हो जाती है कि आनन्दघन जी का निधन मथुरा में ही हुआ था और ये नादिरशाही के आक्रमण में न मारे जाकर अहमदशाह के आक्रमण में मारे गये। अहमदशाह अब्दाली ने एक बार सन् १७५७ (संवत १८१३) और दूसरी बार सन् १७६१ (संवत १८१७) में मथुरा पर आक्रमण किया था। घनआनन्द जी का निधन दूसरी बार के आक्रमण में ही हुआ था। नादिरशाही के आक्रमण के बाद की तो उनकी रचनायें और जीवन वृतान्त का भी पता चलता है। अस्तु दूसरा मत ही सही ठहरता है। 'मुरलिका मोद' के अन्त में उनका स्वयं का लिखा एक पद भी यही सिद्ध करता है कि वे नादिरशाही के पश्चात् भी जीवित थे—

"मासमाह श्री कृष्ण-पक्ष, रुचि ।
संवत्सर अठानवे अति रुचि ।।"

उनके उपलब्ध जीवन वृतान्त से ज्ञात होता है कि वे कायस्थ जाति के थे और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि गाते बड़ा सुन्दर थे। एक बार बादशाह ने कुछ दरबारियों के सुझाने पर इनसे गाने को कहा पर उनके कहने को ये टाल गये। पर जब दरबार की एक वेश्या सुजान ने गाने का उनसे आग्रह किया तो उन्होंने गाना सुनाया। वह उनके बनाये पद गाया करती थी। इस बात पर बादशाह ने क्रोधित होकर इन्हें शहर-निकाला दे दिया। ये वृन्दावन चले आये, और निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव भक्त हो गए; और जीवन भर वहीं रह कृष्ण-भक्ति के गीत गाते रहे। कहा जाता है कि ये सुजान को बहुत प्यार करते थे। बाद की कविताओं में भी उसका नाम बराबर आता रहा है। उसे सम्बोधन कर इन्होंने अनेक रचनायें भी की हैं। सम्भवतः सुजान के प्रति उनका लौकिक प्रेम आलौकिक प्रेम का सम्बल बन गया था।

काफी समय तक उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद और भ्रम रहा है। पर्याप्त खोज के बाद उनके जो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उन्हें पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस प्रकार गिनाया है—१–सुजानहित, २–कृपाकन्द निबन्ध, ३–वियोगी बेलि, ४–इश्कलता, ५–यमुना-यश, ६–प्रीति-प्रवास, ७–प्रेमपत्रिका, ८–प्रेम-सरोवर, ९–व्रज-विलास, १०–रसवसन्त, ११–अनुभव चन्द्रिका, १२–रंगबधाई, १३–प्रेम-पद्धति, १४–वृषभानुपुर-सुषमा, १५–गोकुल गीत, १६–नाममाधुरी, १७–गिरिपूजन, १८–विचार-सार, १९–दानघटा, २०–भावना-प्रकाश, २१–कृष्ण-कौमुदी, २२–धाम-चमत्कार, २३–प्रिया-प्रसाद, २४–वृन्दावन-मुद्रा, २५–व्रजस्वरूप, २६–गोकुल-चरित्र, २७–प्रेम-पहेली, २८–रसना यश, २९–गोकुल-विनोद, ३०–व्रज प्रसाद, ३१–मुरलिका-मोद, ३२–मनोरथ-मञ्जरी, ३३–व्रज-व्यवहार, ३४–गिरि-गाथा, ३५–

व्रज-वर्णन, ३६–छन्दाष्टक, ३७–त्रिभंगी छन्द, ३८–कवित्त-संग्रह, ३९–स्फुट, ४०–पदावली, ४१–परमहंस वंशावली।

इन कृतियों के अतिरिक्त बिहार उड़ीसा रिसर्च-जनरल से घन आनन्द द्वारा लिखित फ़ारसी मसनवी का भी उल्लेख है, पर वह अभी तक प्राप्त नहीं है। जिस व्रज-वर्णन का उल्लेख छतरपुर वाले संग्रह में है वह भी अभी तक अप्राप्य है। पर सम्भवतः व्रज-वर्णन और व्रज-स्वरूप एक ही ग्रन्थ हो। अब भी उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में खोज की आवश्यकता है।

घनाआनन्द रीतिकाल के कवियों की अगली पंक्ति में से स्थान रखते हैं। रीतिकाल नाम उस काल की कविता की लक्षणबद्ध परिपाटी के कारण पड़ा है। पर यह नाम भ्रामक है। रीतिकाल में कुछ कवि तो ऐसे थे जो कविता को काव्य-लक्षणों, अलङ्कार, छन्द, पिंगल आदि की सीमा में बाँध देना चाहते थे। उन्होंने कविता को लक्षणग्रन्थों की रचना का एक साधन बना दिया था और उनके काव्य-ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थों की कोटि में ही आते हैं।

पर एक सच्चा कलाकार अपने को एक सीमा में नहीं बाँध सकता। न शैली की दृष्टि से ही, और न भावों की दृष्टि से ही। यह कथन आज जैसा सत्य है वैसा ही उस काल भी सत्य था। घन आनन्द, रसखान, ठाकुर, बोधा बिहारी आदि ऐसे कवि थे जिन्होंने कविता को लक्षणों की जकड़ से मुक्त कर उसे निर्जीव होने से बचाया। ठाकुर ने लक्षण-बद्ध कविता को 'डेल' कहकर उसका मखौल उड़ाया है—

"ठाकुर कहत भावी बड़ी है कठिन बात,
 याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल तो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
 लोगन कवित्त को तो खेल करि जानौ है॥"

घनानन्द का ऐसे कवियों में सर्वोत्कृष्ट स्थान है, जिन्होंने काव्य कला को एक ओर प्राञ्जल रूप दिया, उसे परिमार्जित किया और उसके गठाव में प्रवाह उत्पन्न किया और दूसरी ओर उसे अनल भावों की सरल और सहज अभिव्यक्ति का साधन बनाया। वह काव्य कला जो आचार्य केशव जैसे लक्षण बद्ध काव्य कला के पच्चकारों के हाथ निर्जीव हो चली थी। और अलङ्कार तथा छन्द आदि की मीनाकारी और पच्चीकारी की ओर पाण्डित्य प्रदर्शन की वस्तु बन चला थी; घनआनन्द के हाथों उसे सहजता, सरलता, सजीवता, प्राञ्जलता और भावों की अभिव्यक्ति की सक्षमता प्राप्त हुई। रीतिकाल काव्य-कला के विकास के लिए प्रसिद्ध है। उसकी प्रसिद्धि इन्हीं कवियों के कारण है। वास्तव में इन्हीं कवियों ने काव्य-कला का निखार कर उसे शुभ्रता प्रदान की थी। घन-आनन्द ने निर्जीव डेलवत् लक्षणबद्ध कविता-धारा से अपने को प्रथक करते हुए स्वयं लिखा है—

'तीछन ईछन बान बखान सों,
 पैनी दसान लै सान चढ़ावत।
प्रानीन प्यारे भरे अति पानिय,
 मायल घायल चोप चढ़ावत।
यों घनआनन्द छावत भावत,
 जान सजीवन ओर तें आवत॥
लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
 मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत॥"

यह कविता में कितने तल्लीन रहते थे, उनका हृदय काव्य-रस में कितना ऊब-डूब हो गया था, यह 'मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत' से स्पष्ट हो जाता है। कविता इनके लिए पाण्डित्य-प्रदर्शन की वस्तु नहीं थी; वरन् उनके हृदय में उठने वाली मरोड़ों और भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति थी। इनके भाव ही वाणी रूप में विस्तृत हो कर सहज रूप से काव्य कला बन गए थे। इसीलिए इनके काव्य की बड़ी विशेषताएँ हैं—हृदयगत भावों को सम-वेदनीय सरल, सहज रूप में अभिव्यक्ति। इसीलिए इनकी कविता में भाव और कला एक दूसरे पर हावी नहीं वरन् एक दूसरे के सहज सहायक हैं और तभी कविता में सहजता, मधुरिमा, सरलता और प्रवाह शीलता तथा हृदय की संमवेदनीय पकड़ है। अन्य लक्षण बद्धता-प्रधान कवियों की भाँति अलङ्कार आदि कला प्रसाधन इनकी कविता को अपने भार से दबा नहीं लेते वरन् उसके सहज सौन्दर्य वर्धक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

इनका काव्य निर्जीव लक्षण बद्धता से मुक्त कला के सहज उत्कृष्ट रूप का काव्य है जिसमें कला भावों की सफल और सत्य अभिव्यक्ति का साधन बनती है। दोनों का सुन्दर संयोग होता है।

इनकी कविता को एक शब्द में शृङ्गार-रस की कविता कहा जा सकता है। शृङ्गार-रस में भी वियोग-शृङ्गार ही प्रधान है। शृङ्गार-रस के आलम्बन हैं राधा और कृष्ण तथा गोपियों का प्रेम, संयोग और वियोग।

भक्ति काल की कृष्ण भक्ति रीतिकाल में आते-आते घोर शृङ्गार में रङ्ग गई थी। भक्ति के आलम्बन कृष्ण शृङ्गार के नायक बन गए थे। कृष्ण भक्ति का यह शृङ्गारी रूप क्यों और कैसे हुआ, यह पृथक लेख का विषय है; किन्तु फिर भी यहाँ इतना कह देना संगत होगा कि कृष्ण आरम्भ से ही प्रेम के नायक रहे हैं। भागवत् से ही उनका यह रूप चला आ रहा था। सूर में भी यही रूप रहा, पर सूर काव्य में भक्ति और शृङ्गार का सन्तुलन नहीं बिगड़ने पाया था; रीतिकाल तक आते आते वह सन्तुलन न रह सका और उस पर सामन्ती वासनामय शृङ्गार भावना का आरोप हो गया और अनेक वासना युक्त शृङ्गार रूपों सुरति, विपरीत रति, समागम आदि केलि क्रीड़ाओं, और नायिका भेद आदि का वर्णन काव्य के विषय बन गए। राधा-कृष्ण और गोपियों का अलौकिक प्रेम लौकिक मांसल प्रेम की अभिव्यक्ति का आधार बन गया। रीतिकाल के सभी कवियों का काव्य विषय यह शृङ्गार ही रहा है। भूषण अवश्य एक अपवाद है पर उनकी भी आरम्भिक कविताएँ शृङ्गार की ही हैं।

रीतिकाल से पूर्व कविता प्रायः भक्तों और फकीरों की ही वस्तु थी; परन्तु रीति काल में उसे दरबारी प्रश्रय भी प्राप्त हुआ और भक्त और फकीरों के स्थान पर कवि दरबारी होने लगे, और कविता सामन्तों के मनोरञ्जन की वस्तु बन गई। परिणामतः उसमें सामन्तों की अभिरुचि के अनुकूल वासनामयी शृङ्गारिकता आना नितान्त स्वाभाविक ही था। और फिर भक्ति में भी शृङ्गारिक विकृति आ गई थी। उसने भी काव्य में शृङ्गारिकता को बल प्रदान किया और राधा-कृष्ण की भक्ति के नाम पर घोर शृङ्गार की कविता होने लगी। कृष्ण ही के नाम पर यह सब क्यों हुआ, राम के नाम पर क्यों नहीं? क्योंकि आरम्भ से ही कृष्ण का रूप उन्मुक्त प्रेमी का रूप रहा है और राम का मर्यादित। अस्तु शृङ्गार रीतिकाल की सामान्य भावगत प्रवृत्ति थी।

ऐसे कवियों की कविता जो दरबारों के प्रश्रय में थे अधिक पाण्डित्य प्रदर्शन-प्रधान थी और अधिक शृङ्गारी थी। पर उस काल ऐसे भी कवि थे जो दरबारी प्रश्रय से बाहर रहकर कविता करते थे। जैसा हमने पहले कहा उस काल में शृङ्गार रस तो सभी का सामान्य रस था; पर दरबारी प्रश्रय से मुक्त कवियों की कविता में शृङ्गार-रस का वासना पक्ष अपेक्षया कम है, फलतः शृङ्गार की शारीरिक भंगिमाओं की अपेक्षा उनसे हृदय गत भावों की मूर्तिमत्ता अधिक है।

घन आनन्द स्वतन्त्र व्यक्तित्व के व्यक्ति थे और जैसा हम ऊपर कह आए हैं—उन्होंने कविता की लक्षणबद्ध परम्परा से मुक्त सरल कला रूपों से अपनी कविता कामिनि को सजाया था उसी तरह उन्होंने अपनी कविता को वासनात्मक शृङ्गार से भी अलग रखा और बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य का ही अधिक वर्णन किया है। उनके काव्य में नायक नायिका के बाह्य सौन्दर्य शारीरिक चेष्टाओं और भङ्गिमाओं का विद्यापति, और बिहारी की तरह वर्णन नहीं मिलता। यदि भंगिमाओं का वर्णन है तो उसकी जनक भावनाओं के साथ ही उनका वर्णन हुआ है। उससे उनके काव्य में एक अनोखा पन और हृदयग्राहिता आगई है—

"माधुरी गहर, उठै लहर-लुनाई, जहाँ,
कहाँ लौं, अनूप रूप-पानिप बिचरियै।
आरसी जौं सम दीबै बूझ कौं अलभ्य कीजै,
आछे अंग हेरि-फेरि आपौ न निहरियै।
मोहनी की खानि है समाय ही हैंसनि जाकी,
लाड़िली लसनि ताकी प्रबनते प्यारियै।
रीझौ रीझ भीजै घन आनन्द सुजान मद,
वारियै कहा संकोच सोचन ही हारियै।"
प्रेमातिरेक से हिल्लोलित हृदय की साक्षी अङ्ग दे रहे

देते हैं। भाव तथा विभाव दोनों का ही कितना सुन्दर चित्र नीचे के उद्धरण में उपस्थित हुआ है। एक-एक शब्द अपने में निहित भावों की व्यञ्जना करता है। शब्द चुनाव भी और गठन भी अनुपम है। अलङ्कारों का प्रयोग कविता के सहज सौन्दर्य को प्रगट करने वाला है। अनुप्रास का सुन्दर प्रयोग है—

लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाव भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छवि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुस्क्यानी मैं।
दसन-दमक फैली हिये मोती-माल होति,
पिय सों लड़कि प्रेम-पगी बतरानि मैं।
आनन्द की निधि जगमगाति छबीली बाल,
अगनि अनङ्ग रङ्ग दुरि मुरि जानि मैं।"

इनके काव्य में यद्यपि शृङ्गार के दोनों पक्षों में संयोग और वियोग का वर्णन हुआ है किन्तु वियोग पक्ष में ही इनके काव्य-कौशल तथा हृदय की भावुकता के अधिक दर्शन होते हैं। इनका वियोग वर्णन भी रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति बाह्य पक्ष निरूपक नहीं है और न उसमें ऊहा की प्रधानता है, वरन् विरह विदग्ध हृदय की सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। उसमें भी विरह-जनित अन्तर्भावों का ही वर्णन प्रधान है। इसी कारण उसमें संवेदनीयता अधिक है—

"लहकि लहकि आवै ज्यों ज्यों पुरवाई पौन,
दहकि दहकि त्यों त्यों तन तांवरे तचै।
बहकि बहकि जात बदरा बिलोकें हियो,
गहकि गहकि गहबरनि हियें मचै।
चहकि चहकि और चपला चखनि चाहैं,
कैसे घन आनन्द सुजान बिन ज्यों बचै।
महकि महकि मोर पावस प्रसून-बास,
आसनि उसास दैया कौ लौं रहियै अचै॥"

उपरोक्त उद्धरण में विरह दशा का मार्मिक वर्णन है। लहकि लहकि, दहकि दहकि, बहकि बहकि, गहकि गहकि, चहकि चहकि, महकि महकि शब्द अपनी विशेषताओं के द्वारा भावों की सत्य अभिव्यक्ति करते हैं। इनके काव्य में ऐसे शब्द चित्रों के अनेक उदाहरण हैं।

घन आनन्द के विरह में हलकापन नहीं है, उसमें सागर की सी गम्भीर गहराई है और लहरों की सी मोज है जो अन्दर ही अन्दर उठती है जिसकी कसक और टीस मिटने नहीं पाती उनका विरह मौन है—

"मौन हूँ सों देखिहौं कितेक पन पालि हौं जू,
कूक भरी मूकता बुलाय आप बोलि है।"

घनआनन्द को विरह की अपनी 'कूक भरी मूकता' पर बड़ा विश्वास था। वियोग जनित दशाओं का जहाँ वर्णन है वह भी बड़ा ही मार्मिक और चित्रोपम है। प्रथम पंक्ति में उपालम्भ की कितनी सरल उक्ति है—

"लै हि रहे हौ सदा मन और को,
दैबो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपने हूँ कहूँ दुख,
त्यागे सकोच औ सोच सुखारे।
कैसो संजोग वियोग धौं आहि !
फिरौ घन आनन्द ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तब ही जब,
होहु घरीक हूँ आप ते न्यारे॥
खोय दई बुधि, सोय गई सुधि,
रोय हँसे उन्माद जग्यौ है।
मौन गहै, चकि चाकि रहै, चलि बात कहै,
तें तन दाह दग्यौ है।
जानि परै नहिं जान ! तुम्हें लखि,
ताहि कहा कछु आहि खग्यौ है।
सोचनि ही पचियै घन आनन्द,
हेत पग्यौ किधौं प्रेत लग्यौ है।

घनानन्द का भाव पक्ष प्रशान्त और गम्भीर है। उसमें हलकापन और छिछोरापन नहीं है और न उसमें अश्लीलता ही आ पाई है। वह हृदय की सत्य अभिव्यक्ति है।

इनकी कला लक्षणबद्धता की दुरूहता से मुक्त सहज और सरल थी, उसका विश्लेषण हम पहले कर आये हैं सहजता और सरलता के साथ ही उसमें उत्कृष्ट कला है यही उसकी श्रेष्ठता है, अपूर्वता है। इनकी कविता कला-

प्रसाधनों में दब नहीं गई है वरन् और सजीव हो उठी है और वह भावों की अभिव्यक्ति में सहायक हुई है।

उनकी कविता में शब्द योजना बड़ी अनूठी है। शब्द भावों की व्यञ्जना कर सजीव चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। शब्दों में गठाव और प्रभाव है, और उनमें चित्रोमयता और ध्वन्यात्मकता है—

"निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी,
रङ्ग-भरी मुरि चाहन की।
तकि मोरनि त्यों चखि ढोरि रहैं,
ढरिगौ हिय ढोरनि बाहनि की॥
चट दै कटि पै बट प्रान गए,
गति सों मति मे अवगाहनि की।
घन आनन्द जान लख्यौ,
जब तें तक लगियै मोहि कराहनि की॥

नायक नायिका की ओर चाह से भर कर मुड़ मुड़ कर देखता जा रहा है और आगे बढ़ता जा रहा है। जब नायक ने जाते जाते नायिका की ओर मुड़ कर चाह भरे नेत्रों से देखा तो नायिका का हृदय उसकी ओर पानी की भाँति ढलक गया। नायक प्रियतम कटि पर बल देकर अर्थात् मुड़ कर ऐसी गति से चला गया जो नायिका के हृदय में घर कर गई, और जब से उसने उसका जाना लखा तभी से वह उसके वियोग में कराह रही है। उपरोक्त उद्धरण में उस चाह का एक सजीव चित्र सा उपस्थित हो जाता है। पीछे हम एक उदाहरण दे आए हैं— 'लाजनि लपेटी चितवन भेद-भाय भरी........" उसमें भी अपूर्व चित्रोपमता है।

इन्होंने नये चलताऊ शब्दों के कुछ बड़े सुन्दर और अनूठे प्रयोग किए हैं जिनसे अनोखी भाव रूपता है—

"लोचन दुराय, कछु मृदु मुसक्याय, नेह—
भीजी बतियानि लड़काय बतराय हौ।"

* * *

"बड़े मुसक्यानि बड़े, मृदु बतरानि, बड़े
लड़कीली बानि आनि उर मैं अरति है।"

* * *

"लेहि रहे हौ सदा मन और को
दैबो न जानत जान दुलारे।"

* * *

"कालिह इहि गलो अली विकस्यौं अचानक-लै"
कहा कहौं अटक भटक, तिहि काल की।"

उक्ति वैचित्र्य भी इनका अपना अनूठा है और उसमें भी एक सरलता और स्वाभाविकता है—

"अरसानि गही वह बानि, कछू
सरसानि सों आनि निहोरत है।"

कृष्ण साहित्य में पाती प्रसङ्ग का प्रायः सभी कवियों ने वर्णन किया है। घनआनन्द ने पाती प्रसङ्ग का बड़े अनूठे ढङ्ग से वर्णन किया है—

"पाति मधि छाती छत लिखि न लिखाये जाहिं,
काती लै बिरह घातो कीने जैसे हाल हैं।
आँगुरी बहकि तहिं पाँगुरी किलकि होति,
ताती राती दसनि के मल ज्वाल माल हैं।
जानै प्यारे जोडब कहूँ दीजियै संदेसो तोडब,
आवा सन कीजियै जु कान तिहि काल हैं।
नेह भीजी बातैं रसना पर उर आंच लगे,
जागैं घन आनन्द ज्यों पुंजनि मसाल हैं।

उपरोक्त उद्धरण से रेखाङ्कित पंक्तियों में सुन्दर और अनूठे प्रयोगों और उक्ति वैचित्र्य के उदाहरण हैं।

उक्तियों की पूरे पद में साङ्गोपाङ्ग योजना के भी एक दो उदाहरण देखिए—

"पूरन प्रेम को मन्त्र महा पन
जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताहि के चारु चरित्र विचित्रनि
यों पचि कै रचि राखि बिसेख्यौ॥
ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जो
आन कथान कहूँ अवरेख्यौ।
सो घन आनन्द जान अजान लौं
टूक कियो, पर बाँचि न देख्यौ॥"

"मूरति सिंगार की उजारी छवि आछी भाँति,
दीठि-लालसा के लोयननि लै लै आँजि हौं।

रति-रसना-संवाद चाँवड़े पुनीतकारी पाय,
चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजि हौं ॥
जान प्यारे प्रान अङ्ग-अङ्ग रुचि रङ्गनि में,
बोरि सब अंगन अनंग दुख भाँज हौं ।
कब घन आनन्द ढरौंही बानि देखें,
सुधा हेतु मन घट दरकनि सुठि राँजि हौं ॥"

विरोध मूलक उक्ति वैचित्र्य के भी उन्होंने सुन्दर प्रयोग किए हैं। विरोध मूलकता के द्वारा भावों की व्यञ्जना में तो घनआनन्द पटु थे—

"विकचि नलिन लखैं सकुचि मलिन होति,
ऐसी कछु आँखिन अनोखी उरझनि है।
सौरभ समीर आयें बहक दहकि जाय,
राग भरे हिय में विराग मुरझनि है ।"

उपमाओं के अनूठे प्रयोग का उदाहरण देखिए—
"जान्यौ हुतो मन ! नै सनेह कछु खेल सो
नीके आहि, असह-उदेग-दुख सेल सो।
गए उड़ि तुरत पखेरु लौं सकल सुख,
पर्यौ आय औचक वियोग वैरी डेल सो ॥"

इनके काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ हुआ है। पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए उनका प्रयोग नहीं हुआ है। इसीलिए वे बोझिलता और दुरूहता न उत्पन्न कर सरलता और प्रवाह उत्पन्न करते हैं और भावों को बोधगम्य बनाते हैं। अनुप्रासों का प्रयोग काव्य में प्रवाह उत्पन्न करने वाला है :—

"लट लोल कपोल कलोल करै,
कल कण्ठ बनी जल जावति है।"

प्रवाहशील पदयोजना, माधुरी और संगीतात्मकता भी इनकी कला के विशेष गुण हैं।

इनकी काव्य कला की परख से स्पष्ट है कि इनकी कला दुरूहता से रहित सरल और सहज है। वह भावों की अभिव्यक्ति का सुन्दर साधन बनी है। उसमें व्यञ्जकता है, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता है, अनूठा उक्ति वैचित्र्य है पर वह दुरुहता उत्पन्न करने वाला नहीं वरन् भावों के गम्भीर गूढ़ अर्थों को स्पष्ट करने वाला है। शब्दों और पदों के विन्यास में सुगढ़ता है, शब्दों में सजावट है और अलङ्कार काव्य के सहज सौन्दर्य वर्धक हैं।

अस्तु हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि घनआनन्द का काव्य रीतिकाल में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इनकी भाषा सरस, सरल, प्राञ्जल और हृदयस्थ गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति में सक्षम है। उसमें माधुरी, प्रवाह और संगीतात्मकता पद-योजना सुगढ़, प्रौढ़ और कलात्मक है। उसमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, व्यञ्जकता और चित्रोपमता है। उनके भाव चित्र और उक्तियाँ अनूठी हैं। कला का रूप कला प्रसाधनों के भार से दब नहीं गया है वरन् निखर आया है। उनकी सरल, सहज कला नूतन और अनूठी भाव एवं रूप छवियों के अङ्कन में समर्थ है। उनके काव्य में वाह्य पक्ष का चित्रण कम हुआ है हृदय-पक्ष का अधिक। उसमें विशुद्ध भावनाओं का चित्रण है। वासनामय शृङ्गार का चित्रण अपेक्षया बहुत कम है। भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से रीतिकाल की लक्षण बद्ध परम्परा से उनका काव्य अलग स्थान रखता है। अस्तु उनके सम्बन्ध में निम्न उक्ति नितान्त सङ्गत और उपयुक्त है—

नेही महा, ब्रजभाषा प्रवीन,
औ सुन्दरता हू के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद,
भावना भेद स्वरूप में ठानै ॥
चाह के रङ्ग में भीज्यौ हियो,
बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रवीन, सुछन्द सदा रहै,
सो घन जू के कवित्त बखानै ॥

साकेत का नायक कौन ?

डा० सुधीन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

भारतीय काव्यशास्त्र में नायक का सबसे बड़ा गुण उसका उदात्त व्यक्तित्व है। केवल काव्य में ही नहीं नाटक और उपाख्यान में भी भारतीय मनीषियों ने नायक में उदात्त व्यक्तित्व की ही कल्पना और धारणा की है। आज के युग में परम्परागत प्राचीन धारणाएँ नवीन प्रकाश के कारण धूमिल हो गई हैं। बुद्धिवाद के आगे उनकी रूढ़िवादिता प्रखर हो उठी है। मानववाद और जनवाद की भावना में भी अनेक पुराण भावनाओं ने भी निर्मम आघात किया है। आज के उपन्यास और नाटक के लिए हमें नायक के उदात्त व्यक्तित्व का नियम स्वीकार्य नहीं है। आज के उपन्यास का नायक होरी जैसा अपढ़, गँवार किसान तक हो सकता है और सफलता के साथ हो सकता है। इसी प्रकार नाटक में भी आवश्यक नहीं है कि नायक का व्यक्तित्व ऐतिहासिक ही हो, वह हमारा चिर परिचित व्यक्ति हो जो हमारी संवेदना और भावना को अपने साथ ले चल सके। आज के कई सामाजिक अथवा राजनैतिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये नाटक काल्पनिक नायकों को लेकर चलते हैं और वे नायक अधिकांशतः दुर्बलताओं और अभावों से पीड़ित भी होते हैं; फिर भी सहृदय पाठक, श्रोता अथवा दर्शक की सहानुभूति और समानुभूति नायक के प्रति जाग्रत करने में नाटककार सफल हो सकता है। यही सहानुभूति का तत्व एक पाठक को नायक के साथ अपनी भावना को बाँधने पर विवश कर देता है।

परन्तु महाकाव्य के साथ ठीक यही स्थिति नहीं है। सहसा कल्पना नहीं की जा सकती कि किसी महाकाव्य का नायक कोई नगण्य, अपरिचित और अज्ञात, क्षुद्र व्यक्ति हो। उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह जन-मन को अभिभूत कर सके। महाकाव्य में भारतीय मानस, और भारतीय मानस ही नहीं, सार्वभौम जनमानस ऐसा व्यक्तित्व और ऐसा चरित्र प्रतिष्ठित देखना चाहता है, जो अपने गुणों के कारण सार्वजनीन श्रद्धा को आकृष्ट करे; साथ ही जिसके जीवन की छाया व्यष्टि की, व्यक्तिगत कथा न होकर समष्टि की व जाति की अथवा राष्ट्र की कथा हो। तभी सम्भव है कि महाकाव्य का स्वर उदात्त हो, उसके वस्तु तत्व में विशालता और व्यापकता हो, उसकी शैली में उच्चता और गाम्भीर्य हो आदि आदि। और यह स्पष्ट ही है कि ऐसे महान् महाकाव्योपयोगी व्यक्तित्व शताब्दियों के पश्चात् ही हुआ करते हैं। भारतीय सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास के पृष्ठों में ही ऐसे व्यक्तित्व अँगुलियों पर गिने जा सकते हैं। हिन्दी में अभी तक रचित महाकाव्यों की भाषा में कहीं तो राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर और महात्मा गांधी ही ऐसे व्यक्तित्व हैं जो महाकाव्य के सर्वमान्य नायक हो सके हैं। पद्मावत के नायक रतनसेन का व्यक्तित्व इस कोटि का न होने के कारण उसका जो प्रभाव जनता पर पड़ा वह हम जानते ही हैं। आधुनिक युग में कुछ ऐसे भी नायक सामने लाये गये हैं (जैसे प्रताप, शिवाजी आदि) जिनको महान् बनाने की चेष्टा है परन्तु वह भी एक कठिन कार्य है। ऐसे अपूर्ण व्यक्तियों के कारण महाकाव्यों में उदात्तता और गरिमा नहीं आ सकती जब तक कि कवि में अलौकिक प्रतिभा ही न हो। यों आजकल रावण जैसों को भी महाकाव्य का नायक बनाया जा रहा है। परन्तु हमारी समझ में रावण का यह नायकत्व केवल नाम का ही होगा-क्योंकि भारतीय मानस में रावण का स्वरूप इस योग्य नहीं है कि वह महाकाव्य की गौरव गरिमा का भार सम्हाल सके। अस्तु

साकेत के नायकत्व का प्रश्न एक गम्भीर चर्चा का विषय है। नायकत्व का निर्णय महाकाव्य में—या नाटक और उपन्यासों में—एकमात्र इस कसौटी से किया जाना चाहिए कि वह सच्चे अर्थों में कथा का 'नायक' हो। 'नायक' का अर्थ है वह जो ले चले। उपन्यास, नाटक

और काव्य का नायक उसकी कथा को ले चलता है। आशय यह है कि कथा के सूत्र मूल रूप से नायक के साथ सम्बद्ध होते हैं। नायक एक केन्द्रीय व्यक्ति होता है जिसके चारों ओर कथा का सञ्चार फैला रहता है। अन्य व्यक्तित्व उससे गौण रहते हैं क्योंकि वही प्रधान होता है। साथ ही इसी के फलस्वरूप यह भी स्वाभाविक है कि न केवल रचयिता वरन् पाठक भी नायक के साथ-साथ चलें, अर्थात् उनका समग्र हृदय नायक के साथ रहे। उसके सुख और दुख में वे भागी हों अर्थात् नायक उनकी सहानुभूति का आलम्बन हो।

इसी नायक के साथ कथा के मौलिक रूप से आबद्ध होने के कारण महाकाव्य में घटनाओं की अन्विति का भी सन्धान किया जाता है अर्थात् महाकाव्य की घटनाएँ इतनी असम्बद्ध नहीं हो सकतीं कि उनमें नायक का दायित्व न रह जाय और वह गौण ही रहे। यदि किसी महाकाव्य में नायक ऐसी स्थिति में पड़ जाता है तो कहना चाहिए कि वहाँ घटनाओं की अन्विति नहीं है और इसे महाकाव्य का दोष कहा जायगा। यह घटनाओं की अन्विति ही वस्तुतः महाकाव्य के प्रबन्धक की आत्मा है। इसके न रहने पर महाकाव्य बिखरा-बिखरा या उखड़ा-उखड़ा सा लगने लगता है।

अब हम इन कसौटियों पर 'साकेत' का परीक्षण करेंगे। 'साकेत' का सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व और कथा को ले चलाने की शक्ति राम में है—न लक्ष्मण में, न भरत में। कारण भी स्पष्ट है। लक्ष्मण का व्यक्तित्व राम के आगे नगण्य अथवा राम का ही पूरक है। राम के आगे वे मौन हैं। भरत भी राम के आगे ऐसे ही हैं, केवल राम के अभाव में 'साकेत' के मञ्च पर वे प्रधान पात्र रह जाते हैं—और यह भी 'साकेत' के उत्तरार्ध में ही है। इसलिये भरत का पक्ष भी निर्बल पड़ता है।

'साकेत' में रामकथा गाई गई है इसमें कोई संदेह नहीं है। यदि 'साकेत' की रचना पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार किया जाय तो यह होते हुए भी कि 'साकेत' की रचना की प्रेरणा उपेक्षिता उर्मिला है,—'साकेत' राम-कथा होने से नहीं बच सकता। जिन महाकाव्यों में उर्मिला उपेक्षिता रही है उनमें वह उपेक्षिता न रहती तो अच्छा होता, और रवीन्द्रनाथ और आचार्य द्विवेदी की प्रेरणा से गुप्त जी ने एक ऐसे काव्य की सृष्टि की है जिसमें उर्मिला उपेक्षिता नहीं रही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लग सकता कि उर्मिला का व्यक्तित्व इतना विशेष और प्रधान है कि 'साकेत' उसकी जीवन-कथा हो सके। इसमें उर्मिला के साथ सहानुभूति पूर्वक न्याय किया गया है इनका पूरा श्रेय 'साकेतकार' को मिलता है। साकेतकार ने स्वयं भी कभी यह दावा नहीं किया है कि साकेत को उर्मिला-चरित माना जाये। वह तो राम-चरित ही है और रहेगा। कवि स्वयं इसका साक्षी है। उसने स्वयं 'साकेत' के मुख पर कुछ ऐसे मङ्गल तिलक लगा दिये हैं कि वह अभिनव राम चरित-मानस बन जाय। सबसे पहले तो कवि की यह पंक्ति—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है—

साकेत के रामचरित होने की घोषणा है। इसके अतिरिक्त कवि ने यह भी राम को ही नायक मानकर लिखा है—

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या—
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या—
तो मैं निरीश्वर हूँ—ईश्वर क्षमा करे—
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

कवि की भावना के ही अनुसार राम जग में नहीं साकेत में रमे हुए हैं। 'साकेत' के प्रारम्भिक पृष्ठों में रामायण, रामचरितमानस, गीता जैसे धर्म ग्रंथों से उद्धरित कुछ ऐसी उक्तियाँ भी दी गई हैं कि जिससे 'साकेत' को भी धर्म ग्रंथ की सी पूज्यता या मान्यता मिल सके।

'साकेत' में राम कथा तो है ही परन्तु कवि के अपने दृष्टिकोण से वह प्रस्तुत की गई है। राम के राज्याभिषेक के समारोह से कथा का सूत्र उठाया गया है और वनवासोपरान्त राम के राज्यारोहण में उसे समाप्त किया गया है। राम का राज्यारोहण ही 'साकेत' की कथावस्तु का 'बीज' और 'फल' दोनों है। प्रारम्भिक कथा प्रसङ्ग में उर्मिला और लक्ष्मण का आगमन इन दोनों के प्रति, और हम कहेंगे विशेषतः उर्मिला के प्रति कवि की हार्दिक प्रवृत्ति के

कारण हैं। जिस उर्मिला के साथ वे औचित्य-निर्वाह करना चाहते थे उसको प्रारम्भ से ही कथा के चित्राधार में प्रमुख रूप से चित्रित करना आवश्यक था, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि उर्मिला हो चाहे लक्ष्मण उनका आना जाना, सम्भाषण, अन्य क्रिया कलाप सब राम के ही निमित्त हैं—वे तो राम कथा के सूत्र ही हैं। उर्मिला और लक्ष्मण के संवाद में भी तो राम का राज्याभिषेक ही मूल है—यह हम नहीं भूल सकते—और इस घटना के बाद तो राम ही मञ्च पर प्रत्यक्ष रूप से आ जाते हैं और हम उनके साथ चलने लगते हैं, यह स्थिति चित्रकूट-प्रवास तक चलती है। इस प्रकार आठ सर्गों में हम वस्तुतः राम के साथ रहते हैं, दूसरे शब्दों में हम साकेत के साथ रहते हैं। चित्रकूट में भी 'सम्प्रति साकेत समाज वहीं है सारा।' कहकर कवि ने साकेत को नहीं छोड़ा है। 'साकेत' की पृष्ठ भूमि साकेत (अयोध्या) ही है। यह एक विशेष बात है। और इसीलिए कवि के लिए बड़ा अच्छा अवसर मिला कि वह उर्मिला का विरह दर्शन पूर्ण हार्दिकता के साथ कर सका। उर्मिला के विरह-चित्रण में एक लम्बा पूरा सर्ग कवि ने रचा है (और कवि की कल्पना में यह भी अधूरा ही है!) वहाँ ऐसा लगता है कि जैसे 'साकेत' का मुख्य कथा सूत्र हमारे हाथ से निकल गया है—और इसे प्रबन्ध-कौशल की कमी ही कहा जाता है—परन्तु यहाँ 'साकेत' कार की स्थिति विचारणीय है।

यदि 'साकेत'कार राम के साथ रहता है तो उर्मिला इस चित्र में नहीं आ सकती और फिर रामचरितमानस के अन्दर हमें राम वनवास की कथा और घटनाएँ सुनने को मिलतीं फिर साकेत में नवीनता क्या रह जाती? 'साकेत' की नवीनता या मौलिकता इसी में है कि कवि ने 'साकेत' को केन्द्र बिन्दु मानकर राम की कथा कही है—इसीलिए वह कथा कहीं प्रत्यक्ष है तो कहीं परोक्ष है। उर्मिला के इस जीवन-प्रसङ्ग का भी विश्लेषण किया जाए तो वह रामकथा का ही अङ्ग तो है। राम के कारण ही लक्ष्मण प्रवासी हुए और उर्मिला विरहिणी हुईं। यदि उर्मिला विरहिणी को कवि उपेक्षिता कहता तो 'साकेत' का प्रयोजन ही असिद्ध हो जाता। कवि ने उर्मिला का विरह-जीवन चित्रित किया है तो एक सहृदय कवि के अनुरूप ही किया है। राम कथा से हटी हुई होकर भी यह कथा रामकथा पर ही प्रसारित है। इसे हम 'प्रकरी' कह सकते हैं और 'प्रकरी' का विधान 'पताका' के साथ ही रहता है।

'साकेत' के उत्तरार्ध में साकेत (अयोध्या) के मञ्च पर प्रमुख पात्र (अभिनेता) भरत हो जाते हैं परन्तु निमित्त मात्र—क्योंकि उनके द्वारा भी कवि अन्ततः राम-कथा को सत्यवस्तु के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार छूटी हुई रामकथा पुनर्गृहीत होती है और बड़े कौशल के साथ। 'साकेत' की यह भी एक मौलिकता है।

साकेत की कथावस्तु का यह विश्लेषण करने के उपरान्त हमें 'साकेत' को केन्द्रबिन्दु मानकर राम को नायक मान के और उर्मिला को प्रधान स्त्रीपात्र मानने पर विवश होना पड़ता है। उसे 'नायिका' भी कहा जा सकता है—परन्तु भारतीय परम्परा में नायिका नायक की पत्नी होती है इसलिए इसमें एक धर्मसङ्कट होता है परन्तु प्रमुखता की दृष्टि से तो वह नायिका ही है।

घटना-अन्विति की दृष्टि से देखा जाय तो 'साकेत' महाकाव्य के दोष स्पष्ट हैं—कवि न पूर्णतया राम के साथ रह सका, न पूर्णतया उर्मिला के साथ; न वह पूर्णतया राम को छोड़ सका, न वह पूर्णतया उर्मिला को उपेक्षित कर सका। ऐसा लगता है कि दोनों में कर्तव्य का बन्धन उसके सामने था। आचार्य द्विवेदीजी की इच्छा की पूर्ति और अपनी वंश परम्परागत रामभक्ति दोनों का निर्वाह कवि ने करना चाहा है, इसलिये नायक (राम) और नायिका (उर्मिला) के साथ कथासूत्रों का पूर्ण अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं बना रह सका। यही इसका दोष है।

परन्तु यह दोष गुण बन जाता है यदि हम अपनी दृष्टि बदल दें। कवि चाहता है कि साकेत को कथा का केन्द्र बिन्दु माना जाय। अतः साकेत की कथा साकेत (अयोध्या) के साथ है और साकेत की सब घटनायें साकेत में घटित होती दिखाई या मानी गई हैं। क्या यह

बातनहीं है ! यदि यह बात है तो साकेत में पूर्ण घटना ऐक्य है। यहाँ यदि यह कल्पना करली जाय कि साकेत (अयोध्या.) ही साकेत का नायक है तो साकेत की कथा-वस्तु इतने अच्छे ढङ्ग से कवि ने संयोजित की है कि उसके कौशल की प्रशंसा करनी पड़ती है।

रस की दृष्टि से—

रस काव्य की आत्मा है और काव्य के मर्मज्ञ काव्य में रस का संधान किये बिना रहते नहीं। न जाने क्यों यह परिपाटी मानी गई कि किसी महाकाव्य में आदि से अन्त तक एक ही रस का निर्वाह हो (जैसे रस कोई नदी है कि जिसके दोनों ओर बसी हुई बस्तियाँ ही महाकाव्य की घटनायें बन जायँ। यदि लक्षण मानते हैं तो ऐसी अभिछिन्न रस धारा का आग्रह महाकाव्य में करना पहले तो अनुचित है और यदि उचित है तो यह रूढ़िबादिता है। जीवन की पृष्ठ भूमि में सभी रस आ सकते हैं और वस्तुतः महाकाव्य वही सफल है जिसमें सभी रस अपने-अपने स्थान पर समाविष्ट हों। हाँ, नव रसों में कुछ रस अवश्य ही प्रमुख होते हैं—जैसे शृङ्गार, करुण, वीर, शान्त। शृङ्गार को रसराज कहा गया है—भवभूति की दृष्टि में करुण रस मात्र रस है—भक्तों की दृष्टि में शान्त ही सर्वश्व है और एक कर्म योगी की दृष्टि में वीर रस ही जीवन या प्रधान रस है। दूसरे रस हास्य, अद्भुत, रौद्र, भयानक, और वीभत्स अपेक्षाकृत गौण हैं, उनका स्थायी महत्व नहीं है। महाकाव्य में चार प्रधान रसों की प्रतिष्ठा इसीलिये की गई होगी।

साकेत में शृङ्गार व्यापक रस है—परन्तु वीर, करुण और शान्त भी उसमें यथावसर समाविष्ट किये गये हैं। यदि उर्मिला पर दृष्टि रहे और राम और सीता तथा भरत और माण्डवी को भी ध्यान में रखा जाय तो शृङ्गार से बढ़कर दूसरा कोई रस साकेत का नहीं हो सकता। राम आर्य जाति के प्रतिनिधि, और उद्धारक राम के वीरोचित पुरुषार्थ को ध्यान में रखेंगे तो वीर रस की अनुभूति होने लगती है। राम जीवन की कारुणिक परस्थितियाँ इसमें स्थान स्थान पर करुण रस का भी संचार करती हैं। इन रसों का परिपाक करने में कवि ने कोई कमी नहीं रखी है।

प्रधान रस शृङ्गार को ही लें तो उसका संयोग और वियोग दोनों पक्षों वाला रूप इसमें प्रस्तुत हुआ है। बल्कि यों कहना चाहिये कि उर्मिला की **विरह दशा** को पाठकों तक पहुँचाने के लिए उसकी **संयोग या मिलन** दशा या आभास अनिवार्य ही था। इस प्रकार **दोनों एक** दूसरे के पूरक हैं। उर्मिला का विरह दर्शन साकेत की एक शक्ति है। यदि साकेत अमर काव्य है तो इसी के कारण। शृङ्गार रस का चित्रण कवि ने प्राचीन परम्परा को न भूलते हुये भी नई रीति और शैली में किया है—बड़े स्वाभाविक क्रमिकविकास के साथ। ऋतु वर्णन की परम्परा भी अक्षुण्ण है। विविध संचारियों का भी समावेश उसमें है इस रूप की अनुभूति पाठक को और भी अधिक तीव्रता से हो सकती है यदि वह उर्मिला की परिस्थित में अपने आप को रख सके। विरहिणी उर्मिला का चित्र परम्परायुक्त विरहिणी का सा नहीं है। जिस प्रकार प्रिय-प्रवास की राधा विरह में आत्म केन्द्रित नहीं है वरन् लोकाभिमुख है उसी प्रकार साकेत की उर्मिला भी आत्म पीड़ा में आत्म विस्मृत नहीं है। वह एक जागरूक वियोगिनी की भाँति समस्त चराचर जगत के प्रति भी द्रवणशील, सहानुभूतिशील और संवेदनशील है।

राम और सीता के प्रेम में एक औदात्य है जो तुलसी के द्वारा प्रतिष्ठित मर्यादा का स्मरण कराता है। यही औदात्य भरत और माण्डवी के प्रसंग में भी है। इस प्रकार शृङ्गार अनेक स्थितियों और रूपों में साकेत में संचारित होता है। और जब तक शृङ्गार का रसराजत्व अक्षुण्ण है तब तक साकेत सहृदय जनों को रस प्रदान करता रहेगा।

———

साहित्य में लोकवार्ता की यथार्थवादी परम्परा

श्री गङ्गाप्रसाद कमठान, बी० ए०

हिन्दी साहित्य के उदय काल की बेला पर प्रकाश डालने से प्रतीत होता है कि वस्तु, कला और विचार की बृहत्रयी लोकवार्ता की पृष्ठभूमि पर ही अलंकृत हुई होगी। यह लोक शब्द अंग्रेजी शब्द 'फोक' का पर्यायवाची होकर हिन्दी जगत में आया है। लोकवार्ता को अंग्रेजी में फौकलोर कहते हैं। फौकलौर का प्रचलित चालू अर्थ है जनता का साहित्य—ग्रामीण गीत, कथा, कहानी, लोकोक्तियाँ आदि। शेल्फग्रान विलियम्स ने एक स्थल पर लोकगीत की विवेचना करते हुए कहा है, 'लोकगीत वह वन वृक्ष है जिसकी जड़ें अतीत में स्थित हैं, जो निरन्तर नूतन शाखाएँ, नूतन कोंपलें और नूतन फल प्रस्तुत करता है।' आचार्य सत्येन्द्रजी ने हिन्दी साहित्य के विकास क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"अतः इस लोकवार्ता में, इस युग में, एक ओर तो हमें ऐतिहासिक आदिम मूलतत्व मिलता है और यह तत्व लोकवार्ता की अन्तराधार होता है। दूसरी ओर समय-समय पर, युग-युग में हुए इस आधार के परिमार्जित विकास के ध्वंस भी विद्यमान रहते हैं। × × और यही प्रतिभा है जो मूल बीजों को सुरक्षित रखते हुए ही मनुष्यों के विकास के सामाजिक इतिहास की लोकाभिव्यक्ति को प्रस्तुत करती है।" अतः लोकवार्ता के अन्तर्गत जागरूक जनता की ऐतिहासिक प्रगति की गोपनीय छाप सुरक्षित है, जिसमें जन-जनार्दन का यथार्थवादी दृष्टिकोण भी समिष्ट है। यही नहीं अपितु वास्तविकता का पुट लोकवार्ता के द्वारा साहित्य के विकास की क्रमबद्ध मौलिक प्रतिभा की प्रगति को बल प्रदान करना है।

हम इस लेख में लोक साहित्य की यथार्थवादी परम्परा को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से परखने का प्रयत्न करेंगे और देखेंगे कि परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जन-साहित्य की हमारे लिखित साहित्य को क्या देन रही है और रहेगी। आदिम मानव की आदिम अभिव्यक्तियों के विकास का क्रम वेदों में ही झलकता है। वेद विश्व के प्राचीनतम लोक साहित्य के प्रतीक हैं। ऋग्वेद से लोकवार्ता और लोक कहानी के बीज और किसी सीमा तक उनके विकास का मूलाधार इतिहास भी प्राप्त होता है। इसीलिये वे अपौरुषेय भी हैं क्योंकि उनकी उद्भावना पुरुषार्थ द्वारा नहीं हुई वे मानव के सहज उद्गार के जाग्रत कोश हैं। अथर्ववेद में जादू टोटके, टोने, मंत्र-तंत्र जो अतिशय प्रसन्नता या दुःख की अभिव्यक्ति की मिली जुली भावना के प्रतीक हैं, आदि का अपूर्व संग्रह देखने योग्य है। वैदिक साहित्य सत्यतः लोक वार्ता का प्रतिनिधि रूप है। वेदों की लोक भूमि से ही आगे चलकर पुराण मानस मन की भाव भूमि के आधार बने, जिन पर बहुत कुछ हिन्दी साहित्य की रूप रेखा निर्मित हुई है।

महाकाव्यों का काल—महाकाव्यों का उद्भव इन्हीं लोक गीतों, लोक-गाथाओं और वीर गीतों से हुआ है। आदिम युग में कविता-गीत, नृत्य आदि से भिन्न नहीं थी और न कवि की ही सत्ता समाज से भिन्न थी। मैक्सिमगोर्की ने कहा है, 'दन्त कथा और वीर गाथा में जैसे कि उनकी भाषा में भी हमें किसी अकेले व्यक्ति के विचार नहीं बल्कि समस्त जनता की सामूहिक रचना का आभास मिलता है।' पुराण वार्ता के दो ध्रुव राम और कृष्ण पर भारत के दो आदि महाकाव्यों का सब साहित्य निर्भर है। रामायण में कुश और लव को वाल्मीकि से सीखे गए 'रामाख्यान' को जनता के मध्य गाता हुआ दिखाया गया है। रामायण में यह अंश चाहे प्रक्षिप्त हो किन्तु यह अवश्य ज्ञात होता है कि रामाख्यान को गाने वाली, कोई विशेष जाति थी जिसने लव और कुश से सम्बन्ध जोड़ लिया हो! जैकोबी ने 'दास रामायण' में यही मत प्रकट किया है। चियस द्वीप में 'होमराइड' नामक एक जाति अपने को होमर का वंशज कहती है, होमर की कविताओं का पाठ करती है। महाभारत के

लेखन का श्रेय केवल व्यास को ही नहीं अपितु उनके उपरान्त वैशम्पायन और उस पर पूर्ण विराम-चिन्ह लगाने वाले लोक कवि सौति को हैं। प्रो० विण्टर-निज के मतानुसार महाभारत सन् ई० पूर्व की चौथी शताब्दी तक बनता और संगृहीत होता रहा है। होल्ट्जेमेन ने भी अपनी पुस्तक 'डास महाभारत' में यही मत व्यक्त किया है। साथ ही तत्कालीन युग में गणेश नामक ऋषि ने अनेक वीर-लोक-गीतों का सम्पादन किया था। फलतः प्राचीन साहित्य और लोक साहित्य में बहुत कुछ लेन देन हुआ है।

वीर गाथा काल—प्राकृत से संस्कृत अथवा अपभ्रंश में जो भी रचनाएँ आईं, उनकी एक मात्र केन्द्र बिन्दु प्रभु वर्ग के संघर्ष की गाथा रही। प्रभुवर्ग के पुरोहित और चारण जो युद्ध का नेतृत्व करते हुए रङ्ग महल की रङ्गरेलियों में भी योग देते थे, उनकी मुक्तक मौखिक प्रेमकथाएँ और प्रेममयी ऐहिकतापरक फुटकर पद्य लोक-प्रिय हो गए थे। निस्सन्देह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य लोक वार्ता से प्रेरणा, प्रतिभा, सामिग्री समय समय पर प्राप्त करता रहा। अतः साहित्य लोक वार्ता का इस दृष्टि से ऋणी रहेगा। लोक गीतों की साखी से बुद्ध का नाम निकाल भारत ने महान् भूल की थी, फिर भी स्वयंभू की रामायण लोक साहित्य के मूल रूप को संशोधित रूप में लिये बहुत कुछ हिन्दी के प्रारम्भिक युग की रचनाओं को सुरक्षित किये हुए है।

भारत में 'वीर भोग्या वसुन्धरा' के कटु सत्य सिद्धान्त पर सामन्त तन्त्र और राजतन्त्र की स्थापना हुई। चारण और पुरोहित, सूत और मागध जनता के केवल अगुआ गायक न हो राजकवि बन गए। अमुक राजा की विरदावली वीर काव्य में नायक के रूप में अवतीर्ण हुई। उस की प्राण-प्रतिष्ठा में रति और शृङ्गार की भावना ने भी शक्ति प्रदान की। साथ ही सामान्य जनता पाठक का रूप ले एक ओर हट गई। ये वीर मौलिक काव्य वाद्य-यन्त्र के साथ रङ्गशाला में रङ्ग जमा उठे। हिन्दी में जगनिक का 'आल्ह खण्ड' जिसकी अनेक लोक कवियों द्वारा पूर्ति हुई ढोलक पर ही गाया जाता है। राजस्थानी लोक गीत ढोला-मारू की प्रणय कथा का महागीत 'ढोला' भी ढोलक पर गाया जाता है। चारणों की आशु काव्य काव्य प्रतिमा के प्रभाव से बहुत से छोटे मोटे उपाख्यान निजन्धरी महाकाव्य का रूप धारण कर गए। मध्यकाल की रचना 'पृथ्वीराज रासो' जो अपने मूल रूप को बहुत कुछ खोचुका है। रासोकाल की नर-पति नाल्ह, रचित बीसलदेव रासो तथा डिंगल भाषा के निखरे रूप में रचे हम्मीर रासो वीर-गीत प्रणाली की आदि रचनाएँ हैं। सत्यतः राजस्थान के लोक कवियों ने युद्ध के भीषण नगाड़ों के बीच लोक साहित्य की अपूर्व रचना की जो अपने जोड़ का दूसरा साहित्य नहीं रखता है।

भक्तिकाल—लोक भाव-भूमि का यह उर्वर भाग जिसमें सूफी कवियों ने गोते लगा भारत की पौराणिक दन्त कथाओं को अपनी धार्मिक वृत्ति के अनुसार पद्य में लिपिबद्ध कर अनोखा रूप-रङ्ग दे दिया। जायसी ने लोकवार्ता पद्मनी या पद्मावती की प्रेमगाथा को नाथ-सम्प्रदाय की योगमार्गी परम्परा के आधार पर सूफी प्रेम का रङ्ग दे नवीन साहित्य का सृजन किया। इसी प्रकार नल-दमयन्ती के प्रेमालाप पर अनेक लोक गीतों को साहित्यिक कथाओं के रूप में अपना लिया। क्रान्तिकारी कबीर, जिनकी अटपटी वाणी लोक साहित्य की अमर निधि है अनेक साहित्यिक जीवों (रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा) वर्मा त्रिवेणी की आत्मा को आकर्षित करती रही है, कर रही है, करेगी। लोक कवि सूर साहित्यिक सूरदास के ही निकट है, उनके कृष्ण चरित्र में अनेक भाव भागवत के प्रसङ्गों से ही नहीं लिए गये हैं अपितु लोक कथाओं के अनेक बीज रूप भी उनकी प्रखर कल्पना की चढ़ान पर चढ़ ब्रजभाषा की उदयबेला के शृङ्गार बन गये। डा० सत्येन्द्र के कथानुसार, 'तुलसी की रामकथा की तो लोकयात्रा और भी रोचक तथा लम्बी है। एक ही व्यक्तित्व किस प्रकार विविध लोक भूमियों पर चलकर नए रङ्ग ग्रहण करके नए रूप प्राप्त करता सकता है।' तुलसी ने तो लोक छन्दों, गीतों तक को अपना लिया है। रामलला

(शेष पृष्ठ ४७० पर देखिए)

चिन्ता 'मधुमय अभिशाप' क्यों ?

श्री रमाशङ्कर तिवारी एम० ए०, डिप०-एड०

नवम्बर सन १९५३ के अङ्क में 'शङ्का समाधान' के अन्तर्गत इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि प्रसाद ने 'कामायनी' में चिन्ता को 'मधुमय अभिशाप' क्यों कहा ! वांछनीय नहीं होने से चिन्ता का 'अभिशाप' होना तो सर्वथा समीचीन है; किन्तु 'मधुमय' में चिन्ता का अन्तिम 'परिणाम अच्छा' होने का भाव ध्वनित नहीं है। अर्थ करते समय यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिन पंक्तियों में ये शब्द आए हैं वे मनु द्वारा कथित हैं, कवि की अपनी उक्ति नहीं। पुनः 'मधुमय अभिशाप' से पूर्व और पश्चात् की पंक्तियों में चिन्ता को क्रमशः 'व्याधि की सूत्रधारिणी' और 'हृदय-गगन में धूमकेतु सी' कहा गया है। 'मधुमय शाप' के ठीक पूर्व वाला शब्द 'आधि' है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चिन्ता आधि=व्याधि अर्थात् मानसिक उद्विग्नता तथा शारीरिक कष्ट, पीड़ा की जननी बताई गई और बाद को हृदय में महान् अनिष्ट उत्पन्न करने वाली कही गई है। अतः 'मधुमय अभिशाप' एवं 'सुन्दर पाप' का अर्थ भी पूर्वापर अर्थ से मिलना चाहिए। 'अभिशाप' और 'पाप' तो लगभग यहाँ समानार्थी हैं—दोनों से एक ऐसी मानसिक वृत्ति का द्योतन होता है जो अनाकांक्षित एवं अनिष्टकर है। किन्तु 'मधुमय' और 'सुन्दर' में यह भाव अभिप्रेत है कि चिन्ता एक ऐसी शक्तिशाली मनोवृत्ति है जो मानव-मन को उसी दृढ़ता से अधिशिष्ट किए रहती है जैसे कोई कल्याणकारी सुखद वृत्ति। अनुभव बताता है कि चिन्ता अनिष्टकर होने पर भी आकर्षक होती है, कड़वी होने पर भी 'मीठी' होती है, शरीर गल जाने पर भी—जब चिन्ता मन में घर कर जाती है—मनुष्य उस चिन्ता से मुक्त होना नहीं चाहता क्योंकि वह उसकी एक यद्यपि अनाकांक्षित किन्तु 'प्यारी' सम्पत्ति बन जाती है। ऐसे व्यक्ति पाये जा सकते हैं जो हृदय में किसी 'अभाव' की सतत धारणा एवं पोषण किया करते हैं बिना इस बात का ख्याल किए कि उस चिन्ता से उनकी प्राण-शक्ति ही खोखली होती जा रही है। पीछे चल कर प्रसाद कहते हैं—

"बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता
तेरे हैं कितने नाम !
अरी पाप है तू, चल. जा,
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।"

यहाँ भी यही भाव ध्वनित है कि चिन्ता वृत्ति किसी-न-किसी रूप में—बुद्धि, मति, आशा या मनीषा होकर, मानव-मन में सदैव विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से भी चिन्ता आकर्षक है, सुन्दर है, मधुमय है। इन पंक्तियों के ऊपर कहा गया है "छिपी रहेगी अन्तरतम में सबके तू निगूढ़ धन-सी।" यहाँ भी चिन्ता का लुभावना स्वरूप व्यंग्य है। जैसे कृपण अपना धन, अत्यन्त ममता पूर्वक पृथ्वी में गाड़ कर रखे रहता है उसी प्रकार चिन्ता (जिसका रूप आशा भी हो सकता है) से प्रभुग्ध व्यक्ति उसे अपने हृदय के कोमलतम कक्ष में, अत्यन्त ममता से सञ्चित किए रहता है। अर्थात् चिन्ता की निरन्तर धारणा के फलस्वरूप होने वाले प्राण-शक्ति के क्षय का ध्यान न करते हुए, मनुष्य उसी चिन्तन में निमग्न रहता है। यह अवश्य स्मरणीय है कि साधारण व्यक्ति इस 'अभाव की चपल बालिका' के प्रेमी नहीं बन सकते, इसके लिए असाधारण 'कल्पना' की अपेक्षा होगी। मनु साधारण व्यक्ति हैं भी नहीं। अतएव 'मधुमय' एवं सुन्दर शब्दों से सीधा अर्थ यही ग्रहणीय है—लुभावना, आकर्षक या मोहक।

'चिन्ता का अन्तिम परिणाम शिव होता है' इस मत का प्रत्याख्यान एक और दृष्टि से भी होता है जो पूर्व [illegible] तिकड़े। मनु इन पद्यों के वक्ता हैं। ये कवि की [illegible] उक्ति नहीं है। और मनु सम्पूर्ण 'चिन्ता' सर्ग में [illegible] और उद्विग्न हैं। उन्हें कहीं भी यह प्रतीति नहीं होती कि उनकी तात्कालिक चिन्ता भविष्य में शिव-विधायिनी [illegible] होगी। 'मधुमय' और 'सुन्दर' इन दो शब्दों के [illegible]

रिक्त सम्पूर्ण सर्ग में कोई ऐसा अन्य शब्द नहीं जिसमें चिन्ता के किसी 'शुभ पक्ष' की विज्ञप्ति की गई समझी जाय। "हरी भरी सी दौड़ धूप, ओ जलमाया की चल-रेखा" में 'हरी भरी' तथा 'माया' शब्द समानार्थक हैं। 'माया' में जैसे मनुष्य के व्यर्थ प्रयास (मृग-मरीचिका वाला प्रयास) का भाव सन्निविष्ट है, उसी प्रकार 'हरी-भरी सी दौड़-धूप' से यह भाव गृहीत है कि संसार की लुभावनी दौड़-धूप चिन्ता-ग्रसित की अभिव्यक्ति है। और व्यर्थ, भ्रामक-प्रयास है। चिन्ता के लिए प्रयुक्त कुछ विशेषण ये हैं—'ललाट की खल लेखा', 'तरल गरल की लघु लहरी' 'हृदय लहलहे खेतों पर करका-घन-सी' इत्यादि। इन विशेषणों से चिन्ता की किसी अन्तर्निहित मङ्गलमयता का द्योतन तक नहीं होता। उलटे 'अमर मरेगा क्या तू इतनी गहरी डाल रहा है नींव।' में मनु का यही भाव व्यञ्जित है कि चिन्ता घातक है। इसी से वे चाहते हैं कि आज उनका 'शून्य' 'जड़ता' से भरित हो जाय।

अतएव, यह नहीं कहा जा सकता कि मनु जो चिन्ता-सर्ग की सम्बद्ध पंक्तियों के वक्ता हैं—चिन्ता को मङ्गल-विधायिनी समझते हैं। और इसीलिए 'मधुमय' तथा 'सुन्दर' शब्दों में चिन्ता का परिणामवाचक कोई अर्थ ग्रहण करना युक्तियुक्त नहीं होगा। चिन्ता का लुभावनी होना मनोविज्ञान-सङ्गत भी है।

'कामायनी' की टीका में, श्री 'मानव' ने 'मधुमय' का वही अर्थ ग्रहण किया है जो 'साहित्य-सन्देश' के उपर्युक्त अङ्क में गृहीत किया गया है। श्री विजयेन्द्रजी ने नव-प्रकाशित पुस्तक 'कामायनी-दर्शन' में इस शब्द की व्याख्या नहीं की है यद्यपि 'विस्तृत भाषा' में ऐसा होना चाहिए था। उन्होंने केवल यही एक वाक्य कहा है (दे० पृष्ठ ४, अन्तिम वाक्य)—"चिन्ता को 'पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप' बता कर साभिप्राय, सुन्दर विशेषण से चिन्ता की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।" 'साभिप्राय' शब्द से स्नातकजी का निजी अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। वैसे तो अपने 'चिन्ता'-विषयक समग्र विश्लेषण में उन्होंने चिन्ता के घातक स्वरूप की व्यञ्जना की है। वस्तुतः विचारणीय यह है कि क्या मनु को अपनी उत्तेजनापूर्ण मनः स्थिति में इस बात की भी अन्तर्प्रतीति हो रही थी कि उस चिन्तापूर्ण 'अवसाद' का अन्तिम परिणाम शुभ होगा? सम्भवतः ऐसी बात नहीं।

(पृष्ठ ४६८ का शेषांश)

नहछू के 'नहछू' छन्द का बाबाजी ने स्वयं आविष्कार नहीं किया बल्कि यह उनके पूर्व भी लोक-प्रचलित था। तुलसी का नहछू जिसमें परिहास की एक झाँकी दिखाई गई है नाइन गा उठी है—

'काहे राम जिउ साँवर लछिमन गोरे हो
की दुहुँ रानी कौसलहि परिगो भोर हो।'

वस्तुतः गोस्वामी जी ने लोकवार्ता साहित्य से केवल वस्तु भाव ही नहीं लिए अपितु रूप भी लिया। राजस्थान की अमर गायिका मीरा के विरह जन्य भावना से प्रेरित गीत लोका वार्ता पर आशा से अधिक आधारित है।

रीतिकाल—गोप लीलायें, कृष्ण क्रीड़ायें, टोने-टोटके तथा लोकोक्तियाँ और कहावतों के सहारे जिस काव्य का शृङ्गार हुआ बहुत कुछ लोकवार्ता के रूप को लिए हुए है चाहे अपना वेश-भूषा भले ही बदल दी है। नीति के दोहों का तथा सतसई का जो प्रचुर मात्रा में आविर्भाव इस युग के साहित्य में हुआ वह उसे लोकवार्ता से विरासत के रूप में ही प्राप्त हुआ है। यही नहीं आगे चल कर हिन्दी-साहित्य की बृहत्त्रयी के तीन प्रमुख 'इन्शा, लल्लू और सदल मिश्र' की प्रारम्भिक रचनायें लोकवार्ता के स्तम्भ पर ही टिकी हुई हैं। भारतेन्दु और समकालीन कवियों की लिखी 'कजरी', जो बनारसी कजरी के नाम से विख्यात है, लोकगीत की थाती को सभांले हुए हैं। बाबू गुलाबराय के अनुसार, बनारसी कजरियाँ बहुत कुछ लोक गीतों के भाव-भाषा, रूप, रङ्ग को लिए हुए हैं।' चूरन के लटके और मेलों पर गाये जाने वाले लोकगीत आज भी हमारी आन्तरिक भावना के प्रतीक होते हुये साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ते जा रहे हैं। अतः साहित्य का प्रत्येक अङ्ग लोकवार्ता की गतिविधि से किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित है।



आलोचना

कलकत्ता के उर्दू कथाकार—लेखक-श्री बरुआ प्रका०-जैमिनी प्रकाशन, कलकत्ता। पृष्ठ १०४ मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कलकत्ता के नए-पुराने उर्दू कथाकारों के कथा साहित्य पर सुन्दर और विवेचनात्मक प्रकाश डाला है जो ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। हिन्दी उर्दू के बीच चल रहे कटुता पूर्ण समय में उर्दू कथाकारों का हिन्दी भाषा में यह विवेचन कटुता को पाटने का एक प्रयास भी है जो सराहनीय है। इस प्रकार के कार्य का सभी ओर स्वागत होना चाहिए।

'हिन्दी के गौरव ग्रन्थ,' 'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ'; 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ'—संकलन; प्रकाशक-राजकमल, दिल्ली। पृष्ठ प्रति सङ्कलन; क्रमशः ५८, ६५, ६८, मूल्य प्रत्येक का २)

इन संग्रहों में 'आलोचना' के इतिहास अङ्क में प्रकाशित तद्विषयक अनेक उत्तमोत्तम लेखों का संग्रह है। प्रत्येक संग्रह की भूमिका क्रमशः डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, और डा० रघुवंश द्वारा लिखी गई है। संग्रहीत लेख ठोस और सारगर्भित सामिग्री से पूर्ण है।

—रामगोपालसिंह चौहान

महाकवि भूषण—ले०-श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित, प्रका०-साहित्य भवन, इलाहाबाद। पृष्ठ १६१, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक महाकवि भूषण पर एक अच्छा अध्ययन है। मिश्र बन्धुओं ने इसके पूर्व 'भूषण' पर विस्तृत रूप से विचार किया था किन्तु उसमें न परिस्थितियों का उतना विश्लेषण था, न कला-सौष्ठव का उतना व्याख्या, न तुलनात्मक अध्ययन। यह सम्पूर्ण तत्व इस पुस्तक में लिये गये हैं, पुस्तक को तीन खण्डों में बाँटा गया है—प्रथम में जीवन वृत्त, द्वितीय में रचनायें तथा तृतीय में आलोचना प्रस्तुत की गई है। आलोचना के समान ही पुस्तक का प्रथम एवम् द्वितीय भाग महत्वपूर्ण है। 'भूषण' की उदार दृष्टि नामक अंश तो अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। इतिहासकार शफीखाँ के आदि के उद्धरणों से लेखक ने प्रमाणित किया है कि भूषण एक उदार, राष्ट्रीयतावादी कवि थे, साम्प्रदायिक कवि नहीं। भूषण विषयक अध्ययन के लिये यह पुस्तक अत्यन्त सहायक होगी।

मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—लेखक-सावित्री सिन्हा, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ ३१७, मूल्य ८)

डा० सावित्री सिन्हा का यह ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिये स्वीकृत निबन्ध है। इसमें डिंगल, निर्गुण, कृष्ण, राम, शृङ्गार, तथा रीति काव्य धाराओं में कवयित्रियों के कृतित्व का अनुशीलन है। काव्य की पृष्ठ भूमि स्पष्ट करने के लिये परिस्थितियों का विश्लेषण भी है। कवयित्रियों की रचनाओं

का क्रम, परिचय, व्यक्तित्व तथा साहित्यिक-विशेषताओं के आकलन और अनुशीलन की दृष्टि से यह एक अच्छा अध्ययन है। "जीवन के प्रत्येक अंश को स्त्री तथा पुरुष के पृथक दृष्टिकोण से देखने का कुछ स्वभाव सा बन गया है विशेषकर उन अङ्गों को जिनमें स्त्रियों के प्रति अन्याय तथा उपेक्षा के चिन्ह दिखाई देते हैं। सम्भवतः अवचेतन के इसी संस्कार की प्रेरणा से "लेखिका ने यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया है, उपेक्षितों का उद्धार तो ठीक है परन्तु यदि लेखिका का दृष्टिकोण वैयक्तिता के साथ-साथ अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक हो सकता तो उपेक्षित कवयित्रियों के व्यक्तित्व-निर्धारण तथा काव्य कला के समझने में सन्तुलन अधिक रहता। परन्तु जहाँ तक सामग्री की खोज, चयन, और व्यवस्था का प्रश्न है वहाँ तक यह निबन्ध प्रशंसनीय है।

'प्रेमचन्द'—ले०-श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रका०-हिन्दी भवन प्रयाग। पृष्ठ १८८, मूल्य २।)

यह पुस्तक प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का संक्षिप्त, परन्तु सारगर्भित साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत करती है। इसमें 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक तथा प्रेमचन्दजी की कहानियों का भी समालोचनात्मक अध्ययन किया गया है। पुस्तक के अन्त में समग्र दृष्टि से भी प्रेमचन्दजी की कला पर विचार किया गया है, वस्तुतः यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है. अतः पहले प्रत्येक उपन्यास की कथा वस्तु देकर फिर उपन्यास के अङ्गों, वस्तु, पात्र, कथोपकथन, उद्देश्य आदि पर विचार किया गया है। प्रेमचन्दजी की उपन्यास कला से सम्बन्ध में वाजपेयीजी की अपनी धारणायें हैं, जिनके पीछे तर्क हैं। कोरी घोषणायें वे नहीं हैं। अतः प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक उपयोगी है, जो प्रेमचन्दजी की 'कला' में किसी कमी की कल्पना ही नहीं करते या पिष्ट-पेषित निर्णयों यथा 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' आदि की ही रट लगाते आ रहे हैं उन्हें यह पुस्तक पढ़नी चाहिये।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०

कविता

विन्ध्य-साहित्य सङ्कलन (प्राचीन)—सम्पादक-विविध अधिकारी विद्वान् प्रकाशक-सूचना एवं प्रचार पदाधिकारी विन्ध्य प्रदेश रीवां। पृष्ठ २४०, मूल्य १।।)

विन्ध्य भूमि जहाँ वीर प्रसू भूमि रही वहाँ पर कवि प्रसू भी रही है। यद्यपि केशव पद्माकर आदि कवि स्थानीय न रह कर अखिल हिन्दी जगत के हो गये हैं तथापि बहुत से ऐसे बुन्देलखण्डी कवि थे जो प्रकाश में आने की अपेक्षा रखते थे। विन्ध्य प्रदेश के सूचना और प्रचार विभाग ने उनको प्रकाश में लाकर एक सराहनीय कार्य किया है। संग्रहीत कवि और संग्रहकर्त्ताओं के नाम इस प्रकार हैं :—श्री हरिदास व्यास, श्री वासुदेव गोस्वामी, केशवदास, श्री दीपचन्द जैन, विश्वनाथसिंह (श्री मदन मोहन मिश्र) पद्माकर श्रीचन्द्र वर्मा, रघुराजसिंह, श्री राम मिश्र चतुर्वेदी, अक्षर अनन्य तथा श्री अम्बाप्रसाद श्री वास्तव, ठाकुर (श्री राम सागर शास्त्री) लाल (श्री देवव्रत शास्त्री) छत्रसाल, श्री राजिवलोचन अग्निहोत्री, हजूरी, श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी शङ्कर। संग्रह के पूर्व पृथक पृथक कवियों की संक्षिप्त जीवनी और भूमिकाएँ भी दी गई हैं।

—गुलाबराय

कहानी

तूफान—लेखक-श्री हृदयनारायण 'हृदयेश', प्रका०-स्वयं, डिहरी (कसर) आरा। पृष्ठ ६२, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक 'हृदयेश' जी की दस लघु कहानियों का संग्रह है। इन लघु कहानियों में जीवन के विविध पक्ष को समेटने का प्रयास किया गया है। कहानियों के शिल्प में निखार की कमी है और भाषा में कहीं-कहीं प्रान्तीयता का बोध होता है।

इन्सान की लाश—लेखक-श्री विष्णुकिशोर झा 'बेचन'; प्रकाशक-भारती प्रकाशन, भागलपुर। पृष्ठ ६६, मूल्य १=)

प्रस्तुत पुस्तक श्री बेचन की चौदह कहानियों का संग्रह है। इन लघु कहानियों में जीवन वैविध्य का चित्रण है। इनमें एक वेदना और टीस है। किन्तु कहानियों की कला धूमिल और निर्जीव है। कला में विकास आने के बीज कहानियों में हैं जो आशा है निश्चय ही विकसित होंगे।

'खेल खिलौने'—लेखक-श्री राजेन्द्र यादव, प्रकाशक-भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी। पृष्ठ १५२, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की १२ कहानियों का संग्रह है। सारी कहानियों में अपूर्व सामाजिक व्यङ्ग है। कहानियों का विषय, घटनाएँ और पात्र सभी हमारे जीवन के हैं, जिनसे हमें आए दिन परिचय होता रहता है। जीवन में उठने वाली अनेक-अनेक उलझनों का इन कहानियों में चित्रण है; किन्तु केवल प्रकृति-चित्रण ही नहीं वरन् सभी में एक उदात्त सांकेतिक व्यञ्जना है। कहानियों की सांकेतिकता ने कहानियों की शिल्प-विधि को एक नयापन और अनूठापन प्रदान किया है। 'मेरा तन मन तुम्हारा है' और 'कुतिया' कहानियों का आकार दो ही पृष्ठों का होते हुए भी उनमें कहानी की पूर्णता है, यही उनकी कला की मौलिकता है।

महापुत्र और अन्य कहानियाँ—लेखक श्री नरेश, प्रकाशक-कुसुम प्रकाशन, कुसुमपुरी, पटना ३। पृष्ठ १२२, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की १३ कहानियों का संग्रह है। सारी कहानियों का क्षेत्र विषमता और विडम्बना पूर्ण वर्तमान समाज है। जीवन की विभिन्न समस्याओं का रूप हमें इन कहानियों में देखने को मिलता है। कहानियों की कला में विकास के तत्व हैं जो निःसन्देह प्रस्फुटित हो रहे हैं। कहानियों में एक बौद्धिकता है जो बरबस पाठक को विचार करने पर विवश कर देती है।

—राम[illegible]सिंह चौहान एम० ए०

उपन्यास

हार या जीत—लेखक-श्री देवदूत विद्यार्थी, प्रका० राजहंस प्रकाशन दिल्ली ६। पृष्ठ १०६, मूल्य १॥)

यह एक छोटा उपन्यास है। दक्षिण भारत के संस्कारों की पृष्ठभूमि में विवाह की समस्या इसका केन्द्र है। देवेन्द्र एक अनाथ पर मेहनती विद्यार्थी है। प्रो० मेनोन पावती के घर उसके रहने पढ़ने की व्यवस्था कर देते हैं। कुमुद उसकी ओर आकृष्ट हुई पर विवाह बालकृष्ण से करना पड़ा। सरला की ओर देवेन्द्र झुका है पर जीवन की शिक्षा को परिस्थितियां परिवर्तन रूप देती हैं। विवाह होने के दिन ही सरला राष्ट्रीय आन्दोलन में गिरफ्तार हो गई, बाद में देवेन्द्र भी उसी के मार्ग पर चल पड़ा। सरला के लौटने तक देवेन्द्र जीवित न रह पाया।

अन्तर प्रसंग कान्वेन्ट के कुमुद-बालकृष्ण के पारिवारिक जीवन आदि से सम्बन्ध रखते हैं। विवाह समस्या प्रेम समस्या, आजन्म अविवाहित रहने की प्रथा पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। केरल प्रदेश के वैवाहिक संस्कारों 'सिस्टर' बनाने के ढङ्ग का सुन्दर परिचय दिया है। जो यथार्थ है। उत्सुकता किसी उपन्यास की सफलता में आवश्यक है। 'हार या जीत' में उसका समावेश है। उपन्यास बहुत सफल हुआ है।

—त्रिलोचन पाण्डे एम० ए०

हार या जीत—लेखक-श्रीमती भारती विद्यार्थी और श्री देवदूत विद्यार्थी, प्रकाशक-राजहंस प्रकाशन, दिल्ली। मूल्य १॥)

हार या जीत हिन्दी में एक अभिनव प्रयास है। जबकि उपन्यास का नायक देवेन्द्र आत्मसंयम, नारी के प्रति सम्मान और राष्ट्रीयता का एक सजीव उदाहरण है तो नायिका सरला भी बलिदान, प्रगति और नारीत्व की जागरूक प्रतिमूर्ति है। उपन्यास के अद्योपान्त पढ़ जाने पर ऐसा आभास होता है कि इसकी रचना में लेखक दम्पति का उद्देश्य एक मात्र साहित्यिक सृजन करना ही न होकर इससे भी उच्चतर राष्ट्रीय चरित्र का विकास करना है। 'हार या जीत' एक साहित्यिक विलास न होकर एक सोद्देश्य देन है। नारी को परम्परागत रूढ़ियों के खण्डहरों से निकाल कर लेखकों ने उसे आधुनिक जागृति व न्यायोचित सम्मान के भवन में प्रतिष्ठित कर दिया है। पात्रों के क्रियाकलापों का स्वाभाविक विकास, एक गतिपूर्ण प्रवाह और आवश्यक [illegible] के वातावरण का सृजन एक कलापूर्ण टैकनीक के द्वारा हुए हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात इस उपन्यास में यह है कि इसके द्वारा हिन्दी संसार को दक्षिण भारत, विशेषकर केरलप्रदेश के जीवन और संस्कृति की एक झाँकी मिल जाती है जिसकी राष्ट्रीय दृष्टि से विशेष महत्व है।

—[illegible] रावत एम० ए०

नाटक

वितस्ता की लहरें—लेखक-लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रका०—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ १२३, मू० १॥)

मिश्रजी का यह एक ऐतिहासिक नाटक है। वितस्ता नदी (झेलम) के किनारे होने वाले पुरु-सिकन्दर संग्राम को इस नाटक का कथानक बनाया गया है, इसकी विशेषता यह है कि 'प्रसाद' जी ने पुरु-सिकन्दर युद्ध तथा नन्दों के नाश के पश्चात चन्द्रगुप्त साम्राज्य तथा सैल्यूकस के साथ उसका युद्ध इन घटनाओं को एक ही साथ 'चन्द्रगुप्त' में वर्णित किया है। समय की उस अवधि का ध्यान ही नहीं रखा गया जो सिकन्दर व सैल्यूकस के युद्धों के बीच थी। मिश्रजी का दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक है। यूनानी इतिहासकारों के आधार पर मिश्रजी ने 'वितस्ता' के तट पर यवनों का पहुँचना, चोरी से वितस्ता पार करना तथा केकयवीर (पुरु) के साथ उनके घोर युद्ध तथा सन्धि का रोमांचकारी वर्णन किया है। पात्रों को मिश्रजी ने कल्पना के बल पर अतिरञ्जित रूप नहीं दिया जो प्रसादजी व डी० एल० राय ने अपने-अपने 'चन्द्रगुप्त' में दिखाया है। यहाँ विष्णुगुप्त (चाणक्य) भारतीय अरिस्टोटल के रूप में दिखाया गया है परन्तु उसका रूप अन्य पात्रों की तरह अधिक कवित्वमय न होकर व्यवहारिक अधिक है। इस नाटक में पुरु के व्यक्तित्व का चित्रण अत्यन्त चतुरता के साथ किया गया है। पारस देश की राजकुमारियों तारा व रजनी के चरित्र सुकुमार कल्पना पर आधारित हैं। कथोपकथनों में स्वाभाविकता एवं एक अद्भुत शक्ति है। तीन अङ्कों का यह नाटक मंच के भी अनुकूल है।

—रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०

इतिहास

प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—लेखक-डा० रांगेय राघव, प्रकाशक-आत्मा० एण्ड संस दिल्ली। पृष्ठ ५१८, मू० १२)

भारत का प्राचीन इतिहास अभी तक अन्धकार में पड़ा हुआ है। विद्वानों ने उसके विभिन्न खण्डों और विषयों को अलग-अलग रूप से गवेषणा का विषय बनाया है। पहले सिकन्दर के भारत-आगमन के साथ भारतवर्ष का इतिहास आरम्भ किया जाता था, जो लगभग ३२७ ई० पू० है। उसके पहले के इतिहास को पौराणिक कल्पना कह दिया जाता था। कुछ दिन बाद पृथ्वी के गर्भ से मोहनजोदड़ो आदि के खण्डहर निकले जिनका अन्तिम समय ३५०० ई० पू० माना गया और इतिहास एकदम सदियों पीछे खिसक गया। हमारे यहाँ इतिहास लेखन की परम्परा न थी। उस काल की सामग्री हमें पौराणिक गाथाओं के रूप में पुराणों में प्राप्य हैं। यदि उन पर से पौराणिकत्व विश्वास को हटा कर हम सामाजिक सभ्यता और संस्कृति के विकास की वैज्ञानिक पीठिका पर उनका अध्ययन करें तो विस्मृत बहुत कुछ हमारी स्मृति का विषय बन जाता है। हमारे देश के उस प्रागैतिहासिक काल का कोई शृङ्खलाबद्ध इतिहास या विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया था। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने विद्वानों की बिखरी खोजों और प्राचीन ग्रन्थों के मूलाधारों को लेकर परम्पराओं और प्राप्त सामग्री से इस अन्धकार युगीन इतिहास के शृङ्खलाबद्ध रूप से रखने का स्तुत्य प्रयास किया है। उसके तत्कालीन भूगोल, विभिन्न जातियों और उनके सङ्घर्षों से विकासमान समाज का स्वरूप तथा विभिन्न संस्कृतियों का उत्थान-पतन दिखाया है; एवं पौराणिक तथ्यों का वैज्ञानिक विवेचन कर ऐतिहासिक अतीत को एक ऐतिहासिक तारतम्य दिया है। उसने प्रागैतिहासिक काल की प्राचीनतम जातियों और काल विकास के पूर्वापर का विवेचन किया है। आग्नेय परिवारों के साथ समाज के विकास में अधिक गति आई है; उसके बाद द्रविड़ युग है, उसके बाद देव, द्रविड़, असुर, किरात युग आता है और सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का विवेचन है। गणनास्तिक युग अथवा महाजानपद युग उस प्राचीन इतिहास का अन्तिम चरण है, जिसके बाद भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ।

लेखक ने टोटेम जातियों के परिचय से प्राचीन समाजों की समस्याओं और उनकी परम्परा एवं इतिहास पर प्रकाश डाला है, जिससे स्पष्ट होता है कि वानर आदि

जातियाँ किस प्रकार मनुष्य जातियाँ थीं और अपने-अपने टोटेम के आधार पर ही जातियों तथा उनकी सभ्यता के नामकरण होते थे। लेखक ने सतयुग से कलि तक क्रमशः ब्राह्मण शासन, त्रेता में क्षत्री-शासन, द्वापर में पारस्परिक युद्ध, कलियुग में अनार्य और आर्य जातियों की अन्त-र्मुक्ति तथा चातुर्वर्ण्य का पुनर्गठन के रूप में विकास क्रम प्रस्तुत किया है। आर्यों के पहले कबीले देव कहलाते थे जो कालान्तर में पितृपूजा के कारण देवता मान लिए गये। न केवल वही वरन् यक्ष आदि भी उसी तरह सम्मान्य मानी गईं।

लेखक ने महाभारत की अन्तर्कथाओं के साक्ष्य पर आर्यों का बाहर से नागों और राक्षस आदि जातियों से मिलना इत्यादि अनेक ऐसे नए तथ्यों को प्रस्तुत किया है, जो पाठकों को एक वैज्ञानिक आधार पर सोचने के लिए प्रेरित करते हैं। उसने विभिन्न युगों में केवल राजवंशों का ही चित्रण नहीं किया है वरन् उस काल की सांस्कृतिक, दार्शनिक, पारिवारिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं और जन-जीवन का विकास-इतिहास प्रस्तुत किया है जो अब तक की मान्यताओं को एक नये दृष्टिकोण से परखने की चेतना देता है।

भारत के प्रागैतिहासिक काल पर अभी बहुत कुछ मनन, खोज और लिखने को शेष है। इस पुस्तक के तथ्यों और विवेचन को ही अन्तिम नहीं मान सकते और हमारे विचार में न लेखक का ही ऐसा आग्रह होगा। यह उस अथाह सामग्री भण्डार की खोज-विवेचन की भूमिका है जो नयी खोज और नये अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करती है। पुस्तक की इतनी सार्थकता ही लेखक को स्मरणीय रखने के लिए पर्याप्त है।* —रामगोपालसिंह चौहान

भाषा-विज्ञान

शब्दों का जीवन—लेखक—श्री भोलानाथ तिवारी, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। मू० २॥)

भाषा विज्ञान प्रायः शुष्क और नीरस समझा जाता है और कुछ लोगों के लिए यह लोहे के चने का रूप धारण कर लेता है। किन्तु भाषा विज्ञान के सभी अङ्ग शुष्क नहीं हैं। इस पुस्तक में मनोरञ्जक रूप से शब्दों का जन्म से मरण तक का इतिहास उपस्थित किया गया है और शब्दों में सजीव पदार्थों के सभी लक्षण दिखाए गए हैं—वे जन्म लेते हैं, बढ़ते हैं, बोलते हैं, चलते हैं, सङ्गति से प्रभावित होते हैं, उन्नति और अवनति करते हैं और अन्त में मर भी जाते हैं।

शब्दों के जन्म या उत्पत्ति के सम्बन्ध में लेखक ने भाषा की उत्पत्ति की परिकल्पनाएँ दे कर कुछ शब्दों की मनोरञ्जक व्युत्पत्ति दी है। 'बॉयकॉट' शब्द बहुत पुराना नहीं है। इसका जन्म सन् १८८० में हुआ था। कैप्टिन बॉयकॉट आयरलैंड के किसी जमींदार के कारिन्दे थे। वे बड़े अत्याचारी थे। उनके यहाँ नाई और धोबियों ने काम करना छोड़ दिया था। 'अलाय-बलाय' शब्द बहुत पुराने हैं वे कोई दैत्य थे। उनका मूल अथर्ववेद में खोजा गया है। अँगरेजी शब्द 'ईको' इको नाम की एक देवी से बना है जो बड़ी बातून थी। उसको शाप दिया गया था कि वह गूँगी हो जाय किन्तु बाद में शाप में यह परिवर्तन कर दिया गया कि जब कोई उससे बोले तब वह वही बात प्रतिध्वनित कर दे। 'किन्नलिंग' शब्द जिसका अर्थ घर का भेदिया है विभीषण और जयचन्द की भाँति एक नाम के ही आधार पर बना है।

शब्दों में आगम होने के कारण वे बढ़ते हैं। व्यञ्जनों का भी आगम होता है। स्नान से अस्नान, वानर से बन्दर, इसी प्रकार सुनर से सुन्दर बना है। तुर्की तनूर से तन्दूर, रङ्ग से रङ्गत, अमृतबान मृत्तभांड का ही रूपान्तर है।

शब्द उलटते भी हैं। हिंस का सिंह और मस्त का खन हो गया है। उर्दू के शब्दों में भी ऐसा परिवर्तन होता है, जैसे तमगे का तगमा और लमहे का लहमा हो गया है। इन उदाहरणों में मुजरिम से मुलजिम होना भी बताया गया है किन्तु यह वास्तव में विपर्यय नहीं है—दोनों अलग शब्द हैं और इनका अर्थ भी भिन्न है। मुजरिम जुर्म से बना है और मुलजिम इलजाम से बना है। शब्द अपना पिछला इतिहास भी बताते हैं। इस प्रकार वे

* अभी हाल में इस पुस्तक पर लेखक को २१००) का डालमिया पुरस्कार प्राप्त हुआ है। —सं०

बोलते हैं। अंग्रेजी 'पेन' शब्द लैटिन 'पेना' से बना है जिसका अर्थ पङ्ख होता है। पहले प्रायः 'Quill pen से लिखा जाता था। 'ननद' शब्द संस्कृत शब्द 'ननन्द' से बना है। "ननन्द' का अर्थ है—जो प्रसन्न न हो। यह हिन्दू परिवार ननद-भावज की अनबन का द्योतक है। 'दुहिता' शब्द की व्युत्पत्ति 'दुह' धातु से की गई है जिसका अर्थ दुहना होता है वैसे तो वह माता पिता को उमर भर दुहती रहती है। किन्तु कुछ लोगों ने इसकी व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार से की है जिसकी एक व्युत्पत्ति 'दूरे हिता' से बताई गई है जिसके दूर रखने में ही हित है क्योंकि दूर रहने में रोज-रोज नहीं देना पड़ता और घर से दूर कर देने में भी हित होता है। उसके दूर करने की सबको फिक्र रहती है।

शब्दों का कहीं-कहीं इतना रूप बदल जाता है कि वे पहचाने नहीं जाते। जैसे 'कूचए बहार' का 'कूड़े भार' हो गया। 'माहुर' की—जिसका अर्थ जहर है—व्युत्पत्ति मधुर से की है। यह सम्भव हो सकता है जैसे 'भद्र' से 'भला' और 'भद्दा' दो विपरीतार्थक शब्द बन सकते हैं और पुंगव से पौंगा शब्द बन सकता है। किन्तु लेखक ने जो कल्पना की है कि जहर मीठा होता है, वह सर्वदा ठीक नहीं है। जहर के साथ कडुवे का अधिक सम्बन्ध है, कडुवा जहर। फारसी शब्द 'बुत' हमारे 'बुद्ध' का ही रूपान्तर है। और अङ्गरेजी 'कोट' Cot (चारपाई) शब्द संस्कृत के खट्वा शब्द से बना है। 'खटराग' शब्द गाने के 'षटराग' से बना है और यह बताता है कि लोगों को आलाप वाला पक्का गाना एक आफत ही लगती थी। पक्के गाने के समर्थक क्षमा करें।

शब्द चलते-फिरते भी हैं। एक देश से आकर दूसरे देश में बस जाते हैं और फिर पहचाने भी नहीं जाते। जैसे 'मल' शब्द आस्ट्रेलिया का है लेकिन संस्कृत के कुडमल, कमल और परिमल में घुल-मिल गया है। शायद 'माली' शब्द भी 'मल' से ही बना हो किन्तु लेखक ने मौलश्री में भी मल देखा है। यह विचारणीय है। इसका सीधी-साधी व्युत्पत्ति 'मौलश्री' से है।

लेखक का कथन है कि शब्द मोटे और पतले भी होते हैं किन्तु जो उदाहरण दिए गए हैं वे शब्दों के आकार में मोटे और पतले होने के नहीं हैं; वे तो अर्थ के विस्तार के और सङ्कोच के हैं। ये शब्दों के शरीर के मोटेपन और पतलेपन का नहीं वरन् उनकी आत्मा के विस्तार और सङ्कोच के हैं। शब्दों के अर्थ विस्तार के उदाहरण 'परसों' (परश्वः) का अर्थ होता है अगली कल के बाद का दिन किन्तु विस्तार से पिछली कल के पहले दिन के लिए भी प्रयोग होने लगा है। 'प्रवीण', 'गवेषणा' आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। प्रवीण का अर्थ होता था वीणा बजाने में प्रकर्षता प्राप्त करने वाला, फिर हरएक प्रकार के कौशल को प्रवीणता करने लगे। गवेषणा का अर्थ भी गौ की चाह या खोज थी। गौ और मृग अर्थ सङ्कोच के अच्छे उदाहरण हैं। गौ का अर्थ था चलने वाला, इस व्यापकता को छोड़ कर वह एक चतुष्पद विशेष में सीमित हो गई। किन्तु उसे जो आदर मिला वह इस व्यापकता की कमी को पर्याप्त मात्रा में पूर्ति कर देता है।

शब्दों पर सङ्गति का भी प्रभाव पड़ता है इसको पारिभाषिक शब्दावली में मिथ्या सादृश्य (false analogy) कहते हैं। निर्गुण की सङ्गति से 'सगुण' भी 'सर्गुण' बन गया। मनोरञ्जन के सादृश्य से ही 'मनकामना' 'मनोकामना' बन जाता है। Shall से Should बना तो Can से बने हुए Could विचारा बिना h के भी Should का समध्वनि बन गया।

शब्द उन्नति और अवनति भी करते हैं। उन्नति को अर्थोत्कर्ष और अवनति को अपकर्ष कहते हैं। 'साहस' ने साहस करके चोरी, डकैती और व्यभिचार से उन्नति कर के हिम्मत का रूप धारण कर लिया। और 'कपड़ा' 'करपट' से जिसका अर्थ चिथड़ा होता है, उन्नति कर के रेशमी कपड़ों तक का वाचक बन गया है। 'गुरु' और 'हजरत' अर्थ के अपकर्ष के अच्छे उदाहरण हैं। अङ्गरेजी के Cunning शब्द का भी ऐसा ही पतन हुआ। इसका प्रारम्भिक अर्थ था 'बुद्धिमान'।

शब्द जहाँ मरते हैं वहाँ वे कभी-कभी उसी शरीर से दूसरा जन्म भी ले लेते हैं। आजकल ग्रामीण शब्दों को पुनर्जीवन प्रदान करने का आन्दोलन ही चल रहा है।

पुस्तक में शब्दों का बड़ा मनोरञ्जक इतिहास है। भाषा विज्ञान के कम से कम दो अङ्गों का—अर्थ विचार और ध्वनि परिवर्त्तन का विद्यार्थियों को इस पुस्तक (शब्दों का जीवन) द्वारा सहज में ही हँसते व खेलते ज्ञान हो जायगा।

—गुलाबराय

स्फुट

मेरे विचार में—लेखक-श्री वंशीधर, प्रकाशक-श्री शिवलाल एण्ड कम्पनी, आगरा। पृष्ठ १००, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के स्फुट विचार हैं। विषयों की संख्या १४० है। यद्यपि इन विषयों का विवेचन सरल और आडम्बर रहित भाषा में हुआ है तथापि लेखक के कथनों में मार्मिकता और हृदय की चोट है। मित्रता किस से करें शीर्षक से आप लिखते हैं 'अगर मित्रता करनी है तो किसी व्यक्ति विशेष के बन्धन में न बँधकर प्रिय कार्य से मित्रता करें अपने विचारों से मित्रता करें अपने सिद्धान्तों से मित्रता करें।' डर शीर्षक में वे लिखते हैं 'मृत्यु से इतना डर नहीं लगता जितना कि मृत्यु के डर से—परीक्षा से इतना डर नहीं लगता जितना कि परीक्षा के डर से।' पुस्तक में नैतिकता लिए हुए अनुभवाश्रित ऐसे ही तथ्य हैं।

प्रयाग दर्शन—प्रकाशक-पब्लिकेशन्स डिवीजन मिनिस्ट्री आफ इन्फारमेशन एण्ड ब्रॉड कास्टिंग, नई दिल्ली। पृष्ठ २४, मूल्य।)

इस छोटी सी पुस्तक में प्रयाग का पौराणिक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व बतला कर वहाँ के दर्शनीय स्थानों का परिचय दिया गया है। यह एक छोटी सी गाइड है जो यात्रियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। दर्शनीय स्थानों के चित्र भी दर्शनीय हैं।

—गुलाबराय

सौन्दर्य शास्त्र—लेखक-डा० हरद्वारीलाल शर्मा, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग। पृष्ठ २४०, मूल्य ३)

यद्यपि हम सभी प्रति दिन के व्यवहार में सौन्दर्य और सुन्दर आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं परन्तु सौन्दर्य के शास्त्रीय विवेचन का हिन्दी साहित्य में अभी अभाव ही है। डा० हरद्वारीलाल शर्मा ने इस ओर पग उठाकर हिन्दी साहित्य के एक अङ्ग की पूर्ति की है। उन्होंने विषय के जिस विवेचन क्रम को अपनाया है वह शास्त्र लेखन के उपयुक्त है। सौन्दर्य की परिभाषा देकर विज्ञान आदि से उसका सम्बन्ध, शास्त्र की उपयोगिता तथा मानव की सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओं का सिंहावलोकन आदिकाल से ही किया गया है। इस विवेचन में आदि मनुष्य के असीम, स्वच्छन्द और भयङ्कर वैदिक जीवन की व्यापकता में विराट की अनुभूति—रामायण काल में शील के आश्रय से ही सौन्दर्य का अनुभव—महाभारत काल में संघर्ष से सामञ्जस्य, सामञ्जस्य से शान्त और शान्तरस से ही सौन्दर्यानुभूति और बौद्ध-काल की शून्यता का सौन्दर्य आदि सभी बातों का वैज्ञानिक क्रमबद्ध विश्लेषण है। सौन्दर्य की अनुभूति को काव्य आदि कलाओं के जन साधारण द्वारा उपभोग और अध्यात्म विद्या के आनन्द के दृष्टिकोण से देखा गया है जिसमें भरतमुनि के 'काव्य में रस सिद्धान्त' पर बहुत ही अच्छा प्रकाश डाला है। संगीत, चित्र, मूर्ति तथा वस्तुकला का सौन्दर्य क्या व्यक्त करता है। उसका रूप क्या है। उसके सौन्दर्य की अनुभूति किस तरह होती है आदि प्रश्नों के उत्तर में मार्मिक भेद है। उनकी दृष्टि के अनुसार संगीत का सौन्दर्य साहित्यिक सौन्दर्य की अपेक्षा सरल और स्वाभाविक है। ललित कलाओं में सूक्ष्मतम साहित्य से प्रारम्भ कर शर्माजी क्रमशः 'स्थूल' वस्तु की ओर क्यों अग्रसर हुये हैं—यह समझ में नहीं आया। क्रम यदि वस्तु से साहित्य की ओर रहता तो सृजन की सौन्दर्यानुभूति सुगम और सहज गम्य हुई होती।

जीवन संग्राम—लेखक-श्री जयनारायण पाण्डेय, प्रका०-ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना। पृष्ठ १४०, मू० १॥)

मनुष्य जन्म धारण करता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस समानता के अतिरिक्त जीवन के हर कोण से मनुष्य में सर्वत्र ही असमानता पाई जाती है—कुछ तो उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं और कुछ पूर्णतया असफल सिद्ध होते हैं। उन्नत जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य का प्रयत्न ही मौलिक धर्म है।

लेखक ने इसी विषय को बड़ी तर्कपूर्ण शैली से लिया है। उसने सबसे पहले जीवन का उद्देश्य देकर फिर क्रमशः जीवन की प्रत्येक दशा बचपन, तरुणाई, विवाहित जीवन और आकांक्षायें आदि को स्वाभाविक विकास के दृष्टिकोण से लिखा है। पाण्डेयजी का विशेष बल आत्म-संयम और स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ मन पर रहा है। साथ ही साथ वातावरण से उत्पन्न विषमताओं को जिनके कारण बहुतबार जीवन में उन्नति होती ही नहीं दिखाने का उन्होंने अच्छा प्रयास किया है परन्तु साथ ही साथ इसका कोई हल भी उन्होंने नहीं बताया जो सफलता पूर्वक कार्यान्वित किया जा सके। सम्भवतः इसलिए कि यह समस्या सब की अलग अलग ही होगी। आत्म विश्वास के होने पर भी बिना साहसिकता के ध्येय तक नहीं पहुँचा जा सकता और साहसिकता बलिदान चाहती है। पाण्डेयजी ने इसी लिए अन्त में साहसिकता पर सबसे अधिक जोर दिया है।

—दयाप्रकाश एम० ए०

प्राप्ति स्वीकार

भारत के लाल—लेखक-श्री रघुवीर शरण 'मित्र' प्रका०-भारतीय साहित्य प्रकाशन मेरठ। पृष्ठ ६२, मूल्य १)

बच्चों के उच्च लक्ष्य को लेकर कविता में बच्चों के लिये सुन्दर पुस्तक है।

बौनी बाबू—लेखक-रघुवीरशरण 'मित्र' प्रकाशक-भारतीय साहित्य प्रकाशन मेरठ। पृष्ठ ६७, मूल्य १)

बच्चों के लिये सचाई और आत्म निर्भरता सम्बन्धी बौनी बाबू के जीवन सम्बन्धी एक अच्छी कहानी है।

शङ्का समाधान

१—गुप्तजी के 'यशोधरा' काव्य में निम्न पंक्तियाँ किसका कथन हैं?—

"कोई निरपराध को मारे
तो क्यों अन्य न उसे उबारे
रक्षक पर भक्षक को वारे
न्याय दया के दानी।"

—शिवबिहारीसिंह, सारन (बिहार)

——उक्त पंक्तियाँ स्पष्टतः राहुल द्वारा कही गई हैं।

२—क्या यशपाल की रचनाओं में मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के सिद्धान्तों का समन्वय है या भ्रमवश लोग ऐसा मानते हैं? —विष्णुकिशोर 'बेचन' भागलपुर।

——साहित्यकार अपने युग की प्रचलित विचारधाराओं से प्रभावित होता ही है। यदि यशपाल की रचनाएँ उनसे प्रभावित हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है!

३—अज्ञेय तथा रुडलर के अनुसार 'स्वान्तः सुखाय लेखक का ध्येय एक बिगड़े बालक का दृष्टिकोण है न कि सफल सामाजिक व्यक्तित्व का।' तो क्या तुलसीदास का दृष्टिकोण सामाजिक न था?

—सत्येन्द्रनाथ गुप्त, हरदोई।

——तुलसीदास का समस्त काव्य सामाजिकता का सफल काव्य ही है। 'स्वान्तः सुखाय वाली' बात उन्होंने भक्ति के आवेश में लिखी है। इसके विपरीत अज्ञेय की रच-
[illegible]
सकता है।

४—'तुलसी सुन केवट के वर बैन,
हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है।"

राम जानकी की ओर देखकर ही क्यों हँसे? लक्ष्मण या केवट की ओर देखकर क्यों नहीं हँसे?

—विश्वनाथ राम, गया।

——जब कोई किसी की बात पर प्रसन्न होता है तो अपनी प्रसन्नता के भाव का अपने पास के आत्मीय को साझीदार बनाता है। यही बात यहाँ है। सीता की ओर देखते हुए हँसने से यह भाव निहित है कि देखो केवट ने कैसी [illegible] कही।

REGD. No. A 608. MAY, 1954. LICENCE No. 10.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

परीक्षार्थी प्रबोध भाग ४ प्रकाशित होगया

इस भाग में हमने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है कि एम० ए०, साहित्य-रत्न, प्रभाकर, साहित्यालङ्कार आदि उच्च श्रेणी के परीक्षार्थी इससे विशेष लाभ उठा सकें। अतः हमने इन परीक्षाओं के सम्बन्ध के कुछ आवश्यकीय लेख, जो अभी तक साहित्य-सन्देश अथवा अन्य किसी भी पुस्तक में नहीं आये हैं, विद्वानों से लिखवा कर इसमें सम्मिलित किये गये हैं जिससे इस भाग में ठोस एवं पठनीय सामग्री दी गई है। यही कारण है कि इस खण्ड की सम्भावित सूची के निकालने पर पुस्तक छपने से पहले ही सैकड़ों आर्डर आ चुके थे और छप जाने पर तो इसकी बराबर माँग आ रही है। इस भाग में भी लगभग २०० पृष्ठ हैं। कागज इसमें बढ़िया लगाया गया है जिससे पुराने तीनों भागों की अपेक्षा यह भाग दूना मोटा है और मोटे कागज पर छपाई भी अच्छी हुई है—मूल्य २) पोस्टेज पृथक्।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य में

चारों भाग एक साथ लेने पर पोस्टेज की रियायत जो ३१ दिसम्बर तक थी पर पुस्तक उस समय तक तैयार न हो सकी अतः यह मियाद ३१ मार्च ५४ तक बढ़ा दी गई है। अतः ३१ मार्च तक जो ग्राहक ६) का मनीआर्डर पहले भेज देंगे उन्हें पोस्टेज खर्चा न देना पड़ेगा और चारों भाग रजिस्ट्री से भेज दिये जावेंगे।

चारों भागों की विषय सूची मुफ्त मँगायें।

साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा।

Postage will be paid by Addressee

BUSINESS REPLY CARD

No Postage Stamp necessary if Posted in India

AGRA G. P. O.
Permit No 1136

Book Post

To

श्री व्यवस्थापक

साहित्य-रत्न-भण्डार,

४, गांधी मार्ग,

आगरा।

साहित्य सन्देश

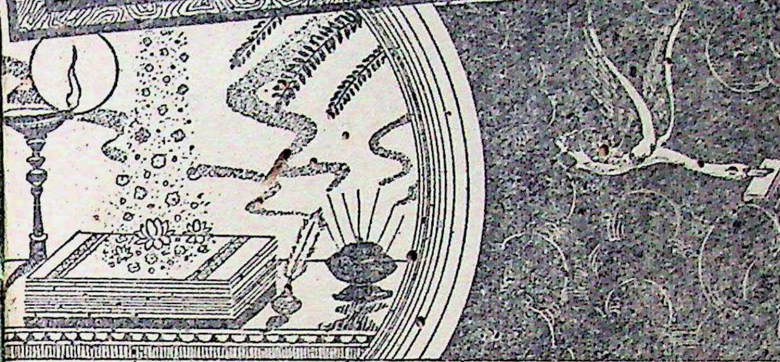
वर्ष १५

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम०ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

अङ्क १२



[वार्षिक मूल्य ४)] आगरा—जून १९५४ [एक अङ्क का ।=

इस अङ्क के लेख

'साहित्य-सन्देश' के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १५ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा-जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट अफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपतें। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : जून १९५४

आलोचना

हमारी नाट्य साधना—राजेन्द्रसिंह गौड़ २।)
प्राकृत विमर्श—डा. सरयूप्रसाद अग्रवाल ४॥)
रेवातट—विपिनबिहारी मिश्र ६)
हिन्दी काव्य दर्शन—हीरालाल तिवारी ६।)
भूषण—विश्वनाथप्रसाद मिश्र ४)
प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें—डा० रामविलास शर्मा ३॥)
विनय पत्रिका दर्शन—राकेश एम० ए० १॥)
हमारे नाटककार—राजेन्द्रसिंह गौड़ ३)

कविता

मर्म स्पर्श—हरिऔध ३)
गोविन्द रामायण—संत इन्द्रसिंह चक्रवर्ती ४)
स्वप्न और सत्य—भगवतशरण जौहरी ॥)

कहानी

सन्त सिपाही—शिवसिंह सरोज ।=)
रत्न राजि—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा २)
जिन्दगी मुस्कराई—कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ४)
खेल खिलौने—राजेन्द्र यादव २)
सूरतें और मूरतें—प्रो० कपिल १)

उपन्यास

यशोधरा जीत गई—डा० रांगेय राघव ३)
देवकी का बेटा— ,, ३)
तीन पीढ़ी—शिवदानसिंह चौहान ५)

नाटक

हास्य रस—रामचन्द्र वर्मा १॥)
पक्का गाना—अश्क ३)
ब्रह्मचर्याश्रम—कन्हैयालाल मुन्शी १)

निबन्ध

चितवन की छाँह—विद्यानिवास मिश्र २॥)

सेक्स

काम प्रेम और परिवार—जैनेन्द्रकुमार २॥)

स्फुट

हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान—डा० सम्पूर्णानन्द १)
पाप और प्रकाश—जैनेन्द्रकुमार २॥)

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मँगाने का पता—**साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।**



भाग १५] आगरा—जून, १९५४ [अङ्क १२

हमारी विचार-धारा

यूनेस्को द्वारा भारतीय पुस्तकों का प्रकाशन—

विश्व के राष्ट्रसङ्घ (यूनेस्को) द्वारा कुछ भारतीय पुस्तकों के अनुवाद अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं में करने की व्यवस्था की गई है। इसके लिए जो भाग्यवान पुस्तकें छाँटी गई है, वे हैं—रामचरितमानस, गोदान और कामायनी (हिन्दी), कृष्णकांतेरविल (बङ्गला), कम्ब-रामायण एवं तिरुकुरल (तमिल), ज्ञानेश्वरी एवं अभंग (मराठी)।

क्या हिन्दी लादी जा रही है?

इधर कई स्थानों से यह उपदेश हुआ है विशेष रूप से हमारे देश के प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरू ने यह कहा है कि हिन्दी किसी पर जबर्दस्ती लादी न जाय। पर प्रश्न यह है कि हिन्दी को लादने का प्रश्न उठा ही क्यों? यह तो कोई नहीं कहता कि हिन्दी को जबरन किसी पर लादा जाय। सब ओर हिन्दी का प्रचार करने की बात राष्ट्रीय दृष्टि से ही कही जाती है और उसी दृष्टि से उसका सर्वत्र प्रचार हो रहा है। कहीं भी वह प्रान्तीय भाषा का स्थान लेने का प्रयत्न तो नहीं कर रही। जहाँ भी उसका प्रचार हो रहा है वहाँ वहीं के लोगों द्वारा हो रहा है और राष्ट्र के हित के साथ उनके अपने हित को लक्ष्य कर ही हो रहा है। ऐसी दशा में हिन्दी को किसी पर लादने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह गलत फहमी रहनी न चाहिए।

शिक्षा मन्त्रालय का उर्दू प्रेम—

पिछले दिनों एक प्रश्न के उत्तर में केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से लोक सभा में जो उत्तर दिया गया उससे उसके उर्दू प्रेम का अच्छा परिचय मिलता है। उत्तर से विदित हुआ है कि केन्द्रीय सरकार ने १९५२ में हिन्दी के किसी लेखक को कोई सहायता नहीं दी, हाँ, उर्दू के दो लेखकों श्री शमीम करहानी को १२००) तथा हाजी वहिदुद्दीन बेखुद को ५००) तथा १५००) मासिक। १९५३ में हिन्दी के चार लेखकों को और उर्दू के पाँच लेखकों को सहायता मिली। नाम यह हैं—हिन्दी वाले—श्री शिवपूजन सहाय जी, आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री, श्री जहूरबख्श और श्री डा० रन० मिश्र, [illegible] का

१५०) मासिक। उर्दू वाले—हाजी वहिदुद्दीन, दीवान पिंडीदास, श्री अनवर साबरी, मिर्ज़ा चंगेजी, श्री लालू राम जोश मलसियारी को १००) और ११०) मासिक।

साहित्य और जन-अभिरुचि—

उक्त शीर्षक से एक सम्पादकीय टिप्पणी सहयोगी 'प्रवाह' ने दी थी। हम इसकी राय से पूर्ण सहमत हैं इसलिए हम उस टिप्पणी का कुछ अंश नीचे दे रहे हैं:—

"समाज के गलित ढाँचे से उत्पन्न गर्दित अभिरुचि के पीछे चलने वाले बाजारू साहित्य की नहीं बल्कि वर्तमान जन-अभिरुचि का स्तर उभार कर राष्ट्र के नये विकास के पथ पर उसे नया मोड़ देने वाले सशक्त साहित्य की आवश्यकता है। आज हमें जन अभिरुचि को दुलराने वाले साहित्य की नहीं बल्कि जन अभिरुचि को पकड़ कर झकझोर देने वाले साहित्य की आवश्यकता है। आज हमारे साहित्यिक को जन अभिरुचि के लिये न तो मदिरालय और अफीमघर खोलने हैं और न चिकित्सालय ही, बल्कि उसे तो आज ऐसे सत् साहित्य के मन्दिरों का निर्माण करना है, जहाँ जन-अभिरुचि नतशीश हो, परिष्कृत हो एवं उदात्त बने।

जनता की अभिरुचि के अनुकूल ही यदि साहित्य चलता है तो साहित्य जनता को ऊँचा उठाने के स्थान में स्वयं ही गिर जायगा। साहित्य जनता के साथ चलकर भी उसका नेतृत्व करता है और उसको ऊँचा उठाता है। साहित्य यदि जनता का उन्नायक न बने तो उसका अस्ति व ही वृथा है।

हिन्दी विश्व कोश—

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा हिन्दी में जो विश्व-कोश तैयार किया जा रहा है वह भी एक रहस्य की वस्तु हो गया है। दिसम्बर १९५३ में शिक्षा मन्त्रालय के एक प्रश्न श्री केशवदेव मालवीय ने लोकसभा में बताया था कि सरकार ने हिन्दी विश्व कोश तैयार करा लिया है और उसकी छपाई भी पूरी होने वाली है। इन छः महीनों में आशा थी कि यह कोश प्रकाशित हो कर बाजार में आ जायगा। परन्तु मई १९५४ में शिक्षा मन्त्री मौलाना आजाद ने श्री दिनकर के प्रश्न पर बताया कि जन विश्व-कोश का काम नीचे लिखे सज्जनों की एक समिति के आधीन चल रहा है:—श्री सुन्दरलाल, श्री हामिदअली खाँ, श्री के० जी० सैयदैन, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार। अब प्रश्न यह है कि दिसम्बर में बताया गया जामिया मिल्लिया से निकलने वाला विश्व-कोश और मई में बताया गया जन विश्व-कोश दोनों एक ही हैं या अलग अलग। यदि एक ही है तो जो कोश दिसम्बर में छप चुका था वह मई में फिर कैसे तैयार हो रहा है ? और यदि यह दोनों विश्व कोश अलग-अलग हैं तो पहला कोश अभी तक प्रकाशित क्यों नहीं किया गया और उसके निकलने से पूर्व ही एक और वैसे ही कोश के निकालने की जल्दी क्यों की गई ? यह प्रश्न है जिनका उत्तर लोकसभा का कोई सदस्य शिक्षा मन्त्रालय से ले सके तो अच्छा !

कविता सुनिए नहीं पढ़िए—

पिछले महीनों में बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर जो कवि सम्मेलन हुआ उसके सभापति श्री रामदयालजी पाण्डेय ने अपने भाषण में हिन्दी कवियों की दशा का दिग्दर्शन कराते हुए हिन्दी प्रेमियों को जो परामर्श दिया है वह वास्तव में महत्वपूर्ण है। उन्हीं के शब्दों में—

"कवि सम्मेलन से क्या लाभ ?

लाभ कुछ नहीं, पर हानि बहुत है। आप कहेंगे, जनता का मनोरञ्जन होता है, कविता का प्रचार होता है, हिन्दी का प्रचार होता है।

मनोरञ्जन और हिन्दी प्रचार को मान भी लें, तो कविता का प्रचार होता है, ऐसा हम नहीं मान सकते। यदि प्रचार होता तो कविता की पुस्तकें प्रकाशकों के गुदामों और पुस्तक-विक्रेताओं की आलमारियों में नहीं पड़ी रहतीं, बल्कि घर घर में पढ़ी जाती हुई दिखाई पड़तीं। जनता ने कविता के प्रति ऐसे अनासक्ति-योग का परिचय दिया है कि अब कविता-पुस्तकों के लिए लेखकों के लिए प्रकाशकों के दरवाजे भी बन्द हैं। कविता के अनेकानेक उत्कृष्ट ग्रन्थ सड़ रहे हैं, कवियों की प्रतिभा में जङ्ग

लग रही है, उनका तथा उनके परिवारों का आहार छिन रहा है। उनमें से कितने ही भूखों मर रहे हैं, यह भी सत्य है।

इसलिए निवेदन है, कविता पढ़िए, सुनिए नहीं। कविताएँ पढ़िए, कविता-पुस्तकें पढ़िए। पुस्तकालयों से लेकर ही नहीं, बल्कि अपने घरों में रखकर पढ़िए। माँगकर नहीं, बल्कि खरीद कर पढ़िए।"

अंग्रेजी हिन्दी कोश—

साप्ताहिक 'जनसत्ता' के ४ अप्रेल के अङ्क में श्री विद्युशर्मा का एक लेख छपा था जिसका शीर्षक है 'हिन्दुस्तानी' की 'बिच विंदी' 'खोली' किसने। लेख बड़ा मनोरञ्जक और तथ्य पूर्ण है। लेख यों प्रारम्भ होता है :-

"शिक्षा-मन्त्रालय की मदों पर लोक-सभा में जो बहस हुई, उसमें प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसायटी' को अँग्रेजी-हिन्दी कोष बनाने के लिए ६० हजार रुपये देने की बहुत चर्चा हुई। इस बात की आलोचना का मुख्य आधार यह है कि उक्त संस्था हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी का रूप बिगाड़ने की कोशिश करती है। लेखक ने पचासों उदाहरणों द्वारा यह बात सिद्ध की है। इस लेख के ऊपर विद्वान सम्पादक ने जो टिप्पणी दी है, वह भी पठनीय है :—

'हिन्दुस्तानी' की 'बिचविंदी' खोली किसने !—यह सवाल ऊपर के शीर्षक के रूप में लेखक ने केन्द्र के शिक्षा मन्त्रालय से पूछा है। जिस पुस्तिका की इस लेख में चर्चा है उसके रचयिता वही सज्जन हैं जिनके द्वारा अँग्रेजी हिन्दी कोष तैयार कराने के लिए केन्द्रके शिक्षा-मन्त्रालय ने ६० हजार रुपये का दान दिया है। इस आलोचना के पढ़ने से यह बात साफ प्रकट हो जाती है कि केन्द्र का शिक्षा-मन्त्रालय किस तरह हिन्दी के रूप को बिगाड़ने की कोशिश कर रहा है। हिन्दी के तत्सम शब्दों के रूप बिगाड़ने और फारसी-अरबी शब्दों के तत्सम रूपों को ज्यों का त्यों बनाये रखने की उसकी इस चाल का पता इस पोथी के पढ़ने से, पाठक को आसानी से लग जायगा। हिन्दी के वही रूप इस पुस्तक में मिलते हैं जिन्हें आसानी से अरबी फारसी लिपि में हम लिख सकें। इस तरह देवनागरी लिपि का अनादर करने पर यह मन्त्रालय लगा हुआ है। यह इस लेख के लेखक की पहली शिकायत है। उसकी दूसरी शिकायत यह है कि इस पुस्तिका में दिये गये हिन्दी शब्दों के विकृत रूपों को देख कर लोग हिन्दी से भड़क कर और उनके स्थान में अरबी फारसी के शब्दों को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाएँ।"

हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी के सञ्चालक हैं श्री सुन्दरलालजी। आपने ७ जून के 'हिन्दुस्तान' में एक लेख द्वारा अपनी सफाई दी है। उसके भी कुछ अंश देखिए—

"हमें याद रखना चाहिए कि यह 'शब्दावली' पाँच बरस पहले की निकली हुई है। अगर हिन्दी प्रेमी भाई ऊपर के वाक्य में हिन्दुस्तानी की जगह हिन्दी कर लें और सारी शब्दावली को ध्यान से पढ़ जावें तो हमें विश्वास है कि अब भी उसके तीन-चौथाई शब्द उन्हें काफी पसन्द आयेंगे। यह 'शब्दावली' इस लेख को लिखते समय मेरे सामने रखी है। इसमें 'प्राइम मिनिस्टर' के लिए केवल एक शब्द है 'परम वजीर'। यानी इस शब्दावली के अनुसार भी जवाहरलालजी को 'पहलुआ' नहीं कहा जा सकता। 'प्रीमियर' के लिए कई शब्द हैं जिनमें एक शब्द 'पहलुआ' भी है। अंग्रेजी शब्द 'प्रीमियर' के भी कई अर्थ होते हैं। 'प्रीमियर' के लिए उसमें दूसरे शब्द हैं 'पहला वजीर' और 'बड़ा वजीर'।

अंग्रेजी शब्द 'केबिनट' के भी कई अर्थ होते हैं। इस शब्दावली में 'केबिनेट का अर्थ 'कुटी' और 'खोली' भी दिया है और 'काबिना' और वजीरात' भी। 'काबिना' शब्द 'केबिनट' के लिए दुनिया की बहुत सी भाषाओं में काम आता है और वजीरात शब्द 'पञ्चायत' के जोड़ पर बनाया गया है। इस 'शब्दावली' के तैयार करने वालों ने 'मिनिस्टर' की जगह वजीर शब्द इसलिए सुझाया है क्योंकि 'मन्त्री' शब्द वे 'सेक्रेटरी' के लिए काम में लाए हैं। वजीर शब्द का, जो सारे भारत में समझा जाता है, उन्होंने बाईकाट करना ठीक नहीं समझा। 'सेक्रेटर' के लिए उन्होंने अवश्य 'बिचबिन्दी' सुझाया है।"

इस सफाई से किसी हिन्दी प्रेमी की मनःसंतुष्टि नहीं होगी। प्रीमियर के लिए सारे भारत में प्रधान मन्त्री शब्द का प्रयोग हो रहा है। और कैबिनट के लिए मन्त्रि-मण्डल और सैण्टर के लिए केन्द्र शब्द बहुत व्यापक और प्रचलित हैं। जो शब्द सुन्दरलालजी ने लिखे हैं उन्हें सिवाय उर्दू के हिमायतियों के कोई राष्ट्र भक्त पसन्द नहीं करेगा।

हिन्दी साहित्य और राष्ट्रभाषा—

श्रद्धेय पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने सागर विश्वविद्यालय के उप कुलपति श्री रामप्रसाद त्रिपाठी को एक पत्र भेज कर यह सुझाया था कि राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए हिन्दी साहित्य का सर्वाङ्गीण ज्ञान प्रदान करना विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है। इस सम्बन्ध में जो तर्क चतुर्वेदीजी ने दिया है वह बड़ा ही हृदयग्राही और विचारणीय है। पूरा पत्र पठनीय है पर हम यहाँ स्थानाभाव से केवल उसका कुछ अंश दे रहे हैं—

"हमारे देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले बन्धु यह आग्रह कभी नहीं करेंगे कि उन भाषाओं का अध्ययन और सम्बन्ध स्थापन भारत के पूर्व और पश्चिम एशियाई देशों में किया जावे। किन्तु साथ ही इस देश की समस्त भाषाओं के भाषाविद् और देशबन्धु यह कभी न सह सकेंगे कि जिस भाषा को वे अपनी राष्ट्रभाषा की तरह अपनाएँ उसमें एशिया के देशों की भिन्न-भिन्न भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित रखने की क्षमता न हो। अफगानिस्तान, इण्डोनेशिया और चीन और अन्य पश्चिमी देशों में भी भारतीय राष्ट्रभाषा का अध्ययन अध्यापन शुरू हो रहा है अथवा शुरू होने जा रहा है। ऐसे समय दिशादर्शन रहित और तुलनात्मक अध्ययन-अध्यापन की क्षमता से खाली स्नातक यदि अन्य देशों में राष्ट्रभाषा पढ़ाने गये तो वे केवल साहित्यिक प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति होने के कारण अपने ज्ञान के बूते विदेशों में हिन्दी पढ़ाने के अपने उत्तरदायित्वों को न निभा सकेंगे और न ही भारतीय-राष्ट्रभाषा के गौरव को वहाँ सिद्ध कर पायेंगे। यदि अक्षमता के ये दोष हम अपने देश के नामज्ञानपूर्ण स्नातकों पर रखना चाहें तो यह हमारी भूल होगी। अब विश्वविद्यालय में हमने वितारमयी क्षमता की प्रवृत्ति, श्रेष्ठता, सरलता, विविधता और सामर्थ्य रखने वाला राष्ट्रभाषा का शिक्षण ही नहीं दिया तब हमारे देश का केवल साहित्य का ज्ञान रखने वाला हिंदी ज्ञाता कैसे संभव है कि हमारा उद्देश्य पूरा कर सके। मेरे नम्र विचार से राष्ट्रभाषा की अभिवृद्धि का दृष्टिकोण रखने वाले ऐसे स्नातक हमारे देश के विश्वविद्यालयों ही में निर्मित होने चाहिए और उन्हें साहित्य के साथ-साथ राष्ट्रभाषा के धरातल से शिक्षण दिया जाना चाहिए, जिससे वे भारत की भाषा की महत्ता को विश्व के सम्मुख रख सकें, उसे ज्ञान के फैलाने का सुलभ साधन बना सकें और देश विदेशों के कार्य-क्षेत्रों में उसकी अनिवार्यता का वातावरण सँभाल सकें।"

हिन्दी उर्दू का प्रश्न—

हैदराबाद में आर्य महासम्मेलन के अवसर पर होने वाले राष्ट्रभाषा हिन्दी सम्मेलन के सभापति के पद से विगत २६ मई को पं० हरिशङ्करजी शर्मा ने जो भाषण दिया उसमें से हिन्दी उर्दू से सम्बन्ध रखने वाला कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। इस पर कोई टिप्पणी करना हम आवश्यक नहीं समझते। उर्दू को क्षेत्रीय भाषा घोषित करने का जो आन्दोलन कुछ लोग चला रहे हैं उसी की चर्चा करते हुए शर्माजी ने लिखा है—

'अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के कर्णधार डाक्टर जाकिर हुसैन साहब चाहते हैं कि उर्दू को हिन्दी के साथ क्षेत्रीय भाषा (रीजनल लैंग्वेज) बना दिया जाय, परन्तु वे यह नहीं सोचते कि जिस उर्दू को मुसलमान भाई बोलते हैं वह बहुत ही कम लोगों की बोली या भाषा है। ८०-८५ प्रतिशत जनता हिन्दी ही जानती और बोलती है। ऐसी दशा में उर्दू को क्यों क्षेत्रीय भाषा बनाया जाये! आश्चर्य तो यह है कि डाक्टर साहब सब कुछ जानते-बूझते भी उर्दू का ही नारा बुलन्द करते रहते हैं। इस। स्पष्ट अर्थ यह है कि वे उर्दू-प्रचार की आड़ में मुसलमानों की सोई या दबी हुई नहीं, बल्कि छिपी या ढकी हुई साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को फिर से प्रकट रूप में आगे लाकर अपना कोई राजनैतिक उद्देश्य पूरा करना चाहते हैं।"

कला का सौन्दर्य

श्री बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे एम० ए०

वास्तविक रूप में कला सृष्टि का विधाता है, उसका कलाकार। कला सृष्टि दो प्रकार की हो सकती है। एक कला सृष्टि में ईश्वर हमें एक महान कलाकार के रूप में दिखाई पड़ता है। दूसरी कला सृष्टि मनुष्य की है और उसमें मनुष्य ही प्रकृति के रूप में दिखाई देता है।

सौन्दर्य दो प्रकार का हो सकता है—एक प्रत्यक्ष सौन्दर्य और दूसरा अप्रत्यक्ष सौन्दर्य। प्रत्यक्ष सौन्दर्य का अनुभव हम आखों से कर सकते हैं। लेकिन अप्रत्यक्ष सौन्दय का अनुभव करने के लिये कलाकार के हृदय की आवश्यकता होती है।

मानवी हृदय पट पर प्रत्यक्ष सौन्दर्य का प्रभाव सहज रूप में पड़ता है। लेकिन अप्रत्यक्ष सौन्दर्य को पकड़ने का कार्य कलाकार का होता है। वह कलाकार इसलिए है कि वह अप्रत्यक्ष सौन्दर्य को पकड़ सकता है।

कलाकृति का बाहरी सौन्दर्य या प्रत्यक्ष सौन्दर्य एक विशिष्ट अर्थ लेकर आता है। प्रत्यक्ष सौन्दर्य में उस वस्तु का आकार, योजना, वस्तुभाव, रूप आदि सौन्दर्य के घटकों का समावेश होता है। इन घटकों की विशिष्ट योजना से उस कलाकृति में विशेष आकर्षण आता है इसलिये साधारण से साधारण व्यक्ति इस आकर्षण के प्रभाव में आता है और उसके सौन्दर्य का अनुभव करता है। इसलिए इस सौन्दर्यानुभूति के लिए हमें अधिक कष्ट उठाना नहीं पड़ता। कलाकृति की एकरूपता, नियमबद्धता, सप्रमाणता और अनुरूपता सौन्दर्य के मुख्य घटक हैं।

जब कोई कलाकार किसी कलाकृति के सौन्दर्य का अनुभव करता है तब कलाकृति का बाह्य सौन्दर्य उसे प्रभावित नहीं करता, लेकिन उसका भीतरी सौन्दर्य उसके हृदय पर प्रभाव डालता है और उसे सौन्दर्यानुभूति होती है और साथ ही एक अलौकिक आनन्द भी। इस अलौकिक अनुभव का कारण उस कलाकृति का भीतरी सौन्दर्य है। यही कला का सौन्दर्य है और इस सौन्दर्य को प्रत्यक्षीकरण करने का कार्य कलाकार अपनी कलाकृति में करता है। सौन्दर्य के उस प्रत्यक्षीकरण में कला का सौन्दर्य निहित रहता है।

कला के सौन्दर्य में प्रेम और वेदना को बड़े महत्व का स्थान है। इस प्रेम के प्रभाव से जीवन का कोई भी अङ्ग सौन्दर्यमय होता है। कलाकार जीवन के विशिष्ट अङ्ग को लेकर प्रेम की अनुभूति कला के सौन्दर्य में दिखाता है, पाश्चात्य चित्रकार रॅफेल ने स्त्री सौन्दर्य को लेकर मातृ-प्रेम को ही अपनी कला का सौन्दर्य बनाया। उसने अपनी कला के सौन्दर्य से मातृप्रेम का जो आदर्श रखा है वह अत्यन्त उच्चकोटि का है। सौन्दर्य के इस आदर्श रूप से उसके सौन्दर्य-दर्शन में सौन्दर्य का पूर्ण विकास स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मातृ-प्रेम में स्त्री सौन्दर्य का आदर्श दिखाने में उसकी कला ने पूर्णता पायी थी। इसलिये उस समय और आज भी रॅफेल को स्त्री सौन्दर्य का चित्रकार कहा जाता है।

जिस प्रकार कला के सौन्दर्य में प्रेम को बड़ा स्थान मिला है उसी प्रकार विरह और वेदना को भी कला में स्थान मिला है। हमारे हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्तजी ने कवि की कविता का जन्म विरह से ही माना है। वे लिखते हैं:—

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

कवि को विरह की अनुभूति होती है और उसकी कविता में कला का सौन्दय अनजान रूप में आती है। शैले ने भी कहा है—

"हमारे दुःखपूर्ण मनोविकारों की कथा कहने वाले हमारे मीठे गान ही होते हैं।"*

---

* Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.

एक क्रौंच पक्षी के वध को देखते ही आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में वेदना ने एक विशाल रूप धारण किया और उनसे एक महान् कलाकृति के रूप में एक विश्वविख्यात महाकाव्य का निर्माण हुआ। मानव जीवन के विरह और वेदना में सौन्दर्य का अभिनव रूप देखने की जो शक्ति कलाकार में है, यही उसकी कलाकृति के सौन्दर्य का मूल है, कलाकार अपने जीवन के विशेष क्षणों का सौन्दर्य अपनी कलाकृतियों में चित्रित करता है, वह अपने भविष्य काल को कलाकृतियों का विषय बना सकता है, उसके लिए किसी विशिष्ट काल का बन्धन नहीं है, अतीत में उसकी उज्ज्वल स्मृतियाँ याद का विषय बनती हैं और उनसे वह अतीत के सौन्दर्य का अनुभव करता है। वर्तमान काल में वह जीवन के यथार्थ सौन्दर्य को देखता है, तथा अपनी कल्पना और तर्क की सहायता से भविष्य के सौन्दर्य का अनुभव करता है। कलाकार अवश्य वर्तमान में रहता है लेकिन भविष्य की ओर उसका ध्यान अधिक रहता है। लेकिन उसका वर्तमान उसके अतीत के आगे की वस्तु है। इसलिए अतीत से ही उसका वर्तमान बनता है। उसे अपनी पुरानी स्मृतियों की याद आती हैं और अतीत के प्रति उसका मोह बढ़ता जाता है। वह अपने अतीत को पुनः अभिनव रूप में देखना चाहता है, उसमें वह अनन्त सौन्दर्य का का दर्शन करना चाहता है।

मनुष्य को अपना इतिहास अधिक प्रिय लगने का कारण ही उसका अतीत के प्रति प्रेम है। कितने कलाकारों ने अपने अतीत के जीवन के सौन्दर्य को अपनी कला में फिर नव सौन्दर्य के रूप में देखने का प्रयत्न किया है, अतीत के सौन्दर्य की निधि हमारे वर्तमान और भविष्य के लिये सहायता का काम देती है। वास्तुकला का आदर्श ताजमहल का निर्माण एक बादशाह ने अपने अतीत की मनमोहक स्मृतियों की याद दिलाने के लिये किया। विश्व साहित्य में साहित्य की जितनी महान् रचनायें हुई हैं, वे सब मनुष्य के अतीत के जीवन को लेकर ही हुई हैं। रामायण, महाभारत, पेराडाइज लॉस्ट, इलियड, कामायनी आदि महाकाव्य मनुष्य के अतीत को फिर एक अभिनव सौन्दर्य के रूप में देखने का प्रयत्न है।

कला के सौन्दर्य में जीवन की ऊँचाई, गांभीर्य और और चिर शान्ति का सन्देश रहता है, इस सन्देश को मूर्त रूप देने का कार्य सौन्दर्य के दो रूप करते हैं। सौन्दर्य के विराट और कोमल रूप, कला के सौन्दर्य में आकर अपना अभिनव रूप दिखाते हैं। विराट सौन्दर्य में पुरुष प्रकृति का त्याग, प्रतिहिंसा, शक्ति, वीरता आदि मनोवृत्तियाँ काम करती हैं। इस प्रकार के सौन्दर्य में कला के सौन्दर्य का गांभीर्य दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार कोमल सौन्दर्य में मनुष्य प्रवृत्ति की कोमल भावनायें, ममता, स्नेह, प्यार, दया आदि का समावेश होता है। विराट सौन्दर्य का स्वरूप पुरुषों में पाया जाता है और कोमल सौन्दर्य का रूप स्त्रियों में मुख्यतः दिखाई पड़ता है। विराट सौन्दर्य में कला के सौन्दर्य की गम्भीरता और कोमल सौन्दर्य में कला की मृदुलता के मधुर मिलन से कला के सौन्दर्य में चिरशान्ति का बोध होता है और इस चिरशान्ति के भीतरी सत्य की अभिव्यक्ति करना कला की पूर्णता है, तथा यही उसका सौन्दर्य है।

(पृष्ठ ४६१ का शेषांश)

होना चाहिये क्योंकि दो शाश्वत विरोधी या बेमेल वस्तुओं का वर्णन है, उनमें यहाँ सम्बन्ध दिखाया गया है—

"सीता नयन चकोर सखि, रवि-वंशी रघुनाथ।
रामचन्द्र सिय कमल मुख, भलो बन्यो है साथ॥"
—(रामचन्द्रिका)

चकोर और सूर्य परस्पर विरोधी हैं। यहाँ दोनों का सम्बन्ध वर्णित है, अतः विषमालङ्कार है। उक्त उदाहरण में चकोर और सूर्य में जो स्वभावतः वैषम्य है वही प्रकट है।

उक्त विवेचन से विरोध, विरोधाभास, और विषम अलङ्कारों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। ऊपरी ढङ्ग से तो इन तीनों में समानता दृष्टिगोचर होती है। इनमें जो अन्तर बताने वाली सूक्ष्म रेखायें हैं, उन्हें अलंकार पढ़ने वाले विद्यार्थी को गम्भीर दृष्टि से देखना चाहिए। अलङ्कारों के उदाहरण और लक्षण प्रामाणिक एवं परिनिष्ठित ग्रन्थों से ही ज्ञात करने चाहियें।

क्या साहित्य एक कला है ?

प्रो० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना एम० ए०, साहित्य-रत्न

साहित्य जीवन की विशद व्याख्या है। वह साहित्यकार की अखण्ड सृष्टि है। ब्रह्म की इस भौतिक सृष्टि की ही भाँति साहित्य-सृष्टि में भी आनन्द-विषाद, विकास-ह्रास वेदना उल्लास, सुख-दुख आदि विद्यमान रहते हैं। जैसे हमारा भौतिक जीवन का सौन्दर्य वैचित्र्यपूर्ण है, वैसे ही साहित्य का सौन्दर्य भी नाना प्रकार की विचित्रताओं से ओतप्रोत है। उसमें यदि एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य हैं तो दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय विराजमान हैं। परन्तु इतनी विचित्रता के उपरान्त भी साहित्य सदैव आनन्द की पुनीत पयस्विनी ही प्रवाहित करता है। कारण यह है कि ब्रह्म की इस सृष्टि में सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों में से रजस् और तमस् का ही प्राधान्य रहता है। जिसके परिणामस्वरूप मानव जीवन का पर्यवसान यहाँ आनन्द में नहीं हो पाता। यहाँ पर विरले ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिन्होंने आनन्दपूर्वक अपनी जीवन लीला समाप्त की हो। किन्तु साहित्य सृष्टि में रजस और तमस् दोनों दबे रहते हैं और सत्व का ही प्राबल्य रहता है। यही कारण है कि वहाँ सदैव आनन्द का ही उद्रेक देखने में आता है।

ऐसे लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करने वाले साहित्य को भी आज पाश्चात्य चश्मे से देखने के कारण कला के कलुषित पङ्क में हठात् खींच लाने का असफल प्रयास देखा जाता है। भारतवर्ष के कितने ही विद्वान् हेगेल के मत से सहमत होकर साहित्य को भी कला का एक अङ्ग मानने लगे हैं। हेगेल ने मूर्त-अमूर्त आधार एवं आत्मा के भावों की अभिव्यक्ति की मात्रा के अनुसार ललित कलाओं का जो वर्गीकरण किया है आज अधिकांश विद्वान उसे न्यायसङ्गत समझ कर साहित्य को कला का अङ्ग मानने में सङ्कोच नहीं करते। उस पाश्चात्य विद्वान् ने अपने उक्त आधार पर ही साहित्य या काव्य कला को वास्तु, मूर्ति, चित्र एवं सङ्गीत की अपेक्षा एक उच्च कला तो सिद्ध किया है, परन्तु उसे कला के सङ्कीर्ण दायरे से दूर नहीं माना। हेगेल ने सङ्गीत की अपेक्षा साहित्य को अधिक अमूर्त मान कर उसे सङ्गीत जैसी अमूर्त कला से भी उच्च सिद्ध किया है। अब यदि इस वर्गीकरण पर तनिक सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि साहित्य तो अपनी वर्णमाला के कारण प्रत्यक्ष वर्तमान है। तन्त्रशास्त्रों में भी वर्णमातृका की विशद कल्पना मिलती है। 'अ' से लेकर 'ह' तक के ज्ञान का ही प्रतीक 'अहम्' माना गया है। उतना ही नहीं जायसी जैसे सूफी कवि ने भी "अखरावट' लिख कर प्रत्येक अक्षर के रहस्य का उद्घाटन किया है। अतः साहित्य एक अमूर्त कला सिद्ध नहीं होता और अपनी चित्रमयता के कारण वह चित्रकला के समकक्ष जा पहुँचता है। अतः मूर्त अमूर्त के भेद से उसे कैसे सर्वोच्च सिद्ध किया जा सकता है ?

आज कला सम्बन्धी कितनी ही परिभाषायें विद्वत् परिषद में प्रचलित हैं। अरस्तू ने कला को अनुकृति कहा है। क्रोचे अभिव्यक्ति को ही कला मानता है। शैली के विचार से कल्पना को अभिव्यक्त करना ही कला है। टालसटाय ने कला को मानवीय चेष्टा बतलाया है। हेगेल महोदय कला को मनुष्य की क्रिया की सृष्टि बतलाते हैं। बायरन मस्तिष्क की सृष्टि-सम्बन्धी चेष्टा को कला कहता है। प्रख्यात फ्रेंच समालोचक फागुए ने कला को भाव की ऐसी अभिव्यक्ति कहा है जो तीव्रता से मानव हृदय का स्पर्श करती है। इसके अतिरिक्त कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने सौन्दर्य के अभिव्यक्तिकरण को ही कला कहा है। भारतीय कवीन्द्र रवीन्द्र का मत है कि "जो सत है, जो सुन्दर है—वही कला है।" कविवर प्रसाद अपने काव्य और कला नामक निबन्ध में कला का विचार करते हुए कहते हैं कि 'अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिये हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर

यह कोई कह सकता है कि अलङ्कार, वक्रोक्ति, रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिये"। इस प्रकार प्रसादजी रीति, अलङ्कार आदि में ही कला की सत्ता स्वीकार करते हैं। सारांश यह है कि कला के बारे में पूर्व और पश्चिम के आधुनिक विद्वानों की नाना प्रकार की धारणायें हैं। इतना अवश्य है कि अधिकांश विद्वान् कुशल अभिव्यक्ति में ही कला के दर्शन करते हैं।

अब यदि भारत के प्राचीन विचारकों की ओर देखें तो पता चलेगा कि वे लोग साहित्य या काव्य को कला के अन्तर्गत ही नहीं मानते थे। काव्य मीमांसा का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में दो नगर शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। उन दोनों स्थानों पर पृथक्-पृथक् रूप से शिक्षा दी जाती थी। उज्जयिनी उस काल में काव्य शास्त्र की शिक्षा का केन्द्र थी और पाटलीपुत्र (आधुनिक पटना) शास्त्रकार शिक्षा का गढ़ था। इस प्रकार भारतीय ज्ञान की दो धारायें दो केन्द्रों पर प्रवाहित होती थी। उस समय काव्य की गणना विद्या में की है और कलाओं को अविद्या कहा गया है। भरत मुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र में विद्या और कला का स्पष्ट भेद बतलाया है।

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पम् न सा विद्या न सा कला"
—(अध्याय १।११७)

हमारे यहाँ कलाओं का उल्लेख काम-सूत्र में आया है, वहाँ पर उनकी संख्या ६४ मानी गई है और उनमें सङ्गीत, चित्र आदि आधुनिक ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य समस्या पूर्ति को कला माना है क्योंकि वह वाद-विवाद एवं कौतुक के लिए ही होती थी, यथा—"श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीड़ार्थम् वादार्थम् च"। इसके अतिरिक्त वास्तु निर्माण, मूर्ति एवं चित्र रचना को केवल शिल्प माना गया है। उनमें यद्यपि अपनी अपनी भिन्न-भिन्न विशेषतायें थीं किन्तु ये तीनों एक ही वर्ग में मानी जाती थीं। अध्याय ५ में लिखा है—

"सन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्वं स्व कर्मभिः
स्थपतिः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा॥"

इस के साथ ही शिल्पपरक अध्याय ३६ में आया कि

"चित्राभासमिति ख्यातं पूर्वैः शिल्प-विशारदैः।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि साहित्य या काव्य की गणना वस्तु, मूर्ति एवं चित्र के साथ कहीं नहीं मिलती। ये तीनों शिल्प माने गये हैं और काव्य की गणना उत्कृष्ट विद्या में की गई है। इतना ही नहीं भर्तृहरि के निम्नलिखित श्लोक में भी साहित्य सङ्गीत एवं अन्य कलाओं की स्थिति पृथक् पृथक् ही बतलायी गयी है।

"साहित्य सङ्गीत कलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"

अब तनिक संस्कृत साहित्य के समालोचकों की विचारधारा को भी देखिए। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में काव्य या साहित्य को कला न मान कर कला शब्द का उल्लेख केवल नृत्य-गीतादि के लिए ही किया है। इतना ही नहीं कामशास्त्र या तन्त्रों की ही भाँति कलाओं की संख्या ६४ मानते हुए उसने लिखा है कि—"नृत्य गीत प्रभृतयः कलाः कामार्थ संश्रयाः।" भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी कला शब्द का अर्थ "कलागीतवाद्यादिका" कह कर गीत वाद्य आदि ही किया है। भामह ने अपने काव्यालङ्कार में काव्य के विषय को चार भागों में विभक्त किया है—(१) देवचरितशंसि, (२) उत्पाद्य, (३) कलाश्रय (४) शास्त्राश्रय। यहाँ पर कलाश्रय कहने से भामह का तात्पर्य भी यही है कि कला काव्य का एक विषय हो सकती है अर्थात् वह साहित्य का एक विषय बन कर उसके अन्तर्गत आ सकती है, परन्तु साहित्य की गणना कला में नहीं हो सकती। इन प्रमाणों से भी यही पता चलता है कि कला से हमारे यहाँ केवल ६४ कलाओं का ही अभिप्राय लिया गया है और उसमें काव्य-समस्यापूर्ति, अभिनय करना, नाटक दिखाना, प्रहेलिका, कहानी सुनाना, अभिधान कोष, छन्द ज्ञान आदि साहित्य के बुद्धि कौशलपूर्ण कार्य ही आ सकते हैं।

अब यदि आधुनिक समालोचकों की ओर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि उन्होंने साहित्य के दो पक्ष माने हैं—एक भाव पक्ष तथा दूसरा कला पक्ष। भाव पक्ष के

अन्तर्गत साहित्य का समस्त प्रतिपाद्य विषय गृहीत होता है और उसके चार पोषक तत्वों की अनिवार्यता स्वीकार की जाती है अर्थात् उसमें कल्पनातत्व, बुद्धितत्व तथा रागतत्व का होना आवश्यक है। इसी भाव-पक्ष के भाव की व्याख्या करते हुए शुक्लजी ने कहा है—"भाव का अभिप्राय साहित्य के केवल तात्पर्यबोध मात्र नहीं है, बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था विशेष है, जिसमें शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का ही योग रहता है।" इस प्रकार भाव साहित्य का प्रमुख अङ्ग है। दूसरे कला पक्ष का कार्य यह है कि वह भावों को भाषा का स्वरूप प्रदान कर के रीति, अलङ्कार, माधुर्य, ओज आदि गुणों से सुसज्जित कर के सहृदयानुमोदित एवं चित्ताकर्षक बना देता है। इन दोनों पक्षों की पूर्णता द्वारा ही उच्चकोटि के साहित्य का सृजन होता है। अब यदि किसी स्थल पर भावों की तो प्रधानता है, किन्तु कला पक्ष अधिक चमत्कृत करनेवाला नहीं है तो क्या वह कृति साहित्य की कोटि में न आयेगी ? किन्तु ऐसी बात नहीं है तो उदाहरण के लिए एक ग्राम्य गीत को ले सकते हैं। उसमें भावों की सुधापूर्ण सरिता का अजस्र प्रवाह रहता है, किन्तु रीति, गुण एवं अलङ्कार तथा भाषा के सुष्ठु एवं चमत्कृत रूप की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, परन्तु फिर भी वह गीत सहृदयों को लोकोत्तर आनन्द की प्रतीति कराता है। इस आधार पर यह स्पष्ट पता चलता है कि साहित्य सृजन के लिए आलोचकों द्वारा स्वीकृत कला पक्ष की अनिवार्यता का कोई महत्व नहीं। साथ ही यह भी पता चल जाता है कि कला साहित्य का एक अङ्ग मात्र ही है और वह भी कोई अनिवार्य अङ्ग नहीं है, उसके न रहने पर भी साहित्य अपना प्रभाव स्थापित करने में पूर्ण सफल रहता है।

आलोचकों के उपर्युक्त वर्गीकरण से कला में नैपुण्य भावना का समावेश स्पष्ट दिखाई देता है। भोजराज ने भी अपने तत्व-प्रकाश में कला की परिभाषा करते हुए कहा है—"व्यञ्जयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा।" अर्थात् कला-कर्तृत्व की व्यञ्जक है। कला की परिभाषा करने वाले बायरन ने भी कला को मस्तिष्क की सृष्टि सम्बन्धी चेष्टा कह कर कला में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का योग अधिक बतलाया है। प्रसादजी तो कला में नैपुण्य ही स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट कहा है—"कला शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प वाला बेल-बूटे और नक्काशीवाली इसकी धारणा आई है।" उससे भी यही सिद्ध होता है कि कला में मस्तिष्क के कौशल का अधिक योग रहता है। वैसे भी यदि लोक व्यवहार में देखें तो एक साधारण से घर को देख कर उसे कोई भी कलात्मक भवन नहीं कहता, जब कि एक सुन्दर बेल-बूटे कढ़े हुए रङ्ग-बिरंगे पत्थरों से बने हुये ताजमहल जैसे भव्य प्रासाद को देख कर उसे कलात्मक कृति कह कर पुकारता है। इसी प्रकार साहित्य में भी "पिपीलिका नृत्यति वह्नि मध्ये" और "मोम के मन्दिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे" को सुन कर कलाबाजी कहे बिना नहीं रहा जाता। इस प्रकार कला में नैपुण्य का भाव स्पष्ट दिखाई देता है। यह नैपुण्य प्रायः दो भागों में विभक्त किया जाता है—(१) स्वाभाविक नैपुण्य (२) शिक्षा या अभ्यासजन्य नैपुण्य। एक शिल्पकार का पुत्र अपने पिता या भाई के समीप बैठ कर अपनी कला का ज्ञान सुगमता से प्राप्त कर सकता है और धीरे धीरे उसमें और कुशल भी बन सकता है। उसके लिए प्रारम्भ से ही नैपुण्य की आवश्यकता अधिक रहती है, किन्तु एक कवि पिता का पुत्र पिता के पास बैठ कर भी और निपुण होकर भी कविता नहीं कर पाता। अतः यहाँ नैपुण्य की अपेक्षा प्रतिभा को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसलिए हमारे यहाँ के आचार्यों ने नैपुण्य को प्रतिभा की अपेक्षा द्वितीय स्थान दिया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट का कथन है—

"शक्ति निपुणता लोक शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"

अर्थात् साहित्य के लिये सबसे पहले शक्ति या प्रतिभा की आवश्यकता होती है उसके बिना साहित्य का सृजन नहीं होता और यदि होता भी है तो वह उपहासास्पद होता है। इसी बात का समर्थन चन्द्रालोककार पीयूषवर्षी जयदेव ने भी किया है—

''प्रतिभेव श्रुताभ्यास सहिता कवितांप्रति ।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमालालतामिवं ॥''

अर्थात् प्रतिभा ही साहित्य-रचना के लिये सर्व प्रथम आवश्यक मानी गई है। निपुणता का स्थान दूसरा है। वाग्भट्टाचार्य ने स्पष्ट कहा है 'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणं'' अर्थात् प्रतिभा ही साहित्य या काव्य का कारण है है। व्युत्पत्ति अर्थात् लोक और शास्त्र का ज्ञान तो उसका भूषण है। रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रतिभा को काव्य के लिये प्रमुख माना है। अतः कला के अन्तर्गत जिस नैपुण्य की अनिवार्यता पर विशेष जोर दिया जाता है, साहित्य में उसका स्थान गौण है। साहित्य में तो निपुणता की अपेक्षा प्रतिभा का महत्व अधिक है। इस विवेचन से भी यही सिद्ध होता है कि साहित्य कला से पूर्णतया पृथक अस्तित्व रखता है। इतना अवश्य है कि कला उसके अन्तर्गत आ सकती हैं किन्तु साहित्य कला के अन्तर्गत किसी प्रकार भी नहीं आ सकता।

संसार में बहुधा देखा होगा कि चित्र, मूर्ति, वास्तु आदि कलाओं की शिक्षा के लिये किसी न किसी गुरु का आश्रय लेना पड़ता है। एक शिल्पकार उसी क्षण उच्चकोटि का शिल्पकार कहलाता है जबकि वह किसी अच्छे शिल्पज्ञ के पास जाकर शिल्प का ज्ञान प्राप्त करले। चित्रकला भी बिना सीखे हुये नहीं आती। सङ्गीत की शिक्षा बिना पाये हुये कोई उच्चकोटि का सङ्गीतज्ञ भी नहीं होता, किन्तु साहित्य के लिए वैसी बात नहीं है। अँग्रेजी में कहावत प्रसिद्ध है ''Poets are born and not made'' अर्थात् कवि तो जन्मजात होते हैं वे बनाये नहीं जाते। देखा भी होगा कि हिन्दी जगत् में 'मसिकागद छूओ नहीं कलम धरी नहिं हाथ' कहने वाले कबीर को भी महाकवि माना गया है। उसके साहित्य का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। उस साहित्य में कला का अभाव है, किन्तु फिर भी उसने साहित्य का भव्य रूप प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही शुक्लजी ने भी अपने 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' नामक लेख में स्पष्ट लिखा है ''सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे-धीरे बेल बूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गयी। हमारे यहाँ काव्य की गिनती ६४ कलाओं में नहीं की गयी। उसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायिओं के द्वारा चमत्कार, वक्रोक्तिवाद आदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार का वितण्डावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य समीक्षा के प्रसङ्ग में 'कला' शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। उस का जड़ पकड़ना ठीक नहीं।''

सारांश यह है कि आज साहित्य की कला के अन्तर्गत मानने के कारण ही उसमें कृतिमता, अर्थशून्यता एवं आडम्बर प्रियता निरन्तर आती जा रही है। क्या कहानी क्या नाटक और क्या उपन्यास साहित्य की सभी विधाओं में आडम्बर के अतिरिक्त जीवन की उलझी हुई समस्याओं को स्पष्ट रूप से नहीं सुलझाया जाता। कवितायें पुनः मेघाडम्बर की भाँति साहित्य गगन में अवतीर्ण हो रही हैं, उन में रङ्ग-विरंगे शब्दों की कला चातुरी के अतिरिक्त गाम्भीर्य का लेश-मात्र भी नहीं दिखाई देता। अतः साहित्य को कला के कृत्रिम क्षेत्र में न घसीट कर उसके नैसर्गिक क्षेत्र में ही विकसित होने देना चाहिये, क्योंकि जब हम उसे एक कला मान लेते हैं तो पुनः उसमें स्वाभाविक रूप से भावों की अभिव्यक्ति न करके कलात्मक ढङ्ग से ही भावाभिव्यक्ति के लिये हमारा हृदय लालायित हो उठता है। अतः साहित्य को अन्य शिल्प या कलाओं की श्रेणी में घसीट कर लाना किसी प्रकार न्याय सङ्गत नहीं दिखाई देता।

विरोध, विरोधाभास और विषम अलङ्कार की विवेचना

प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, साहित्य-रत्न

विक्रम की ११ वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी तक संस्कृत साहित्य के इतिहास में अलङ्कार ग्रन्थों की सर्जना गम्भीर विवेचना के साथ पाई जाती है। इस काल में अनेक काव्यशास्त्रियों ने अलङ्कारों की व्याख्या और समीक्षा सुन्दर ढङ्ग से की है। हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल भी अधिकांश में संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों से ही प्रभावित हुआ है। केशव, भूषण, मतिराम आदि ने अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण लिखने में संस्कृत के आचार्यों का ही मार्ग बहुत-कुछ अपनाया है। परन्तु न मालुम क्यों हिन्दी-काव्य शास्त्र के आचार्य कवियों ने विरोध, विरोधाभास और विषम अलङ्कारों के समझने में गड़बड़ सी कर दी है। उस गड़बड़ी का यह परिणाम हुआ है कि आजकल भी हिन्दी-काव्यशास्त्र की चार छः पुस्तकों में वैसी ही गड़बड़ी चली आ रही है।

आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' के नवम् और दशम् उल्लास में अलङ्कारों का वर्णन किया है। उन्होंने वहाँ अलङ्कारों में विरोध नाम नहीं लिखा है। 'काव्यप्रकाश' के हिन्दी टीकाकार स्व० पण्डित हरिमङ्गल मिश्र ने न मालूम क्यों विरोधालङ्कार को विरोधाभास अलङ्कार मान लिया है? मम्मट विरोध अलङ्कार का लक्षण इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।'' अर्थात् वस्तु स्थिति के अनुसार जिन वस्तुओं में विरोध तो न हो परन्तु वे विरुद्ध वस्तुओं की भाँति कथन की जायँ तो वहाँ विरोध नामक अलङ्कार होता है। जैसे 'वियोग में उस नायिका के लिए कमल-नाल भी दावानल के समान दाहक है।' मम्मट कहते हैं विरोधालङ्कार में जाति का विरोध जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य से; गुण का विरोध गुण, क्रिया और द्रव्य से; क्रिया का विरोध क्रिया और द्रव्य से तथा द्रव्य का विरोध द्रव्य से होता है।* इस प्रकार विरोधालङ्कार के कुल दश भेद माने गये हैं। ध्वनि के प्रकरण में तो मम्मट विरोधाभास को व्यंग्य रूप में उद्धृत करते हैं—

"अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि"

(का० प्र० उल्लास ४-५६)

पण्डित हरिमङ्गल मिश्र कृत अनुवाद में सूची के अन्तर्गत भी विरोधाभास अलङ्कार छपा हुआ है। उस सूची में 'विरोध' नामक अलङ्कार तो कहीं मुद्रित ही नहीं है।

साहित्य दर्पणकार कविराज प० विश्वनाथ ने भी अपने ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' के दशम परिच्छेद में मम्मट के ही कथन का समर्थन किया है। वे लिखते हैं कि :—

"विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः।"

(दशम परिच्छेद श्लोक ६९)

पण्डित विश्वनाथ ने भी अलङ्कार प्रकरण में कहीं पर विरोधाभास नाम का अलङ्कार नहीं लिखा है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब विरोधाभास नाम का अलङ्कार न तो मम्मट ने लिखा और न विश्वनाथ ने, तो फिर हिन्दी में इतना प्रचार कैसे पा गया? मम्मट से लेकर विश्वनाथ तक के सब आचार्यों के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करने पर हमें विदित होता है कि पीयूषवर्षी जयदेव कृत "चन्द्रालोक" में विरोध और विरोधाभास नाम के दोनों अलङ्कारों को पञ्चम मयूख के श्लोक ७२-७३ में लक्षण तथा उदाहरण सहित स्पष्ट किया गया है:—

"विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुण द्रव्य क्रियादिषु।
अमन्द नन्दनस्यन्दः स्वच्छन्द दन्दहीति माम् ॥७२॥
श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद्विरोधाभासता मता।
अप्यन्धकारिणाऽनेन जगदेतत्प्रकाश्यते ॥७३॥"

---

* (१) जाति—जैसे बालक, पशु, कमल, समुद्र आदि।
(२) गुण—जैसे मुटापा, शीतलता, सुन्दरता आदि।
(३) क्रिया—जैसे हास, पाठ्य, नृत्य, उठना बैठना आदि।
(४) द्रव्य—जैसे सूर्य, ईश्वर, हरी गोपाल, हिमालय, आकाश आदि।

अर्थात् जहाँ द्रव्य, गुण, क्रिया आदि का विरोध है। वहाँ विरोधालङ्कार होता है। जैसे 'चन्दन के छींटे जलाते हैं।' जहाँ श्लेषकृत विरोध होता है, वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है। जैसे 'अन्धकारी के द्वारा यह जगत् प्रकाशित होता है। यहाँ 'अन्धकारी' शब्द में श्लेष है (१) अन्धकारिणा = अन्धकार करने वाले द्वारा। (२) अन्धकारिणा = अन्धक + अरिणा = अन्धक के वैरी से अर्थात् शङ्कर से। प्रथम अर्थ से जो विरोध मालूम पड़ता है वह दूसरे अर्थ से समाप्त हो जाता है। अतः हम विरोध का आभास ही कह सकते हैं वास्तविक विरोध नहीं। इसीलिए यह विरोधाभास अलङ्कार कहाता है।

हिन्दी काव्य शास्त्र की दो तीन पुस्तकों में विरोधाभास अलङ्कार का लक्षण विरोध अलङ्कार की भाँति ही लिखा गया है और उदाहरणों में कुछ उदाहरण ऐसे दिए गये हैं जो विरोध और विरोधाभास दोनों के हैं, परन्तु उन्हें विरोधाभास के अन्दर ही लिखा गया है।

इस गड़बड़ी और भूल का एक मात्र कारण हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य कवियों की पुस्तकें हैं जिनमें अलङ्कारों की विवेचना पूर्ण गहराई के साथ नहीं की गई है। उन लक्षणकारों में एक महाकवि भूषण भी हैं जिन्होंने अपने 'शिवराज भूषण' में विरोध और विरोधाभास नामक नामक अलङ्कारों को उचित रूप में लक्षित नहीं किया है। 'भूषण 'विरोध' अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं :—

"द्रव्य क्रिया गुन में जहाँ, उपजत काज विरोध।
ताको कहत विरोध हैं, भूषन सुकवि सुबोध ॥१८२॥"
—(शिवराज भूषण से)

भूषण ने मालती सवैया में 'विरोध' का उदाहरण इस प्रकार लिखा है—

"श्री सरजा शिव तो जस सेत सों,
होत है वैरिन के मुँह कारे।"

अर्थात् हे शिवाजी! तेरे श्वेत यश से वैरियों के मुख काले पड़ जाते हैं। प्रस्तुत काव्य में यश कारण और मुँह कार्य है। कारण का गुण श्वेत और कार्य का गुण काला है। अतः यहाँ कार्य का गुण कारण के गुण से विरुद्ध है। ऐसी दशा में मम्मटादि आचार्यों के द्वारा उक्त मालती सवैया की पंक्ति में विषम अलङ्कार माना जायगा, विरोध नहीं।

मम्मट विषमालङ्कार का लक्षण व्यक्त करते हुये लिखते हैं—

"क्वचिद्यदति वैधर्म्यान्नेश्लेषो घटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥१०–१२६॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणे क्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स विषमो मतः ॥१०–१२७॥"

अर्थात् चार दशाओं में विषमालङ्कार होता है:—

(१) अतिवैधर्म्य के कारण जब पूरा पूरा सम्बन्ध हो न बैठे (२) कर्त्ता की इष्टसिद्धि तो न हो बल्कि एक अनर्थ और उपस्थित हो जाय (३) कार्य का गुण कारण के गुण से विरुद्ध पड़े (४) कार्य की क्रिया भी कारण की क्रिया से विरोध रखे।

आगे भूषण कर विरोधाभास का लक्षण भी अपूर्ण ही लिखते हैं:—

"जहाँ विरोध सो जानिये, साँच विरोध न होय।
तहाँ विरोधाभास कहि, वरनत हैं सब कोय॥१८४॥"

भूषण के समान कुछ अन्य रीति कालीन कवियों के लक्षण तथा उदाहरण भी अपूर्ण और संदिग्ध हैं। उनके कारण ही हिन्दी में एक रूपता के दर्शन नहीं होते हैं और लोग मनमाने लक्षण तथा उदाहरण लिख मारते हैं। हम यही कह सकते हैं कि हिन्दी के अलङ्कार ग्रन्थों में प्रायः अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलग-अलग ही अलापा गया है।

अध्यापक रामरत्नजी ने संवत् १९८४ वि० में हिन्दी 'अलङ्कार-प्रबोध' नाम की एक अलङ्कार पुस्तका प्रकाशित कराई थी। उस समय इस पुस्तक को स्कूलों और कालेजों में पर्याप्त मान्यता और सम्मान भी मिला था। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि उसके लेखक—द्वय ने उसमें विरोधाभास का लक्षण वही लिख दिया गया है जो विरोध अलङ्कार का होता है। पुस्तक में मालती सवैया—श्री सरजा शिव तो जस सेत सों होत हैं वैरिन के मुँह कारे—को विरोधाभास के उदाहरण में उद्धृत किया गया है। जब कि भूषण ने इस सवैया को

विरोध अलङ्कार माना है। मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार तो एक सवैया विषमालङ्कार का ही माना जायगा।

हिन्दी साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद से अभी हाल में ही एक पुस्तक 'हिन्दी-काव्य शास्त्र' के नाम से प्रकाशित हुई है। उसके विद्वान लेखक ने विरोधाभास अलङ्कार की परिभाषा में ही विरोध अलङ्कार की परिभाषा मलादी है। वे विरोधाभास का लक्षण लिखते हैं "जब दो विरोधी पदार्थों का संयोग एक साथ दिखाया जाता है। अथवा गुण, जाति, क्रिया, आदि के संयोग से जहाँ परस्पर विरोध प्रदर्शित किया जाता है। वहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार होता है। यथा—तृण से कुलिश कुलिश तृण करई।"—इस उदाहरण में द्रव्य से द्रव्य का विरोध है। अतः मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार 'विरोध' अलंकार और पीयूषवर्षी जयदेव के मतानुसार भी यह विरोध ही सिद्ध होता है। न मालूम हिन्दी-काव्यशास्त्र में यह गड़बड़ी कब तक चलती रहेगी? यदि हिन्दी अपना काव्य-शास्त्र पृथक् बनाना चाहती है तो उसे नये सिरे से मौलिक चिन्तन करना पड़ेगा और अपनी पृथक् मान्यतायें और परिभाषायें बनानी पड़ेंगी। जब तक यह कार्य नहीं होता तब तक तो संस्कृत के काव्यशास्त्र की पगडण्डी पर ही चलना श्रेयकर है और उसी के लक्षण ग्रन्थों द्वारा दिशा-निर्देश के अनुसार।

हिन्दी-काव्यशास्त्र की सर्जना में इधर दो विद्वानों का अनुदान स्तुत्य है—एक हैं सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और दूसरे हैं स्व० पं० रामदहिन मिश्र। पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण' अलंकार निर्देशन में हिन्दी का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सकता है।

यदि हिन्दी में विरोधाभास अलङ्कार का उदाहरण खोजा जाय तो बिहारी का निम्नांकित दोहा उपयुक्त ठहरेगा—

"या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहि कोइ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रङ्ग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होइ॥"

'श्याम' शब्द में श्लेष है। काले रङ्ग में डूबकर चित्त उज्ज्वल बनता है। यही विरोध है परन्तु यह विरोध उस समय समाप्त हो जाता है जब कि 'श्याम रङ्ग' का अर्थ 'कृष्ण का रङ्ग' किया जाता है। इस तरह पूर्व शब्दार्थोद्भूत विरोध का परिहार हो जाता है। जयदेव भी ऐसा ही कहते हैं।

सूर की निम्नांकित पंक्तियों में विरोधालङ्कार है—

"बिन गुपाल बैरिन भईं कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल,
अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें।
पवन पानि घनसार सजीवन,
दधिसुत किरन भानु भईं भुंजें॥"

विषम अलङ्कार में शाश्वत विरोधिनी वस्तुओं का वर्णन एक स्थान पर किया जाता है। निम्नांकित उदाहरण विषम अलङ्कार के हैं। क्योंकि यहाँ दो विरोधी वस्तुओं का संयोग अनौचित्य के साथ स्वीकार किया गया है :—

'कहाँ राम के कोमल कर हैं। कहाँ कठोर शरासन शिव का'
'कहाँ मेघ औ इस किन्तु तुम मेघ चुके सन्देश अजान'*
—(भावानुवाद)

लाला भगवानदीन 'दीन' ने केशवकृत 'रामचन्द्रिका' की टीका लिखी है। 'दीन' जी अलङ्कार सिद्धान्त के अनुयायी थे। अलङ्कार ग्राहिणी प्रतिभा उन्हें सरस्वती से वरदान में मिली थी। रीतिकालीन हिन्दी-आचार्यों के फेर में पड़ कर उन्होंने भी एक दो स्थलों पर थोड़ी-सी विषम और विरोधाभास के समझाने में भूल करदी है। 'रामचन्द्रिका' की टीका में निम्नांकित दोहे के अन्तर्गत दीनजी ने 'विरोधाभास अलङ्कार' बताया है जब कि नियमतः लक्षण के आधार पर विषम× अलङ्कार भी

(शेष पृष्ठ ४८८ पर देखिए)

* "धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क मेघः,
सन्देशार्थाः क पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः"
—(कालिदासकृत पूर्वमेघ श्लोक ५)

× वासन्ती आत्रेयी से राम के चरित्र की ओर संकेत करती हुई जो बात कहती है उसमें विषम अलङ्कार है क्योंकि लोकोत्तर महानुभावों के चित्तों में कठोरता और मृदुता एक साथ वर्णित है—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥"
—(उ० रा० च० अङ्क २)

सूर की गोपियाँ और परिस्थिति

श्री शशिशेखर नागर एम० ए०

रामचन्द्र शुक्ल 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका में सूर की आलोचना करते हुए लिखते हैं "सूर का वियोग वर्णन वियोग वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुञ्ज या झाड़ी में जा छिपते हैं या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिये अन्तर्द्धान हो जाते हैं। बस गोपियाँ मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह वर्णन असङ्गत प्रतीत होता है।"

गोपियों का वियोग परिस्थिति के अनुरोध से है या नहीं इस प्रश्न के साथ दूसरा प्रश्न भी उपस्थित होता है कि कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद गोपियाँ विरहानल में तो झुलस-झुलस कर हाहाकार मचाती रहीं परन्तु कृष्ण से मिलने के लिए दो कोस जमुना की रेती पार करने के लिये टस से मस होती दृष्टिगत नहीं होतीं। क्यों?

प्रथम आक्षेप के निवारणार्थ बाबू गुलाबरायजी के शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं—"यह आक्षेप कुछ एकाङ्गी और तुलसी को अधिक महत्व देने के उद्देश्य से लिखा हुआ मालूम होता है।" श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने लेख 'सूर का काव्य सौन्दर्य' में शुक्लजी के विचारों को भ्रमात्मक बताया है। 'सूरसागर' 'मानस' की तरह साहित्यिक ग्रन्थ ही नहीं अपितु उसके धार्मिक प्रभाव की व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए उसको धार्मिक ग्रन्थ भी मानना अधिक न्याय सङ्गत होगा। दोनों रत्नों को हिन्दुओं ने अपने हृदय में स्थान दिया। सूर के पद आज भी अन्धे गा-गा कर जन साधारण के हृदय में लीला पुरुषोत्तम की रूप माधुरी का रसास्वादन कराने में समर्थ हैं। परन्तु मानस की जटिलता व गहनता मापने के लिये बाह्य और अन्तर के नेत्रों की सर्वथा अपेक्षा है।

सूर ने कहीं-कहीं रहस्यात्मक संकेत, प्रतीकों के आधार पर किये हैं जिसे शुक्लजी ने भी स्वीकार किया है। "रहस्यवादी कवियों के समान सूर की कल्पना भी कभी-कभी इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती है।"

आत्मा-परमात्मा के बीच एक झीना-सा व्यवधान भी अखरता है। आत्मा परमात्मा का अंश है जिसे गीता का कृष्ण भी मानता है। "ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः" और तुलसी भी "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" कह इस भाव को व्यक्त करते हैं। दोनों समान धर्मी हैं। आत्मा, परमात्मा का अंश होने के कारण अपने अंशी में लीन होने के लिए छटपटाता रहता है। जल-विन्दु जिस प्रकार सागर से बिछुड़ने पर उससे मिलने के लिए तरङ्गण कितने ही रूपों में से होते हुये अन्त में उसी में जाकर समा जाता है, ठीक वैसी ही दशा इस जीव की है। गोपियों की कृष्ण के ओझल हो जाने के कारण मूर्च्छा इन्हीं अर्थों में स्वीकार करने से इस लौकिक अपवाद का परिहार हो सकता है। गोपियों और कृष्ण को जीव और ब्रह्म का प्रतीक माना गया है और यही मान कर ही इस रहस्य का उद्घाटन किया जा सकता है। जायसी के वियोग वर्णन में भी इस प्रकार की मनोदशा को हम देखते हैं जिसे हम केवल असङ्गत कहकर उपेक्षा नहीं कर सकते।

दूसरा प्रश्न पहले से अधिक रोचक है। यह आक्षेप भी किसी साहित्यिक हृदय की सूझ तो नहीं प्रतीत होती प्रत्युत तर्क प्रधान होने के कारण इसमें वकालत की बू आती है जिसमें हम प्रत्येक प्रश्न के 'क्यों', 'क्या', 'कैसे' का उत्तर खोजते हैं। सूरसागर ताजीरात हिन्द की पद्यात्मक व्याख्या नहीं है वरन् सूर के हृदय की भावात्मक सत्ता का सजीव मानचित्र है। फिर भी इसका सहानुभूतिपूर्ण समीक्षा कभी भी अनुचित नहीं।

कृष्ण गोपियों को जाते समय यह आश्वासन दे गये

थे कि वे शीघ्र लौटेंगे। हाँ गये अवश्य उनकी इच्छा के प्रतिकूल थे परन्तु आने का वचन दे कर। उनके आने की आशा थी। वह नहीं आए यह दूसरी बात है। जो वायदा करके गया है और जब उस पर अविश्वास करने का कोई कारण भी नहीं, फिर उनका कृष्ण से मिलने के लिए चल पड़ना कितना उपहासास्पद होता! वह कार्य उनके आत्मविश्वास और श्रद्धा की न्यूनता का ही सूचक होता। इसके साथ उनके हृदय में स्त्री सुलभ मान की बारीक रेखा भी दृष्टिगत होती है। "क्यों जाएँ हम; वह क्यों नहीं आवें"? यह मान, काव्य और नारी जगत के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। श्री मैथिलीशरण की यशोधरा में भी हमें ठीक इसी प्रकार की मान-दशा के दर्शन होते हैं।

गौतम सिद्ध होकर कपिलवस्तु लौटे। नगर में धूम मच गई। सारी प्रजा अपने खोए हुए राजकुमार को पा कर हर्षोल्लसित हो उठी परन्तु माननी यशोधरा तनिक भी न हिली। क्या इसका यह तात्पर्य था कि उसके हृदय में गौतम के प्रति प्रेम नहीं था, परन्तु मान के कारण वह मौन और मर्यादित था। जब शुद्धोधन ने उससे चलने का आग्रह किया तो कितना मीठा उत्तर यशोधरा ने देकर अपने मान की रक्षा की—

"भक्त नहीं जाते कहीं आते हैं भगवान,
यशोधरा के अर्थ है, अब भी यह अभिमान।

यह मान भारतीय ललनाओं का आभूषण है। क्या गोपियों के लिए इस मर्यादा का उल्लङ्घन करना सम्भव था?

कार्लाईल कहता है—"जो प्रेम प्रकट न किया जाए वह सब से पवित्र है" गोपियाँ अपने प्रेम का ढोल नहीं पीटना चाहती थीं। ऊधो को तो कृष्ण का अभिन्न मित्र समझ कर उन्होंने अपने हृदय का हाल कृष्ण तक पहुँचाने के लिए कह दिया अन्यथा कहीं किसी पर-पुरुष से कोई स्त्री अपने रति-जन्य भावों को भूल कर भी प्रकट करती है! उनके मिलने के लिए चल पड़ने से वियोगिनियों की अच्छी खासी फौज बन जाती। वह अपना और अपने प्रेमी का उपहास नहीं कराना चाहती थीं। इसी कारण उन्होंने कृष्ण की चिट्ठी के प्रत्युत्तर में कोई चिट्ठी तक नहीं भेजी। भेजे केवल उरहाने, चिर सञ्चित स्मृतियाँ, आहें और आँसू की लड़ियाँ। क्या इससे भी अधिक वह कागज के निर्जीव टुकड़े पर अङ्कित कर सकती थीं?

उनका प्रेम, देश, काल की संकुचित चार दीवारी में सीमित रहना नहीं सीखा था। वह था स्वच्छ और स्वच्छन्द। तो क्या दो मील की दूरी और क्या हजार मील की दूरी? किसी उर्दू के कवि ने तो यहाँ तक कह डाला है—"......दिल में है तस्वीरे यार जब जरा गर्दन झुकाई देखली"।

हृदय से तो वे कृष्ण को एक क्षण भी विस्मृत नहीं करती थीं। सदा रहने वाला तैल धारावत् एक रस था उनका प्रेम। उतरने चढ़ने वाला प्रेम, प्रेम नहीं, बुखार होता है। रैदास ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

"छिन ही चढ़े छिन ऊतरे सो तो प्रेम न होय,
अघट प्रेम पिञ्जर बसे, प्रेम कहावै सोय।"

जिस कंस से गोपियाँ इतनी घृणा करती थीं कि उसकी नगरी की ओर मुँह तक कर के नहीं सोती थीं, उनसे उसकी राजधानी में जाने की आशा करना दुराशा मात्र है। एक बात और ? वे थीं विचारी भोली भाली निपट गँवारिन और कृष्ण वहाँ राजसुख भोग रहे थे, तो उनका सुदामावत् सङ्कोच सामान्यतः स्वाभाविक है।

"हरि अब राजनीति पढ़ पाये" से यह स्पष्ट है। अपनी दीन मलिनावस्था से लौकिक दृष्टि से हीन-भावना, सङ्कोच, भय उत्पन्न होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। फिर वे गाँव की ग्वालिन कृष्ण मिलन की इच्छा से मथुरा कैसे जातीं?

सूर की आँखें भी इस प्रश्न की ओर से बन्द नहीं थीं। उसने इसको कई स्थलों पर दर्शाने का अत्यन्त प्रयास किया है जिसमें गोपियों ने चलने की इच्छा प्रकट की है। देखिए—

ऊधो स्यामहि तुम लै आओ।
जो ऊधो हरि यहाँ न आवैं, हमको तहाँ बुलाओ।

'बुलावो' शब्द ध्यान देने योग्य है जिससे कृष्ण की अवहेलना और स्वभाव-रक्षा का भाव व्यञ्जित होता है

(शेष पृष्ठ ५०८ पर देखिये)

'रत्नाकर' की काव्य-क्षमता

प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त एम० ए०, साहित्य रत्न

व्रजभाषा के अनन्य कवि श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'उद्धव शतक' द्वारा हिन्दी साहित्य में कृष्ण-विषयक आख्यान को एक नवीन रीति से उपस्थित किया है। भ्रमर-गीत की प्रचलित परम्परा में उनकी प्रस्तुत कृति अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। कृष्ण-काव्य के अन्य प्रणेताओं ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के हेतु प्रायः मुक्तक कविता का ही अवलम्ब ग्रहण किया था, किन्तु 'रत्नाकर' जी ने मुक्तक के अञ्चल में प्रबन्ध का ग्रन्थन कर इस दशा में सर्वप्रथम अपनी मौलिक प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया। वास्तव में उनका 'उद्धव-शतक' भावना और शैली, दोनों ही दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में एक अभिनव एवं स्तुत्य चरण का प्रारम्भ करता है।

'उद्धव-शतक' में कवि ने निर्गुण का निराकरण कर सगुण-दर्शन में विश्वास व्यक्त किया है। उनका मुख्य लक्ष्य प्रेम की महत्ता और प्रेषणीयता का दर्शन कराना है। इसी कारण उन्होंने योग और भक्ति की परम्पराओं का विस्तृत रूप से विवेचन किया है और अन्त में शुद्ध तर्कों के आधार पर अपने पक्ष का समर्थन किया है। इस दिशा में उन्होंने मनोविज्ञान का विशेष रूप से आधार ग्रहण किया है और इस प्रकार उन्हें इस प्रसङ्ग में अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

'रत्नाकरजी' के काव्य में भावना और कला का उत्कृष्ट सामञ्जस्य दृष्टिगत होता है। वे व्रजभाषा-साहित्य के अनन्य प्रेमी थे और उसकी भाव-विभूति का उन्होंने विशद रूप से अध्ययन किया था। साहित्य की रचना करते समय उन्होंने अपने पूर्ववर्ती काव्य की समग्र विशेषताओं का अत्यन्त कौशलपूर्वक सञ्चय किया, किन्तु इस प्रकार से प्रेरणा ग्रहण करते समय उन्होंने अपने समकालीन साहित्य की उपेक्षा कहीं भी नहीं की। अपनी भावनाओं का संयोजन करते समय उन्होंने भक्ति-कालीन साहित्य का तथा कला का निर्माण करते समय रीति-कालीन साहित्य का विशेष रूप से अनुगमन किया है।

'उद्धव-शतक' की मूल भावना अष्टछाप के कवियों के सगुण प्रतिपादन पर आधारित है। 'रत्नाकर' जी ने इस दशा में अपने भावों को और भी सुन्दर बनाने के लिये सूर और नन्ददास जी के कृष्ण-काव्य से सफलता ग्रहण की। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि "उद्धव-शतक" में उनकी भावनायें केवल अन्य कवियों के काव्य से चयन मात्र हैं। उनमें कवि के लिये आवश्यक भावयित्री प्रतिभा पूर्ण रूप से वर्तमान थी और प्रस्तुत काव्य में हमें अनेक स्थानों पर उनकी मौलिकता के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। वास्तव में उन्होंने इसकी कथा-वस्तु को परम्परा से ग्रहण करते हुए भी उसका अपनी स्वतन्त्र रीति से संस्कार किया है।

'रत्नाकर' जी की कृतियों में काव्य के माधुर्य तथा प्रसाद, दोनों ही गुण परस्पर ग्रथित रहे हैं। इन दोनों के समन्वय से उनकी शैली में एक विशेष मनोहारिता का सञ्चरण हुआ है। इनके फलस्वरूप उनकी भाषा में सहज-गम्यता के साथ-साथ हृदय का रञ्जन करने वाली वृत्ति का भी अत्यन्त सफल समावेश हुआ है। इसी प्रकार शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक शक्तियों का भी उनके काव्य में पूर्ण सङ्गठन हुआ है। इन तीनों शक्तियों के परिपोषण से उनकी कृति में एक अपूर्व सौन्दय का सञ्चरण हुआ है और व्यञ्जना की प्रच्छन्न स्थिति से उनके काव्य की रमणीयता की विशेष वृद्धि हुई है।

'रत्नाकर' जी की शैली कहीं भी बोझिल नहीं हो पाई है उसमें सहजता के गुण पूर्णतः वर्तमान हैं। इस कारण उनके काव्य में अलङ्कारों का स्वतः आगमन हुआ है। कवि को उनके लिये पृथक से कोई प्रयास नहीं करना पड़ा है। वस्तुतः उनकी शैली भावों की अनुगामिनी है और उसकी सज्जा के हेतु उन्हें भावों में किसी प्रकार के

परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हुई। अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक अप्रस्तुत प्रशंसा एवं वक्रोक्ति आदि तथा शब्दालङ्कारों में श्लेष, यमक, अनुप्रास एवं पुनरुक्तिप्रकाश आदि उनकी कविता में प्रचुर रूप से उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के अलङ्कार-प्रयोग से उनके काव्य के भाव-सौन्दर्य में विशेष आकर्षण का विधान हुआ है। काव्य-लिंग अलङ्कार का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

टूक टूक ह्वै हैं मन-मुकुर हमारी हाय,
चूकि हूँ कठोर बैन पाहन चलावो ना।
एक मनमोहन तो बसिकै उजारयो मोहिं,
हिय में अनेक मनमोहन बसावो ना॥

रस सञ्चार की दृष्टि से उनका उद्धव शतक अपने में सर्वथा पूर्ण काव्य है। इसमें शृङ्गार रस के विप्रलम्भ पक्ष तथा शान्त रस का प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इसमें करुण और निर्वेद के भावों का प्रमुख रूप से स्फुरण हुआ है। कवि ने अपने विरह-चित्र को पूर्ण बनाने के लिये कृष्ण और गोपियों को आलम्बन के रूप में तथा व्रज भूमि और उद्धव की प्रेम-पत्रिका को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया है। वैसे इस प्रकरण में कवि को पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। अनुभावों के उचित विधान द्वारा भी कवि ने इसके रस संयोजन को कुछ न कुछ पुष्टि ही प्रदान की है। इसी प्रकार के कुछ अनुभवों का एक सुन्दर संगुम्फन देखिये—

आये दौरि पौरि लौं अवाई सुनि ऊधव की
और ही बिलोकि दसा दृग भरि लेत हैं।
कहै रत्नाकर बिलोकि बिलखात उन्हें,
येऊ कर क[illegible] करेजे धरि लेत हैं।
आवति कछूक पूछि[illegible] औ कहिबे की मन,
परत न साहस पै दोऊ दरि लेत हैं।
आनन उदास-सांस भरि उकसी है करि,
सौं हैं करि नैननि निचौंहैं करि लेत हैं॥

रस एवं अलङ्कार के पश्चात् 'रत्नाकर' जी ने लोकोक्तियों का अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रयोग किया है। वास्तव में उनके माध्यम से उन्होंने अपने काव्य की स्वाभाविकता को और भी अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है। इस प्रकार की लोकोक्तियाँ उनके काव्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होती हैं। यथा—

(१) दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा।
(२) ह्वै है तीन-तेरह तिहारी तीन पांच यह।

'रत्नाकर' जी ने 'उद्धव शतक' में उद्दीपन में सहायक तत्वों का उल्लेख करते हुये प्रायः सर्वत्र परम्परागत वर्णन प्रणाली को ही ग्रहण किया है। उनके इस प्रकार के चित्र मौलिकता के अभाव के कारण कहीं-कहीं अप्रासंगिक और प्रभाव शून्य हो गये हैं। उनका षट्ऋतु वर्णन का प्रसंग इसी प्रकार का है। इस प्रकरण में कवि ने रूढ़ि का निर्वाह करने के हेतु प्रत्येक ऋतु को क्रमशः एक एक छन्द में उपस्थित किया है। क्षिप्र गति के कारण इसमें उतने हृदय स्पर्शी और रसपूर्ण तत्वों का समावेश न हो सका है जितने उनके अन्य कवित्तों में उपलब्ध होते हैं।

'रत्नाकर' जी की अन्य रचनाओं में 'हिंडोला', 'कलकाशी', हरिश्चन्द्र' और 'गङ्गावतरण' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कतिपय मुक्तक कविताओं की भी रचना की है। रीति-युग से प्रभावित होने के कारण इनमें से वे मुक्तक रचनाओं में ही अधिक सफल रहे हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'गङ्गावतरण' जैसे प्रबन्ध-काव्यों में वे नितान्त असफल ही रहे हों, किन्तु मुक्तक की तुलना में उनकी प्रबन्ध-कृतियाँ उतनी सुन्दर कदापि न बन पड़ीं हैं। वैसे कला-पक्ष की दृष्टि से उनकी रचनायें सम्पूर्ण व्रजभाषा-काव्य में अनन्य स्थान रखती हैं। खड़ी बोली के युग में वास करते हुये भी उन्होंने उसकी उपेक्षा करते हुये केवल व्रजभाषा में ही काव्य-रचना करने की जिस प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है, वह उक्त भाषा के साहित्य के इसी कलागत सौन्दर्य पर आधृत है। भाव-योजना तो किसी भी भाषा में उसी प्रकार की जा सकती है, किन्तु कलात्मक सौन्दर्य का विधान केवल परम्परागत शैलियों के अनुसार ही किया जाता है। यही कारण है कि खड़ी बोली की अर्द्ध-जाग्रत कला का परित्याग कर उन्होंने व्रजभाषा की पुष्ट कला का वरण किया और बाह्य रूप से अपने काव्य की सम्पूर्ण शरीर-सज्जा उसी के माध्यम से की।

'गङ्गावतरण' की रचना करते समय कवि ने पौराणिक गाथाओं से विशेष सहायता ग्रहण की है। इस कृति में सामान्यतः प्रबन्ध-काव्य के सभी मुख्य-गुण प्राप्त हो जाते हैं। विषय के सीमित होने के कारण कवि ने जहाँ कहीं भी वर्णन को संक्षिप्त करने का प्रयास किया है, वहाँ प्रायः केवल गौण तत्वों का ही परित्याग किया गया है। वैसे रचना-सौन्दर्य की दृष्टि से इस कृति का स्थान 'उद्धव-शतक' के तुरन्त बाद आता है। इसका मूल सौन्दर्य-शैली के प्रवाह और गति-विधान में अन्तर्हित है। कवि का लक्ष्य निरन्तर यही रहा है कि गङ्गावतरण की परिस्थिति को हमारे समक्ष पूर्णतः स्वाभाविक रीति से चित्र-रूप में उपस्थित कर दिया जाय।

मुक्तक कृतियों में 'रत्नाकर' जी की 'भीष्म-प्रतिज्ञा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार की रचनाओं में कवि ने प्रायः किसी एक महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग को लेकर अपनी कल्पना और प्रतिभा के आधार पर उसका विस्तृत व्याख्यान उपस्थित कर दिया है। इनमें कवि की भावनाएँ केवल मूल विषय से ही सम्बद्ध रही हैं और इधर-उधर भटकने का अवकाश उसे प्राप्त न हुआ है। रस की दृष्टि से भी इन कृतियों में स्पष्टतया अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के रस वैविध्य की भाँति ही कवि ने प्रत्येक रचना में उचित रस के निर्वाह पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। यही कारण है कि 'भीष्म-प्रतिज्ञा' में अथ से इति तक वीर रस की अन्तर्व्याप्ति रही है। इसमें कवि ने सर्वप्रथम पृष्ठभूमि में ही वीर रस को स्थापित किया है और तदनन्तर क्रमशः उसका विकास प्रदर्शित किया है। भीष्म का शौर्य अपने आप में अत्यन्त वेगवान् था और उसकी सम्पूर्ण आर्यावर्त में ख्याति थी। जब उन्होंने युद्ध-स्थल में पाण्डव-सेना के प्रति उसका प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया, तब जैसे एक बार ही सम्पूर्ण भूमण्डल पर आतङ्क छा गया। उस समय की स्थिति का कवि ने रस की दृष्टि से अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है। यथाः—

भीष्म के बानानि की मार इमि माँची गात,
एकहूँ न घात सव्यसाची कर पावै है।
कहै 'रत्नाकर' निहारि सो अधीर दशा,
त्रिभुवन-नाथ-नयन नीर भरि आवै है॥
बहि-बहि हाथ चक्र और टहि जात नीठि,
रहि-रहि तापै अंक दीठि पुनि धावै है।
इत प्रन-पालन की कानि सकुचावै उत,
भक्त-भय-घालन की कवि उमगावै है॥

'रत्नाकर' जी ने अपनी रचनाओं में काव्य के नाद-सौन्दर्य तथा चित्रोपमता आदि गुणों का विशेष रूप से ध्यान रखा है। परिस्थिति का यथावत् अङ्कन करने में उन्हें पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। किसी भी चित्र को उपस्थित करते समय वे उससे सम्बन्धित परिस्थितियों को क्रमिक रूप से ग्रहण करते हैं। इस कारण उनके चित्रों में अभिव्यक्ति का पूर्ण सामञ्जस्य प्राप्त होता है। मधुर एवं ललित पदावली के प्रयोग के कारण उनके काव्य में सङ्गीत के तत्व का भी यथेष्ट मात्रा में समावेश हुआ है। इसी प्रकार वाग्वैचित्र्य के गुण द्वारा भी उन्होंने अपने काव्य का विशेष रूप से शृङ्गार किया है। व्यञ्जना शिल्प के द्वारा उन्होंने अपनी भावनाओं को चमत्कारपूर्ण बनाने का अत्यन्त श्लाघ्य प्रयास किया है।

'रत्नाकर' जी के काव्य में मनस्तत्व के सिद्धान्तों का पूर्ण समावेश दृष्टिगत होता है। कवि ने मनोविज्ञान-सम्मत रीति से अपनी भावनाओं का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतिपादन किया है। इस प्रकार के भाव-प्रकाशन से उनके काव्य का कला-पक्ष भी पर्याप्त समृद्धि को प्राप्त हुआ है। इसके द्वारा उनकी शैली के रम्य आकर्षण में विशेष वृद्धि हुई है और उसमें प्रभावोत्पादन के गुण का कहीं अधिक समावेश हुआ है। इसी प्रकार के एक पूर्व-नियोजित तथा घटना निबन्धन के भाव से युक्त छन्द का उदाहरण देखिये :—

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यों कान्ह,
ऊधौ को कहन हेत ब्रज-जुबतीनि सौं॥
गहबरि आयौ गरो भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।

(शेष पृष्ठ ४९८ पर देखिए)

नारी और प्रसाद की कहानियाँ

श्री ओमानन्द रू० सारस्वत एम० ए०

प्राचीन युग में नारी को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। मध्यकाल में शृङ्गार और भोग का आधार समझ कर रीतिकालीन कवियों ने उसका मूल्य गिरा दिया, फलतः आज के युग में मानव ने उसे बन्धन युक्त कर एकमात्र सन्तानोत्पत्ति का यन्त्र बना लिया है। सम्भवतः इसीलिये आज का कवि उसकी मुक्ति की कामना करता है—

मुक्त करो नारी को मानव,
चिर वन्दिनी नारी को।
युग युग की बर्बर कारा से,
जननि सखी प्यारी को॥ (पन्त)

नारी का चित्रण संसार के साहित्य में विभिन्न प्रकार से हुआ है। हिन्दी में नारी-सौन्दर्य को एक आदरणीय स्थान प्राप्त है। स्त्री-जीवन के सौन्दर्य की छाया रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द में छिपी पड़ी है, फिर प्रसाद जैसे लेखकों में, जिनकी आरम्भ से रुचि नारी के सौन्दर्य और प्रेम की ओर रही है, तो यह छाया साकार हो उठी है।

सत्येन्द्रजी के शब्दों में 'नारी वात्सल्य, त्याग और करुणा की त्रिपथगा है।' श्री गुप्त ने नारी को अबला मान कर सदैव आँचल में दूध और आँखों में पानी ही रक्खा है; किन्तु प्रसाद ने नारी के विविध रूप हमें दिये हैं—कहीं यौवन कहीं त्याग, कहीं वात्सल्य, कहीं क्रूरता, कहीं प्रतिहिंसा, कहीं स्वार्थ और कहीं शुद्ध प्रेम। नारी के करुणा रूप का भी उन्होंने दिग्दर्शन कराया है, लेकिन वहाँ नारी असहाय और बेबस कम है!

आपकी सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' में नारी केवल एक बालिका की छाया के रूप में प्रकट हुई है, जिसका विकास नहीं होता :—

"बालिका की अवस्था पन्द्रह वर्ष है। आलोक से उसका अङ्ग अन्धकार-घन में विद्युत्लेखा की तरह चमक रहा है।"

परन्तु अन्तिम कहानी 'सालवती' तक पहुँचते पहुँचते आप स्त्री-सौन्दर्य का बड़ा उज्ज्वल चित्र उपस्थित कर देते हैं—

"आज जैसे उसने यह अनुभव किया कि नारी का अभिमान अकिंचित् है। वह मुग्धा विलासिनी, अभी अभी संसार के सामने अपने अस्तित्व को मिथ्या, माया, साहस-हीन समझ कर आई थी। वह अपने सुवासित अलकों को बिखेर कर उन्हीं में अपना मुँह छिपाये पड़ी थी।"

'चन्दा' में प्रतिहिंसा और कठोरता का प्रवेश करा करा कर प्रसादजी ने नारी के दूसरे रूप को दिखलाया। इसका उदाहरण द्रष्टव्य है—

'चन्दा ने कहा—'लो मैं मरती हूँ। उसी छुरे से तूने हमारे सामने हीरा को मारा था—वही यह छुरा है, यह तुझे दुःख से निश्चय छुड़ायेगा'········फिर वह खिल-खिलाकर हँसी और कहा—'दरद दिल का ही सुनाऊँ प्यारे।'—फिर हँस कर कहा—'हीरा, तुम देखते होगे, पर अब तो यह छुरा ही दिल की दाद सुनेगा।'—इतना कह कर अपनी छाती में छुरा भोंक लिया।"

यही प्रतिहिंसा आगे चल कर नारी के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व का भाव पकड़ लेती है। 'आकाशदीप' में अन्तर्द्वन्द्व से ऊपर उठकर नारी चम्पा के रूप में शांत और स्थिर होकर साधक की भाँति उस नीरव द्वीप में साधना करती है।

नारी को 'प्रसाद' सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। निर्गुणाश्रम शाखा की भाँति—'नारी नागिन एक सुभाऊ' और शेक्सपीयर की लेडी मैकबैथ की भाँति—प्रसाद की 'नारी' नहीं है। उनके आदर्शानुसार नारी जाति समाज की सुदृढ़ नींव है।

त्याग और निस्वार्थ भावना 'ममता' में उत्कृष्ट कोटि की है। इसमें केवल 'विधवात्व' की समस्या ही नहीं, अपितु नारी का आदर्श रूप भी चित्रित है। सभी स्त्री जीवन-भर दुःख सहन कर सकती है, लेकिन सर्वस्व नहीं

खो सकता उत्कोच नहीं ले सकती, प्रलोभनों में झूठ नहीं सकती :—

"हे भगवन् ! तब के लिए ! बिपद के लिए ! इतना आयोजन ! परमपिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस ! क्या भीख न मिलेगी ? क्या कोई मुट्ठ पर बचा न रह सकेगा जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके ? असंभव है।"

'असम्भव' शब्द में नारी की दृढ़ता है। वह कर्तव्य को निश्चित कर लेता है। इसी प्रकार की दृढ़ता हमें मरुभूमी की ललनाओं में मिलती है—

पाछा फिर मत झाँकज्यो, पग मत दीज्यो टार।
कट मल जाज्यो खेत में, पर मत आज्यो हार॥

प्रसादजी चित्रण में पुरुष की अपेक्षा नारी में अधिक सफल हुए हैं। 'मङ्गला' का चित्र बड़ा विलक्षण हुआ है। 'ग्रामगीत' में नरेन्द्र भट्ट की लड़की रोहिणी गाँव के जमींदार जीवनसिंह के प्रेम में पागल होकर गीत गाती फिरती है। यहाँ नारी का प्रेम-तत्व प्रधान है।

प्रसाद भारत की नारियों को बलिष्ठ, तेजस्वी, कमठ, मेधावी और आनन्दप्रिय बनाना चाहते थे। वे सौन्दर्य के उपासक अवश्य थे, किन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक उसमें उच्छृङ्खलता नहीं। वे भोगवाद के भी पुजारी थे, परन्तु मर्यादित रूप में। यही कारण है कि प्रसाद की नारी 'लैला-मजनूँ' या सूफी कवियों की भाँति प्रेम में कराह नहीं रही; अपितु स्वयं 'प्रेम की पीर' बन कर साकार हो गई है। शृङ्गार का जहाँ कहीं रूप है, वहाँ शिष्ट और सभ्य है।

नारी के निडर रूप को हम 'विजया' में देख सकते हैं। अत्याचारी समाज पाप कह कर कानों पर अँगुली रख लेता है—'पाप' शब्द दूसरों को सुनाता है, स्वयं नहीं सुनता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रसादजी ने आधुनिक नारी की भाँति मनुष्य की खिल्ली उड़ाई हो। उन्होंने नारी और पुरुष दोनों को समता और सहक - रिता के सूत्र में बाँध कर सङ्घटित मोर्चा तैयार किया है। ममता और उसका पिता, नूरी और याकूब, वेला और गोली, सालवती और अभय, आर्यमित्र और सुजाता तथा चम्पा और बुद्धगुप्त इसके उदाहरण हैं।

प्रसाद की नारी यथार्थ होते हुए भी उस पर विवेक का बन्धन रहता है, भावों का प्राचुर्य। इसीलिए उनकी नारी 'सजीव' होती हुई भी कहीं कहीं 'दुर्लभ' प्रतीत होती है। यह प्रसाद के कवि और कल्पना की करामात तथा आदर्शवाद का प्रभाव है।

'पुरस्कार' में नारी को 'सरलता की देवि' कहा है:—

"और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधुलिका को। आह कितना भोला सौन्दर्य ! कितनी सरस चितवन !"

किन्तु यही सरल 'मधुलिका' प्रेमी के लिए अपने प्राणों की आहुति दे देने में भी सङ्कोचशीला नहीं होती—

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले"—कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।"

पुरस्कार रूप में प्राणदण्ड ! प्रेम की यह चरम पराकाष्ठा है। प्रेम की उत्कृष्ट दृढ़ता है।

प्रसादजी ने नारी का जो चित्रण अपनी कहानियों में किया, उसमें सौन्दर्य, सङ्गीत, काव्य प्रकृति और त्याग व बलिदान नारी के रूप में साकार होकर बोलने लगते हैं।

(पृष्ठ ४९६ का शेषांश)

नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सों,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सों॥

अकवि प्रतिभा ऐसे अनेक स्थलों पर हमारे सम्मुख अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में अवतरित हुई है। इस प्रकार के छन्दों से उनके काव्य का साहित्यिक मूल्य विशेष रूप से अभिवृद्धि प्राप्त कर सका है।

'रत्नाकर' जी की एक अन्य विशेषता उनकी संवाद-कथन की आकर्षक प्रणाली है। उनके संवादों में किसी प्रकार की कृत्रिमता के दर्शन हमें नहीं होते। वास्तव में उनका विकास अत्यन्त निसर्ग परिस्थितियों में हुआ है। कथोपकथन का इतना सरस आयोजन करने में अत्यन्त अल्प कवि ही सफल हो पाते हैं। इन संवादों से उनके छन्दों की गति में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित न हुआ है और न इनके लिए उन्हें अपनी भावनाओं को ही संक्षिप्त करना पड़ा है।

एकांकी की कहानी

श्री शशिभूषण सिंहल एम० ए०

संक्षिप्त आकार का तीखा सा यह है एकांकी नाटक जिसके दर्शन आये दिन रेडियो, पत्रिकाओं तथा रंगमञ्च पर होते रहते हैं। साहित्य में इसका महत्व नित्यप्रति बढ़ता ही जा रहा है। इसका मूल स्रोत पश्चिम है। यूरुप में एकांकी नाटक का सर्वप्रथम रूप बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के आस पास दीख पड़ा था। इङ्गलैंड के नाटक घरों में मुख्य नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व आए हुये दर्शकों का मनोरंजन करने तथा शान्ति स्थापित रखने के हेतु प्रबन्धकगण एक छोटा सा नाटक (Curtain raiser) प्रस्तुत किया करते थे। यह प्रहसन जैसा रूपक प्रायः होने वाले नाटक की कथावस्तु का संक्षेप में परिचय देता था। इसमें कुछ हास्य का पुट भी रहता था। उस समय यह मुख्य नाटक के साथ अतिरिक्त प्रदर्शन के तौर पर रङ्गमञ्च पर आता था। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न था। शनैः शनैः इस नृत्य गान प्रधान नाटक rtain raiser) का विकास होने लगा। इसके टैकनीक में विस्तार, स्पष्टता और दृढ़ता आई। इसने एकांकी नाटक (One act play) का रूप धारण कर लिया। एकांकी अपने नवनिामत टैकनीक के आधार पर स्वतन्त्र रूप धारण कर रङ्गमञ्च पर खेला जाने लगा। लगभग सन् १९३० में इसने हिन्दी साहित्य में पदार्पण किया। इस दशा में अनेक प्रयोग हुये, प्रगति हुई और एकांकी का वर्तमान स्वरूप उसी की देन है। वैसे संस्कृत साहित्य में भी एक अङ्क वाले नाटकों के दर्शन होते हैं किन्तु उनकी आत्मा और आधार एकांकी से सर्वथा भिन्न हैं।

साधारणतया धारणा कि एकांकी आज के अत्यधिक व्यस्त युग की मांग है। आजकल गिने-चुने व्यक्ति ही साहित्य में समय दे पाते हैं। वरन् सप्ताह में एक-आध घण्टा ही साहित्यानुरंजन में व्यतीत कर देना अब साधारण तथा पर्याप्त समझा जाता है। लम्बे और अधिक समय घेरने वाले नाटकों में रुचि रखना जनता के लिये सुलभ नहीं है। अतः एकांकी नाटक जो कि बहुधा एक अङ्क का, और संक्षिप्त होता है, उत्पन्न हुआ है। एकांकी के विषय में दूसरा मत है, एकांकी अपने संक्षिप्त आकार के कारण ही उदय और सर्वप्रिय नहीं हुआ है। उसकी संक्षिप्तता युग की एक मांग की पूर्ति भले ही करती हो किन्तु एकांकी का जन्म एक स्वतन्त्र लक्ष्य को लेकर हुआ है। यह एक स्वतन्त्र साहित्यांग है। साहित्य का एक ढांचा, निज का अस्तित्व रखने वाला। उसका निर्माण कई महत्वपूर्ण तत्वों के योग से हुआ है। यह तत्व मिल कर उसे एक नवीन, निराला रूप प्रदान करते हैं जो नाटक से भिन्न है।

भारत के विषय में समय वाली समस्या स्वीकार नहीं की जा सकती। पहिले तो भारतीय जनता इतनी व्यस्त नहीं कि वह नाटक को देखने, पढ़ने अथवा सुनने का अवसर न पा सके। यदि कुछ ऐसे वर्ग हैं जिन्हें समय बहुत कम मिलता है, उनसे एकाङ्की भी देखने या पढ़ने की आशा रखना व्यर्थ है। वास्तव में उनके समक्ष समय का प्रश्न नहीं, प्रश्न है अभिरुचि का। केवल पैसे में डूबे रहने वाले, साहित्यिक अभिरुचि से शून्य व्यक्तियों के लिए छोटे आकार का एकाङ्की भी विशेष आकर्षण नहीं रखता।

एकाङ्की को जन्मे अधिक समय व्यतीत न होने के कारण उसका रूप अभी तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाया है। उसकी रचना पद्धति के विषय में स्पष्ट और सर्वमान्य नियम निर्धारित नहीं किए जा सके हैं। विभिन्न एकाङ्की नाटककारों ने इस दिशा में भाँति भाँति के प्रयोग किए हैं। उन अनेक प्रकार के एकाङ्कियों को लेकर आलोचकों तथा एकांकीकारों ने एकांकी के आकार प्रकार के विषय में मत स्थिर करने का प्रयत्न किया है। इस दिशा में स्वयं एकांकी लेखक विशेष रूप से प्रगतिशील रहे हैं। एकांकी का टेकनीक अभी विकासोन्मुख है फिर

है उसके मूल में कार्य करने वाली प्रवृत्तियों का परिचय मिल ही सकता है।

एकांकी नाटककार अपनी रचना के लिए सामग्री हमारे इसी जीवन के साधारण धरातल से ग्रहण करता है। कथानक और पात्र जुटाने के लिए प्रायः कल्पना लोक में नहीं भटकता फिरता। वह हमारी आए दिन की घटनाओं और समस्याओं को जहाँ तहाँ से चुनकर झाड़ता-पोंछता है। दृष्टि एक लक्ष्य विशेष पर टिकी रहने के कारण वह घटना के ग्राह्य को स्वीकार कर अग्राह्य को छोड़ देता है। और जहाँ-तहाँ घटना को अपनी आवश्यकतानुसार उभारता है, कल्पना का स्पर्श दे कर। कथावस्तु के इस ताने-बाने पर वह अपनी लेखनी रूपी कूँची फेर कर उसे नवीन कलात्मक रूप प्रदान करता है। यह नवीन रूप साधारण जीवन की भूमि पर विकसित होने पर भी अपने रूप और सौन्दर्य में उससे कहीं तीव्र और बढ़-चढ़ कर है। कला की खराद पर उतरी हुई स्वाभाविकता ही एक रस, एक ढर्रे पर घिसने वाले जीवन में सजीवता का स्फुरण कर नवीन प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ हो सकेगी।

आज का साहित्यकार अपनी रचना द्वारा मानव चरित्र के रहस्यों को खोल कर उन पर प्रकाश डालते हुए उन्हें सहजगम्य बनाने में विशेष रुचि रखता है। अतः नाटक चरित्र प्रधान हो जाने पर नाटककार की दृष्टि वर्ग और समूह का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों की ओर उठ जाना स्वाभाविक है। उन्हीं के सहारे वह जीवन के गूढ़ रहस्यों से अवगत हो सकता है। किन्तु वर्ग के प्रतिनिधि पात्रों का चित्रण करते समय कलाकार वर्गगत धारणाओं के अभिशाप से अछूता नहीं बच पाता। उसके सम्मुख तत्सबंधी निज के सिद्धान्त आ खड़े होते हैं। जीवन के घुटते हुए धुँए का कसैलापन चाहे या अनचाहे कलाकार के गले में जा घुसता है। जीवन की मलिनता और निराशा, नाटक को ढक लेती है। स्वस्थ जीवन का निर्मल दृष्टिकोण निराशा के झोंके में अस्थिर हो उठता है। यदि साधारण जीवन के कुत्सित और जर्जर अङ्गों को नग्न रूप में भरपूर उभार कर छोड़ देने या निर्जीव घिसी पिटी घटनाओं की पुनरावृत्ति में ही नाटककार अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है तो उसका यह लक्ष्य अधूरा है, अस्वस्थ है! फिर साधारण जीवन और कलात्मक, प्रेरणात्मक नाटक में क्या अन्तर। घटना के चयन और पात्रों के चित्रण में कला और जन कल्याण की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

एकाङ्की जीवन के किसी एक पहलू, घटना अथवा समस्या को लक्ष्य बना कर चलता है। वहाँ नाटक की भाँति विस्तार में जाने अथवा गौण कथाओं का जाल बुनने का तनिक अवकाश नहीं मिलता। प्रस्तावना, नांदी पाठ आदि के झंझटों से सर्वथा मुक्त। उसका प्रत्येक अङ्ग प्रत्येक पंक्ति, चुस्ती और सजगतापूर्वक लक्ष्य की ओर इङ्गित करती है। एकाङ्कीकार घटना को प्रारम्भ से प्रदर्शित न कर उसे बीच में ऐसे स्थल पर पकड़ता है जहाँ बीती हुई घटनाओं की व्यञ्जना है, कुतूहल है और है क्षिप्रगति। एकाङ्की का प्रारम्भ पहेली की भाँति रहस्यमय है। पाठक या दर्शक घटना के पूर्वाध्याय से अनभिज्ञ होने के कारण जिज्ञासा से भर उठता है।

तीव्र झोंके की भाँति एकाङ्की प्रारम्भ होकर अपने रहस्य और तीव्रता के वेग में भावनाओं द्वारा घनीभूत होता बढ़ चलता है। एकाङ्की संघर्ष की भूमि पर बोई, उपजी और परिपक्व हुई रचना है। वर्तमान संघर्षग्रस्त समाज की भूमि और जलवायु उसके अनुकूल है। नाटक में आदर्शों, व्यक्तियों तथा घटना जनित संघर्ष सिमट आते हैं। संघर्षण तीव्र से तीव्रतर होता जाता है। लोहे से लोहा टकराकर चिनगारियाँ छोड़ रहा है। वातावरण तनता जाता है मानो कोई बवंडर अब आया और अब आया, अन्त में सब कुछ खिच कर, तनकर चरम पर जा टिकता है। आंधी का वेग सहसा स्तम्भित हो रुक जाता है। एक बिजली सी कौंधी और नाटक समाप्त।

बिजली की यही कौंध दर्शकों के हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाती है। सब अपने नेत्र खोलकर, बन्द कर समझने का प्रयास करते हैं। चरम सीमा के उपरान्त तुरन्त ही नाटक की समाप्ति विशेष प्रभाव रखती है। श्री

हेतु एकाङ्की के एक ही बैठक में समाप्त हो जाने पर बल दिया गया है।

एकांकी के पात्र रचयिता के विचारों तथा घटना की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, ये संख्या में कम, नाटक से सम्बन्धित तथा प्रभावशाली होने चाहिये। अधिक वक्तव्य तथा विकास के लिए स्थान न होने के कारण पात्रों का पदार्पण नाटक अथवा उपन्यास से भिन्न प्रकार का होता है। एकांकी का पात्र दूर से बह कर आती हुई धारा की भांति आ गिरता है, वह पूर्व परिचित की भांति अपने में रहस्य छुपाये छिन्न-भिन्न सा अकड़ता हुआ आ खड़ा होता है। उसकी रूपरेखा स्पष्ट होती है, दृढ़ होती है, पत्थर पर की लकीर जैसी।

प्रायः नायक कथा को उठाता और बढ़ाता है। कथानक विकसित होता जाता है और प्रतिनायक या गौण पात्र अथवा दोनों प्रकार के पात्र मिलकर कथा के विकास में अवरोध उत्पन्न कर सद्रूप उपस्थित करते हैं। इस अवरोध के फलस्वरूप कथा उलझती-सुलझती तन कर, चरम की ओर सिमटती जाती है।

गौण पात्र कई प्रकार के होते हैं। ये कथावस्तु में अड़चन डाल कर या किसी समस्या का समाधान प्रस्तुत कर उत्तेजित करते हैं। आधुनिक नाटकों में स्वगत कथन का प्रायः लोप हो चला है। एकांकी में इसके स्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः कुछ स्थलों पर मुख्य पात्र द्वारा विचार अभिव्यक्त कराने के साथ स्वगत-कथन से बचने के हेतु उसके आत्मीय या मित्र की अवतारणा की जाती है। ऐसे माध्यम पात्र को लक्ष्य कर नायक बोलता है। एकांकी की कथा एकाएक उठ खड़ी होने के कारण बहुत से रहस्यों को अपने आप में संजोये रहती है। उन रहस्यों को आवश्यक स्थलों पर खोलने अथवा सूचित करने के हेतु सूचक पात्र उपस्थित होते हैं। कहीं-कहीं प्रभाव व्यञ्जक गौण पात्र भूमिका, रहस्यमय संकेत अथवा इङ्गित की भांति नाटक में पदार्पण करते हैं।

एकांकी में इसी विश्व के चित्र हैं। अपने पात्रों के लिये कलाकार परलोक में नहीं भटकता। उसके पात्र प्रायः पारलौकिक या मृतात्मा नहीं होते। यदि ऐसे पात्र आते भी हैं तो मानवसुलभ दुर्बलता में डूबते-उतराते।[1]

साधारण और व्यक्तित्व में आकर्षण रखने वाले पात्र उसमें दीख पड़ते हैं। उनका आधार मनोवैज्ञानिक होता है अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष के लक्ष्य में उनमें स्पष्टतया उभरते हैं।

कथोपकथन एकांकी की आत्मा है। उनमें चमत्कार और सजीवता अभीष्ट है। संवाद होते हैं कुछ पैने, तीखे और चुटीले। वार्तालाप साधारण, स्वाभाविक रीति का हो किन्तु उसमें कलात्मक स्पर्श आवश्यक है। वह संक्षिप्त होने के साथ मर्मस्पर्शी हो। संवाद वक्ता के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए कथा सूत्र को विकसित करते चलते हैं। सीधे उपदेशात्मक कथन को उतना ही बचाना आवश्यक है जितना निम्नकोटि का वाद-विवाद को।

हिन्दी एकांकियों में रङ्ग संकेत तथा नाटकीय संकेत बङ्गला तथा अँग्रेजी नाटकों की देन है। इन संकेतों के जन्म के विषय में दो मत हैं। पहिले मत के अनुसार नाटक में उपन्यास, कहानी आदि की सी इतिवृत्तात्मकता लाने के लिए रङ्ग संकेत तथा नाटक संकेत का समावेश किया गया है। आधुनिक युग में नाटक प्रायः पढ़े ही जाते हैं। उन्हें अभिनीत करने तथा देखने के लिए समय और सुविधा का अभाव है। उनका बहुत कुछ उपयोग पढ़ने और सुनने के द्वारा होता है। जनता को उपन्यासों तथा कहानियों जैसा रसास्वादन कराने के हेतु नाटक में नाटक संकेत आदि देकर सजीवता और आकर्षण प्रदान किया जाने लगा। साथ ही आज के पाठक की वृत्ति सांगोपांग चित्रण और वर्णन में अधिक रमती है।

दूसरा मत इसके विपरीत है। उसके अनुसार एकांकी संक्षिप्त और आकर्षक होने के कारण सरलतापूर्वक अभिनीत हो सकता है। रङ्गमञ्च पर अभिनेताओं को अभिनय सम्बन्धी सूक्ष्म दिग्दर्शन प्रदान करने के हेतु नाटक संकेत का जन्म हुआ है। इसके फलस्वरूप दर्शकों को रङ्गभूमि की व्यवस्था, समय, सजावट, पात्र के स्तर तथा उसकी रुचि आदि का परिचय मिल जाता है। नाटककार कभी-कभी अधिक स्पष्ट करने के हेतु समय का मानचित्र

[1] डा० रामकुमार वर्मा का 'अन्धकार'

दे देते हैं। संकेतों द्वारा अभिनेता के रूप की कल्पना, उसके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण जो अभिनय द्वारा स्पष्ट नहीं हो पाता, सहज ही भाव गम्य हो जाता है। दुरूह तथा विस्तृत स्थलों को संक्षिप्त करने में ये संकेत बहुत सहायक होते हैं। उक्त मत संकेतों को अभिनयात्मक दृष्टि से महत्व देता है।

एकाङ्कीकार इन संकेतों की अवतारणा दो प्रकार से करता है। कथोपकथन से अलग उनके प्रारम्भ या बीच में विस्तारपूर्वक संकेत देकर परिस्थिति स्पष्ट करता है या कभी कभी कथोपकथन के बीच में ही एक-एक, दो दो पंक्तियों को कोष्ठक में लिखकर सम्बन्धित संकेत देता चलता है। ये संकेत अभिनय और भावाभिव्यक्ति को सहज बनाते हैं और पहले प्रकार के संकेत रङ्गभूमि की व्यवस्था देते हैं।

एकाङ्की बिजली की सी कौंध है। यह कौंध जितनी चमकीली और संक्षिप्त होगी उतनी ही अपने लक्ष्य के समीप कही जा सकेगी। एकाङ्की की कथावस्तु दर्शक श्रोता या पाठक पर समन्वित प्रभाव (Accumulative effect) डालती है। घटना के कार्य, स्थान और समय, तीनों अङ्गों को भली प्रकार गूंथने में ही नाटककार का कौशल है। प्रायः ऐसी धारणा है कि कार्य और समय की एकता तो अनिवार्य है। एकाङ्की में प्रस्तुत किए गए किसी पहलू विशेष में एकता और एकाग्रता रखना इन्हीं के द्वारा सम्भव है। एक ही स्थान पर कार्यों की विविध घटनाओं की क्रिया तथा प्रतिक्रिया सङ्कलित होनी चाहिए। अनेक दृश्यों का विधान या अनेक असम्बद्ध घटनाओं का पदार्पण उसे विशृङ्खलित कर देगा। इसे दृष्टि में रखते हुए समय की एक ही कड़ी अपेक्षित है। विभिन्न कालों से उठाई गई घटनायें इसमें व्यवघात उत्पन्न करेंगी। साथ ही अनेक स्थलों का प्रदर्शन एकांकी की आत्मा का घातक है और असाध्य भी। समय, स्थान तथा कार्य का यह 'सङ्कलन-त्रय' जितनी खूबी से सङ्गठित होगा एकांकी की धार उतनी ही पैनी होगी। इन एकताओं को प्रदर्शित करने या अधिक अवसर न होने के कारण रङ्ग निर्देश द्वारा उनकी संक्षेप में सूचना दी जाती है।

एकांकी जीवन के अधिक समीप और सङ्घर्ष-प्रधान होने के कारण अपना क्षेत्र मध्यम वर्ग के परिवारों में अधिक पाता है। बाबू वर्ग के लोगों के घरों में नित्य प्रति घटने वाली आर्थिक, सामाजिक तथा मानसिक उलझनें उसकी प्राण हैं। रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, अश्क, गोविन्ददास तथा अनेक नवोदित लेखक ऐसे नाटकों को ले कर चले हैं।

इब्सन और शॉ का प्रभाव नाटकों और एकांकी दोनों पर पड़ा है। नारी का पुरुष के आर्थिक आधिपत्य के प्रति विद्रोह और रूढ़िग्रस्त पुरुष के लड़खड़ाने के चिह्न इनमें खूब उभरे हैं। भारतीय संस्कृतिगत सङ्कोच सौजन्य और सहनशीलता के स्थान पर उनमें पाश्चात्य दबङ्गपन, थोपे गए बड़प्पन के प्रति तिरस्कार और खालिस बौद्धिकता है। ऐसे एकांकियों के लिए भी मध्यमवर्ग के शिक्षा सम्पन्न बुद्धिवादी होने के दावेदार स्त्री, पुरुष चुने गये हैं। उनके बीच का सङ्घर्ष अन्य वर्गों की अपेक्षा निस्सन्देह तीव्र और मर्मभेदी होगा। भुवनेश्वरप्रसाद ने 'प्रेम-त्रिकोण' का सहारा लिया है। मध्यम वर्ग के आँधी जैसे सङ्घर्षमय जीवन में दो पुरुष और एक स्त्री आँखें मलते, गिरते-पड़ते मार्ग खोज रहे हैं।

पौराणिक तथा ऐतिहासिक एकांकियों की रचना हुई है किन्तु उनमें प्रायः नाटककार ने इतिहास के माध्यम से वर्तमान में झाँकने का प्रयत्न किया है। वह गत पात्रों और घटनाओं को तह में आज के जीवन में चलते फिरते साधारण मनुष्य और उसकी समस्याओं को जमाता है। रामकुमार वर्मा का 'अन्धकार' तथा सद्गुरुशरण अवस्थी के अनेक एकांकी इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। सेठ गोविन्ददास ऐतिहासिक कथानकों को लेकर चले हैं। वे स्वभावतः आदर्शवादी हैं। भारत के मध्यकालीन इतिहास में उन्हें वर्तमान में स्फूर्ति और चेतना भरने की पर्याप्त सामग्री दीख पड़ी है। मराठों और राजपूतों का जातिगत स्वाभिमान और शौर्य उन्हें भाया है। ऐसे एकांकी पर्याप्त मात्रा में लिखे गए हैं।

आज के जीवन को अभिव्यक्त करने में कुशल एकांकी अपने में सङ्घर्ष के प्रति मोह, तीखापन एकाग्रता कुतूहल और प्रेरणा सब कुछ एक पहलू, एक बिन्दु में समेटे है।

बँगला उपन्यास का विकास

श्री राजमल जैन एम० ए०

साहित्य के सबसे समृद्ध एवं लोकप्रिय अङ्ग उपन्यास को सूत्रपात अन्य भारतीय भाषाओं की तरह बङ्गला में भी अँग्रेजी के सम्पर्क से हुआ। सन् ५७ में प्यारी चाँद मित्रा ने 'आलालेर घरेर दुलाल' लिखा जिसे साहित्यिक दृष्टि से बङ्गला का प्रथम उपन्यास कहा जा सकता है। इस चरित्रप्रधान उपन्यास ने परवर्ती बङ्किमचन्द्र और उनकी पीढ़ी के अन्य उपन्यासकारों को भी प्रभावित किया।

बङ्गला में उपन्यास रचना का वास्तविक प्रारम्भ बङ्ग साहित्याकाश में बङ्किमचन्द्र के उदित होने से होता है। विदेशियों द्वारा विजित अपने देशवासियों ने देशभक्ति का राष्ट्राभिमान एवं आत्मसम्मान जगाने के लिये उन्होंने मुख्यतः ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। सन् ६५ में प्रकाशित 'दुर्गेशनन्दिनी' और उसके बाद लिखे गये 'कपाल-कुण्डला' आदि उनके उपन्यासों से हिन्दी संसार पूर्णतः परिचित है।

बङ्किमचन्द्र द्वारा प्रवर्तित ऐतिहासिक उपन्यास-धारा तो उनकी मृत्यु के साथ ही सूख गई किन्तु अनेकों रोमांटिक लक्षणों से परिपूर्ण उनके सामाजिक उपन्यासों की परम्परा को रवि ठाकुर ने पूर्णता प्रदान की।

विश्वसम्मानित रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बङ्गला साहित्य और संस्कृति की हर फुलवारी को सींचा है और उसे सौन्दर्य प्रदान किया है। 'गोरा', 'शेषेर कविता' और 'चोखेर बालि' आदि उपन्यास विश्वसाहित्य की निधि है। अपने उपन्यासों में माननीय जीवन के सुख-दुख के जो चित्र उन्होंने उतारे उनमें उन्होंने रङ्ग और कल्पना। उपन्यास सौन्दर्यानुभूति के विषय बन गये इस कारण बङ्किम और रवीन्द्र में बहुत अन्तर आ गया। टागोर के उपन्यास व्यक्तिवाद और आदर्शवाद पर आधारित हैं। उनकी काव्य प्रतिभा ने जिन उपन्यासों की सृष्टि की है उनकी छाप आज भी बङ्गला उपन्यास पर है। रवीन्द्र धारा आज भी बह रही है किन्तु वह इतनी वेगवती नहीं है।

सन् १९४१ की श्रावणी पूर्णिमा को
"रवि अस्त जाय,
अरण्येते अन्धकार, आकाशेते आलो।
....खूँजितेछि कोथाय तुमि, कोथाय तुमि।

को चरितार्थ कर पार्थिव रवि अस्त हो गया किन्तु यह भी सत्य है कि आज से २०-२५ वर्ष पहिले ही रवीन्द्र शैली के अतिरिक्त अन्य किसी शैली में लिख सकना बड़े साहित्यिक के लिए भी कठिन था।

टैगोर के समकालीन शरतचन्द के उपन्यासों ने न केवल बङ्गला में वरन् अन्य भाषाओं में भी अनूदित होकर लोकप्रियता पाई। हिन्दी का हर उपन्यास प्रेमी उनकी रचनाओं से परिचित मिलेगा। शरतबाबू की लोकप्रियता का एक सबसे बड़ा कारण उनके साहित्य का जीवन के निकट होना है। उन्होंने न केवल समाज द्वारा उपेक्षितों, पीड़ितों और दरिद्रनारायणों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है बल्कि अपनी पूरी सहानुभूति भी इनके प्रति दिखाई है।

बङ्गला उपन्यास को बङ्किम, रवीन्द्र, शरत इस बृहत्त्रयी की देन केवल इतनी ही नहीं है कि उन्होंने सरल-जनसुलभ भाषा लिखी या प्रवाह में घटनाओं का कथानक सबके मनोरञ्जन के लिए उपस्थित किया वरन् यह कि तीन उपन्यासकार बङ्गला उपन्यास के विकास के तीन प्रमुख सोपान हैं। बङ्किमचन्द के समय तक बङ्गला उपन्यास घटना प्रधान होते थे, 'कृष्णकांतेर विल' या 'देवी-चौधरानी' में इसी बात के प्रमाण मिलते हैं। बङ्किम के बहुत प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्द मठ' से भी यह पता चलता है कि उपन्यासकार इतिहासकार तटस्थ दर्शक नहीं है परन्तु भावुक कवि की भाँति पुनरुज्जीवन के स्वप्न देखते हैं।

रवीन्द्रनाथ में आकर बङ्गला उपन्यास समस्या प्रधान हो जाते हैं। 'नौकाडूबि' यद्यपि घटना प्रधान है फिर भी 'गोरा' 'घरेर बाहिरे' 'चार अध्याय' स्पष्ट रूप से तत्कालीन बङ्गला समाज व्यवस्था में विदेशी संस्कृति और विचारधाराओं की टकराहट से जो आन्दोलन उपस्थित हो रहे थे उनका चित्रण करते हैं। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासकार पर उनका कवि हावी है और इस कारण से 'संदीप' या 'गोरा' जैसे चरित्र अधिक आकर्षक बन पड़े हैं। नायिकाएँ कम स्मरणीय हैं।

शरतचन्द बङ्गाल की उपेक्षिता नारी के पक्षधर बने हैं। अपने एक मात्र निबन्ध 'नारी मूल्य' में उन्होंने हिन्दू समाज में अनुप्रणीत व्यवस्था की शृङ्खला की कड़ियों में जकड़ी 'पारू' 'अचला' 'राजलक्ष्मी' 'भैरवी' आदि विद्रोहिणी महामानवियों के सजीव चित्र उपस्थित किए। शरतचन्द्र के लिए मानव चरित्र प्रधान है और चण्डीदास की तरह मानों वे कहते हैं—

सवार पर मानुष सत्य
ताहार ऊपर नेई।"

इन तीन दृष्टिकोणों के कारण असद और पाप की समस्या के प्रति तीनों के हल अलग अलग हैं। बङ्किम के लिए रूढ़ अर्थों में पाप और पुण्य आध्यात्मिक इकाइयाँ हैं। रवीन्द्रनाथ के लिए मनुष्य देवरूप नहीं है तो राक्षस भी नहीं है। मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों का उत्तोलन वे अपने आदर्शवाद से कर लेते हैं। शरतचन्द ने अपनी सहानुभूति चरित्रहीन और पतिता को बाँट कर "बुरा जो देखन मैं गया मुझे न दीखाँ कोय" वाली बात सार्थक की है। सामाजिक बुराइयाँ या विषयमता इन तीनों लेखकों के सामने स्पष्ट रूप लेकर नहीं आई।

किन्तु प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध के बीच की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों ने जो विश्वचिन्ता धारा की झकझोरा तो लेखकों की अर्धस्वप्निल आँखें भी ज्यादा देर तक चाँदनी में नहीं रह सकीं। इनके बाद ताराशंकर बन्दोपाध्याय से बरेन्द्र बसु तक यानी 'मन्वन्तर' से 'रङ्गरूट' तक यथार्थवादिता की ओर बङ्गला उपन्यास बढ़ता गया। किसी भी साहित्य में यथार्थवाद पहिले आदर्शवाद की प्रतिक्रिया के रूप में आता है, इसलिये उसमें आदर्शवाद के सभी गुण अवगुण उसी मात्रा में रहते हैं। धीरे धीरे विचारों में निखार आता जाता है और यथार्थ सचमुच में यथार्थ बन जाता है।

आधुनिक बंगला उपन्यास पर टैगोर के आदर्शवाद और शरतचन्द के सामाजिक यथार्थवाद दोनों का ही प्रभाव है किन्तु उसकी प्रवृत्ति शरतबाबू द्वारा निर्मित पथ को प्रशस्त करने की ओर की है।

कुछ आलोचकों द्वारा आधुनिक बङ्गला युग को रवीन्द्र युग नाम दिए जाने पर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस रवीन्द्रोत्तर युग में बङ्गला उपन्यास में सामाजिक यथार्थ का चित्रण हो अधिक हुआ है और हो रहा है। इसकी ही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। सन् ४२ का आन्दोलन, ४३ में अकाल, ४१—४५ में विश्व-युद्ध का तीव्र होना और बङ्गाल के दरवाजे तक आ पहुँचना और ४६ में साम्प्रदायिक रक्तपात, ४७ में स्वतन्त्रता और उसके बाद रक्तपात और फिर शरणार्थी और बेकारी की बङ्गाल पर मार। बङ्गाल का उपन्यासकार इनके प्रति उदासीन रह भी कैसे सकता था।

यही कारण है कि प्रसिद्ध उपन्यासकार माणिक बन्दोपाध्याय ने जो कि मनोवैज्ञानिक बारिकियों के कुशल चितेरे हैं, अब मनीराज्य के साथ ही साथ युग की समस्याओं पर तेजी से उपन्यास रचना प्रारम्भ किया। वैसे तो आपने पहले उपन्यास 'पदमानदिर माली' में भी उन्होंने नाविकों को अपने उपन्यास का नायक बनाया था। माणिक बन्दोपाध्याय का 'पुतुल नाचेर इतिकथा' उपन्यास बङ्गला साहित्य की एक श्रेष्ठ कृति है। यह उपन्यास बङ्गला के गाँव के लोगों की दृष्टि से जीवन समालोचना है।

सामाजिक राजनीतिक परिपार्श्व को लेकर उपन्यास रचना करने वाले पत्रकार उपन्यासकार सुबोध घोष का नाम भी उल्लेख योग्य है। सामाजिक परिवर्तन की प्रतिक्रिया को उन्होंने ज्यादा अच्छी तरह समझा और अपनी रचनाओं में उतारा।

सामाजिक यथार्थ को लेकर उपन्यास लेखकों में

शैलजानन्द मुखोपाध्याय को यथार्थवादी लेखकों में प्रथम उपन्यासकार कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बङ्गाली लेखक तीव्र सामाजिक राजनीतिक चेतना से प्रभावित हैं और इस युग का अधिकांश साहित्य इसी चेतना का फल है।

बङ्गाल के एक अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यासकार हैं ताराशंकर बनर्जी। इनके कालिन्दी, धरतीमाता, राजकमल आदि उपन्यासों का हिन्दी में भी अनुवाद हो चुका है। उनके उपन्यासों का प्रमुख विषय बङ्गाल का मरणप्रायः सामन्ती समाज है। राष्ट्रीयता की परम्परा से वे प्रभावित हैं किन्तु अन्तर्द्वन्द्वों से पीड़ित मानव के मनोवेगों अथवा मानसिक कुण्ठाओं का वह विश्लेषण उनमें नहीं मिलता जो गोपाल हालदार और प्रेमेन्द्र मित्रा की रचनाओं में हमें मिलता है। एक प्रकार से उन्हें परम्परावादी उपन्यासकार कहा जा सकता है। माणिक बन्दोपाध्याय की भाँति उन्होंने बङ्गाल के ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है। शहरी जीवन किस प्रकार गाँव के लोगों पर अपना प्रभाव डाल रहा है यही माणिक और ताराशंकर का विषय सूत्र रहा।

अनेकों उपन्यासों के प्रणेता अचिन्त्यसेन कुमारसेन गुप्त अपनी शैली के कारण जहाँ विख्यात हैं वहीं दूसरी ओर समाज के विभिन्न अङ्गों का वास्तविकतापूर्ण नक्शा खींचने में भी वे सिद्धहस्त हैं। किन्तु अब उन्होंने धार्मिक रचनाएँ जैसे रामकृष्ण का जीवनी लिखने की ओर अपनी शक्ति लगा दी है।

बुद्धदेव बोस और दिलीपराय के हाथों में पड़कर बङ्गला उपन्यास ने एक नई दिशा पाई थी। इन्होंने बङ्गला उपन्यास के 'केन्वस' को विस्तृत किया था जो बुद्धदेव बोस एक 'विद्रोही' के रूप में सामने आये थे वे आजकल सामाजिक राजनीतिक समस्याओं से प्रायः अलिप्त रहते हैं। 'कविता' के सम्पादक होने के नाते यह स्वाभाविक ही है। उनके उपन्यास बौद्धिक अधिक हो गए हैं।

अन्नदाशंकर राय ने भी बुद्धदेव बोस की ही तरह अपना मार्ग निर्धारित किया है।

बङ्गला उपन्यास के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करने वालों में दो नाम भुलाये नहीं जा सकते। इनमें प्रथम हैं 'बनफूल' के नाम से लिखने वाले बलाईचन्द मुखोपाध्याय। कहानी और उपन्यास दोनों में उन्होंने नये प्रयोग किए हैं। उनकी कहानियाँ वास्तव में 'छोटी गल्प' हैं। जहाँ एक ओर उन्होंने आधे पृष्ठ की कहानियाँ भी लिखी हैं वहीं दूसरी ओर लम्बे से लम्बे उपन्यास भी लिखे हैं। 'जङ्गम' उनका इसी तरह का उपन्यास है। यह रचना कथानक और नायक रहित उपन्यास का अच्छा उदाहरण है। इसमें लगभग १००० पात्र हैं। स्वाभाविक ही है कि इस कारण इस उपन्यास का कथानक इतना गुथा हुआ न होकर घटनाओं और पात्रों का संग्रहालय बन गया है। दूसरे उपन्यासकार हैं अन्नदाशङ्कर राय इनकी शैली 'बनफूल' से भिन्न है। सत्यासत्य नामक इनका उपन्यास है, छः भागों में समाप्त हुआ है। और जैसा कि ऊपर कहा गया है इस उपन्यास में भी बौद्धिकता ही अधिक है। इसका नायक देश विदेश घूमता है और चिरन्तन मूल्यों को बदलती हुई परिस्थितियों में परखता है।

और भी जनप्रिय उपन्यासकार हैं जो बङ्गला उपन्यास की श्रीवृद्धि कर रहे हैं जिनका यहाँ केवल उल्लेख ही किया जा सकता है। विभूतिभूषण बन्दोपाध्याय, प्रबोध सान्याल, मनोजबसु, नारायण गांगुलि और नरेन्द्रनाथ मित्रा काफी लोकप्रिय हैं।

बङ्गला भाषा की समृद्धि का एक कारण यह भी रहा है कि इसने अन्य भाषाओं से ही खुलकर आदान प्रदान किया है बङ्गाली साहित्यकार आज अंग्रेजी, अमरीकी, फ्रेंच, इटालियन, रूसी, हिन्दी और संस्कृत से अनुवाद करके अपनी भाषा को समृद्ध बना रहे हैं। जहाँ एक और हमें स्टीफेन, ज्विग, चेस्टरटन, बुडहाउस, जोला, बाल्जाक की रचनाओं के अनुवाद मिलते हैं वहीं दूसरी ओर मुल्कराज आनन्द और राहुल सांकृत्यायन की रचनाएँ भी अनूदित की गई हैं। यद्यपि अनुवाद पर्याप्त नहीं हुए हैं, फिर भी विभिन्न भाषाओं से अनुवाद एक शुभ लक्षण हैं।

चङम्पुषा कृष्ण पिल्लाइ

श्री वी० गोविन्द शेणाई एम० ए०

श्री चङम्पुषा पिल्लाइ मलयालम के शीर्षस्थानीय कवियों में एक हैं। मलयालम में सबसे पहले पराजयवाद, यथार्थवाद और सरियलिसम (Surrealism) की रचनाएँ करने के कारण और भाव, भाषा और विषय में संस्कृत के परम्परागत सिद्धान्तों को तोड़ कर, स्वतन्त्र रूप से नये सिद्धान्तों को अपना कर काव्य-रचना करने के कारण, मलयालम के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य बालकृष्ण पिल्लाइजी उन्हें महाकवियों की कोटि में स्थान पाने योग्य बताते हैं। चङम्पुषा को महाकवि कहना विवादग्रस्त विषय हो सकता है। परन्तु उन्हें एक प्रतिभा सम्पन्न महान कवि कहने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। उन्होंने छोटे-बड़े कुल मिला कर पैंतीस ग्रन्थों की रचना की है जिनमें अधिकांश मौलिक काव्य ग्रन्थ हैं और कुछ अनुवाद हैं। उनका लिखा एक उपन्यास भी है। मलयालम के कई आधुनिकतम लेखकों पर चङम्पुषा का प्रभाव दिखाई देता है। कुछ लेखकों ने उनका सफल अनुकरण किया है और कुछ का केवल अनुकरण मात्र रह गया है। सम्भवतः मलयालम के और किसी लेखक ने अपने परवर्ती साहित्यिकों पर इतना अधिक प्रभाव नहीं डाला है। यदि लोकप्रियता की दृष्टि से देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि इनसे अधिक लोकप्रिय कवि मलयालम में नहीं हुए हैं। उनका प्रसिद्ध विलाप काव्य (Elegy) 'रमण' की बारह वर्षों में साठ हजार से ऊपर प्रतियाँ बिक चुकी हैं। भारत के दक्षिण पश्चिम कोने में स्थित एक छोटी रियासत में जहाँ की आबादी केवल सवा करोड़ है, एक काव्य ग्रन्थ की इतनी अधिक प्रतियाँ बिक जाना कम विस्मय की बात नहीं।

श्री चङम्पुषा कृष्ण पिल्लाइ का जन्म कोचीन रियासत के एक छोटे गाँव में सन् १९११ में हुआ। माँ-बाप बहुत गरीब थे। प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने वहाँ की एक पाठशाला में प्राप्त की। उसके बाद वे एरनाकुलम के स्कूल में भरती हुए जहाँ उन्होंने अपनी हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त की। उस समय उनके जीवन की गति को एकदम बदल देने वाली एक बहुत ही मार्मिक घटना घटी। उनके प्रिय मित्र श्री इडप्पळ्ळी राघवन पिल्लाइजी ने वैयक्तिक जीवन की निराशा और प्रेम की असफलता के कारण आत्म हत्या की। इस घटना ने उनके भावुक हृदय को एकदम झकझोर दिया। उनका कवि हृदय जाग उठा। अपने प्रिय मित्र को श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करने के लिए और उसकी स्मृति को बनाये रखने के लिए उन्होंने 'रमण' नामक विलाप-काव्य लिखा जिसकी लोकप्रियता और प्रशस्ति के बारे में ऊपर उल्लेख हो चुका है। कालेज की प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने एरनाकुलम के कालेज में प्राप्त की और उसके बाद वे त्रिवेंड्रम के कालेज में भरती हुए जहाँ से उन्होंने एम० ए० की परीक्षा पास की। जीविका की समस्या आसानी से हल न होती देख, वे फौज में भरती हुए। परन्तु दो साल से अधिक वहाँ बिता नहीं सके। इन्हीं दिनों वे साहित्य रचना भी करते रहे। कुछ काल तक वे 'मङ्गलोदयम्' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी करते रहे। बाद में उन्होंने वह काम छोड़ दिया और अपने ही गाँव में रहकर काव्य-रचना करने लगे। उनके अधिकांश ग्रन्थ इसी समय के हैं। यद्यपि इस समय साहित्य काफी रचा गया तो भी कवि का वैयक्तिक जीवन बड़ी कठिनाइयों से बीता। क्षयी रोग के लक्षण दिखाई देने लगे और वह रोग बढ़ता ही गया और अन्त में वही रोग उनकी मृत्यु का कारण बना। मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ३७ साल की थी।

श्री चङम्पुषा के पैंतीस ग्रन्थों में 'रमण', 'बाष्पाञ्जली', 'रक्त-फूल', 'स्पन्दनशील', हड्डियों की कुटिया', 'मोहिनी', 'यवनिका' जयदेव के गीत गोविन्द का अनुवाद 'देवगीता' और 'मूक गान' प्रधान है। 'रमण' उन का प्रसिद्ध विलाप काव्य है। यह एक असफल प्रेम की

कहानी है। इसमें एक युवक एक लड़की से प्रेम करता है। लेकिन सामाजिक और आर्थिक असमानता के कारण उनका विवाह नहीं हो पाता। उस लड़की का विवाह एक अन्य पुरुष से होता है। इस पर वह भावुक युवक आत्महत्या कर लेता है। उसका मित्र अपने बिछुड़े साथी की याद करके विलाप करता है। यह काव्य मलयालम की प्रथम Pastoral elegy है। गडरियों के जीवन का जो वर्णन इस में किया गया है वह बहुत ही स्वाभाविक और सुन्दर है और साथ ही उच्चकोटि की कला का नमूना भी। रमण का एकान्त में अपने मित्र मदन से अपने प्रेम की बात करना, आधीरात के नीरव सन्नाटे में इसका अपनी प्रेमिका चन्द्रिका से मिलना, चन्द्रिका के धोखा देने पर बहुत बड़ी व्यथा का अनुभव करना और अन्त में इस व्यथा को सहन करने की शक्ति अपने में न पाकर आत्महत्या करना, ये सब कुछ ऐसी मार्मिक नाटकीय घटनायें हैं जिनका जबरदस्त असर पाठकों पर पड़ता है। इसमें कई जगह बहुत सुन्दर प्रकृति वर्णन मिलते हैं। भावों के अभिव्यञ्जन की प्रणाली और भाषा की सामिग्री इसकी अद्भुत है।

संसार के व्यावहारिक ज्ञान से अनभिज्ञ एक भावुक युवक की, जब इस धरती की कठोर वास्तविकता से मुठभेड़ होती है तो उस समय वह अपने को बहुत ही दीन पाता है। दीनता की इस दशा में रोने अथवा अपने चारों ओर के जन समाज की या सारे संसार को ही कोसने की प्रवृत्ति स्वभावतः ही उसमें उठती है। 'बाष्पाञ्जली' में संग्रहीत अधिकांश कविताओं में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। इसमें दुःख है, व्यथा है, निराशा है और करुणा है। संसार की अपनी निर्ममता के लिए कोसा गया है। इस संग्रह के प्रारम्भ में जो दो पंक्तियां लिखी गई हैं उनका भाव इस ग्रंथ की अधिकांश कविताओं की तह में पाया जाता है। पंक्तियां हैं :—

कपट लोकचिल आत्मार्थपायो रु
हृदयमुण्डायताणेन पराजय-यु

(धोखे वालों की इस दुनियां में मुझे एक स्वार्थ रहित हृदय प्राप्त हुआ। वही मेरी पराजय का कारण बना।) प्रेम, विरह, मिलन, दुःख, निराशा आदि का जो वर्णन कुछ कविताओं में किया गया है वह बहुत ही सजीव है।

'रक्त-पुष्प' में पन्द्रह कवितायें संग्रहीत हैं। इसकी 'केला' नामक कविता किसी भी भाषा के लिये गौरव की वस्तु हो सकती है। एक किसान अपनी झोंपड़ी के सामने केले का एक पौधा लगाता है। उसके बच्चे उस पौधे की देखभाल करते हैं। जब वह अपनी स्त्री के साथ खेतों में काम करने जाता है तो वे बच्चे वहीं घर पर रहते हैं। वह पौधा उनके लिए बहुत ही प्रिय है। वे उसकी छाया में इकट्ठे होते हैं और तरह तरह की बातें करते हैं। उन्हें अब तक केले चखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। उन्होंने सुना है कि केले मीठे होते हैं। उनके पिता का कायदा अब तक यह रहा है कि वह केले या तो रोटी के लिए बाजार में बेच देता है या मालिक को भेंट करता है। अब उन बच्चों ने निश्चय किया है कि वे ऐसा करने नहीं देंगे। रोज-रोज वे इसी विषय पर बातें करते हैं और पौधे के फूलने और फलने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। कवि ने उनके इस वार्तालाप का बहुत ही स्वाभाविक वर्णन किया है। अन्त में पौधा फलता है। जब केले पकने पर होते हैं तो मालिक का आदमी आ जाता है और केले ले जाता है। सारे घर में कोहराम मच जाता है। बच्चे रोने चिल्लाने लगते हैं। उनकी माँ बच्चों का रोना देखकर उन्हें सांत्वना देने की अपेक्षा रोने लगती है और बाप स्तब्ध खड़ा रहता है। एक बहुत ही साधारण परन्तु सजीव सामाजिक यथार्थ पर की गई यह कविता कलापूर्ण तो है ही और साथ ही यथार्थ को पकड़ने और उसके आधार प उच्चकोटि की प्रगतिशील रचना करने की लेखक की क्षमता की परिचायक भी।

'मोहिनी' एक छोटा सा खण्डकाव्य है। राबर्ट ब्रौनिङ्ग की कविता 'पोरफीरिया का प्रेमी' का प्रभाव इस काव्य पर दिखायी देता है। इसमें एक युवक एक सुकुमार फूल सी लड़की को केवल इसलिए मार डालता है कि उसे भय होने लगता है कि कालान्तर में उसकी सुन्दरता नष्ट हो जायगी; उसका रूप विकृत हो जायगा और

उस समय उस विकृत रूप की देखने की क्षमता उसमें नहीं होगी। इस का नायक दुःखवाद की भावना से ग्रस्त ए, विकृत मनोवृत्ति वाला व्यक्ति है। दुःखवाद में मनुष्य अपनी प्रिय वस्तु को पीड़ा पहुँचाने में एक तरह की मानसिक तृप्ति का अनुभव करता है।

'यवनिका' नामक खण्डकाव्य रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रसिद्ध कहानी 'विजय' के आधार पर लिखी गयी है। 'स्वर राग सुधा' उनकी अन्तिम रचनाओं में एक है। इसमें सात मुक्तक हैं जिनमें से प्रमुख 'मनस्विनी' और 'काव्य-नर्तकी' हैं। 'मनस्विनी' में अपनी स्त्री के पवित्र प्रेम के प्रति उद्‌गार हैं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब वे क्षयी रोग की असह्य पीड़ाओं से तड़प रहे थे तब उनकी स्त्री ने जिस त्यागमय प्रेम का परिचय दिया था उसका वर्णन इस कविता में है। 'काव्य-नर्तकी' में मलयालम भाषा के प्रति उनके प्रेम का वर्णन है। 'उन्माद की बाँसुरी' और 'तन्द्रा की दशा में' नामक कवितायें सररियलिज्म की रचनाओं की कोटि में आती हैं जिनकी काफी प्रशंसा आचार्य बालकृष्ण पिल्लाइ ने की है।

यदि चङम्पुषा की समग्र रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो हमें मालूम हो जायगा कि उनमें रोमांटिसिज्म है, पराजयवाद है, यथार्थवाद है और सररिअलिज्म है। कुछ समालोचकों ने उनकी इस अस्थिर प्रवृत्ति का कारण यह बताया है कि उनमें जीवन के प्रति एक स्थाई और स्थिर दृष्टिकोण का अभाव था, एक स्पष्ट दार्शनिक विचारधारा उनमें नहीं थी। बात यह सही हो सकती है। परन्तु उसके लिए उन्हें दोषी ठहराना ठीक नहीं है। यह जरूरी नहीं है कि एक महान् कवि एक दार्शनिक भी हो। कीट्स की कविता में भी तो कोई स्पष्ट दार्शनिक विचारधारा नहीं थी ?

(पृष्ठ ४९३ का शेषांश)

एक और स्थल पर इसका निर्देश मिलता है—

तब उर बिच अञ्चल नहीं सहती
अब जमुना की रेती।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को,
सब्न देहु असेजी।

गोपियों में आत्म समाधान की भावना का प्रस्फुटन उनकी उच्च भावभूमि का परिचायक है। वह दोनों तरह से अपने को सन्तोष दे लेती हैं। मिले तो अच्छा, मर गई तो जग में यश रह जायगा। उनका विरह अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर, स्वयं लक्ष्य बन गया। वियोग दो संयोगों के बीच की अवस्था है। संयोग और वियोग का परस्पर जन्म जात सम्बन्ध है और जब संयोग के बाद वियोग अनिवार्य है तो उससे घबराना क्या ?

विरही प्रेम करै,
ज्यों बिनु फुट पट गहे न रंगहि, फुट गहे रसहि परे।

जिनकी यह उन्माद दशा हो, उन पर उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ के नैतिक प्रतिबन्ध कौन लगा सकता है।

सब कारणों में यदि कोई सब से प्रबल कारण स्पष्ट है, तो वह है उनका 'जहर की बेली' कुबड़ी कुब्जा के प्रति सौतिया डाह। सौत से द्वेष, घरेलू सत्य है और मनोविज्ञानिक भी। जिसने उनका सर्वस्व छीन लिया हो, जो उनके अधिकार पर हाथ साफ किए हो, जो महलों में रङ्गरेलियाँ मना रही हो, जो उन्हें एक आँख नहीं भाती हो, और जो उनके दग्ध-हृदय को जोग का सन्देश दे कर जले पर नमक छिड़क रही हो, उसके पास जाकर अनुनय-विनय करना और न्याय की भीख माँगना क्या उनके स्वभाव के प्रतिकूल नहीं था ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनका प्रेम अलौकिक या लौकिक होते हुए भी न्याय सङ्गत, और लोकव्यवहार की दृष्टि से सुन्दर और अभिनन्दनीय।



आलोचना

अनुसन्धान का स्वरूप—सम्पादिका-डा० सावित्री सिन्हा, प्रका०-हिन्दी अनुसन्धान परिषद दिल्ली विश्व-विद्यालय की ओर से, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १५१, मूल्य ३)

हिन्दी में अनुसन्धान का कार्य अधिकांश में विश्व-विद्यालयों के अधीन वैध रूप से और कुछ स्वतन्त्र भी वैधानिक रूप से चल रहा है किन्तु ऐसी पुस्तक का सर्वथा अभाव था जिसमें अनुसन्धान के स्वरूप और उसकी समस्याओं की चर्चा होती। दिल्ली विश्व-विद्यालय की हिन्दी अनुसन्धान परिषद ने यह कार्य अपने हाथ में लेकर एक स्तुत्य कार्य किया है। इसमें विविध विद्वानों द्वारा लिखे हुए १४ लेख हैं जिनमें खोज की कुछ समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है और साथ ही कुछ तथ्य भी बतलाये गये हैं। इस बात पर तो सभी विद्वानों ने बल दिया है कि अनुसन्धान की पद्धति में वैज्ञानिक निर्भयता और निष्पक्षता होनी चाहिए। अनुसन्धान से सम्बन्धित सामग्री के अधिक से अधिक सम्बद्ध और सङ्गतिपूर्ण संयोजन के साथ तर्क और निर्भय न्याय के साथ तुलना, मनन और विवेचन अपेक्षित है।

कुछ विवादग्रस्त समस्यायें भी आ गई हैं। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि विश्व-विद्यालयों को विषयों की पुनरावृत्ति से न डरना चाहिए। कार्य गौरव-पूर्ण होना आवश्यक है। अभी हमारे विश्व-विद्यालयों का उपाधि प्रदान के सम्बन्ध में ध्येय भी निश्चित नहीं है। विद्यार्थियों का अज्ञान उनकी पदवी-लिप्सा की तुलना में बहुत बढ़ा-चढ़ा है। डाक्टर सत्येन्द्र कहते हैं कि अनुसन्धान के निर्देशक साधारण अध्यापन कार्य से निर्मुक्त रखे जायँ। सत्येन्द्रजी ने हिन्दी के अनुसन्धान कार्य की कुछ न्यूनतायें भी बताई हैं।

डाक्टर उदयभानसिंह ने हिन्दी के अनुसन्धान कार्य की प्रगति पर प्रकाश डाला है। उसमें विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत विषयों की सूची भी दी गई है। इसमें इस सूची का विषयवार वर्गीकरण हो जाता तो और भी उपयोगी होता। पुस्तक में अनुसन्धान की नई दिशाओं का निर्देश भी अधिक नहीं है। इस पुस्तक को पढ़कर दो आवश्यकताएँ स्पष्ट रूप से प्रतीत होती हैं—(१) अनुसन्धान की त्रैमासिक पत्रिका की (२) एक केन्द्रीय संस्था द्वारा अनुसन्धान कार्य का सामूहिक रूप में मूल्य निर्धारण और उन कमियों पर विचार। पुस्तक अनुसन्धान की रूप-रेखा सामने रख कर उसको अग्रसर करने में काफी सहायक होगी। —गुलाबराय

तुलसी और उनका काव्य—लेखक-श्री सत्यनारायण सिंह, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ३८।

संसदीय हिन्दी परिषद् के तत्त्वावधान में दिया हुआ लेखक का एक भाषण प्रस्तुत पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। संयोग की बात है कि इन्हीं दिनों श्री सत्यनारायणसिंहजी की तुलसी-विषयक रेडियोवार्तायें भी

सुनने को मिली हैं। यह देख कर हर्ष होता है कि लेखक ने तुलसी के सम्बन्ध में बड़े सुलझे हुए ढङ्ग से साफ-सुथरी भाषा में अपने विचार प्रकट किए हैं। पुस्तक पांडित्य के भार से बोझिल नहीं हो गई है और पढ़ने वाले को अपनी ओर आकृष्ट करती है। समालोच्य पुस्तक दो खंडों में विभक्त है (१) तुलसी और उनका काव्य तथा (२) तुलसी का शृङ्गार। 'तुलसी का शृङ्गार' भी तुलसी के काव्य के अन्तर्गत ही रखा जा सकता था।

स्व० श्रीनिवास शास्त्री ने वाल्मीकि रामायण पर दस व्याख्यान दिये थे। और फिर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करवाया था। श्री सत्यनारायणसिंहजी भी यदि तुलसी का गहरा अध्ययन करके तुलसीदास और उनकी कृतियों पर विस्तार से लिखें तो और भी श्रेयस्कर होगा।

—कन्हैयालाल सहल

उर्दू और उसका साहित्य—लेखक-गोपीनाथ 'अमन', प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १२६, मूल्य २),

लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में संक्षिप्त रूप से उर्दू भाषा और साहित्य के विकास का परिचय दिया है। जन्म के साथ भिन्न धाराओं में पड़ कर उस पर प्रभावों का उल्लेख करते हुए वर्तमान समय तक उसकी गति विधि की आलोचना भी है, व सभी प्रमुख कवियों, गद्य लेखकों की विशेषताओं का परिचय कराया है। उर्दू पत्रकारिता पर भी विचार किया है। उर्दू की छन्द-शब्दावली पर भी एक अध्याय है। भाषा सरल है।

तमिल और उसका साहित्य—लेखक-पूर्णसोम सुन्दरम्, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १२६, मूल्य २)

इस पुस्तक में लेखक ने एक भारतीय भाषा 'तमिल' के साहित्यिक विकास का निरूपण किया है। उसके आरम्भ का परिचय देते हुए उसके साहित्य का काल-विभाजन किया है, तथा सङ्घ काल आदि अध्यायों में आधुनिक काल तक उसके प्रमुख लेखकों की रचनाओं सहित विवेचना है। आज की समस्या और उस संहार के अन्तर्गत वस्तुस्थिति का अवलोकन करने से उपादेयता बढ़ गई है।

रीतिकालीन हिन्दी कविता और सेनापति—लेखक-रामचन्द्र तिवारी, प्रका०-विश्व विद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर। पृष्ठ ११२, मूल्य १॥)

पुस्तक की विशेषताएँ डा० भगीरथ ने 'वक्तव्य' में स्पष्ट कर दी हैं। आरम्भ में रीतिकालीन कविता पर सरसरी दृष्टि से विचार किया है। तब ४ अध्यायों में 'सेनापति' पर विचार है और अन्तिम १० अध्यायों में उनकी काव्यगत विशेषताओं का निरूपण है। भक्ति, शृङ्गार का सुन्दर विवेचन है। 'उपसंहार' में उनके स्थान के महत्व पर भी विस्तार है। पुस्तक विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है।

—त्रिलोचन पांडेय

हिन्दी काव्य शैली का विकास—लेखक-श्री स० च० चतुर्वेदी, प्रकाशक-ज्ञान मन्दिर, लश्कर। पृष्ठ ६४, मूल्य ॥)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने हिन्दी काव्य के चारों कालों—वीर, भक्ति, रीति, तथा आधुनिक काल की काव्य शैली के क्रमिक विकास का चौदह परिच्छेदों में संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। पुस्तक पठनीय है।

निबन्ध

निबन्ध संग्रह—सङ्कलक-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० श्रीकृष्णलाल, प्रकाशक-साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद। पृष्ठ २३०, मूल्य ५)

पुस्तक में १६ निबन्धों का सङ्कलन है। महावीर प्रसाद द्विवेदी शुक्ल, ६० पृष्ठ में द्विवेदी के दो-दो लेख हैं। आरम्भिक २० पृष्ठों में डा० श्रीकृष्णलाल ने निबन्ध का विकास प्रदर्शित करते हुए भूमिका दी है। अभी तक विकसित सभी निबन्ध शैलियों का भी इससे परिचय हो जाता है।

'जिन्दगी मुस्कराई'—लेखक-कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ २९६, मूल्य ४)

पुस्तक में छोटे छोटे ४३ लेख हैं जिनकी शैली रेखा-चित्र और जीवनी के बीच की है। अतः दोनों विधाओं

की विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। आरम्भ में २२ पृष्ठ की पृष्ठभूमि से स्पष्ट होता है कि लेखक किस प्रकार विकास करता गया। नवीन अभ्यासियों के लिए प्रदर्शक हो सकती है।

कविता

शेर ओ सखुन—संकलन कर्त्ता-श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी। भाग २ में पृष्ठ ३२३, भाग ३ में २६३, मूल्य प्रत्येक का ३)

गोयलीयजी उक्त नाम से उर्दू कविता के अच्छे संग्रह निकाल रहे हैं। पहला भाग एक दो साल पहले निकला था, दूसरे तीसरे भाग अभी निकले हैं। संपादन और प्रकाशन दोनों दृष्टियों से यह संग्रह बड़े मूल्यवान और आकर्षक हैं। दूसरे भाग में लखनऊ स्कूल के वर्त्तमान कवियों का परिचय तथा उनकी कविताओं के नमूने हैं, तथा तीसरे भाग में देहली स्कूल के कवियों का परिचय और उनकी कविता के नमूने हैं। दोनों पुस्तकों में आरम्भ में जो विवेचन उर्दू कविता का किया गया है वह विद्वता पूर्ण और मार्मिक है। कविताओं के जहाँ नमूने दिए हैं वहाँ कहीं कहीं उनकी व्याख्या भी है—शब्दार्थ तो प्रायः सभी पृष्ठों पर दिए गए हैं जिससे हिन्दी वाले भी उर्दू की कविता को समझ सकेंगे।

संग्रह कर्त्ता का दावा है कि इन कविताओं में पुरानी शायरी का कायाकल्प, लोकोपयोगी भावों का समावेश, पवित्र प्रेम की आराधना, नारी का सम्मान तथा १९०१ से १९५१ तक की घटनाओं का गजल पर प्रभाव ध्वनित होता है। यह दावा बहुत अंश में सत्य प्रतीत होता है। वास्तव में उर्दू कविता के यह संग्रह सचमुच प्रशंसनीय है।

—वि० ना० उपाध्याय।

स्वप्न और सत्य—लेखक-भगवन्तशरण जौहरी, प्रकाशक-सरस्वती सदन, लश्कर। पृष्ठ ९७, मूल्य ३)

इस पुस्तक में ५१ कविताएँ संग्रहीत हैं। 'अपनी बात' में लेखक ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। इसके पूर्व दो संग्रह और प्रकाशित हो चुके हैं—'अर्चना' और 'विदा-वेला'। इसमें 'स्वप्न' शीर्षक कविता आत्मकेन्द्रित धारा की प्रतीक है। 'सत्य' युग की विभीषिका कुछ वर्तमान समस्याओं से भी सम्बन्ध रखती है।

रश्मिबाण—लेखक-सूर्यकुमार शास्त्री, प्रकाशक-राजकुमार बिहार। पृष्ठ ७०, मूल्य १)

४१ कविताओं का संग्रह है। सहृदयता भावुकता इसमें विशेष है। इसमें सामयिक जीवन की गूँज है। ये रचनाएँ वातावरण को प्रभावित करती हैं। बाधाएँ उसे निराश नहीं करतीं, वैसे उसकी अनुभूतियाँ सभी प्रकार की हैं। शृङ्गार ने भी उसे स्पन्दित किया है। किसी विशेष धारा या प्रभाव का दर्शन नहीं होता!

—त्रिलोचन पाण्डे

पैरोड्यावली—ले०-मि० चुकन्दर, प्रका०-शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा। पृ० ५६, मू० ॥)

१४ पैरोडी विभिन्न कविताओं पर, कवि सम्मेलनों आदि पर लिखी गई हैं। कवित्त और सवैयों में पार्लमेण्ट डेलीगेशन रूस से 'जिन्ना से' आदि पैरोडी हैं। 'ओम जय जगदीश हरे' वाले भजन की भी एक पैरोडी है। दोहे कुण्डलियाँ भी हैं। पैरोडी, व्यंग्य, उपालम्भ का साधन बन सकती है। यदि उसमें वस्तु का निर्वाह उचित हो। हिन्दी में अभी उस क्षेत्र में बहुत कम रचनाएँ उपलब्ध हैं।

रो पड़े तुम—लेखक-शशिकर, प्रकाशक-अपना प्रकाशन, हरिसन रोड, कलकत्ता। पृष्ठ १०४, मूल्य १)

अतुकान्त कविताओं का संग्रह है। क्रान्तिकारी आक्रोश इस संग्रह में मुखरित हो उठा है। आर्थिक शोषण सामाजिक वैषम्य वर्ग सङ्घर्ष भावुक कवि की प्रेरणा देते हैं। प्रेम-निवेदन, प्रकृति सौन्दर्य युक्ति आध्यात्म भी कविता के विषय रहे हैं।

अनुभूति की गहराई उसकी विशेषता है। शैली प्रयोगात्मक है। नवीन टेकनीक, नवीन छन्द विधान है। प्रभाव साम्य, प्रवाह पर ध्यान रखा है। नीरसता नहीं आ पाई। भाषा सरल है!

संकेत—लेखक श्रीअमरकुमारसिंह, प्रकाशक-भीवर प्रकाशन मन्दिर, बिहार। पृष्ठ ७९, मू० ॥)

कवि का प्रथम कविता संग्रह है, किशोरता स्वाभा-

विक है, पर विकासोन्मुख है। २६ कवितायें हैं जो आशा प्रद उनमें विश्वास, सहानुभूति का स्वर है। स्वयं परिचय दिया है कि कवि आज क्रान्ति के लिए जगत में नई चेतना लाता है। भावनायें प्रकृत रूप में ही प्रकट हुई हैं। 'होली', 'अनाथ', 'वसन्त गीत', 'भारत के लोगों से' सामायिक कवितायें हैं। इसमें कवि की नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा का परिचय होता है। भाषा सरल है।

सन्ताप—लेखक-बालकृष्ण बलदुवा, प्रकाशक-करेण्ट बुक डिपो, दि माल कानपुर। पृष्ठ ७०, मूल्य १)

इसके गीत कवि के हृदयगत वेदना, ताप को मूर्तिवत करते हैं। देश, समाज की दशा देखकर जो प्रतिक्रिया हुई उसे करने से व्यक्त किया है। ११ कवितायें हैं। पहली कविता "आजादी को फूल नहीं दृढ़ वृत्त चाहिए" सम्पूर्ण पुस्तक की भावनाओं को व्यक्त करती है। "आधी दुनियाँ लाल हो रही" कम्युनिष्ट साम्यवाद से प्रेरित हैं। कवि में चिन्तन भी है और अभिव्यक्ति भी।

बेले की कली—ले०-शत्रुघ्नदत्त दुबे, प्रका०-सविता प्रकाशन, वृन्दावन। पृष्ठ ६६, मू० ।-)

४७ छोटी-छोटी गीत रूप में कवितायें संकलित हैं।

कहानी

मानवता के झरने—लेखक-ग० वा० मावलङ्कर, प्रका०-हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा। पृष्ठ १३६, मू० १॥)

गुजराती की इन कहानियों या उपदेशात्मक प्रसङ्गों का श्री रवीन्द्र केलेकर ने अनुवाद किया है। स्वयं लेखक का कहना है—"इन कथाओं में अनेक सत्य के माहात्म्य का रहस्य समझाने वाली हैं।" भाषा सरल है। लिपि वर्धा केन्द्र द्वारा प्रचारित रूप है। अन्तिम तीन कहानियों का अनुवाद श्री मावचे ने किया है।

मूर्ख महासम्मेलन—लेखक-सरयू पण्डा गौड़, प्रकाशक-कुसुम प्रकाशन, पटना ३। पृष्ठ १००, मूल्य ३)

पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में १३ कहानियाँ हैं, और दूसरे भाग में ६ निबंध। हास्य रस के क्षेत्र में इसे एक सफल प्रयोग माना जा सकता है। शीर्षक ही नहीं उन्हें प्रस्तुत करने का ढङ्ग भी हास्योत्पादक साथ ही उत्सुकता पूर्ण है। 'कामिनी कौशल' 'बैल को वोट दो', 'मैं उल्लू हूँ' में व्यंग्य अच्छा निखरा है। सामाजिक यथार्थ को स्पष्ट झलकाया है। इससे लेखक के विस्तृत व्यवहारिक ज्ञान का तथा परिष्कृत रुचि का परिचय भी होता है। भाषा सरल है।

—त्रिलोचन पांडेय

जीवट की कहानियाँ—लेखक-श्री श्यामनारायण कपूर, प्रकाशक-हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय, बम्बई। पृष्ठ १६६, मूल्य २)

जैसा पुस्तक के शीर्षक से विदित है पुस्तक विश्व के ख्यातिनामा साहसी वीरों की रोचक कथाओं से भरपूर है। शेरपा तेनसिंह और एवरेस्ट विजय का संक्षिप्त कथासार युवकों के लिए ही नहीं वयोवृद्धों को भी साहस प्रदान करने वाला है। पढ़ते-पढ़ते एक प्रकार का आत्म-गौरव छाती को प्रशस्त कर देता है। अन्य साहसिक गाथाएँ भी रोचक तथा आकर्षक हैं। पुस्तक युवकों को लक्ष्य कर के लिखी गई है और उनके लिए बड़ी उत्साहप्रद है।

—बाबूलाल सिंघल

नाटक

पुरुष का पाप—लेखक-विनोद रस्तोगी। प्रकाशक-कमला प्रकाशन, स्वरूप नगर, कानपुर। पृष्ठ १२४, मूल्य १॥)

"पुरुष का पाप" एकाङ्की संग्रह है। इसमें पुरुष का पाप, पत्नी परित्याग, साम्राज्य और सुहाग, दो चाँद, आदि ६ एकाङ्की नाटक हैं, इनमें कुछ सामाजिक और कुछ ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक एकाङ्कियों में भी आज की समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। सामाजिक समस्याओं के प्रति लेखक का 'एप्रोच' एक सुधारक की है। लेखक नारी के प्रति पुरुष के कुत्सित एवम् अन्याय पूर्ण दृष्टिकोण की भर्त्सना तो करता है परन्तु वह विभिन्न युगों में नारी की परवशता के कारणों की ओर—जो प्रायः आर्थिक रहे हैं, संकेत नहीं करता। वस्तुतः ये एकांकी नारी की मनोवृत्ति को उत्कर्ष की ओर ले जाने तथा पुरुष के हृदय में उसके प्रति ममता जगाने

एवम् नारी के त्याग, बलिदान आदि सद्गुणों की गौरव-गाथा गाने के लिये लिखे गये हैं। भाषा सरल और संवाद चुस्त हैं।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

कीर्तिकारी—लेखक-पं० उदयशङ्कर भट्ट, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, बम्बई। मूल्य १।)

भट्टजी हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार हैं। उनका यह प्रथम राजनीतिक नाटक है। भट्टजी का नाटक कौशल इसमें पूरी तरह से चमका है। इसमें सरल पर प्राञ्जल भाषा विहरती है। बहुत से स्थानों पर भट्टजी ने बड़े तीखे व्यंग्य किये हैं। "आखिर पुलिस के अफसर जिसका वचन हवा की तरह है और ईमान सांझ की धूप की तरह" "सचमुच देश भक्ति आज कल एक पेशा है जो प्लेट-फार्म से पैदा होकर बैंक-बैलेन्स में समाप्त हो जाता है" "वकील उस हलवाई की तरह है जो पैसा पाकर ही अकल की मिठाई बेचता है। झूठ को सच और सच को झूठ बनाना बाजारू औरत की तरह चालाकी का सौदा करने वाला।"

नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। एक अङ्क और चार दृश्यों का यह अल्पकाय नाटक डेढ़ घण्टे से अधिक समय न लेगा। कथानक में तीव्रगति एवं उत्सुकता है। नाटक बहुत सफल है।

आचार्य चाणक्य—लेखक-जनार्दनराय नागर, प्रकाशक-साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ उदयपुर। मूल्य २।)

प्रत्येक नाटक में तीन अङ्ग होते हैं। (१) अभिनय अङ्ग (२) भाव या विषय अङ्ग और (३) कला अङ्ग। अभिनय की दृष्टि से यह नाटक सफल माना जा सकता है। कारण नाटक में तीव्र कार्य-गति है। भाषा सरल एवं सरस है जिसे दर्शक शीघ्र समझकर आनन्द प्राप्त कर सकता है। छोटे दृश्यों वाले तीन अङ्कों में विभाजित है। इसके अभिनय में ३-४ घण्टे लगेंगे। अच्छा होता, दृश्यों की संख्या कम होती। दृश्यों को लिखते समय मंच-सज्जा को ध्यान में रक्खा है। ऐसे दो दृश्य पास पास नहीं आये हैं जिन में विस्तृत-मञ्च-सज्जा की आवश्यकता हो। चार गीत हैं जो अभिनय की सौन्दर्य वृद्धि करेंगे।

कथानक लगभग उतना ही है जितना प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में है। चाणक्य की कथा मुख्य या आधिकारिक है। पर्वतेश्वर का प्रसङ्ग-गौण या पताका है। अन्य छोटी प्रासंगिक कथाएं प्रकरी रूप में हैं। सभी कथाओं ने मुख्य कथा को गति दी है। हाँ, एक घटना अनावश्यक सम्मिलित कर दी गई है। राक्षस चाणक्य को अपनी मुद्रा देता है। क्यों? नाटक में उसका कहीं भी प्रयोग नहीं कराया गया।

चाणक्य का चरित्र-चित्रण बड़ी कुशलता-पूर्वक हुआ है। आरम्भ से अन्त तक वह देश प्रेमी के उज्ज्वल रूप में सामने आता है। पर उसे कामशास्त्र का आचार्य क्यों बनाया गया—यह समझ में नहीं आया। नाटक में संवाद सरल एवं सरस हैं। भाषा-प्रवाहमय एवं गतिमान है। हाँ, छापे की त्रुटियाँ बहुत हैं।

—प्रो० गोपीनाथ तिवारी।

पर्दे की पीछे—लेखक-उदयशङ्कर भट्ट, प्रकाशक-मतिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ १७८, मूल्य २॥)

'पर्दे की पीछे' श्री उदयशङ्कर भट्ट के आठ एकाङ्कियों का संग्रह है, इनमें 'बाबूजी' व 'ग्रहदशा' में सामाजिक दशा का चित्रण है। 'बाबूजी' में मध्यवर्ग का और 'ग्रहदशा' में निम्न मध्यवर्ग का। 'नई बात' में आज की अर्थ प्रधान प्रदर्शन प्रिय संस्कृति पर व्यंग्य और यूरोपियों की संस्कृति का प्रवचन है। 'यह स्वतन्त्रता का युग' 'मायोपिया' और 'वार्गेन' में प्रेम और विवाह की समस्याएँ हैं। 'अपनी-अपनी खाट' में हास्य के साथ-साथ नशेबाजों की मानसिक स्थिति का विश्लेषण है। 'पर्दे के पीछे' में धनिकों व नेताओं की मनोवृत्ति का चित्रण किया गया है। आठों एकाङ्कियों को हम एक ही वर्ग में रख कर उन्हें 'सामाजिक एकाङ्की' भी कह सकते हैं।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

सम्राट समुद्रगुप्त—ले०-डा० दशरथ ओझा, प्रका०-राजपाल एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ १०४, मूल्य १)

यह एक संक्षिप्त ऐतिहासिक नाटक है, इसी में धारावाहिकता है, आरम्भ 'प्रसाद' जी के स्कन्दगुप्त की शैली

पर आधारित है, कथोपकथन संक्षिप्त है, परन्तु उनमें 'शक्ति' का अभाव है। मालती को छोड़ कर अन्य पात्र ऐतिहासिक हैं। अन्य पात्र आदर्शवादी हैं, यथार्थ से दूर। खल-पात्र भी अन्त में सर्व गुण सम्पन्न हो जाते हैं। फिर भी लेखक समन्वय को लक्ष्य बनाकर चलता है। नाटक में 'प्राच्य' तथा वैष्णव संस्कृति के मिश्रण से उत्पन्न एक नवीन संस्कृति के प्रचार व प्रसार का दिग्दर्शन ही नाटक का लक्ष्य है। नाटक पठनीय एवम् संग्रहणीय है।

—डोरीलाल वर्मा एम० ए०

नटी की पूजा—लेखक-रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक-'विश्व भारती'। पृष्ठ ८७, मूल्य २)

मूल बंगला नाटिका 'नटीर पूजा' का हिन्दी अनुवाद है। बौद्ध साहित्य के 'उपादान शतक' के एक आख्यान पर इसकी रचना हुई है।

नाटिका सिद्धान्तों के अनुकूल है। 'जनांतिक' आदि का भी व्यवहार किया है। पालि के बीच में उद्धरण भी है। बौद्ध धर्म रता नटी की हत्या उसके अनुकूल नहीं पड़ता। गीतों की भरमार है लेकिन नाटिका अनभिनेय नहीं है। स्वयं रवीन्द्र ने इसके अभिनय में भाग लिया था।

उपन्यास

दो बहनें—लेखक-रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक-विश्वभारती प्रकाशन। पृष्ठ १२७, मूल्य २॥)

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा मूल पुस्तक का बङ्गला से हिन्दी में अनुवाद है। रवीन्द्र नारी-मनोविज्ञान के पूर्ण ज्ञाता थे, उसका मनुष्य के जीवन में महत्व भी जानने को रहस्य यही है कि नारी आम तौर पर या तो माता होती है, प्रिया या मित्र स्वरूप वाली। कौन सा रूप गौण है इसी के बल पर उनका अपना स्वातन्त्र्य निश्चित होता है।

रवीन्द्र ग्रंथावली भाग १ :—प्रकाशक-हिन्दी साहित्य मुद्रणालय कार्यालय गिरगाँव बम्बई। मू० १=)

इसमें दो पुस्तकें श्री रूपनारायण पाण्डेय द्वारा अनूदित है—(१) दो बहनें (२) चार अध्याय—एला नवीन शिक्षा में अनुप्राणित नव युवती है जिसका विवाह स्वेच्छा पर निर्भर है। विद्वान इन्द्रनाथ उसे पढ़ाने का कार्य सौंपते हैं—एक गुप्त दल में उसे लेते हैं जो अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध कार्यरत है। इस पार्टी के एक व्यक्ति अतीन से एला का प्रेम हो जाता है। किन्तु अतीन पार्टी के नियमों से बद्ध है। ऐला चाहती है वह ब्याह करले, लेकिन अतीन सहमत नहीं होता। अनेक वाद-विवाद, तर्क वितर्क होते हैं किन्तु अतीन झुकता नहीं है। दूसरे दिन ही पुलिस उन्हें पकड़ने वाली है फिर भी वह सहमत नहीं होता। पार्टी के संकेत पर उसे चलना पड़ता है।

रवीन्द्र नारी-मनोविज्ञान के पण्डित तो हैं ही। उपन्यास भाव-प्रधान है।

चतुरङ्ग—लेखक-रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक-विश्व भारती, कलकत्ता। पृष्ठ ११५, मूल्य १॥)

पुस्तक बङ्गला में श्री मोहनलाल वाजपेयी द्वारा अनूदित है। इसमें चार अंश हैं—'बड़े चाचा', 'शचीश' 'दामिनी', 'श्री विलास'। पुस्तक भावात्मक है। मनोवैज्ञानिक चित्रण अवश्य है। किन्तु पात्र इतने क्रियाशील व प्रसिद्ध नहीं कि अखबारों में उन्हें लेकर गाली-गलौज या तूफान मच जाय। इसी प्रकार क्यों दामिनी एकाएक श्री विलास से खिचने लगी—वह भी केवल शचीश के प्रभाव से—इसका स्पष्ट कारण भी नहीं है। बिना पूर्वाधार के घटनाओं का हो जाना उपन्यास में स्वाभाविक नहीं होता।

फुलवाड़ी—लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक-विश्व भारती, कलकत्ता। पृष्ठ ११६, मूल्य २॥)

पात्रों का उत्तरोत्तर विकास नहीं होता। वे गढ़े गढ़ाए हमारे सामने आते हैं। उनकी प्रवृत्तियाँ ही परिस्थितियों के हेरफेर से अपनी हैं। संवेदना अधिक है।

—त्रिलोचन पाण्डेय

राग और त्याग—लेखक-कमल शुक्ल; प्रका०-ओरिएण्टल बुक डिपो, दिल्ली। पृष्ठ ३१८, मूल्य ५)

शुक्लजी का सम्भवतः यह प्रथम उपन्यास मेरे सामने है। पूरा पढ़ गया और अभी हाथ से छूटा नहीं है—नीलकमल की ट्रेजेडी आँखों के सामने घूम रही है। सारे उपन्यास के पात्रों में यहाँ तक कि असत् पात्रों तक में लेखक ने हृदय परिवर्तन दिखा कर जीवन सङ्घर्ष के बीच

स्नेह की एक मांगलिक धारा प्रवाहित की है फिर यह निस्वार्थ प्रेम की सरिता बहाने वाली नीलकमल ही क्यों जीवन दुख में उसमें डूबने के लिए छोड़ दी गई ?

सिनेमा ने आकस्मिक मिलन, प्रेम, मिलन आकांक्षा उसके लिए ही समस्त प्रयत्न और मिलन सुख और मिलन दुख में परिणति की सामान्य कथाओं से कथा क्षेत्र में जिस मोनोटोनस एकरूपता और अस्वाभाविकता को जन्म दिया है, उससे हमारे आज के उपन्यास भी प्रभावित होते जा रहे हैं, जिससे सिनेमा की ही तरह जीवन में एक क्षण की मनोरंजकता उत्पन्न करने की उपादेयता उनमें आ पाती है, जीवन्त तत्वों का प्रस्फुटन नहीं हो पाता। प्रस्तुत उपन्यास भी इस प्रभाव से अछूता नहीं लगा।

उपन्यास घटना प्रधान है और सारी कथा घटनाओं के घात प्रतिघात से ही विकसित होती हैं पर घटनाएँ ऐसी हैं जो लेखक द्वारा निर्मित प्रतीत होती हैं। सभी जगह यह दोष हो ऐसा नहीं। चौबेजी का चरित्र विकास कथा गर्भ से उत्पन्न अत्यन्त स्वाभाविक है।

रूपजाल—अनुवादक श्री छविनाथ पाण्डेय; प्रकाशक कुसुम प्रकाशन, पटना। पृष्ठ २७४, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक अँग्रेजी के उपन्यास "मेडोना आफ स्लीपिंग कार' का रूपान्तर है। आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजीवादी और साम्यवादी सभ्यता के बीच विचारों का 'प्रचार युद्ध' चल रहा है उसका ही यह पुस्तक उपन्यास रूप है। कथानक का विन्यास जासूसी उपन्यास की प्रणाली पर हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास पूँजीवादी समाज सभ्यता के पक्ष का प्रचार करता है। वैसे उपन्यास की दृष्टि से यह सफल और प्रसिद्धि प्राप्त उपन्यास है।

पुनरुद्धार—लेखक-कञ्चनलता सब्बरवाल, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १६८, सजिल्द मू० ३)

श्री जायसवाल के अनुसंधानों के फलस्वरूप लगभग १५० ई० से ३१० ई० तक का समय जो अन्धकार युग माना जाता था, अब प्रकाशमय युग के रूप में सामने आया है। भारशिव नवनाग ने कुशनों को इसी समय पराजित किया था। बौद्ध कुशनों से मिल गये थे। 'वैराग्य, त्याग और आध्यात्मिकता' का आश्रय लेकर शिवभक्त भारशिवों ने हिन्दू राज्य की जो पुनर्स्थापना की उसी का अन्तर्भेदिनी पारदर्शी कल्पना के सहारे लेखिका ने ओजभरा वर्णन किया है। फूट और कलह से हिन्दुओं का ह्रास हुआ यह ऐतिहासिक सत्य है। विशृंखलित शक्तियाँ जब भी एकमुखी हुईं उन्होंने सदा शत्रुओं को परास्त किया है। विदेशियों के अत्याचारों से त्रस्त जनता के उद्धार के लिये नाग, मालव, यौधेय, कुणिंदादि सब एकमत हो शत्रु का नाश करते हैं उसी का लोमहर्षक वर्णन इस उपन्यास में पढ़ने को मिलेगा। 'चन्द्रशेखर माश्रये मैम किं करिष्यति वैयमः' का उद्घोष बार बार वीरों को अर्जस्वित करने वाला सिद्ध होता है। चन्द्रभाल की पत्नी विशालाक्षी का चरित्र खूब निखरा है। नारी होते हुए उसने धैर्यपूर्वक कुल की मर्यादा निभाई है। प्राण छोड़ते समय अज्ञातवास से लौटे हुये पति का मुख देख वह तृप्ति होती है। आबाल वृद्ध नर-नारी सभी राष्ट्रीय युद्ध में जुटे और अन्त में विजय प्राप्त कर उनमें कुछ विवाह सम्बन्ध संपन्न हुये यथा—वीरसेन का अनन्ता के साथ, राजवत्स का विजया के साथ। शक्ति व्यक्ति की इतनी नहीं जितनी संघ की। यही इसमें सामयिक सन्देश भी है। ऐतिहासिकता को व्याघात पहुँचाए बिना काल्पनिक कड़ियों का इसमें सफल निर्वाह हुआ है, पर हृदयंगम, दुरावस्था, ग्रह (गृह के लिए), प्रथक, खण्डहर प्रायः इत्यादि अनेक अशुद्धियाँ खटकने वाली हैं। विगत वैभव का यह सजीव स्मारक सिद्ध होगा।

—नागरमल सहल

राजनीति

रूसी क्रान्ति के अग्रदूत—लेखक-श्री राजेश्वर प्रसाद नारायणसिंह, प्रका०-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १७०, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने १९१७ की रूसी क्रान्ति के पूर्वकालीन रूसी क्रान्ति के अग्रदूतों का वृत्त [illegible] कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया है। लेखक ने वर्तमान रूसी साम्यवादी शासन की अपेक्षा जारकालीन शासन में स्वतन्त्र विचारकों की अधिक स्वतन्त्रता की बात कह कर जाने अनजाने में वर्तमान रूसी शासन की अपेक्षा से

जार का पक्ष ग्रहण किया है। परन्तु इससे रूस के आधुनिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

—रामगोपालसिंह

ट्राटस्की की हत्या—लेखक-छविनाथ पाण्डेय, प्रकाशक—कुसुम प्रकाशक, पटना ३ पृष्ठ १६१, मू० ३)

रूस की क्रान्ति में ट्राटस्की एक प्रधान व्यक्ति था, वह लेनिन का दाँया हाथ था और वही लेनिन के उपरांत उत्तराधिकारी भी था लेकिन स्टालिन ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए लेनिन का जाली पत्र बनाकर उसे अन्त में मरवा डाला। मैक्सिकी में जब उन्हें शरण मिली तो उन पर आक्रमण हुआ किन्तु जी० पी० यू० ने उनकी हत्या में सफलता प्राप्त की, इसकी विस्तृत खोज मैक्सिकी सरकार ने कराई थी जिसका वर्णन इस पुस्तक में है। किस प्रकार एक युग पुरुष की हत्या की गई इसकी जघन्यता को स्पष्ट करने के लिए पुस्तक लिखी गई है। २१ अगस्त १९४० को उनकी मृत्यु हुई। जासूसी ढङ्ग पर लिखी जाने से पुस्तक अत्यन्त रोचक हो गई है।

—त्रिलोचन पाण्डेय

इतिहास-पुरातत्व

खोज की पगडण्डियाँ—लेखक-श्री मुनि कान्तिसागर, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ २७५, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक पुरातत्त्व से सम्बन्धित है। जैनाश्रित चित्रकला, बौद्ध धर्माश्रित चित्रकला तथा नालन्दा, विन्ध्याचल और पाटलिपुत्र आदि स्थानों का तथा वहाँ की पुरातत्त्व की सामग्री का अत्यन्त खोजपूर्ण एवं युक्तिसङ्गत वर्णन इस पुस्तक में है।

यशस्वी लेखक ने मुख्यतया जैन धर्म और बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित भारतीय चित्रकला, भित्तिचित्र काष्ठचित्र, पल्लवचित्र तथा मृन्मूर्तियों के विषय में वास्तव में एक सुन्दर गवेषणा की है। जैन धर्म से सम्बन्धित सामग्री पर लेखक की विशेष दृष्टि रही है।

इस पुस्तक द्वारा जैन पुरातत्व के विषय में एक सूक्ष्म दृष्टि एवं गौरवमय इतिहास का पता चलता है। अन्य विषयों पर तो लेखकों ने प्रयास किया भी है पर जैनाश्रित सामग्री पर न के बराबर। लेखक की दृष्टि आदि से अन्त तक उदार रही है, कहीं भी भावुकता और व्यक्तिगत विश्वासों को महत्व नहीं मिला है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पुरातत्व जैसे नीरस एवं उपेक्षित विषय को भी लेखक ने साहित्यिक सौन्दर्य प्रदान कर रसमय बना दिया है।

पुरातत्वज्ञ का बुद्धि प्रवण मस्तिष्क तथा साहित्यकार का अनन्त भावोद्वेलित हृदय इस पुस्तक में एकाकार हो गये हैं। पुरातत्व और साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक अवश्य ही एक नवीन दृष्टि देगी, अतः संग्रहणीय है।

—रवीन्द्रकुमार जैन एम० ए०

मेरा बचपन—लेखक-रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विश्वभारती प्रकाशन, कलकत्ता। पृष्ठ ११०, मूल्य २॥=)

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा हिन्दी में अनुवाद है, रवीन्द्र ने स्मृतियों के रूप में बचपन की घटनाएँ लिखी हैं जो उनके पहली बार इङ्गलैण्ड जाने तक हैं। लेखक के वातावरण, भाई बहिन के स्वभाव, परिवार से संबद्ध उन सब बातों पर प्रकाश पड़ता है जिनके बीच रवीन्द्र बढ़े। स्वयं उनकी प्रवृत्तियों का पता चलने के साथ-साथ तत्कालीन कलकत्ता आदि की सामाजिक व्यवस्था का भी वर्णन है। लेखक की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि का पता लगता है। स्वयं वहाँ की शैली बड़ी रोचक है। मधुर हास्य यथा स्थान मिलता है।

प्राप्ति स्वीकार

संयोगिता—लेखक-श्री सूर्यनाथसिंह दिवाकर, प्रकाशक—श्री मदनलाल शर्मा, २ राजाउड मंड स्ट्रीट—कलकत्ता। पृष्ठ ७६, मूल्य १।।) लेखक का कविता संग्रह।

गिलट के झुमके—लेखक—श्री श्यामसुन्दर व्यास, प्रकाशक विजय पुस्तक भण्डार, इन्दौर। पृष्ठ ११६, मूल्य १॥) कहानी संग्रह।

पञ्च वर्षीय योजना—लेखक श्री बलराज एम-ए०, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन दिल्ली। पृष्ठ ४०, मूल्य ॥)

नन्हे लंगूर की कहानी—(सचित्र बाल पुस्तक)

प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन दिल्ली। पृष्ठ १३, मूल्य १॥) आकर्षक पुस्तक।

अधूरी मूरत (सुन्दर कहानी संग्रह)—लेखक-डा० रांगेय राघव, प्रकाशक-सुलभ प्रकाशन मण्डल, कानपुर। पृष्ठ १३३, मूल्य २)

मरु के टीले (कविता संग्रह)-लेखक डा० रांगेय राघव, प्रकाशक-वाणी प्रकाशन मन्दिर, चौड़ा रास्ता, जयपुर। पृष्ठ ४५, मूल्य १)

महाकवि रवीन्द्रनाथ (जीवनी)—लेखक-श्री विश्वनाथ अय्यर, प्रकाशक-साहित्य निकेतन, त्रिवेन्द्रम। मूल्य ॥।) सुन्दर जीवनी।

सम्पत्ति दान यज्ञ—लेखक-श्री कृष्णदास जाजू। प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल वर्धा। मूल्य =)

नेत्र-सुधार (नेत्रों की रक्षा और इलाज सम्बन्धी) लेखक डा० आर० एस० अग्रवाल आई इंस्टीट्यूट। पृष्ठ १३५, मूल्य ३)

हिन्दी प्रवोध भाग १—लेखक-श्री निवासाचार्य, प्रकाशक दुर्गा प्रकृतवालय। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥।)

श्रद्धाञ्जलि—(कविता) लेखक-श्री दीनबन्धु भट्ट, प्र०-राष्ट्र सेवा मन्दिर मारवाड़, (मेवाड़)। पृष्ठ २०, मू० =)

कंपिल गौरव—ले०-सुरेन्द्र सागर जैन प्रचण्डिया, प्रकाशक-अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगञ्ज, जिला एटा। पृष्ठ ४७, मूल्य ≤)

झाँसी की रानी—एक अध्ययन—लेखक-श्री राजेश्वर गुरु, प्रकाशक-साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर। पृष्ठ ६१, मूल्य १)

झूला—लेखिका व प्रकाशिका-शकुन्तला पाण्डेय, पराञ्जपे रोड पूना ४। पृष्ठ ४०, मूल्य ॥।)

पर्व की कथायें—(जैन धर्म सम्बन्धी) लेखक-श्री कामता प्रसाद जैन। प्रकाशक-महावीर प्रकाशन, अलीगञ्ज, एटा। पृष्ठ ७६, मू० ॥)

विदग्ध मंजरी—(कविता) लेखक-श्री रामाधारलाल 'विदग्ध' गढ़ मलपुरा, बलिया। पृष्ठ ४०, मूल्य ॥)

निबन्ध निचय—(निबन्ध) लेखक-श्री जी० जे० तिवारी, प्रका०-विन्ध्य प्रकाशन मन्दिर, इन्दौर। पृष्ठ ४४, मूल्य ।=)

चिनगारियाँ—लेखक-श्री ताराचन्द एल कोठारी, प्रका०-भारत जैन महामण्डल, वर्धा। पृष्ठ ३६, मू० ।=)

कीर्ति ग्रन्थमाला की पुस्तकें—कीर्तिनिधि, कीर्ति-सुधा, कीर्ति शिरोमणि—लेखिका-श्रीमती कीर्तिदेवी, कोर्ट रीवाँ। पृष्ठ २१६, २२५, २६२।

मृत्युगीत—(काव्य)-लेखक-आचार्य सारङ्ग शास्त्री, आभा साहित्य परिषद, सोनपुर (सारन)। पृष्ठ ३२, मू० =)

कच-देवयानी (कविता)—लेखक-श्री गुलाब, प्रकाशक-कला शहीद रोड, गया। पृष्ठ १६०, मू० १

नमस्तुभ्यम्—(कविता) लेखक-श्री चन्द्रकान्त झा, 'नवेन्दु' प्रकाशक-विश्वजनीन साहित्य सदन, मुँगेर। पृष्ठ ३०, मूल्य ॥।)

जीवन और शिक्षण—(महत्वपूर्ण लेख संग्रह) लेखक-आचार्य विनोबा भावे, प्रकाशक-सस्ता साहित्य-मण्डल—दिल्ली। पृष्ठ २२१, मूल्य २

वीरांगना लक्ष्मी बाई—(रासो और कहानी) लेखक-श्री हरिमोहन श्रीवास्तव, प्रकाशक-सदयोगी प्रकाशन मन्दिर, दतिया। पृष्ठ ५८, मूल्य ॥)

वेलिक्रिसन रुक्मिणी री—(आलोचना) श्रीआनन्द प्रकाश दीक्षित, प्रकाशक विश्व विद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर। पृष्ठ १४२, मूल्य ५)

हितकारी—लेखक श्री परदेशी, प्रकाशक-राधाकृष्ण साहित्य मन्दिर १ सिन्धु नगर बम्बई। पृ० ८९, मू० १)

मधुर—(उपन्यास) लेखक-श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक-साहित्य प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ १४६, मू० ३)

सूचना विभाग, विन्ध्य-प्रदेश के प्रकाशन—प्रदेश शासन, प्रदेश के आदि वासी, वार्षिक प्रशासन विवरण आदि।

बसवेश्वर के चुने हुये निबन्ध—लेखक-श्री राजेश्वरय्या एम० ए०, प्रकाशक-वात्सल्य मंटप, बेलगाँव। पृष्ठ १००, मूल्य १)

नया मसीहा—(खण्ड काव्य) लेखक-अशान्त, प्रकाशक शान्ति सन्देश कार्यालय खेगड़िया, मुँगेर। पृष्ठ ८५, मू० १)

शङ्का-समाधान

१—"शशि मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आए॥"

"प्रसाद की इन पंक्तियों में आलम्बन का रूप पुरुष का है अथवा स्त्री का ? क्योंकि प्रथम पंक्ति नारी छवि प्रस्तुत करती है जबकि नीचे की पंक्ति का क्रिया रूप 'आए' पुरुष छवि प्रस्तुत करता है। इनके रहस्यालम्बन का रूप प्रियतम का है अथवा प्रियतमा का ?"

—श्री जयप्रकाश यादव, भागलपुर।

—प्रसाद पर निश्चित रूप से फ़ारसी प्रभाव है। इन पंक्तियों में भी यदि हम 'घूँघट' को रहस्य का आवरण और 'अंचल में दीप' को रहस्य में—सत्य प्रकाश का प्रतीक मान कर अर्थ करें तो आलम्बन के पुरुष रूप की कल्पना से अर्थ स्पष्ट हो जाता है और क्रिया रूप भी ठीक रहता है। 'घूँघट' का रहस्य के आवरण अर्थ में प्रसाद ने कामायनी में भी प्रयोग किया है—

"चाँदनी सदृश खुल जाय,
कहीं अवगुण्ठन आज सँवरता सा।"

* * *

२—पंचवटी में शूर्पणखा प्रसङ्ग में लक्ष्मण के लिए राम द्वारा कहा गया निम्न कथन क्या उनकी मर्यादा के अनुकूल है—"अहै कुमार मोर लघु भ्राता।"

—गौरीशंकर चतुर्वेदी, फर्रुखाबाद।

—वैसे देखने से तो यह कथन अमर्यादित है और ऐसे अनेक स्थल रामायण में हैं जो राम के मर्यादित चरित्र के प्रतिकूल हैं; पर तुलसी ने उन्हें सोद्देश्यता प्रदान कर मर्यादित बना दिया है। यही बात इस कथन के सम्बन्ध में भी है। राम लक्ष्मण के उग्र स्वभाव से परिचित थे और शूर्पणखा को उसकी धृष्टता का दण्ड दिलाना उनका उद्देश्य था। इस हेतु उन्होंने उसे अपने पास से टाल कर लक्ष्मण के पास भेजा।

* * *

३—क्या कविवर सेनापति निर्गुणोपासक भी रहे थे ?

—कैलाशपति 'आरत' सन्ताल परगना।

—कोई भी कवि सगुणोपासक है या निर्गुणोपासक—यह इस बात पर निश्चित किया जाना उचित है कि उसमें भक्ति की किस धारा की बहुलता एवं मुख्यता है। इस दृष्टि से सेनापति सगुणोपासक थे। निर्गुण भक्ति के कुछ पद भी इनके हैं और तुलसी सूर में भी हैं जिनसे उनकी निर्गुण भक्ति सिद्ध होती है। पर यह मूलतः सगुणोपासक ही थे। सगुण भक्ति में जो पाखण्ड आ जाते थे उनके प्रति जनता को सचेत करते हुए हृदय की शुद्धता पर बल देना अथवा सामयिक प्रभाव इन पदों का रहस्य माना जा सकता है।

श्री कृष्ण कथामृत—(काव्य) लेखक श्री गोविन्द दास 'विनीत', प्रकाशक जगत बुक डिपो सतघड़ा, मथुरा। पृष्ठ ४३६, मूल्य ४॥)

मेघमाला—(कविता) लेखक—श्री श्यामबिहारी शुक्ल 'सरल' प्रकाशक—साहित्य निकेतन, कानपुर। पृष्ठ ११, मूल्य १॥)

मृगनयनी समीक्षा—लेखक—श्री हरस्वरूप माथुर; प्रका०—साहित्य निकेतन, कानपुर। पृ० १७१, मू० १॥)

आनंद—लेखक—श्री बलभद्र ठाकुर, प्रकाशक—ग्रामोत्थान विद्यापीठ, सगरिया, राजस्थान। पृष्ठ २४८, मूल्य ४)

साखी (कविता)—लेखक—श्री सन्तप्रसाद पांडेय, प्रकाशक—प्रताप प्रेस, गोरखपुर। पृष्ठ ४१, मूल्य ॥)

हमारा आलोचनात्मक प्रकाशन

सुमित्रानन्दन पन्त—शचीरानी गुर्टू [पन्तजी के काव्य और जीवन पर समालोचनात्मक लेखों का संग्रह] ६)

महादेवी वर्मा—शचीरानी गुर्टू [महादेवी वर्मा के काव्य पर प्रतिनिधि लेखों का सङ्कलन] ६)

महाकवि सूरदास—नन्ददुलारे वाजपेयी [सूर के काव्य-जीवन और भक्ति का गम्भीर विवेचन] ४)

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक [शुक्ल के जीवन और कृतित्व का विश्लेषण ६)

काव्य के रूप—गुलाबराय [काव्य के रूपों का शास्त्रीय विवेचन] ४॥)

सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाबराय [भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा शैली का मार्मिक विवेचन] ६)

हिन्दी काव्य-विमर्श—गुलाबराय [हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों का आलोचनात्मक परिचय] ३॥)

हिन्दी कविता में युगान्तर—डा० सुधीन्द्र [आधुनिक हिन्दी कविता का अध्ययन] ८)

रोमांटिक साहित्य-शास्त्र—देवराज उपाध्याय [रोमांटिक साहित्य का शास्त्रीय एवं आलोचनात्मक अध्ययन] ३॥)

कामायनी-दर्शन—कन्हैयालाल सहल, विजयेन्द्र स्नातक [कामायनी के छः सर्गों की आलोचना] ४)

साहित्य-विवेचन—क्षेमचन्द्र सुमन, योगेन्द्र मल्लिक [हिन्दी साहित्य का सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण] ७)

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति—डा० राजेन्द्रप्रसाद [साहित्य, शिक्षा और संस्कृति पर गम्भीर भाषणों का संकलन] ५)

हिन्दी नाटककार—जयनाथ 'नलिन' [हिन्दी नाटककर्ता तथा कृतियों का विश्लेषण] ५)

कहानी और कहानीकार—मोहनलाल जिज्ञासु [हिन्दी कहानी और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का मार्मिक विवेचन] ३)

हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति—स्नातक क्षेम सुमन [हिन्दी की विविध धाराओं का अध्ययन] ३)

वाद-समीक्षा—कन्हैयालाल सहल [हिन्दी साहित्य के पाँच प्रमुख वादों का मार्मिक विवेचन] ।॥)

तुलनात्मक अध्ययन—कृष्णचन्द्र शर्मा, देवीचरण रस्तोगी [हिन्दी के प्राचीन कवियों का अध्ययन] ३)

मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां—डा० सावित्री सिन्हा [मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियों की आत्मानुभूति की भावपूर्ण व्याख्या] ८)

हिन्दी निबन्धकार—जयनाथ नलिन [हिन्दी निबन्ध-कला और शैली की विवेचना] ६)

कबीर—साहित्य और सिद्धान्त—यज्ञदत्त शर्मा [कबीर—जीवन और कृतियों की आलोचना] २॥)

हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र—आचार्य विश्वेश्वर [आचार्य वामन के 'काव्यालङ्कार' सूत्र का पाण्डित्यपूर्ण हिन्दी भाष्य] १२)

अनुसन्धान का स्वरूप—सम्पादिका डा० सावित्री सिन्हा [अनुसन्धान के सिद्धान्तों पर हिन्दी के विद्वानों के प्रामाणिक लेखों का सङ्कलन] ३)

सन्तुलन—प्रभाकर माचवे [हिन्दी काव्य और गद्य की विभिन्न धाराओं तथा प्रवृत्तियों पर विवेचनात्मक लेख] ४)

आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली ।

REGD. No. A 263. JUNE 1954 LICENSE No. 16.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

